

(आनन्दवनग्रन्थमालायाः षोडशं कुसुमम्)

गीताप्रवचन

सांख्यसन्दर्भ

(द्वितीयाध्याय पूर्वार्ध)



महामण्डलेश्वर श्री स्वामी काशिकानन्दगिरिजी महाराज

प्रकाशक :—
श्री स्वामी काशिकानन्दजी ट्रस्ट
आनन्दवन आश्रम
स्वामी विवेकानन्द रोड कांदीवली
(पश्चिम) बंबई ४०० ०६७

मूल्य—३५.००
सन्—१९८१
प्रथमावृत्ति ११००

मुद्रक :—
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

भूमिका

अगाध ज्ञान सुधानिधि के रूप में श्रीमद्भगवद्गीता विश्व-विख्यात है अनेक आचार्यों ने अपने भाष्यों से इसे विभूषित किया है। बड़े-बड़े मनीषियों ने इन पर व्याख्यायें लिखीं। इसकी व्याख्या एवं उपव्याख्याओं की संख्या का अन्दाज लगाना भी आज कठिन है। हजारों व्याख्यायें कालकवलित भी हो चुकी हैं। वह इसलिये नहीं कि वे सारहीन थीं या निरुपयोगी थीं, किन्तु अनिरोध्य काल की दुर्धरगति ही उसमें हेतु है। भगवान् आद्यशंकराचार्य ने स्वयमेव अपने भाष्य में पूर्व-व्याख्याताओं का मतप्रदर्शन किया है जिनका ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। किन्तु भगवती गीता की ऐसी कृपा है कि उन सब व्याख्याओं के लुप्त होने पर भी परवर्ती आचार्यों की परसहस्र व्याख्यायें उपलब्ध हैं। इतना ही नहीं वर्तमान में भी व्याख्यायें बन रही हैं, आगे भी बनती रहेंगी। ज्ञानसागररूप गीता के लिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जितनी डुबकी लगाओ उतने रत्न प्राप्त होंगे। अतएव पुरातन व्याख्याओं से गतार्थता होने से नयी व्याख्याओं की क्या आवश्यकता इत्यादि शंकाओं के लिये भी यहाँ स्थान नहीं है। महात्मा गांधी कहते हैं कि मैं जब-जब गीता देखता हूँ कुछ न कुछ नवीनता अवश्य भासित होती है। मेरे नये-नये प्रश्नों का उत्तर भी मुझे प्राप्त होता है।

प्रवचन यद्यपि व्याख्यारूप नहीं होता क्योंकि व्याख्यान के सभी लक्षण प्रवचन में नहीं होते।

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपश्च समाधानं व्याख्यानं षड्विधं स्मृतम् ॥

ऐसा व्याख्यान लक्षण है। प्रवचन में पदच्छेदादि सभी बातें अवश्य हों ऐसी बात नहीं है। फिर भी जहाँ कहीं विशेष आवश्यकता वक्ता को प्रतीत होती है वहाँ पदच्छेदादि भी कह देते हैं। भावार्थ अभिव्यक्त करना ही प्रवचन का ध्येय होता है। उसके लिये उपयोगी बाह्य विषयों का समावेश भी प्रवचनों में होता है। श्रीमद्भागवत माहात्म्य में वक्ता के बारे में "दृष्टान्तकुशलो वक्ता" ऐसा विशेष उल्लेख किया है। दृष्टान्तों के द्वारा जो समझावे वही वक्ता है। दृष्टान्त का अर्थ है—सर्वसंप्रतिपन्न उदाहरण। दृष्टान्त का कथा कहानी अर्थ भी लोकप्रसिद्ध है जो दार्ष्टान्तिक को ठीक समझाता हो।

गीता प्रवचन सन्दर्भ

भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रवचन के सन्दर्भ में जो भी कहा गया उसे जिज्ञासुजनों ने कहीं संक्षेपतः और कहीं विस्तारतः प्रायः अविकल रूप से संग्रह किया। अतः इस प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम प्रवचन सन्दर्भ रखा गया। सरल भाषा में कहना हो तो प्रवचन के सन्दर्भ में कही गयी बात ही प्रवचन सन्दर्भ है। संस्कृत में "ग्रन्थ सन्दर्भे" इस धातु पाठ के अनुसार प्रवचनों को जो सन्दृब्ध किया गया, संग्रथित किया गया वही प्रवचन सन्दर्भ है। गीता के द्वितीयाध्याय में सांख्यवर्णन होने से यह सांख्य संदर्भ कहलाता है।

यद्यपि प्रथमाध्याय प्रवचन ही प्रथम मुद्रणार्ह था तथापि मुद्रण करने में अनेकविध बाधायें उपस्थित होने से अधिक जनोपयोगी भाग को ही प्राथमिकता देने का विचार हुआ। उसमें फिर यथावसर प्रथमाध्याय का भी मुद्रण संपन्न होगा ही। अर्थात् आगे मुद्रण की प्राथमिकता में जिज्ञासुओं की जिज्ञासा ही नियामिका होगी। द्वितीयाध्याय के मुद्रणार्थ कई साल पहले से जिज्ञासुओं का विशेष आग्रह रहा। तदनुसार भी इसको प्राथमिकता दी गयी।

सांख्य योग

श्रीमद्भगवद्गीता की पुष्पिका के अनुसार द्वितीयाध्याय का नाम सांख्ययोग है। "सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः" ऐसा द्वितीयाध्याय के अन्त में लिखा हुआ है। प्राचीन पद्धति के अनुसार पुष्पिका ग्रन्थकार लिखित ही मानी जाती है। यद्यपि इस नियम को मानने में सभी सहमत नहीं होते। उसमें एक कारण यह है कि पुष्पिका में विविधता देखने में आती है। अष्टमाध्याय को कहीं तारक ब्रह्मयोग लिखा, कहीं अक्षर ब्रह्मयोग। "ओं तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु" ऐसा कहीं पाठ है। "इति श्रीमद्भगवद्गीतासु" ऐसा कहीं है। और कहीं तो "इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासु" ऐसा पाठ है। भाष्यकारों के भाष्य ग्रन्थ पुष्पिकाओं में "श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ" "श्री भगवद्रामानुजविरचिते" श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते" ऐसा-ऐसा पाठ मिलता है। वहाँ संशय होना स्वाभाविक है कि ऐसी पुष्पिकायें आचार्यों ने स्वयं लिखीं या उनके श्रद्धालु शिष्यों ने ऐसी पुष्पिकायें बनाकर जोड़ीं। "वैयासिक्यां" तक तो जँचता है। "महर्षिवाल्मीकिविरचिते" जहाँ लिखा है वहाँ लेख तो ठीक है किन्तु वाल्मीकि ने स्वयं ऐसा लिखा क्या यह संशय होता है। प्रायः प्रत्यक्षर व्याख्या करने वाले आद्यशंकराचार्य ने कहीं भी पुष्पिका का व्याख्यान नहीं किया जब कि "इति ते ज्ञानमाख्यातं" इत्यादि की व्याख्या की। अतः सांख्ययोग आदि नाम भी ग्रन्थकार प्रदत्त है या विद्वज्जनकृत है ऐसा संशय उपस्थित हो सकता है। तथापि इस संशय को विशेष महत्त्व इसलिये नहीं दिया जा सकता, वेदों में भी याज्ञिक प्रसिद्ध समाख्या को अर्थ निर्णायक माना है। वहाँ "होतृचमसः" यह याज्ञिक प्रसिद्ध समाख्या ही निर्णायिका है। वैसे अध्येतृ परम्परया में सांख्ययोग, कर्मयोग आदि समाख्या भी प्रामाणिक होकर अर्थ निर्णायक ही मानी जायेगी।

सांख्य एव योग शब्द का विशेष अर्थ हम आगे देखेगें। सामान्यतः अर्थ यही है कि सांख्य माने ज्ञान और योग माने कर्म। परंतु यहाँ एक पूर्वपक्ष यह उपस्थित होता है कि **"एषा तेऽभिहिता बुद्धियोंगे त्विमां शृणु"** इस प्रकार कहकर भगवान ने योगवर्णन भी किया तो यह अध्याय सांख्यमात्र प्रदिपादक कैसे माना जाय ? यदि कहें कि **"सांख्ययोगो नाम"** ऐसा योग शब्द भी तो रखा गया है। नहीं। वह योग शब्द तो प्रत्येक अध्याय के नाम से जोड़ा गया योगशब्द है। 'जैसे 'अर्जुनविषादयोगः" "कर्मयोगः' इत्यादि। कर्मयोगः में योग का अर्थ भी कर्म होगा तो 'कर्मकर्म' ऐसा अर्थ होने लगेगा। अतः सांख्ययोग सांख्यमात्र प्रतिपादक मानना ही उचित है। इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि इस अध्याय में मुख्यतया सांख्य का ही वर्णन है। आनुषङ्गिकतया कर्मवर्णन है। **"अशोच्यानन्वशोचः"** इत्यादि सांख्य विचार है ही। आगे स्थितप्रज्ञ प्रकरण में भी सांख्यविचार ही है। तब संदंशपतित कर्म का पृथक् अस्तित्व न रखकर "सांख्ययोगः" ऐसा नाम दिया गया। तृतीयाध्याय में कर्म की मुख्यता होने से वह कर्मयोग कहलाया।

सांख्य और योग

हमने देखा कि गीता द्वितीयाध्याय ज्ञानप्रधान होने से इसका नाम सांख्ययोग पड़ा। और तृतीयाध्याय कर्मप्रधान होने से उसका नाम कर्मयोग या योगाध्याय हुआ। अब विचारणीय विषय यह है कि द्वितीयाध्याय का नाम ज्ञानयोग न रहकर सांख्ययोग क्यों रखा ? और कर्म को योगशब्द से क्यों अभिहित किया ? **"एषा तेऽभिहिता ज्ञाने बुद्धिः कर्मणि शृणुविमाम्"** ऐसा स्पष्ट क्यों नहीं कहा ? सांख्य-शब्द की कापिल सांख्यशास्त्र में रूढ़ि है तथा योग शब्द पातञ्जल-योग में रूढ़ है। क्या उन दोनों के साथ यहाँ के सांख्य और योग की अभिन्नता या समानता है ? ऐसी भी बात नहीं है कि गीतोक्त

सांख्यादि शब्दों का अर्थान्तरण में प्रयोग किया हो। क्योंकि गीता में कपिल नाम स्पष्ट गृहीत है—"सिद्धानां कपिलो मुनिः"। ऐसी शंका करें कि व्यास पूर्व कपिल रहे हों किन्तु कृष्ण से पहले कपिल को नहीं मान सकते तो इसका जवाब यही है कि पुराणानुसार व्यास तथा कृष्ण का समय एकही है। फिर "सिद्धानां कपिलो मुनिः" यह तो अर्जुन के प्रति का भगवान का ही वचन है। देवहूति के पुत्र कपिल को सांख्यशास्त्र प्रणेता मानने पर नितरां पूर्वसिद्ध है। पतञ्जल के बारे में संशय हो सकता है। सो भी आधुनिक गवेषकों को। क्योंकि प्राचीन लोग पातञ्जलयोग सूत्र भाष्यकार व्यास को ही गीता प्रणेता व्यास मानते हैं। उस स्थिति में पतञ्जलि भी व्यासपूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। किन्तु इस विषय में यहाँ विवाद करना इसलिये आवश्यक नहीं है कि पतञ्जलि से पूर्व भी योग तथा योगशब्द प्रचलित था। "हिरण्यगर्भ एवास्य वक्ता नान्यस्तु कश्चन" इस प्रकार हिरण्यगर्भ को ही योगवक्ता मान लिया है। कहने का तात्पर्य यही है कि गीतोदयकाल में सांख्यशब्द और योगशब्द कपिल सांख्य तथा पातञ्जलयोग में प्रसिद्ध थे ही। उन दोनों के साथ यहां के सांख्य और योग की अभिन्नता है या श्रीकृष्ण स्वतन्त्र होने से वे नाम यहाँ दिये गये? इस विषय में कुछ मनीषियों का कहना है कि श्रीकृष्ण क्रान्तिकारी होने के कारण अनेक सीमाओं को उन्होंने तोड़ा उसके अंदर यह सीमाभेदन भी है। किन्तु यह बात दूसरे विद्वानों को नहीं जँची। अन्यरूढ़ शब्द का अन्यार्थ में प्रयोग करने मात्र से कौनसी क्रान्ति अभिव्यक्त होती? कुछ शब्दों को उलटा पुलटा लिख जाना क्या कोई क्रान्ति का लक्षण है?

कुछ अन्य विचारकों ने अपना मत ऐसा व्यक्त किया है कि गीतोदय काल में सांख्य तथा योग अत्यन्त जनप्रिय थे स्वमत की ओर आकृष्ट करने के लिये उस लोकप्रियता का उपयोग सम्भाव

शब्द प्रयोग से श्रीकृष्ण ने किया। जैसे आजकल सांईबाबा की लोकप्रियता का फायदा अपना उठाने के लिये सत्य सांईबाबा, बाल सांईबाबा आदि नाम अपनाये गये। परंतु यह मत भी विद्वानों को पूरी तरह से नहीं जँचा। इसमें उनको पाखंड की बू आने लगी।

वास्तविक बात यह है कि सांख्य तथा योग कापिलसांख्य या पातञ्जलयोग में रूढ़ हो ऐसी बात नहीं है। उपनिषत् में ही दोनों शब्द आये हुये हैं। "तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं" ऐसा उपनिषद् में हो आया है। उन दो शब्दों को महर्षि कपिल और महर्षि पतञ्जलि ने अपने दर्शन के लिये प्रयुक्त कियाा। तदनुसार ही भाष्यकार आद्यशंकराचार्य ने दोनों शब्दों की व्याख्या की है। वस्तुतः विचार किया जाय तो कापिलसांख्य और पातञ्जल योग को ही कुछ संशोधन के साथ भगवान ने यहाँ प्रस्तुत किया है। दोनों में हेय कुछ अंश को छोड़कर और उपादेय कुछ अंश को जोड़कर गीता में बताया है।

सांख्यशास्त्र में बताया गया है "**तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्**" इस अंश को भगवान ने ज्यों का त्यों स्वीकार किया "**अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत अव्यक्तनिधनान्येव**" यहाँ अव्यक्त तथा तथा व्यक्त का स्वरूपवर्णन किया। और "**न हन्यते हन्यमाने शरीरे**" यहाँ ज्ञ (पुरुष) को भी विविक्त कर बताया। हाँ "**मूलप्रकृतिरविकृतिः**" इत्यादि अंश को भगवान ने छोड़ दिया "**प्रकृतैः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि**" "**भूमिरापोऽनलो वायुः भिन्ना प्रकृतिरष्टधा**" इत्यादि में मूल प्रकृति तथा सप्त प्रकृति विकृत का भी वर्णन प्रतीत होता है। किन्तु "**अपरिमेयामितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे परां**" से सांख्याभिमत पारिभाषिक प्रकृति से भिन्न प्रकृति का हीं वर्णन प्रतीत होता है। जैसा भी हो वेदविरुद्धांश को त्यागकर शेष सांख्यमत यहाँ संगृहीत हुआ है।

इसी प्रकार योग शब्द का भी पातञ्जल सम्मत योग ही अर्थ है। महर्षि पतञ्जलि ने योग का लक्षण **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** इस सूत्र से किया है। वहाँ भाष्यकार भगवान वेदव्यास जी का कहना है कि **"सर्वशब्दाग्रहणात् सम्प्रज्ञातोऽपि समाधिर्योग एव"**। अर्थात् **"योगः सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः"** ऐसा नहीं कहा। अतः यत्किंचित् वृत्तिवाली सम्प्रज्ञात समाधि भी योगान्तर्गत है। ऐसी स्थिति में निष्काम कर्म भी योग के समीप में आ जाता है। क्योंकि **"संकल्पप्रभवान् कामान्"** के अनुसार काम संकल्पजन्य होने से निष्कामता में निःसंकल्पता कारण होगी ही। निःसंकल्पता तो योग का ही स्वरूप माना गया।

सकाम भाव जहाँ है वहाँ काम्य के प्रति आकर्षण, अकाम्य के प्रति उदासीनता एवं काम्य विरोधी के प्रति द्वेष होना स्वाभाविक है। यही विषमता है। **"समत्वं योग उच्यते"** इस समत्व के लिये निष्कामता आवश्यक है। तदर्थ निःसंकल्पता अनिवार्य है। अतः यह फलितार्थकथन है। अत एव यह कोई अलौकिक नवीन लक्षण नहीं है। **"सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा"** इस पूर्वपाद से यह स्पष्ट भी होता है। यहाँ कामना बन्धनकारण है। कर्म उसी ढंग से करो जिससे बन्धन न हो। यही कर्म में कुशलता है। इसी भाव को लेकर **"योगः कर्मसु कौशलं"** इस लक्षण का भी समन्वय होता है।

यद्यपि इस प्रकार निष्काम कर्मयोग भले सिद्ध कर लें, किन्तु इसको योगरूप में महर्षि पतञ्जलि ने माना है क्या ? इसका उत्तर हकारात्मक ही है। महर्षि पातञ्जलि ने ही **"तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः"** इस प्रकार क्रियायोग का वर्णन किया है। अतः निष्काम कर्म की योग संज्ञा पातञ्जल मत से अविरुद्ध ही है।

इस प्रकार हमने देखा कि गीता द्वितीयाध्याय में सांख्य तथा योग का वर्णन आया है। शब्दान्तर से कहना हो तो ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा का निरूपण हुआ है ऐसा कह सकते हैं। इन्हीं दो विषयों को लेकर तृतीयाध्याय में अर्जुन का प्रश्न है। तथा भगवान का उत्तर भी है। **"ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिः"** यह कर्म तथा ज्ञान को सामने रखकर ज्यायस्त्वादिविषयक प्रश्न है। और **"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा"** इत्यादि उभयविषयक उत्तर है।

ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद : पूर्वपक्ष

यहाँ ज्ञान तथा कर्म दोनों का उपदेश देखकर अनेक आचार्यों ने ज्ञानकर्म समुच्चय का औचित्य ठहराया है। उनका कहना है कि अन्यथा दोनों का एक साथ अर्जुन के प्रति कहना संगत नहीं होता। यद्यपि गीतोपदेश सर्वजगदुद्धारार्थ है। अर्जुन केवल निमित्त मात्र है। अतः यथाधिकार ही ज्ञान और कर्म का अनुष्ठान अभिप्रेत है। ज्ञान तथा कर्म भिन्नपुरुषानुष्ठेय हैं इत्यादि समाधान यहाँ संभव है। किन्तु समुच्चयवादी का कहना है कि तब **"तस्माद् युद्धस्व"** कि जगह "यजस्व ददस्व" इत्यादि क्यों नहीं कहा ? अतः मानना ही होगा कि यह उपदेश अर्जुन के प्रति ही है। विशेषोपदेश को सामान्यरूपेण परिणत कर अन्य व्यक्ति अपना कर्तव्य निश्चय करता है। अर्थात् अर्जुन के प्रति युध्यस्व कहा तो वैसे अन्य व्यक्ति उहापोह से युध्यस्व के स्थान पर यजस्व, परोपकारं कुरुष्व इत्यादि रखकर अपना कर्तव्य समझेगा। दूसरी बात यह है कि अद्वैत ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान मन में रहे और हाथ, पाँव आदि से कार्य करते रहें तो इसमें क्या विरोध है ? कुछ न कुछ कर्म आखिर ज्ञानी को भी करना पड़ेगा। अन्यथा **"शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येत"** वाली बात लागू होगी।

सिद्धान्तवाद

पूर्वोक्त ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का विरोध भगवान आद्यशंकराचार्य ने किया है। उनका कहना है कि शरीर क्रिया मात्र को हम यहाँ कर्मरूप से ग्रहण नहीं करते। किन्तु क्षत्रिय होने के नाते वेदोक्त अमुक कर्म मेरा कर्तव्य है इत्यादि रीति कर्तृत्व-वर्णाश्रमधर्मवत्त्वादि अध्यासपूर्वक जो कर्म है वही कर्म पदार्थ है। उसके साथ ज्ञान का समुच्चय नहीं है यही अभिप्रेत है। ऐसे कर्म का भी ज्ञान सामान्य के साथ विरोध नहीं किन्तु ज्ञाननिष्ठा के साथ है। मैं अकर्ता हूँ, अभोक्ता हूँ, नित्य शुद्धबुद्ध आत्मा हूँ इस प्रकार निरन्तर स्थिति ज्ञाननिष्ठा है। वह बीच में कैसे अपने आपको मैं क्षत्रिय हूँ, कर्मकर्त्ता हूँ इत्यादि सोचेगा ? इतना अंश मान्य है कि मैं मेरा तू मेरा इत्यादि मोह निवृत्ति के लिये आत्मस्वरूप का सामान्य ज्ञान सबको ही प्राप्तव्य है। उसके साथ कर्म भी किया जा सकता है और करना भी चाहिये। परन्तु ज्ञाननिष्ठा रूपी मार्ग में उतरने पर कर्मनिष्ठा नहीं हो सकती। सामान्य कर्म हो सकता है किन्तु कर्मनिष्ठा नहीं। अत एव **"ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्"** इस प्रकार तृतीयाध्याय में विभागवचन है।

गीताप्रवचन सन्दर्भ

ज्ञान और कर्म ये दो पृथक् पृथक् दो मार्ग हैं या समुच्चयवादानुसार एक ही मार्ग है इत्यादि तो गहन विचार करने वालों के लिये चिन्तनीय विषय है। प्रस्तुत प्रवचन सन्दर्भ में ऐसे दार्शनिक मत भेदों पर क्वचित्-क्वचित् विचार होने पर भी अधिक विचार नहीं ही किया गया है। यहाँ विशेष रूप से गीता के रहस्यार्थ को खोलने का ही सामान्यजन भाषा में प्रयास हुआ है। गीता के प्रत्येक पद में अनेक रहस्यार्थ छिपे हुए हैं जिनको कहीं सीधी सादी भाषा में और कहीं दृष्टान्तादि द्वारा समयानुसार उचित तरीके से

समझाने का प्रयत्न हुआ है। सामान्यतया प्रवचनों में ऐसी पद्धति की ही आवश्यकता पड़ती है। उससे जिज्ञासु जनता भी पर्याप्त लाभ प्राप्त करती है। कई जगह मूल का भावार्थ समझना ही लोगों के लिये कठिन पड़ जाता है। कहीं आभासमात्रेण अर्थ उपस्थित होता है। उन सबका विशदीकरण जितना प्रवचनों में सम्भव है उतना अन्यत्र नहीं। जैसे इसी अध्याय में **"व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥"** इस श्लोक को पढ़ते समय लगेगा कि **"योगे त्विमां शृणु"** यह प्रतिज्ञा करके यह व्यवसाय एवं अव्यवसाय की बात क्या उठायी ? एक सन्त कह रहे थे कि मैं **"योगे त्विमां शृणु"** के बाद योग के बारे में अब बोलेंगे, अब बोलेंगे करके पूरा अध्याय पढ़ गया लेकिन कुछ अर्थाभास नहीं मिला। स्पष्ट उत्तर कहीं देखा नहीं। बात यह है कि जब तक विवेचनापूर्वक श्लोकों की व्याख्या नहीं करते तब तक ऐसी ही उलझन में होती रहेंगी। तदर्थ ही प्रवचनों की आवश्यता होती है।

द्वितीय अध्याय का प्रवचन आपके सम्मुख है। आशा है—जिज्ञासुजनों को अनेकविध जिज्ञासा का उत्तर यहाँ प्राप्त होगा। सभी प्रश्नों का उत्तर तो सम्भवतः नहीं होगा क्योंकि प्रवचन में प्रश्नोत्तर नहीं होता। किन्तु सम्भावित प्रश्नों का उत्तरमात्र कहा जाता है। गीता का तात्पर्य किसमें है—कर्म में, भक्ति में या ज्ञानादि में इत्यादि विषयों पर विशिष्ट विवेचन प्रवचनों में ही आ गया है। भूमिका के रूप में इन सब विषयों का विश्लेषण प्रथमाध्यायीय भूमिका में ही उचित होने से यहाँ उस पर चर्चा नहीं करता हूँ। प्रथमाध्याय प्रवचन मुद्रित होने पर वहीं पर उसका अवलोकन पाठक वर्ग करेंगे।

इस ग्रन्थ के मुद्रण में बंबई घाट कोपरवासी भक्तजनों की विशेष दिलचस्पी रही। आज से कई साल पहले ही उनका बड़ा

आग्रह रहा। किन्तु बंबई में मुद्रण व्यय वहन करना अति कठिन होने से तदर्थ इसी वर्ष मैं काशी गया। सेठ हरिदास वेलजी भनसाली, श्री केशवलालजी द० जोशी, श्रीमान् सेठ चम्पकलालजी, सेठ श्री मनसुखलालजी प्रेमजी, भक्तवर श्री चन्दूलाल पारीख एवं अन्य अनेक भक्तों ने आर्थिक सहयोग भी दिया। फिर भी काशी में भी मुद्रण व्यय अत्यधिक होने से कठिनाई पड़ गयी थी। भक्तजनों की सदिच्छा से अन्ततः यह कार्य सम्पन्न हो ही गया है। मुद्रणकार्य बीच में ही छोड़ कर मुझे बंबई आना पड़ा, उस समय मुद्रण का कार्यभार काशी में दक्षिणामूर्ति मठ के समर्थ व्यवस्थापक एवं वर्तमान में महेश अनुसन्धान संस्थान द्वारा प्रकाशित शांकर सम्प्रदाय के दुरूह ग्रन्थों के प्रकाशन में व्यस्त **श्री शारदानन्दजी** ने अपने ऊपर ले लिया। ब्र० श्री पुण्यानन्दजी एवं अन्य कई सन्तों ने यथा सम्भव सहयोग दिया। ये सब अपने आप ही आत्म-स्वरूप है अत एव इन सबको धन्यवाद या आशीर्वाद दें तो अपने आप पर ही आता है। अतः तदर्थं पृथक् प्रयास नहीं करता हूँ। इति शम्।



॥ ॐ ॥

गीता प्रवचन

सांख्यसन्दर्भ

द्वितीयाध्याय पूर्वार्ध

(श्लोक १–५३)

ॐ

गीता प्रवचन

सांख्यसन्दर्भ

संजय उवाच

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।१।।

[संजय बोला—इस प्रकार कृपा के आवेश से घिरे हुए, आँसू भरे आकुल नेत्रों से युक्त उस शोकातुर अर्जुन से भगवान् मधुसूदन यह वचन बोले ।। १ ।।]

श्रीमद्भगवद्गीता दो भागों में विभक्त है। एक भाग पूर्वपक्ष रूप है। दूसरा भाग सिद्धान्तरूप है। प्रथमाध्याय पूर्वपक्ष है और द्वितीयाध्याय से लेकर अठारहवें अध्याय तक सिद्धान्त है। पूर्व पक्ष के बीच में निराकरणार्थ सिद्धान्ताभास का वर्णन होता है और सिद्धान्त-वर्णन में पूर्वपक्ष का उल्लेख भी होता है। जैसे द्वैतवादी के पूर्वपक्ष में कुछ अद्वैतवर्णन और अद्वैतवादी के सिद्धान्त में द्वैतवर्णन आता है। वैसे यहाँ पर भी "यद्यप्येते न पश्यन्ति" इत्यादि सिद्धान्ताभास-वर्णन और "कथं भीष्ममहं संख्ये" इत्यादि पूर्वपक्षवर्णन है। कहने का तात्पर्य यह है कि किंचित् सिद्धान्ताभास देखकर यह संशय न करो कि यह केवल पूर्वपक्ष कैसा ? और किंचित् पूर्वपक्ष देखकर यह भी संशय न करो कि यह केवल सिद्धान्तग्रन्थ कैसा ? फलतः प्रथमाध्याय पूर्वपक्ष रूप और द्वितीयादि शेषाध्याय सिद्धान्त-रूप निश्चित होता है।

इस विवेचना की आश्यकता यहाँ पर इसलिये पड़ी कि गीता में पूर्वपक्षग्रन्थ और सिद्धान्तग्रन्थ का प्रारम्भ भिन्न-भिन्न तरीके से हुआ और परिणाम भी भिन्न-भिन्न प्रकट हुआ। पूर्वपक्ष का प्रारंभ एक अमंगल व्यक्ति से हुआ है। "धृतराष्ट्र उवाच" यह पूर्वपक्ष का प्रथम वाक्य है। धृतराष्ट्र अन्धे थे। केवल बाहर से ही नहीं, भीतर से भी। अन्दर से प्रकाशवान् होते तो भी बात नहीं थी। उस अमंगल अन्ध व्यक्ति के ग्रहण का परिणाम अन्त तक—अर्थात् पूर्वपक्ष के अन्त तक रोना ही रोना रहा। "शोकसंविग्नमानसः" यह प्रथमाध्याय का अन्तिम शब्द है। अर्थात् अर्जुन अपार शोक-सागर में डूबा। अज्ञानारम्भ कहानी दुःखान्त होती है। अत एव अब सिद्धान्तग्रन्थ के आरम्भ में कैसे व्यक्ति का नाम लेना चाहिए यह विचारास्पद हुआ।

उस विचार से पूर्व एक प्रश्न यह उठता है कि यदि धृतराष्ट्र अमंगल व्यक्ति है तो गीता जैसे महान ग्रन्थ के आदि नें उनका नाम क्यों लिया गया ? "मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते" ऐसा महाभाष्यकार पतञ्जलि ऋषि का कहना है। अर्थात् शास्त्र के आदि में, मध्य में और अन्त में मङ्गलाचरण करना चाहिये। इसका समाधान यह है कि अन्धपने के अज्ञान की निवृत्ति के लिये प्रारम्भ होने से अमङ्गलता नहीं है। यह बात सांख्यकारिका के प्रथम श्लोक की व्याख्या में वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट की है। दूसरी बात, वेदव्यासजी के लिये विघ्नादि की संभावना ही नहीं थी अतः यहाँ मङ्गलाचरण तो केवल परार्थ ही होता। सो भी स्वीय सत्यसंकल्प मात्र से हो जाता है। अस्तु। यह विषयान्तर है। यहाँ यहाँ मङ्गलाचरण का प्रश्न नहीं है, किन्तु कैसे आरम्भ का क्या परिणाम होता है इसका विचार है।

तत्त्वज्ञान के प्रारम्भ में किस व्यक्ति का नाम लेना है ? यह विचारास्पद हुआ। गीता में धृतराष्ट्र को छोड़कर तीन व्यक्तियों

के नाम उवाच मन्त्र में आये हैं। अर्जुन का, भगवान का और संजय का। इनमें अर्जुन का नाम ही प्रथम लें, तो वही रोने वाला व्यक्ति "शोकसंविग्नमान" ही जो पूर्वाध्याय के अन्त में उपक्षिप्त है, उपस्थित होगा। यह तो मानव जाति के लिये कल्याणदायी सिद्ध नहीं होगा। भगवान का नाम परममंगल होने से लेने योग्य अवश्य था परन्तु यदि कोई संन्यासी ही इसे पढ़ने वाला होता तो बात बन जाती। संसारियों के लिये केवल भगवद्भाव पर्याप्त नहीं। उन्हें संसार में रहते हुए भगवद्भाव चाहिये अर्थात् संसार तथा भगवान दोनों ही चाहिये। अब बाकी बच गया संजय। यह नाम ऐसा है कि एक मध्यम मार्ग है। "सम्यग् जयति संसारमिति संजयः"—संसार के संघर्ष में जो जीत जाता है उसको कहते हैं संजय। हमारे लिये यही उपयुक्त है। जीवन का संघर्ष अनादिकाल से चला आ रहा है। अभी तक इस संघर्ष में जनमते मरते हुए मार खाते चले आ रहे हैं, हारते आ रहे हैं। हमें संसार को जीतना है। इसलिये संजय से प्रारम्भ होना ही योग्य है। अन्त में भी संजय उवाच कहकर व्यासजी पूर्ण करेंगे। संसार को जीतने पर साथ ही साथ श्री, विजय, भूति और अचल नीति स्वतः हो जाती हैं। यहाँ इन दोनों बातों को यों स्पष्ट समझिये कि संसार को जीतना चाहता है उसके लिये गीता है और जो जीत चुका है उसके लिये "तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिः" यह फल है। दोनों ही अर्थ में संजय शब्द है। अर्थात् गीता जीवनशास्त्र है। यहाँ मोक्ष पर्यन्त सारी बातें उपलब्ध होंगी।

इस विवेचन से एक बात सामने आयी कि संसार को जीतने के लिये अर्थात् एक सफल योद्धा के समान सफलता के साथ संसार संघर्ष में आगे बढ़ते हुए शत्रुओं को परास्त कर लक्ष्य तक पहुँचने के लिये गीता एक महान् साधन है। अत एव माहात्म्य में कहा गया है—"गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः"

गीता को सुगीता बनाओ। अन्य शास्त्रविस्तार से क्या प्रयोजन? गीता सुगीता तो है ही, करना क्या है? कोई दुर्गीता भी होती है या की जाती है? उत्तर है—हाँ! जिस गीता के पठन के समय अर्थ समझ में न आ रहा हो, शुद्ध उच्चारण के साथ कही न जा रही हो, या केवल यान्त्रिक अध्ययन मात्र हो रहा हो तो यह गीता की दुर्दशा करना मात्र है। गीता को सुगीता बनाकर पढ़िये। शुद्ध उच्चारण कीजिये, अर्थ समझिये और धीरे-धीरे उसे अपने जीवन में उतारिये। यही गीता को सुगीता करना है। अन्य भी अनेक बड़े-बड़े ग्रन्थ हैं। किन्तु उन सबको हृदयंगम करना बड़ा ही कठिन है। कोई भागवत को या रामायण को कण्ठ करना चाहे तो बहुत ही मुश्किल है। किन्तु गीता को तो बच्चे भी याद करते हैं। और ऐसा भी नहीं है कि यह एक अधूरा प्रकरण हो। यह गागर में सागर है। अपने आप में पूर्ण है। **"गीता गङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते"** गीतारूपी गंगा के जल के पान से पुनर्जन्म नहीं होता। गीता में और गंगा में क्या अन्तर है? अन्तर यही— **"मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।"** प्रति दिन गंगा आदि के जल में नहाते रहो तो शारीरिक तथा अल्प मात्रा में मानसिक मल की निवृत्ति होगी। और—**"सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसार-मलनाशनम्"** एक बार भी अच्छी तरह गीता रूपी गङ्गोदक में स्नान करो तो संसाररूपी मल का नाश होगा। यही सम्यक् जय है। एतदर्थ संजय उवाच से प्रारम्भ किया जा रहा है।

यहाँ प्रथम श्लोकों में अर्जुन विषाद को ही प्रकारान्तरेण प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः राग द्वेष विषादादि दो प्रकार के होते हैं। आभास मात्र हैं दूसरे गहराई में पैठे हुए हैं। तत्त्वज्ञानी को भी कभी रागादि होते हैं। किन्तु वे आभासमात्र होते हैं। उससे चित्त-शैथिल्यमात्र थोड़ा होगा। चित्त का द्रवीभाव नहीं होता। **"राग-द्वेषभयस्नेहहर्षशोकदयादयः। द्रावकाश्चित्तजतुनः"** ऐसा बताया है।

ये द्रावक यदि हैं तो वासना हृदय के अंदर तक घुस जाती है। आभासमात्र हो तो ऊपर से आये और गये। कोई फरक नहीं पड़ता। जरा सा उद्‌बोधन करते ही ये नष्ट हो जाते हैं। एक महात्मा ने भक्त को कहा आज कढ़ी खिलावो। भक्त ने मजाक में कहा—महात्मा होकर भी आपकी वासना रह गयी ?। महात्मा ने कहा—अच्छा, मत खिलाओ। भक्त ने कहा, नहीं महाराज मैंने मजाक में कहा। लेकिन महात्मा ने फिर कभी जिदंगी में कढ़ी नहीं खायी। भक्त पछताकर रह गया। महात्मा का वह रागाभास था। थोड़े से उद्‌बोधन में वह नष्ट हो गया। भगवान् भी देख रहे थे कि यह विषादाभास है या वस्तुतः विषाद है। उद्‌बोधन करने का प्रयास किया। किन्तु नष्ट नहीं हुआ। बल्कि भड़क उठा। भगवान् ने समझा कि यह गहरा पैठा मोह है। आभास नहीं है। चित्त का शैथिल्यमात्र नहीं। द्रवीभाव है। इसके लिए समुचित दवा करनी होगी। इस प्रकार यह दशश्लोकी ग्रन्थ परीक्षण एवं उसके परिणाम को दीखाने के लिये है। समुचित उपचार के निर्णयार्थ है। अर्थात् यह समूल विषाद है, विषादाभास नहीं। अतः मूलचिकित्सा कर्त्तव्य है यह दिखाने के लिये है।

तं तथा कृपयाविष्टम्। आवेश से आविष्ट हुआ। जैसे लोगों को ग्रहावेश होता, भूतावेश होता है वैसे अर्जुन को कृपावेश हो गया। चारों ओर से घेरकर अंदर प्रविष्ट होना, जिससे स्वरूप की अभिभूति हो उसको आवेश कहते हैं। क्रोधावेश होने पर नम्रता, उदारता आदि सभी स्वरूपगुण अभिभूत हो जाते हैं भूतावेश होने-पर मानवस्वरूप ही गायब हो जाता है। मोहावेश होनेपर धर्मा-धर्मविवेकादि नष्ट हो जाते हैं। वैसा ही यह कृपावेश है।

एक प्रश्न यहाँ यह उठता है कि सामान्यरूप से कृपा बड़े लोग छोटों के प्रति करते हैं बड़प्पन कई कारणों से होता है। कोई धन से बड़ा होता है कोई शक्ति से, कोई पद से, विद्या तथा अनुभवादि

से होता है। यहाँ अर्जुन में किस बात को लेकर बड़प्पन है? (१) साधारणतया पैसे वाले गरीबों पर दया करते हैं। क्या पांडव धन वाले और कौरव गरीब थे? बल्कि विपरीत कहा जाय तो कुछ हद तक ठीक भी हो सकता है। क्योंकि उस समय कौरव राज्य-शासक थे। और पांडव जंगलों में भटक रहे थे। भिखारी बने फिर रहे थे (२) दूसरी दया शक्ति की होती है। एक शक्तिशाली राजा अशक्त पर दया करता है। बहुसंख्यकों पर दया करता है। कहानी प्रसिद्ध है कि एक सिंह ने चूहे पर दया की थी किसका फल बाद में बड़ा मधुर हुआ। जाल में फँसे सिंह को चूहे ने बचाया। क्या इस प्रकार पाण्डव अधिक शक्तिशाली एवं कौरव शरणार्थी थे कि अर्जुन कौरवों पर दया करेगा? यहाँ भी बल्कि बात विपरीत ही थी। कौरवों के पास ग्यारह अक्षौहिणी सेना थी, जब कि पाण्डवों के पास सात अक्षौहिणी ही सेना थी। व्यक्तिगतरूप से भी भीष्म द्रोणादि के बराबर पाण्डवों में कौन शक्तिशाली था? (३) पद, अधिकारादि की दृष्टि से भी कौरव पाण्डवों के कृपापात्र होने योग्य नहीं थे। कारण राजगद्दी कौरवों के पास ही थी। राजपद, शासनाधिकार आदि सभी कौरवों के पास ही थे। (४) विद्या एवं अनुभवादि दृष्टि से भी पाण्डव कृपा करने की योग्यता नहीं रखते थे प्रथम तो भीष्म एवं द्रोण तो उनके गुरु ही थे। भीष्मपितामह के बारे में स्वयं भगवान् भी यही मानते थे कि ये ज्ञानसूर्य हैं। अतएव धर्मोपदेशप्राप्त्यर्थं सबको लेकर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयमेव अन्तसमय में शरशय्यास्थित पितामह के पास गये। अनुभवादि भी भीष्मपितामहादि के बराबर पाण्डवों को कहाँ था? किसी प्रकार का भी बड़प्पन पाण्डवों में नहीं था फिर भी अर्जुन को दया आयी तो किस बात से दया आयी? यदि यह कहें कि बड़प्पन के अभाव में भी सुखी मनुष्य दुःखी पर दया करता है, तो भी संगति नहीं बैठती। पांडव बारह साल जंगल में घूमते हुए कष्ट पाते रहे। बल्कि

उनकी उस तकलीफ को देखकर कौरवों को थोड़ी बहुत दया आ सकती। ऐसी स्थिति में कृपयाविष्ट की संगति किस प्रकार हो ?

इस प्रश्न का समाधान यह कि पाण्डव किस बात से बड़े थे, यह प्रश्न नहीं। किन्तु किस बात से बड़े नहीं थे यह विपरीत प्रश्न उठता है। हर प्रकार से बड़े थे। हर बात से बड़े थे।

पाण्डवों ने धन की कभी परवाह नहीं की। अर्जुन का नाम ही धनंजय था। भले ही वर्तमान में दुर्योधन राजा हो, पर वास्तविक राजा तो "राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः" से स्पष्ट बताया गया कि कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ही राजा हैं। और **"स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला"**–वही दरिद्र है जिसकी तृष्णा भारी हो। इसके अनुसार कौरव अति गरीब थे। "लोभोपहतचेतसः" इस विशेषण से पूर्वाध्याय में ही इस बात का स्पष्टीकरण अर्जुन ने किया। अत एव उनकी इस बेहाल गरीबी को देखकर अर्जुन को दया आना स्वाभाविक ही है। संत महात्माओं को कभी कभी बड़ी दया इन सेठों पर आने लगती है जो पैसे के पीछे भगवान तक को ताक पर रख देते हैं। भले वे करोड़पति सेठ हों पर तृष्णा से वे दीनातिदीन हो चुके हैं। अतः इस प्रकार अर्जुन की दया समुचित है।

शक्ति की दृष्टि से भी कौरव ही दयनीय थे। "प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च" यह अर्जुन की अतिशयोक्ति मात्र नहीं थी। प्राणनाश होना निश्चित ही था। अर्जुन ने यही कहा–"एतान्न हन्तुमिच्छामि" न कि, "एतान्न हन्तुं शक्नोमि"। मैं इनको मार नहीं सकता ऐसा न कहकर मैं इनको मारना नहीं चाहता ऐसे कथन से अपना शक्ति विस्तार अर्जुन ने साफ बतलाया। और महाभारत युद्ध का परिणाम कौरवनाश सर्वविदित है हो। अर्जुन के पास एक पाशुपतास्त्र ऐसा था जो कि आजकल के एटमबम, हाईड्रोजन बम आदि से भी उग्रतर, उग्रतम था। अर्जुन ज्यों ही पाशुपतास्त्र का स्मरण करने लगता तो सारे का सारा विश्व जलता सा नजर आने लगता।

जिस आग की लपट में कौरव रुई के बराबर दीखने लगते तो उन पर दया का उदय होना अस्वाभाविक नहीं था।

विद्या की दृष्टि से यद्यपि भीष्म द्रोणादि महान् ज्ञानी थे इसमें शक नहीं। शरशय्यास्थित भीष्म पितामह से ज्ञानग्रहणार्थ श्रीकृष्ण समेत पाण्डवों का जाना इस बात को पुष्ट भी करता है। परन्तु इसोलिये तो अर्जुन को अधिक दया आयी कि ये ज्ञानी होकर मूर्ख हो रहे हैं। "यद्यप्येते न पश्यन्ति" यह अर्जुन का वचन कितना मार्मिक है। न पश्यन्ति का अर्थ है देखते हुए भी न देखने वाला महामूर्ख। एक व्यक्ति जन्म से गरीब है, अवश्य ही उसे देखकर दया आ सकती है। परन्तु पहले जो एक सेठ रहकर फिर गरीब हो गया हो तो उसे देखकर गरीब को भी दया आने लगती है कि यह आदमी हमारे जैसे गरीबी सहने योग्य नहीं था। क्या विधाता का विधान है! ऐसी ही स्थिति प्रकृत में भी है। मूर्खोंपर दया होती है। किन्तु लोभादि के कारण पढ़े लिखे व्यक्ति मूर्ख बनते हैं तो अफसोस होना जरूरी है। इसके विपरीत, अर्जुन ने अपने बारे में बताया—"कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः" दोषं प्रपश्यद्भिः यह ज्ञानसूचक शब्द है। संस्कृत में 'दोषज्ञ' शब्द पण्डित के लिये प्रयुक्त होता। "विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः" ऐसा अमरकोश में लिखा है। शरशय्या पर धर्मोपदेश करते हुए पितामह को द्रौपदी ने एक प्रश्न पूछा था कि—पितामह! इस समय आप बहुत सुन्दर धर्मोपदेश सुना रहे हैं, किन्तु मैं जानना चाहती हूँ कि ये ही आप उस समय मौन क्यों थे जब भरी सभा में मेरी लाज लूटी जा रही थी—चीर हरण हो रहा था? भीष्म पितामह की आँखों में आँसू आने लगते हैं, वे कहते हैं बेटी द्रौपदी! जीवन में वह मेरा सबसे बड़ा अपराध था। बात यह थी कि दुर्योधन के कुत्सित अन्न से मेरा ज्ञान नष्ट सा हो गया था। पूरी तरह से अभिभूत हो गया था। आज अर्जुन के बाणों ने उस दूषित अन्न से बने खून को नष्ट किया तो मेरी ज्ञानशक्ति स्वच्छ, निर्मल हो गयी है।

अनुभव की दृष्टि से भी दयनीय कौरव ही हैं। क्योंकि विराट नगर में अर्जुन के साथ कौरवों का युद्ध हुआ था और उसमें चोरी का माल—गायें छोड़कर कौरवों को भागना पड़ा था। इस अनुभव के बावजूद कौरव कोरे रह गये तो उनके अनुभव की क्या तारीफ की जाय! एक आदमी ने दूसरे को किसी गलती में दो चाटें मारीं। दूसरा कहने लगा दुबारा मारा तो याद रखना। पहले ने फिर दो चाटें लगा ही दिये। दूसरा हीं हीं करता हुआ फिर बोला अबकी बार फिर मारा तो याद रख लेना। पहले को दया आयी। इसको चाहे जितना मारो लेकिन यह यही बोलता जायेगा। कौरवों की स्थिति इससे अतिरिक्त नहीं थी।

(५) कोई सुखी, दुःखी को देखकर उस पर दया करता है। कौन सुखी ? कौन दुःखी ? **"संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तिरेव च। न च तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्"**—सन्तोष रूपी अमृत से जो तृप्त हैं उनको जो शान्ति और सुख प्राप्त होता है वह धन लोभियों को कभी भी प्राप्त नहीं होता। "किं नो राज्येन गोविन्द! किं भोगैर्जीवितेन वा" इन शब्दों से अर्जुन ने अपनी निःस्पृहता एवं सन्तोष का आभास दिया। अत एव असंतुष्ट कौरवों पर दया का होना असमंजस नहीं है।

(६) सबसे बड़ी बात यह थी कि अर्जुन के साथ साक्षात् भगवान थे। अतः अर्जुन पूर्ण था। अन्य पक्ष इसीलिये अपूर्ण ही था। महाभारत में अर्जुन ने कृष्ण का जो वरण किया इस समय का प्रसङ्ग इसमें साक्षी है। कौरव पाण्डव दोनों भगवान से सहायता माँगने के लिये पहुँचने वाले थे। तो पहले दुर्योधन ही पहुँचा। भगवान ने देखा—यह विपरीत मामला हो रहा है। तो कपटनिद्रा में सोये। दुर्योधन आकर सिरहाने की ओर कुर्सी पर बैठा। इतने में अर्जुन आया और चरणों की ओर खड़ा रहा। थोड़ी देर में भगवान के नेत्र खुले तो चरणों की ओर जो खड़ा है उस पर प्रथम

नजर जाना स्वाभाविक ही था। भगवान ने कहा—अर्जुन ! बड़ा अच्छा हुआ कि तुम यहाँ पहले पहुँच गये। इतने में दुर्योधन बोला—भगवन् ! पहले मैं आ गया था। भगवान ने कहा कोई बात नहीं। पहले आप आये और पहले मुझे अर्जुन दीख पड़ा। मैं दोनों का सम्मान करता हूँ। दोनों की ओर मुझे ध्यान देना होगा बात करते हुए आगे कहा कि देखो आप और कौरव दोनों मेरे बन्धु हैं। दोनों की मैं सहायता करूँगा। एक ओर सशस्त्र मेरी सेना रहेगी। दूसरी ओर अशस्त्र मैं रहूँगा। तुम पहले आये हो। इनमें क्या चाहते हो ? इधर सिरहाने की ओर बैठे दुर्योधन ने सोचा यह बड़ा अनिष्ट हो गया। अर्जुन सेना माँगेगा तो मैं बिना शस्त्र के निठल्ले कृष्ण को लेकर क्या करूँगा ? युद्ध में कोई लड्डू खाने का काम थोड़ा ही है। दुर्योधन ने पीछे से कहा—भगवन् ! मैं पहले आया हूँ तो मुझे प्रथम माँगने का हक है। श्रीकृष्ण ने कहा अच्छा तुम ही कहो। दुर्योधन ने कहा—मुझे आपकी सेना चाहिये। भगवान् ने कहा—अर्जुन ! क्या तुमको यह स्वीकार है ? मेरे लिये तुम दोनों बराबर हो। दुर्योधन पहले आये। तुम पहले दीखे। अर्जुन ने प्रसन्नता से कहा—मुझे आप ही चाहिये। क्योंकि अर्जुन को मालूम था कि भगवान् आ गये तो सब कुछ आ गया।

"तदेव लग्नं सुदिनं तदेव तारावलं चन्द्रबलं तदेव।
विद्याबलं दैवबलं तदेव लक्ष्मीपते तेऽङ्घ्रियुगं नमामि॥"

भगवान् के होने पर सब प्रकार का बल प्राप्त होता है। अबल हैं वे जिन्होंने भगवान को नहीं अपनाया। अत एव कौरवों पर दया उत्पन्न होना अति स्वाभाविक है।

"कृपयाविष्टं" यहाँ कृपापद से कृपणता-कार्पण्य लेना चाहिये ऐसी भी व्याख्या की जाती है। कृपणता की व्याख्या "कार्पण्य-दोषोपहतस्वभावः" इस श्लोक में ही की जायेगी।

अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् । यह अर्जुन के लिये द्वितीय विशेषण है। अर्जुन की आँखें आँसुओं से भर गयीं और कातर हो गयीं। आँसू आने में तीन कारण होते हैं। अति प्रेम से आँसू आते हैं (१) अति दुःख से आँसू आते हैं (२) अति कृपा से आँसू आते हैं (३) अर्जुन में ये तीनों ही बातें सम्भवतः थीं।

(१) उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्" उदार मन वालों के लिये सारी की सारी वसुधा ही कुटुम्ब समान है। अर्जुन महामानव था। शत्रु के प्रति भी प्रेमभाव अर्जुन के मन में था। फिर भीष्म-द्रोणादि तो साक्षात् कुटुम्बी ठहरे। "आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः" इस प्रकार अर्जुन ने अपना रिश्ता पहले ही बताया। उनके प्रति अपार प्रेम होना निश्चित ही था। उसमें उन पर आने वाली आपत्तियाँ दीखने लगीं तो आँखों में आँसू भर आये।

(२) स्वजन वियोग का शोक अर्जुन को हो रहा था। यद्यपि वर्तमान में स्वजन नष्ट नहीं हुए हैं। फिर भी भावी वियोग को लेकर वर्तमान में शोक देखने में आता हैं। यही तो संसार है। "अशोच्यानन्वशोचः" "मा शुचः" इत्यादि वचनों से इसी शोक को दूर करने का भगवान ने उपदेश किया था। गीता का मुख्य प्रयोजन ही शोक मोह निवृत्ति है अतः अर्जुन शोक कातर था इसमें संशय ही नहीं है।

(३) कौरवों को देखकर अतिकृपा होने से अर्जुन की आँखों में 'कृपयाविष्टम्'—'अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं' इन दो विशेषणों का हेतुहेतुमद्भाव से अन्वय करने से ही सिद्ध हो जाती है। इसीलिये व्याख्याकारों ने यहाँ "कृपयाविष्टमत एवाश्रुपूर्णाकुलेक्षणं" इसीलिये व्याख्या की है। बल्कि "विषीदन्तं" को भी पूर्व में जोड़ने पर तीनों हेतु यहाँ शब्दतः प्राप्तः होते हैं। (१) 'तथा तं' (२) 'कृपयाविष्टं' (३) 'विषीदन्तं' (४) अतएव अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्। आचार्याः पितरः-

पुत्रा इत्यादि रीति ममत्वातिशययुक्त अत एव प्रेमपूर्ण हृदय यह प्रथम विशेषण "तथातं" का अर्थ है। कृपयाविष्टं में आवेश पद से अत्यधिकता सूचित होने से अतिशय कृपायुक्त अर्थ द्वितीयविशेषण से प्राप्त है। विषीदन्त में विषाद स्पष्टोक्त है। अतिशयशोक को ही विषाद कहते हैं। परदुःखकातरता दया है। स्वदुःखकातरता शोक है। अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं यह फलकथन कारण का अतिशय बताने के लिये है। साधारण प्रेम या साधारण शोक दयादि से आँखों में आँसू नहीं आते। हाँ कोई स्त्री होती तो बात अलग थी। स्त्रियों को रोना बहुत जल्दी आता है। उनकी आँखों के ऊपर मानो पानी का घड़ा ही भरा रहता है। किन्तु पुरुष रोये सो भी कायर नहीं, किन्तु शूरवीर अर्जुन जैसा व्यक्ति जो कि हजारों शूरों को पछाड़ने वाला है, ऐसे धीरातिधीर की आँखों में आँसू आवे यह तो एक असाधारण घटना है। अत एव यहाँ शोक मोह की पराकाष्ठा सूचित होती है। क्योंकि यह प्रेम न होकर मोह ही हो चुका है।

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः। विषादयुक्त अर्जुन को भगवान् मधुसूदन ने यह वचन कहा। श्लोक के इस उत्तरार्ध में आगे गीता में क्या बोलने जा रहे हैं। और बोलने का लक्ष्य क्या है इन दोनों बातों का अर्थात् साधन तथा साध्य दोनों का संक्षिप्त कथन है। संजय गीतासार को 'मधुसूदन' पद में भरना पसंद कर रहा है। मधु नाम के दैत्य को मारने वाला मधुसूदन है। प्रलयकाल में मधु और कैटभ नाम के दो दैत्य पैदा हुए थे। उस समय भगवान विष्णु योगनिद्रावशंगत थे। विष्णु के कर्णमल से इन दोनों की उत्पत्ति बतायी जाती है। वे दोनों भगवान विष्णु के ही नाभिकमल में स्थित ब्रह्माजी को मारने दौड़े। **"विष्णुकर्णमलोद्भूतौ ब्रह्माणं हन्तुमुद्यतौ"** इत्यादि प्रसंग में यह बात बतायी है। उसी समय ब्रह्माजी ने योगमाया की स्तुति की तो भगवान जगे और दोनों असुरों को मारा। अध्यात्मरीति से इस प्रसङ्ग का अर्थ यह

है कि कर्णमल अथात् श्रवणदोष। सदोष श्रवण से मोह और शोक उत्पन्न होते हैं। मोह ही मधु है और शोक ही कैटभ है। वे दोनों चतुर्मुख ब्रह्मा को मारने दौड़े अर्थात् चारों वेदों से प्रतिपाद्य तत्त्व ज्ञान को नष्ट करने के लिये तुल गये। नाभि से ही पश्यन्ती वाणी का प्रादुर्भाव माना गया। अत एव ब्रह्माजी की स्तुति से योग निद्रारूपी माया का आवरण हटा तो स्वयंप्रकाश विष्णु ने मधु और कैटभ दोनों का वध किया। यहाँ पर गीता में मधुसूदनः इस पद से मोहनाशन अर्थ सूचित होता है। यही साधनकथन है। "विषीदन्तं" शब्द शोक वाचक है ही। विषीदन्तं विषादहानायोवाच' ऐसा अभिप्राय आर्थिक है। विषादनिवृत्ति साध्य है। फलतः मोह निवर्त्तक मधुसूदन भगवान ने मोह निवृत्ति द्वारा विषादयुक्त अर्जुन के विषाद की निवृत्ति के लिये तन्निवृत्त प्रयोजक बचन कहा इतना भावार्थ उत्तरार्ध से निकलता है। अर्थात् वचन अज्ञान निवृत्ति मोह निवर्त्तक है। मोह निवृत्ति होती है। इस उद्देश्य से भगवान का यह वचन है॥ १॥

श्रीभगवानुवाच

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥२॥

[हे अर्जुन ! तुमको इस विषमस्थल पर यह अज्ञान किस तरह से हो गया ? क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषों से आचरित है, न स्वर्ग को देने वाला है और न कीर्तिकारक है ॥ २ ॥]

"उवाच मधुसूदनः" इस प्रकार पूर्व श्लोक के अन्त में आया था। अध्यात्म पक्ष में उसका अर्थ बताया—मोहनाशन मधुसूदन भगवान ने कहा। उसके बाद फिर से वही बात शब्दान्तर से कही जा रही है—श्री भगवानुवाच ! प्राचीन पद्धति से पुनरुक्ति दोष यहाँ माना नहीं जाता। और उवाच मन्त्र के पुनः उच्चारण की प्रथा होने से पुनः क्यों कहा गया ऐसा प्रश्न भी नहीं उठता। फिर भी कहीं कहीं उवाच मन्त्र के बिना भी उत्तर कथन देखा गया है। जैसे "राजा वचनमब्रवीत्" के बाद "दुर्योधन उवाच" नही लिखा। "उवाच पार्थ पश्यैतान्" यहाँ भी मध्य में श्री भगवानुवाच ऐसा पृथक् पाठ नहीं है। उसमें कारण क्या है यह हम प्रथमाध्याय में बता चुके हैं। उसे देखकर यहाँ पर भी कोई शंका करे कि 'उवाच मधुसूदनः' आ गया। फिर श्री भगवानुवाच पृथक् कहने की क्या जरूरत ? इस प्रकार का पूर्वपक्ष न भी उठे तो भी कहीं कहीं अधिकार्थविवक्षा से ऐसा प्रयोग होता है अतः उस अर्थ का विचार करना उपयुक्त ही है।

भगवान शब्द की व्याख्या भिन्न-भिन्न रूप से आयी है। एक व्याख्या इस प्रकार है कि—

"उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम्।
बन्धं मोक्षं च यो वेत्ति स वाच्यो भगवानिति ॥"

जो प्राणियों के जन्म मरण, स्वर्गनरकादि गमनागमन तथा बन्ध मोक्ष को पूर्णतया जानता हो वही भगवान् शब्द का अर्थ है। केवल

जन्ममरणादि का ही ज्ञान नहीं, किन्तु जन्ममरणादि जिससे हो उस हेतु का एवं उसके फल का भी ज्ञान यहाँ अभिप्रेत है। अत एव यहाँ श्री भगवान् शब्द से सर्वज्ञ, ज्ञानोपदेष्टा आदि अर्थ भी प्राप्त होता है। मधुसूदन का अर्थ मोहनाशन किया तो उसका कारण ज्ञानसत्ता को भी बताना ही चाहिये। शोकनाश का कारण मोह निवृत्ति है। मोह निवृत्ति का कारण ज्ञानोदय है। भगवान् भी भक्त का मोह निवृत्त करते हैं तो ज्ञानोत्पादन द्वारा ही करते हैं। यह बात आगे आने वाली है—**"अहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।"**

गीता में साक्षात् भगवान् ही प्रवक्ता हैं। अत एव इसका नाम भी भगवद्गीता है। यद्यपि गीता में उपनिषद् की ही बात बतायी है। अत एव "भगवद्गीतासूपनिषत्सु" ऐसा पुष्पिका में कहा जाता है। ऐसी स्थिति में उपनिषद् की बातें चाहे भगवान् बोलें चाहे दूसरा साधारण मनुष्य कहे, क्या फरक पड़ता है ? प्रवक्ता के रूप में भगवान् को ही रखने से क्या विशेषता होती है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी साधारण मनुष्य की वाणी में और भगवान् की वाणी में बहुत बड़ा भारी अन्तर पड़ता है। मनुष्य बात करता है तो भले ही वह उपनिषद् की ही क्यों न हो फिर भी अपनी वासना में ढालकर तदनुरूप ही बोलेगा। मनुष्यों की वासनायें अस्थिर होती हैं। आज वह जिसको अच्छा बताता है, दूसरे दिन उसी को वह गाली देने लगता है। आज कहेगा फलां आदमी बड़ा अच्छा है, नम्र है, विवेकी है, सरल है; तो दूसरे दिन कहेगा कि यह आदमी बड़ा बुरा है, उद्धत है, अविवेकी है, ढीठ है। यही हालत उपनिषदों की व्याख्या करते समय भी होती है। अत एव श्रुति को स्मृति के अनुसार समझो। स्मृति को पुराणों के अनुसार लगावो। स्मृति एवं पुराणों को छोड़कर उपनिषदों की कोई मनुष्य व्याख्या करेगा तो निश्चित ही विषमता आयेगी। क्योंकि मनुष्य

बुद्धि विषम होती है। वह अपने स्वार्थ की दृष्टि से ही हमेशा व्याख्या करता है। एक कथा प्रसिद्ध है। एक बादशाह ने एक बार बैंगन का साग खाया। वजीर को कहा--बैंगन का साग बड़ा अच्छा होता है। वजीर ने कहा—जी हजूर ! बैंगन का साग बहुत ही अच्छा होता है उसका नाम ही बैंगन है। बैंगन माने बहुगुन। बहुगुन से, बैंगन बोलने लगे। दूसरे दिन बादशाह की तबियत खराब हो गयी। उसने वजीर से कहा—बैंगन का साग बड़ा खराब होता है, मेरी तबियत बिगड़ गयी। वजीर ने कहा—जी हजूर ! बैंगन का साग बहुत ही खराब होता है। इसीलिये उसका नाम बैंगन पड़ा। बैंगन माने बेगुन। कोई गुण जिसमें न हो वह बेगुन। बेगुन से लोग बैंगन कहने लगे। एक तीसरा आदमी था। उसने दोनों की बात सुनी तो पूछा—वजीर साब ! कल आप बैंगन को बहुगुन कहकर प्रशंसा कर रहे थे। आज बैंगन को बेगुन कहने लगे, यह कैसी बात है ? वजीर ने कहा— अरे ! मैं बादशाह का नौकर हूँ, बैंगन का नौकर नहीं हूँ। सारांश यह कि मनुष्य स्वार्थ स्ववासना के अनुसार व्याख्या करता है। अत एव वह पूर्ण विश्वास योग्य नहीं होता। इसलिये वेद उपनिषदादि की व्याख्या या सार-कथन भी भगवदीय हो तभी निःसकोच ग्राह्य होगा। अत एव यहाँ "श्री भगवानुवाच" को पृथक् कहा। भगवान में कोई वासना नहीं है। वे अर्थ परिवर्तन करके नहीं बोलते। वस्तुयाथात्म्य का ही प्रतिपादन भगवान् के वचनों में होता है। इसकी परम प्रामाणिकता बताने के लिये ही "मधुसूदन उवाच" आदि को भी छोड़कर "श्री भगवानुवाच" कहा।

कुतस्त्वा कश्मलमिदम्। यह कश्मल कहाँ से तुम्हारे पास आ उपस्थित हुआ ? कैसे आ ? क्यों आया ? यह प्रश्न नहीं है। किस मुल्क से कश्मल आया, गाड़ी से या पैदल आया, क्या लेने आया ऐसा प्रश्न अर्थ में यह वाक्य नहीं है। किन्तु आक्षेप अर्थ में कि

शब्द है। यह एक प्रकार की डाँट है। डाँटते हुए भगवान् जोर से कह रहे हैं, कहाँ से आ गया यह कश्मल तुझमें। अपेक्ष योग्य क्यों है इसका निरूपण उत्तरार्ध में है। यह कश्मल अनार्यजुष्ट है—यह आर्यसेवित नहीं है। यह कश्मल अस्वर्ग्य है—स्वर्गप्रद नहीं है।

यह कश्मल अकीर्तिकरं—यह कीर्त्ति देने वाला नहीं है। इस प्रकार यह निषेधात्मक व्याख्या है। विधिरूप व्याख्या भी सम्भव है। आर्यसेवित नहीं, अनार्यों से सेवित है। स्वर्गदायी नहीं, अस्वर्ग-दुःख देने वाला है। कीर्तिकारी नहीं, अकीर्ति फैलाने वाला है। क्यों भगवान् डाँट कर बोले? क्यों प्रखर स्वर से बोले? इसलिये कि अर्जुन की मोहनिद्रा उड़ाने के लिये यह आवश्यक था। किसी सोये व्यक्ति को धीरे-धीरे देवदत्त, देवदत्त कहकर सैंकड़ों बार पुकारो तो भी वह जगेगा नहीं। लेकिन एक ही बार डपटकर 'देवदत्त' पुकारो तो पुरत नींद खुलेगी।

"अर्जुन" ऐसा इस श्लोक में संबोधन आया है। यद्यपि आगे भी अनेक बार यह संबोधन आयेगा। कहीं विशेष अर्थ के लिये भी होगा। फिर भी कहीं-कहीं सामान्य रीति से भी सम्बोधन होगा। तथापि प्रथम सम्बोधन होने से यहाँ विशेष अर्थं विवक्षित है ही। प्रथमाध्याय में "उवाच पार्थ पश्यैतान्" ऐसा एक सम्बोधन उवाच मन्त्र के बिना ही आया है। परन्तु वहाँ केवल एक नाता लेकर सम्बोधन किया गया था। पृथा का पुत्र पार्थ कहलाता है। पृथा श्रीकृष्ण की बुवा थी। अतः अर्जुन भाई सिद्ध होता है। विश्वासपात्रता की दृष्टि से भाईचारा आवश्यक ही है। परन्तु इतना छोटा अर्थमात्र अभिप्रेत नहीं है। यहाँ अर्जुन कहते हुए ज्ञानादि उत्तम धन का अर्जन करने वाला बताना चाह रहे हैं। ज्ञानादि-धनार्जनादर्जुनः ऐसी शब्द की व्युत्पत्ति है। पंजाब में बल्कि अर्जुन के बदले अर्जन ही कहते हैं—अर्जनसिंग आदि।

यद्यपि अर्जन का ज्ञानार्जन इतना अर्थ तो नहीं है। किसी भी चीज का अर्जन करने वाला अर्जुन कहला सकता है। तथापि शब्दों में कुछ ऐसी शक्ति है कि जिससे अमुक ढंग का अर्जनादि ही शब्दार्थ बन सकता है। जैसे "काटना" यह शब्द टुकड़े करने अर्थ में आता है। फिर भी बहुत से लोग "साग काटना" प्रयोग करना बुरा मानते हैं। रोटी फूली नहीं, खिली। रास्ते में कचड़ा पड़ा है कहते हैं। कचड़ा विराजमान है नहीं कहा जाता। वैसे ही अर्जन उत्तम वस्तु के सम्पादन को ही कहते हैं। यश का अर्जन होता है अपयश का अर्जन नहीं कहा जाता। यदि कहते हैं तो विरोध सूचनार्थ ही होगा। सारांश यह कि अर्जनादर्जुनः इस व्युत्पत्ति से ही ज्ञानादि सद्गुणार्जन अर्थ शब्द शक्ति से प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास ने लिखा है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

ये चार वस्तुएँ जीवन में अर्जन योग्य हैं। विधार्जन, विषयार्जन, तपोऽर्जन और योगार्जन। अभ्यास तो तप और योग का ब्रह्मचर्यावस्था में ही होने लगता है। किन्तु प्रथमावस्था में विद्यार्जन की मुख्यता है। गृहस्थाश्रम में चारों अर्जनीय हैं। फिर भी विषयार्जन मुख्य है। वानप्रस्थ और संन्यासी के लिये तप एवं योग अर्जनीय हैं। अर्जुन ने अपने गार्हस्थ्य काल में सबका अर्जन किया यही विशेषता है। शास्त्रविद्या एवं शस्त्रविद्या में अर्जुन कुरुवंश में अग्रणी था ही। धनंजय तो नाम ही है। शंकर भगवान को प्रसन्न किया अतः तपस्वी और योगी होने में भी कोई कसर नहीं थी। प्रश्न होगा—तब गीतोपदेश की क्या जरूरत पड़ी? उत्तर आगे आने वाला है। मोहावरण से अर्जुन का ज्ञान आवृत्त हो गया था। हनुमानजी को उनकी विस्मृतिशक्ति की याद दिलानी पड़ी। वैसे अर्जुन को अपनी योग्यता का स्मरण दिलाने के लिये प्रथम अर्जुन सम्बोधन किया।

उस अर्जुन में यह कश्मल कैसे आ गया, आना नहीं चाहिये था। कोई कायर होता, मूढ़ होता, तो कश्मल का होना सम्भव है। अर्जुन जैसे सद्गुणाद्यर्जन परायण में कश्मल का यह प्रवेश उचित नहीं लगता। यही उक्ताक्षेप समर्थक सम्बोधन का तात्पर्य है। हे अर्जुन! अपने नाम एवं स्वरूप के प्रतिकूल ऐसे कश्मल की हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

"ऋज" धातु से अर्जुन शब्द होता है। ऋज से ही ऋजु शब्द भी बनता है। ऋजु का अर्थ है सीधा, सरल, कपटरहित, अकुटिल। कुटिल उसको कहते हैं जिसकी मन, वाणी एवं क्रिया में एकात्मता न हो। **"मनस्यन्यद्वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्"** ऐसा बताया है। मन में कुछ सोचेगा, बोलेगा और ही बात और करेगा कुछ और ही। इससे विपरीत ऋजु है अर्जुन। जिसके लिये यह पूर्वार्ध है—**"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्"**। सीधा सरल व्यक्ति कभी व्यामोह में नहीं पड़ता। उसके मन में कश्मल नहीं होता। "स्वर्गद्वारमपावृतं" खुले स्वर्ग द्वार को छोड़कर नरक द्वार कपटी ही खटखटायेगा। हे अर्जुन! तुम सरल मार्गावलम्बी होकर इस कश्मल को कैसे पकड़े हुए हो यह भी अर्जुन सम्बोधन का अर्थ है।

वेदों में प्रयोग आया है—**"अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च"**। "अहः" दिन को कहते हैं। दिन प्रकाश प्रधान होता है। अर्जुन तथा कृष्ण दोनों प्रकाश स्वरूप हैं। वे दोनों नर और नारायण के अवतार हैं ही। अतः दोनों को "अहः" बताया। प्रकाश में अन्धेरा यह बड़ी विलक्षण बात होगी। इसलिये आश्चर्य में भी भगवान् कह रहे हैं "कुतस्त्वा"। किं शब्द का कहीं आक्षेप अर्थ है तो कहीं आश्चर्य अर्थ भी होता है।

"कुतस्त्वा कश्मलमिदम्"। **"मूर्च्छा तु कश्मलं मोहः"** इस प्रकार अमरकोश में कश्मल का अर्थ मोह लिखा है। मूर्च्छा का भी

बेहोशी-मूर्च्छित होना अर्थ नहीं है। मूर्च्छा धातु से ही मूर्ख शब्द होता है। फलतः कश्मल का मूर्खता, मोह, मूढ़ता इत्यादि अर्थ है। "कश्मलं मलिने त्रिषु" ऐसा कोशान्तर है। यह सब कोशों की बात हुई। शब्द में मूल धातु प्रत्ययादि होते हैं। उसके अनुसार अर्थ समझा जाता है। कश धातु गति एवं घातन (ताड़न) में आता है। इसी से कशा शब्द है। जिसका चाबुक अर्थ है। ज्ञान पर घात करने वाला कश्मल है। घात करने वाली मलिनता ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है। कसने वाला घातक यह मोह मालिन्य कहाँ से आया ऐसा भगवान कह रहे हैं। "इदं" माने यह अर्थात् प्रात्यक्षिक-पूर्वाध्यायोक्त मोह। पूर्वाध्याय में मोह के पाँच स्वरूप दिखाये हैं—

(१) **दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण**—यह प्रथम कश्मल है। स्वजन शब्द में मै और मेरा ऐसा भाव निकलता है। युद्ध के मैदान में जो प्रतिपक्ष में खड़ा है उसे स्वजन समझना कितना घातक काम है। यह कश्मल की बीजावस्था है—"अहमेतेषां ममैते"—में उनका हूँ वे मेरे हैं। ऐसे अहंता ममतारूपी कश्मल को ही संसारबीज माना है।

(२) **सीदन्ति मम गात्राणि**—इत्यादि जो वर्णन किया वह कश्मल की द्वितीयावस्था है—अङ्कुरावस्था है। स्वजनों को देखने के बाद अर्जुन का शरीर शिथिल होने लगा, मुँह सूखने लगा, रोमांच होने लगा, गांडीव हाथ से छूटने लगा। इस युद्ध में कोई श्रेय नहीं आदि विचार होने लगा। यह सब कश्मल की अङ्कुरावस्था है।

(३) **एतान्न हन्तुमिच्छामि**—इत्यादि तृतीय कश्मल है। कश्मल की पल्लवावस्था है। यह स्वधर्मोपरति है। मैं इन आततायियों को मारना नहीं चाहता, भले ही वे मुझे मार रहे हो। कौरवों को मारने से हमें क्या प्रीति हो सकती है? पाप ही हमें लगेगा।

स्वजन को मारकर आज तक कोई सुखी नहीं हुआ और न आगे होगा। ये सब पल्लव हैं, पत्तियाँ हैं।

(४) **कुलक्षये प्रणश्यन्ति**—यह चौथा कश्मल है। अधर्म में धर्ममति कश्मल है। पितर नरक में पड़ेंगे। कुल धर्म नष्ट होंगे। क्या अभी तक कहीं युद्ध नहीं हुआ है? युद्ध हुआ है तो दोनों पक्ष किसी कुल के ही तो रहे होंगे। तब यह स्त्रीप्रदूषणादि अभी कैसे हुए? "अहो बत महत्पापं" यह विलक्षण ही अफसोस है।

(५) **रथोपस्थ उपाविशत्**—"शोकसंविग्नमानसः" यह पाँचवाँ कश्मल है। अर्थात् कश्मल की फलावस्था है। धर्मत्यागपूर्वक महाशोकरूप संसार में डूब जाना यही परिणाम है। इस प्रकार पूर्वाध्यायोक्त अर्जुन की समस्त विसंगतियों को ही "इदं" शब्द से परामर्श कर भगवान ने कश्मल बताया।

विषमे समुपस्थितम्। कश्मल थोड़ा बहुत चल सकता था यदि परिस्थिति शान्त हो। शान्तिकाल में कोई विदेशी जेट विमान भी देश के आसमान पर आ पहुँचे तो कोई हानि नहीं होती। किन्तु युद्धकाल में यात्री विमानों का भी आना जाना खतरे से खाली नहीं माना जा सकता। यहाँ पर तो दोनों सेनायें लड़ने की तैयारी में हैं। देशकाल परिस्थिति सभी विषम है। यह रणभूमि है, कुरुक्षेत्र का मैदान है। उसमें भी दोनों सेनाओं के बीच में। यह रोने पीटने का स्थान नहीं है। काल कैसा? युद्ध की घोषणा के रूप में शंख बजा चुके हैं। प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते—छिटपुट शस्त्रपात परस्पर शुरू हो गया है। यहाँ तक कि "धनुरुद्यम्य पाण्डवः"—अर्जुन ने अपने हाथ में धनुष भी उठा लिया है। ऐसे ऐन मौके पर धोखा देना हुआ यह कि—मैं लड़ूँगा नहीं ऐसा कहना। एक जगह हमने देखा। बरात आयी। भोजन की थाली परसी गयी। वरराज कहता है दस हजार दहेज दो तो भोजन करूँगा, नहीं तो नहीं। इसी प्रकार विषम परिस्थिति में यह कश्मल आ खड़ा हो

गया है। 'त्वं कश्मलं प्राप्तः' ऐसा नहीं। "कश्मलं त्वां समुपस्थित" ऐसा है। अर्जुन ने कश्मल को नहीं पकड़ा, कश्मल ने अर्जुन को पकड़ा है। कश्मल अर्जुन के पास उपस्थित हो गया। भगवान् कह रहे हैं कि हे अर्जुन यह तुम्हारा स्वभाव नहीं है, स्वरूप के अनुरूप नहीं है। यह तो कश्मल की करामात है। अन्यथा अर्जुन के पास यह कैसे आता। अत एव काफी सावधानी बरतने की जरूरत है। क्योंकि यह असम्भव को भी सम्भव कर दिखलाने वाला प्रतीत हो रहा है।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरम्। किसी भी कार्य को करते समय तीन दृष्टि से उसे देखना चाहिये। एक यह कि शिष्ट परम्परा के अनुरूप है या नहीं। दूसरा यह कि यह शास्त्र परम्परा के अनुकूल है या नहीं। तीसरा यह कि लोकपरम्परा के अनुसार है या नहीं। किसी बात में ये तीनों बातें मिल सकती हैं। किसी में दो, किसी में एक। यदि एक भी न हो तो उसको अपनाना नहीं चाहिये।

(१) आर्य कहते हैं श्रेष्ठ को, शिष्ट को। आर्यों का एक सिद्धान्त यह रहा है—**"कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातयेयम्"**। आर्यों को अपने कर्तव्य पर मोह होता है, शरीर पर नहीं। गुरु गोविंद सिंह के दो लड़के थे। मुसलमानों ने उन्हें पकड़ लिया था। धर्म परिवर्तन का वह अन्धयुग था। बादशाह ने दोनों को कहा—तुम मुसलमान बनो तो बच सकते हो। दस-बारह वर्ष के बच्चे थे। बच्चों ने कहा यह नहीं हो सकता। साम, दाम, भेद तीनों नीतियाँ उन बच्चों के सामने व्यर्थ हो चुकी थीं। फुसलाया, राज्य का प्रलोभन दिया, डराया, धमकाया। किन्तु सभी विफल। आखिर बादशाह ने अब दण्ड का आश्रय लेकर कहा—तुम्हें ईंटों से चुन दिया जायेगा। बच्चों ने कहा भले। हम अपने निश्चय से हट नहीं सकते। हमारे माँ बाप ने यही शिक्षा दी है। आखिर दिवार के

साथ खड़े करके चुनना प्रारम्भ किया। गले तक पहुँचा। बादशाह ने कहा—देखो अभी भी मौका है। मान लो। नहीं तो पूरे चुन दिये जाओगे। मर जाओगे। गुरु गोविंद सिंह के वे लड़के थे। कहने लगे, हमने यही सीखा है—

"न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।"

किसी विषय की कामना से, किसी के भय से या किसी प्रकार के लोभ से यहाँ तक कि जान बचाने के लिये भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये। यह शरीर अनित्य है। आज नहीं, तो कल मरेगा ही। यह आत्मा अजर, अमर, अविनाशी है। अन्त में उस क्रूर बादशाह ने दोनों नन्हें बच्चों को अमानवीय तरीके से जीवित चुन लिया। बच्चे अवश्य गये किन्तु उनका आर्य जीवन आज तक अनुकरणीय ज्वलंत उदाहरण के रूप में आर्यों के मस्तक में अंकित रहा। भगवान् कह रहे हैं—युद्ध से विमुख होना यह आर्य स्वीकृत नहीं है। ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये। यह आर्य परम्परा है, यह शिष्ट परम्परा है कि प्राप्त कर्तव्य को प्रारम्भ करो और पूरा करो। यही यही अनार्यजुष्टं इस विशेषण का तात्पर्य है।

(२) दूसरा यह देखना है कि स्वर्ग साधन है या नहीं। यद्यपि आगे जाकर "कामात्मानः स्वर्गपराः" "ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं" इत्यादि से स्वर्ग को हेय बतायेंगे। ऐसी स्थिति में यह कार्य स्वर्ग साधन है या नहीं यह देखने की क्या आवश्यकता ऐसा प्रश्न हो सकता है। तथापि उस प्रसंग को सर्वसामान्य से नहीं जोड़ना चाहिये। किसी ने कहा—भैंस का दूध पीने से भैंस के समान मोटी बुद्धि वाला होगा। गाय का दूध उत्तम होता है। बात सत्य है। किन्तु भैंस का दूध क्या, जिसको बकरी का भी दूध पीने को नहीं मिलता उसको भैंस के दूध के लिये भी श्रम करना ही पड़ता है। दूसरी बात स्वर्ग की चाह रखो या न रखो, फिर भी कार्य तो स्वर्ग साधन कार्य ही करना चाहिये। कोई ब्रह्मवेत्ता पुरुष है।

उसके लिये बताया है—"हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति"। यह भी बताया है—"कृत्वापि न निबध्यते"। अर्थात् यज्ञदानादि करने पर भी वह बंधन में नहीं पड़ता। उसके लिये प्राणीहनन और यज्ञदानादि दोनों बराबर हैं। तो क्या इसका यह मतलब है कि वह प्राणियों को मारता फिरे। करना स्वर्ग साधन ही कर्म है। फलाभिलाषा छोड़ना यह एक उसमें संशोधन है। तीसरी बात यह है कि "अनन्ते ज्येये स्वर्गे लोके" इत्यादि में स्वर्ग शब्द का दूसरा अर्थ भी स्वीकार किया है। वहाँ स्वर्ग लोक का अर्थ—आत्मलोक अर्थात् मोक्ष किया है। निष्काम भाव से इन्हीं सत्कर्मों को करने से अन्तःकरण शुद्धि परम्परा से मोक्ष पर्यन्त सभी कार्य सिद्ध होते हैं। अतः देवलोकरूपी स्वर्ग और मोक्ष रूपी स्वर्गलोक दोनों के प्रति भी कारण भाव भेद से एक ही होने से यहाँ किसी प्रकार का भी शंका का अवसर नहीं है।

स्वर्ग साधन कौन? नरक साधन कौन? यह केवल शास्त्रवेद्य है। अत एव स्वर्ग्य का अर्थ है—शास्त्रविहित। तथा अस्वर्ग्य का अर्थ शास्त्र-अविहित या शास्त्र प्रतिबिद्ध। फलतः अस्वर्ग्यं कहते हुए भगवान ने शास्त्र परम्परा की दृष्टि रखने का उपदेश दिया है। धर्मशाला, पाठशाला, औषधालयादि हमारे पूर्वज आर्यशिष्टों ने बनवाया की नहीं। यदि नहीं बनवाया तो हम भी नहीं बनवावें। ऐसे रूढ़िवाद के लिये भगवान अनुमति नहीं देते। स्वर्ग साधन हो तो उसे अवश्यमेव करो। स्वर्ग का विशिष्ट सुख—परलोक विरुद्ध सुख अर्थ भी किया जा सकता है।

(३) तीसरा देखना यह है कि यह कीर्त्तिकारी है या नहीं? लोक परम्परा के अनुसार है या नहीं? एक बार की बात है—एक संत, वे बंगाल के थे या आसाम के यह पता नहीं, हरद्वार आये। एक रोज उनको मछली खाते हुए संतों ने देखा। सभी गाली देने

लगे। संत कहने लगे—"हमारे देश में सब मछली खाते हैं।" "न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने" ऐसा शास्त्रों में लिखा है। हजार प्रकार से समाधान करने की कोशिश की किन्तु सफलता नहीं मिली। आखिर बदनाम हो गये। हरिद्वार छोड़कर उनको भागना पड़ा। अतः यह भी देखना आवश्यक है कि यह लोक परम्परा के अनुरूप है या नहीं। युद्धवैमुख्य के बारे में भगवान का कहना है कि शिष्ट विरुद्ध है, शास्त्र विरुद्ध है और लोकविरुद्ध भी है। हे अर्जुन! ऐसा कार्य तुम्हारे लिये उचित नहीं है ॥ २ ॥



क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ।।३।।

[हे शत्रुजयी अर्जुन ! तू नपुंसकता को मत प्राप्त हो यह तेरे लिये श्रेयस्कर नहीं है। कायर हृदय की दुर्बलता को छोड़कर युद्ध के लिये खड़े हो जाओ ॥ ३ ॥]

श्रीमद्भगवदगीता का यह द्वितीय अध्याय चल रहा है। इस अध्याय का नाम सांख्ययोग है। सांख्य का अर्थ क्या है इसका विशद वर्णन आगे होगा। यहाँ इतना ही समझना पर्याप्त है कि तत्त्वज्ञान की बातों को सांख्य कहते हैं। तत्त्वज्ञान की शुरूआत "कुतस्त्वा कश्मलं" कहकर किया। कश्मल का अर्थ बताया गया-मोह। कसा हुआ मल कश्मल है। **"कश गतिशासनयोः"** ऐसा धातुपाठ है। शासन करने वाला, चाबुक के समान घातकर शासन करने वाला कश्मल है। भगवान् कहते हैं—हे ! अर्जुन तुम्हारे अंदर यह कश्मलमोह कहाँ से आया। तत्त्वज्ञान के आरंभ में अकश्मल का प्रयोग कया। कश्मल अर्थात् मोह। गीता के अन्त में आयेगा "नष्टो मोहः"—मोह नष्ट हो गया। गीता मोह की निवृति के लिये भगवान ने कही। "कुतस्त्वा कश्मलं" यह मोहाक्षेप वचन है। नष्टो मोहः यह मोह नाश वचन है।

इस मोह निवृत्ति के लिये तत्त्वज्ञान संपादन करना चाहिये। संपादन के लिये प्रथम अपने को योग्य बनना चाहिये—योग्यता संपादन करना चाहिये। उसी के लिये पुनः भगवान कह रहे हैं—

"**क्लैब्यं मा**" हे पार्थ, तुम क्लैब्यं छोड़ो। क्लीबता को मत प्राप्त हो। क्लीबता अर्थात् नपुंसकता। भगवान् अर्जुन को डाँटते हुए, फटकारते हुए कह रहे हैं—अरे अर्जुन! यह क्या तुम नपुंसकता की बात कर रहे हो? यह हिजड़ापन छोड़ो। नैतत् त्वयि उपपद्यते = हे अर्जुन! तुम्हारे अंदर यह हिजड़ापन ठीक नहीं। हे पार्थ = पृथा के पुत्र! मेरे बुआजी के पुत्र अर्थात् मेरे ही भाई में यह कैसी नपुंसकता!! स्वयं मुझे शरम आ रही है। प्रखर शब्दावली में और भगवान् कह रहे हैं—क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्क्त्वा। हृदय की यह तुम्हारी क्षुद्रता कोई अच्छी नहीं माना जा सकती। यह क्षुद्र है, तुच्छ है। इस तुच्छ दुर्बलता को छोड़कर उत्तिष्ठ उठ खड़े हो जाओ। यह रथ इस समय सैर करने का साधन नहीं है कि तकिया लगाकर बैठ जाओ। यह युद्ध का रथ है यह तो खड़े होकर बाण वर्षा करने का वाहन है। पूर्वाध्याय की व्याख्या में हम कह आये हैं, जैसे कि बहुत से लोगों को भ्रांति हुई है कि अर्जुन रथ से उतर कर जमीन पर बैठा। परंतु बात वैसी नहीं है। रथ में पीछे की ओर बैठने की जगह होती है; वहीं अर्जुन बैठा। युद्ध खड़े खड़े किया जाता था। उसी को "त्यक्त्वोत्तिष्ठ" "तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय" आदि से बताया। विशेष "रथोपस्थ उपाविशत्" की व्याख्या में देखें। हे परंतप != शत्रुओं को तपाने वाले हे अर्जुन! स्वयं तुम ही तप्त हो रहे हो यह कैसी बात?

क्लैब्यं मा स्म गमः। क्लीब शब्द नपुंसक का पर्याय है। क्लीब में तीन चीज का अभाव होता है। एक—पौरुष का अभाव। दूसरा—धैर्य का अभाव और तीसरा—घर्षण शक्ति का अभाव। इन तीन का अभाव नपुंसक में देखा जाता है। अत एव इन तीनों के होने पर पुरुष को भी गौणीवृत्ति से नपुंसक तिरस्कार करते हैं या उत्तेजित करते हैं ऐसी लोकप्रथा है। उसी के अनुसार भगवान अर्जुन को उत्तेजित करते हुए यह वचन कह रहे हैं।

(१) हे अर्जुन पौरुष छोड़ना उचित नहीं है। यह प्रथम आशय है। संसार में जीने के लिये पौरुष होना चाहिये। पौरुष माने पुरुषार्थी बनना। अदम्य साहस के साथ कार्य करना। **"उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः"** ऐसा नीतिकारों का वचन है। दो प्रकार का पुरुषार्थ (पौरुष) होता है। एक संसार विषयक है। दूसरा परमार्थ विषयक है। निकम्मे होकर बैठना नहीं चाहिये। मरते दम तक कोई न कोई कर्तव्य कर्म करते रहना चाहिये। **"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"** ऐसा वेदमन्त्रों का आदेश है। लौकिक कार्य से थकते ही परमार्थ चिन्तन में लग जाना चाहिये। **"आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः"**—मनुष्य के शरीर में रहने वाला प्रथम शत्रु आलस्य है। क्लैब्य से बचने के लिये लौकिक कार्य या परमार्थ चिन्तन इन दोनों को क्रमशः करते रहना परम आवश्यक है।

(२) धैर्य दूसरा है। यह अक्लैव्य का दूसरा अङ्ग है। धैर्य एवं साहस के साथ कार्य करना चाहिये। इसके विपरीत क्लैव्य है। "विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा"। धैर्य का असली पता विपत्ति में चलता है। और जीवन में तो अनेक प्रकार की विपत्तियों का आना अनिवार्य है। केवल विपत्ति में धैर्य की आवश्यकता हो ऐसी बात नहीं। अत्यन्त कठिन कामों में भी धैर्य रखना आवश्यक है। नीतिकारों ने अन्योक्ति से यह बात बतायी है—

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः॥

देवता, ऐरावत, कल्पवृक्ष आदि अनेक रत्नों की प्राप्ति होने पर भी लक्ष्य को भूले नहीं। हलाहल विष से भी घबराये नहीं। अमृत प्रकट किये बिना उन्होंने चैन नहीं ली। यही तो धीरों का लक्षण है। गंगा के समान धीरज होता है। रास्ते में आये कंकड़, पत्थर,

रोड़ों की परवाह किये बिना ही गंगा समुद्र की ओर बढ़ती जा रही है। यह धैर्य नपुंसकों में नहीं होता। एक बनिया बैलगाड़ी में सामान भरकर जा रहा था। बीच में हिजड़ों का संघ मिला। उन्होंने बनिये को लूटने के लिये सोचा। बनिया घबरा गया। ये सौ डेढ़ सौ। मैं अकेला। आज मारा गया। गिड़गिड़ाकर वह आत्म समर्पण करने लगा। तब नपुंसक सब ताली बजाकर गाने लगे। लूटेंगे हम, आज लूटेंगे। खायेंगे, लप लप खायेंगे। बनिये ने देखा ये कैसे लुटेरे हैं जो गा रहे हैं। वह समझ गया ये नपुंसक हैं। हाथ में डंडा लिया और बोला फोड़ेंगे, हम सिर फोड़ेंगे। बस घबरा कर सभी नपुंसक भाग निकले।

(३) महर्षि पाणिनि ने धातुपाठ में लिखा है क्लीबृ अधार्ष्ट्ये। घर्षण शक्ति का अभाव क्लीब शब्द का अर्थ होता है। घर्षण का मतलब है अपना प्रभाव उज्ज्वल करना। भारविकवि के शब्दों में—

"अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः"

अर्थात् कोप जिसका अवन्ध्य हो—प्रभाव जिसका सफल हो ऐसे आपद्हारी पुरुषों के सभी प्राणी वशीभूत हो जाते हैं। जो अपनी इन्द्रियों को काबू में रख सकता है, जो दूसरों पर अपना प्रभाव डाल सकता है वही अक्लीब कहलाता है। भगवान् रामचन्द्र जमीन पर थे। रावण सोने के रथ पर। भगवान के साथी वानर भालू थे। रावण के साथी घोर राक्षस। परन्तु रामचन्द्र की घर्षण शक्ति कुछ और ही थी। जिससे रावण का अन्त हुआ।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ। हे पार्थ तुम फिर से नपुंसकता को मत प्राप्त हो। एक बार विराटनगर में तुम नपुंसक होकर रहे। अब उस क्लीब भाव को मत आने दो। कथा इस प्रकार है कि अर्जुन ने भगवान् शंकर की तपस्या की। भगवान् शंकर ने अर्जुन को पाशुपतास्त्र दिया और कहा कि अन्य दिव्य शस्त्रों के लिये तुम

इन्द्र के पास जाओ। इन्द्र के पास जाने की दिव्य शक्ति भी शंकर ने ही दी। अर्जुन इन्द्र के पास पहुँचा। और अमरावती नगरी में कुछ दिनों तक रहा। वहाँ एक बार उर्वशी आयी। अर्जुन उर्वशी के मधुर रूप को देखने लगा। उर्वशी भी अर्जुन की ओर देखने लगी। मनुष्य मरणोत्तर स्वर्ग में जाते हैं। यहाँ अर्जुन तो जीवन काल में ही स्वर्ग पहुँचा है। उर्वशी के मन में अर्जुन के प्रति मोह होने लगा। इन्द्र ने समझा कि अर्जुन और उर्वशी दोनों परस्पर आकर्षित हो रहे हैं। बाद में इन्द्र ने उर्वशी से कहा—यदि तुम्हारी प्रीति अर्जुन पर हो तो तुम उसके पास जाओ। उर्वशी सजधज कर दुगुने दिव्य रूप से रात के समय अर्जुन के पास पहुँची और अनेकविध हाव भाव प्रकट करने लगी। अर्जुन ने ज्यों ही देखा उर्वशी को, उठ खड़ा हो गया और बोला—माताजी इस समय आप यहाँ कैसे? माताजी ऐसा संबोधन सुनकर उर्वशी ने कहा—मैं तुम्हारी माता नहीं, प्रिया बनकर आयी हूँ। अर्जुन ने कहा—मैं पुरुवंश में पैदा हुआ हूँ। हमारा सिद्धान्त हैं—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्टवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु.......

परस्त्री को माता के समान, परद्रव्य को मिट्टी के ढेले के समान देखना चाहिये। समस्त प्राणियों को आत्मसमान देखना चाहिये। अतः आपका यह कथन धर्मानुरूप नहीं है।

भारत वर्ष का ही यह महान सिद्धान्त है। महाराष्ट्र में शिवाजी हो गये। अफजल खान हिन्दू नारियों के साथ बड़ा अन्याय करता था। उसको शिक्षा देने के लिये एक बार शिवाजी के सैनिक अफ-जल खान की अतिसुन्दर पत्नी को पेटी में बन्द करके लाये। उसको शिवाजी के सामने खड़ी कर दिया। वह थर थर काँप रही थी। शिवाजी ने उनकी ओर देख कर सिर हिलाया। सैनिकों से समझा

कि आज शिवाजी बदला लेंगे। लेकिन शिवाजी ने उसकी ओर देखकर कहा—धन्य हो परमात्मा ! तुम्हारी सृष्टि बड़ी मनोहर है। अगर मैं इसकी कोख से पैदा हुआ होता तो मैं भी कुछ सुन्दर बन जाता। शिवाजी ने सैनिकों को डाँटा और कहा कि हम धर्म के लिये धर्मयुद्ध कर रहे हैं। इसे अपने स्थान पर छोड़ आओ। सैनिक स्तम्भित रह गये। शिवाजी का यह शब्द कितना मार्मिक था—"इसकी कोख से मैं पैदा होता"। मतलब तुरन्त उन्होंने उस पर मातृ दृष्टि की। यह है "मातृवत् परदारेषु" का ज्वलंत उदाहरण।

अर्जुन कह रहा था उर्वशी को, तुम तो मेरी माता जैसी ही नहीं, माता ही हो। क्योंकि इन्द्र मेरे पिता हैं। पिता की स्त्री माता ही होती है। पूर्वजन्म में जब हम नरनारायण रूप में थे तब तो नारायण ने तुम्हें उत्पन्न किया। इसलिए तुम मेरी पुत्री भी कहला सकती हो। अतः प्रिया बनने का कोई कारण नहीं हो सकता। उर्वशी ने कहा—जन्मजन्मान्तर की बात छोड़ो। एक जन्म की माता दूसरे जन्म में क्या-क्या नहीं बन सकती ? "गहना कर्मणो गतिः"। जो तुम धर्म, अधर्म, पुण्यपाप को बात करते हो, यह सब मर्त्यलोक में होता है, स्वर्ग में नहीं। अर्जुन ने कहा स्वर्ग में भले पुण्यपाप न हो, लेकिन मैं तो मर्त्य हूँ। मनुष्य लोक का हूँ। यहाँ तो मैं अतिथि रूप से आया हूँ। अतिथि उस देश का या घर का सदस्य नहीं होता। अतः मुझे तो मनुष्य लोक के नियमों का ही पालन करना पड़ेगा। उर्वशी निरुत्तर हो रही थी। "काम एष क्रोध एष" काम ही प्रतिरुद्ध होने पर क्रोध रूप को धारण करता है। उर्वशी को क्रोध आने लगा था। फिर क्या—

"न पश्यति च जन्मान्धः कामान्धो नैव पश्यति"

कामान्ध उर्वशी क्रोधावेश में आ गयी। उर्वशी ने अर्जुन को श्राप दिया। उर्वशी ने कहा कि रात्रि के समय में तुमने एक स्त्री

को निराश किया अतः तुम नपुंसक हो जाओ। अर्जुन अब भी अपने सिद्धान्त से डिगा नहीं। यह खबर इन्द्र को मिली तो इन्द्र वहाँ पहुँचा। इन्द्र ने उर्वशी को समझाया कि यह मेरी भूल थी कि तुम्हें यहाँ भेजा। उर्वशी ने श्राप को कम किया और बोली—एक साल के लिये ही यह मेरा श्राप रहेगा। सो भी जब आपको सुविधा होगी तभी श्राप लागू होगा। इसी श्राप ने अर्जुन के लिये वरदान का काम किया। विराटनगर में अज्ञातवास में एक वर्ष रहना था तब भीम और अर्जुन का छिपना अति कठिन था। भीमसेन की तो पोल खुलते-खुलते रह गयी थी कीचक वधादि प्रसंग में। अर्जुन तो उसी उर्वशी शाप से नपुंसक होकर रहा जिससे पता बिलकुल न चला। उत्तरा को अर्जुन ने उसी समय गान विद्या सिखाई थी।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र उस घटना को मन में रखकर बोल रहे हैं—हे अर्जुन! एक बार तुम नपुंसक रह चुके हो। लगता है कि वह नपुंसकता फिर से वापिस आ रही है। लेकिन उसे अब पकड़ो मत।

नैतत्त्वय्युपपद्यते। विराट नगर की बात अलग है। उस समय श्राप के कारण तुम्हारे अन्दर नपुंसकता आयी। वर्तमान समय श्राप का नहीं। हे पार्थ! तुम पृथा पुत्र हो, वह कायर नहीं हो सकता।

पार्थ इस सम्बोधन में यहाँ अनेक ध्वनियाँ निहित हैं। पृथापुत्र ही पार्थ कहलाता है पृथा श्रीकृष्ण की बुवा थी। वह बड़ी दृढ़ थी। स्वयं शूरवीर थी। इसलिये कुन्ती भोजने उन्हें पुत्री धर्म के अनुसार शूर से माँगा। पृथा ने बचपन में ही दुर्वासा की सेवा की थी। दुर्वासा की सेवा करना मामूली बात नहीं थी। थोड़ी सी गलती में वे श्राप देने वाले ठहरे। तिस पर सेवा से प्रसन्न करना कितनी

बड़ी बात ? पुनः मन्त्र शक्ति से पृथा ने तुम्हें जन्म दिया। पृथापुत्र होने से तथा मन्त्रोत्पन्न होने से हे अर्जुन ! तुम्हारे अन्दर यह क्लैब्य सर्वथा उपपन्न नहीं है।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा। हृदय की इस क्षुद्र दुर्बलता को छोड़कर हे परंतप अर्जुन ! तुम उठ खड़े हो जाओ। क्षुद्रं यह हृदय-दौर्बल्य का व्यावर्तक विशेषण नहीं है। जैसे नीलं कमलं कहने से अनील रक्तादि कमल की व्यावृत्ति होती है वैसे क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं कहने का अर्थ यह नहीं कि अक्षुद्र भी कोई हृदय दौर्बल्य होता है जिसकी व्यावृत्ति की जा रही है। किन्तु जो हृदयदौर्बल्य होता है वह क्षुद्र ही होता है अतः त्याज्य है ऐसे विपरीत विधान में तात्पर्य है। हृदय की दुर्बलता क्षुद्र होती है यह अन्यत्र प्रसिद्ध है। उसका अनुवाद करके त्याग का विधान है। यह मीमांसा-पद्धति से समझना चाहिये। महान् कार्य करने के लिये प्रथम मनोबल आवश्यक है। पश्चात् शरीरादि बल। महाभारत में ही कर्णपर्व आता है। उसमें शल्य ने कर्ण का सारथ्य किया ऐसा वर्णन आता है। सारथ्य करते हुए बीच-बीच में शल्य कर्ण को डाँटता रहा—क्या बाण मारते हो नपुंसकों के समान। तुममें कोई बल नहीं है। आखिर तुम सूतपुत्र जो ठहरे इत्यादि। जिससे कर्ण का मनोबल गिरता गया। परिणाम यही हुआ कि अर्जुन से अन्यून होने पर भी अन्ततः हार गया। वर्तमान में भी महात्मा गांधी जैसों का मनोबल ही काम करता रहा है। अन्यथा शरीरबल की दृष्टि से तो अंग्रेज लोग फूंक मारकर इन सबको गिरा देते।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्य इत्यादि शब्द भगवान ने केवल युद्ध की दृष्टि से ही नहीं कहा है। किन्तु आगे वक्तव्य तत्त्वज्ञान की दृष्टि से भी कहा है। उपनिषदों में स्पष्ट ही लिखा है—"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"। यहाँ बल का अर्थ शारीरिक बल नहीं। हृदयबल ही है।

भाष्य में "आत्मनिष्ठाजनितवीर्यहीनेन" ऐसा अर्थ 'बलहीनेन' का किया है। क्योंकि मनोबल भी कई प्रकार का होता है। हठी पुरुष का मनोबल बड़ा ऊँचा होता है। लाखों यन्त्रणाओं को वह सह लेता है। फिर भी घबराता नहीं। दूसरा है आत्मनिष्ठा से उत्पन्न वीर्यरूपी मनोबल। शंका होगी—युद्ध में तो प्रथमोक्त मनोबल ही तो चाहिये। आत्मनिष्ठा का यहाँ क्या काम है? उत्तर यह है कि युद्ध में भी आत्मनिष्ठाजनित मनोबल का ही मुख्य उपयोग है। दूसरा तो मनोबल न होकर सहनशक्ति रूप है। कैसे समझ में आ सकता है कि आत्मनिष्ठोत्पन्न मनोबल ही युद्ध में चाहिये? क्या इसमें युक्ति? क्या प्रमाण? यही प्रमाण है कि भगवान ने आत्मनिष्ठा के लिये ही गीता का उपदेश किया। आत्मनिष्ठोपदेश से अर्जुन में मनोबल उत्पन्न किया। अतएव यहाँ दौर्बल्य का भी मतलब आत्मनिष्ठा राहित्य प्रयुक्त कायरता ही है। इस पर शंका यह हो सकती है कि तब इस हृदयदौर्बल्य का निवारण आत्मनिष्ठा से ही सम्भव होने से आत्मनिष्ठोपदेश किये बिना ही 'हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा' कैसे कहा? अतः लगता ऐसा है कि यह प्रथमोक्त दौर्बल्य की चर्चा है। नहीं। अर्जुन में आत्मनिष्ठा भी पहले से थी ही। स्वजन मोहावेश से वह केवल अभिभूत हुई। भगवान् सोच रहे थे कि केवल हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा कहने मात्र से शायद कम हो जाय किन्तु देखा यह मोह बहुत गहन है अतः बाद में गीतोपदेश किया।

"तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्" इस बृहदारण्यकोपनिषद् के बाल्य शब्द की एक व्याख्या बलस्य भावो बाल्यं किया है। और बाल्य का अर्थ मनन भी माना गया है। मनन से प्रमेयासम्भावना की निवृत्ति होती है। आत्मा नित्य सत्य है, अविनाशी है। शरीरादि प्रपञ्च नाशवान है इस प्रकार असंभावनारहित तत्त्वज्ञान बल है। उसका अभाव हृदयदौर्बल्य है। केवल अभाव ही नहीं, विपरीत बोध भी। आत्मा विनाशी है, मैं और ये

सभी मरेंगे, फिर क्या होगा ? ऐसी धारणा हृदयदौर्बल्य है। उसे त्यागने के लिये भगवान कह रहे हैं।

उत्तिष्ठ। उठ खड़े हो। रथोपस्थ उपाविशत् पहले आया था। उसके विपरीत यह कहा जा रहा है युद्धार्थ उठ खड़े हो। पहले निषेधवचन कहा। उसीका यह विधिरूप कथन है। क्या निषेधवचन कहा था ? (१) पहला **क्लैब्यं मा स्म गमः** (२) दूसरा **नैतत्त्वय्युपपद्यते** (३) तीसरा **क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा** ये तीन निषेधवचन हैं। तुम नपुंसकता को मत प्राप्त हो, यह तुम्हारे अंदर योग्य नहीं है अर्थात् अयोग्य होने के कारण सर्वथा इसे पास में फटकने मत दो, क्षुद्र हृदयदौर्बल्य को त्यागो। इन निषेधों के बाद इन तीनों के विपरीत का विधान है—उत्तिष्ठ। नपुंसकता में पौरुषाभाव, धैर्याभाव, घर्षण-शक्त्यभाव ऐसे तीन बताये। उनको त्यागकर तीनों को लाना यह यह उत्तिष्ठ का मतलब है। पौरुष लाओ, धैर्य लाओ और घर्षण-शक्ति कायम करो और बढ़ावो। अनुपपन्न उन तीन को सर्वथा त्यागो और उत्पन्न पौरुषादि तीन को अवश्यमेव लाओ यह उत्तिष्ठ का मतलब हुआ। तथा तृतीयनिषेध प्रतियोगी—आत्मनिष्ठाजनित वीर्य संपादन करो यह उत्तिष्ठ का अर्थ है।

बाह्ययुद्ध के लिये धनुष-बाण सज्ज कर उठ खड़े हो यह अर्थ तो है ही उसके साथ आध्यात्मिक धनुषबाणादि से सज्ज होकर उठना भी गीतोपदेश प्रसंग में अप्रासंगिक नहीं होगा। उपनिषदों में बताया है—

"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते"

प्रणव—ॐकार धनुष है। ॐकार लिखा जाता है तो धनुष जैसा टेढा आकार दीखता है। **"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्"** ऐसा आगे बतायेंगे भी। ॐकार धनुष है तो बाण कौन ? शरो हि आत्मा। यह आत्मा ही बाण है। आत्मा को प्रवण पर चढ़ावो।

निरन्तर "तज्जपस्तदर्थभावनम्" ऐसा पातञ्जल सूत्र है। यह यह बाण कहाँ पहुँचेगा ? लक्ष्य क्या है ?—ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। ब्रह्म लक्ष्य ब्रह्म ही है। प्रणव से छूटकर आत्मा ब्रह्म में जा लग जाय। प्रणव से छूटने का अर्थ है संसार से छूटना। क्योंकि "ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं" इस प्रकार इदंकारास्पद समस्त जगत को ॐकार रूप बताया है। ब्रह्म भी ॐकार ही है किन्तु वाच्य-ब्रह्म। लक्ष्य ब्रह्म नहीं। अतएव लक्ष्यब्रह्म ही लक्ष्य समझना चाहिये। लक्षणा से ज्ञातव्य ब्रह्म है। वह लक्ष्य है अर्थात् वेधन करने का लक्ष्य है।

इस पर थोड़ी शंका होती है कि रूपक बराबर नहीं बैठ रहा है। लोक में हरिण पर बाण मारा तो बाण का लक्ष्य हरिण मर जाता है। उत्तर "शरवत्तन्मयो भवेत्" से स्वयं श्रुति ने दिया है। और आगे भी समझना हो तो बाण का लक्ष्य तो धर्मरक्षण ही होता है। शत्रुवधार्थ बाण चलाना चाहिये न कि हरिणादिवधार्थ। लौकिक धनुष धर्मप्राप्त्यर्थ है और प्रणवधनुष ब्रह्म प्राप्त्यर्थ है।

इस प्रकार जब अर्थ करते हैं तब "उत्तिष्ठ" का भी "**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत**" में बताया गया उत्थान अर्थ करना अनुचित नहीं होगा। उठो, जागो, वर पुरुषों को प्राप्त होकर बोध-प्रकाश प्राप्तकरो। यहाँ उत्तिष्ठ का अर्थ है-अनाद्यविद्यासुप्त हे प्राणी तुम आत्मज्ञानाभिमुख हो जाओ, मोह ममतारूपी अविद्या में सभी प्राणी सोये हुए हैं। हे अर्जुन ! यह तुम्हारे योग्य नहीं है। इस मोहममतारूपी अविद्यानिद्रा से निवृत्त होकर अखंड आत्मज्ञान के अभिमुख हो। यही कल्याण का मार्ग है। इतना स्पष्ट शब्दार्थ न होने पर भी गीतोपदेश की भूमिका होने से इतना अन्तर्निहित अर्थ मानना ही चाहिये। संभव है कि इस उत्तिष्ठ शब्द से स्मृत, उत्तिष्ठत इस श्रौत शब्द के सन्बन्ध से ही अर्जुन ने आगे शरणागति

स्वीकारी हो। "प्राप्य वरान्निबोधत" का अर्थ है पर तुरुष तत्त्ववेत्ता के पास जाकर तत्त्व को ःग्रहण करो। इसी से प्रेरित होकर अर्जुन ने सहसा 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं' इस प्रकार आगे शरणागति स्वीकारी।

अत्यन्त मूढावस्था क्लैब्य है। जानते हैं, पर हिम्मत नहीं यह हृदयदौर्बल्य है। उत्थान पूर्णवैराग्य से संसार से ऊपर उठना है। इस प्रकार क्रमिक प्रगति का भी यहाँ उपदेश प्रतीत हो रहा है।

'परंतप' यह सम्बोधन साभिप्राय है। शत्रुओं के सामने खड़े हो। यदि युद्ध नहीं करते हो तो शत्रुओं को ताप पहुँचाने वाले नहीं, शत्रुओं को सुख पहुँचाने वाले सिद्ध हो जाओगे। अपने नाम को बदनाम मत करो। नाम को सार्थक करो। अध्यात्मपक्ष में पर तो शोक मोह राग द्वेषादि हैं। रागादि विषयों कर तप्त कर पक्व करने वाला परंतप है। जो क्लीब होगा वह रागादि कषायों को नहीं पका नहीं सकता। तुम्हारा नाम परंतप है अतः क्लीबता तुममें उपपन्न नहीं है इसे त्यागो ऐसा भावार्थ है ॥३॥

•

अर्जुन उवाच

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।४।।

[अर्जुन बोला—हे मधुसूदन ! युद्ध में पितामह भीष्म को और आचार्य द्रोण को बाणों के द्वारा कैसे मारूँगा ? जब कि हे शत्रु-नाशन भगवन् ! वे पुष्पों के द्वारा पूजनीय हैं ।। ४ ।।]

मनुष्य की एक ऐसी आदत है कि वह अपने पसन्द किये हुए ग्रह पर, चाहे वह सद्ग्रह हो, चाहे असद्ग्रह, कोई अपरिहार्य आघात करता है तो बचाने के लिये चारों ओर से बाड़ लगाना शुरू करता है। असद्ग्रह हो तो उसकी असद्ग्रहता को ढकने के लिये अपवाद को उत्सर्ग बनाने की कोशिश करता है। एक माता ने मुझसे आकर शिकायत की कि उसका पतिदेव घर का खाना खाता नहीं, होटल में ही हमेशा खाता है। वैसे तो वह आदमी बड़ा सज्जन था, सत्संगी भी था। रोज मेरे सत्संग में आता था। बड़ा मजाकिया भी था। एक रोज "पचाम्यन्नं चतुर्विधं" का प्रकरण आया तो प्रसङ्गानुरूप एक वक्तव्य उस पर हमने दिया। जिसमें होटल के भोजन की अपवित्रता का पूरा वर्णन आया। एक ही मिट्टी के प्याले में हजारों आदमी मुँह लगाते हैं जिसमें अनेक प्रकार के बिमार भी शामिल हैं, धोने की बात प्रायः सभी जानते ही हैं और इधर अन्दर वैश्वानर रूप में स्थित परमात्मा के मुख में उस जूठन का प्रक्षेप हो रहा है इत्यादि इत्यादि। माई

तो प्रवचन से बड़ी प्रसन्न हुई। क्योंकि उसको तर्क के लिये काफी युक्तियाँ मिल गयी थीं। अब घर में जाकर खूब सुनाने लगी। सुना नहीं, कथा में क्या कह रहे थे? दूसरे दिन वह सज्जन मेरे पास आया और कहने लगा—महाराज! आप होटल के खाने का इतना निषेध करते हैं तो कभी दूसरे देश में या प्रान्त में जाते हैं तो होटल में खाना ही पड़ता है। मित्रों के साथ कभी-कभी होटल में जाना ही पड़ता है। कहते-कहते आखिर कह गया—यहाँ भी जब भी भूख लगती है तभी घर में खाना तैयार नहीं मिल सकता इत्यादि। इसको कहते हैं अपवाद को उत्सर्ग बनाना। दूसरे देश में जाना, दूसरे प्रान्त में जाना आदि अपवाद है। रोज नहीं जाते। अपनी असद्ग्रहता को छिपाने के लिये ये सब युक्तियाँ हैं। यह बात केवल उस सज्जन पर ही लागू हो ऐसी बात नहीं। वैसा ही एक प्रसंग लोकविश्रुत अर्जुन पर भी आ रहा है।

गीता का सारांश वैसे तो दो श्लोकों में आ चुका है। 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं' यह महाक्षेप है। अनादि अविद्याप्रयुक्त अहं मम इत्याकारक मोह ही कश्मल है। जिसमे आत्मा का अजर अमर स्वरूप आच्छादित होता है तो क्षणिक स्वार्थ सुखादि के निमित्त धर्मपरित्याग अधर्म ग्रहण आदि होने लगते हैं। इसी मोह के निराकरणार्थं गीतोपदेश है। परन्तु इतनी बात तो "कुतस्त्वा कश्मलमिदं, क्लैब्यं मा स्म गमः' इत्यादि से ही गतार्थ है। परन्तु उस पर अर्जुन की असद्ग्रह निमित्तक शंका कुशंकायें उपस्थित होती हैं। उसके परिहारार्थ ही विस्तृत गीतोपदेश है।

जैसे हमने उस सज्जन के दृष्टान्त में बताया—प्रथम उसने विदेश, अन्य प्रान्त जाने पर क्या उपाय है यह कोटि उठायी। फिर मित्रों के साथ या क्लबों में व्यवहारार्थ जाने पर क्या होगा यह दूसरी कोटि उठायी। फिर काम के समय भूख लगने पर, टाईम

बेटाईम भूख लगने से क्या होगा ऐसी तीसरी कोटि रखी। वैसे ही अर्जुन भी यहाँ कई पूर्वपक्ष कोटियाँ रख रहा है। "कथं भीष्म-महं संख्ये" यहाँ मुख्य भीष्म ओर द्रोण के साथ कैसे युद्ध कर सकता हूँ कहा। फिर "गुरूनहत्वा" में बहुवचन के साथ कुछ विस्तार कर अहत्वा-हननपर्यन्त पहुँच कर और गम्भीरता दिखायी। "यानेव हत्वा न जिजीविषामः" से अपने मोह को ध्वनित करते हुए अपनी लाचारी बताई। इसी बात को अब श्लोक में हम देखेंगे।

कथं भीष्ममहं संख्ये। कथं ? इस आक्षेप का पोषक विशेषण पूजार्हौ। उसका व्यतिरेक सूचित करने के लिये दो सम्बोधन हैं— मधुसूदन और अरिसूदन अर्जुन की दृष्टि में मधु का केवल पुराण प्रसिद्ध राक्षस ही अर्थ उपस्थित है। मारने योग्य वही व्यक्ति है जिसमें दो बाते हों। एक तो मधु के समान असद्वृत्त हो, दुष्ट हो। दूसरी है कि उसमें शत्रुता हो। आपका शत्रु है इतने से कोई बाध्य नहीं माना जा सकता। किसी के लिये शत्रु, दूसरे के लिये मित्र भी होता है। विरोधी पार्टी विरोध करती है तो भलाई के लिये भी होता है। कहीं वेर भी गुणकारी सिद्ध होता है। अतः वध्य असद्वृत्त होना चाहिये। असद्वृत्त है, दुष्ट है, किन्तु वह आपसे शत्रुता नहीं करता। आपको प्रणाम करता है तो ? असद्वृत्त होने पर भी त्रिपुर तब तक वध्य नहीं माना गया जब तक वह शंकरद्रोही, वर्णाश्रमद्रोही नहीं बना। अतः वध्य ये दोनों दोष आवश्यक हैं। अतएव आप मधुसूदन के साथ अरिसूदन हैं इसके विपरीत भीष्म द्रोणादि में दोनों ही बातें नहीं हैं। तो कैसे इनका वध करने के लिये कहते हैं।

अर्जुन को याद आ रहा है—बचपन में पितामह की गोद में बैठकर दाढ़ी नोचते रहे। पीठ पर चढ़ते थे। पितामह ने अर्जुनादि

का लालन-पालन किया। बड़ा किया। द्रोणाचार्य रखकर विद्या सिखायी। और आज तक पाण्डवपक्ष ही लेते आये। अर्जुन को याद आ रहा है—द्रोणाचार्य ने उनको शस्त्रविद्या सिखाई। गुप्त से गुप्त विद्या बताई। हर जगह प्रशंसा की कि अर्जुन अत्यन्त निपुण है। हर जगह ऊपर उठाने का प्रयत्न किया। एकलव्य का प्रसंग, कर्ण का प्रसंग आदि अविस्मरणीय थे। अर्जुन जैसे योग्य शिष्य से आचार्य ने अपना गौरव समझा। आज भी अर्जुन के वे पक्षपाती हैं। अर्जुन की जीत से अपना ही गौरव आज भी समझने जा रहे हैं। मुख्यरूपेण ये दो ही, भीष्म और द्रोण हृदय को दहलाने वाले थे, रूलाने वाले थे। अफसोस है कि युद्ध करने में भी प्रतिपक्ष में मुख्य स्थान इन्हीं दो के हैं। इन्हीं से मुख्य-रूपेण लड़ना है।

बड़े लोगों का ऐसा नियम है कि प्रथमतः वे बच्चों से वात्सल्य भावपूर्ण निष्काम प्रेम भाव रखते है। बच्चे बड़े हो जाते हैं तो इतनी अपेक्षा रखते हैं कि वे अपने प्रति विनयी हो, श्रद्धावान् हों। विनेय अभिभावक की पूजा करता है, आदर करता है, अपना विनय प्रकट करता है तो वे प्रसन्न हो जाते हैं। अत एव वे होते हैं "पूजार्हौं"। पूजा योग्य होते हैं। अर्जुन कह रहा है। हे भगवन्! ये भीष्म द्रोणादि महान् हैं। बडे हैं। इनका तो मुझे पूजन करना चाहिये, न कि तिरस्कार। शास्त्रों में बताया है—

"अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यायां च व्यतिक्रमः।
चत्वारि तस्य नश्यन्ति आयुर्विद्यायशोबलम्॥"

जहाँ अपूज्यों का पूजन होता है और पूज्यों का व्यतिक्रम—अपमान होता है। विद्वान, परोपकारी और ज्ञानी व्यक्तियों का तिरस्कार होता है वहाँ चार वस्तुयें नष्ट होती हैं—(१) आयु (२) विद्या (३) यश और (४) बल।

(१) आयु—अपूज्यों के पूजन से और पूज्यों के व्यतिक्रम से आयु क्षीण होती है। बड़े लोगों के आशीर्वाद से आयु बढ़ती है। पत्रादि लिखते समय छोटों के लिये चीरंजीवी, दीर्घायु आदि शब्दों से आशीर्वाद देने की प्रथा है। हृदय की चीज मुख से बाहर निकलती है तो वह वास्तविक होती है। क्योंकि संकल्पानुसारी सृष्टि मानी गयी है। कोई कह सकता है—ईश्वर के संकल्पानुसार सृष्टि होगी। हमारे संकल्प से क्या होने वाला है। हमारे दीर्घायु संकल्प से कोई कैसे दीर्घायु हो सकता है? उत्तर है कि आप ईश्वर के ही अंश हैं। आपका भी संकल्प सिद्ध हो सकता हैं। "एकोऽहं बहु स्यां" मैं एक से बहुत हो जाऊँ ऐसा परमेश्वर ने संकल्प किया तो यह जगत हुआ, सभी जीव भी हुए। आप ईश्वर के ही अंश हैं। "ममैवांशो जीवलोके"। जब आप परमात्मा के ही अंश हैं और परमात्मा का संकल्प सत्य है तो तदंश आपका संकल्प भी सत्य क्यों नहीं होगा? आपका भी संकल्प सत्य होगा, बशर्ते कि आप में ईश्वरभाव हो। मिथ्या भाव न हो। ईश्वरभाव का मतलब—ईश्वर कभी किसी का अहित नहीं चाहता, उन्नति चाहता है, भलाई चाहता है। कहावत प्रसिद्ध है—"ईश्वर जो करता है सो अच्छा ही करता है"। ईश्वर का संकल्प शुद्ध होता है। वैसा भाव यदि आप में हो तो उसी को ईश्वरभाव कहते हैं। अर्थात् आप भी यदि हमेशा सबकी भलाई चाहें, उन्नति चाहें तो ईश्वरभाव होने के कारण आपका भी संकल्प सत्य सिद्ध होगा। बड़े और छोटे में क्या अन्तर है? बड़े शुद्ध अन्तःकरण से भगवद्भाव स्मरण कर भगवत्साक्षात्कारी होते हैं। बड़ों में विवेक विचार विशेष रहता है। इसलिये दूसरों की भलाई सोचकर आशीर्वचन बोलते हैं तो वचन सत्य हो जाता है। छोटे लोग अज्ञान, अहंकार और स्वार्थपर होने से अविवेकी और अविचारी होते हैं। यहाँ केवल उमर से बड़े छोटे का ही विचार नहीं किन्तु ज्ञान तथा साधना आदि को

लेकर विचार कर रहे हैं। भीष्म द्रोणादि इन सब बातों में निःसं-दिग्ध बड़े ही रहे। बड़े का अपमान किया जाता है तो उनके मन में ग्लानि होती है। वह आयुक्षय का कारण बन जाता है।

(२) बड़ों के व्यतिक्रम से विद्या का नाश होता है। महान् पुरुष ज्ञानी वीर अनुभवी होते हैं। सेवा पूजा के द्वारा उन्हें प्रसन्न करने पर वे हमें विद्या प्रदान करेंगे, अपना अनुभव प्रदान कर अनुभवी बनायेंगे। उससे विवेक वैराग्यादि प्राप्त कर हम जीवन्मुक्ति सुख भी प्राप्त कर सकेंगे। जिसप्रकार कुंए में श्रोत यदि निकलता रहता तो ही वह भरपूर रहेगा। अन्यथा चौमासे के बाद सूख जायेगा, वैसे ही गुरुमुख से ज्ञानस्त्रोत हमेंशा प्रसारित होता रहेगा तो ही हममें प्रकाश कायम रह सकेगा। अन्यथा जब तक पुस्तक पढ़ते रहेंगे तबतक ज्ञानाभास होता रहेगा। किन्तु बाद में सूखे का सूखा। गुरुओं का तिरस्कार माने ज्ञानस्त्रोत का शोषण। इस दृष्टि से पूज्यव्यतिक्रम विद्यानाशक तो है ही दूसरे प्रकार से भी वह विद्या क्षयकर है।

विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम्
असूयकाय मां मा दास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा (मनु)

विद्या स्वरक्षणकारी ब्राह्मण के पास आकर बोलने लगी—मैं तुम्हारी निधि हूँ, मेरी रक्षा करो। असूयक को मत दो तो मैं वीर्य-वती बनूँगी। मूल श्रुति है—**"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम। तवाह-मस्मि त्वं मां पालय, अनर्हते मानिने नैव मा दाः, गोपाय मां श्रेयसी तथाहमस्मि"**। श्रुति में अधिक विशेषता यह है अनर्हते—जो अयोग्य पुरुष है उसे मत दो, जो अभिमानी है उसे भी मत दो। इस दृष्टि से भी अप्रदान प्रयुक्त ह्रास निश्चित है। सबसे मुख्य यह है कि विद्या स्वयं देवतारूप होने से महदुल्लंघनकारी से वह हट ही जाती है।

(३) बड़ों के व्यतिक्रम से यश का भी नाश होता है। प्रत्यक्ष ही है कि घर में अपने मातापिता गुरुजनों की अवज्ञा करते हुए विपरीत कार्य करते हैं तो लोग उसकी निन्दा करने लगते हैं। शनैः शनैः उसका यश नष्ट होने लगता है। इसके अलावा यश भी सबको प्राप्त नहीं होता। "पुण्यैर्यशो लभ्यते" बहुत बड़े कार्य करते हैं तो भी बहुत से लोगों को यश नहीं मिलता। कुछ लोग कार्य अल्प करते हैं फिर भी यशस्वी हो जाते हैं। स्वतंत्रता संग्राम के बड़े बड़े सेनानी हुए। परंतु सबको उतना यश प्राप्त नहीं हो सका जो महात्मा गांधी को प्राप्त हुआ। महापुरुषों के आशीर्वाद से यश मिलता है। उनके तिरस्कार से अच्छे काम से भी अपयश ही हाथ लगता है। भला करने आते हैं किन्तु होता है बुरा।

(४) पूज्यों के व्यतिक्रम से बलका भी नाश होता है। लोक निन्दा सुनने से प्रथम मन निर्बल हुआ। उसका परिणाम शारीरिक बलहानि भी है। जनबल, धनबल आदि का भी क्षय होता है। यहाँ मुख्य रूप से शरीबल समझा जाता है। "बलं बलवतां चाहं" ऐसा गीता में ही है। बल भी भगवान् की ही एक विभूति है।

ये चार मुख्य रूप से बताये गये हैं। अन्य भी अनेकविध हानि महापुरुषों के व्यतिक्रम से होती है। यहाँ थोड़ा बहुत निदर्शन इसलिये रखा गया कि अग्रिम श्लोकों में इनकी सूचना मिलती है। "यानेव हत्वा न जिजीविषामः" से आयु हानि का कथन है। जीवनेच्छा के टूटने पर वैसे ही जीवन आधा रह जाता है। महापुरुष व्यतिक्रमचिन्तन मात्र से विद्या हानि हो रही है। तभी तो "धर्मसंमूढ चेताः" इत्यादि विशेषण हैं। "श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यं" से यशःक्षय सूचित होता है। "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो" यह स्पष्ट बल हानि है। विराटनगर में अकेले सबको जीतने वाले का यहाँ मनोबल क्षीण हो रहा है। अर्जुन भगवान् को कहता है—भीष्म

द्रोणादि महापुरुष हैं मेरे पूज्य हैं। उनकी पूजा करनी चाहिये, सेवा करनी चाहिये। यह सब एक किनारे रह गया। अब तो मैं तीखे बाणों से उनके प्राण लेने के लिये खड़ा हूँ। क्या विडम्बना ?

यहाँ पर एक संशय होता है कि अग्रिम श्लोक में "गुरुनहत्वा हि महानुभावान्" कहेंगे। यहाँ भी पूजार्हों बताया। उस पूजार्हता की सिद्धि के लिये पितामह शब्द का प्रयोग करते और गुरु शब्द का प्रयोग करते। **"कथं पितामहं संख्ये गुरुं च मधुसूदन"**। ऐसा कहना उपयुक्त था। शायद शिक्षक गुरु अन्य भी हो सकते हैं एतदर्थं द्रोण का नाम लेना आवश्यक हो गया हो, तो भी कथं पितामहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन ऐसा तो कहा ही जा सकता था। दूसरा प्रश्न यह है—"कथं द्रोणमहं संख्ये भीष्मं च मधुसूदन" ऐसा क्रम क्यों नहीं रखा ? द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च इस प्रकार आगे द्रोण का ही प्रथमोल्लेख मिलेगा। यहाँ पर अन्वाचय में चकार भास रहा है। "कथं भीष्ममहं संख्ये" इतने में काफी दूर पहुँच गये। तब याद आया तो "द्रोणं च" ऐसा द्रोण को जोड़ दिया। "कथं द्रोणं च भीष्मं च संख्येऽहं मधुसूदन" इत्यादि रीति समसमुच्चय क्यों नहीं किया ? आपाततः बुद्धि में जिस क्रम से आ गया वैसे बोल दिया इतनी ही बात है या कुछ विशेष अभिप्राय भी है ? इसका समाधान यह है कि यहाँ प्रतीयमान भीष्म की प्रधानता वस्तुतः विवक्षित है। अपनी दलील को परिपुष्ट करने के लिये पितामह शब्द को छोड़ दिया और भीष्म को प्रथम स्थान दिया। इस बात को ऐतिहासिक घटना से जोड़ कर देखना आवश्यक है।

इतिहास यही देखता है कि भीष्म नाम क्यों पड़ा ? पितामह का नाम पहले देवव्रत था। भीष्म यह यौगिक नाम है। भीष्म नाम पड़ने का कारण उनकी भीष्म प्रतिज्ञा थी। भीष्म का अर्थ है घोर, भयानक। उनकी एक प्रतिज्ञा थी कि मैं राजगद्दी पर नहीं बैठूंगा।

दूसरी प्रतिज्ञा थी—जीवन भर ब्रह्मचारी रहूँगा। विवाह नहीं करूँगा। यह प्रतिज्ञा सुनकर देवगन्धर्वादि सभी एक स्वर से कहने लगे—भीष्म प्रतिज्ञा, भीष्म प्रतिज्ञा, भीष्मोऽयं पुरुषः भीष्मोऽयं पुरुषः। तब से भीष्म नाम पड़ा। श्री रामकृष्ण परमहंसजी अपने उपदेशों में अधिकतर बोला करते थे—कामिनी कांचन को त्यागो। मैं विवाह नहीं करूँगा यह कामिनी त्याग था। मैं राजगद्दी पर नहीं बैठूंगा यह कांचन त्याग था। जीवन में चार पुरुषार्थ माने हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। ये चार पुरुषार्थ हैं। इनमें अर्थ और काम संसार बन्धन हैं। धर्म और मोक्ष बन्धन मुक्ति है। अर्थ और काम व्यवहार के लिये है। धर्म और मोक्ष परमार्थ के लिये। श्री राम-कृष्ण परमहंसजी अर्थ और काम को ही कांचन और कामिनी कहते थे। ये दोनों बन्धन के कारण हैं। इस लिये इन दोनों से बचे रहना चाहिये। भीष्मपितामह ने इन दोनों को ठुकराया था इसलिये उनका नाम भीष्म पड़ गया था "दारुणं भीषणं भीष्मं" आदि पर्याय शब्द हैं।

भीष्मपितामह ने दो प्रतिज्ञायें क्यों की थी? क्या अर्थ काम सर्वथा त्याज्य है इसलिये? क्या ये बुरे हैं? यदि बुरे हैं और धर्म मोक्ष को ही सभी अपनायेंगे तो संसार का अस्तित्व कैसे हो? मनुष्य धर्म मोक्ष के पीछे लगे तो मनुष्यवंश नहीं रह जायेगा। केवल पशुपक्षी आदि रह जायेंगे। शास्त्रकारों ने अर्थ और काम का निषेध नहीं किया है। **"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ"** इस प्रकार धर्माविरुद्ध काम की भगवान ने सराहना की। **"आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी"** कहते हुए अर्थार्थी भक्त को स्वीकारा। हाँ अर्थ-काम में फँसना नहीं चाहिये, आगे बढ़ना चाहिये यह अलग बात है। परम अधिकारी इन दोनों का स्पर्श किये बिना यानि मोक्ष की ओर जानाचाहे तो जा भी सकता है। खैर, यहाँ प्रश्न यह है कि भीष्म ने इन दोनों को क्यों त्यागा? बुरे होने से? नहीं। शौक

से ? नहीं। मोक्षार्थ ? नहीं। और यदि इतनें त्यागी होते तो घर छोड़कर जंगल में ही क्यों न जा बसे ? असली बात है—पिता के निमित्त इन दोनों का परित्याग किया। शंतनु योजनगन्धा दाशकन्या सत्यवती पर मोहित हुए तो मत्स्यराज ने कहा—आपके पुत्र देवव्रत के होते मेरी कन्या के पुत्र का कोई अस्तित्व नहीं रहेगा। क्योंकि वह ज्येष्ठ पुत्र है। राजगद्दी उसी को मिलेगी। अतः मैं अपनी कन्या आपको ब्याह कर नहीं दे सकता। व्यामुग्ध शन्तनु की भारी परेशानी का पता देवव्रत को लगा तो स्वयं वह दाशराज के पास पहुँचे। देवव्रत ने कहा कि पिता के लिये मैं आपसे कन्या याचनार्थ आया हूँ। दाशराज ने कहा—यह कैसी उलटी गति ? पिता बेटे के लिये किसी से कन्या याचना करे यह उचित है। बेटा पिता के लिए ऐसा करे यह हास्यास्पद है। मैं तो चाहता हूँ आप स्वयं मेरी पुत्री से विवाह करें। भीष्म ने कान बंद किये। बोले मत्स्यराज ये मेरी माता होगी। आप मेरे पिता को कन्या क्यों नहीं देना चाहते ? मत्स्यराज ने कहा मेरे नाती को आपके होते राजगद्दी नहीं मिलेगी। भीष्म ने तब प्रथम प्रतिज्ञा की कि मैं राजगद्दी पर नहीं बैठूंगा। दाशराज ने कहा, ठीक है, किन्तु आपका जो पुत्र होगा वह अन्याय से गद्दी पर बैठने के कारण मेरे नाती का वध कर राजगद्दी को छीनेगा। भीष्म ने तब द्वितीय घोर प्रतिज्ञा की कि मैं विवाह ही नहीं करूँगा। मेरा पुत्र ही न होगा। अब तुम्हें भय नहीं है। उस समय देवता ऊपर से पुष्प वृष्टि कर भीष्म-भीष्म बोलने लगे थे। भीष्म पद का उच्चारण कर अर्जुन इसी घटना को याद दिलाना चाहता है।

इस घटना के याद दिलाने का क्या मतलब ? मतलब यही कि जिस राजगद्दी को इन्हीं पितामह ने अपने पिता के निमित्त ठुकराया भीष्म प्रतिज्ञा कर, ऐसे महापुरुष को उसी वंश में पैदा हुआ मैं उसी राजगद्दी के लिये उन्हीं पर बाण छोड़कर उनको मारना

चाहता हूं। यह कितनी भारी विडंबना होगी! भीष्मपितामह ने अपने पिता शान्तनु के अल्पक्लेश को दूर करने के लिये राज्य को त्यागा। और मैं अल्पक्लेश हरण के अत्यन्त विपरीत हत्या करने ही तुल गया हूँ।

सनातन धर्म का यह परम सिद्धान्त है कि बड़ों का आदर करो। रामायण इसी आदर्श पर आविर्भूत हुई है। रामायण में यही तो बात आई कि पिताजी की वंचन रक्षा के लिये राम वन गये। राम ने पिता के धर्मसंकट को जाना। एक ओर रामवियोग असह्य हो रहा था। दूसरी ओर प्रतिज्ञा भंग। इन दो के संघर्ष में जीत किसकी हुई? आज का समय होता तो लोग प्रतिज्ञा को किनारे धर देते। पर—"रघुकुल रीति सदा चली आई, प्राण जाय अरु बचन न जाई" की जीत हुई। दशरथ का मोह कैकेयी पर नहीं था। प्रतिज्ञा पर था। यह रहस्य राम ही जानते थे। वचन को रखे या राम को रखे यह समस्या जटिल थी। प्राण जा सकता है। पर राम कैसे जाय? राम तो अन्तरात्मा भगवान् है। इसलिये दशरथजी असमंजस में पड़ रहे थे। एक ओर "न भवति पुनरुक्तं भाषणं सज्जनानाम्"—सज्जनों का वचन पुनरुक्त मिथ्या नहीं होता, प्रतिज्ञा टूटने पर फिर वह जुड़ती नहीं, प्रतिज्ञा पालन न होने पर वंश पर घोर कलंक लगेगा इत्यादि इत्यादि अनेक बातें उभर रहीं थी। दूसरी ओर सामान्य व्यक्ति को छोड़ना उचित हो सकता है पर यह तो राम भगवान है। भगवान को कैसे छोड़ें? फिर सत्य को छोड़ा तो राम कहाँ रह गया? सत्य ही तो राम है। किन्तु सत्य का पालन करने पर राम का प्रकट रूप तो गायब होगा। दशरथजी की व्याकुलता को राम ने समझा कि पिता को धर्मसंकट से उबारना मेरा कर्तव्य है। राम तो अन्दर भी देखा जा सकेगा। "एक राम दशरथ के बेटे एक राम घट-घट में लेटे।" राम ने सोचा—मैं पिता के मुँह में रामनाम से और हृदय में राम

रूप से रहूँगा। किन्तु वचन गया तो कहीं भी नहीं मिलूँगा। राम ने पिता के निमित्त राज्य को छोड़ा। श्रीमद्भागवत में रामकथा संक्षेप—**गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं"** से ही प्रारम्भ किया है। गुर्वर्थे का अर्थ है—पूज्य पिता के निमित्त। उनके निमित्त राम ने राज्य त्यागा। राम सीता को भी छोड़कर वन जा रहे थे। सीता साथ में जबर्दस्ती आ गयी सो अलग बात है। अर्थात् कामिनी कांचन दोनों को ही राम छोड़ने में हिचक नहीं रहे थे। वैसे भीष्म ने भी किया। बल्कि राम का चतुर्दश वर्षीय त्याग था। भीष्म का आजीवन त्याग था।

अर्जुन भगवान को कह रहा है जिन्होंने अपने पिता के लिये राजगद्दी को त्यागा, संसार सुख को त्यागा ऐसे महापुरुष भीष्म हैं। उनके सामने हम हर दृष्टि से अति तुच्छ हैं। उन्हें पितामह क्या प्रपितामह कहें तो गलती नहीं। दाशराज कह रहे थे—मत्स्यगन्धा के साथ आप विवाह करें। इसका मतलब मत्स्यगन्धा के पुत्र चित्रांगदी और विचित्रवीर्य के पिता होने के लायक भीष्म थे ही। उनके पुत्र धृतराष्ट्र, पाण्डु पौत्र होने लायक थे। उनके पुत्र कौरव पाण्डव प्रपौत्र होने योग्य थे। इस प्रकार ऊमर की दृष्टि से भी परमपूज्य त्याग तपस्यादि दृष्टि से भीष्म प्रतिज्ञा से भी पूज्य, उन पर हम कैसे बाणवर्षा कर सकते हैं ? इस प्रकार अत्यन्त अनौचित्य प्रकट करने के लिये ही प्रथम भीष्म का ही नाम लिया—"कथं भीष्महम्"। द्रोणाचार्य का भी महत्त्व अत्यन्त विशिष्ट होने से उनको भी जोड़ दिया—"द्रोणं च" से। अर्जुन कहता है—हे भगवन् ! ऐसे हमारे पूज्य गुरुजनों पर बाण वर्षा करना मन से भी नहीं सोचा जा सकता, कल्पना भी नहीं की जा सकती। शत्रु हो तो अलग बात है। ये हमारे हितैषी भी हैं। जो हमसे विद्या से बड़े हैं, ज्ञान से बड़े हैं, आयु से बड़े हैं, उनको हम कैसे मारें ? द्रोण

से तो मैंने विद्या पढ़ी थी। गुरु पूजा योग्य होते हैं, सेव्य होते हैं, वन्दनीय होते हैं।

अर्जुन का कहना है कि हे भगवन्! सनातन धर्म यही आज्ञा देता है कि बड़ों के सामने नत हो। उनकी आज्ञा का पालन करो। एक ऋषि अपने बच्चे को लेकर गंगा किनारे पहुँचे। बच्चे को किनारे बैठाकर कहा यहाँ से हटना नहीं। इसी पत्थर पर बैठे रहना। कहीं जाना नहीं। ऋषि गंगा में कुछ दूर गये। वहाँ स्नान कर प्राणायाम किया तो समाधि लगी। इतने में बाढ़ आयी तो वे बह गये और पता भी न लगा। पानी बढ़ता आ रहा था। उस पत्थर पर भी आया जहाँ बच्चा बैठा था। पिताजी, पिताजी करके पुकारने लगा। मुझे आज्ञा दो, मैं ऊपर जाऊँ। लेकिन पिता जी कहीं पहुँच चुके थे। बाढ़ भारी आ गयी। बच्चा उसमें डूबा और मर गया। ऋषि की समाधि खुली तो चारों ओर पानी ही पानी घबराकर वहाँ से ऊपर आये। उस स्थान की ओर दौड़े जहाँ बच्चा बैठा हुआ था। सर्वत्र पानी था। बाढ़ धीरे धीरे उतरी। तब देखा बच्चा उसी पत्थर पर चिपककर पड़ा है, मर गया है। ऋषि ने गंगा मैया को पुकारा। ऋषि दुःख से गंगा में डूबकर मरने के लिये तैयार हो रहे थे कि गंगा स्वयं प्रकट हो गयीं। कहा, साहस न करो। ऐसा यदि होगा तो बड़ों का महत्व खतम होगा। मैं इसे जिला देती हूँ। यह है बालकों में संस्कार। आयोद्धौम्य ऋषि का शिष्य पंचाल गुरु आज्ञा पालन करने के लिये पानी के प्रवाह में स्वयं मेड़ बनकर पड़ा रहा। ऐसी विस्तृत कथा महाभारत में है।

अर्जुन कहता है—हमारा इतिहास गुरुआज्ञा पालन के उज्ज्वल दृष्टान्तों से भरा पड़ा है। हमारा यह महान आदर्श रहा है। उनकी

सेवा तो दूर, मामूली तिरस्कार भी नहीं, बाणों से प्रहार, यह तो हे भगवन् ! मेरे बस की बात नहीं।

गीता के पूर्वपक्ष में भी महान् रहस्य है। यदि उसे भी जीवन में लावें तो भी महान् कल्याण होगा। हम पहले अध्याय में कह आये हैं कि अर्जुन का विषाद भी रहस्यपूर्ण है। अत एव विषाद को भी योग संज्ञा दी गयी—"अर्जुनविषादयोगः"। पामरों के मोह में और महापुरुषों के मोह में फरक रहता है ॥ ४ ॥



गुरूनहत्वा हि महानुभावान्
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

[महानुभाव गुरुजनों को न मारकर भिक्षान्न से इस लोक में जीवन निर्वाह करना भी श्रेयस्कर है। इसके विपरीत गुरुजनों की हत्या कर हम यहीं पर खुन से सने अर्थ काम भोगों को भोगेंगे ॥ ५ ॥]

मोह का वर्णन चल रहा है। भगवान ने अल्प शब्दों में ही अर्जुन को समझाने की प्रथम चेष्टा की। लेकिन जलती हुई अग्नि में चुल्लू भर पानी डालने के समान वह उत्तेजक सिद्ध हुई। धधकती हुई आग में थोड़ा सा पानी डालो तो वह और भभक उठती है। भगवान के शब्दो से अर्जुन के हृदय की धधकती आग और भभक उटी। उस समय की आग की चटचटाहट के समान ही अर्जुन "कथं भीष्ममहं संख्ये" इत्यादि शब्द बोल पड़ा। भगवान के एक एक शब्दों को अर्जुन ने काटकर रख दिया। "कुतस्त्वा कश्मलमिदं" इस प्रकार आपेक्षपूर्वक भगवान ने कहा था। उसका उत्तर भी आपेक्षपूर्वक ही दिया—"कथं भीष्ममहं संख्ये"। "कुतस्त्वा" इस पूर्वार्ध का यह उत्तर है। भीष्मद्रोणादि को न मारना कश्मल किस प्रकार है? वे तो पूजार्ह हैं, वधार्ह नहीं हैं। इसी से अनार्यजुष्टं का भी जवाब प्रायः हो जाता है। अब उत्तरार्ध

का, उसमें विशेषतया अस्वर्ग्यं, अकीर्तिकरं का जवाब अर्जुन इस श्लोक से दे रहा है—हे भगवन् ! गुरुन् अहत्वा = गुरुजनों को न मारकर। कैसे गुरुजन ? महानुभावान् = महान् प्रभाव रखने वाले। न मारेंगे तो निर्वाह कैसे होगा ? उत्तर हैं—श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यम्। भिक्षा माँगकर निर्वाह करेंगे। वही हमारे लिये कल्याण-कारी भी होगा। मैं संन्यासी बन जाऊँगा। गुरुजनों को न मारकर भिक्षा माँगना भी उचित है। इसके विपरीत हत्वा गुरुन् = गुरुजनों कों मारकर अर्थकामान् भोगान् = ऐसे अर्थ कामरूपी भोगों को इहैव भुञ्जीय=यहीं भोगूँगा, रुधिर प्रदिग्धान्=जो खून से सने हैं।

गुरून्। यह शब्द द्वितीयान्त बहुवचन है। यहाँ बहुवचन प्रयोग क्यों किया ? अर्जुन का एक ही गुरु द्रोणाचार्य प्रसिद्ध हैं। यदि कहें कि व्यासजी ने उन्हें तप का उपदेश किया जिस तपस्या से पाशु-पतास्त्र मिला। वे भी तो गुरु वे। इन्द्र ने भी दिव्य अस्त्र विद्या दी थी। इन्द्र भी तो गुरु हैं। दत्तात्रेय के चौबीस गुरु रहे। वैसे अर्जुन के भी तो कई गुरु हो सकते हैं। हो सकते हैं। और होंगे भी। परन्तु इन सबको यहाँ मानने का प्रसंग नहीं है ? वेदव्यास, इन्द्र आदि यहाँ युद्ध में कहाँ उपस्थित हैं ? कुछ वैयाकरण लोग यह कहेंगे कि आदर अर्थ में बहुवचन का प्रयोग है। यद्यपि आद-रार्थ में बहुवचन का विधायक कोई पाणिनीय सूत्र तो नहीं हैं, फिर भी आदर अर्थ में बहुवचन मानें तो भी पूर्वश्लोक में द्रोण आ ही गया था। दुबारा यहाँ इतने अधिक आदर के साथ, बल्कि भीष्म को छोड़कर बोलने में क्या हेतु ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि संस्कृत में गुरु शब्द का अर्थ केवल उपदेशक, मन्त्रदाता या विद्या-दाता ही नहीं है। दीक्षादाता, विद्यादाता गुरु तो मुख्य है ही। इसके साथ अन्य कइयों को भी गौणवृत्ति से गुरु कहते हैं। जैसे कि बताया है—

उपाध्यायः पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपतिः ।
मातुलः श्वशुरस्त्राता मातामहपितामहौ ॥
बन्धुर्ज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंस्येते गुरवः स्मृताः ।
मातामही मातुलानी तथा मातुश्च सोदराः ॥
श्वश्रूः पितामही ज्येष्ठाधात्री च गुरवः स्त्रियाम् ॥

ये सभी गुरु कहलाते हैं। इस ढंग के तो अर्जुन के अनेक गुरु युद्ध में खड़े हैं। सामान्य अर्थ है—बड़े लोग जिनको गुजराती में वडील कहते हैं।

गुरूनहत्वा हि०। अर्जुन कह रहा है—गुरुजनों को न मार कर यदि भिक्षान्न भी भी खाना पड़े तो वह भी हमारे लिये श्रेयस्कर है। तुच्छ वस्तु सूचनार्थ भैक्ष्य शब्द का प्रयोग किया। बताया है—

अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम् ।
अक्लेशयित्वा चात्मानं यदल्पमपि तद्बहु ॥

तीन बातों को हमेशा याद रखना चाहिये। दूसरों को संताप मत पहुँचाओ। खलों के घर में मत जाओ। अपने आप को क्लेश मत दो? इन तीन पर ध्यान रखते हुए पुरुषार्थ करना चाहिये। उससे जो भी प्राप्त हो, भले ही अति अल्प ही क्यों न हो, वह भी बहुत कुछ समझ लो।

(१) अकृत्वा परसंतापम्। यह देखो हमेशा कि मेरे इस कर्म में दूसरों को संताप तो नहीं पहुँच रहा है? तकलीफ तो नहीं हो रही है। विशेष ध्यान दो—मैं किसी का गला तो नहीं घोट रहा हूँ? किसी का पेट तो नहीं काट रहा हूँ? किसी को भयंकर मुसीबत में डालना या भयानक हानि पहुँचाना यही गला घोटना है। उचित वेतन न देना, परिश्रम हरण करना आदि पेट काटना

है। परन्तु लोभ एक ऐसी चीज है जिससे मनुष्य अन्धा हो जाता है।

न पश्यति च जन्मान्धः कामान्धो नैव पश्यति।
मदोन्मत्ता न पश्यन्ति अर्थी दोषं न पश्यति॥

जन्मान्ध तो नहीं ही देखता। पर कामान्ध भी नहीं देखता, बिल्कुल नहीं देखता। मदोन्मत्त भी उसी कोटि के हैं। और जो लोभी है वह दोष के बारे में सर्वथा अन्धा ही होता है। वह बड़ों को या गुरुओं को नहीं देखता, मैं पाप कर रहा हूँ, हत्या कर रहा हूँ यह भी नहीं देखता। यह गुरुहननकार्य परसंताप है। लोभ निमित्तक है। केवल अन्धापना है। अर्जुन का कहना है कि हे भगवन् आप युद्धत्याग को अस्वर्ग्य कह रहे हैं, मैं तो जानता हूँ युद्ध करना अस्वर्ग्य है। स्वर्गनाशक तथा नरक साधन है।

(२) अगत्वा खलमन्दिरम्। यदि युद्ध नहीं करोगे तो परावलम्बी होना पड़ेगा। प्राप्त स्वकर्मत्याग से परकर्म को अङ्गीकार करना पड़ेगा। दूसरे का मुँह ताकना पड़ेगा। ठीक है। किन्तु खलों के आश्रम में नहीं जाना चाहिये। इसी बात के समर्थन के लिये आगे "श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यं" कहेंगे। भैक्ष्य में खलों के आश्रम में रहना नहीं पड़ता। अमुक खल है समझने पर उसके घर ही मत जाओ। भैक्ष्य में कोई पाबन्दी नहीं होती। जैसे गृहस्थों में व्यवहार होता है कि अमुक के घर गये तो अमुक के घर में भी जाना ही चाहिये। नगरान्तर में रह रहे भाई के घर में गये तो पड़ोसी चाचा के यहाँ यहाँ भी जाना ही चाहिये। ऐसा नियम भैक्ष्य के लिये नहीं है। इतने से अकीर्तिकर जो बताया उसका भी निवारण होगा।

(३) अक्लेशयित्वा चात्मानम्। सबसे बड़ी बात यही है कि अन्तरात्मा को क्लेश पहुँचाना नहीं चाहिये। अन्तरात्मा की भी एक

पुकार होती है। अन्तरात्मा कह रही है—"पापमेवाश्रयेदस्मान्, धार्तराष्ट्र रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरम्"। अन्तरात्मा कह रही है हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्"। मनु-महाराज ने भी धर्म का लक्षण—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥

इन शब्दों में बताया है। वेद, स्मृति और शिष्टाचार तो धर्म में प्रमाण हैं ही। आत्मतुष्टि भी साथ में चाहिये। अन्तरात्मा को क्लेश न पहुँचाने का अर्थ हृदय समर्थन से। ठण्ढी में ठण्ढे पानी से नहाने के लिये तबियत नहीं करती तो यह अन्तरात्मा की पुकार नहीं है। यह शरीर का आलस्य या तितिक्षा का अभावमात्र है। इसलिये—**हृदयेनाभ्यनुज्ञातो यो धर्मः**" ऐसा मनु नें ही हृदय शब्द का प्रयोग किया। कालिदासजी दुष्यन्त के शब्दों में कहते हूँ— "**सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः**"। सत्पुरुषों हृदय ही सन्देहास्पद स्थल में प्रमाण है। अतएव हृदयाभ्यनुज्ञा न होने से अनार्यजुष्ट पक्ष भी नहीं हो सकता। "गुरूनहत्वा" इस श्लोक में पूर्वोक्त तीनों बातें शब्दव्यञ्जना से प्राप्त हैं। भैक्ष्यं ने "यदल्पमपि तद्बहु" यह चतुर्थपाद का अर्थ भी व्यञ्जित हुआ है।

महानुभावान्। महोदय, महाशय, महानुभाव आदि शब्दों को प्रायः समानार्थ में प्रयोग करते हैं। फिर भी व्युत्पत्ति से कुछ विशिष्ट अर्थ भी किलता है। गुरुनहत्वा बताया। क्यों ? अगर वे भी गलत काम करें तो दण्ड देना चाहिये। शास्त्रकारों का कहना है—

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥

गुरु को भी दण्ड दिया जाना चाहिये यदि वे गर्वी हो, कार्याकार्यविवेक हीन हों और गलत मार्ग में चल रहे हों तो। इस पर अर्जुन का कहना है कि उक्त तीन दोष हों—अवलेप, अविवेक और असन्मार्गगमन हो तो शासन हो सकता है। किन्तु यहाँ ये बातें नहीं हैं। क्योंकि यहाँ के गुरुजन महानुभाव हैं। अनुभाव के कई अर्थ हैं। मुख्य अर्थ तेज है। (नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुभिरभिविविष्टं लोकपालानुभावैः ऐसा कालिदास का प्रयोग है। अष्टदिक्पाल तेज से उत्पत्ति मनुस्मृति में वर्णित है।) महानुभाव महातेजस्वी अर्थ है। सामान्य दोष कदाचित् हो भी तो वह तेजस्वियों के तेज में समाप्त हो जाते हैं। "तेजीयसां न दोषाय" यह प्रसिद्ध है। ये भीष्मादि तेजस्वो ही नहीं, महातेजस्वी हैं। अनुभाव का बोधक भी अर्थ है। उत्तम अनुभूति को अनुभाव्य तक पहुँचाने वाले अनुभावक कहे जाते हैं। अतएव 'गुरोरप्यवलिप्तस्य' इत्यादि बात यहाँ लागू नहीं हो सकती।

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। अर्जुन कहता है—गुरुजनों को न मारने पर यदि यह समस्या आ जाय कि शरीरयात्रा नहीं होगी तो संन्यासी बन जाना भी मुझे स्वीकार है। भिक्षान्न खाना भी मुझे उचित लगता है। एक बार मैं संन्यासी बना था। प्रथम-प्रथम तो भय लगता था कि संन्यासी बनकर कैसे भ्रमण करेंगे, क्या खायेंगे, कहाँ रहेंगे इत्यादि। किन्तु संन्यासी बना तो सभी भोजनार्थ निमन्त्रण देने लगे। यहाँ तक कि बलदेवजी ने स्वयमेव निमन्त्रण देकर मेरी चरणपूजा की। जब कि मैं कपट संन्यासी था। सुभद्राहरण का वह प्रसंग था। यदि मैं सच्चा संन्यासी हो जाऊँ तो कहना ही क्या। बड़ी शान्ति और बड़ा आनन्द प्राप्त होगा। भिक्षा सर्वत्र सुलभ है। उसे खाकर आराम से जीवन निर्वाह करेंगे।

कहीं पर "भैक्षं" ऐसा बिना यकार पाठ है। और कहीं "भैक्ष्यं" ऐसा यकार सहित पाठ है। भिक्षासमूह को भैक्ष कहते हैं।

गृहान्हिंसन्नातिष्ठेद् वृत्तिं माधुकरीं मुनिः

मधुमखी के समान अनेक घरों से थोड़ा-थोड़ा अन्न लेने के लिये बताया है। इसके माधुकरी (मधुकड़ी) वृत्ति कहते हैं। इसी को भिक्षासमूह कहते हैं। पहले समय में इसकी बड़ी प्रथा थी। गृहस्थ लोग दोपहर भोजन बनने पर संतों को प्रतीक्षा करते थे। एक दो रोटी और साग देने में किसी को भी तकलीफ नहीं, और एक महापुरुष की सेवा भी हो जाती थी। कितनी प्रसन्नता की बात थी। काल परिवर्तन हुआ। वह प्रथा टूट-सी गयी जिसमें गरीब से गरीब को भी सेवा करने मौका मिलता था। संतदर्शन अल्प उपदेशादि से संस्कारनिर्माण का भी महान् अवसर [था। भैक्ष्यं पाठ में 'भिक्षासमूहे साधु' इस अर्थ में प्रत्यय है। भिक्षा समूह में जो उचित अन्न है उसे भैक्ष्य कहते हैं। अर्थ में विशेष अन्तर नहीं है। अतः कोई भी पाठ पढ़ सकते हैं।

"इह लोके" कहने से यह सूचित होता है कि यहाँ पर श्रेयस्कर कीर्तिकर यही है न कि गुरुवध। उससे बल्कि अपकीर्ति होगी। इससे "अकीर्तिकरं" इस भगवदुक्ति को अर्जुन ने काट दिया। "गुरुनहत्वा" से अस्वर्ग्य का जवाब दिया। **"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि"** ऐसा वेदवचन है। किसी भी प्राणी को मारना पाप है। तिसपर गुरुजन, तत्रापि महानुभावों को मारना कितना भारी पाप है। क्या इससे स्वर्ग की संभावना भी की जा सकती है। हाँ, नरक की बात करो तो ठीक। अतः अस्वर्ग्य यह वचन बिलकुल ही विपरीत है।

हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिर प्रदिग्धान्।

गुरु वध से पूयशोणितादि नरक में पड़कर रुधिराशन मरणोत्तर

तो प्राप्त ही है। परन्तु यहाँ भी भोग रुधिर दग्ध ही रहेंगे। एक संन्यासी ऋषिकेश में आया। घबराया हुआ सा चेहरा था। बेचैन था। नींद नहीं आती थी। उससे पूछने पर कुछ बताया नहीं था। आखिर वहाँ से वह हिमालय की किसी गुफा की खोज में चला गया। जाते समय पूछा उससे तो कहने लगा, सोते समय खून का सपना आता है। खाते समय थाली में खून दीखता है। कारण पूछा तो कहा मेरी पाप करने की इच्छा है। अधिक बोला नहीं। चला गया। मारकर संन्यासी बनने से कोई लाभ नहीं। हाँ गुरुनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्षम्। गुरुओं को मारने का अवसर आवे तो बिना मारे भिक्षान्न खाओ उत्तम है। मारकर फिर भैक्ष भी खाओ तो भी वह "हत्वार्थकामान् भुञ्जीय रुधिर प्रदिग्धान्" रुधिरदिग्ध ही होगा। साधारण हत्या हो तो दिग्ध, और महानुभाव हत्या हुई तो—प्रदिग्ध। दिग्ध का अर्थ है—लिप्त-सना हुआ। यह तो दृष्टान्त में भिक्षान्न की बात बताई। अर्जुन के लिये युद्धोत्तर संन्यासी बनने का कोई सवाल नहीं है। राज्यार्थ ही तो युद्ध हो रहा है। उसके बाद भोगार्थ प्राप्त है—अर्थकामान् भोगान्। अर्थाश्च कामाश्च अर्थकामाः। अर्थ में और काम में क्या अन्तर? सामान्यतः यही अन्तर है—अर्थ धन को कहते हैं और काम दारपुत्रादि सुख को कहते हैं। दारपुत्रादि यहाँ आदि पद कहाँ तक फैला हुआ है? शब्द स्पर्शादि विषय इसके अन्तर्गत है या नहीं? यदि है तो अर्थ अन्तर्गत नहीं होगा? यदि नहीं तो शब्द स्पर्शादि विषयों का अन्तर्भाव किसमें होगा? अर्थ तो धन को कहते हैं। अर्थ्यमानः अर्थः, काम्यमानः कामः ऐसी व्युत्पत्ति करें तो दोनों में कोई विशेष अन्तर पड़ता नहीं है। इस विषय में यहाँ यही कहा जाता है, जो सक्षात् भोगसाधन, शब्द स्पर्शादि तथा दारसुखादि हैं वे काम हैं। परम्परया साधन धन यश मान सम्मानादि अर्थ है। अस्तु, जैसा भी हो अर्थ और काम

चार पुरुषार्थों में दी हैं ही। भैक्षान्न अर्थ और कामरूपी पुरुषार्थ नहीं है। वह तो शरीर निर्वाह साधन मात्र है। गुरुन् हत्वा अर्थ कामान् भोगान् रुधिर प्रदिग्धान् भुञ्जीय ऐसा अन्वय करने पर पूर्वोक्त अर्थ है। अर्थात् गुरुओं को मार कर अर्थ कामों को भोगना रुधिरलिप्त भागों को भोगना है।

उत्तरार्ध का दूसरे ढंग से भी अन्वय करके व्याख्या की जाती है। अर्थकामान् यह गुरुन् का विशेषण भी हो सकता है। अर्थात् कामयन्ते इति अर्थकामाः। तान्। अर्थ की चाह रखने वाले—कामना करने वाले अर्थ काम कहलाते हैं। गुरु लोग कैसे हैं ? भले वे महानुभाव हों पर अर्थ कामना वाले भी हैं। महाभारत में कथा आती है कि महाभारत युद्ध को टालने के लिये भगवान का हर प्रकार का प्रयास विफल हुआ। "सूच्यग्रमपि न दास्यामि बिना युद्धेन केशव"—सूई की नोक भर को भी जगह बिना युद्ध मैं नहीं दे सकता ऐसा अन्तिम शब्द दुर्योधन का रहा तो भगवान् ने युधिष्ठिर को कहा कि अब कोई अन्य उपाय नहीं बचा। भगवान ने कहा अब रणांगण में ही आपको फैसला करना पड़ेगा। युधिष्ठिर ने कहा, लेकिन मैं इतना जल्दी निर्णय नहीं ले सकता। बड़ों से आज्ञा पहले लूँगा। युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह के पास जाकर

पूछा—भगवन् ! दुर्योधन युद्ध के बिना सूई रखने भर की भी जगह देने को तैयार नहीं है। अब हम क्या करें ? आज्ञा दीजिये। भीष्म पितामह ने कहा—युद्ध करो। दुर्योधन अन्याय कर रहा है। तुम सत्य एवं धर्म के पक्ष में स्थित हो। मेरा आशीर्वाद है। तुम्हारी ही विजय होगी। युधिष्ठिर ने कहा—भगवन् ! आपको मालूम है कि हम सत्य और धर्म के पक्ष में हैं। फिर भी आप हमारे पक्ष में नहीं आ रहे हैं इसका कारण क्या ? भीष्म पितामह ने कहा—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासो नार्थस्तु कस्यचित् ।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः ॥

हे युधिष्ठिर ! इस संसार में पुरुष अर्थ का दास होता है। अर्थ किसी का दास नहीं। मैं सत्य बोल रहा हूँ। कौरवों ने मुझे अर्थ से बाँधा है। जिसका राज्य है उसका अन्न खाया है। इसलिये अन्याय होने पर भी हमें दुर्योधन का पक्ष लेना ही पड़ेगा। अर्जुन कहता है—भगवन् ! ये अर्थकाम हैं। फिर भी महानुभाव भी हैं। अर्थ कामना मात्र से महानुभावता समाप्त नहीं होती। यदि बड़े लोग महानुभाव तथा अर्थकाम दोनों हों तब उनको वध नहीं करना चाहिये। उनकी कामना अधूरी रह जायेगी। बाप मरण शय्या पर पड़ा है। खीर खाने की इच्छा हुई। बहुत उग्र शक्कर की बिमारी है। तब पुत्र क्या करेगा ? उनकी कामना ही पूरी करेगा। ययाति का पुत्र पूरू हुआ। ययाति को शुक्राचार्य ने बुढ़ापे का श्राप दिया। परन्तु उनकी कामना पूर्ण नहीं हुई पूरू ने अपने पिता की कामना पूर्ण करने के लिये अपनी जवानी पिता को दी ओर पिता के बुढ़ापे को स्वीकार किया। उसका फल अन्त में परम मङ्गल ही हुआ। उसी पूरू वंश में मैं (अर्जुन) पैदा हुआ हूँ। ययाति में और हमारे गुरुजनों में इतना ही फरक है कि ययाति कामकाम थे। और ये अर्थ काम हैं। जो भी हो वृद्धों की कामना को पूर्ण करना विनेयों का कर्तव्य है। इसके विपरीत उन्हीं के कामित भोगों को उन्हीं को मारकर भोगें यह सर्वथा अनुचित है।

इन दो प्रकार की व्याख्या में कौन सी व्याख्या अधिक समुचित है ? तो अधिकतर आचार्य प्रथम व्याख्या को ही उत्तम मानते हैं। भीष्म द्रोणादि के लिये अन्तिम वृद्धावस्था में अर्थकाम विशेषण बराबर जँचता नहीं है। यद्यपि "बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः" यह शब्द भीष्मपितामह का है। और इसके बाद द्रोण, कृप ओर शल्य तीनों

ने इसी उक्ति का पुनरावर्तन भी किया है। तथापि दुर्योधन का अन्न खाने से अब कृतघ्नता नहीं करनी चाहिये इतना ही अर्थ वहाँ करना ठीक प्रतीत होता है। अर्थकामना से इन सबने द्रव्य संचय किया इसमें कोई प्रमाण नहीं है। दुर्योधन दुःशासनादि यद्यपि अर्थ काम थे। तथापि वे गुरु शब्द के लायक तो नहीं ही थे। ओर यथा कथंचित् ऐसा अर्थ समझ में आता हो तो कोई हानि भी नहीं है॥ ५॥

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिता प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ॥६॥

हम यह भी नहीं जानते हैं कि हममें से कौन वलवान है। हम कौरवों को जीतेंगे या कौरव हमें जीतेंगे यह निश्चय करना कठिन है। जिनको मारकर हम जीवित रहना नहीं चाहते वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र युद्धार्थ सन्मुख खड़े हैं ॥ ६ ॥]

एक न्याय प्रसिद्ध है—"भक्षितेऽपि लशुने व्याधिशान्तिर्नास्ति"। एक वैष्णव था। उसके पेट में वायुरोग हो गया, वैद्य के पास गया तो वैद्य ने कहा कि तुम लहसून खाया करो। वैष्णव ने कहा—लहसून खाने से हमारा धर्म नष्ट होगा। वैद्य ने कहा—धर्म से वढ़कर शरीर है। "शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"। शरीर हो तो हजारों धर्म कर सकेंगे। वैष्णव ने उनकी बात मान ली। एक दिन छुपकर खाया, लेकिन वायु नष्ट नहीं हुआ। वैद्य ने बताया—एक महीना लगातार खाते रहो। फिर एक महिना वैष्णव ने लगातार लहसून खाया। कुछ दिन छिपकर खाया, किन्तु बाद में गन्ध से पता लग ही गया। एक महिना खाने से भी फायदा नहीं हुआ तो फिर वैद्य के पास गया। वैद्य ने कहा—बीमारी तीन प्रकार की होती है—साध्य, दुःसाध्य और असाध्य। साध्य होती तो एकही दिन खाने से चली जाती। दुःसाध्य होती तो एक महीना लहसून खाने से चली जाती, पर यह असाध्य हो गयी है। वैष्णव ने कहा—धत्! धर्म भी गया और बीमारी भी नहीं मिटी। लोग भी कहने लगे—भक्षितेऽपि लशुने व्याधिशान्तिर्नास्ति।

अर्जुन कह रहा है—राज्य प्राप्ति के लिये और अन्याय समाप्ति के लिये युद्ध करना है, परन्तु युद्ध तो जुआ जैसा है, पता नहीं, कौन हारे और कौन जीते। कहों कौरव पक्ष प्रबल पड़ गया वा जीत गया तो ? जो बाकी बचे पांडव हैं, उनको जंगल भागना पड़ेगा, फिर वही की वही बात रह जायेगी। उस बात को फिर आज ही क्यों न किया जाय ? मौत से सभी भय खाते हैं। अंत समय में दूर्योधन जलस्तम्भ में प्राण बचाने के लिये जा छिपा था। यह नौबत पांडवों की आ गयी होती तो अनार्यजुष्टं, अस्वर्ग्यं, अकीर्त्तिकरं ये तीनों बातें वापिस आ जातीं। नहीं आयी यह अलग बात है। बाली को सुग्रीव ने ललकारा और मार खाकर प्रथम बार (सुग्रीव) भागा। अतएव नीतिकारों ने किसी भी भारी जोखम भरा कार्य प्रारम्भ करते समय छः बातों पर विचार करने के लिये बताया है—

कः कालः कानि मित्राणि को देशः कौ व्ययागमौ।
कश्चाहं का च मे शक्तिरिति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥

(१) प्रथम समय को देखना चाहिये। समय हमारे लिये अनुकूल है या प्रतिकूल, यह देखो। संस्कृत के एक महान कवि माघ हुए। वे कहते हैं :—

समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्।
शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयूरमणीयताम् ॥

बलाबल करने वाला समय है। समय क्या करता है, यह कह नहीं सकते। कभी मनुष्य पर पहाड़ का चट्टान गिरता है, परंतु टकराने पर थोड़ा बेलेन्स में फरक आ जाने से परमाणु के समान दूसरी ओर जा गिर पड़ता है और आदमी साफ साफ बच जाता है। कभी ऐसा भी समय आता है कि किसी कीडे ने जरा सा काट लिया और जहर चढ़ने से आदमी मर गया। राजा परिक्षत को कीड़े ने ही तो काटा था, जो तक्षक नाग हो गया था। समय की

बलिहारी है। अर्जुन ने समय के बारे में पहले ही बताया था— "निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव" शकुन विपरीत है। अतः लगता है कि समय हमारे अनुकूल नहीं है। निमित्त से ही समय का पता लगाया जा सकता है। अन्य कोई उपाय नहीं है। काल का शुभाशुभ काल अर्थ भी है, उचित अनुचित काल भी अर्थ है, दोनों देखना चाहिये। पूरी तैयारी करके शुभ काल में कार्य प्रारम्भ करना चाहिये।

(२) कानि मित्राणि। दूसरा यह भी देखना चाहिये। साहस के साथ कार्य करना चाहिये, ठीक है, किंतु सहायक है या नहीं ? कौन सहायक मित्र है ? इत्यादि भी देखना चाहिये। बहुत से ऐसे लोग मिलेंगे कि पहले सहायता देने का वचन देते हैं किंतु ऐन मौके पर धोखा दे देते हैं। आपत्ति में मित्र की परिक्षा होती है। दारिद्र में पत्नी की परीक्षा होती है। अर्जुन के लिये यह एक बड़ी समस्या बनी हुई थी। "तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान् ....श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि" ऐसा पहले अध्याय में ही आ गया था। पिता पितामह, मातुल, सखा मित्र ये सभी दोनों सेनाओं में दीख रहे थे। दोनों सेनाओं में इन सबका होना बड़ी ही खतरनाक परिस्थिति थी। हो सकता है यहाँ का मित्र वहाँ और वहाँ का मित्र यहाँ हो जाय।

(३) को देशः। तीसरा-देश को देखना चाहिये। हम रूस अमेरिका में जा कर रूसी, अमरीकी से ही विरोध कर बैठें यह उचित नहीं है। कहावत प्रसिद्ध है कि "जल में मगर से बैर करना"। अर्जुन का कहना है कि यह कुरुक्षेत्र है, पांडुक्षेत्र नहीं, दुर्योधन ने समस्त प्रजा को अपने वश में भी कर रखा है। भारवि कवि ने वर्णन किया है :—

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥

दुर्योधन अपनी प्रजा को वश में करने के लिये और लोगों को अनुकूल बनाने के लिये कई मोर्चे सभाले हुए है। नौकर चाकरों से मित्र जैसा व्यवहार करता है। तब मित्र वर्ग नाराज न हों, तदर्थ मित्रों को उसने बन्धुओं के बराबर बना दिया और बन्धुओं को कहने लगा—आप ही शासक हैं, मैं केवल निमित्त मात्र हूँ। इस व्यवहार से सारी प्रजा वशीभूत हो रही है और जिनके वश में प्रजा हो, वही सफल शासक होता है। चाहे प्रजातंत्र हो चाहे राजतंत्र, प्रजा का आनुकूल्य होना ही चाहिये। जिस देश में प्रजा राजा के अनुकूल है, वहाँ रह कर उसी के विरुद्ध युद्ध करना निश्चित रूप से खतरा मोल लेना है। धृतराष्ट्र के लिये यही एक बड़ी भारी सान्त्वना थी कि कुरुक्षेत्र हमारा क्षेत्र है, कुरुओं का क्षेत्र है, अतः अवश्यमेव हमारी ही जीत होगी। इसी आशय से "धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे" कहा। अन्यथा युद्ध निश्चित हो ही गया था। फिर स्थान विशेषनिर्देश करने की आवश्यकता क्या थी। बिना प्रयोजन एक अनुवाद मात्र यह हो जाता।

(४) कौ व्ययागमौ। चौथी बात यह सोचना चाहिये कि जिस कार्य को प्रारम्भ करने जा रहे हैं, उसमें व्यय क्या है, उसके लिये सामग्रियों के आगमन का क्या स्रोत है? वा लाभ क्या है? कहावत प्रसिद्ध है कि चद्दर देखकर पाँव पसारो। अर्जुन कहता है—हमारी पूँजी सात अक्षौहिणी सेना है और कौरवों की पूँजी ग्यारह अक्षौहिणी सेना है। यदि बराबर-बराबर भी युद्ध चले तो भी दोनों की सात-सात अक्षौहिणी सेना के नष्ट होने पर कौरवों के पास चार अक्षौहिणी सेना बचेगी। ऐसी स्थिति में जीत किसकी होगी, इसका अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता है। अन्य अस्त्रशस्त्रादि सामग्री पर विचार करें तो, कौरव राज्य ही कर रहे हैं। उनके पास धन जन सामग्री की न्यूनता हो ही नहीं सकती। हमारा व्यय होता जायेगा। आगम का कोई स्रोत नहीं है।

(५) कश्चाहम्। पाँचवाँ यह भी देखना है कि मैं स्वयं कितने पानी में हूँ। प्रस्तुत कार्य करना मेरे लिये औचित्य पूर्ण है या नहीं। प्रकृत कार्य में मेरी भूमिका क्या रहेगी ? मेरी महत्ता इसमें कितनी है। एक बार काशी में एक वार्षिकोत्सव में तत्कालीन मुख्यमंत्री संपूर्णानंदजी को बुलाया था। फिर उनसे कहा कि आप भी कुछ भाषण-उपदेश दीजिये। वे वड़े बुद्धिमान थे ही। उन्होंने कहा कि मैंने समझा, मेरे शासन में कई त्रुटियाँ होंगी, उन्हें बताने के लिये आपने बुलाया होगा। यहाँ तो आप मुझे ही उपदेश करने के लिये कह रहे हैं। यहाँ बड़े-बड़े पंडित और महात्मा बैठे हैं। उनको अध्यात्म विषय में कुछ उपदेश करना मेरी धृष्टता होगी। हाँ, मेरी योग्यता कुछ विज्ञान की बात प्रस्तुत करने की हो सकती है, जो आपके आर्ष ग्रंथों में सम्भवतः न हो। इसके बाद वैज्ञानिक कुछ मत बताये। यद्यपि उन्होंने एक अच्छा वेदांत ग्रंथ चिद्विलास लिखा है। फिर भी उसकी कोई चर्चा नहीं की, क्योंकि विद्वान् महात्माओं के सामने आर्षमत पर बोलना धृष्टता होती। अतः अन्त में एक प्रश्न रखकर प्रवचन पूरा किया कि आजकल वैज्ञानिक जीव के निर्माण में लगे हैं। यदि जीव की उत्पत्ति सिद्ध हुई तब वेदांत क्या जवाब देगा ? यह उनका एक प्रश्न मात्र था। जीव की उत्पत्ति नहीं होती, यह सिद्धांत है। जीव उत्पन्न हो जाय तभी उस पर विचार हो सकता है। परंतु कहने का मतलव यह है कि मैं कौन ? कैसा ? यह समझ कर उन्होंने उचित प्रवचन किया। इसके विपरीत उज्जैन कुम्भ में एक संमेलन में एक मंत्री महोदय आया। साधु-संन्यासियों की ही काट करना शुरू किया। देश, काल और स्वरूप योग्यता के विपरीत हो गया। पाँच ही मिनट में जनता ने शोर मचाना शुरू किया। आखिर लिख कर लाया गया भाषण पढ़े बिना ही जाना पड़ा। अर्जुन ने अपनी योग्यता वा औचित्य को लेकर पहले ही बोल दिया था—"तस्मान्नार्हा वयं हन्तुम्"। हम वध उद्यम करने योग्य नहीं हैं।

(६) का च मे शक्तिः । छट्ठी बात यह है, अपनी शक्ति को प्रथम स्वयं आँकना। एक वजन उठाना हो तो पहले अपनी शक्ति का अंदाजा करो। उसके बिना ही अधिक वजन उठाया तो कोई नस खसकेगी-कमर टूटेगी। इसलिये शक्ति को समझ कर आगे बढ़ना चाहिये। यद्यपि यह बात सही हैं कि शास्त्रार्थ में और शस्त्रार्थ में अपने को अशक्त समझने वाला हार जाता है। जो सामने वाले को निर्बल समझता है, वही जीत सकता है। शास्त्रार्थ में और प्रवचन में सामने सबको मूढ जो समझता है वह बाजी मार ले जाता है। काशी की बात है। एक महामहोपाध्याय पंडित हरिहर कृपालु का देहावसान हुआ तो श्रद्धाञ्जलि देने के लिये पंडित लोग एकत्रित हुए। एक बड़े पंडित श्रद्धाञ्जलि देने के लिये खड़े हुए तो उनको चारों ओर पंडित ही पंडित दीखने लगे। वे अव्याप्ति अतिव्याप्ति के भय से काँपने लगे। जैसे तैसे दो चार शब्द बोल कर बैठ गये। एक सामान्य पंडित खड़ा हुआ। वह निडरता से बोलता गया और ऐसा बोला कि वही बाजी मार गया। उसके बाद में पंडितों ने पूछा—इतना प्रवचन तुम कहाँ से सीख गये ? उसने कहा—यह एक कला है। कौन-सी कला ? यही कि सामने बैठे हुए सबको मूर्ख समझना। सभी हँसने लगे। शस्त्रार्थ में भी यही बात है। सामने वाले को तो कीड़े के बराबर समझना चाहिये। सामने वाले को अधिक शक्तिशाली समझा तो रही सही शक्ति भी खतम हो जायेगी। हमें स्मरण है, कैलास यात्रा के समय की बात है। सन् उन्नीस सौ छप्पन में चीनी सैनिकों ने हम लोगों को सीमा पर पकड़ा था। इधर भारतीय सीमा रक्षकों को पता लगा। फौरन दिल्ली में खबर भेजी गई। वहाँ से पेकिंग में खबर गयी। एक दिन में सारा काम हो गया और हम छूटकर आये। भारतीय सीमा पर आने पर हमारे स्वागतार्थ जवान लोग खड़े थे। हमने उनसे पूछा—आप लोगों को खबर कैसे मिली ? भारतीय सैनिकों ने कहा—हमारे

भारतीय खतरे में हों और हमें कुछ भी पता न लगे, ऐसा कभी हो सकता है क्या ? हम यहाँ बैठे हैं तो यों ही नहीं ? आज आप छूटकर न आते तो आप लोगों को हम आकर छुड़ा लेते। हमने कहा—आप तो यहाँ सौ पचास हैं लेकिन चीनी सेना तो पचीस पचास हजार वहाँ तैनात है। हमने प्रत्यक्ष देखा। उनकी तो पूरी तैयारी है। एक जवान ने कहा—महाराज, पचास हजार तो क्या लाख हो तो भी हमें भय नहीं है। चौदह लाख खरदूषण सैनिकों को राम ने अकेले मारा था। इतने चीनियों के लिये हम एक-एक ही काफी हैं। हमने कहा—वाह ! जवानों की कैसी वीरता है ? शस्त्रकला में भी इस प्रकार सामने वालों को तुच्छ ही समझना चाहिये। तब "का च मे शक्तिः" क्यों सोचना चाहिये ? यह प्रश्न होगा। तथापि यह मूलतः सोचना ही चाहिये। प्रतिपक्षी जब सामने आवे तब भले ही उन्हें तुच्छ समझो। किंतु उससे पूर्व शक्ति का अंकन तथा शक्ति का संचयन दोनों ही आवश्यक हैं। भारतीयों में वीरता जरूर रही, परंतु शक्ति को बराबर आँका नहीं। उसका परिणाम भी तो सन् पैंसठ के भारत चीन युद्ध में सामने आया।

इसी नीति वचन के अनुरूप अर्जुन ने छहों बातों पर विचार किया। काल, मित्र, देश, व्ययागम, स्वस्वरूप और स्वीय शक्ति सीमा इन छहों पर विचार करने पर जो निष्कर्ष सामने आया उसी को अर्जुन कह रहा है—**"न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः"**। युद्ध प्रारंभ होने पर भले ही कुछ भी न देखो, पर प्रारम्भ तो सोच विचार कर ही करना चाहिये। भीष्म पितामह की इच्छा मृत्यु है। उनको कोई मारने वाला ही नहीं है। द्रोणाचार्य का ऐसा है कि जब तक हाथ में अस्त्र है तब तक उनको कोई मार नहीं सकता। कर्णादि भी कम नहीं हैं। ऐसी स्थिति में हम अपने मनोबल से अपने को भी भले ही बलवान मानें, किन्तु वस्तुतः कौन गरीयः—भारी है, कौन पक्ष मजबूत है यह हम नहीं कह सकते।

हो सकता है कि हम ही जीत जाय, परंतु यह भी हो सकता है कि वे हमको जीत लें।

युद्ध में हार होने पर दो बातें होंगी, या तो जंगल भागना पड़ेगा। या फिर मारे जायेंगे। दोनों में अपयश है। जंगल में भागकर अपना वैराग्य दिखाया तो अंगूर खट्टे कहने वाली लोमड़ी की कहानी होगी। मारे जाने पर दुनियाँ हँसेगी कि देखो बाल चापल से फतींगे के समान भीष्म पितामहादि अग्नि में पांडव भुनकर खतम हो गये। हारे की और मरे की प्रशंसा दुनिया नहीं करती। यह तो पराजयोत्तर की बात हुई। अब यदि विजय हो जाय तब की क्या स्थिति है, सो भी सुन लीजिये। भीष्मादि तो यावत् जीवन युद्ध से भागने वाले नहीं हैं, यह निश्चित है। इसलिये अंततः उनको मारना ही पड़ेगा। तब सारी दुनिया यही कहेगी कि राज्य के लोभ से पांडवों ने अपने पिता पितामहों की हत्या की, तब कंस ने अपने पिता को जेल में रखकर कौन-सा गुनाह किया। इस बदनामी से बचने के दो ही उपाय हैं, या तो इनको मार कर अपनी निःस्पृहता दिखलाने और प्रायश्चित करने के लिये अपने आप पर भी गोली दागो और प्राण छोड़ो। या फिर पाप निवृत्ति आदि के लिये जंगल में जाकर तप करो, जैसे परशुराम ने क्षत्रियों को मार कर प्रायश्चितार्थ तप किया था। तब हारने में और जीतने में क्या फरक पड़ा ? हारने में भी मरो या जंगल भागो। जीतने में भी तो मरो या फिर जंगल में तप करो। तब अच्छा यही होगा कि न हारो, न जीतो। अभी से विवेकपूर्वक जंगल में जाकर तपस्या से पुण्य कमाओ। इस समय काल थोड़ा विषम है। परिस्थिति भी अवश्य बिगड़ी है, परंतु युद्धोत्तर तो सब कुछ बिगड़ेगा।

इससे भी अधिक उग्रता अर्जुन यह बता रहा है—**'यानेव हत्वा न जिजीविषामः'**। जिनको मारकर हम जिंदा रहना ही नहीं चाहते वे ही ये धार्तराष्ट्र युद्धार्थ खड़े हैं। अर्थात् हारने पर मरण

जीवन दो विकल्प है। जीतने पर तो मरण ही एक मात्र बात रह जाती है।

यहाँ तक के प्रकरण से अर्जुन का एक निश्चित सिद्धांत सामने उपस्थित होता है और अर्जुन का वास्तविक स्वरूप भी सामने आ जाता है। एतदर्थ सिंहावलोकन पूर्वक पुनरालोकन करना आवश्यक है। अर्जुन इहलोक सुख का अभिलाषी नहीं है, तथा परलोक सुखाभिलाषी भी नहीं है। **'येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च'** अपने लिये नहीं, किंतु दूसरों के लिये हम राज्यादि प्राप्त कर रहे हैं। **'अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः'** तीनों लोकों का राज्य भी मुझे इष्ट नहीं हैं। स्वर्गलोक का या केवल पृथ्वी लोक का राज्य तो नितराम् अभीष्ट नहीं है। अतः यदि आप इहलोक सुखार्थ युद्ध करने के लिये कह रहे हैं तो मैं युद्ध नहीं करूँगा। यदि परलोक स्वर्गादि लोक के सुखार्थ युद्ध करने के लिये कह रहे हैं तो भी मैं युद्ध नहीं करूँगा।

मेरे मन में अब एक ही विषय विचारास्पद रह गया है। इस युद्ध से आत्मकल्याण हो सकता है या नहीं ? और युद्ध न करने से आत्मकल्याण में कोई बाधा उपस्थित होती है या नहीं ? इस लोक के सुख के लिये, कीर्त्ति के लिये या और किसी साध्य अर्थ के लिये मुझे युद्ध नहीं करना है। परलोक में देवपद, इन्द्रपद, बृहस्पति पद आदि के लिये भी मुझे युद्ध नहीं करना है। हाँ, आत्मलोक मुझे चाहिये। उसमें युद्धादि कर्म साधन है या नहीं। इसी आशय से अगले श्लोक में **'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे'** ऐसा अर्जुन कहेगा। अत एव अर्जुन के अनुरूप ही गीता मोक्षशास्त्र है, यह निर्णय होता है। भगवान् एतदर्थ इसी के अनुरूप ही गीताशास्त्र में कहेंगे—कर्म मोक्ष साधन नहीं है। **योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।** परंतु अर्जुन को संशय होगा कि अंतःकरण शुद्धि हो यदि कर्म का फल है तो तदर्थ युद्ध से अतिरिक्त सौम्य

कर्म भी तो क़िया जा सकता है—तत्कि कर्मणि घोरे मां नियोजयसि' इस घोर युद्ध कर्म में आप मुझे क्यों नियुक्त कर रहे हैं। यह प्रश्न 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीं' सुनने के बाद में किया गया है। अर्थात् इस कल्प को अर्जुन ने कुछ भी महत्व नहीं दिया क्योंकि स्वर्ग का राज्य या पृथ्वीका राज्य दोनों ही अर्जुन को अभीष्ट नहीं थे। हाँ, केवल लोक प्रेरणार्थं भगवान् बीच में यह बात कह गये। अत एव अग्रिम श्लोक में जो 'धर्मसंमूढ़चेता' शब्द आयेगा उसका भी मोक्ष प्रयोजक धर्म के बारे में मैं मूढचित्त हूँ यही अर्थ करना उचित है। इसीलिये उसके बाद वाले श्लोक के साथ संगति बैठती है। अन्यथा वह केवल पुनरुक्ति मात्र होगी। अर्थात् धर्मसंमूढचेता से इह राज्य या स्वर्गसुख का प्रयोजक धर्म मेरा विवक्षित नहीं है, क्योंकि—अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्' भू राज्य तथा स्वर्गराज्य से मेरा शोक दूर होनेवाला नहीं है। तदर्थ धर्म को नहीं पूछ रहा हूँ। 'तरति शोकम् आत्मवित्' के अनुसार संसारशोक निवृत्ति पूर्वक आत्मलोक प्राप्ति के साधन धर्म के विषय में पूछ रहा हूँ। अतएव अर्जुन का मंतव्य निरूपण इस श्लोक तक पूरा हो जाता है। अगले श्लोक में जिज्ञासा एवं शरणागति है। उसके बाद के श्लोक में जिज्ञासित अर्थ का स्पष्टीकरण मात्र है। अर्थात् जिज्ञासित धर्म इह परलोक साधनात्मक नहीं है, इसका विशदीकरण है॥ ६ ॥



कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

[हे भगवान् ! कार्पण्य-दैन्यरूपी दोष से मेरा असली स्वभाव वा स्वरूप ही नष्ट सा हो गया है। मेरा चित्त धर्म के विषय में मूढ सा हो गया है। सो मैं आप को पूछना चाहता हूँ, आप वतायें कि हमारे लिये श्रेयस्कर क्या है ? युद्ध करना या उसे त्यागना ? आप हमें निश्चित वताईये। आपका मैं शिष्य हूँ। आप की शरण में आया हूँ। आप मुझे शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥

गीता जीवन शास्त्र है। जीवन के प्रारम्भ से समाप्ति तक के समस्त कर्तव्यों का तथा साधनों का यहाँ वर्णन है। जीवन के आरम्भ का अर्थ जन्म नहीं और जीवन समाप्ति का अर्थ मरण भी नहीं है। 'जीवन' यह एक मार्ग है। आगे वढ़ने का प्रयत्न ही जीवन है। तथा लक्ष्य की प्राप्ति ही समाप्ति है। वह चाहे एक जन्म में हो चाहे करोड़ों जन्मां में हो। आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ से समाप्ति पर्यन्त एक ही है। "**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति**" ऐसा आगे वतायेंगे। जो प्रारम्भ किया जाता है, उसका विनाश नहीं होता। केवल 'जीवन' कहने पर लोगों को भ्रांति हो सकती है। अतः आध्यात्मिक जीवन ऐसा कह सकते हैं। अन्य जीवन कोई जीवन नहीं है। इसलिये भ्रांति रहित लोगों के लिये केवल जीवन कहना पर्याप्त है। लोकोक्ति भी प्रसिद्ध है—"**काकोऽपि जीवति चिराय बलिं च भुङ्क्ते**"। परन्तु यह जीना भी कोई जीना है ? आध्यात्मिक जीवन ही वास्तविक जीवन है।

जीवन कहाँ से प्रारम्भ होता है? इसे तैत्तिरीयोयनिषद् में समझाया है। **"माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा सन्धिः। प्रजननं सन्धानम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं सन्धानम्"**। इस तैत्तरीय श्रुति को दृष्टान्त दार्ष्टान्तिकरूप से यदि लगाया जाय तो अर्थ अत्यन्त स्पष्ट होगा। लोक प्रसिद्ध जीवन कब शुरू होता है? जन्म के बाद? नहीं। जन्म से पूर्व ही जीवन शुरू हो जाता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार षोडश संस्कार मुख्य माने जाते हैं। जिनमें प्रथम गर्भाधान संस्कार माना गया है। वह भी एक संस्कार ही है। गर्भावस्था में ही बालक पर संस्कार पड़ने लगते हैं। संस्कार शुद्ध करने के लिए ही शास्त्रीय षोडश संस्कार विधान है। श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद कथा में बात आयी है—जब साथी असुर बालकों को प्रह्लादजी ने ज्ञानवैराग्योपदेश किया तो बालक पूछने लगे कि यह ज्ञान आपको कहाँ से प्राप्त हुआ? गुरुजी ने यह तत्व कभी भी बताया नहीं है। इस पर प्रह्लादजी कहने लगे कि जब मैं माता के उदर में था और पिताजी तप करने गये थे तो इन्द्र ने सोचा कि यह गर्भवती है, इसका विनाश करना चाहिये। अन्यथा एक और असुर हमारे लिए दुःखदायी पैदा होगा। इन्द्र मेरी माँ कयाधू को बलात् पकड़ ले जा रहा था। रास्ते में नारदजी मिले। नारदजी ने कहा—अरे! इन्द्र, यह असुरों का काम देवता होकर तुम ने अपने हाथ में कैसे ले लिया। इन्द्र ने कहा—इस स्त्री के उदर में जो बालक है, वह विश्वनाश करेगा। नारदजी ने कहा, अरे भूल मत करो। यह विश्वनाशक नहीं, बल्कि विश्वरक्षक होगा। तब इन्द्र ने छोड़ा। मेरी माता को नारदजी ने अपने आश्रम में शरण दिया। वहीं वे मेरी माता को कथा सुनाते थे। वस्तुतः मुझे ही लक्ष्य कर वे कथा कहते थे। उसी संस्कार से आज मैं तुम्हें तत्वज्ञान सुनाता हूँ। इस प्रसंग का तात्पर्य यही है कि बालक का जीवन माता के उदर में शुरू होता है। अत

एव गर्भवती नारी को अति सावधानी से रहना चाहिए। मन में अच्छे संस्कार रखना चाहिए। इसका महत्व आजकल के स्त्री पुरुष नहीं समझते। यही कारण है कि जन्मोत्तर वे बच्चे भी आज्ञाकारी नहीं बनते ।

इसे दृष्टान्त रूप में रखो, अब दार्ष्टान्तिक में समझो। यद्यपि श्रुति में दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक रूप से नहीं कहा है। फिर भी वैसी व्याख्या करने पर सरल रीति से समझ में आयेगा। दार्ष्टान्तिक में आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनं सन्धानम्। दृष्टान्त में माता-पिता पूर्व और उत्तर रूप हैं। यहाँ पर आचार्य और अन्तेवासी पूर्व उत्तर रूप हैं। अन्तेवासी अर्थात् शिष्य। शंका होगी—माता पूर्वरूपं, पिता उत्तर रूपं, के अनुरूप अन्तेवासी पूर्वरूपं आचार्यः उत्तर रूपं कहना चाहिये था, उलटा क्यों क.ा। या वहले ऐसा कहना था कि पिता पूर्वरूपं माता उत्तर रूपम्। पिता और आचार्य सम कक्ष हैं। और उधर माता और यहाँ अन्तेवासी समकक्ष हैं। नहीं। यहाँ गौरव की दृष्टि से रखा गया है। "सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते" ऐसा मनुस्मृति में कहा गया है। अर्थात् माता का गौरव पिता की अपेक्षा हजार गुना अधिक है। अतः दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक में समता है। प्रजननं और प्रवचनं तो समान है ही। माता-पिता की प्रजासंतति, यहाँ विद्यासंतति ये भी सम ही हैं। लौकिक रीति से बालक का जीवन गर्भाधान से शुरू होता है—प्रजनन से शुरू होता है और शिष्य का आध्यात्मिक जीवन प्रवचन से शुरू होता है। प्रजनन का फल संतानोत्पत्ति और प्रवचन का फ़ल विद्योत्पत्ति है। इसी आध्यात्मिक जीवन को प्रारम्भ करने के लिए ही यह श्लोक प्रस्तुत हो रहा है।

यहाँ अर्जुन ने भगवान से प्रार्थना की है—"शाधि मां"। शास धातुका रूप शाधि है। शासन करो, शिक्षा दो, उपदेश से ज्ञान दो, यह शाधिका अर्थ है। एक जिज्ञासु ने मुझे पूछा, यहाँ शादी की

बात क्यों कही। शाधि में 'ध' को द बोले तो 'शादो' शब्द विवाह अर्थ में आता है। मैंने कहा—शाधि का ही अपभ्रंश शादी है। शादी होने पर पति का पत्नी पर और पत्नी का पति पर शासन रहता है—अंकुश रहता है। उसी का अपभ्रंश शादी हो गया और विवाह में रूढ़ हुआ। उसका तात्पर्य पूर्वोक्त ही है। शादी ही जीवन का प्रारम्भ है। जैसे हम बता आये—बालक का जीवन प्रारम्भ हुआ। गर्भाधान से बालक जीवन प्रारम्भ होता है वैसे आध्यात्मिक जीवन शास्त्र शासन से—प्रवचन से शुरू होता है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः। गुरुजनों के पास जाने पर जो बात है, साफ कहना चाहिये। हम डॉक्टर के पास जाते है तो पहले अपनी बिमारी बता देते हैं। वैसे गुरुजनों के पास जाकर अपना गुण-दोष बता देना चाहिये। सभी सिद्ध नहीं होते, साधक भी होते हैं। हाँ, मार्ग का ज्ञान होने से बराबर बतायेंगे। बम्बई में एक बार मेरे पास एक भक्ता आई। मैंने पूछा कैसे आयी ? उसने कहा, आपको मालूम है, आप ही बताईये। मैंने कहा मैं कोई ज्योतिषी थोड़ा ही हूँ। उसने कहा, आप ज्योतिषी हो या न हो, आप सब कुछ जानते हैं। कई बार पूछा, लेकिन यही कहे कि आपको सब पता है। मैंने सोचा कि यह पिंडा कैसे छुड़ावूं। मैंने थोड़ा ध्यान लगाया कि ये भगत लोग किस किस बात के लिये आते हैं। घर में झगड़ा होता है तो निवारण के लिये आते हैं। कुछ लोग काम-क्रोधादि हटाने के लिये और सौ में एक प्रतिशत तात्विक बात पूछने आते हैं। और भी कारण हो सकते हैं किन्तु ये मुख्य हैं। इनमें यह तत्त्व ज्ञान के लिये तो नहीं आयी है। इसके लिये छिपाने की कोई बात नहीं है। और वैसी यह जिज्ञासु भी नहीं दिख रही है। कुछ आशा से आयी है। अतः काम-क्रोधादि हटाने भी नहीं आयी है। बाकी बचे धन और सुत। मैंने सोचा क्रमशः दोनों बोल दो। मैंने कहा, क्या पुत्र के लिये आयी हो ? यह बोली—तभी तो मैंने

आपको कहा-आप सब जानते हैं। मैंने सोचा था कि पुत्र के लिये मना करेगी तो धन बोलूंगा। किन्तु संयोगवश वही बात निकली। क्यों कि साल पहले उसका लड़का दुर्घटना में मर गया था। संत लोग कभी बुरा सोचते नहीं। मैंने स्वभाविक रूप से कहा—चिंता मत करो, हो जायेगा। फिर लड़का हुआ तो दूसरी सिद्धि भी लागू हो गयी। सचमुच एक साल के बाद लड़का भी हुआ। मैंने माता को कहा—दो बार भगवान ने लाज बचायी। अब मेरे पास कुछ पूछने के लिये कभी नहीं आना। बात यह है कि अपनी जो बात है वह स्पष्टरूप से गुरु को निवेदन करो। चाहे वह गुण हो चाहे वह दोष। उससे उपाय कुछ करना हो तो सुविधा होती है। इसी कारण अपनी साफ बात भगवान को अर्जुन कह रहा है कि कार्पण्य दोष से मैं हतस्वभाव हो गया हूँ।

कार्पण्य क्या है ? कृपणस्य भावः कार्पण्यम्। कृपण का अर्थ—
'कृपणस्तु कृमौ पुंसि मन्दकुत्सितयोस्त्रिषु' (मेदिनी)
'कदर्ये कृपणक्षुद्रकिंपचानमितंपचाः' (अमरकोश)
"आविंतः कृशवृत्तिर्यः कृपणो न स राघव।
महात्मा व्यसनं प्राप्तो दीनः कृपण उच्यते" (वाल्मीकि)
"यो वा एदतक्षरं गार्ग्यविदित्वेतस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः (बृ. उपनि)
भागवत में प्रयोग आया—"एषा तवानुजा बाला कृपणा"। देवकी के लिये यह विशेषण आया है। इनमें यहाँ अर्जुन अपना कौनसा कार्पण्य कहना चाहता है ? इनसे अतिरिक्त ही कोई कार्पण्य है ? उत्तर है कि प्रायः सभी कार्पण्य हैं ही, अतिरिक्त भी है। मन्दता, कुत्सितता, कदर्यता, क्षुद्रता, व्यसनप्राप्तता और दीनता तो स्पष्ट है ही, उससे अतिरिक्त कृपायोग्यता और कृपापरवशता भी यहाँ अर्थ है। (१) मन्दताका अर्थ मन्दबुद्धि, मूढ़ता। वह स्वयं अर्जुन ही कह रहा है—"धर्मसंमूढ़चेताः'। मन्दबुद्धिरूपो कार्पण्य दोष से ही धर्मसंमूढ़ता हुई। (२) कुत्सित अर्थ भी है। "अहो बत

महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिताः" से अर्जुन ने बुरा काम करने की प्रवृत्ति बताकर कुत्सितभाव सूचित किया था। वह स्वयं कुत्सित हो या न हो, फिर भी अर्जुन की दृष्टि में कुत्सित भाव दीख ही रहा था। (३) कदर्यता तो "अनार्यजुष्टं' शब्द से भगवान ने कहा। (४) क्षुद्रता 'क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं' भगवान के इस शब्द से प्राप्त है। (५) व्यसन प्राप्ति में व्यसन का अर्थ संकट है। 'विषमे समुपस्थितं' से संकट सूचित होता है और संकट तो है ही। इन सबको मारें या नहीं, यही भारी संकट है। 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' से (६) दीनता भी कुछ कुछ प्रगट होने लगी है और हृदयदौर्बल्यं शब्द भी दीनता सूचक है। देवकी के लिये जहाँ कृपण विशेषण है वहाँ दीन अर्थ भी हो सकता है—कृपायोग्य अर्थ भी कर सकतें है (७) कृपां करोतीति कृपणः (कृपयति) कृपापरवश ऐसा सातवाँ अर्थ भी 'तं तथा कृपयाविष्टं,' 'कृपया परयाविष्टः' इत्यादि से स्पष्ट है। (८) आत्मज्ञान-रहित ही कृपण है यह औपनिषद आठवाँ अर्थ है। यह अर्थ भी 'धर्मसंमूढ़चेताः' से ही प्राप्त है। जो आत्मज्ञानसाधन धर्म ही नहीं जानता वह आत्मज्ञानी कैसे हो सकता है?

अर्जुन का कहना है कि इस कार्पण्य दोष से मेरा स्वभाव हत हो गया है। अर्जुन का स्वभाव क्या है? एक क्षात्र स्वभाव है—**न दैन्यं न पलायनम्**। यहाँ क्षत्रिय की वीरता समाप्त हो रही है। **"गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्'**। हाथ से गांडीव धनुष फिसल रहा है। **"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्"** आततायियों को देखकर बिना विचार किये ही मारो, यही मेरा क्षत्रिय स्वभाव था। अब मुझे लग रहा है—**"पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः"** इन आततायियों को मारने से मुझे पाप ही लगेगा। मेरा दूसरा स्वभाव है प्रकाशशीलता-विवेकशीलता। इस समय मेरी बुद्धि काम नहीं कर रही है।

पृच्छामि त्वाम्। अर्जुन ने अपने दोष का वर्णन कर दिया। डाक्टर के पास जाकर बिमारी को बता दी। वैसे गुरु के

पास जाकर अपना दोष बता दो। दोष बताने के बाद जो कुछ पूछना है सो पूछो, क्योंकि शास्त्रों में सामान्यतया कहा है—

नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेनापि पृच्छतः।
जानन्नपि च मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥

बिना पूछे किसी को मत बताओ। अन्याय से पूछने पर भी मत बताओ। जानते हुए भी लोक में अनजाने से आचरण करो। यह केवल धर्मादि के लिये ही नियम है। कोई आदमी रास्ता बदल कर गाँव के बदले जंगल की ओर जा रहा हो तो सही मार्ग बताना ही उचित है। अपृष्ट का भी अजिज्ञासित अर्थ है। यदि कोई जिज्ञासु हैं, पूछना उसको आता नहीं, तो क्या नहीं बोलना चाहिये ? पूछना यह जिज्ञासा प्रकट करने के लिये ही है। न कि पूछना विधि विषय कोई धर्म है। जिज्ञासा के अभाव में बोलने लगते हैं तो श्रोता निरादर करेगा। यह विद्या का अपमान है। ये सारी बातें प्रात्यक्षिक अर्थ का अनुवाद मात्र है। श्रीमद्भागवत में बताया है— **'अपृष्टमपि च ब्रूयुर्गुरवो गुह्यमप्युत'**। दयालु गुरु तो योग्य शिष्य के प्रति बिना पूछे ही बोलते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि शिष्य बिना पूछे ही गुरु से कुछ सुनने की प्रतीक्षा करें। विनय के साथ पूछना ही अच्छा है, इसलिये यहाँ 'पृच्छामि त्वाम्' ऐसा बताया।

धर्मसंमूढ़चेताः। इस विशेषण से लगता है कि गीता का विषय धर्म है। क्योंकि उसी विषय में पूछा जाता है जिस विषय में मूढ़ता या अज्ञान हो। धर्म रक्षण के लिये भगवान का अवतार है इसलिये भी धर्म ही गीता का वक्तव्य विषय होना चाहिये।

धर्म दो प्रकार का है, एक प्रवृत्ति धर्म, दूसरा निवृत्ति धर्म। भाष्यकार भगवान शंकराचार्य ने यही प्रथम बताया भी है। **'द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च'**। व्यास जी ने भी कहा है—**द्वाविमावथ पन्थानौ यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः।**

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तश्च विभावितः'। प्रवृत्ति का अर्थ दिन रात काम में लगे रहना नहीं है, और निवृत्ति का अर्थ भी चुप-चाप कुछ काम किये बिना बैठना नहीं है। कभी-कभी प्रवृत्ति में ही निवृत्ति और निवृत्ति में भी प्रवृत्ति हो जाती है। **'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः'** ऐसा आगे कहेंगे। उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या हम यथास्थान करेंगे। संक्षेप में थोड़ी सी जानकारी यहाँ दी जा सकती है। 'पश्यन् शृण्वन् स्पृशन्जिघ्रन्' के अनुसार सभी कर्म इन्द्रियों से हो रहे हैं। किन्तु ये सभी कर्म आत्मा से कृत नहीं है। 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते' इन्द्रियाँ अपने विषयों में स्थित हैं। 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' सभी कर्म ब्रह्म में ही मायावशात् कल्पित हो रहे हैं। ऐसी भावना हो, 'नैव किंचित्करोमि' मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ, इस प्रकार मालूम हो तो यही कर्म में अकर्म है और अकर्म में कर्मः—कर्तव्य कर्म छोड़ा पर मानसिक संघर्ष रुके नहीं। फलतः अकरण में भी पुण्यपाप स्थित हैं। अस्तु। सामान्यतः प्रवृत्ति का अर्थ है—कर्तृभाव के साथ विहितकर्म करना। निवृत्ति का अर्थ हैं—ज्ञान प्रयुक्त कर्त्तृ भोक्तृभाव का अभाव। या ऐसा कहो—कर्त्ता भोक्तापने को मिटाने वाला ज्ञान ही निवृत्ति धर्म है। यहाँ 'धर्मसंमूढ़चेताः' में कौन सा धर्म कहा गया है? इसका उत्तर है—दोनों धर्म। शंका होगी कि ज्ञान को या ज्ञान प्रयुक्त कर्त्तृत्वादि त्याग को धर्म कहना कहाँ तक संगत है? क्या यह एक खींचातानी मात्र नहीं है? फिर यहाँ ज्ञानरूपी धर्म के बारे में अर्जुन का चित्त मूढ़ हुआ है या युद्धादि कर्तव्यकर्म रूपी धर्म के बारे में? इन सब प्रश्नों का एक ही उत्तर है। गीता की गहनता में इस प्रकार की शंकायें गोते लगाती रह जायेंगी। कोई ही मनुष्य शंकोद्धार कर सकेगा। प्रथम ज्ञान को भी धर्म कहा जा सकता है या नहीं? इसका उत्तर याज्ञवल्क्य के वचन से सुनो। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा है—

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।

धर्म नहीं, परम धर्म है, जो योग द्वारा आत्मदर्शन किया जाता है। संन्यास धर्म प्रसिद्ध है। "ज्ञानं संन्यासलक्षणं" ऐसा शास्त्रवाक्य है। अतः प्रश्न इतना ही है कि प्रकृत में ज्ञान धर्म के बारे प्रश्न है या नहीं। इसका उत्तर हम पूर्व श्लोक में दे चुके हैं। फिर से हम उसे स्पष्ट कर देते हैं। **"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः"** ऐसा महर्षि कणादका सूत्र है। अर्थात् जिससे अभ्युदय हो और मोक्ष हो वह धर्म है। मोक्ष किससे हो ? इसके उत्तर में उत्तरसूत्र वैशेषिक सिद्धान्तानुसार लिखा। जिसमें अंतिम दो शब्द हैं—"तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम्" तत्वज्ञान से निःश्रेयस होता है–मोक्ष होता है। अतएव अभ्युदयसाधन और निःश्रेयससाधन धर्म है इस पूर्व सूत्र के अनुसार तत्वज्ञान की धर्मरूपता महर्षि कणाद को भी अभिमत है। उसमें अभ्युदयसाधन धर्म में अपनी अनास्था अर्जुन ने प्रकट किया—"अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते"। आगे भी अर्जुन कहेगा—"अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्" इससे स्पष्ट है कि अर्जुन इह परलोक सुख साधन धर्म की जिज्ञासा नहीं कर रहा। इह परलोक सुख ही नहीं चाहता तो साधनजिज्ञासा कहाँ से होगी ? अतः निःश्रेयस साधन धर्म के बारे में यह प्रश्न है यह निःसन्दिग्ध है। अर्जुन का प्रश्न यह है कि निःश्रेयस मानव जीवन का परम लक्ष्य है, ऐसा मैंने सुन रखा है। वही परमशान्ति है। उसका साधन क्या है ? युद्ध कर्म उसके अन्तर्गत उसका साधन स्वरूप है या नहीं इस विषय में मुझे मालूम नहीं है। अतः परमधर्म के बारे में मैं मूढचित्त हूँ। औपनिषद कृपणता की व्याख्या इसके अत्यन्त अनुरूप है। अतएव "तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि" इस अग्रिम आक्षेप की उपपत्ति भी है। यदि निःश्रेयस साधन बुद्धि है—ज्ञानरूपी धर्म है तो इस घोर कर्म में मुझे क्यों आप प्रेरित कर रहे हैं ? मुझे तो निःश्रेयस ही चाहिये। इह सुख

या स्वर्ग सुख नहीं। इसलिये यहाँ वस्तुतः निःश्रेयस के साधन धर्म का ही प्रश्न है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। आधुनिक लोग अपने ढंग से तर्क वितर्क भले करें, पर गीता जिस समय लिखी गयी उस समय की पद्धति के अनुसार यहाँ अन्य अर्थ नहीं हो सकता। अतः यह अर्थ खींच तानी नहीं, अन्य अर्थ जो लोग करते हैं वही खींचातानी है। अतएव आद्यशंकराचार्यकृत व्याख्या ही यहाँ सुसमीचीन है। उसका कुछ अधिक विश्लेषण हम "अशोच्यानन्व-शोचस्त्वं" श्लोक में करेंगे।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे। अर्जुन के सामने तीन मार्ग उपस्थित हैं। एक युद्ध करके राज्यादि प्राप्त करना। दूसरा युद्ध न करके—"गुरूनहत्वा" भैक्ष भोजन करना अर्थात् संन्यासी होना और तीसरा है युद्ध किये बिना युद्ध में मरना—"धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः"। इन तीन में श्रेय कौन ? प्रेय कौन ? और अश्रेय कौन यह जिज्ञासा उदय हुई है।

कठोपनिषद् में बताया है—**श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः** मनुष्य के पास श्रेय और प्रेय दोनों ही आते हैं, पशु आदि के पास नहीं। **"तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः"** धीर पुरुष उन दोनों को प्राप्त करके विवेक करता है। **"श्रेयो धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते"** विवेकी पुरुष प्रेय को छोड़कर श्रेय को अपनाता है। **"प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते"** अविवेकी मन्दबुद्धि योगक्षेम के कारण श्रेय को छोड़कर प्रेय का ही वरण करता है। पूरा मंत्र इस प्रकार है—

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥"

किसी फलवाले की दुकान में आप पहुँचे। वहाँ मीठी मोसंबी और खट्टी मोसंबी दोनों रखी हों, तो आप दाम ज्यादा होने पर भी विवेक करके मीठी मोसंबी लेंगे। हाँ, कोई अम्लरसी होगा, वह

खट्टी मोसंबी खरीदेगा। इस बात को स्पष्ट करने के लिये श्रुति ने नचिकेताकी कथा से उपदेश प्रारम्भ किया। नचिकेताने श्रेय के बारे में प्रश्न किया—**"येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके एतद्विद्याम्"** मरणोत्तर कोई आत्मतत्व रहता है, ऐसे कुछ लोग मानते है और कुछ लोगों का कहना है कि आत्मतत्व नहीं रहता है। इस तत्व को मैं जानना चाहता हूँ। यमराज ने प्रेय को कहकर प्रलोभन देते हुए श्रेय से हटाना चाहा था, श्रेय-जिज्ञासा दृढ़ है या अदृढ़ है यह जानना चाहा—"पुत्रपौत्रान् वृणीष्व" इत्यादि से। पुत्र पौत्र मुझसे मांगले, धन, दौलत, दार, आगार मुझसे मांग ले, हाथी, घोड़ा, रथ, विमान आदि मुझसे मांग ले इस सन्दिग्धफल आत्मतत्वज्ञान की बात छोड़ो। इत्यादि। परन्तु विवेकी नचिकेताने प्रेय को ठुकराया और केवल श्रेय का वरण किया—**"तवैव वाहास्तव नृत्यगीते" "नान्यं तस्मान्नाचिकेता वृणीते"**।

यहाँ अर्जुन ने भी प्रत्यक्ष प्रेय को ठुकराया—"न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च" "अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते"—हे कृष्ण मुझे विजय, राज्य, सुखादि प्रेय की आकांक्षा नहीं है। तीनों लोकों का सुख भी प्राप्त हो रहा हो तो भी मुझे नहीं चाहिये। शंका हो गयी इससे अदृष्ट द्वारा श्रेय भी मिलता हो तो ? अर्जुन ने कहा—"न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे"—स्वजन को युद्ध में मार कर मैं कुछ भी श्रेय नहीं देख रहा हूँ। पर न दीख पड़ना अलग बात है, रहना अलग बात है। हो सकता है—अदृश्य रूप से स्वजनवध में भी श्रेय छिपा हुआ हो। इस कारण से अर्जुन को पुनः सन्देह हुआ। अतएव धर्मसंमूढ़चेता होकर पूछा—"पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढ़चेताः"। गीता का मूल कठोपनिषद माना गया है।

"अपाम सोममृता अभूम" ऐसा श्रुति वचन है। उसका अर्थ है कि हमने सोमयाग किया–सोमपान किया। फलतः हम अमृत हो गये। अब मृत्युरूप संसार सागर में पड़ने का कोई काम नहीं रहा, परन्तु दूसरी जगह बताया है—"तस्मिन् यावत्संपात-मुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतम्" स्वर्गलोक में पुण्यक्षय पर्यन्त रहकर उसी रास्ते से वापिस आते हैं जहाँ से गये हो। दोनों ही वैदिक वचन हैं। इससे संशय पैदा हो जाता है। अतएव मीमांसा से अर्थ निर्णय किया जाता है। अमृत शब्द का आपेक्षिक अमृत अर्थ किया ज़ाता है। अर्जुन कहता है—इसी कारण वेदार्थ निर्णय करने में काफी विलम्ब होता है। समर्थ गुरु के विना अर्थ का निर्णय करना असम्भव-सा हो जाता है। मुझे अर्थवादादिरूप अनिश्चितार्थ नहीं सुनना है किन्तु असन्दिग्ध-निश्चित अर्थ जानना है। इसलिये अर्जुन कहता है—"निश्चितं ब्रूहि"। अर्थात् वेदों के समान मीमांसा सापेक्ष होकर आप मुझे नहीं बताईये। जो भी हो अर्थवाद रहित असन्दिग्धार्थक होकर बताईये।

इस विषय में फिर शंका हो जाती है, मीमांसा निरपेक्ष होकर कुछ बोलना कठिन है। सबकी बुद्धि समान नहीं होती। सुनते ही सबको एकाएक निश्चय हो जाय ऐसा नहीं होता। क्यों कि तत्व-ज्ञान का विषय ही ऐसा है। "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" वहाँ तक वाणी की पहुँच नहीं है। अतः लक्षणादि से ही कहना पड़ेगा। वहाँ पर फिर मीमांसा की आवश्यकता पड़ेगी। इस पर अर्जुन का कहना है कि सारी दुनिया की बात छोड़िये। कम-से-कम मेरे लिए तो संशय रहित हो। आपको मालूम ही है कि मैं कहाँ तक मीमांसा करना जानता हूँ, उतनी योग्यता के अनुरूप आप बतायेंगे तो फिर बाद के लोग गुरुमुख से मीमांसा पूर्वक समझ लेंगे, इसी आशय से "ब्रूहि तन्मे" कहा। मेरे लिए निश्चित अर्थ बताईये। अर्थात् मुझे निश्चित बुद्धि जिससे हो वैसा बताईये।

यहाँ पर "निश्चितं ब्रूहि तन्मे" जो बताया इसी आधार पर गीता का अर्थ लगाने में अर्जुन के प्रश्नों को समझने का भी बड़ा महत्व है। "ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः" इस प्रकार तृतीयाध्याय के आरम्भ में अर्जुन ने कहा है। उससे निश्चित होता है कि द्वितीयाध्याय में बुद्धि का ज्यायस्त्व (महत्त्व) बताया है। इसी आधार पर भाष्यकार भगवान शंकराचार्य ने ज्ञान कर्म समुच्चयवाद का निराकरण भी किया है।

शिष्यस्तेऽहम्। अर्जुन ने भक्तस्तेऽहं नहीं कहा, मित्रम् तेऽहं ऐसा भी नहीं कहा। जिन दोनों बातों को आगे भगवान स्वयमेव कहेंगे—भक्तोऽसि मे सखा चेति"। वहाँ भगवान ने रहस्य बताने में इन दो को ही हेतु बताया।

स सवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः सनातनः।

भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥

रहस्य बताने में जब ये ही दो हेतु हैं तो उन्हीं को यहाँ पर क्यों नहीं कहा? यदि यह कहा जाय कि भक्त या सखा बोलने में अभिमान होगा तो ऐसी कोई बात नहीं है। प्राचीन समय में बिना अभिमान ही इन शब्दों का प्रयोग करते थे। वैसे पुराणो में उदाहरण भरे हैं। इससे यही सूचित होता है कि अर्जुन यहाँ पूर्व में अविद्यमान किंतु परम आवश्यक एक नया भाव प्रस्तुत कर रहा है। वह है शिष्यभाव। श्रुतियों में कहा है—"**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्**" श्रेय के ज्ञान के लिये गुरु की ही शरण में जाना चाहिये। यहाँ एवकारका प्रयोग है। गुरु के ही पास जाना चाहिये—गुरु के पास जाना ही चाहिये। ऐसे एवकार से अर्थ निकलते हैं। शास्त्रों में यह निश्चित सिद्धान्त माना गया है कि मित्रभाव या सखाभाव आदि से ब्रह्मविद्या ग्रहण नहीं होता "**आचार्यवान् पुरुषो वेद**" ऐसा श्रुति वचन है। आज के लोग यही समझते है कि पुस्तक पढ लेने से ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। और भी आगे मासिक-

साप्ताहिक पत्र पत्रिकाओं को पढ़ने से तत्वज्ञान हो जायेगा परंतु कहा है—

पुस्तकप्रत्ययाधीतं नाधीतं गुरुसंनिधौ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥

पुस्तकप्रत्ययाधीत तथा गुरुमुखाधीत में यही फरक है—एक हंस होता है, दूसरा वक होता है। देखने में दोनों ही बराबर होते हैं। किन्तु फरक नीरक्षीर विवेक काल में मालूम होता है। **"नीरक्षीरविवेके तु हंसो हंसो बको बकः"**। प्रश्न होगा—तो क्या मासिक पत्रिका आदि को भी गुरुमुख से सुनना चाहिये ? नहीं। बेद और उपनिषदों का अध्ययन परम्पराधिगतविद्य गुरु के द्वारा ही करना चाहिये और गीता आदि आर्षग्रन्थों को गुरुमुख से सुनना चाहिये। हाँ, ब्रह्मविद्या तो गुरुमुख से ही अवगन्तव्य है, क्यों ? इसलिये कि श्रवणादृष्ट प्रतिबन्धनाशक है। जन्म जन्मान्तर से संचित अनेक विध दुरदृष्ट हमारे अंदर विद्यमान हैं। ये ही ब्रह्मसाक्षात्कार में प्रतिबन्धक हैं। उनके नाश के लिये श्रवण विधिपूर्वक करो। कई बार तो श्रवण बारंबार करना पड़ता है, कहीं एक बार से भी हो जाता है। श्रुत्यध्ययन गुरुमुख से करने के बाद फिर मननात्मक ग्रन्थों को आपकी बुद्धि प्रतिभा तेज हो तो जैसे भी पढ़ लें चाहे वह मासिक पत्रिका हो, चाहे विचार सागर, वृत्ति प्रभाकर हो, चाहे अद्वैतसिद्धि या चित्सुखी हो। परंतु सिद्धांत तो प्रथम श्रुतिवाक्य द्वारा गुरुमुख से ही ज्ञातव्य है।

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः"।

ऐसा बताया है। श्रुतिवाक्यों से ब्रह्मतत्वका श्रवण करो। श्रवण तभी होगा जब कोई बोलेगा। अतः श्रुत्याद्यर्थका अधिगमन गुरुमुख से करो, इतना अर्थ आता है। मननादि में आप स्वतंत्र हैं। श्रुत्यनुकूल तर्क का ही आश्रयण किया जाता है। फिर भी उसमें भी गुरु सहायक हो, जाग्य तो सोने में सुगंध है। यही बात निदिध्यासन

के बारे में भी हैं। अर्जुन धर्मसंमूढ़चेता है। पृच्छामि यह धर्म की जिज्ञासा है। अत एव श्रौतार्थ की ही यह जिज्ञासा है।

"धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः"

धर्म की जिज्ञासा रखने वालों के लिये परम प्रमाण श्रुति है। ऐसा मनु वचन है। फिर अ-परम प्रमाण कौन? स्मृति और शिष्टाचारादि। क्यों वे अ-परम हैं? इस लिये कि उनसे मूल श्रुतिका अनुमान किया जाता है। फलतः उनकी प्रमाणता श्रुति पर आधारित है। अत एव भगवान यहाँ श्रुति के अर्थ का ही वर्णन करेंगे। इसीलिये यह गीतोपनिषत् है।

शाधि माम्। जो शिष्य भाव से समीप में आता है, उसको तत्वज्ञानोपदेश से शिष्य बनाकर अनुगृहीत करना चाहिये। इस बात को सूचित करने के लिये शाधिका प्रयोग है। प्रार्थना अर्थ में प्रत्यय है। फिर भी कर्तव्यता भी सूचित होती ही है। शिष्य कौन? गुरु कौन? शासन कैसा?

वाङ्मनःकायवसुभिर्गुरुशुश्रूषणे रतः।
एतादृशगुणोपेतः शिष्यो भवति नारद॥

वाणी से, मन से और धन से जो गुरुशुश्रूषा में तत्पर है ऐसे गुणों से युक्त व्यक्ति शिष्य होता है। क्या एक दिन चार दिन की शुश्रूषण और शुश्रूषणीयता से? नहीं,

"गुरुता शिष्यता वापि तयोर्वत्सरवासतः"

गुरुत्व या शिष्यत्व पक्का तभी माना जायेगा यदि कम से कम एक साल साथ में रहें। यह एक उत्सर्ग है। योग्यता विशेष होने पर एकाक्षरप्रदान से भी गुरुशिष्य भाव होता है। शाधि से शिष्यशासन करना चाहिये। एसी अवश्यकर्त्तव्यता सूचित होती है, ऐसा बताया। वायुपुराणादि के वचन इसके समर्थक भी हैं।

पुन्नाम्नो नरकात् त्राति पुत्रस्तेनेह गीयते।
शेषपापहरः शिष्य इतीयं वैदिकी श्रुतिः॥

पुत् नरक को कहते हैं। पुनातीनि पुत्। नरक का काम है पापों का भोग कराकर पवित्र करना। परंतु अति भयंकर होने से किसी को वह पसंद नहीं है। उस नरक से जो त्राण करे वह पुत्र है। इस लिये पुत्र को महाप्रयोजन बताया। वह सत्कर्मों के द्वारा पिता का और वंश का नाम उज्ज्वल करता है। श्राद्धादि से पितरों का उद्धार करता है। परंतु नरकपापहारी पुत्र भले हो, फिर भी अन्य भी तो बहुत सारे पाप हैं, वर्तमान में जो ताप हो रहा है वह भी तो पापफल है। फिर नरकोत्तर जो जन्म मिलेगा उसमें जो दुःख होगा वह भी तो पापफल है। इन सबका हरण कौन करेगा? शिष्य। शेषपापहरः शिष्यः। शेषं हरति इस अर्थ में शिष धातु से शिष्य हुआ।

"तस्मात् पुत्रश्च शिष्यश्च विधातव्यो विपश्चिता"

इसलिये समझदार को चाहिये कि वह पुत्र को भी तैयार करे और शिष्य को भी तैयार करे। इस विषय में और भी बात ज्ञातव्य है :—

ऋणं देवर्षिभूतानां मनुष्याणां विशेषतः।
पितॄणां च द्विजश्रेष्ठ सर्ववर्णेषु चैकतः॥

पाँच प्रकार का ऋण है। देवऋण, ऋषिऋण, भूतऋण, मनुष्य ऋण और पितृऋण। श्रुतियों में वैसे तो तीन ही ऋण बताये हैं, देवऋण, पितृऋण और ऋषिऋण। किन्तु पुराणों में उसकी संख्या पाँच बतायी है। इनको चुकाना जीवन का कर्त्तव्य है।

(१) देवता के हम ऋणी हैं। देवता ही वृष्टि द्वारा अन्न उत्पन्न करते हैं। अन्न से प्राणियों का जन्म होता है—"अन्नाद्भवन्ति भूतानि"। इस प्रकार समस्त प्राणियों के साक्षात् परम्परया कारण पालक रक्षक देवता के हम ऋणी हैं। तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते

स्तेन एव सः"—देवताओं का दिया हुआ अन्न देवताओं को यज्ञादि के द्वारा निवेदन किये बिना खाना महापाप है। यज्ञ से देवऋण से मुक्ति होती है। इससे भी आगे समस्त इन्द्रियादि के देवता हैं। श्रोत्र का दिग्देवता, नेत्र का सूर्य देवता इत्यादि। उनकी कृपा से हम सुनते हैं, देखते हैं। अतः हम शरीर इन्द्रिय एवं मन से देवताओं का यथासंभव पूजन करें यह देवऋण मोचन का साधन है।

(२) भूतऋण। समस्त प्राणियों के प्रति हम ऋणी हैं। गाय दूध देती है। भैंस, बकरी आदि भी दूध देती हैं। बैल खेती के काम में सहायता करते हैं। कुत्ता घर की रक्षा करता है। किसी ने प्रश्न किया कि मुर्गी, सुअर आदि जानवरों का क्या प्रयोजन है? क्या मांसाहारियों के लिये ईश्वर ने इनको बनाया? उत्तर है—नहीं। तीन भंगी होते हैं। आँगन का भंगी, ग्राम का भंगी और नगर का भंगी। आँगन का भंगी मुर्गी है। जो कीडों को खतम करते हैं। ग्राम का भंगी सूअर तो प्रसिद्ध हैं ही। नगर का भंगी दृष्टांत स्पष्ट है। वस्तुतः सभी प्राणी परस्पर उपकारी हैं। कौए, कबूतर आदि क्षयरोगाणु-नाशक हैं। सर्पादि वायुस्थित विषनाशकर हैं इत्यादि वैज्ञानिक चिन्तन अतिविस्तृत है। अतएव भूतों के हम ऋणी हैं। उनका संरक्षण करना चाहिये। भूतवलि प्रसिद्ध हैं।

(३) मनुष्य ऋण। मनुष्य परस्पर सहयोग से ही आगे बढ़ सकते हैं–बढ़े हैं। हम अकेले नहीं रह सकते, न जी सकते। रास्ते में कोई दुर्घटना हुई तो सहायक मनुष्य ही होगा। साथ में कुत्ता, बंदर आदि हो तो भी वे कुछ काम नहीं आ सकते। वस्त्र हमने पहना है तो हमने बनाया नहीं, जुलाहे ने बनाया। किन्तु जुलाहे ने कपास नहीं बनाया। कपास किसान ने बनाया। किन्तु किसान ने खेती के उपयोगी हल, कुदाल नहीं बनाया, उसे बढ़ई, लोहार आदि ने बनाया। लोहार ने लोहा नहीं बनाया, वह तो भूगर्भ शास्त्रियों और मजदूरों ने बनाया। किन्तु उनका भोजन वस्त्र की समस्या तो

उन्हीं कृषकों ने और जुलाहों ने हल किया। यह मानवचक्र है। अतः सभी परस्पर एक दूसरे के ऋणी हैं। उस ऋण से मुक्त होने के लिये मानव सेवा करो। अतिथि सेवा शास्त्रीय है।

(४) पितृऋण। उत्तरोत्तर ऋणोत्कर्ष है। देवताओं का परोक्ष ऋण है, क्योंकि देवता स्वयं परोक्ष हैं। फिर प्राणी मात्र, तत्रापि मनुष्य, उनमें पिता आदि अभिभावक हैं। हम अपने माता-पिता, दादा-परदादा आदि के ऋणी हैं। जिन्होंने हमें मानव शरीर प्रदान किया। यदि हम पशु बन गये होते तो? शास्त्र श्रवणादि नहीं कर पाते। अति दुर्लभ मानव शरीर देने वालों का महत्व निश्चित है। पिता के ऋण को चुकाने के लिये तो जब तक वे जीवित हैं तब तक उनकी सेवा करें। मरणोत्तर श्राद्ध तर्पणादि करें। सन्तानोत्पादन भी पितृऋण विमोचन का एक अंग है। माता पितादि ने हमें मानव शरीर दिया तो हम भी किसी संसार पतित जीवात्मा को मानव शरीर दें। एतदर्थ ही विवाह विधि है।

(५) ऋषिऋण। यह सर्वोपरि ऋण है। हमें विद्या प्रदान करने वाले ऋषि-मुनि हैं। पैदा हुए बालकों को जंगल में छोड़ा जाय, जैसा तैसा जीवन रक्षण किया जाय, विद्या न सिखावे तो वे केवल पशु समान व्यवहार करेंगे, रहेंगे, जीयेंगे। आजतक जो वैज्ञानिक उन्नति हुई वह भी एक दिन में नहीं हुई है। अतः उन सबके हम ऋणी हैं। परंतु प्रश्न यह है कि यदि पशु जैसा ही जीवन रहता तो भी नुकसान क्या था। आखिर ये सभी उन्नति सुखार्थ ही तो है। सुख तो पशुपक्षी आदि को भी सुलभ है। मनुष्य जीवन का चरम लक्ष्य है अनन्त अखंड आनंदैकरस परब्रह्म परमात्मस्वरूप की प्राप्ति। वह नहीं हुई तो ये सबके सब व्यर्थ हैं। उस ब्रह्म विद्या को देने वाला सबसे बड़ा है। अतएव मनु ने कहा—

"उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान् ब्रह्मदः पिता"

यहाँ ब्रह्म का केवल वेद ही प्रकरणात् अर्थ है। वेद पढ़ाने वाला भी

यदि उत्पादक पिता से बड़ा है तो साक्षात् परब्रह्म तत्व बतलाने वाले की बात ही क्या ? इस ऋषि ऋण से मुक्ति पाने का उपाय है—प्राप्त विद्या का सदुपयोग तथा गुरु सेवा के साथ ही प्राप्त विद्या का सत्पात्र में प्रदान। अतएव—'तस्मात् पुत्रश्च शिष्यश्च विधातव्यो विपश्चिता'' इस प्रकार विधि आयी। योग्य शिष्य के आने पर अवश्यमेव उपदेश करना चाहिये। इस आशय से 'शिष्यस्तेऽहं' कहने से ही अर्थात् उपदेश सिद्ध होने पर भी 'शाधि' यह शब्द पृथक् कहा।

त्वां प्रपन्नम्। हम कह आये थे कि—'गुरुता शिष्यता वापि तयोर्वत्सरवासतः' एक बरस तक साथ में रहे या पढ़े तो ही वास्तविक गुरुत्व और शिष्यत्व होता है। एक साल तक **'प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'** में बताई हुई सेवा करनी चाहिये। तभी ब्रह्म-विद्या का उपदेश किया जाता है। बल्कि पहले जमाने में बारह वर्ष का हिसाब था। उससे भी पहले शतवर्ष का हिसाब था। छान्दोग्य में कथा आती है—इंद्र ने प्रजापति के पास जाकर एक सौ एक वर्ष ब्रह्मचारी के रूप में सेवा की—**'एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास। तस्मै होवाच'**। एक सौ एक वर्ष जब इन्द्र ब्रह्मचारी होकर रहा तब प्रजापति ने ब्रह्मविद्या का पूर्ण उपदेश किया। परन्तु यह सबके लिये संभव नहीं। अतः उसे बारह वर्ष कर दिया। यह भी सत्यादि युग में ही संभव है। अतः उसे भी घटाकर बारह महिने किया। परंतु इससे भी कम तब किया जा सकता है जब आपत् धर्म हो। 'इमरजन्सी' ही आपत् धर्म है। उसमें तो केवल शरणागति मात्र आवश्यक है। अर्जुन के लिये यह आपतकाल था ही। अत एव "त्वां प्रपन्नं" कहा। प्रपन्न का अर्थ है–शरणागत। आपतकाल में केवल शरणागति ही पर्याप्त है।

नहि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्
यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं
राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

[हे भगवन् ! इस पृथिवी पर निष्कण्टक समृद्ध राज्य प्राप्त हो जाऊँ और देवताओं का भी आधिपत्य प्राप्त हो जाऊँ, पर इन्द्रियों के शोषक मेरे इस शोक को दूर करे ऐसा कोई उपाय मैं नहीं देखता ॥ ८ ॥]

अर्जुन ने भगवान् की शरणागति स्वीकार ली। अर्जुन बता रहा था, हे भगवन् ! मुझमें कार्पण्य दोष आ गया है। मैं धर्म के बारे में मूढ़चित्त हो चुका हूँ। मुझे श्रेय के विषय में कुछ पता नहीं चल रहा है, इसलिये आपसे पूछ रहा हूँ। मैं आपका शिष्य हूँ, शरणागत हूँ। यहाँ श्रेय का अर्थ क्या है ? बहुत से लोग श्रेयस्कर अर्थ करते हैं—जीवन कल्याणकारी। बहुत से लोग प्रशस्ततर अर्थ करते हैं। युद्ध करना प्रशस्ततर है या युद्ध छोड़ना प्रशस्ततर है। परंतु इन सबका तात्पर्यार्थ तो निःश्रेयसकारी करना ही पड़ेगा। क्योंकि आगे पीछे के प्रसंग से लौकिक राज्यादि सुख या स्वर्गादि सुख को प्रदान करने वाला श्रेय है, ऐसा अर्थ नहीं ही निकलता। अत एव यहाँ कठोपनिषद में बताया हुआ 'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः' वाला श्रेय ही अर्थ है। आप प्रश्न करेंगे कि प्रसिद्ध अर्थ छोड़कर इतनी भारी छलाँग मारकर उपनिषदुक्त श्रेय पर्यन्त कैसे पहुँचा जा सकता है ? उत्तर यही है कि गीता में कठोपनिषद के बहुत सारे प्रसंग आते हैं। कोई-कोई मंत्र एक दो शब्दों का हेर-फेर करके ज्यों का त्यों रखा गया है। अत एव कठोपनिषत् अति समीप

होने से कोई छलांग मारने की जरूरत नहीं हैं। यह कहो कि काठक मन्त्र श्रीकृष्ण प्रोक्त है अर्जुनोक्त तो नहीं है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। निर्मल हृदय अर्जुनादि का प्रश्न उत्तर के अनुरूप ही होता रहा है और आधुनिक ढंग से विचार करो तो लेखक वेद व्यासजी के दिमाग में कठोपनिषद भ्रमण करती ही रही है : अतः अर्जुन ने शब्दान्तर भी कहा हो तो भी उपनिषद के शब्दों में ढालकर ही वेदव्यासजी ने उसे लिखा है। अतः यहाँ श्रेय का अर्थ 'अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयः' में बताया हुआ प्रेयः प्रतियोगी श्रेय ही है, यह निश्चित होता है। इसमें दृढ़तर प्रमाणान्तर यह प्रस्तुत श्लोक भी है।

'यच्छ्रेयः स्यात्' प्रश्न में पुनः वही पुनरावृत्ति न हो जाय कि इससे भूलोक या स्वर्गलोक मिलेगा यही कल्याण है—श्रेय है। एतदर्थ उन दोनों का पुनः निषेध किया जा रहा है। अर्जुन का कहना है कि विजय प्राप्त होगी, यश प्राप्त होगा, राज्य प्राप्त होगा, आदि बातों को छोड़कर केवल आत्मकल्याण की बात करें। **'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः'**—हम प्रजा से क्या करेंगे। जिन हमारे लिये आत्मा ही यह लोक है। **'न कर्मणा न प्रजया धनेन'**—कर्म प्रजा और धनादि कोई कल्याण रूप नहीं है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद् यत् शोकम्। जो मेरे शोक को मिटावे ऐसा कोई उपाय मैं नहीं देख रहा हूँ। कौन-सा शोक? भीष्मादि का शोक या संसार शोक? भीष्मादि तो अभी जीवित हैं। उनको लेकर शोक कैसा? शोक तो वियोग में होता है। संसार शोक की बात हो तो वह आज ही खड़ा क्यों हो गया? कल भी परसों भी वह शोक था। वह तो अनादिकाल प्रवृत्त है। उत्तर है- दोनों ही। भीष्मादि का अनुपद भाविमरण, वह भी अपने हाथ से अर्जुन को प्रत्यक्ष सा दीख रहा है। जब एक जगह भीषण शोक

होता है तो वह वहीं सीमित नहीं रहता। पूरे संसार में व्याप्त होता है तो पूरा संसार ही शोकमय हो जाता है। रामजी सीता वियोग में अपनी अन्तर्व्यथा को बोलने लगे—

हा हा देवि स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरलज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि॥

हा सीते! हे देवि! मेरा हृदय टूट रहा है, शरीर शिथिल हो रहा है, सारा जगत् शून्य हो रहा है, अन्दर निरन्तर ज्वालायें जल रही हैं, मैं जला जा रहा हूँ। मैं विधुर-ज्ञानशून्य हो रहा हूं, घोर तम में पड़ रहा हूँ। मेरी अन्तरात्मा उस अन्धेरे में डूब रही है। चारों ओर से मोह मुझे घेर रहा है। मैं मन्द भागी अब क्या करूँ? यहां पर प्रथम सीतावियोग का दुःख हो रहा है। उसका परिणाम है पूरा संसार शून्य सा होना अर्थात् संसार दुःखमय दीखना। यही संसार-दुःख है। यह कहा जाय कि वियोग समाप्त होने पर संसार सुखमय भी तो होगा। नहीं। कोई न कोई दुःख तो हमेशा बना ही रहता है। "द्वितीयाद्वै भयं भवति" जब तक द्वितीय रहेगा तब तक भय रूप दुःखका होना अनिवार्य है। द्वितीय में मोह भय आदि होते हैं। उससे शोक भी होता है। तत्ववेत्ता अद्वैत भाव में रहता है तो क्या सारे संसार का ध्वंस करेगा? कभी नहीं। द्वैत भावना से मोह और शोक है। द्वैत में सत्यता का दर्शन जब तक रहेगा तब तक मोहादि निवृत्ति अशक्य ही नहीं असम्भव है। द्वैत में मिथ्यात्व दर्शन होना ही अद्वैत भाव है। वहाँ फिर शोकादि का अवसर नहीं रहता। यही मोहनिवृत्ति प्रयुक्त शोकनिवृत्ति गीता श्रवणोत्तर अर्जुन की हुई।

उच्छोषणमिन्द्रियाणाम्। यह शोक का विशेषण है। इन्द्रियों का यह उच्छोषक है। इन्द्रियों को सुखाने वाला है। 'शोषणं' में एक

'उत्' उपसर्ग जोड़ा है। उत् का अर्थ है ऊर्ध्व-ऊपर। इन्द्रियों की गति ऊर्ध्व की ओर होनी चाहिए। किन्तु ऊर्ध्व जाते जाते सूख जाय तो उसे उच्छोषण कहते हैं। उसका कारण शोक भी उच्छोषण है। इसी बात को हम कुछ विस्तार से देखें।

हमारे पास कुछ ऐसे साधन हैं जो भगवत्प्रदत्त स्वतः सिद्ध हैं। वे हैं–"मनःषष्ठानीन्द्रियाणि" – मन सहित पांच ज्ञानेन्द्रियाँ। इनका सहायक शरीर है, वह भी साधन है। किन्तु ऊर्ध्वगमन में साक्षात साधन ये छः इन्द्रियाँ ही हैं। शरीर ठीक है तो इन्द्रियों से जप तप पूजा ध्यान आदि सभी साधन हो सकते हैं। लौकिक दृष्टि से देखो तो यदि आंखें प्रसन्न हैं तो प्रकृति की रमणीयता में आनन्द आयेगा। हिमालय की विशाल वनसंपदा को देखने पर मन भरता नहीं। परन्तु वह आनन्द क्षणिक होता है। हिमालय में रहने लगते हैं तो वह आनन्द गायब होने लगता है। तत्वज्ञानी उसी जंगल को देखते हैं, उनकी आँखें भी प्रसन्न होती हैं। उनको हिमालय की रमणीयता में परमेश्वर का दर्शन होता है। हिमालय की ओर देखते हुए संतो को नये ही आनन्द का अनुभव होता है। चट्टानों पर बैठे हैं। गंगा कल-कल करती हुई बहती जा रही है। नील गगन दिखाई दे रहा है। चारों ओर द्रुमलता आदि हरे भरे शोभायमान हो रहे हैं। आसमान में ब्रह्म की व्यापकता, गङ्गा में ब्रह्म की पवित्रता, वन में ब्रह्म की वननीयता = भजनीयता "तद्ध-तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं" प्रकट हो रही है। द्रुमलतादि में ब्रह्म का ही सौंदर्य नजर आ रहा है। यही इन्द्रियों का उत्पोषण है। कोई गृहनिष्कासित आतुर कामी लोभी वहाँ पहुँच जाता है तो चारों ओर शून्यता नजर आती है, भय व्याप्त रहता है। घबराहट हो रही है। नयन जिसको ढूंढ़ रहे हैं, उसके अभाव में घोर निराशा से अश्रुपात हो रहा है, यही इन्द्रियों का उच्छोषण है। तब सारा ही रूपात्मक जगत शोकमय होता है। वन देश है। पक्षी

चहक रहे हैं, भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। कोयल कूज रही हैं। लौकिक पुरुष, जिसकी इन्द्रियाँ प्रसन्न हैं, उस आवाज में माधुर्य का अनुभव करता है, यह उसमें तल्लीन होता है। परन्तु सन्त पुरुष आगे बढ़कर उसी मधुरता में परमानन्दब्रह्म का अनुभव कर रहे हैं। समाधिमग्न हो जाते हैं। वीणा बज रही है। सप्तस्वर मूर्च्छना हो रही है। लौकिक पुरुष आनन्द ले रहे हैं, सन्त उसी स्वरतान में ब्रह्मावलोकन कर रहे हैं। गङ्गाजी के कल-कल स्वर में सामान्य पुरुष स्वरमाधुरी का अनुभव करता है। सन्त लोग प्रणवध्वनि सुन रहे हैं—"शृण्वन्ति नादं प्रणवध्वनीनां" और उस नाद से ब्रह्म का अनुभव कर रहे हैं। यह इन्द्रियों का उत्पोषण है परन्तु विरही पुरुष को तो वही आवाज ऐसी लगेगी कि मानो ये आवाज मेरे हृदय को चीर रही हैं। यहाँ उच्छोषण है। उस समय समस्त शब्द प्रपञ्च केवल वीणा आदि नहीं, सबके सब शोकमय होते हैं। गङ्गा के प्रपात से निकले कणों को लेकर पवन मन्द-मन्द चलता है तब सामान्य पुरुष आनन्द विभोर होता है। शीतल मारुत-मलय-मारुत के स्पर्श से आनन्द मग्न हुआ प्राणी निद्रा की गोद में तल्लीन हो जाता है। सन्त महापुरुष तो प्राथमिक घर्मनिवृत्ति से चित्त की स्थिरता होने से समाधिमग्न होकर ब्रह्मदर्शन करने लगते हैं। यह स्पर्शेन्द्रिय का उत्पोषण है परन्तु विरही शोकातुर कहता है—"विसृजति हिमगर्भैरग्निमिन्दुर्मयूखैस्त्वमपि कुसुमबाणान् वज्र-सारीकरोषि" शीतकिरण भी चन्द्रमा मेरे लिए विपरीत हो गया। वह तो मेरे प्रति अग्नि बरसा रहा है। कुसुम बाण कामदेव के बाण तो कुसुम ही ठहरे। पर मेरे लिए तो वज्र से भी कठोरतर हो गये, मानो कि ये वज्र से नहीं, वज्रसार से बने हों। यही इन्द्रियों का उच्छोषण है। उस समय स्पर्शात्मक सकल जगत शोकमय हो जाता है। इसी प्रकार मिष्टान्नपानादि हो रहा है तो सामान्य पुरुष को उसमें रसना जनित रस उत्पन्न होता है। किन्तु योगीजन उस

रसमें भी "रसो वै सः" इस श्रुति में प्रतिपादित परम रस का अनुभव करते हैं। "अन्नं ब्रह्म" ऐसी ब्रह्मभावना आने लगती है। परन्तु एक जगह हमने देखा, एक आदमी हापुस आम नहीं खा रहा था। मैंने पूछा, आप हापुस क्यों नहीं खाते हैं? वह बोला—मेरा लड़का विदेश गया है। उसको हापुस आम बहुत पसन्द था। विदेश जाने मात्र से उसकी यह दशा है तो जिनका पुत्र वियोग ही हो गया हो उनकी क्या स्थिति होगी? यह रसनेन्द्रियका उच्छोषण है। केवल हापुस मात्र नहीं, सारा रस प्रपञ्च उसको दुःखमय दीखने लगता है। घ्राणेन्द्रिय भी यदि प्रसन्न हैं तो विषयी लौकिक मनुष्य को स्रक्-चन्दन आदि सुगन्ध में बड़ी मस्ती आती है। परन्तु सन्त पुरुष आगे बढ़ जाते हैं। "पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च" उसी गन्ध में दिव्य परमात्मा का अवलोकन करने लगते हैं। यही घ्राणेन्द्रियों का उत्पोषण है। परन्तु शोकाकुल पुरुष के लिए सभी गन्ध भी शोकमय हो जाता है। यही इन्द्रियों का उच्छोषण है।

षष्ठ इन्द्रिय मन है। एक साधारण पुरुष है। वह मनोराज्य में मस्त हो रहा है। आशा के मोदक खा रहा है। शेखचिल्ली के समान मनोरथ जगत में विचरण कर सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है। परन्तु सन्त महापुरुष केवल ब्रह्मचिंतन परायण होते हैं। इंद्रिय जनित मानसवृत्ति में भी ब्रह्म का ही दर्शन कर रहे हैं। "प्रतिबोधविदितं" इस श्रुति के अनुसार प्रत्येक मानस प्रत्यय में वे ब्रह्म प्रकाश का अनुभव कर रहे हैं। यह मन का उत्पोषण है, परंतु ताप संतप्त पुरुष बार बार विरह चिंतन से बेहाल होता रहता है, रोता विलखता है। यही मन बंध तथा मोक्ष दोनों का ही कारण है। ब्रह्मदर्शन से मन का उत्पोषण होता है तो मोक्षदायी होता है और शोकमय होने से उच्छोषण होता है तो बंधनकारी होता है।

योग में षट् साधनायें बतायी हैं। शब्द साधना, रूप साधना, रस साधना, गंध साधना, स्पर्शसाधना और विचार साधना। शब्द

साधना के लिये बताया है—दोनों कानों को अंगुलियों से बंद कर दो। तब अंदर की अनेक विध ध्वनि सुनाई देगी। वीणा करताल आदि का नाद सुनते सुनते संत लोग धीरे धीरे नाद ब्रह्म पर्यंत पहुँच जाते हैं। उसी नाद ब्रह्म से वे आगे परब्रह्म में भी जाने का प्रयास करते हैं। रूप साधना करने वाले योगी दोनों आंखें बंद करके अंदर ज्योतिका दर्शन प्रथम करते हैं। आँख को कान के साथ साथ तर्जनी से बंद करने पर अंदर प्रकाश दीखता है। उतने से तो गतार्थता नहीं है। किन्तु उसमें पुनः अंदर ज्योतिका दर्शन करना होगा। जैसे गीता में ही कहा है–"ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः"। स्पर्श में प्राणायाम को कहा गया है। वायु को सुषुम्ना नाडी में प्रवेश कराकर मुर्धा में प्रवेश कराया जाता है—"मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणम्"। उससे समस्त त्वचा स्पर्श बाहर से बंद हो जाता है और अन्तःस्पर्शानुभव होता है। "स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्" "सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते" इत्यादि गीता वचन भी है। उस अन्तः स्पर्श में अस्पर्शब्रह्मानुभव किया जाता है। रससाधना भी बतायी है। खेचरी मुद्रा में रस साधना होती है। जिह्वा को तालुमूल के रन्ध्र में (छिद्र में) ले जाते हैं। उसके लिये अनेक विध अभ्यास एवं शल्यक्रियायें होती हैं। तालूमूल में पहुँचने पर चंद्रमंडल से अग्निमंडल की ओर झरता हुआ अमृतकण मिलता है। योगी लोग उसके आस्वादन से अमृत की प्राप्ति मानते हैं। ज्ञानी उस अमृतरस में परमरस "रसो वै सः" का दर्शन करते हैं। गंधसाधना भी है। नासाग्र भाग में धारणा ध्यान समाधि करने पर दिव्यगन्ध की अनुभूति होती है। ऐसा योगसिद्धांत है। उसी में फिर संत परमात्मा का दर्शन करते हैं। "त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्" ऐसा मंत्रों में बताया है सुगन्धि अर्थात दिव्यगन्ध युक्त = दिव्यगन्ध में प्रतिभासमान वह त्र्यम्बक है। अन्य प्रकार से भी शब्द विषय प्रवृत्ति योगशास्त्र में बतायी है— "विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना"।

मानस समाधि तो वितर्क विचारादि से अनुगत योगसमाधि विस्तार-पूर्वक योग शास्त्र में बतायी है। ये छः प्रकार का इंद्रिय प्रयोग इंद्रियों का उत्पोषण है। यह तभी संभव है, जब ये इंद्रियाँ प्रसन्न हों। वशीभूत हों। इसके विपरीत हृदय शोकाकुल हों, इन्द्रियाँ अप्रसन्न हों तो उत्पोषण के बदले उच्छोषण होता है। इंद्रियों को प्रसन्न करने पर इह लोक सुधरेगा। इंद्रियों को दिव्य बनाने पर परलोक भी सुधरेगा। इंद्रियों का उच्छोषण होने पर उभयलोक-नाश होता है। इंद्रियाँ प्रसन्न हैं तो विषयसुख की प्राप्ति होती है। दिव्य होने पर सर्वत्र ब्रह्म दर्शन होता है। उच्छोषण हुआ तो प्रिय वियोग आदि काल में मन में प्रत्येक विचार व्यग्रता पैदा करेगा। वीणादि नाद भी कर्कश कठोर लगेगा। सुमशय्या भी कण्टकोपम होगी। मधुर मनोहर रूप भी हृदयोद्वेजक होगा। सरस पदार्थ भी कटु फीका होगा। इत्तर की सुगंध भी वमनकारी होगी। अर्जुन कह रहा है जो मेरा मन और इंद्रियाँ ऊर्ध्व लेजाने वाली उत्पोषण थीं, आज बीच में ही सूख रही हैं। उच्छोषित हो रही है।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्। प्रश्न हुआ निष्कंटक समृद्ध राज्य से इह सुख होगा। तब यज्ञ यागादि धर्म होंगे, उससे स्वर्ग राज्य प्राप्ति होगी। '**राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत**' ऐसा वेद वचन है। राजा हो, क्षत्रिय हो तो उसके लिये एक बड़ा सुन्दर अवसर है, वह है—राजसूययज्ञ संपादन। उससे स्वाराज्य मिलता है। स्वर् राज्य-स्वाराज्य ऐसा विग्रह है। उसका अर्थ है स्वर्गराज्य। तब इह परलोक सुख युद्ध का फल संभव है। इसका उत्तर अर्जुन ने दिया—मेरे शोक की निवृत्ति इन दोनों से संभव नहीं है। अर्जुन और पाण्डव सभी बहुत कुछ अनुभव कर चुके थे। अतः अनुभव का अपलाप कोई नहीं कर सकता। हम संत लोग भी काफी अनुभव किये हुए होते हैं। जब तुंबी हाथ में रखकर घूमते थे। केवल टाट पहन कर यात्रा करते

थे। तब भी सुख मिलता और दुःख भी मिलता था। बड़े-बड़े महलों में भी रहकर देखा। राज महलों में भी रहकर देखा। एक रानी हमारी भक्त बनी थी। उसने राजमहल में रहने का इन्तजाम कर दिया था। वहाँ भी सुख और दुःख दोनों बराबर थे। शास्त्रों का निर्णय है—'सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्' अत एव ऐहिक सुख प्राप्त कर कोई कृतकृत्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार स्वर्ग सुख की भी बात है। आगे गीता में ही बताया जायेगा कि स्वर्ग-लोक के भोग से पुण्य क्षीण होने पर पुनः मर्त्यलोक में गिरना पड़ता है। जितना सुख हो उतना ही दुःख भी साथ में ही होता है। दिन है तो रात्रि भी उसी अनुपात से अवश्यंभावी है। कहें कि उत्तरायण में दिन ज्यादा और रात कम होती है, तो उसका कसर दक्षिणायन में निकाला जायेगा। उत्तरी दक्षिणी ध्रुवों में छः महीने तक दिन रहता है तो कसर फिर छः महीने की रात से निकलेगा। वैसे राज्यादि सुख का कसर बारह घंटे दिन बारह घंटे रात से निकलेगा। और स्वर्ग राज्य सुख का कसर छः महीना दिन छः महीना रात से निकलेगा। इसी लिये चन्द्रलोक में पन्द्रह दिन का दिन और पन्द्रह दिन की रात होती है। क्योंकि वैसा दृष्टांत भगवान को वहाँ प्रस्तुत करना था। सारांश यह कि पृथिवी राज्य या स्वर्गराज्य प्राप्त करो तो भी तदनुपात से दुःख होने में बराबरी है। जैसे एक व्यापारी ने लाख कमाया और लाख गंवाया, दूसरे व्यापारी ने करोड़ कमाया और करोड़ गंवाया। एक सामान्य व्यक्ति ने पांच रुपया कमाया और पांच रुपया गंवाया। तो तीनों में क्या फरक रहा ? फरक यही कि लाख कमाने में जो अधिक पाप किया और करोड़ कमाने में उससे भी ज्यादा जो पाप किया वह साथ में रहेगा। वैसे यहाँ अर्जुन का भी कहना है। राज्य मिले तो तदनुरूप दुःख भी मिलेगा, सुराधिपत्य मिले तो बाद में तदनुरूप दुःख भी मिलेगा। भिक्षान्न भोजन किया तो अल्पसुखानुरूप दुःख मिलेगा।

फिर फरक क्या? फरक यही "शोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणां" हाथ लगा स्वजन वध का पाप। स्वजनवियोगादि जनित शोक तथा तत्प्रयुक्त शोकमय प्रपञ्चोपभोग हाथ लगा। जिससे ऊर्ध्वंगामी इन्द्रियों का उत् शोषण हुआ और घोर संसार सागर निपात हुआ।

यदि यह माना जाय कि "सुखस्यानन्तरं दुःखं" ऐसा कोई नियम नहीं है। अधिकतर पुण्य ही करेंगे, करते रहेंगे तब शोकाधिक्य की जो कहानी अभी कह रहे थे वह तो नहीं रहेगी। इसपर उत्तर यह है कि सुख के बाद दुःख के निवारण का उपाय भी अति दुर्लभ है, तथा इतने से शोक का मुकाबला भी नहीं हो सकेगा। कहना यह है कि यह सब एक एक युक्ति वा कल्पनामात्र है। वस्तु स्थिति नहीं है। अमीरों में जितना संघर्ष, जितना क्लेश, जितना दुःख होता है उतना गरीबों में नहीं होता। फिर बड़े छोटों का हिसाब भी अलग चलता है। कोई सेठ घर पर आया। उसको यदि बाहर कुर्सी पर बैठने के लिये कहा तो उसको भारी अपमान प्रतीत होगा और महान दुःख होगा। देय सम्मान से एक इंच भी कम मान दिया तो सेठ को स्वर्ग के बदले पाताल दीखने लगेगा। यदि किसी मजदूर को बाहर खड़े ही रहने को कहो तो भी उसको कोई दुःख नहीं होगा। घर में नीचे बिछाये कारपेट पर उसको बैठने दिया तो वह स्वर्ग सुख मानेगा। मान अपमान का कोई माप नहीं होता। उससे सुख दुःख का भी कोई नियमित स्वरूप नहीं होता। केवल मान की ही बात नहीं, धनादि सभी वस्तुओं में यही स्थिति है। लाख रुपया एक को सुख का कारण है तो दूसरे को दुःख का हेतु हो जाता है। दो सेठों ने नये धंधे खोले। एक ने सोचा कम से कम पचास हजार का मुनाफा हो जाय तो ठीक है। दूसरा अधिक मेहनती और लोभी था। उसने सोचा दो लाख रुपये मुनाफा मिलना चाहिये। दोनों ने धंधा शुरू किया। पूरा वर्ष बीता। दोनों को एक एक लाख रुपया मुनाफा हुआ। एक हँस रहा है और दूसरा रो रहा है। जिसने

पचास हजार रुपये मुनाफे का अंदाजा लगाया था वह खुशी के मारे फूला नहीं समाता। किंतु जिसने दो लाख का अंदाजा लगाया था वह रो रहा है, पीट रहा है। 'मेरी मेहनत की कोई किमत नहीं रही' ऐसा बोल रहा है। इस दुःख के लिये भला क्या दवा हो सकती है? यह सब वासना का खेल है। जिसकी कामना पूर्ण हुई उसको सुख प्राप्त हुआ और जिसकी कामना पूर्ण नहीं हुई वह दुःखी हो कर रहा।

वर्तमान में बड़े-बड़े नगरों का दृश्य बड़ा विलक्षण है। एक ओर बीस-पचीस मालों की बिल्डिगें खड़ी हैं तो पास में ही दूसरी ओर झोंपड़ पट्टे हैं। यह विषमता राजनीतिक दृष्टि से अनुचित है। आँखों में खटकती है। अध्यात्म दृष्टि से विचार करते हैं तो सुख दुःख एक बराबर होगा। किसी दिन लिफ्ट बंद हो जाय तब देखना बीस माले का आनंद। एक बार एक सेठ लिफ्ट से चढ़ रहा था। जोर से शौच लगा था। बीच में ही लिफ्ट खराब हो गया। वहीं उसको आधा घंटा बिताना पड़ा। अब अंदाज लगा लो कि उसका आधा घंटा कैसे बीता होगा। इतनी तकलीफ झोपड़ पट्टे वाले को कभी नहीं हुई होगी। प्रकृति का नियम है कि जैसा भी वातावरण हो उसको वह पचा लेती है। फिर अपना सुख दुःख मोह तीनों रूपों को वहीं प्रकट करने लगती है। श्रीमद्भागवत में प्रह्लाद का वचन है—

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः॥

देहयोग जहाँ हुआ वहाँ ऐन्द्रियक सुख भी अवश्य होगा। चाहे वह कहीं भी हो। जैसे बिना प्रयत्न किये दुःख सर्वत्र मिलता है। स्वर्ग को सर्वदुःखवर्जित बताया है—"यन्न दुःखेन संभिन्नम्"। किंतु पुराणकारों की कथायें दूसरे ही ढंग की है। स्वर्ग में इन्द्र पर

महिषासुर, शुंभासुर, तारकासुर, रावण, कंस आदि सभी बारी-बारी चढ़ाई करते रहे। प्रायः हर बार इन्द्रादि देवता को स्वर्ग छोड़कर भागना पड़ता है। दुःखी होना पड़ता है। फिर बड़ी मुश्किल से भगवान् की सहायता से देवता अपना राज्य वापिस पाते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि स्वर्ग में सुख चैन से बैठने की कल्पना निराधार ही है। सांख्यकारिका के व्याख्याता महान् पंडित वाचस्पतिमिश्र कुछ और ढंग से स्वर्ग का वर्णन करते हैं। उनका कहना है कि स्वर्ग में कोई साम्यवाद तो है नहीं। कोई इंद्र है, कोई दिक्पाल है। कोई सामान्य देवता है। तो परोत्कर्ष से अल्पोत्कर्ष वाले को दुःख होता ही होगा। **"परसंपदुत्कर्षो हि क्षीणसंपदं पुरुषं दुःखाकरोति"**। यदि ऐसा न होता तो लोग इंद्र आदि पद के लिये लालायित न होते।

बल्कि मृत्युलोक की अपेक्षा स्वर्गलोक में अधिक पराधीनता है। मृत्युलोक में दुःख को मिटाने का उपाय रहता है। स्वर्ग में वह भी नहीं है। मृत्युलोक में नया कर्म किया जा सकता है। प्रायश्चित किया जा सकता है। स्वर्ग में इन सबके लिये कोई अवसर नहीं है। सांख्यशास्त्र के महान् प्रवक्ता महर्षि कपिल के प्रशिष्य पञ्चशिखाचार्य कहते हैं—**"स्वल्पः संकरः सपरिहरः सप्रत्यवमर्शः"**। कर्म करते समय अवश्यमेव पुण्य के साथ पाप का थोड़ा सांकर्य होता है। यद्यपि वह सपरिहर है—प्रायश्चित्तादि के द्वारा परिहार योग्य है। परंतु सब उस पर ध्यान नहीं देते। यज्ञ में किन-किन को दुःख हुआ, किस किस की हिंसा हुई ? क्या उसका प्रायश्चित ? इस विषय पर आज तक कहीं मीमांसा हुई नहीं। अतएव प्रमादवशात् प्रायश्चित का अनुष्ठान नहीं ही होता है। परिणाम यह आता है कि—"सप्रत्यवमर्षः" पाप का भी फल सहना पड़ता है। आगे वाचस्पतिमिश्र कहते हैं—**"मृष्यन्ते हि पुण्यसंभारोपनीतस्वर्गसुधामहाह्लदावगाहिनः पापमात्रोपपादितां दुःखवह्निकणिकाम्"** पुण्य संचय से

स्वर्गलोक में पहुँचे मनीषी अमृत महासरोवर में गोते लगाते हैं। शीतलता से शरीर आप्यायित हो रहा है। लेकिन वहाँ भी दुःख की आग की चिनगारी आखिर आ ही जाती है। इस कथन से स्पष्ट है कि स्वर्ग में जाकर फिर प्रायश्चित आदि विधान के लिये कोई रास्ता नहीं है। वहाँ एकाक्षी बन गये तो कुबेर के समान एकाक्षी ही बने रहना पड़ेगा। कभी इच्छा हो कि दो आँखे हो जाय और मूँदकर सो जाय तो यह इन्द्र के लिये भी शक्य नहीं है। दैत्य कृत दुःख जैसे हम पहले कह आये वह भी अनिवार्य है।

फिर यहाँ अर्जुन का वचन भी अत्यंत अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। सुराधिपत्य मिलने पर भी आचार्य गुरु आदि के वध से जो हृदयोद्वेग या शोक होगा वह इन्द्रलोक में भी अनुवृत्त ही रहेगा। वहाँ की वस्तुएँ भी शोकमय विरहमय ही रहेंगी। अतएव हे भगवान्! श्रेय के नाम से यदि आप ऐहिक राज्यादि सुख या सुराधिपत्य सुख मानते हैं तो मुझे नहीं चाहिये। अगले श्लोक में "न योत्स्ये" ऐसा फिर अर्जुन कहेगा। क्योंकि इन दोनों से अतिरिक्त युद्ध से प्राप्य कोई सुख अर्जुन को दीख नहीं रहा था। अतएव निःश्रेयस साधन का ही आप वर्णन करें यह प्रकरणार्थ है।



संजय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ।।९।।

[संजय बोला—हे राजन् (धृतराष्ट्र) अर्जुन इस प्रकार भगवान् को कहकर बोला—मैं युद्ध तो नहीं ही करूँगा । और इतना कह कर वह मौन हो गया ।। ९ ।।]

द्वितीयाध्याय के आरंभ में संजय ने भगवान् को और अर्जुन को एक ढंग से प्रस्तुत किया । अब थोड़े परिवर्तन के साथ पुनः प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रथम 'उवाच मधुसूदनः' बताया । यहाँ 'तमुवाच हृषीकेशः' इस प्रकार थोड़ा-सा परिवर्तन नाम में किया । अर्जुन ने भी "कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन" इस प्रकार मधुसूदन शब्द से ही संबोधन किया था । यहाँ सम्बोधन तो नहीं है फिर भी सम्बोध्य को "एवमुक्त्वा हृषीकेशं" इस प्रकार हृषीकेश पद से ही कहा गया । अर्जुन के लिये भी यहाँ शब्द बदल दिया गया है—गुडाकेशः । पहले "क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ" इस प्रकार पार्थ शब्द आया था । 'अर्जुन' यह सम्बोधन गीता में सामान्य होने से सर्वत्र उस पर विचार नहीं किया जाता । 'हे परंतप' यह सम्बोधन संजय धृतराष्ट्र के लिये प्रयुक्त कर रहा है । 'परंतपः' ऐसा प्रथमान्त पाठ किसी ने माना है । उस पक्ष में वह गुडाकेश का विशेषण होगा । हे परंतप ! गुडाकेशः अर्जुनः एवं हृषीकेशम् उक्त्वा= अर्जुन हृषीकेश श्री कृष्णचंद्र को ऐसा कहकर और गोविंदम्=गोविंद भगवान् को न योत्स्य इति उक्त्वा = नहीं लड़ूँगा ऐसा कहकर तूष्णीं बभूव = चुप हो गया ।

कौन है यह हृषीकेश और गोविन्द, और कौन है यह गुडाकेश ? इसे हम पहले देखें। 'हृषीकाणामीशः हृषीकेशः' जो हृषीकों के ईश हो वे ही हृषीकेश हैं। हृषीक कहते हैं इन्द्रियों को। इससे प्रथम सूचना यह मिलती है कि पूर्व श्लोक में जो बताया था—यच्छोक-मुच्छोषणमिन्द्रियाणां—इंद्रियों का शोषक शोक मुझे हो रहा है। उस शोक से छुटकारा दिलाकर इन्द्रियों का उत्पोषण भगवान् करेंगे। हृषीकेश का ठीक-ठीक अर्थ समझने के लिये केनोपनिषद् का यह मंत्र भी ध्यान में रखना होगा—**"श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः। चक्षुषश्चक्षुः"** वह आत्मतत्व, वह ब्रह्मतत्व श्रोत्र का भी श्रोत्र है, मन का भी मन है, वाणी की भी वाणी है। प्राण का भी प्राण है और चक्षु का भी चक्षु है। श्रोत्र का श्रोत्र अर्थात् श्रोत्र को सुनने की शक्ति देने वाला। श्रोत्र में यदि सुनने की शक्ति न हो तो वह श्रोत्र ही क्या हुआ ? सुनने की शक्ति जिसमें हो वही तो श्रोत्र है। सुनने की शक्ति भी वही देगा जिसमें वह शक्ति हो। जैसे चन्द्रमा को प्रकाश देने वाला सूर्य स्वयं प्रकाश युक्त होने से वह नितरां तेजोरूप होगा। बल्कि उसी को तेज कहना उचित है। अतएव परमात्मा श्रोत्ररूप ही नहीं बल्कि वही श्रोत्र है। दृश्यमान श्रोत्र तो उसके पीछे का श्रोत्र है। जिसकी सत्ता से श्रोत्र की सत्ता है वह श्रोत्र का ईश भी होगा ही। अतएव भगवान् हृषीकेश हैं। इसी प्रकार मन का भी मन है। मनन शक्ति परमात्मा से प्राप्त होती है। तब मन मनन कर पाता है। अतएव मन का मन तथा मन का ईश परमात्मा है। मन पद से सभी अन्तःकरण ग्राह्य हैं। और श्रोत्र पद से सभी ज्ञानेन्द्रियों को समझना चाहिये। फिर भी 'चक्षुषः चक्षुः' ऐसा पुनः कथन है। श्रोत्र आदि व्यष्टि है, मन समष्टि है। 'वाचो ह वाचं' से कर्मेन्द्रियों का ग्रहण है। कर्मेन्द्रियों में कर्मशक्ति परमात्मा से आती है। "को ह्येवान्यात्" । अतः वाक् आदि कर्मेन्द्रियों की भी कर्मेन्द्रियाँ या ईश

परमात्मा है। वागादि व्यष्टि है, प्राण समष्टि है। प्राण में भी प्राण शक्ति परमात्मा से ही आती है। प्राण से घ्राण अर्थ भी लेते हैं। चक्षुषश्चक्षुः यह श्रोत्र और चक्षु की मुख्यता होने से स्वतन्त्ररूपेण पढ़ा। यों समझिये—जब तक आत्म प्रतिबिम्ब अन्दर है तब तक श्रोत्र सुनता है, मन सोचता है, चक्षु देखती है, हाथ-पाँव आदि हिलते हैं। प्राणापान चलते हैं। आत्मप्रतिबिम्ब जहाँ निकल गया वहाँ सभी काम बंद हो जाते हैं। जिसके प्रतिबिम्ब से आभासमात्र से इन्द्रियादि सक्रिय होते हैं। वह बिम्ब ईश है, इस विषय में संशय ही क्या है?

परमेश्वर अंदर बैठकर शक्ति देते हुए समस्त कार्यों में प्रेरणा दे रहा है। श्रुतियों में कहा है—**"एष ह्येव साधु कर्म कारयति यानेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति। एष उ ह्येवासाधु कर्म कारयति यानधो निनीषति"**—वही परमात्मा अंदर बैठकर सत्कर्म करा रहा है, जिनको ऊपर ले जाना है। वही परमात्मा अंदर बैठकर असत् कर्म भी करा रहा है जिनको नीचे गिराना है। प्रश्न होगा कि यदि सत्कर्म और असत् कर्म परमात्मा ही कराता है तो पुण्यपाप किसको लगना चाहिये? परमात्मा कराता है तो हमको पुण्यपाप क्यों लगे? उत्तर है—हमको ही पुण्यपाप लगेगा। क्योंकि हमने पुण्यपाप करने का वातावरण तैयार किया। अर्थात् कराने वाला परमात्मा है तो करवाने वाले तो हम ही हैं। लड़के को बाप बाजार में नहीं भेज रहा था क्योंकि उसकी पढ़ाई खराब होती है। लड़का पठित न हो तो पाप बाप को लगता है। **"माता वैरी पिता शत्रुर्याभ्यां बालो न शिक्षितः"**। सभी काम बाप नौकर से कराता था। लड़के को बाजार जाने की इच्छा होती थी पर जाने नहीं मिलता था। लड़के ने षड्यंत्र करके नौकर को निकाला। पिता अस्वस्थ था तो अब बाजार में लड़के को ही भेजना आवश्यक हो गया। धीरे-धीरे आदत बढ़ी और फेल हो गया। इसका प्रत्यवाय अब किसको लगेगा? क्योंकि बाजार में बाप ने ही लड़के को भेजना शुरू किया

था। अतः बाप को ही प्रत्यवाय लगना चाहिये कि नहीं ? नहीं। इसके लिये वातावरण लड़के ने ही तैयार किया। जाने न जाने का काम लड़के का। भेजने का काम बाप का। पर भिजवाने की भूमिका बेटे ने ही तैयार की। अतः उसी को प्रत्यवाय लगेगा बाप को नहीं। यही बात ईश्वर की भी है। परमेश्वर के दो स्वरूप बताये गये हैं—पुरुषरूप और कालरूप। **"अन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः"**। ऐसा बताया गया है। पुरुष रूप से साधु कर्म कराता है। कालरूप से असाधु कर्म कराता है। उसका फल हैं—**"प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च"** पुरुष रूप से सत्कर्म कराकर ऊपर ले जाता है और अमृत प्रदान करता है। कालरूप से असत् कर्म कराकर मृत्यु देता है। कब कैसी अवस्था में परमात्मा पुरुष रूप होता है और कब कैसी अवस्था में कालरूप होता है ? यह विभाग किस प्रकार से हुआ ? उत्तर यह है कि परमात्मा एक ही है दो नहीं। उपाधि भेद से दो रूप हो जाते हैं। विशेष तीन उपाधि से पुरुषरूप और विपरीत तीन उपाधि से कालरूप होता है, (१) अन्तर्मुखता, (२) भगवच्छरणागति और (३) सत्यान्वेषण ये तीन जब उपाधि रूप में हममें आते हैं तो परमात्मा पुरुषरूपेण प्रादुर्भूत होता है। जब हमारी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होने लगती है, वाह्यविषयों से वैराग्य होने लगता है, दूसरा भगवत्साक्षात्कार के लिये उत्कट अभिलाषा हो रही है, भगवान के प्रति निरन्तर शरणागति हो रही है, तीसरा सत्य की खोज के लिये निरन्तर यत्न चल रहा है तो समझिये इन उपाधियों से विशिष्ट पुरुषरूप हममें है। इसके विपरीत तीन उपाधियाँ हैं, (१) बहिर्मुखता, (२) विषयाभिलाषापूर्वक विषय परायणता और (३) माया छलकपट में लगे रहना। ये तीन यदि हों तो हममें परमात्मा कालरूपेण प्रादुर्भूत हुआ है, ऐसा समझना।

परमात्मा हृषीकेश के रूप में इंद्रियों के प्रेरयिता के रूप में हमारे अंदर है इसमें कोई संशय नहीं। किन्तु किस उपाधित्रिक से

विशिष्ट होकर ? यह पता लगावो । यदि आप अन्तर्मुख हैं, भगवच्छरणागत हैं और सत्यान्वेषी हैं तो आपने वातावरण बड़ा सुंदर तैयार किया, जिससे परमात्मा आपको सत्कर्म करने की प्रेरणा देगा । यदि आप बहिर्मुख हैं, अशान्त हैं, विषयलोलुप हैं, विषयों का ही चिंतन निरन्तर कर रहे हैं तो समझ लेना कि आपने ऐसा वातावरण तैयार किया जिससे परमात्मा आपसे असाधु कर्म करायेंगे । दुर्योधन कहता था—

"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि ॥"

मैं धर्म जानता हूँ, पर उसमें प्रवृत्ति नहीं होती । मैं अधर्म जानता हूं, परंतु उससे निवृत्ति भी नहीं होती । मुझे ऐसा लगा कि कोई देव हृदय में बैठा है । वह मुझे जैसे नियुक्त करता है, वैसे ही मैं कर्म करता हूँ । मुझे कर्म करना ही पड़ रहा है । इस श्लोक पर भी बहुत से लोगों को संशय होता है कि यदि हृदयस्थित देव ही कर्म कराता है तो हमें पुण्य पाप क्यों लगना चाहिये । गीता तृतीय अध्याय में "काम एष क्रोध एष" कहते हुए काम क्रोध को कारण बतायेंगे तो उससे विरोध नहीं आता ? इत्यादि । सबका उत्तर पूर्वोक्त है । काम क्रोध वातावरण तैयार हम करते हैं, कराता परमेश्वर ही है । पूर्वोक्त तीन-तीन उपाधि मुख्यतया उन्नयन और अपनयन की है । अवान्तर अनेक उपाधियाँ होती हैं । पूर्वजन्मीय कर्म, संस्कार आदि सभी उपाधि हैं । पूर्व जन्मीय सुकर्म सुसंस्कार अभिव्यक्त हो तो पुरुष रूप से परमेश्वर का आविर्भाव होता है और असत्कर्म और असत् संस्कार जाग्रत हुआ हो तो कालरूप से । फिर भी इस जन्म का विवेक अविवेक भी बहुत अंशों में काम करते ही हैं ।

हृषीकेश भगवान इंद्रियों के मालिक हैं । अर्जुन ने हृषीकेश को हृदय में किस रूप से बैठाया है ? पुरुष रूप से या कालरूप से ?

अर्जुन में कौन सी उपाधि जागृत हुई है ? कैसा वातावरण हृदय में तैयार हुआ है ? इसके उत्तर में अर्जुन के लिये विशेषण है—गुडाकेशः। "एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः"। "गुडाकाया ईशः गुडाकेशः" ऐसा इसका एक विग्रह है। गुडाका का एक अर्थ है निद्रा। गुडवत् आ ईषत् कं सुखं यस्यां सा गुडाका इस विग्रह के अनुसार स्वल्प सुख जिसमें प्रतीत हो वह गुडाका निद्रा है। प्रमाद तथा आलस्य भी गुडाका है। गुडवत् आ ईषत् कं यस्मिन् सः तद्वा। पुंल्लिग विग्रह में प्रमाद और नपुंसक विग्रह में आलस्य अर्थ है। सबमें थोड़ा-थोड़ा सुख रहता ही है। क्षणिक सुख जिसमें हो वह गुडाका है। गीता में ही इसका विवरण आगे आयेगा—

"यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥"

जो आगे और पीछे मोह में डालने वाला है। निद्रा आलस्य या प्रमाद से उत्पन्न है वह सुख तामस कहलाता है। निद्रा में स्वल्प सुख प्रसिद्ध है। आलस्य में भी थोड़ा सुख है। तभी तो लोग आलसी होकर पड़े रहते हैं। आलसी को कोई काम कहो तो वह बहुत दुःखी होता है। क्योंकि काम करने के लिये आलस्य छोड़ना पड़ता है। जब वह काम कराने वाला चला जाता है तो बड़ा सुख होता है। यही आलस्यसुख है। प्रमादी को कोई कार्य सौंपो तो दुःख होता है। लापरवाही से रहने में उसको सुख होता है। इन सभी प्रकार की गुडाकाओं का जो ईश हो वही गुडाकेश है। क्या धनेश जैसे धन पास में रखता है वैसे इन सबको अपने पास में रखने वाला गुडाकेश है ? नहीं। जो इनको अधीन करे जो इनके अधीन में न हो वह गुडाकेश है। जैसे विघ्नेश गणेशजी का नाम है तो उसका अर्थ विघ्नहर्ता है। वैसे गुडाकेश का गुडाकाहर्त्ता अर्थ है। असल ईश वही है जो हरण करता है। अत एव शंकर का ही नाम ईश ईश्वर आदि मुख्य है। वहिर्मुखता विषयपरायणता, छलकपट-

कारिता आदि पूर्वोक्त सभी उपाधि गुडाका है। उन सबको जो नष्ट करे वही गुडाकेश है।

अर्जुन ने प्रमाद आलस्य एवं निद्रा तीनों को वश में कर लिया था। प्रमादी हमेशा बहिर्मुख होता है। अन्तर्मुखता के लिये **'अप्रमत्तेन वेद्धव्यं'** बताया है। प्रमादी भगवत्शरणागत नहीं होता। वह सत्यान्वेषण नहीं कर सकता। आलसो की भी यही स्थिति है। आलसी अन्तर्मुख नहीं, बाह्य विचार रत होता है। आलसी भगवद्रत नहीं, क्षणिकसुखरत होता है। आलसी मिथ्यान्वेषी होता है। यही स्थिति निद्रालु की भी होती है। अर्जुन ने बहिर्मुखता छोड़ दी है। 'राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यं' छोड़ दिया है। भगवत्शरणागत है—"त्वां प्रपन्नम्" शब्द से यह स्पष्ट है। तथा अर्जुन सत्यान्वेपी भी है—"यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेहं" यही तो सत्यान्वेषण है। इस प्रकार शरणागत सत्यान्वेषणपरायण अर्जुन 'कथं भीष्ममहं संख्ये' इत्यादि रीति हृषीकेशं—इन्द्रियप्रेरक भगवान को उक्त्वा—कहकर। फिर क्या किया—तुष्णीं बभूव—चुप हो गया।

'रथोपस्थ उपाविशत्' ऐसा पहले अध्याय के अन्त में कह दिया था। यहाँ विशेषता है—तूष्णींभाव–मौन। तुष्णीं से कायिक, वाचिक उभय व्यापार का अभाव विवक्षित है। अंतिम शब्द है—न योत्स्य इति। 'योत्स्ये' यह संस्कृत में आत्मनेपद में प्रयोग कहलाता है। 'योत्स्यामि' 'योत्स्ये' ये दोनों प्रयोग होते हैं। फल यदि दूसरे को मिले ऐसी विविक्षा होने पर योत्स्यामि बोलना चाहिये। फल यदि अपने लिये चाहते हैं तो योत्स्ये प्रयोग होगा। पुरोहित कहेगा तो 'होमं करिष्यामि' होगा, यजमान कहेगा तो 'होमं करिष्ये' होगा। अपने फल के लिये तो मैं युद्ध नहीं करूँगा ऐसा अर्जुन का यहाँ कहना है। अन्यथा न योत्स्यामीति गोविन्द-मुक्त्वा' ऐसा सुगमतया कहा जा सकता था। राज्य स्वर्गादि स्वफल-

प्राप्यर्थ मैं युद्ध नहीं करूँगा। यहाँ दो बातें आती हैं। फल हो, पर परगामी हो तो कर्म हो सकता है। स्वगामी हो, किन्तु फल न हो तो भी हो सकता है। अतः परार्थ युद्ध हो सकता है, श्रेयार्थ भी हो सकता है। मोक्षरूपी श्रेय स्वगामी होने पर भी फल नहीं है। अतएव 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि' से विरोध नहीं है। अन्यथा युद्ध करना श्रेय नहीं है। इस बात के निश्चय से पूर्व ही न योत्स्ये यह फैसला कैसा ? यदि यही फैसला था तो 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि' यह जिज्ञासा कैसी ? यह अर्थ पूर्व श्लोकों में भी स्पष्टतया झलक रहा था, जिसकी व्याख्या हम कर आये हैं। अतएव लक्षणा के बिना ही केवल आत्मनेपद से ही अभिप्रेत अर्थ का स्पष्टीकरण यहाँ हो जाता है। 'गोविन्दम्' यह शब्द प्रायः हृषीकेश शब्द से मिलता जुलता है। गाः इंद्रियाणि विन्दति लभते ईशितृत्वेनेति गोविन्दः ऐसी इसकी व्युत्पत्ति है। इससे यह भी सूचित होता है कि आप ही प्रेरक हैं। जैसे आप अंतःस्थित होकर प्रेरणा करेंगे वैसे करूँगा यह भक्ति रूपी साधन भी सूचित होता है ॥ ९ ॥



तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥१०॥

[हे भारत (धृतराष्ट्र) दोनों सेनाओं के मध्य में विषाद करते हुए उस अर्जुन को भगवान हृषीकेश हँसते हुए से यह वचन बोले ॥ १० ॥]

"कुतस्त्वा कश्मलमिदं" से लेकर "त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप" तक साक्षात् युद्ध की प्रेरणा है। अतः "उवाच मधुसूदनः" कहा। मधु नाम के दैत्य का सूदन-विनाश किया युद्ध में अतः युद्ध प्रेरक योद्धा ही सम्बोधन योग्य है। परन्तु अग्रिम गीतोपदेश में साक्षात युद्ध की प्रेरणा नहीं है। अत एव अंत में "यथेच्छसि तथा कुरु" यही कहा। अतः यहाँ "तमुवाच हृषीकेशः" कहा। हृषीकेश कहने से 'यथेच्छसि' के लिये क्या अनुगुणता आती है। यही कि जैसे बताया है—

न देवा दण्डमुद्यम्य ताडयन्ति पशूनिव ।
शुभयाऽशुभया वापि धिया युञ्जन्ति केवलम् ॥

देवता लोग डंडा लेकर पशुओं के समान मनुष्यों को हाँकते नहीं हैं। जिसकी उन्नति करानी हो उसे शुभमति से युक्त कर देते हैं। इसीलिये मंत्र में भी यही प्रार्थना है—

स नो देवः शुभया संयुनक्तु ।

वह देव हमें शुभ मति से युक्त करे। तब मधुसूदन विशेषण कैसे आ गया? इसलिये कि शुभमतियोजन प्रायोवाद है। अर्थात् सामान्य रूप से परमेश्वर शुभ या अशुभ मति से संयुक्त कराता है। विशेष कार्यार्थं अवतारादि के समय सक्रिय कार्य भी करता है। यहाँ अर्जुन ईश्वरभाव से या गुरुभाव से भगवान् को प्रार्थना कर ही रहा

है और भगवान भी अर्जुन को ईश्वर भाव से ही प्रवर्त्तित कर रहे हैं। "ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति" "तमेव शरणं गच्छ" आदि वचन आगे आने वाले हैं। इसी कारण भावपरिवर्तन भी यहाँ परिलक्षित हो रहा है। पहले मधुसूदन विशेषण काल में 'कुतस्त्वा' इत्यादि रीति से डाँटकर अर्जुन को बोल रहे थे। लेकिन अब ? 'प्रहसन्निव' हँसते हुए से कहते हैं। पहले डाँट के प्रभाव से काम कराने की जैसी बात थी, किंतु अब तत्वप्रबोधन से इंद्रियों को प्रेरित कर काम कराने का भाव आ रहा है।

प्रहसन्निव। प्रहास का क्या अर्थ ? प्रहास का परिहास अर्थ भी होता है—"**प्रहासे च मन्योपपदे**" इत्यादि स्थल में परिहास अर्थ प्रसिद्ध है। खूब हँसना भी अर्थ है। "प्रहसनं भवेद्धङ्गे प्रहासाक्षेपयोरपि" ऐसा आक्षेप अर्थ भी प्रहसन का किया है। प्रहासी विदूषक का भी नाम है। यहाँ क्या अर्थ होना चाहिये ? प्रायः सभी अर्थ यहाँ बैठ सकते हैं। परिहास तो प्रथम श्लोक में ही प्रतीत होगा। 'अशोच्यों' को लेकर शोक कर रहे हो और पण्डितों की सी बात भी करते हो यह परिहास है। पूरा परिहास ही नहीं, गम्भीर तत्व कथन भी करना है। अतः 'इव' जोड़ दिया। परिहास सा लगेगा लेकिन तत्व कथन ही मुख्य है। यही वाक्य आक्षेपात्मक भी माना जा सकता है। पांडित्य की बात मात्र है, वस्तुतः पंडित नहीं हो। इस पांडित्याभास को छोड़ो। इत्यादि अर्थ गम्यमान है। भगवान् बाहर से हँसते हुए से थे किंतु भीतर से अति गंभीर थे। क्योंकि युद्ध छोड़ने पर सबकी नाक कटने वाली थी। सर्वथापि हास्यमुद्रा सर्वत्र प्रतीत हो रही है। हास्य रस में सख्यभाव की व्यञ्जना होती है।

प्रथमाध्याय में हम कह आये हैं—एक ही रथ में माधव और पाण्डव बैठे हैं। रथ क्या है ? "**शरीरं रथमेव तु**" यह शरीर ही रथ है। इस शरीर को कहीं रथ रूप में बताया है, कहीं वृक्ष रूप

में बताया है। वृक्ष रूप में जहाँ बताया है वहाँ भी दो पक्षियों का वर्णन है। **"द्वा सुपर्णा सयुजा"** एक ही वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। देखने में दोनों अत्यन्त सदृश हैं। समान योग वाले हैं। इसी मंत्र में उन दोनों को सखा भी कहा है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

दो पक्षी एक वृक्ष पर बैठे हैं। सयुज—समान योग वाले हैं। सखाया—दोनों परस्पर मित्र हैं। उनमें एक तो फल खा रहा है। दूसरा खाये बिना ही चमक रहा है। उपनिषद् में जीवात्मा और परमात्मा ही दो सुपर्ण रूप में वर्णित हैं। यहाँ पर नर और नारायण हैं। एक शोकमोहाकुल है। दूसरा शोकमोहरहित एवं स्वयंप्रकाश से प्रकाशमान है। प्रहास से व्यञ्जित सखा भाव से यही अर्थ सूचित करना चाहते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि उपदेष्टा स्वयं नारायण ही हैं, ऐसा समझना चाहिये। अपने को नर रूप में समझ कर उपदेश ग्रहण करना चाहिये, परन्तु नर और नारायण में अत्यन्त भेद श्रवणकाल में भी मान्य नहीं है। क्योंकि विवेक वैराग्य आदि अधिकार के अंतर्गत हैं। विवेक अत्यंत भेदभाव में नहीं होता।

"हासो जनोन्मादकरी च माया" ऐसा श्रीमद्भागवत में बताया है। अर्थात् भक्तजनों को उन्मत्त बनाने वाली माया ही भगवान का हास है। यहाँ उन्मत्त करने का अर्थ चित्तविभ्रम नहीं, किंतु मस्ती ही है। भगवान की वाणी ऐसी है कि वह लोगों को मस्त बना देती है। 'इव' का अर्थ उन्मत्त नहीं, उन्मत्त सा बनाती है। लौकिक उन्माद का सादृश्य अलौकिक उन्माद में होता है। लौकिक कवि भी "प्रेम का प्याला" आदि प्रयोग करते हैं। इंग्लिश कवि 'डिवायन वायन' जैसा प्रयोग करते हैं, परंतु उन सब प्रयोगों में हीन उपमा

आदि दोष माना जाता है। मदोन्मत्त, प्रेमोन्मत्त आदि तक प्रयोग सीमित होना चाहिये। यहाँ लुप्तोपमा है। मद में तो मद्य अन्तर्भुक्त है। प्रेम में आसव का औपम्य लुप्त रूप से प्रयुक्त है। 'उवाच प्रहसन्' यहाँ उवाच पदार्थ वाणी के उच्चारण में प्रहास का पुट दिया जा रहा है। मस्ती भरी वाणी है।

"एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः" इस पूर्व श्लोकोत्तर हृषीकेश और गुडाकेश दोनों का इस श्लोक में भी ग्रहण किया है। दोनों सर्वनाम होने पर प्रथम भ्रान्ति होगी। 'स तं जगाद' कहें तो गुडाकेश ने हृषीकेश को कहा या हृषीकेश ने गुडाकेश को, यह स्पष्ट नहीं होगा। दोनों नाम लेना व्यर्थ है। अतः एक नाम और दुसरा सर्वनाम ऐसा होना चाहिये। तदनुसार तमुवाच हृषीकेशः कहा। इसके बदले "स उवाच गुडाकेशं" ऐसा क्यों नहीं कहा? उत्तर यही है कि इस प्रकार प्रयोग करने पर गुडाकेश शब्द को महत्व देना हो जाता है। "तमुवाच हृषीकेशः" कहने पर हृषीकेश शब्द का आवर्तन होने से उसका महत्व प्रतीत होता है। यद्यपि वक्ता के गुण के समान श्रोता में भी गुण अपेक्षित होने से एक की गौणता और दूसरे की मुख्यता नहीं हो सकती। तथापि प्रकृत में थोड़ा अन्तर है। अर्जुन गुडाकेश होकर बोल रहा था, गुडाकेश होकर ही सुन भी रहा है और सुनेगा भी आगे। किन्तु भगवान् के भाव में थोड़ा अन्तर आ रहा है। प्रथम मधुसूदन होकर बोल रहे थे, अब हृषीकेश होकर बोल रहे हैं। उसी अपने हृषीकेशत्व को परीपुष्ट करने के लिये दुबारा हृषीकेश शब्द का प्रयोग किया। अर्थात् अब असली हृषीकेश रूप में आ गये हैं और आगे बोलने जा रहे हैं।

सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः। यहाँ 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' यह देहलीदीपकन्यायेन उभयान्वयी है। अर्थात् उवाच के साथ भी यह अन्वित है और विषीदन्त के साथ भी अन्वित है। दोनों सेनाओं

के मध्य में अर्जुन विषाद कर रहा है। भगवान् भी दोनों सेनाओं के मध्य में ही बोल रहे हैं। परंतु यह विशेषण किस लिये कहा जा रहा है ? **"सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेच्युत", "सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्", "श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि"** इत्यादि बार-बार आया था। वह सब भूल गये कि अब यहाँ फिर से सेनयोरुभयोर्मध्ये कहना पड़ रहा है। या यह शंका उत्पन्न हो गयी होगी कि अर्जुन को गीता सुनने के लिये दोनों सेनाओं के मध्य में से किनारे रथ लाये हो, रथ वापिस अपनी सेना में लाये हो। भले लावे। फरक क्या पड़ता है ? गीता का उपदेश यदि दोनों सेनाओं के मध्य में किया हो या वापिस अपने सेना में आकर किया हो, गीता तो गीता ही है, उसमें क्या फरक पड़ने वाला है। यद्यपि फरक कुछ नहीं है। किन्तु भगवान् वेदव्यासजी पूरे संसार को एक भारी चोट मार रहे हैं। लोग कहा करते हैं कि शास्त्र का श्रवणमनननिदिध्यासन करने की फुरसत नहीं है। काम धंधे से फुरसत नहीं मिलती है। परंतु विचार करो कि अर्जुन जिस विकट परिस्थिति में था, वैसी परिस्थिति किसी के सामने है नहीं। अर्जुन के सामने कटोकटी का दृश्य है। "प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते" शस्त्रसंपात शुरू हो चुका था। जीवन-मरण की प्रकाश-छाया झिलमिल-झिलमिल हो रही थी। थोड़ी-सी गलती हुई तो सिर गायब हो जाय। "यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः" की स्थिति थी। धैर्य दिलाने वाले भी यही कहते हैं—'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' मारे जाओगे तो स्वर्ग का राज्य मिलेगा और जीत जाओगे तो पृथ्वी का राज्य मिलेगा। भगवान भी यह नहीं कह रहे हैं कि तुम जीत ही जाओगे। यदि आगे जाकर कहा भी हो तो भी परिस्थिति इससे भिन्न परिलक्षित तो नहीं हो रही थी। इतनी विषम परिस्थिति आज किसी के सामने है ? हाँ है जरूर, विषयों के पीछे दौड़ धूप करने वालों के लिये तो कम से कम फुर्सत नहीं ही

मिलती, बल्कि यहाँ तक भी कहते हैं कि मरने की भी फुर्सत नहीं है। शायद काल भगवान से भी वे प्रार्थना करने वाले हैं कि महीने दो महिने के बाद में आना। दो महीने बाद में आने पर और दो चार महीने की मुद्दत ली जायेगी। अर्जुन को शायद मरने की फुरसत थी, तभी तो कहा—"धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरम्" संभव है इसीलिये अर्जुन को गीता सुनने की फुरसत मिली। खैर, यह सब कहने की बात है। अर्जुन की जैसी विषम परिस्थिति आज किसी की नहीं है। "जब तक है जिंदगी फुरसत न होगी काम से" यह एक बहाना है। आप परिस्थितियों के गुलाम मत बनो। परिस्थितियाँ बदलती रहती हैं। अच्छी परिस्थिति आने पर हम साधना करेंगे ऐसा सोचना भूल है। उसके लिए क्या गेरंटी कि आपकी परिस्थिति आगे अच्छी ही आयेगी ? परिस्थिति कभी अच्छी आती नहीं, बनानी पड़ती है। परिस्थितियों से ऊपर उठो। जटिल परिस्थिति का भी सामना करो और आगे बढ़ो।

कुछ महात्माओं का कहना है—श्रवण, मनन, भजन पाठ आदि एकांत में होता है। हल्ले में नहीं होता। एकांतवास ही मोक्ष का साधन है। उनको भी यहाँ जवाब मिलता है। एकांत में रहना अच्छा है, परंतु एकांत में ही श्रवण, मनन हो सकता है यह गलत है। मन एकांत है तो जगत भी एकांत है। यदि मन अनेकांत है तो जंगल में भी हल्ला है। वहाँ भी चिड़ियाँ हल्ला करती रहेंगी। यह सब मन की आदत है। अतः काल, देश आदि को देखे बिना ही साधना में तत्पर होना ही श्रेयस्कर है।

फिर जब अध्यात्म दृष्टि से विचार करते हैं तो देवासुरसंग्राम के मध्य में ही गीता का उपयोग है। जहाँ केवल दैवी संपदा ही है, वह तो मुक्त ही है। उसके लिये तो श्रवण की उपयोगिता नहीं के बराबर है। गीता जैसे सुसाधन ब्रह्मोपदेश वहाँ आवश्यक नहीं होगा। और जहाँ केवल आसुरी भाव ही है, वहाँ उपदेश व्यर्थ ही

होगा। ऊसर भूमि में पड़े पानी के समान सूखकर नाम निशान भी नहीं रहेगा। दोनों सेनाओं के मध्य में जो स्थित है, उसी को मार्गनिर्देशन की आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं सब कारणों से सेनयोरुभयोर्मध्ये इत्यादि का पुनर्वचन है।

इतनी महान् गीता को शान्ति से हिमालय की किसी गुफा में बैठकर विधिवत् उपदेश करना युक्त प्रतीत होता है। **"नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयाद् न चान्यायेनापि पृच्छतः"** ऐसा मनुमहाराज का कथन है। अन्याय का अर्थ है विधि का अतिक्रमण करके पूछना। विधि है—**"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"** समित्पाणि होकर गुरु की शरण में जावे। **"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय प्रशान्तचित्ताय····प्रोवाच"** यह उपदेश की भी विधि है। विधिवदुपसन्न हो, प्रशांतचित्त आदि गुण से युक्त हो, तब ब्रह्मविद्या का उपदेश करना चाहिये। युक्ति से विधि का अतिक्रमण उचित नहीं है। इस प्रकार शिष्य के उपसादन में भी विधि है और गुरु के उपदेश में भी विधि है। तब दोनों का अतिक्रमण किस प्रकार किया गया ? यह एक जटिल प्रश्न है। इसके उत्तर में प्रथम हम उपदेष्टा की ओर देखें। उपदेष्टा भगवान है, पूर्ण ब्रह्मवित्-ब्रह्मस्वरूप है। पूर्ण तत्वज्ञानी के विषय में गीता का ही वचन है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

तत्ववेत्ता अपने आपको कर्ता-भोक्ता नहीं समझता, अतएव वह विधि का विषय बन ही नहीं सकता। भगवान को कोई विधि में बाँध नहीं सकता। अब बात केवल अर्जुन की रह जाती है। अर्जुन को वर्तमान में तत्ववित् मानना उचित नहीं होगा। "गुरुमभिगच्छेत्" यह विधि अर्जुन पर लागू होगी और अर्जुन सारथि के पीछे खड़ा या बैठा है। समित्पाणि भी नहीं है। इसका समाधान किया जा

सकता है—कि आपद्धर्म का पृथक् वर्णन आता है। 'विषमे समुपस्थितं' से आपत्ति सूचित होती है और युद्ध तो सर्वविदित आपत्ति है ही। राष्ट्रों में युद्ध समय में आपातकाल की घोषणा होती है।

मीमांसा के अनुसार विचार करने पर दूसरा उत्तर यह है कि तत्वज्ञानोपसादन में विधि अतिक्रमण करने से क्या होने वाला है? प्रत्यवाय भले हो वह तुरत ही उत्पन्न ज्ञान से खलास हो जायेगा। "उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ" ऐसा ब्रह्मसूत्र में बताया है। पूर्व पाप का नाश और उत्तर पाप का असंग होगा। तब तत्वोपदेश विधि निषेध दोनों निरर्थक नहीं होंगे? नहीं। सबको तत्वज्ञान होगा ही ऐसा कोई नियम नहीं है। सभी अर्जुन जैसे अधिकारी हैं, ऐसा कहा नहीं जा सकता। खैर, यह मीमांसा लंबी होने से उसे यहीं त्याग देते हैं। आपद्धर्म में उपदेश सर्वत्र संभव है। उससे पूर्वोक्त अर्थ सूचित करना आवश्यक होने से अर्थात् कठिनतम परिस्थिति में भी ब्रह्मविचार करते रहना चाहिये, यह सूचित करने के लिये "सेनयोरुभयोर्मध्ये"—दोनों सेनाओं के मध्य में उपदेश किया ॥१०॥

श्री भगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।

गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

[श्री भगगान बोले–हे अर्जुन ! तुम अशोचनीयों के बारे में शोक कर रहे हो, साथ ही पंडितों की बातें भी कर रहे हो। परंतु वास्तविक पंडित तो जीवित या मृत किसी के बारे में शोक नहीं करते ।]

श्री भगवानुवाच—भगवाव श्री कृष्णचंद्र कह रहे हैं। किसको ? अर्जुन को। दो तीन श्लोकों के बाद श्लोक में ही सम्बोधन आयेगा कौन्तेय, पुरुषर्षभ इत्यादि। यदि अर्जुन को ही गीता सुनाई तो हमारा इस गीता से क्या मतलब ? आपने अपने लड़के को कहा कि तुम कलकत्ता जाओ। पास में दस बीस लड़के और खड़े थे तो क्या सुनने वाले सभी बिस्तरा बाँधकर कलकत्ता के लिये रवाना हो जायेंगे ? इसका समाधान कुछ लोग यह करते हैं कि यदि एक व्यक्ति के लिये दिया गया उपदेश उपयोगी सिद्ध होने पर दूसरा भी ग्रहण कर ले तो क्या हानि है ? अखबारों में कभी-कभी स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रश्नोत्तर का कोलम भी रहता है। तो एक बीमार ने जो प्रश्न किया उसका उत्तर दवाई का निर्देशन यदि दूसरे उसी ढंग के मरीज पर लागू होता हो तो ग्रहण करने में क्या दोष है ? यह एक उत्तर मात्र है। वस्तुतः भगवान् ने यह गीतोपदेश केवल अर्जुन के लिये नहीं किया। भगवान आद्य शंकराचार्य अपने भाष्य में यही लिखते हैं कि—**"सर्वलोकानुग्रहार्थमर्जुनं मिमित्तीकृत्याह भगवान् वासुदेवोऽशोच्यानित्यादि"** अर्थात् समस्त जगत के ऊपर अनुग्रह करने के लिये अर्जुन को केवल निमित्त बनाकर भगवान

वासुदेव ने "अशोच्यान्" इत्यादि उपदेश किया। आचार्य की दृष्टि बड़ी विशाल है। आचार्य का कहना है कि गीता का उपदेश यों भी भगवान को करना ही था। तदर्थं अर्जुन को केवल निमित्त बनाया। क्यों गीता का उपदेश करना ही था ? इसलिये कि भगवान का अवतार धर्मरक्षणार्थ ही हुआ। **"धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे"** स्थायी धर्मरक्षण धर्मोपदेश से ही संभव है। दो चार असुरों को मारा तो तत्काल धर्मरक्षण हुआ सा प्रतीत होगा। किंतु कालान्तर में वही स्थिति रहेगी। फिर तत्काल भी धर्मोपदेश तो आवश्यक है ही। असुरों को मारना प्रतिबंध निवृत्ति मात्र है। धर्मरक्षण तो धर्म के अनुष्ठान से ही होगा। अतः गीता एक बार भगवान को कहना ही था।

यदि केवल अर्जुन को ही गीता सुनाना था तो इतना अधिक सुनाने की आवश्यकता नहीं थी। और एक ही अर्जुन को विरुद्ध नानार्थ उपदेश न देते। कहीं **"तस्माद्युध्यस्व भारत"**, **"कर्मण्ये-वाधिकारस्ते"**, ऐसा कर्म का उपदेश है तो कहीं **"अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मां"**, **"मन्मना भव मद्भक्तः"**, **"सततं कीर्त्तयन्तो मां"** इत्यादि उपासना वा भक्ति का उपदेश है, और कहीं **"बुद्धौ शरणमन्विच्छ"**, **"तस्य कार्यं न विद्यते"**, **"सर्वधर्मान् परित्यज्य"** इत्यादि रीति ज्ञान एवं कर्मसंन्यास का उपदेश है। एक ही अर्जुन के प्रति एक साथ इन सबका उपदेश किस प्रकार हो सकता है ? यदि कहें कि कालान्तर में भक्ति एवं कर्मसंन्यास करना है, अतः उपदेश है, यदि ऐसी बात है तो उसे कालान्तर में ही बताते। इस युद्ध के प्रसङ्ग में अत्यन्त आवश्यक जितनी बात थी उतनी ही कहते। कालान्तर में इनमें से कई बातों को अर्जुन भूल भी जाता है। यह अनुगीता में स्पष्ट है। वर्तमान में अनुपयोगी एवं कालान्तर में भुला दी जाने वाली बात को कौन समझदार उपदेश करेगा ? भगवान को इतना मालूम ही रहा होगा

कि जो मैं अब बोल रहा हूँ इसको सर्वज्ञ वेदव्यास ग्रथित करेंगे। अर्जुन के काम में यह आवे या न आवे, ग्रथित होने पर लोगों के उपयोग में तो आयेगा ही। गीतोपदेश के बाद ही भीष्म पर्व में तैंतालीसवें अध्याय में **"सर्वशास्त्रमयी गीता"** ऐसा बताया है। अर्जुन को युद्ध में प्रेरित करने मात्र के लिये सर्वशास्त्रसार संग्रह की आवश्यकता की बात उलझन में डालने वाली है। इसलिये सकल-जगदनुग्रहार्थ गीतोपदेश है, यह भाष्यकार का मत ही समीचीन है।

कुछ मनीषी ऐसी भी व्याख्या करते हैं कि अर्जुन नरावतार था। अत एव अर्जुन नरमात्र का प्रतिनिधि था, तो प्रतिनिधि को लक्ष्य करके बोलना अर्थतः प्रतिनिधेय नरमात्र के प्रति उपदेश ही माना जायेगा। अस्तु, जैसा भी हो, चाहे प्रतिनिधि मान लो, चाहे निमित्त, आखिर मनुष्यमात्र के लिये यह उपदेश है ही।

कुछ तार्किक मतिवाले यह कहते हैं कि दोनों सेनाओं के मध्य में इतनी बड़ी गीता सुनाने का अवसर कैसे मिल गया? असल में अर्जुन ने दो चार बातें रोने की कही होंगी, उसके उत्तर में भगवान ने थोड़ा सा कहा होगा। यह विस्तार तो वेदव्यासजी का रचनाकौशल मात्र है। इस पर हमारा कहना यह है कि कितनी बड़ी गीता के लिये वहाँ अवसर नहीं था। सात सौ श्लोक वाली गीता के लिये? यह नहीं हो सकता। सात सौ श्लोक भगवदुक्त नहीं हैं। प्रथमाध्याय भगवदुक्त नहीं है। ग्यारहवें और अठारवें अध्याय में संजय के बहुत सारे वचन आते हैं। दूसरी बात यह है कि अर्थ की गंभीरता को लेकर गीता महान ग्रंथ है। किंतु परिमाण की दृष्टि से गीता एक छोटी पुस्तिका है। नर्मदा किनारे एक महात्मा थे। उनका नियम था कि नर्मदा में गोता लगाकर गीता का एक अध्याय बोलना। जल्दी मन से बोल जाते थे तो दो मिनट में अध्याय पूरा होता था। ऐसे यदि अठारह अध्याय बोलें

तो आधे घंटे, पौने घंटे में गीता पूरी हो सकती है। तो क्या आधा घंटा दोनों सेनाओं के मध्य में रहना असंभव था ? पुरातन युद्ध में स्वयं युद्ध घोषित किये विना कोई शस्त्र नहीं चलाता था। श्रीधरस्वामी ने यहाँ की वस्तु स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है :—तत्र च प्रायशः श्रीकृष्णमुखनिःसृतानेव श्लोकानलिखत्। कांश्चित्तत्संगतये स्वयं व्यरचयत्। अर्थात्—श्लोक प्रायः श्रीकृष्ण के मुखारविंद से ही निकले हैं। संगति के लिये कुछ श्लोकों को वेदव्यासजी ने बनाया। गीतामाहात्म्य का उदाहरण भी दिया—

"गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृताः॥"

इस श्लोक के उत्तरार्ध में स्पष्ट बताया है—स्वयं पद्मनाभ के मुख-कमल से गीता निकली है।

परंतु श्लोक रूप में अर्जुन ने पूछा और श्लोक रूप में भगवान ने उत्तर दिया, यह बात जचती नहीं है। पूरे महाभारत के श्लोक-रचयिता वेदव्यासजी थे, लेखक गणेशजी थे, इत्यादि कथा प्रसिद्ध है। भगवान ने गद्य में आवश्यक शब्दों से कहा। उसे पद्यरूप देने में कुछ शब्द और मिलाने पड़े होंगे। जो भी हो संपूर्ण गीतार्थ भगवदुक्त हैं। वह थोड़े समय में ही कहे जाने योग्य होने से पूरी गीता भगवत्प्रोक्त ही है। गीता शब्द से गायन अर्थ भी निकलता है। अतः भगवान ने श्लोकों को गाया होगा। तब बहुत समय लगा होगा। ऐसी शंका भी निराधार है। लोके, वेदे च गीयते आदि प्रयोग में 'कथ्यते' इतना ही अर्थ होता है।

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं। हे अर्जुन ! तुम अशोचनीयों को लेकर शोक कर रहे हो, साथ साथ पांडित्य की बात भी कर रहे हो। इसमें हेतु उत्तरार्ध में कहा गया है। गतप्राण और अगतप्राणों को लेकर पंडित शोक नहीं करते। फिर किसको लेकर शोक करते हैं ? यदि किसी को लेकर शोक नहीं करते हैं तो गतासून् अगतासून्

यह विशेषण किस लिये ? अशोच्यों को लेकर शोक किया तो शोच्य कौन ? जिसके प्रतियोगी अशोच्य हैं, इन सब बातों को समझने के लिये हमें थोड़ा ऊपर से विचार लाना होगा।

पंचदशी में दो प्रकार की सृष्टि बतायी है। एक ईश्वर सृष्टि है और दूसरी जीवसृष्टि है। कौन ईश्वर सृष्टि और कौन जीवसृष्टि ? सामान्य रूप से यही उत्तर देंगे कि अकाश, हवा जंगल, पर्वत, पृथिवी, सूर्य, चंद्र, तारे आदि ईश्वर सृष्टि है। घड़ा, कपड़ा, मकान, गाड़ी, विमान, रोकेट आदि जीव सृष्टि है। नहीं। घड़ा, कपड़ा आदि भी जीवसृष्ट नहीं है। किसी भक्त से पूछिये – यह मकान आपने बनाया ? उत्तर देगा—भगवान की कृपा से बना। मैं कौन बनाने वाला ? यह आपका लड़का है ?—भगवान का दिया हुआ लड़का है। यदि हम निर्माण में स्वतंत्र होते तो बहुत लोग संतान के अभाव में न रोते। और माना भी जाय कि आपने मकान बनाया। कुम्हार ने घड़ा बनाया। किंतु उसका उपादान मिट्टी को किसने बनाया ? आपने बनाया ? मिट्टी जब आप से नहीं बनी तब उससे अभिन्न घटादि के प्रति आप कर्त्ता किस प्रकार ? ऊपर नीचे करने पर मिट्टी ही तो गोल घड़ा है। तानाबाना से तंतु ही तो वस्त्र है। रुई ही तंतु है, उसे भगवान ने बनाया। हम केवल निमित्त मात्र हो सकते हैं और केवल सृष्टि का अभिमान मात्र करते हैं। सृष्टि कर्त्ता परमेश्वर ही है।

अब प्रश्न यह है कि फिर जीवसृष्टि क्या है ? तो सुनिये। रात को हम सोये हैं। गाढ़ अंधकार है। न वाहर की वस्तु दीख रही है और न भीतर की ही। तब निद्रा में स्वप्न आया। वहाँ आकाश, वायु, नदी, पर्वत, जंगल, सूर्य, चंद्र आदि सभी दिखाई पड़े। यह किसकी सृष्टि है ? यही जीवसृष्टि है। समानान्तर सृष्टि है। ईश्वर ने जो बनाया, सबकी नकल स्वप्न में जीव करता है। पूछेंगे कि यह कल्पना मात्र है, सृष्टि कहाँ है ? सृष्टि है। कल्पना से शोक

भयादि नहीं होता। स्वप्न में शेर को देखकर डरते हैं। किसी का मरण सुनकर रोते हैं। प्रिय को देखकर मुस्कराते हैं। शत्रु को देखकर जलते हैं। जितना जाग्रत में उतना ही स्वप्न में। थोड़ा भी फरक नहीं होता। भयादि रूप अर्थक्रियाकारी होने से स्वप्न में सृष्टि है। केवल कल्पना होती, वस्तु असत् होती तो भयादि कार्य किस प्रकार? असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं होती। यदि स्वप्न दृष्ट सर्प, चोर, प्रिय आदि असत् हो तो उससे भय, प्रेम, आदि कार्य न होता। केवल निराकार कल्पना रूपी ज्ञान से भयादि संभव नहीं है। विषयाकार ज्ञान से भयादि होते हैं तो विषय भी कारण हो ही गया। तब वह असत् किस प्रकार? श्रुति भी स्वप्न सृष्टि को स्वीकार करती है। "**न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते**" इस प्रकार बृहदारण्यक में बताया है।—स्वप्न में रथ घोड़े, एवं मार्गादि नहीं है फिर भी इन सब की सृष्टि की जाती है। रथादि की सृष्टि हुई तो रथादि नहीं है, ऐसा श्रुति क्यों कह रही है? "सृजते" सृष्टि हो गयी तब रथादि होना चाहिये। नहीं। ईश्वर सृष्टि को लेकर वहाँ रथादि नहीं है कहा। जीव सृष्टि को लेकर कहा—"सृजते"। फरक यही है कि वह सृष्टि मिथ्या है।

जीवसृष्टि को समान्यरूप से इस प्रकार समझने के बाद अब विशेष रूप से समझने का प्रयास किया जाय। केवल स्वप्न में ही जीवसृष्टि होती हो ऐसी बात नहीं है। जाग्रत में भी जीवसृष्टि होती है। रज्जुसर्प, शुक्तिरजत आदि जीवसृष्टि है ही, मनोराज्य भी जीव सृष्टि ही है। ईश्वर सृष्टि के साथ साथ ही जीवसृष्टि भी चलती है। एक स्त्री है। इतनी तो ईश्वर सृष्टि हुई। अब उसको कोई बेटी, कोई बहन, कोई पत्नी, कोई माँ, कोइ चाची आदि कहता है तो ये सब जीवसृष्टि हैं। इसीसे 'मैं' 'मेरा' आदि भाव होता है। जीवसृष्टि का ही उदाहरण अर्जुन का यह श्लोक है :—

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥

यह शत्रु है, यह मित्र है, यह तटस्थ है, इत्यादि सभी जीवसृष्टि है। ईश्वर सृष्टि की अपेक्षा अशोच्य है, जीवसृष्टि को लेकर शोक होता है। रोज हजारों आदमी मरते हैं और जन्मते हैं। क्या सबको लेकर आप रोते हैं और प्रसन्न होते हैं ? यदि अपने घर में कोई लड़का जन्मा या कोई मरा तो आप प्रसन्न होते हैं, रोते हैं। क्यों ? वच्चे सभी बच्चे ही हैं। वृद्ध सभी वृद्ध ही हैं। क्यों सबके लिये नहीं ? इसलिये कि मेरा पुत्र पैदा हुआ, मेरा दादा मर गया। बालक जन्म की खुशी नहीं, पुत्र जन्म की खुशी है। वृद्ध के मरण का शोक नहीं है, दादा के मरण का शोक है। पितृ पुत्रादि गतासु-मृत होने पर शोक होता है, शत्रु दुष्ट आदि अगतासु होने पर शोक होता है।

जीवसृष्टि के बारे में कुछ अधिक गहराई से विचार करें। ईश्वर सृष्टि सीमित है, किन्तु जीवसृष्टि असीम है। ईश्वर सृष्टि नियमित है, जीवसृष्टि अनियमित है। दो आदमी थे। दोनों का एक एक लड़का था। दोनों लड़के बुद्धिमान और चतुर थे। दोनों लड़कों को अमेरिका पढ़ने भेजा। भेजने में काफी खर्चा आया। दोनों को तीन साल का कोर्स पूरा करना था। समय पूरा होने पर दोनों को ऊँची नौकरी मिली। किंतु दैव दुर्विपाक था। एक एक्सिडंट में मारा गया। उन लड़कों का एक साथी था। उसने तार से और चिट्ठी से उनके पिताओं को सूचित किया। एक को सूचित किया कि तुम्हारा लड़का बड़ा लायक निकला है। ऊँचे पद पर नौकरी कर रहा है। महीने में चार हजार कमाने लगा है। दूसरे को लिखा तुम्हारे पुत्र की एक्सिडंट में दर्दनाक मृत्यु हो गयी। लिखने वाले को नाम और एड्रेस में थोड़ी भ्रांति हो गयी। परिणाम यह हुआ— जिसका लड़का जीवित था, नौकरी कर रहा था उसको सूचना

आयी कि तुम्हारा लड़का एक्सिडंट में मर गया है और जिसका लड़का मर गया था उसको सूचना आयी कि तुम्हारा लड़का महीने में चार हजार कमाने लगा है। पहले वाला पत्र पढ़ते ही बेहोश होकर गिर गया। दूसरा आनन्द विभोर हो रहा था। पत्र बार-बार पढ़ रहा था। अब वह जो रो रहा है, सो किसके लिये ? और वह जो प्रसन्न हो रहा है सो किसके लिये ? उत्तर स्पष्ट है कि जो रो रहा है, वह ईश्वर सृष्ट पुत्र के लिये नहीं। किंतु स्वीय जीवसृष्ट पुत्र के लिये रो रहा है। उसने मन से पुत्र की कल्पना की, उस पर पत्र के अनुसार मोटर चढ़ते हुए मन से देखा और कल्पना से मरते हुए देखा। द्वितोय प्रसन्न हो रहा है जीवसृष्टि के लड़के की नौकरी से। क्योंकि ईश्वर सृष्ट लड़का मर चुका था। वह तो जलकर खाक हो गया था।

एक हमारी प्रात्यक्षिक घटना हुई। दंपति को ढलती ऊमर में एक लड़का हो गया। अब उनकी खुशी का क्या कहना था ? दिन-रात दोनों उसकी खुशी में डूबे रहते थे। प्रिय से प्रिय वस्तु लाकर उसको देते थे। श्रीमंतों का वह लड़का था। उसके लिये किसी बात की कमी नहीं थो। उसकी सेवा में आया (धाई) रखी हुई थी। रोज सायं बगीचे में घूमाने ले जाती थी। वह तीन चार साल का हो गया। एक दिन सायंकाल आया के साथ बगीचे में घूमाने के लिये बच्चे को भेजा। माता-पिता स्वयं बच्चे के लिये फल फूल खिलौने आदि खरीदने गये। इधर आया बच्चे के साथ फूटपाथ पर खड़ो थी। एक लॉरी यमराज के समान घुर-घुराती हुई आयी। ड्राइवर शराब पीये हुए था। गाड़ी को मोड़ने में जरा चूक गया कि गाड़ी फूटपाथ पर चढ़ गई और नन्हें निरपराध अबोध मासूम बालक की इह लीला को अनंत काल के लिये समाप्त कर दिया। माता-पिता फल खिलौने खरीद चुके थे। मीठे अंगूर सेव आदि लेकर वापिस चल रहे थे। रास्ते में भीड़ देखी। किसी

से पूछा तो सुना किसी बच्चे का एक्सिडंट हो गया है। हो गया होगा। बंबई में होता ही रहता है। दोनों खूब आनन्द में थे। मनोराज्य से बच्चे को घर में अंगूर खिला रहे थे। खिलौने दे रहे थे। सोच रहे थे कल उसे बड़े गार्डन में ले चलेंगे। चलते हुए भीड़ के पास पहुँचे तो सड़क के उस पार बच्चा खून से लथपथ होकर पड़ा था। तब भी कोई रोना नहीं आ रहा था। आपस में कह रहे थे कि देखो, बच्चे कैसे लापरवाही से खेलते हैं। इतने में आया ने दोनों को देखा और चीख उठी। आया को चीखते देखकर दोनों को भारी घबराहट हुई। दो फर्लांग वहाँ तक पहुँचने में उनको आधा घंटा लगा था। लेकिन अब बिजली के समान सड़क पार कर गये। फिर तो क्या कहना? अपने ही बच्चे का हाल देखकर बेहोश हो गये। विलखने लगे। आगे वर्णन करना ही बड़ा कठिन है। उस शोक का हम क्या वर्णन करें? पर विचारने की बात सामने आयी। आधे घंटे तक जो अंगूर खिला रहे थे, खेला रहे थे। किस बच्चे को? ईश्वर सृष्ट को? नहीं। वह तो मर चुका था। वह जीवसृष्ट था। मनोराज्य निर्मित था। बच्चे को मृतावस्था में देखा, तब भी रोना नहीं आ रहा था। निश्चित है कि ईश्वर सृष्ट बच्चे की मृत्यु पर शोक नहीं, दीखने पर भी शोक नहीं। जीवसृष्ट मेरा पुत्र मरा, तब शोकसागर ऊमड़ पड़ा। यहाँ यह अर्थ भी सामने आया कि ईश्वर सृष्ट में भी शोक तभी होता है, जब जीव सृष्टि का उससे तादात्म्य होता है। तब शोच्य कौन हुआ? ईश्वर-सृष्टि या जीवसृष्टि? शोक तो जीवसृष्टि में हुआ। ईश्वर सृष्टि में जीवसृष्टि का तादात्म्य कर ईश्वर सृष्टि में भी शोक हुआ। वस्तुतः दोनों ही अशोच्य हैं और अज्ञानी लोग उसी को लेकर शोक करते हैं।

अर्जुन के सामने भीष्मादि खड़े हैं, सो भी अव्रण होकर। अर्जुन का शोक तब किस बात को लेकर? बाणों से वे व्रणित होंगे, मरेंगे

इस बात को लेकर शोक हो रहा था। इस बात को लेकर भी नहीं, किंतु ऐसा सोचकर शोक कर रहा है। 'सोचकर' का अर्थ है वैसी जीवसृष्टि करके शोक कर रहा है। कल्पना से बाणों से व्रण और भीष्मादि मरण बनाया और उसके सामने स्थित भीष्मादि के साथ तादात्म्य किया। उतने पर भी शोक नहीं होता—ये मेरे गुरुपितामहादि हैं, ऐसा समझने पर ही होता है। अतः वस्तुतः ईश्वरसृष्टरूपेण अशोच्य भीष्मादि पर जीवसृष्टि तादात्म्य कर हे अर्जुन ! तुम शोक कर रहे हो, ऐसा यहाँ अर्थ है। न कि अशोच्य एवं शोच्य दो विभाग कर उनमें शोच्य की व्यावृत्ति करते हुए अशोच्य के शोक की बात यहाँ बतायी जा रही है।

यदि व्यावृत्ति पूर्वक व्याख्या जानने की इच्छा है तो वह भी भाष्य में दिखाया है। शोक दो प्रकार से संभव है—अविनाशित्व की संभावना पर चोट लगे तो शोच्य है। पतन से संभावित उद्धार पर चोट लगे तो भी शोच्य है। जैसे इन्द्रादि देवता की मुक्ति होने वाली है, उससे यदि च्युत हो तो वे शोच्य है। किसी सत्कर्म करना बाकी था, करने जा रहा था, बीच में उसका मरण भी शोच्य है। यहाँ भीष्मादि के न तो आत्मनाश की संभावना है और न ही नित्य सद्वृत्त होने से उद्धार के अभाव की संभावना है। इस प्रकार वे सर्वथा अशोच्य हैं।

प्रज्ञावादांश्च भाषसे। केवल अशोच्यों के लिये शोक करते हुए अज्ञानी के रूप में ही रह जाते तो कोई बात नहीं थी, किन्तु ऊपर से प्रज्ञावादों को भी बोल रहे हो। पंडितों की बातें भी कर रहे हो। यही भारी खतरनाक है। पंडित ही होते तो भी ठीक बात थी। अज्ञानी ही रहते तो भी ठीक था। यह बीच की स्थिति बड़ी ही दुस्तर है—

अज्ञः सुखमाराध्यः सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः।
ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि च तं नरं न रञ्जयति ॥

अज्ञानी हो और जिज्ञासु भी हो तो उसे आसानी से समझाया जा सकता है। विशेष जानने वाला हो, किसी बात की भूल हो रही हो तो भी उसे उससे अधिक आसानी से समझाया जा सकता है। परंतु अज्ञानी हो और विशेषज्ञ का स्वांग भरता हो तो ऐसों को समझाना ब्रह्मा की शक्ति से भी परे की चीज है। **"धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नं"** से लेकर एक बड़ा प्रज्ञावाद उपस्थित किया। कुलक्षय से कुलधर्म नष्ट होगा, तब अधर्म आ घेरेगा, स्त्रियाँ दूषित होंगी, वर्णसंकर प्रजा होगी। **"पतन्ति पितरो ह्येषां"**—पितर नरक में पड़ेंगे इत्यादि प्रज्ञावाद ऐसे हैं कि इनका संतोषास्पद उत्तर कोई नहीं दे सकेगा। क्योंकि यह सब जिज्ञासा से नहीं बताया गया है। किंतु तर्कमात्र है। तर्क में ऐसा नियम है, इधर से दबाओ तो उधर लुढ़केगा। उधर दबाओ तो इधर मुड़ेगा। हो सकता है कि कुलनाश से ये सभी क्रम घटित हो। हो सकता है—न भी घटित हो। यह सब भविष्य की बातें हैं। कुलनाश के बिना भी इन सबका होना और न होना दोनों संभव है। परन्तु इतना कहने से तो मुँह बन्द नहीं हो सकता। फिर आगे कहा जायेगा—कुलनाश के होने पर और न होने पर भी यह विनाश क्रम संभव है। परन्तु कुलनाश होने पर अधिकतर संभावना है। तब उसका क्या जवाब होगा ? कुछ जवाब देंगे तो और कुछ सुराग उसमें से भी निकल आयेगा। अतएव वेदव्यासजी ने भी **"तर्काऽप्रतिष्ठानात्"** बताया। यही कारण है कि गीता में भगवान ने कहीं इन प्रश्नों का स्पर्श भी नहीं किया। क्योंकि यह सब जिज्ञासा रूप में न कहकर प्रज्ञावाद रूप में ही कहा गया है। उसे **"कश्मलं"** कहकर ही भगवान ने समाप्त कर दिया था। क्यों कश्मल है ? इसलिये कि ये सब केवल प्रज्ञावाद हैं। भगवान उत्तर केवल—**"पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः"** इस जिज्ञासा का ही दे रहे हैं।

यहाँ देखना यह है कि अर्जुन का जोर "एतान् (आचार्यादीन्) न हन्तुमिच्छामि" पर है या "पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदक-

क्रिया:" पर है। यदि हनन हो गया तो कौन पितर हैं, जो पतित होंगे ? पतित होने वाला नित्य आत्मा है तो हनन किसका ? यह कहें कि शरीर को मारना नहीं चाहता। जीवात्मा मरणोत्तर पतित होंगे। ऐसा यहाँ अर्थ है। हो सकता है। किन्तु शब्दतः यह विभाग प्रतीत नहीं होता। "एतान्न हन्तुमिच्छामि", "उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां", "नरके नियतं वास:", "पतन्ति पितरो ह्येषां" इन सब वचनों में कोई शरीरात्मविभाग प्रतीत नहीं होता। यह कहा जा सकता है—"स्वजनं हि कथं हत्वा" में स्वजन शब्द शरीर में लाक्षणिक है। "नरके नियतं वास:" में मनुष्य पद जीवात्मा में लाक्षणिक है। तत्वज्ञानियों का व्यवहार ऐसा ही होता है। "अहं गच्छामि उपविशामि" आदि में अहं पद की शरीर में लक्षणा है। "अहं ब्रह्मास्मि" इस व्यवहार में अहं पद की साक्षी में लक्षणा है। परन्तु यह बात अर्जुन पर लागू नहीं होती। कारण ऐसा तत्वज्ञानी शोक नहीं करता। पहले हम कह आये हैं कि जीवसृष्टि के तादात्म्य अध्यास के बिना शोक होता ही नहीं। जिसकी ईश्वरसृष्टि में जीव-सृष्टि का तादात्म्य अध्यास है उसका आत्मा में तादात्म्य अध्यास नितरां सिद्ध है, क्योंकि मायाकार्य शरीरादि में अध्यास ही नहीं होता। किन्तु तद् अवच्छिन्न चैतन्य में ही होता है, इत्यादि बातों का वर्णन आगे आने वाला है। अतः "पतन्ति पितरो ह्येषां" इत्यादि है तो पंडितों की बात। पर सुनी सुनाई बात है। अर्जुन स्वयं पांडित्य संपादन करके नहीं बोल रहा है। यदि ऐसा होता तो शोक न करता।

क्या अर्जुन बड़ा भारी मूर्ख था ? जैसे कि कुछ आचार्य लोग मानते हैं—"देहस्वभावं च न जानासि, तदतिरिक्तमात्मानं च"—तुम देह स्वभाव भी नहीं जानते हो, नित्य आत्मा को भी नहीं जानते हो। नहीं। प्रज्ञावाद से इतना निश्चित है कि अर्जुन जानता है तभी तो कहता है। किंतु स्वजनमोह से वह ज्ञान अभिभूत

हुआ। "शोकमोहाभ्यां ह्यभिभूतविवेकविज्ञानः" ऐसी भाष्यकार आद्यशंकराचार्य की मान्यता है। माया मोह बड़ा विलक्षण है। ज्ञानियों को भी कभी-कभी वह घेर लेता है। अर्जुन ऐसा नहीं था कि देह विनाशी है इतना भी नहीं जानता था और आत्मा अमर है यह भी उसे मालूम नहीं था। मालूम होने पर भी मौके पर देहाध्यास आ जाता है। शोक मोह होने लगता है। यही अर्जुन के साथ भी हुआ। भगवान का उपदेश देहाध्यास को छुड़ा कर आत्मा अनात्मा विवेक को स्पष्ट प्रादुर्भूत करने के लिये ही है।

गतासूनगतासूँश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः। असु कहते हैं प्राण को। गतासु का अर्थ है—गतप्राण-मृत। अगतासु का अर्थ है जीवित इन दोनों को लेकर पंडित लोग शोक नहीं करते और अर्जुन शोक कर रहा है। अतः प्रज्ञावाद मात्र है। वास्तविक पांडित्य अर्जुन में नहीं है। "पण्डिता नानुशोचन्ति अर्जुनस्तु शोचति तस्मान्न पण्डितः" ऐसा व्यतिरेकव्याप्तिदर्शन है। परंतु भगवान कठोर शब्दों में नहीं कहते हैं कि तुम अपंडित हो। क्या अनुमान मात्र से यह कह रहे हैं। यतः शोचसि अतो न पण्डितः। नहीं। प्रत्यक्ष है। बुरा न लगे इसके लिये अनुमान से कहा जा रहा है। प्रत्यक्ष किस प्रकार ? अर्जुन का ही कहना है "स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव। यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः" यहाँ तीन बातें कही जा रही है। 'हत्वा' से असद्भाव। 'कथं सुखिनः' से सदानन्दाभाव। न पश्यन्ति उपहतचेतसः से अचिद्भाव।

आत्मा नित्य सत् है। "कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत्" ऐसी सत् की व्याख्या है। तीनों काल में जो एक रूप से रहे वह सत् है। विनाशी या परिवर्तनशील सत् नहीं हो सकता। सत् ही सत्य है। जितनी देर तक रहे उतनी देर तक सत्य और आगे पीछे असत् क्यों न माना जाय ? माना जा सकता था यदि सत्य ही असत्य बनता हो तो। सत्य असत्य नहीं हो सकता, किंतु सत् असत् क्यों नहीं हो

सकता है। जैसे घट प्रथम सत् था, फूटने पर असत् हो गया, इस शंका का भी उत्तर आगे स्वयं भगवान ही "नासतो विद्यते भावः" से देंगे। सत् असत् बना तो वह बननेवाला रहा या न रहा? जैसे हरा आम पीला हो गया तो आम रहा ही। वैसे सत् घड़ा असत् हो गया तो घड़ा रहा क्या? यदि रहा तो असत् किस प्रकार? यदि न रहा तो असत् कौन बना? यदि कहो कि घड़ा असत हो गया का अर्थ है घड़ा न रहा तो प्रश्न है—क्यों नहीं रहा? फूट गया इसलिये न रहा तो फूटने वाला आस्तित्व में है क्या? घड़ा फूटा तो घडा असत् हो गया आदि का एक ही अर्थ है। सत् कभी असत् नहीं होता। आत्मा सत् है। अर्जुन ने 'हत्वा' कहकर असत् माना। ऐसा क्यों हुआ? असत् के तादात्म्य से। असत् है शरीर। बदलने वाला असत् होता है। एक आदमी ने अपने मित्र को कहा तुम्हारे पास हजार रुपये हैं, धंधा शुरू करो। मैं तुम्हारी सहायता करुँगा। धंधा शुरू करने पर दो हजार मैं दूँगा। उसने धंधा शुरू किया। एक हजार का सामान खरीद किया। मित्र से कहा—धंधा जमने में समय लगेगा। एक हजार की सहायता करो। आपने पहले मुझे वचन दिया था। उसने कहा मैंने कब कहा था कि मैं एक हजार रुपये दूँगा? मैंने तो ऐसा कहा था—व्यापार करोगे तो एक हजार से दो हजार होगा। इस प्रकार उसने बात बदल दी। बदलने वाला झूठा होता है, यह सर्व-लोक विदित है। यह शरीर बदलने वाला है। बाल्यावस्था में कोमल सुकुमार शरीर था। युवावस्था में वह बदलकर सुंदर सुडौल मजबूत हो गया। वृद्धावस्था में फिर बदलकर कमजोर और शिथिल कुरूप हुआ। बाद में वह भी स्वप्न तुल्य हो जाता है। इस प्रकार बदलने वाला यह शरीर झूठा है। अंत में स्वयं असत् भी हो रहा है। इस असत् शरीर से आत्मा का तादात्म्य किया तो आत्मा भी असत् प्रतीत होने लगा। तब अर्जुन ने कहा—स्वजनं, यदि मां हन्युः। इतना ही नहीं, सत् आत्मा का तादात्म्य असत् शरीर में

कर शरीर को सत् भी मानने लगा। स्वजनों को अगर न मारा तो क्या वे अनंतकाल जीवित रहेंगे ? नहीं। तब हत्वा का मतलब ? यही मतलब हुआ कि हनन न करेंगे तो उनका मरण ही दिमाग में नहीं आता। अर्थात् सत् जैसा प्रतीत होने लगा। शरीर मिथ्या है। झूठा है। किंतु आत्मा की सत्यता से सत्य सा दीख रहा है। जैसे जपाकुसुम के संनिधान से अरक्त स्फटिकमणि भी रक्त दीखती है।

आत्मा नित्य चिद्रूप है। चित् का अर्थ है—प्रकाशस्वरूप-ज्ञान-स्वरूप। अर्जुन ने उसे जड़ समझा। "यद्यप्येते न पश्यन्ति" ये देखते नहीं। 'लोभोपहतचेतसः' लोभ से इनकी चेतना नष्ट हुई। ऐसा भ्रम क्यों हुआ ? जड़ अंतःकरण के तादात्म्य भ्रम से। जड़ अंतःकरण में जब वृत्ति होती हैं तो ज्ञानवान् समझने लगते हैं। जब वृत्ति बराबर नहीं होती तो अज्ञानी समझते हैं। वृत्तिरूपज्ञान और उसका अभाव अंतःकरण में है। आत्मा में नहीं। आत्मा का प्रति-बिंब वृत्ति में पड़ता है, तब वृत्ति प्रकाशमान होती है। फिर वृत्ति का तादात्म्य आत्मा में होता है तो आत्मा ज्ञानवान् प्रतीत होता है। आत्मा वैसे तो सर्वप्रकाशक है, परंतु अज्ञानावृत हो गया। "अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्"। वृत्ति से अज्ञान का आवरण वृत्तिअंश में हटता है तो वृत्ति को ही ज्ञान समझने लगते हैं। वास्तव में वृत्ति से अज्ञानावरण निवृत्त होने से आत्मा ही प्रकाशित हो रहा है। पंडित लोग आत्मा को कभी अचेतन, अद्रष्टा नहीं मानते। **"नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते"** द्रष्टा के प्रकाश का-दृष्टि का-दर्शन का कभी लोप नहीं होता, ऐसा श्रुति का कहना है। असत् के तादात्म्य से सत् आत्मा को मृत्यु वाला समझा, वैसे जड़ अंतःकरण के तादात्म्य से आत्मा को अचेतन, अद्रष्टा समझा। ये दोनों ही पंडितों का काम नहीं है।

(३) अर्जुन में तीसरा मोह है, आत्मा को असुखी समझना। आत्मा नित्य आनन्द रूप है। **"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"** ऐसी

श्रुति है। "कथं सुखिनः स्याम" यह अर्जुन का प्रश्न था। कैसे हम सुखी होंगे? प्रथम तो आत्मा असुखी था कब? कि उसको सुखी बनाना है। सुख और दुःख भोक्ता के धर्म हैं। भोक्ता कौन है? इस विषय में पामरों की तो बात क्या बड़े-बड़े दार्शनिक भी भ्रम में पड़े हुए हैं। आत्मा को वे भोक्ता मानते हैं। किन्तु आत्मा भोक्ता नहीं है। भोक्ता महत्तत्व है। विज्ञानमय कोश के बाद जो आनंदमय कोश आता है वह यही है। **"बुद्धेरात्मा महान् परः महतः परम-व्यक्तम्"** इस प्रकार श्रुति बुद्धि और अव्यक्त के बीच में एक महत्तत्व को स्वीकार करती है। उसी को बुद्धि के ही अन्दर मान-कर गीता में "यो बुद्धेः परतस्तु सः" इस प्रकार कहकर महत्तत्व का नाम नहीं लिया। बुद्धि में अन्तर्भाव कैसे किया? कारण यह कि भोग सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कार को कहते हैं और साक्षात्कार तो बुद्धि का धर्म है, ऐसा हम कह आये। अंतःकरण में ज्ञानवृत्ति होती है तो उसे भोक्ता कहते हैं। ज्ञान भी एक वृत्ति है। सुखादि भी एक प्रकार की वृत्ति है। फिर सुखाकार अतिरिक्त ज्ञानवृत्ति को कुछ लोग मान लेते हैं, दूसरे उसे साक्षी भास्य मान लेते हैं। सर्वथापि भोक्ता आत्मा नहीं ही है। भोक्ता में कभी सुख वृत्ति, कभी उसका अभाव, कभी दुःखवृत्ति और कभी उसका अभाव ऐसा बनना बिगड़ना बना रहता है। जैसे ज्ञानवृत्ति में चेतन का प्रतिबिंब पड़ता है वैसे सुखवृत्ति में आनन्दरूप आत्मा का प्रतिबिंब पड़ता है तो सुखानुभूति होती है। प्रकाश जैसे आत्मा का ही धर्म है, वैसे आनन्द भी आत्मा का ही धर्म है। प्रकाश का प्रतिबिंब ज्ञानाकार वृत्ति में और आनन्द का प्रतिबिंब सुखाकार वृत्ति में पड़ता है, इतना ही फरक पड़ता है। ज्ञान जैसे आवृत है, वैसे आनन्द भी आवृत है। ज्ञान वृत्ति से ज्ञानावरण के समान आनंद-वृत्ति से आनंदावरण की निवृत्ति होती है। ज्ञानवृत्ति जैसे क्षणिक है वैसे आनन्द वृत्ति भी क्षणिक है। ज्ञानवृत्ति के उत्पत्ति नाश आदि

से ज्ञानी अज्ञानी आदि प्रतीति है। वैसे सुखवृत्ति के उत्पत्ति नाश आदि से सुखी दुःखी आदि प्रतीत होते हैं। क्योंकि ज्ञानवृत्ति के तादात्म्याध्यास के समान आनंदवृत्ति का तादात्म्याध्यास भी होता है। अतएव "कथं सुखिनः स्याम" 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' इत्यादि सभी अज्ञान का ही फल है।

यह तीन अपंडित के लक्षण हुए। अब पंडित का भी लक्षण देखिये। यद्यपि तीन के विपरीत होने पर पंडित का लक्षण बनेगा। फिर भी विशेष लक्षण भी समझना चाहिये। पशु का लक्षण पूँछ वाला तो मनुष्य का लक्षण पूँछ रहित इतना कहकर संतोष नहीं किया जाता। पत्थर की भी पूँछ नहीं है, तो वह भी मनुष्य है क्या ? सत् को असत् समझने वाला अपंडित और ऐसा न समझने वाला पंडित यों कहे तो वही बात कही जायेगी कि पत्थर भी तो सत् को असत् नहीं समझता। निवेश प्रवेश से दोषवारण नैयायिकों का हो सकता है। परंतु अपना तो सीधा लक्षण चाहिये। तो भगवान ने स्वयमेव पंडित का लक्षण बताया है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ता, चाण्डाल आदि में पंडित समदर्शी होते हैं। उनमें पंडित सम दर्शन करते हैं, जैसी भी व्याख्या करो लेकिन लक्षण बन ही जाता है। दूसरा लक्षण है—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

जिसके सभी कर्म काम एवं संकल्प से रहित होते हैं, पुण्यपापादि कर्म को जिसने ज्ञानरूपी अग्नि से जला डाला है, उसे पंडित कहते हैं। समदर्शी का अर्थ है ब्रह्मदर्शी। "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" ऐसा गीता में ही बताया गया है। भाष्य में इसकी व्युत्पत्ति दिखायी है—

'पण्डा आत्मविषया बुद्धिर्येषां ते पण्डिताः' । समदर्शी, ब्रह्मदर्शी और आत्मदर्शी इन तीनों का एक ही मतलब है।

एक बार कुछ देवियाँ (लड़कियां) मेरे पास आयीं। वे अपने आपको ब्रह्माकुमारी कहलाती थीं। वे कहने लगीं कि यह बात बुरी है कि कुत्ता, गधा ये सब परमात्मा हैं। मैले का कीड़ा भी क्या परमात्मा है ? भगवान दिव्यलोकवासी हैं। स्वयं दिव्य हैं। किसी साधारण आदमी को भी यदि कुत्ता कहा जाय, गधा कहा जाय, कीड़ा कहा जाय तो क्या स्थिति होगी ? कितनी बड़ी गाली होगी। फिर परमात्मा को ही कुत्ता, गधा, कीड़ा आदि मानें और कहें तो यह बड़ा अन्याय होगा। इस पर हमने कहा कि देवियों बात यह है कि परमात्मा को कुत्ता, गधा कहना निश्चित ही पाप है, किन्तु कुत्ते, गधे को परमात्मा का ही रूप कहना पाप नहीं है। राजा को गंवार नहीं कहा जा सकता। गंवार को राजा कहकर संमानित किया जा सकता है। कुत्ते को परमात्मा कहना और परमात्मा को कुत्ता कहना एक नहीं है। कुत्ते के और गधे के शरीर में जलांश है या नहीं ? पृथिवी अंश है या नहीं ? उसके शरीर में गरमी और प्राण है या नहीं ? तब कुत्ते आदि का शरीर पंचभूतात्मक-पंचभूतमय है या नहीं ? यदि है, तो क्या पंचभूत कुत्ता, गधा है ? यदि पंचभूत कुत्ता, गधा है तो आप कैसे हैं ? आप भी तो आखिर पंचभूतमय हैं।

वस्तुतः कोई वस्तु बुरी नहीं, और कोई अच्छी नहीं। सभी अवस्थाभेद मात्र है। मनुष्य ने अन्न खाया। मनुष्य भी उत्तम है। अन्न भी उत्तम है। मनुष्य शरीर से ईश्वर साधना होती है। अन्न तो ब्रह्मरूप है ही 'अन्नं ब्रह्म'। उत्तम मनुष्य शरीर ने उत्तम अन्न खाया और उसको विष्ठा बना दिया। क्या वह बुरा हुआ ? विष्ठा बड़ी खराब है, परन्तु वैज्ञानिक इसे खेत के उपयोगी बता रहे हैं। कई जगह बना चुके भी हैं। उसी मैले को खेत में डाल दिया तो वापिस उसी से उत्तम अन्न फिर पैदा हो जाता है। कार्य और

आकार को आप भला बुरा भले ही कहें किन्तु कारण तत्व हमेशा शुद्ध होता है। एक इसमें भी कुतर्क करने लगा—महाराज, विष्ठा के खाद से जो अनाज आदि बनता है वह अच्छा नहीं माना जा सकता। वहां कारण कहां शुद्ध है? हमने कहा—विष्ठा से साक्षात् कोई अनाज पैदा नहीं होता। उसका अवयवविश्लेषण होता है, तब वह शुद्ध होता है। जैसे समुद्र से भाप ऊपर उठता है, वैसे गन्दे नालों से भी भाप ऊपर उठता है और बादल में जा मिलता है। गन्दे नालो में मूत्र पुरीषादि सभी बहते हैं। इस दृष्टि से वर्षा का पानी भी अपवित्र माना जाना चाहिये। इसलिए इस पर अधिक विश्लेषण करना विल्कुल निरर्थक है। वास्तविक बात यह है कि कारण तत्व परमात्मा नित्य शुद्ध है। परमात्मा का ही कार्य सारा जगत है। वह परमात्मा से अन्य नहीं हो सकना—**"तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः"** कार्य कारण से अनन्य होता है। ब्रह्म का कार्य यह जगत् ब्रह्म से अनन्य है। जैसे मिट्टी से उत्पन्न हुआ घड़ा मिट्टी से अनन्य होता है। श्रूति का सिद्धान्त है—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्ज-लान्" यह सारा जगत् ब्रह्मरूप है। कैसे? तज्जलान् = तज्ज, तल्ल और तदन् है। तज्ज का अर्थ है—जगत् ब्रह्म से उत्पन्न है। तल्ल का अर्थ है—जगत् ब्रह्म में ही लीन होता है। तदन् का अर्थ है जगत् ब्रह्म में ही जीवित रहता है। जैसे घड़ा मिट्टी से उत्पन्न है, मिट्टी में स्थित रहता है और मिट्टी में लीन भी होता है, अतः घड़ा मिट्टी स्वरूप ही है। वैसे जगत् भी ब्रह्म से उत्पन्न, ब्रह्म में स्थित और लीन भी होता है। अतः ब्रह्मरूप ही है।

इन ऊँची बातों को छोड़ दिया जाय तो भी ईश्वर का सर्वत्रा-वस्थान अपरिहार्य है। राजा परीक्षित का कहना है—**"जुगोप कुक्षिगत आत्तचक्रः"** अश्वत्थामा ने ब्रह्मास्त्र छोड़ा था, माता के उदर में ही मेरा शरीर जल गया। उस समय भगवान ने ही चक्र हाथ में लेकर मुझे बचाया। यह केवल परीक्षित की ही बात नहीं है। सभी माता

के उदर में ब्रह्मास्त्र से—सृष्टिकर्ता ब्रह्माजी के अस्त्र से दग्ध होते रहते हैं। पाक होता है तो बीज फूटता है और अंकुर की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार माता के उदर में बीज भाव से स्थित तत्व।पाक से जब अनेकधा दग्ध होता है तभी बालक शरीर तैयार होता है। उस पाक अवस्था में रक्षा करने वाला कौन ? बीज के फूटते ही अंकुर भी टूट जाय तो ? सबके उदर में स्थित भगवान ही बच्चे की रक्षा करता है। तो क्या कुत्ता, गधा अपवित्र है कहकर भगवान वहाँ रक्षा करने नहीं जाते ? अवश्य जाते हैं। क्योंकि उसकी रक्षा करने के लिये कोई अलग व्यवस्था नहीं है। नैयायिकादि के मत में मूलतत्व पंचभूत समान ही है। वेदांत सिद्धान्त में पंचभूत का भी मूल तत्व एक मात्र ब्रह्म है। अतः "सर्वं ब्रह्म" माना गया है।

'गतासूनगतांसूश्च' ऐसी वक्र रीति से क्यों कहा ? गतासु का अर्थ है मृत और अगतासु का अर्थ है—अमृत-जीवित। इन्हीं शब्दों को भगवान ने क्यों नहीं कहा ? "मृतांश्च जीवितांश्चैव नानुशोचन्ति पण्डिताः" कहते तो बिना व्याख्या ही अर्थ समझ में आता। अर्थ जल्दी समझ में अवश्य आता। किन्तु भ्रान्ति निरास करने में कम उपयोगी सिद्ध होता। स्वजनं हत्वा में 'हन' धातु का अर्थ बहुत से लोग आत्मा का नाश समझते हैं। अर्जुन के मन में भी वही अर्थ प्रथम उपस्थित हुआ है। इस भ्रांति को मिटाने के लिये गतासु शब्द का प्रयोग किया। प्राण केवल गत होते हैं। आत्मा का नाश नहीं होता। प्राणसंयोग या प्राणवियोग से आत्मा में कोई अंतर नहीं आता। इस विषय में विस्तृत विवरण स्वयमेव भगवान आगे प्रस्तुत करेंगे। प्राणसंयोग या प्राणवियोग से आत्मा का शोषण या पोषण नहीं होता है। जैसे शरीर का होता है। प्राणसंयोग से शरीर पुष्ट रहता है। प्राणवियोग होते ही शरीर सूखने लगता है वैसे आत्मा का पोषण या शोषण नहीं होता। आकाश में बादल का संयोग हुआ या वियोग हुआ तो क्या फरक पड़ता है। परन्तु

एक प्रश्न यहाँ यह उठता है कि मृत व्यक्ति के लिये शोक किया जाता है, जीवित व्यक्ति के लिये कोई भी शोक नहीं करता। पहले हम इस प्रश्न का एक उत्तर दे आये हैं—लोग जीवसृष्टि को लेकर ही शोक करते हैं। अतः अगतासु को लेकर भी जीवसृष्ट के प्राणवियोग से शोक हो सकता है। वह उत्तर ठीक है। किंतु प्रकृत स्थान में गतासु कौन है? भीष्मद्रोणादि में कोई भी अभी मरा नहीं है। अगतासु भी जीवसृष्टि से गतासु है कहें तो अगतासु कौन है? जीवसृष्टि से सभी गतासु ही हैं। इसका रहस्य भाष्य में दिखाया है—"ते म्रियन्ते मन्निमित्तम्, अहं तैर्विनाभूतः किं करिष्यामि राज्यसुखादिना"। ते म्रियन्ते मन्निमित्तं यह अगतासु को लेकर है। 'अहं तैर्विना किं करिष्यामि' यह गतासु को लेकर है। ते म्रियन्ते यह वर्तमानसमीप भविष्य का प्रयोग है। मेरे कारण ये मरेंगे ऐसा भाविमरण की जीवसृष्टि है। इनके बिना अकेला मैं राज्यादि से क्या करूँगा यहाँ गतासु को लेकर उसके अगले भविष्य की बात सोची जा रही है। जैसे यह मनुष्य मरेगा यह अगतासु की बात है। मरकर स्वर्ग जायेगा यह गतासु की बात है। वह भी जीवसृष्टि ही है। राज्यसुख में क्या शोक? यह पहले बताया जा चुका है 'रुधिरप्रदिग्धान्'। रुधिरलिप्त राज्यादि भोग भी दुःखरूप होने से शोक का विषय है।

एक कुतर्की ने मुझसे पूछा—इतना सब उलटा सीधा करके आप लोग क्या व्याख्या करते हैं। अर्जुन सीधा सा कह कहा है—स्वजनों को मारकर हम सुखी कैसे बनेंगे? इसमें आत्मा के नाश की बात कहाँ से आयी? सत् को असत्, चित् को जड़, आनंद को दुःख रूप मानने आदि का यहाँ क्या प्रश्न है? कोई महातत्वज्ञानी ही क्यों न हो, अगर कोई मरता है या मरा है तो क्या शब्द कहेगा? किसी दुष्ट ने सज्जन की हत्या की तो क्या कहा जायेगा—उसको मारा ऐसा कहेंगे कि उसका प्राणविगोग कराया ऐसा कहेंगे? तत्वज्ञानी भी 'मारा' 'मरा' आदि शब्द का ही प्रयोग करेगा।

इसमें अपंड़ित या पंड़ित की बात क्या है ? अर्जुन कोई आत्मनाश की बात ही नहीं कर रहा था इत्यादि। हमने उसको बताया कि यदि अर्जुन ने आत्मनाश की बात नहीं कही, तो भगवान ने आत्मा की नित्यता को ही 'न त्वेवाहं जातु नासं' इत्यादि से वर्णन क्यों किया ? "न जायते म्रियते" "नायं हन्ति न हन्यते" यह सब उसी के प्रति कहा जाता है जो आत्मा की नित्यता न जानता हो या भूल गया हो। लौकिक दृष्टि से बात हो तो हनन काल में "नायं हन्ति" कदापि नहीं कहा जा सकेगा। भले ही अर्जुन लौकिक शब्दों का उच्चारण कर रहा हो, किंतु तत्वज्ञानी तो नहीं ही था। आत्मनित्यता आदि का ज्ञान रहता तो शोक ही क्यों करता ? शोक कर रहा है तो लौकिक शब्द प्रयोग अज्ञानपूर्वक ही है, ऐसा क्यों नहीं माना जायेगा ? दूसरी बात यह है कि अर्जुन सीधी सादी लौकिक भाषा में कह रहा है तो क्या लोग सभी तत्ववेत्ता है ? "कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः" के अनुमार लोग तो प्रायः आत्मा के बारे में अज्ञानी हैं, उस अज्ञान के ही कारण शोक मोह भी कर रहे हैं, तथा शोक मोह से प्रायः लोग धर्मच्युत भी हो रहे हैं। अधर्म में भी प्रवृत्त हो रहे हैं। अत एव भाष्य में अर्जुन के शोक मोह एवं धर्म त्याग आदि वर्णन के बाद—**"तथा च सर्वप्राणिनां शोकमोहादिदोषाविष्टचेतसां स्वधर्मपरित्यागः प्रतिषिद्धसेवा च स्यात्"** इत्यादि बताया। अर्जुन के समान सभी प्राणियों की यही रीति है। इसलिये लौकिक सादी भाषा में कहना तो उलटा अज्ञान का ही सूचक है। तत्वज्ञानी 'मरा' कहने के बदले प्राणसंयोगवियोग हुआ कहेगा ? नहीं। फिर भी उसी अर्थ से कहेगा। न कि अज्ञानी के समान आत्मनाश अर्थ से। और "स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्माम माधव" ऐसा शब्द प्रयोग अपने लिये करेगा ही नहीं। इस लिये लौकिक शब्द व्यवहार की युक्ति हमारे पूर्वोक्त अर्थ का समर्थन मात्र करती है ॥ १९ ॥

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ।।१२।।

[न तो मेरा कभी अभाव रहा, न तुम्हारा और न इन राजाओं का ही । और आगे हम सबका अभाव हो जाय ऐसा भी नहीं है ।
।।१२।।

पूर्वश्लोक में बताया—"गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः" मृत या जीवित को लेकर पंडित शोक नहीं करते। क्यों नहीं करते ? इसलिये कि वे पंडित हैं। पंडित का अर्थ क्या है ? पंडित कई प्रकार के होते हैं। पूजा कराने के लिये पंडित जी आते हैं। शादी कराने के लिये पंडित जी को बुलाते हैं। रसोई बनाने वाला भी पंडित कहलाता है। ऐसे पंडित की यहाँ बात है क्या ? नहीं। आत्मतत्व ज्ञानी पंडित यहाँ बताया गया है। लेकिन पंडित शब्द का इतना अर्थ कहाँ से आया ? पंडित का अर्थ केवल विद्वान होता है। चाहे वह कर्मकांड का पंडित हो चाहे रसोई का। नहीं। कुछ शब्द अनेकार्थ होते हैं। जैसे बम्बई कहने से दहिसर तक की बम्बई अर्थ भी है, इधर केवल भुलेश्वर, कालबादेवी, चर्चगेट आदि को भी बंबई कहते हैं। मैं प्रथम बार बम्बई आया था। विले पारले में प्रवचन किया। मैंने सुबह आने वाले एक भक्त को शाम को पूछा—आप सुबह क्यों नहीं आये ? उसने कहा—मैं बंबई गया था। मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने कहा तुम बंबई में हो बैठे हो, बंबई गया था का क्या मतलब ? बंबई से बाहर भी कोई बंबई है ? उसने कहा—बंबई में यदि बंबई कहे तो कालबादेवी, चर्चगेट आदि का बोध होता है। बंबई से बाहर रहकर कोई कहे तो पारला भी बंबई है। तब मुझे समझ में आया। वैसे ही पंडितों में बैठकर पंडित कहे तो आत्म-

ज्ञानी अर्थ है। मूर्खों में पंडित कहे तो रसोई का भी पंडित पंडित ही है। कहाँ आत्मज्ञानी अर्थ देखने में आया है? इसके उत्तर में भाष्यकारने वृहदारण्यक वाक्य दिखाया है–**"तस्मात्पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्"**—पांडित्य को प्राप्तकर बलभाव मनन करो। मनन निदिध्यासन सहकृत होने से वहाँ पांण्डित्य का °अर्थ श्रवण जनित आत्मतत्वज्ञान ही है। तब पंडिता नानुशोचन्ति का अर्थ हुआ आत्म ज्ञानी शोक नहीं करते। इस पर प्रश्न हुआ कि वह आत्मतत्व क्या है? जिसको मैं नहीं जानता हूँ और शोक मग्न हो रहा हूँ, इसका उत्तर भगवान दे रहे हैं—**न त्वेवाहम्**।

न त्वेवाहं जातु नासं—न तो ऐसा है कि मैं कभी न रहा। यहाँ दो नकार प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार 'न त्वं' और 'नेमे' में भी जोड़ कर व्याख्या करनी चाहिये। न त्वं नासीः नेमे जनाधिपा नासन्। तुम कभी नहीं थे, ऐसा भी नहीं, ये राजा नहीं थे, ऐसी बात भी नहीं। दो निषेध करने पर विधि अर्थ होता है। "मेरे पास धन नहीं, ऐसी बात नहीं" अर्थात् धन है। मैं दिल्ली नहीं गया, ऐसी बात नहीं। अर्थात् गया। तब दो नकार के बिना ही क्यों नहीं बोलते? मैं था, मेरे पास धन है, मैं दिल्ली गया, ऐसा ही क्यों नहीं कहते? इसलिये कि कुछ विशेष भाव अभिव्यक्त करने के लिये दो नकार बोलते हैं। 'धन नहीं ऐसी बात नहीं—धन है, भले आपके जितना न हो इत्यादि वहाँ सूचनीय अर्थ है। 'मैं था' इतना मात्र तो दो चार वर्ष पहले या सौ पचास वर्ष पहले रहा तो भी कहा जा सकेगा। मैं नहीं था, ऐसा नहीं, कहने पर कभी भी मेरा अभाव सिद्ध नहीं होता, अनादिकाल से आ रहा हूँ ऐसा अर्थ निकलेगा। यह आत्मा अनादिकाल सिद्ध है। अनंतकाल तक रहने वाला है। इतनी बात भगवान को कहना है।

क्या यह एक नयी बात बता रहे हैं? नहीं। यह वेदान्त विद्या है अनादिकालीन है। परन्तु बीच में प्रवक्ता के अभाव में चार्वा-

कादि विद्या का उत्थान होने से वेदान्त विद्या अभिभूत हो गयी।

"स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप"

ऐसा चतुर्थाध्याय में बतायेंगे। वेदान्त विद्या दीर्घ काल में वक्ता एवं श्रोता के दोष से नष्ट हो जाती है। पुनः क्रमिक विकास के समान चार्वाकादि विद्या से प्रारम्भ हो जाती है। अनात्मवाद, शून्यवाद, मध्यमपरिमाणवाद, आत्माणुवाद आदि अनेक मतमतान्तर क्रमशः उद्भूत होते हैं। इसे क्रमिक विकास नाम से आजकल के लोग कहते हैं। वस्तुतः यह क्रमिक विकास नहीं है। नियंत्रण-कारी घर के बड़े आदमी के न होने पर सभी बच्चे शोर मचाने लगते हैं, उनमें बड़ा बच्चा छोटे को पीटता है, मुँह बन्द करता है, वैसे ये सब बादी आपस में लड़ने लगते हैं। जहाँ विवाद है, वहाँ न्यूनता है। वेदान्त निर्विवाद है, निर्विरोध है, अतः पूर्ण है। **"अवि-वादोऽविरुद्धश्च"** ऐसा श्री गौडपादाचार्य का कहना है। इसका विवरण हम अन्यत्र करेंगे। अस्तु। तो इन बच्चों के शोर में प्रथम चर्वाक है। जिसके मत को लेकर अर्जुन का शोक है। चार्वाक शब्द का अर्थ है—"चारु आकायति"—चारु = मीठी-मीठी बात, आका-यति = खूब बोलता रहता है। **"कै शब्दे"** ऐसा धातु अर्थ वर्णन है। सुनने वालों को जो मधुर लगे, परिणाम चाहे जो हो, वही चार्वाक वाणी है।

एक वाचाल भक्त ने मुझसे पूछा कि राज तन्त्र में ये सब शास्त्र लिखे गये हैं। प्रजातन्त्र में एक व्यक्ति के दिमाग से निर्णय नहीं होता। रूस, चीन आदि में धर्म को और भगवान को नहीं मानते। प्रजातन्त्र में इन सबका अस्तित्व नहीं होता। मैंने कहा—यह चार्वाक मत है और क्रमिक विकासवादी मत में यही प्रथम सोपान है। लोगों को सुनने में जो चारु = मधुर लगे। यदि हम कहे—माघ मास में प्रयागराज में त्रिवेणी में स्नान करने से महान् पुण्य प्राप्त होता है तो सामान्य लोग 'हाँ' ऐसे कह देंगे। किन्तु दूसरा

यदि कहे कि त्रिवेणी से जल लाकर गरम करके स्नान करो तो भी वही फल होता है, तब लोग कहेंगे—ये महाराज तत्वज्ञानी हैं। तीसरा यदि कहे कि घर में ही त्रिवेणी का स्मरण कर गरम जल में स्नान करो तो भी पही पुण्य मिलेगा, तो कहना ही क्या ? परंतु यह बात अच्छी लगी इतने मात्र से वही निर्णय नहीं है। कोई महात्मा प्रवचन में बोलें—सत्य के लिये मरमिटना चाहिये। काला बाजार करना नरकमार्ग है। कर चोरी बड़ी बुरी है, तब सेठ लोग सुन लेंगे। किंतु कोई महात्मा कहें कि कर चोरी करना पाप नहीं है। सरकार ने इतना जो कर लगाया, यही अन्याय है। सारी दुनियाँ जैसी चलती है वैसा न चलो तो स्वयं मार खाओगे। हाँ, पाप की बात है। उसके लिये प्राप्त धन से थोड़ा बहुत दान करना चाहिये। इतना कहते हैं तो लोग उसका पूर्ण समर्थन भी करेंगे। तब क्या यही धर्मनिर्णय है ? लोग अपनी सुविधा जिसमें हो, सुख जिससे हो उसी का समर्थन करेंगे। वह धर्मनिर्णय नहीं माना जा सकता। एक मेरा भगत है। उसने सस्ते के जमाने में जमीन पाँच सात सौ में खरोदी थी। आज से तीस चालीस साल पहले की बात थी। अभी उसने बेची तो बीस लाख रुपये मिले। मेरे से कहा—मैं निष्काम कर्म करता हूँ। मुझमें कोई स्पृहा नहीं है। कर्त्ता धर्ता परमेश्वर है। मुझे न राग है और न द्वेष है। फिर पूछा—एक बात आप से जानना है—बीस लाख में तीन ही लाख दिखावें तो कोई पाप तो नहीं है ? ऐसे तो मुझमें कोई राग द्वेष नहीं हैं। लेकिन व्यवहार में अनेक प्रकार की बातें आज कल आती है। मैंने कहा—इस विषय में आप स्वयं बुद्धिमान हैं, निर्णय कर लेंगे। व्यवहार में मुझे क्यों घसीटते हो। यदि मैं कहता कि आप अकर्त्ता—अभोक्ता हैं। व्यवहार में सब कुछ करना पड़ता है, तो वह कहता कि ये बड़े तत्वज्ञानी हैं। यही चार्वाक का भी मतलब है।

चार्वाकों का कहना है कि आत्मा कोई नित्यवस्तु नहीं है। पृथवी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों के विशेषाकार योग से सारा विश्व

बना है। चूना सफेद है, हल्दी पीली है। किंतु दोनों का संयोग होने पर लाल रगं हो जाता है। वैसे ही पृथ्वी, जलादि के अमुक संयोग से शरीर चेतन हो जाता है। वंशलोचन पर पानी डालो तो नीला दीखेगा। पानी सूखा तो सफेद। सिमेंट में पानी डालो तो पत्थर हो जायेगा। कालांतर में अर्थात् सौ पचास साल में फिर वह मिट्टी हो जायेगा। अनेक उदाहरणों से यही सिद्ध होता है कि वस्तुओं के संयोग वियोग से भिन्न भिन्न गुण पैदा होते हैं। अमुक प्रकार का भूतों का संयोग हुआ तो चैतन्य भी पैदा हो जाता है। चैतन्य के पैदा होने से शरीरादि भी चेतन हो जाते हैं। इसी को लेकर आस्तिक लोग अलग आत्मा को मानते हैं। दो पत्थरों के घर्षण से पत्थर गरम हो गये और घर्षण बंद हुआ तो पत्थर भी ठंढ़े पड़ गये, तो क्या उसमें कोई नित्य उष्णतत्व कहीं से आया और बाद में गया ? इस चार्वाक मत का प्रथम जो प्रार्दुभाव हुआ वही साधारण जनता के दिमाग में बैठा हुआ है। इसे चार्वाक मत बोलो चाहे स्वभाविक अज्ञान बोलो। इसी के अनुरूप अर्जुन का वचन है—"स्वजनं हि कथं हत्वा"। तो क्या अर्जुन चार्वाकमतानुयायी था ? यदि चार्वाकमतानुयायी था तो "पतन्ति पितरो ह्येषां" इत्यादि उक्ति कैसे संगत होगी ? यदि नहीं तो "न त्वेवाहं जातु नासं" इत्यादि आत्मनित्यत्व प्रतिपादन की क्या जरूरत ? अर्जुन चार्वाक नहीं था, चार्वाकमतानुयायी भी नहीं था, किंतु स्वाभाविक अज्ञान से आत्मा को जन्ममरण वाला मानता था। 'पतन्ति पितरो ह्येषां' यह कथन महापुरुषों के वचनों पर श्रद्धा होने से सामान्य रूप ज्ञान मात्र है। कुछ बातें मोह से अभिभूत हुइं।

न त्वेवाहं जातु नासम्। प्रथम अहं पदार्थ का विवेक करो। क्या यह शरीर मैं हूँ ? यदि शरीर मैं हूँ तो 'अहं जातु नासं' ऐसा होगा। मैं कभी न था। जन्म से पहले न था। जन्म के बाद आया। परन्तु यह शरीर आत्मा सिद्ध नहीं होता। रात्रि का समय है।

निद्रा आ गयी है। सपना दीखने लगा। दिल्ली, कलकत्ता विचरण करते हुए अपने को देखा। परन्तु यह सोया पड़ा शरीर क्यों नहीं उठता, बैठता, बोलता, चालता ? पृथिवी, जल, तेज, वायु से बना शरीर तो ज्यों का त्यों पड़ा है। ऐसा कहा जाय कि सोने पर शरीर का कोई पुर्जा खराब होता है या ढीला होता है, अतः शरीर में चेतना नहीं रहती। तो दिल्ली देख रहा हूँ, हिमालय देख रहा हूँ, ऐसा स्वप्न ज्ञान किसको हो रहा है ? इसलिये यही कहना होगा कि इस शरीर से अतिरिक्त ही कोई ज्ञाता अन्दर है। वही ज्ञाता आँखों में आकर द्रष्टा, कानों में श्रोता, घ्राण में घ्राता, रसनेन्द्रिय में रसयिता और त्वगिन्द्रिय में स्प्रष्टा बनता है। क्योंकि स्वप्न में नेत्रादि नहीं है, एक ही ज्ञाता है। वह अपने कल्पित नेत्रादि से द्रष्टा श्रोता आदि बनता है, यह स्पष्ट है। सारांश यह कि शरीर एवं इन्द्रियादि केवल ज्ञाता के सहकारी हैं। स्वयं ज्ञाता नहीं हैं। इन सहकारियों के सहकार के रहने या न रहने के कारण ही ज्ञान में उत्पत्ति और नाश की प्रतीति होती है। जैसे नीले काँच के आने पर नीला प्रकाश उत्पन्न होता है और नीले काँच के हटने पर नीला प्रकाश नष्ट होता है। लाल काँच के आने और हटने पर लाल प्रकाश उत्पन्न और नष्ट होता है, किंतु वस्तुतः सूर्य या सूर्य प्रकाश उत्पन्न और नष्ट नहीं होता। चक्षु पर वह ज्ञान प्रकाश आया तो देखना हुआ, चक्षु के हटने से देखना बंद हो गया। सपने में मन एवं संस्कार सहकारी हैं, वे भी जब लीन होते हैं, तब सुषुप्ति में "नाहं किंचिदवेदिषं" मैंने कुछ नहीं जाना, कहते हैं। किंतु सामान्य ज्ञान प्रकाश तब भी रहता ही है। इसी कारण जैसे शरीर एवं इन्द्रिय सहकारी मात्र हैं, वैसे मन भी सहकारी मात्र है। अतएव शरीरेन्द्रियवत् मन भी आत्मा नहीं हैं।

इस आत्मा का कभी भी अभाव नहीं रहा। शरीर जनमता है। जन्म से पहले शरीर नहीं था। वैसे आत्मा भी न रहा हो,

ऐसी बात नहीं है। माना कि शरीर इंद्रिय एवं मन से पृथक आत्मा है। परन्तु उसका जन्म नहीं हुआ, इस शरीरोत्पत्ति से पूर्व उसका अभाव नहीं था, यह कैसे मालूम पड़ा ? इसमें क्या प्रमाण ? यह प्रतिज्ञा मात्र हुआ—"न त्वेवाहं जातु नासम्"। इसका समाधान दार्शनिक लोग यह देते हैं कि प्रमाण से वस्तु की सिद्धि होती है। आत्मा का जन्म हुआ इसमें क्या प्रमाण ? पहले आत्मा का अभाव रहा इसमें क्या प्रमाण ? जन्म का अर्थ है पूर्व क्षण में अभाव, दूसरे क्षण में भाव। उस द्वितीय क्षण के साथ सम्बन्ध ही जन्म है। कल देखा तो अंकुर नहीं था। बीज में पानी डाला था। आज अंकुर देखा तो कहते हैं कि आज अंकुर पैदा हुआ। मित्र को उसका मित्र यह नहीं कहता—आज तुम पैदा हुए। क्यों ? कल उसका अभाव नहीं था। इसी प्रकार आत्मा का अभाव यदि पहले देखा हो और फिर उसका भाव देखें, तो कह सकते हैं कि जन्म हुआ। किंतु आत्मा के अभाव को कौन देखेगा ? आत्मा ही ? नहीं, तो देखेगा कौन ? एक ने मुझे कहा महाराज,—आपने अपने जन्म को नहीं देखा। किंतु आपके माता पिता ने तो देखा है। माता पिता ने आपके अभाव को भी देखा, भाव को भी देखा। देखा अवश्य। किंतु किसका अभाव और भाव देखा ? आत्मा का कि शरीर का ? शरीर का पूर्व में अभाव और बाद में भाव देखा। शरीर की उत्पत्ति देखी। आत्मा को आँखों से देख ही नहीं सकते। तब भाव और अभाव क्या देखेंगे। आत्मा को तो स्वयं अपने आप अनुभव करना पड़ेगा। स्पयं अपने अभाव को कैसे देखेंगे। अतः स्वप्रत्यक्ष या परप्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है।

एक अमेरिकन बिदुषी लड़की ने पति को तलाक दे दिया। कोर्ट में केस हुआ। उसकी शिकायत थी कि पति बहुत अधिक उमर का है। जज ने पूछा—तुम कितनी ऊमर की हो ? तुम्हारी जन्मतिथि क्या है ? लड़की ने कहा—मुझे मालूम नहीं है। पूरा

सभागृह हँस पड़ा। तब जज ने कहा–तुम्हें यह कैसे मालूम हुआ कि पति ऊमर में असाधारण रूप से बड़ा है? उत्तर के रूप में उसने साक्षियों को उपस्थित किया। जज ने पूछा—इतनी होशियार होकर अपनी जन्मतिथि क्यों नहीं जानती? लड़की ने कहा—जानती हूँ, किन्तु कोर्ट में सुनी सुनाई बात प्रमाण है या प्रत्यक्ष प्रमाण है? जज ने कहा—प्रत्यक्ष प्रमाण है। मैं अपने जन्म को कैसे प्रत्यक्ष देख सकती हूँ? प्रत्यक्ष देखने वाले माता-पिता को आपके संमुख प्रस्तुत कर रही हूँ। सारांश यह कि अपने शरीर का भी जन्म स्वयं प्रत्यक्ष नहीं कर सकते तो आत्मा का जन्म कैसे प्रत्यक्ष करेंगे?

एक नास्तिक कहने लगा—अनुमान प्रमाण से आत्मा का जन्म सिद्ध होता है। यदि शरीर के पूर्व में आत्मा होता तो उस समय की बात मुझे याद होना चाहिये। जैसे कल की बात हम याद करते हैं। शरीर जन्म से पूर्व की कोई भी बात याद नहीं है, अतः मैं उस समय था ही नहीं। मैंने कहा—माता के उदर में आप थे कि नहीं? था। तब बताइये कि माता का उदर कैसा रहा? क्या-क्या वहाँ था? याद है? याद नहीं। तो कहिये—माता के उदर में मैं था ही नहीं। माता के उदर की बात छोड़ो। एक दो बरस ऊमर तक की आप अपनी कहानी सुनाइये। आप माँ की गोद गंदी करते थे, यह सब याद है? याद नहीं है, इसका मतलब आप ही नहीं रहे। नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। कुछ लोग पूर्वजन्म का वृत्तान्त भी सुनाते हैं ऐसे कई बच्चों को हमने देखा है।

एक बार एक दूसरे नास्तिक से मेरा शास्त्रार्थ जैसा हुआ। उसने कहा—यह आत्मा अनात्मा आदि सभी विचार पंडितों का कालक्षेप मात्र है। बैठे-बैठे सोचते रहे और कुछ लिखते रहे। आधुनिक वैज्ञानिकों ने बड़ा अनुसंधान किया। किन्तु कोई आत्मा नाम की वस्तु उन्हें मिली नहीं। मैंने कहा भाई वैज्ञानिक भी

बैठे-बैठे सोचते ही रहते हैं और क्या करते हैं। वे अपनी बुद्धि से सोचकर कुछ आविष्कार करते हैं। यही मनुष्य की मनुष्यता है। मनन करना पशुओं की अपेक्षा विशेषता है। उसी मनन से अनेक विध निष्कर्ष निकलते हैं। इसलिये बैठे-बैठे सोचते रहना यह कोई बुरी बात नहीं है। अब रही बात यंत्रों से अनुसन्धान करने पर नहीं दीख पड़ा। किन्तु बात यह है कि यह यंत्र से दीखने वाला दृश्य नहीं है। यह आत्मा तो यंत्र को भी देखने वाला है। यह दृश्य नहीं है, द्रष्टा है। यंत्र जड़ है, वह चेतन को क्या देखेगा। चेतन जड़ को देखेगा। **"विज्ञातारमरे केन विजानीयात्"** विज्ञाता को किससे देखोगे? यदि रूप हो तो आँखों से देखो, शब्द हो तो कानों से सुनो, स्पर्श हो तो हाथ से स्पर्श करो, रस हो तो रसना से चखो, गंध हो तो नाक से सूँघो। और ये पाँचों न हो तो इन्द्रियाँ क्या करेंगी? इन्द्रियाँ जहाँ निष्क्रिय हैं, वहाँ यंत्र क्या करेगा? अंधे को चश्मा दो तो क्या होगा। "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं" ऐसा आत्मा के बारे में श्रुति का कहना है। तब आत्मा में क्या प्रमाण? स्वयं स्व प्रमाण है। सूर्य का प्रकाशक कौन? वह स्वयंप्रकाश है। 'मैं हूँ' ऐसा स्वयंप्रकाश ज्ञानानुभव है।

उसने पूछा—'मैं हूँ' यह तो शरीर को लेकर बोल रहे हैं। मैंने कहा—नहीं, 'मेरा शरीर' ऐसा संबंध-षष्ठी शरीर के साथ बोलते हैं। मैं शरीर नहीं, मेरा शरीर है। वह 'मैं' शरीर से भिन्न है। जैसे मेरा वस्त्र कहते हैं तो 'मैं' अलग और वस्त्र अलग होता है। वैसे मेरा शरीर, मेरा हाथ, मेरा पाँव, मेरी आँख, मेरा कान आदि है। देहादि से भिन्न 'मैं' चेतन आत्मा है। उसने कहा—संबंध-षष्ठी से वस्तु भिन्न नहीं होती। गाड़ी का इंजन, गाड़ी का डब्बा, गाड़ी की सीट ऐसा प्रयोग करते हैं तो गाड़ी क्या? इन सबके मिलने पर गाड़ी है। वैसे शरीर हाथ, पाँव आदि के मिलने पर 'मैं' बना। मैंने कहा—इन हाथ, पाँव आदि अवयवों को देखे बिना भी सपने में

'मैं' ऐसा कौन बोल रहा है ? जैसे गाड़ी पटरी से उतरी, उलट गयी, एक किनारे पड़ी है, क्या तब भी पटरी पर कोई गाड़ी है, ऐसा कहा जायेगा ? कोई अदृश्य गाड़ी पटरी पर है ? सपने में यह शरीर खटिये पर एक ओर पड़ा है। अचेत जैसा पड़ा है। तब कौन बोल रहा है कि मैं दुनिया को देख रहा हूँ। और आगे देखो। मैंने अपने हाथ में जो दो तीन केले थे, उनमें एक के दो टुकड़े किये और एक टुकड़ा उसके हाथ में दिया और पूछा कितना केला दिया ? उसने कहा—आधा। एक चौथा हिस्सा तोड़कर दूसरा केला भी बाकी दिया, और पूछा कितना दिया ? उसने कहा—पौना। वहाँ पर एक लंगड़ा (जिसका एक पाँव कटा था) बैठा था। मैंने पूछा—यह कितना आदमी बैठा है ? उसने कहा—एक। मैंने कहा—अच्छी तरह देखकर कहो। वह बोला—देखकर ही कह रहा हूँ—एक पाँव वाला आदमी है। मैंने कहा—पाद का अर्थ है एक चौथाई। एक पाँव जब कट गया है तो पौना आदमी क्यों नहीं कहते ? दोनों पाँव कटने पर आधा आदमी क्यों नहीं कहते ? और आप बोलो या न बोलो—क्या वह लंगड़ा या पंगु अपने आपको पौना या आधा समझता है ? वह अपने आपको पूरा ही समझता है। मैं पूरा हूँ, शरीर आधा रह गया। एक पूरा आदमी और साथ में लंगड़ा भी है तो कोई नहीं कहेगा कि पौने दो आदमी हैं। वह आदमी चुप हो गया। यद्यपि शास्त्रार्थ काफी दूर तक चल सकता है, परन्तु अनुभव एवं शास्त्र भी कोई चीज है। उसी के आधार पर विचार करना चाहिये।

अनुभव के सामने तर्क कोई अस्तित्व नहीं रखता। साधकों को साक्षी रूप में अनुभव होने लगता है। साधकों को शरीर से आत्मा अत्यंत पृथक दीखने लगता है। आत्मा, नित्य, सत्य चेतन रूप से अनुभव में आता है। शरीर परिणामी, दृश्य, जड़ रूपेण प्रतीत होता है। भगवान अनुभव प्रमाण बताने के लिये ही अपना उदाहरण प्रथम कह रहे हैं—"न त्वेवाहं"। भगवान के मरण को लेकर अर्जुन

को शोक नहीं था। तब 'न त्वेवाहं' यह अंश कहने की क्या जरूरत थी ? अनुभव को सामने रखने के लिये कहा। भगवान को अर्जुन भी समझता था कि ये सब जानते हैं। तभी तो "शिष्यस्तेऽहं" बताया। भगवान ने भी जान लिया कि मेरे अनुभव पर अर्जुन को विश्वास है। अत एव स्वानुभूति प्रदर्शन प्रथम किया।

न त्वम्। "न त्वं जातु नासीः" ऐसी वाक्यपूर्ति करनी चाहिये। अर्जुन को अपने मरण का भय था। "यदि वा नो जयेयुः" ऐसा पहले कहा था। यद्यपि अर्जुन मृत्यु से डरता नहीं था। तथापि मृत्यु की संभावना से पूर्वोक्त विरक्ति आ ही रही थी। "धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युः" यहाँ भी अपनी मृत्यु की बात अर्जुन ने बतायी थी। मृत्यु बतायी तो मृत्यु का निषेध करना था। पूर्वाभाव का निषेध क्यों किया जा रहा है ? पूर्वाभाव को प्रागभाव कहते हैं। मृत्यु उत्तराभाव है, जिसको प्रध्वंसाभाव भी कहते हैं। उत्तर यह है कि अनुत्पन्न भाव का नाश कभो नहीं हो सकता। नाश उसी भाव का देखने में आया है जो उत्पन्न हुआ हो। अतः उत्पत्ति के निषेध से अपने आप नाश का भी निषेध हो जाता है। दूसरी बात यह है कि यहाँ आत्मा का नाशाभाव मात्र नहीं बताना है। यहाँ आत्मा का स्वरूप निर्णय करना है। आत्मा को पूर्ण तत्वरूप से जाने बिना शोकादिनिवृत्ति नहीं हो सकती। शरीरादि से आत्मा को सर्वथा पृथक करके समझना आवश्यक है। **"साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसं"** इस प्रकार महर्षि कणाद ने अनेक विध साधर्म्य एवं वैधर्म्य का तत्वज्ञान आवश्यक बताया है। अत एव आगे कणाद ने ही अनेक विध साधर्म्यवैधर्म्य बताया। शरीर और आत्मा का वैधर्म्य क्या है ? शरीर परिणामी है, आत्मा अपरिणामी है। इतना ही पर्याप्त नहीं है। यह एक वैधर्म्य हुआ। शरीर जन्मवान है, आत्मा अजन्मा है। शरीर नाशवान है, आत्मा अविनाशी है। शरीर जड़ है, आत्मा चेतन है, इत्यादि अनेक वैधर्म्य अनुसंधेय हैं। ऐसे फिर अनंत वैधर्म्य होंगे। उन सबका अनुसंधान असंभव है। है

असंभव, किंतु जितने से विवेक ज्ञान हो उतना तो वैधर्म्य अनुसंधान करो ही।

नेमे जनाधिपाः। पूरा वाक्य होगा—"नेमे जनाधिपा जातु नासन्"। यह 'स्वजनं हि कथं हत्वा' आदि अर्जुन की शंका का उत्तर है। यहाँ भगवान ने आचार्य आदि का नाम नहीं लिया। क्यों कि आचार्यादि तो जीवसृष्टि है। उसमें फिर मोह ममता होगी। इसलिये पहले भी "पश्यैतान् समवेतान् कुरून्" यही कहा। युद्ध में उतरने के बाद आचार्य पितर पुत्र भावना रखना ही गलत है। अतः सामान्य रूप से 'जनाधिपाः' कहा।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्। अर्जुन के शोक का असली उत्तर यही है। हम आगे न रहेंगे, ऐसी बात नहीं। 'भविष्यामः' यह 'अस्' धातु का रूप है। पहले भी अस्तित्व रहा। आगे भी हम सबका अस्तित्व रहेगा। अभिमन्यु की मृत्यु हो गयी थी। पूरा अंतःपुर शोक मग्न था। कोई भी सांत्वना काम नहीं कर रही थी। ऐसी स्थिति में पहले जमाने में आत्मज्ञान के द्वारा ऋषि मुनि शोकापनयन किया करते थे। इधर पुत्र अभिलाषा, दूसरी ओर पति वियोग दोनों से उत्तरा अतिव्याकुल थी। उन्हें सांत्वना देने श्रीकृष्ण जी पहुँचे। श्रीकृष्ण को देखकर उत्तरा और जोर से फूट-फूटकर रोने लगीं। श्रीकृष्ण ने पूछा—भला क्यों रो रही है? उत्तरा ने कहा—इससे बढ़कर हमारे दुर्भाग्य की कौन सी घड़ी होगी? श्रीकृष्ण कहते हैं—कौन सी घड़ी है? उत्तरा बोली—मेरा पुत्र भी नहीं हुआ। पति भी नष्ट हो गये। श्रीकृष्ण बोले—कहाँ पति नष्ट हुए? आत्मा नित्य है, नष्ट नहीं होता। शरीर भी नष्ट नहीं है। अभी तैलद्रोणी में है। उत्तरा बोली—उनके प्राण नष्ट हुए। श्रीकृष्ण कहते हैं—प्राण तो वायु है। वह तो सारे जगत में है, कहाँ नष्ट हुआ? तर्क जब आता है तो बुद्धिमानों का दिमाग चौंक जाता है, चाहे शोक हो चाहे दर्द। उत्तरा महाबुद्धिशाली थी ही। तर्क आया तो बोली—भगवन् प्राण नाश न

हो—प्राण का वियोग हुआ। श्रीकृष्ण कहते हैं—वह तो जन्म के पहले भी था। शरीर प्राण से वियुक्त था, आत्मा जन्म से पूर्व भी था। तब जन्म के पूर्व भी तो रोना चाहिये था। पंडित—बुद्धिमान एतदर्थ शोक नहीं करते। यह कालचक्र बड़ा विलक्षण है। उत्तर के समान पूर्व भी है। उत्तर में अंत नहीं, तो पूर्व में आदि नहीं। यदि आत्मा सादि होता, शरीरेन्द्रियसंयुक्त ही पैदा होता, फिर आगे वियुक्त होता हो तो शोचनीय है। परन्तु पहले जैसा था वैसा फिर हो गया। इसमें क्या रोना ? यही रहस्य यहाँ सूचित करने के लिए 'न त्वेवाहं जातु नासं' भी कहा गया। आत्मा अनादि है। तब भीष्मादि शरीरोत्पत्ति से पूर्व शरीरादि से वियुक्त थे। मरणोत्तर भी शरीरादि से वियुक्त रहेंगे तो पूर्वरूप प्राप्ति मात्र हुई। तदर्थ क्या शोक ? इसी आधार पर 'आगमापायिनोऽनित्याः' यह आगे का वचन जन्ममरण विषय में भी लागू हो सकेगा।

पूर्वोत्तर दोनों समय में आत्मा का अस्तित्व है। शरीर तो केवल वर्तमान कालीन है। अतएव यह संगम **"भवसङ्गः खलु पान्थसंगमः"** के अनुसार है। भगवान शंकराचार्य ने अपनी माता को यही उपदेश वैराग्यार्थ दिया था—

> **कति नाम सुता न लालिताः कति वा नेह वधूरभुञ्जि हि।**
> **क्व नु ते क्व च ताः क्व वा वयं भवसङ्गः खलु पान्थसंगमः॥**

जन्मजन्मांतर से कितने पुत्रादि हुए। कितनी वधुएँ हुईं। क्या-क्या हुआ। आज वे सब कहाँ ? आज का संगम कुछ और ही है। आगे पता नहीं क्या-क्या होगा ? यह संसार का मेल मिलाप तो मुसाफिरों का मिलन ही है। आत्मा अनादि कालीन है, अनंतकाल स्थायी है। संयोग वियोग का यदि शोक है तो केवल वियोग नहीं संयोग को ही मिटाने का प्रयास करना होगा। अन्यथा इस शोक की आवृत्ति आगे भी चलती रहेगी॥ १२॥

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

[जैसे देहधारी शरीर में कुमार, युवा एवं वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, वैसे देहांतर को भी प्राप्त होता है। धीर पुरुष इसमें मोहिति नहीं होता ॥१३॥]

"न त्वेवाहं जातु नासं" इत्यादि श्लोक में पूर्वार्ध में आत्मा को अनादि बताया और उत्तरार्ध में अनंत बताया। आत्मा नित्य है, अनादि अनंत है। परंतु शरीर प्रत्यक्षतः विनाशी है। तब वर्तमान शरीर का अभाव मरणोत्तर होगा तो जन्मपूर्व भी रहा। तब मरणोत्तर शरीराभाव को लेकर शोक करने वालों को जन्मपूर्व भावी शरीराभाव को लेकर भी तो शोक करना चाहिये। परंतु ऐसा नहीं होता। अत एव शोक मोहपूर्वक है और पंडित मोहरहित होने से शोक नहीं करते। यह पूर्व दो श्लोकों में बताया गया। इस पर अर्जुन का कहना है कि हे भगवन्! आत्मा की नित्यता के बारे में मैंने पहले भी सुना है और आपने प्रायः विस्मृत उस तत्व को याद करा दिया। परंतु इतने ही के लिये मेरा शोक नहीं है। अनादिकालीन यह आत्मा अभी तक नाना शरीर धारण करता आया और मरने के बाद पुनः शरीरान्तर धारण करेगा। परंतु शरीरान्तर धारण करना एक भयंकर दुःख है। "जन्म दुःखं जरा दुखं" इत्यादि प्रसिद्ध है। माता के उदर में दस मास तक पड़े रहना फिर बाहर आने पर भमानक क्लेशों का सामना करना इन सबको सोचते समय मुझे ऐसा लगता है कि इन सबके प्रति मैं कारण क्यों बनूं? पूज्य गुरुजनादि को इस तकलीफ में मेरे कारण क्यों पड़ना पड़े? अत एव मैं इनको मारना नहीं चाहता। इसका उत्तर भगवान दे रहे हैं "देहिनोऽस्मिन्"।

देहान्तर की प्राप्ति में दुःख की संभावना क्यों हुई ? क्यों घबराहट होती है ? इसमें कारण मतविशेष संस्कार भी है। जैन मतवालों की मान्यता है कि आत्मा शरीरपरिमाण है—**"शरीरपरिमाणं हि व्यतिरिक्तं दिगम्बराः"**। चार्वाक तो शरीरादि को ही आत्मा मानते हैं। किन्तु जैनी आत्मा को शरीर से अलग मानते हैं। न तो वह अणु है और न व्यापक ही है। क्यों अणु नहीं ? जैनी कहते हैं—पूरे शीरीर में जो कुछ भी होता है। तुरत हमें मालूम हो जाता है। आत्मा पूरे शरीर में न हो तो यह कैसे संभव होगा ? चींटी ने काटा तो तुरत मालूल पड़ गया—यहीं दर्द हो रहा है। पाँव में काँटा लगा तो तुरत ही मालूम हो गया। एड़ो से चोटी तक जो कुछ भी होता है, सभी तुरत मालूम पड़ जाता है। अतः शरीर जितना बड़ा है उतना ही बड़ा आत्मा है। वेदांती आत्मा को व्यापक कहते हैं। वह भी जैनियों को स्वीकार नहीं। क्यों ? जैनी कहते हैं कि आत्मा यदि व्यापक हो तो दूसरे शरीरों में भी हमारा आत्मा होगा। यदि ऐसी बात है तो जंसे हमारे शरीर में एड़ी से चोटी तक आत्मा के होने से ज्ञान होता है, वैसे दूसरे शरीर में भी होने से दूसरों के सुख दुःख का भी अपने को पता लग जाना चाहिये। किसी को भी चोट लगी तो दर्द के मारे हम रोने लगेंगे। फिर तो चोट किसी न किसी को लगती ही रहती है। अस्पतालो में हजारों रोगी कराह रहे हैं, सबके सब दर्द एकको ही होने लगेगा तो क्या स्थिति होगी यह समझ लो। अतः आत्मा व्यापक भी नहीं है। पूरे शरीर में सुख दुःख ज्ञात होता है। अतः शीरीर परिमाण ही आत्मा है। यह मत भी त्रिपुरों को मोहित करने के लिये नारद जी ने प्रसारित किया था। इस मत में एक कठिनाई यह है कि मरणोत्तर आत्मा नाना योनियों में जाता है, ऐसा वे भी मानते हैं। और यदि मानव शरीर छोड़कर हाथी के शरीर में आत्मा जायेगा तो आत्मा छोटा पड़ेगा। हाथी के एक पाँव में ही आत्मा रह जायेगा, बाकी शरीर

में आत्मा नहीं रहेगा। और फतींगे का शरीर कहीं मिला तो मनुष्य का साढ़े तीन हाथ लम्बा आत्मा उसमें समायेगा नहीं। एक इंच आधा इंच आत्मा फतींगे के अन्दर जायेगा। बाकी आत्मा बाहर रह जायेगा। अतः फतींगे के शरीर में जाने के लिए पीट पीटकर उसे छोटा करना पड़ेगा। जैसे शीशी में मसाला भरते समय लकड़ी से या चम्मच से दबा-दबाकर भरते हैं। तथा हाथी के शरीर में फैलाने के लिये खींच खींचकर चौड़ा करना पड़ेगा। जैसे रुई कात कातकर फुलायी जाती है। इस दबाव में या खिचाव में आत्मा को बड़ी घुटन होगी। अतः देहान्तर प्राप्ति एक भयंकर समस्या होगी। इसलिये जन्म मरण संसार दुःख की निवृत्ति के लिये अहिंसा व्रत पालन ही करना चाहिये। दूसरों को जन्म मरण दुःख मत दो तो स्वयं इस दुःख से छुटकारा पाओगे। भले केश लुञ्चनादि क्लेश सहन करो, किन्तु मरणोत्तर जन्मक्लेश तो भोगना नहीं पड़ेगा। मरणोत्तर सिद्धशिला पर पहुँच कर विश्राम तो किया जा सकेगा। इस अर्जुन की शंका का उत्तर इस श्लोक में दिया जा रहा है—हे अर्जुन देहान्तर प्राप्ति में ऐसा कोई दुःख नहीं है, जैसे तुम त्रैपुर मत से सोच रहे हो। यह एक साधारण घटना मात्र है।

प्रथम यह विचार करो कि आत्मा सिकुड़ सकता और फैल सकता भी है या नहीं। रुई के समान आत्मा फैल जाता है ऐसा कहना उचित नहीं है। फैलने का अर्थ है विरल करना, अर्थात् दूर दूर में अवयवों को प्रसारित करना। रुई को फैलाया तो उसमें आकाश का भाग अधिक होगा। अवकाश (स्पेस) अवयवों में ज्यादा होगा। रुई बढ़ेगी नहीं। तब आत्मा विरल होने के कारण ज्ञान अल्प होगा। या ऐसे कहो कि विरल रुई में बीच-बीच में (स्पेस में) रुई नहीं रहती। वैसे बीच-बीच में आत्मा नहीं रहेगा, तब पूरे शरीर का ज्ञान ही नहीं होगा। सिकुड़ने में भी यही बात है। हल्दी, मिरची शीशी में दबायी जाती है तो बीच-बीच में जो

अवकाश है वह भर जाता है तो अधिक मसाला शीशी में आता है। इसी प्रकार आत्मा में अवकाश (स्पेस) हो तब वह सिकुड़े। अवकाश हो तो मनुष्य शरीर में उन-उन अवकाश देश में ज्ञान नहीं होगा। इसलिये आत्मा सिकुड़ता है और फैलता है, ऐसी कल्पना हास्यास्पद है। यदि संकोच और विकास का अर्थ बदलते हैं, जैसे बरगद का पेड़ फैल जाता है, कभी डालियों के सूखने से सिकुड़ भी जाता है। वैसे आत्मा फैलता और संकुचित होता भी है, तो इस पर यही कहा जायेगा कि बरगद के पेड़ में नीचे से खाद आकर वह बढ़ता है और अवयवों के निकलने से सिकुड़ता है। वैसे आत्मा का कौन सा खाद है, जिससे आत्मा बढ़ता है और कौन सी डाली है कि सूखने से सिकुड़ता है? आत्मा कुछ अवयव के निकलने से सूख सकता है तो किसी समय पूरा ही सूख जायेगा। तब बौद्धों का शून्यवाद जैन मत में भी आयेगा।

दूर मत जाओ। यह शरीर बालक अवस्था में बहुत छोटा था। कुमार अवस्था में बड़ा हुआ। युवा अवस्था में प्रौढ हुआ, फिर वृद्ध अवस्था में ढीला हुआ, सिकुड़ गया। इन अवस्थाओं में आत्मा का क्या होता रहा, यह बताओ। युवा होते समय आत्मा फैलने लगा ही होगा तो कोई खिचाव प्रतीत होता था? बुढ़ापे में सिकुड़ते समय मसाला दबाने के समान दबाव का अनुभव होता था? यदि नहीं, तो मरणोत्तर देहान्तर प्राप्ति में दबाव और खिचाव का प्रसङ्ग क्यों

बीच में एक प्रश्न उठाया--जैसे कौमार, यौवन, जरा में आत्मा के संकुचित या प्रसारित होते समय कोई दबाव या खिचाव प्रतीत नहीं होता जब कि बाल शरीर से काफी बड़ा युवा शरीर होता है, बुढ़ापे में काफी सिकुड़ता है, वैसे ही फतीङ्गे के शरीर में पहुँचने पर सिकुड़ने पर भी क्लेश नहीं होगा और हाथी के शरीर में फैलने पर भी खिचाव प्रतीत नहीं होगा। इसका उत्तर यह है कि बालक

शरीर में जो आत्मा है, उसका फैलाव होने पर भी खिचाव नहीं होता। यह मतलब नहीं है। फैलाव ही नहीं होता। यह सर्वानुभव है। बालक शरीर में आत्मा सघन हो और युवा शरीर में विरल हो, ऐसा किसी को भी अनुभव नहीं होता। बुढ़ापे में फिर सघन हो जाय, ऐसी भी बात नहीं है। सघन हो तो अनुभूति भी सघन होगी। आत्मा विरल हो तो अनुभूति भी विरल होगी। ऐसा अन्तर देखने में नहीं आता। जो मैं बालक अवस्था में था, वही मैं युवा हूँ, वही मैं वृद्ध हो गया हूँ, ऐसी अत्यन्त एकता, एकरूपता और एकात्मकता की अनुभूति होती है। मेरा शरीर बचपन में छोटा था। अब लंबा हो गया, ऐसा अनुभव है। किन्तु आत्मा लंबा हो गया, ऐसा किसी को अनुभव नहीं होता। फिर शरीर की वृद्धि अन्न से हुई, आत्मा की वृद्धि किससे हुई ? अन्न ही से ? तब अन्न के समान आत्मा जड़ ही होगा।

भगवान अर्जुन को कह रहे हैं। हे अर्जुन ! बालक अवस्था को छोड़कर युवावस्था में जाते समय आत्मा को कोई क्लेश होता है क्या ? क्लेश की बात तो दूर किन्तु पता भी नहीं लगता कि मैं जवान हो गया। आजकल घरों में रहते समय शादी विवाह की बात चलती है तो बालक अपने को जवान समझने लगता है। पहले समय में गुरुकुल में विद्यार्थी रहते थे तो पच्चीस साल तक अपने को बच्चे ही समझते थे। मुझे अपने आपका अनुभव है। शास्त्रों का अध्ययन चल रहा था वचपन से ही। उन्नीस बीस साल का हो गया था। हरिद्वार की बात है। एक बार गंगा पार करने की बात चली तो एक माई ने मुझे कहा, अरे तुम तो जवान हो, तुम्हारे लिये कौन-सी बात है। मुझे आश्चर्य हुआ। मैंने सोचा कि मैं बच्चा हूँ या जवान ? तब्र से मैं सचेत हो गया। और समझा कि इसी प्रकार एक रोज बुढ़ापा भी आ घुसेगा, पता भी नहीं चलेगा और किसी के बूढ़े कहने पर नाराज होना पड़ेगा। उनसठ

वर्ष के पंडितजी मुझे न्यायशास्त्र पढ़ा रहे थे। मैंने एक रोज कहा, गुरुजी आप तो अब बूढ़े हो गये। पंडितजी नाराज हो गये। मैं कहाँ बूढ़ा हो गया हूँ। अभी तो उनसठ वर्ष का ही हूँ। मैंने पूछा—गुरुजी, तब बूढ़े कितने वर्ष के होने पर माने जाते हैं। वे बोले—अस्सी वर्ष के होने पर। मैंने मन ही मन में कहा—श्मशान पहुँचने पर ही ये लोग बुढ़ापा स्वीकार करेंगे। सारांश यही कि कौमार, यौवनादि के आते और जाते समय पता भी नहीं लगता है। वैसे ही एक शरीर छोड़कर दूसरे शरीर की प्राप्ति भी है।

बोले कि बाल्य, यौवन, वार्धक्य में शरीर नहीं बदलता केवल अवस्था बदलती है। जन्मांतर में तो पूर्व शरीर छोड़ना और दूसरा शरीर ग्रहण करना बड़ा भारी तहलका है। अतः दोनों की समानता किस प्रकार ? समानता तो क्या उससे भी अधिक सुविधा देहान्तर प्राप्ति में है। कौमार, यौवनादि से इसी शरीर में घुटन चल रही है। देहान्तर प्राप्ति में आसानी से नये शरीर में जाते हैं। एक मकान में हम रह रहे हैं। उसी में मरम्मत तोड़-फोड़ खटखट चल रही है। वहाँ खतरा है या उसे छोड़कर नये तैयार दूसरे मकान में रहने जाय तो तकलीफ है ? आप कहेंगे केवल जाना ही जाना हो तो आसान है किन्तु बिस्तरा सामान बाँधकर ले जाना हो तो मुश्किल है। परन्तु यहाँ खाली हाथ जाना है। बिस्तरा सामान छोड़कर जाना है। देहान्तर में जाते समय कुछ भी साथ नहीं ले जाते। कहेंगे यही तो क्लेश है। कुछ ले जाने को नहीं मिलता। घबराइये मत। आपका पुण्य पाप साथ में है। भाग्य साथ में है, जो यहाँ मिल रहा है वही सब वहाँ भी मिलेगा। क्रमशः कर्मफल भोगा जा रहा है। अतः देहान्तर प्राप्ति अधिक आसान है, ऐसा कहो तो अत्युक्ति नहीं होगी। देहान्तर में न जायेंगे तो भी कर्मवशात् वहीं आना है, वहीं जाना है। न्यायशास्त्र वाले कहते हैं कि जीवित अवस्था में अवयवों के उपचय से शरीर बदलता रहता है। कुमार शरीर नष्ट

हुआ, युवा शरीर पैदा हुआ। युवा शरीर खलास हुआ, वृद्ध शरीर उत्पन्न हुआ। आजकल के वैज्ञानिक भी यही कहते हैं कि बारह वर्ष में शरीर का कण-कण बदल जाता है। बचपन में शरीर में जो कण थे, उनमें से एक भी कण युवा शरीर में नहीं रहता। युवा शरीर का एक भी कण वृद्धावस्था में नहीं रहता। क्या हड्डी, मांस खून सब बदल जाता है ? हड्डी तो वही की वही दिखती है। मांस भी वही का वही है। खून भी वही है। लोग कहते हैं बाप का ही खून बेटे में है। खून का सम्बन्ध है इत्यादि। भले इस प्रकार कहें, किन्तु अन्न खाने से उसके शरीर में नये नये कण आ जाते हैं, पुराने कण निकलते जाते हैं। शकल प्रायः वही रहती है। जैसे गंगा यमुना नदी का आकार वही रहता है, फिर भी पानी बदलता रहता है। फलतः शरीर बदलता ही है। परन्तु बदलने के लिये कोई शोक नहीं करता। कोई भी माता-पिता मेरे बेटे का बाल शरीर नहीं रहा, जवान शरीर हो गया कहकर नहीं रोते, किन्तु प्रसन्न होते हैं। वे अपने बेटे बेटी की जवानी एवं शादी की उत्सुकता से प्रतीक्षा करते रहते हैं। और स्वयं बालक भी जवान होने में प्रसन्न होता है। बच्चा बड़ा बनने में प्रसन्न रहता है। हाँ, जवान बुढ़ा होना तो नहीं चाहता। परन्तु वह बदलने की व्यथा से नहीं, किन्तु रूप सौन्दर्य के मोह से।

जिस प्रकार बाल से युवा और युवा से वृद्ध निरंतर बना वैसे शरीरान्तर प्राप्ति भी है। श्रीमद्भागवत में बताया है—

व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।
यथा तृणजलूकैवं देही कर्मगतिं गतः॥

अर्थात् मनुष्य जब चलता है तो अगला पग जमाकर पिछला पाँव उठाता है। एक पाँव स्थिर होगा, एक ही पाँव से चलेगा। तृण-जलूका—जौंक कीड़े आदि भी चलते हैं तो शरीर का अगला हिस्सा जमीन पर जमाकर तब पिछला हिस्सा उठाते हैं। इसी प्रकार

मनुष्य भी कर्मगति से शरीरान्तर ग्रहण करता है तो पहले उस शरीर में अपना हिस्सा जमाता है तब पूर्व शरीर छोड़ता है। वह शरीर दिव्य हो या यातना शरीर हो या कर्मफल साक्षात् मानवादि शरीर हो, इसकी कोई बात नहीं। एक पूर्वजन्म की बात बताने वाली लड़की से मैंने बात की। किस्सा लम्बा है। उसका आवश्यक अंश इतना है कि उसने बताया कि मैं मर गयी तब अपने आपको मैं मरी नहीं समझती थी। मैं उर्ध्वलोक में पहुँची ऐसा लगा। शरीर थोड़ा दिव्य सा लगा। वहाँ एक दिव्य सदन में पहुँची। वहाँ कोई निर्णय दे रहा था किसको कहाँ पहुँचाना है। मेरा नम्बर आया तो मुझे पुनः मर्त्यलोक भेजने का आदेश हुआ। मुझे लगा कि मैं नीचे जा रही हूँ। फिर बेसुध हो गयी। जब सुध आयी तो उठने बैठने में अपने को असमर्थ पाया। अर्थात् जन्म लेकर छोटी बच्ची हो गयी थी। बराबर स्मरण नहीं था। पाँच साल की हुई तब बराबर पूर्व का स्मरण हुआ। माता-पिता का नाम धाम सब याद आया। माता-पिता ने उसके पूर्वजन्म का घर आदि सभी देखकर प्रत्यक्ष किया। सारांश यह कि शरीरान्तर प्राप्ति में कोई क्लेश नहीं होता।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि मरण बहुत भारी दुःख रूप है। एक लाख बिछुओं के डंक मारने से जितना दर्द होता है, उतना मरण समय में होता है। वैसे जन्म भी अतिक्लेशदायी है। माता के उदर में अनन्तविध क्लेश होते हैं। परन्तु यह मत भगवान को संमत प्रतीत नहीं होता। कौमार, यौवन दृष्टान्त से ऐसा लगता है कि देहान्तर प्राप्ति अति आसान है। डॉक्टर ने किसी को बेहोश किया। उसी में उसकी मृत्यु हुई तो लाख बिछू डंक मारने की तकलीफ कहाँ है। माता के उदर में भी अनुशयी के समान बेहोश पड़ा रहता है, उसको तकलीफ कहाँ होती है। गर्भोपनिषत् में जो वर्णन है, वह कतिपय समय का ही होना चाहिये। यही अर्थ

"वासांसि जीर्णानि" श्लोक में भी प्रतीत होता है। अतएव गीता में कहीं भी मरणक्लेश का उल्लेख नहीं मिलता है। अस्तु।

एक प्रश्न पूर्व का रहता है। आत्मा अणु है या व्यापक। अणु हो तो पूरे शरीर का ज्ञान किस प्रकार ? व्यापक हो तो पर शरीर का ज्ञान क्यों नहीं ? अतः मध्यम परिमाण मानना चाहिये। उसके संकोच विकास से दुःख क्यों नहीं ? कौमार यौवनादि में अतिमंद-गति से संकोच विकास होता है, अतः दुःख प्रतीत नहीं होता। इधर तो मरणोत्तर एका-एक पतंग शरीर में या हाथी शरीर में पहुँचता है तो सहसा संकोच या विकास होगा। तब दुःख अवश्यं-भावी है। इसका समाधान वेदांत के अनुसार यह दिया जाता है कि आत्मा अणु नहीं, व्यापक ही है। उपाधि के अनुरूप केवल प्रतीत होता है। जैसे एक ही आकाश उपाधि भेद से छोटा बड़ा होता है, उसमें खींचाव तनाव नहीं है, वैसे आत्मा में भी नहीं है। श्वेताश्व-तर उपनिषद में कहा है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

स्त्री शरीर उपाधि होने पर वही आत्मा स्त्री, पुरुष शरीर उपाधि होने पर वही आत्मा पुरुष। इसी प्रकार कुमार, कुमारी बूढ़ा, नव-जातशिशु आदि उपाधि होने पर उन-उन रूपों में आत्मा भासता है। अहं स्त्री, अहं पुरुषः, अहं कुमारः इत्यादि रीति अहं प्रत्यय विषयत्वेन रूपेण आत्मा भासमान होता है। यही सनातन सिद्धांत है। अरब वाले कहते हैं पुरुष में आत्मा रहता है। स्त्री में आत्मा नहीं है। इसलिये वहां नियम है एक पुरुष दस शादी भी कर सकता है। क्यों कि स्त्रियों में आत्मा नहीं है। किन्तु हमारा वैदिक सिद्धांत है कि आत्मा सर्वशरीरवर्त्ती है, सर्व व्यापक है। जिस शरीर में हो तदाकार हो जाता है। पुरुष में पुरुषार और स्त्रियों में स्त्री-आकार होता है। अरबी लोग कहते है—पशु-पक्षी में आत्मा नहीं है। उसे

काटो, खाओ कोई पाप की बात नहीं है। परन्तु वैदिक सिद्धांतहै—"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" सब में आत्मा है, ज्ञान है, किसी की हिंसा न करो। बहुत से भारत वाले भी दार्शनिक यह मानते हैं कि मनुष्य मरणोत्तर भी मनुष्य बनेगा। स्त्री स्त्री ही बनेगी पुरुष पुरुष ही बनेगा। पुरुषका स्त्री जन्म नहीं होता। स्त्री का पुरुष जन्म नहीं मनुष्य का पशु जन्म नहीं होता इत्यादि। सबके लिये जवाब है "तथा देहान्तरप्राप्तिः"। कोइ भी देहान्तर मिलेगा। कोई जरूरी नहीं कि वह मनुष्य पशु पक्षी आदि में नियत हो। कर्मानुसार शरीर प्राप्ति होती है।

यदि मनुष्य को मनुष्य शरीर से अतिरिक्त पशु आदि शरीर भी मिल सकता है तो यही एक शोचनीय विषय है। भीष्मादि को मार दिया, फिर कहीं वे पशु पक्षी बन गये तो? धर्म कर्म करने योग्य मानव शहीर से छूटकर पशु पक्षी बन जाना यह तो बहुत ही बुरा है। तब "पण्डिता नानुशोचन्ति" यह पूर्वोक्त बात संगत नहीं हो सकती। इस विषय पर रहस्योद्घाटन भाष्यकर आद्यशंकराचार्य ने एक शब्द में कर दिया है। भाष्यकार लिखते हैं—**"न शोच्या अशोच्या भीष्मद्रोणादयः सद्वृत्तत्वात् परमार्थरूपेण च नित्यत्वात्"**—भीष्म द्रोणादि शोच्य नहीं हैं। क्यों? वे सद्वृत्त हैं, सदाचारी हैं। और परमार्थदृष्टि से देखें तो नित्य हैं। "सद्वृत्तत्वात्" इस एक शब्द से पूर्वोक्त शंका का समाधान हो जाता है। सदाचारी सत्कर्म निष्ठ होने से भीष्म द्रोणादि के पशु पक्षी बनने की कोई संभावना ही नहीं है। भीष्म पितामह के तत्वज्ञान एवं परमगति का वर्णन भीष्म-स्तुति के प्रसंग में आया है। द्रोणाचार्य भी मरण समय में अपने आत्मा को ब्रह्म में समाहित करते हैं, यह बात महाभारत में आयी है। रही बात दुर्योधनदि की। वे वैसे हो जब्र कभी भी मरें तो पशु पक्षी नारक शरीर जो भी प्राप्त करना है, सो प्राप्त करेंगे ही। क्यों कि उनके कर्म ही ऐसे हैं। हाँ, न मारे जाने पर आगे सत्कर्म की

संभावना हो तो मारना अनुचित हो सकता है। किन्तु वे आगे भी सत्कर्म करने वाले नहीं हैं। क्योंकि वे आसुरावतार हैं। बल्कि युद्ध करना और युद्ध करते हुए मरना, इससे बढ़कर क्षत्रिय के लिये कौन सत्कर्म हो सकता है? अतः युद्ध में इनको मारना बल्कि उन्हीं के उद्धार का साधन है। अस्तु।

यदि मनुष्य पशुपक्षी भी बने तो मनुष्य का संस्कार क्यों नहीं होता? मछली का बच्चा पैदा होते ही तैरने लगता है। बंदर का बच्चा पैदा होते ही कूदने लगता है। चिड़ियाँ पंख आते ही उड़ने लगती हैं। अतः पशु ही पशु बनता है, पक्षी ही पक्षी बनता है, ऐसा क्यों न मानना चाहिये? कारण यह कि जीवात्मा अभी तक एक दो नहीं, करोड़ों अरबों क्या, अनंत जन्म ले चुका है। चौरासी लाख योनियों के संस्कार इसके मानस पटल पर अंकित हैं। जिस योनि में यह पहुँच जाता है, वहीं संस्कार जाग्रत होता है। जैसे आप पहले दिल्ली रहे हों तो दस साल के बाद भी दिल्ली पहुँच जाते हैं तो मार्ग मकान आदि सबका संस्कार जागृत होता है। कलकत्ता पहुँचते ही वहाँ के संस्कार जागृत हो जाते हैं, वैसे जिस योनि में पहुँचते हैं वहीं का संस्कार जागृत होता है। जन्म समय अवस्था आदि अनेक संस्कार के उद्‌बोधक हैं। कोई जरूरी नहीं है कि मरणसमय के सभी संस्कार जन्म काल में जागृत हो। एक जवान दुर्घटना में मरा। वह बड़ा कामुक था। तो क्या दूसरे जन्म में शिशुरूप में जनमते ही काम संस्कार जागृत होगा? कभी नहीं। और वह बालकावस्था में ही काम संस्कार उद्‌भूत होने से पूर्व ही मर गया तो क्या अगले जन्म में वह युवा होने पर भी कामसंस्कार से रहित होगा? यह भी नहीं होता। अतः यह मानना ही होगा कि जन्म, अवस्था आदि अलग अलग संस्कारोद्बोधक कारण हैं। अतः मनुष्य के बाद पशु पक्षी होने पर भी मनुष्य संस्कार जागृत नहीं होगा, उसके बाद फिर मनुष्य हुआ तो पुनः मानव संस्कार जागृत होगा, इत्यादि सभी सिद्धांत उपपन्न हैं।

एक बात अवशिष्ट रह गयी। आत्मा यदि व्यापक है तो शरीर व्यापी सुख दुःख अनुभव के समान परकीय शरीर गत सुख दुःखादि का भी अनुभव क्यों नहीं करता ? सारे जगत में आत्मा है तो सभी सर्वज्ञ क्यों नहीं ? इसका समाधान वेदांत की प्रक्रिया से समझना होगा। आत्मा मध्यम परिमाण है तो भी स्वप्न और सुषुप्ति में शरीर को क्यों नहीं देखता और समझता ? आत्मा शरीर जितना बड़ा है तो भी शरीर में जितनी नाड़ियाँ हैं, अणु हैं, हृदय मांसपेशी, हड्डी आदि हैं सबको क्यों नहीं जानता ? जाग्रत में पेट के अंदर क्या क्या गड़बड़ी है ? कहाँ कटा है, कहाँ गुर्दा है, कहाँ पथरी है आदि क्यों नहीं जानता ? जबाब इस विषय में सबका एक ही है कि केवल आत्मा ही विशेषज्ञान के प्रति कारण नहीं है। मन विशेषज्ञान का कारण है। जिस विषय के आकार में मनोवृत्ति होती है उसीका विशेषज्ञान होता है। बस, हो गया जवाब। परशरीर में अपने मन का अभाव है अत एव उसके सुख दुःखादि का हमें पता नहीं हैं। अत एव मन व्यापक न होने से हम सर्वज्ञ भी नहीं है। आत्मा उस वृत्ति भावापन्न मन को केवल प्रकाश देता है। प्रकाश देने मात्र का काम व्यापक एक ही आत्मा से चल सकेगा इसलिये आत्मा को एक ही मानते हैं। जन्म मरण सुख दुःखादि आत्मप्रकाशित मन को ही होता है। मन का अमनीभाव होने पर व्यापक आत्मस्वरूपेण अवस्थान ही मोक्ष है।

धीरस्तत्र न मुह्यति। हे भगवन्। यद्यपि यह सबको मालूम है कि कुमार अवस्था के बाद युवा अवस्था आती है। युवावस्था के बाद वृद्धावस्था उसके बाद शरीर छूटता है और देहान्तर की प्राप्ति होती है। और आप के इस कथन से हम यह भी मानने को तैयार हैं कि अवस्थान्तर प्राप्रि के समान ही देहान्तर प्राप्ति भी है। किंतु फिर भी मरण देखकर सबको शोक होता है। केवल अपने शरीर से ही नहीं, अपने प्रियजनों के शरीर से भी प्यार एवं मोह

सबको होता है। तब "नानुशोचन्ति पण्डिताः" में 'तथा देहान्तर-प्राप्तिः' यह एक अपर्याप्त हेतु है। अर्जुन कहता है, हे भगवन् ! मेरा शोक निर्हेतुक नहीं है। स्वाभाविक है। भगवान कहते हैं—हे अर्जुन ! मैंने "नानुशोचन्ति मानवाः" नहीं कहा, नानुशोचन्ति पण्डिताः कहा। मैं तुम्हें पंड़ित देखना चाहता हूँ। सामान्य जन मात्र नहीं। तब तुममें विशेषता ही क्या रह जायेगी ? पंड़ित का अर्थ साधारण पंड़ित नहीं। धीर पंड़ित अर्थ है। "धियमीरयतीति धीरः" जो अपनी बुद्धि को प्रेरित कर सके वह धीर है। बहुत से पंड़ित ऐसे होते हैं, जानते हुए भी बुद्धि को तथ्य से स्थिर नहीं रख पाते। धीर वह है, जो जानता है और ज्ञात तत्व में बुद्धि को स्थिर भी रख सकता है। अधीर पंड़ित का ज्ञान अभिभूत होता है। तो सामान्य जनता के समान हो जाता है, तब शोक करने लगता है। धीर पंड़ित का ज्ञान अभिभूत नहीं होता। क्यों नहीं ? उसे मोह नहीं होता। अदृढ़ संस्कार से मोह होता है। मोह से ज्ञान अभिभूत होता है तो शोक उभर आता है। दृढ़ संस्कारी हो तो वह मोह को प्राप्त नहीं होता। उसका ज्ञान विमल रहता है तो शोक नहीं होता। अपनी बुद्धि को प्रेरित करो। **"धियो यो नः प्रचोदयात्"** उस बुद्धि प्रेरक परमात्मा की शरण में जाओ। **"तमेव शरणं गच्छ"**। उससे धैर्य प्राप्त होगा। यही शरणागति का भी फल है। हे अर्जुन ! तुम धीर बनो। मोह को मत प्राप्त हो।

यह व्याख्या सिद्धांतानुसार की गयी। और का निराकरण न करते हुए भी श्लोक की व्याख्या की जा सकती है। यदि कोई मध्यम परिमाणवादी (शरीर जितना बड़ा, उतना बड़ा आत्मा माननेवाला) इस बात को लेकर डरता हो कि मरणोत्तर पतंग शरीर में जाना पड़ा तो जैसे एक छोटी कोठरी में आदमी को भरने से घुटन होती है, वैसे आत्मा भी उस शरीर में घुटन का अनुभव करने लगेगा। यदि हाथी के शरीर में पहुँचा तो रबर के

समान खींचकर हाथी के पूरे शरीर में पहुँचाना पड़ेगा, उस समय खींचातानी का क्लेश होगा। अतः मरणोत्तर देहान्तर प्राप्ति अति भयानक है। इसका भी श्लोक में उत्तर है। जैसे बाल्य शरीर से युवा शरीर में आने पर खिंचाव का अनुभव नहीं होता और युवा से वृद्ध शरीर में आत्मा को घुटन का अनुभव नहीं होता वैसे छोटे बड़े शरीरान्तर के प्राप्त होने पर भी घुटन या खिंचाव का अनुभव नहीं होता। अतः धीर पुरुष न मरण से डरता है और न ही जन्मांतर—शरीरान्तर प्राप्ति से घबराता है। परंतु भगवान स्वयमेय 'नित्यः सर्वगतः स्थाणु' इस प्रकार आत्मा को सर्वगत व्यापक ही बताने जा रहे हैं। अतः सैद्धान्तिक व्याख्या का ही अनुसरण हमने किया ॥१३॥

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

["हे कुन्तीपुत्र ! सर्दी गर्मी और सुख दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो क्षणभंगुर और अनित्य है। हे भरतवंशी अर्जुन ! उनको सहन कर ॥१४॥]

"गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता:" ऐसा प्रथम बताया। उसका एक प्रकार का अर्थ प्रथम बताया गया, वैसा ही है। दूसरा अर्थ है—अगतासूनिव गतासूनपि नानुशोचन्ति। जैसे अगतासु जीवितों के लिये शोक नहीं करते वैसे गतासु-मृतों के प्रति भी शोक नहीं करते। पूर्व श्लोक को इसी के विवरणात्मक रूप से भी समझा जा सकता है। अगतासुओं के लिये जैसे शोक नहीं करते, वैसे गतासुओं के लिये भी धीर पुरुष शोक नहीं करते। अगतासु जीवित व्यक्ति में कुमार, युवा एवं वृद्ध अवस्थाओं में शरीर बदलता है, किन्तु कोई शोक नहीं करता, वैसे गतासु मृत व्यक्ति की देहान्तर प्राप्ति में भी धीर पुरुष शोक नहीं करता। मरणोत्तर शरीर परिवर्तन होता है तो जीवितावस्था में भी शरीर परिवर्तन होता है। दोनों परिवर्तनों में क्या अन्तर है, यह दृष्टान्त से समझो। मैंने एक जगह एक मकान देखा। पहले वह कच्चा मकान था। नीचे मिट्टी की फरश थी। गोबर लेपा करते थे। घर मालिक अधिक पैसे वाला नहीं था। उसके पास कुछ पैसे आ गये तो प्रथम उसने नीचे की फरश पक्की टाइल्स से पक्की करा दी। एक दो साल के बाद कुछ पैसे और इकट्ठे हुए तो उसने दीवारों में और बीच में लकड़ी के जो खंभे थे उन्हें निकलवाकर लोहे के ग्रीट की कोलम डालकर पक्के खंभे कर दिये। दो साल के बाद उसने कच्ची दीवार जो

मिट्टी की थी, उसे हटाकर इंट की दीवार बनवायी और पलस्तर करवाया। फिर दो तीन साल के बाद फूँस का छत हटाया और सिमेंट के ग्रीट का स्लेब डलवाला। ढाँचा प्रायः वही रहा। किन्तु मकान पूरा बदल गया। आज कल धनिकों का दूसरा तरीका प्रसिद्ध है। कच्चा पुराना मकान पूरा गिरवा देते हैं और उसके स्थान में नया मकान बना देते हैं। इनमें प्रथम तरीका है जीवित अवस्था में शरीर परिवर्तन। द्वितीय है मरणोत्तर शरीर परिवर्तन। बारह साल में पूरा शरीर परिर्त्तित होता है तो उसी अल्प धनी के मकान के समान रस बदला, रक्त बदला, मांस बदला, इत्यादि क्रम से पूरा शरीर बदलता है। यह मकान की फरश बदली, खंभा बदला, जैसा क्रम है। यह प्रथम दृष्टांत विषय हुआ। और मरने पर पुनः शरीरान्तर प्राप्ति पैसे वाले के पूर्व मकान तोड़ गिरा कर नया मकान खड़ा करने के बराबर है। यह द्वितीय दृष्टांत का विषय है। यदि क्रमशः मरम्मत कर नया करने में मकान मालिक्र को दुःख नहीं होता तो पूरा मकान ढहाकर नया मकान बनाने में क्यों दुःख होने लगा? अतः धीरस्तत्र न मुह्यति। भले ही मकान ढहाते समय बच्चे रोयें क्रि हमारा मकान गिराया जा रहा है। किन्तु बड़े लोग दुःखी नहीं होते। कारण, उनको मालूम है कि आगे नया मकान बनने वाला है। वैसे मरण समय में धीर घबराते नहीं हैं। उनको मालूम है, नया शरीर मिलने वाला है।

अर्जुन ने कहा कि हे भगवन्! यह एक बात मेरी समझ में आ गयी, किन्तु मेरे शोक का निवारण इतने से ही नहीं हो सकता। मैंने आपको कहा था—"कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन, इषुभिः प्रतियोत्स्यामि" "यदि वा नो जयेयुः"। अगतासुओं में कौमार के बाद यौवन और उसके बाद वार्धक्य होते हैं। इतनी ही बात यहां होती तो मैं शोक नहीं करता। परन्तु यहाँ तो बाण वर्षा होगी। खून की नदियाँ बहेंगी। अंग प्रत्यंग छिन्न-भिन्न होंगे। क्या यह

सब मात्र कौमार, यौवन जैसा विकार है ? शास्त्रों में बताया है, गुरुजनों की सेवा शुश्रूषा करो। श्रीमद्भागवत में बताया है—

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥

महापुरुषों की शुश्रूषा करो। उन पर श्रद्धा रखो, उनकी सेवा करो। पुण्यतीर्थों का सेवन करो; तब वासुदेव कथा में रुचि होगी। क्योंकि शुश्रूषा आदि से महापुरुष प्रसन्न होते हैं। किन्तु हे भगवन् ! क्या ऐसा तर्क यहाँ उपस्थित नहीं होगा कि चाहे शुश्रूषा करे, चाहे सिर पर डंडा मारे, क्या फरक पड़ता है। यह भी तो कौमारं यौवनं जरा जैसा ही विकार होगा। पर, ऐसा शास्त्र व्याख्यान कोई नहीं करता। गुरुजनों की सेवा करो, उन्हें प्रसन्न करो, उन्हें सुख पहुँचाओ, स्वयं भी प्रसन्न, सुखी रहो, यही आध्यात्मिक तथा लौकिक उन्नति का राजमार्ग है। अतः मेरा निवेदन है कि मेरा विषाद, मेरी घबराहट, गुरुजन-दुःख एवं स्वदुःख को लेकर है। क्योंकि प्रतिपक्षी शर वर्षा करेंगे तो हमारी भी तो वही स्थिति होगी। इसके उत्तर में भगवान प्रस्तुत श्लोक में कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! कर्त्तव्य कर्म करते समय थोड़ा बहुत लौकिक क्लेश होगा ही। उतनी तितिक्षा तो करनी ही पड़ेगी। गुलाब तोड़ने जाओगे तो बीच में काँटा न भी गड़े, फिर भी उसका स्पर्श तो करना ही पड़ेगा। गुलाब के मुलायम स्पर्शमात्र का अनुभव हो, काँटा पत्ता भी छूना न पड़े ऐसा नहीं होता। अतः कर्त्तव्य करते समय आने वाले अनिवार्य क्लेशों का सहन ही एक मात्र उपाय है। इसी बात को भगवान के अपने शब्दों में देखिये—**"मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय"** ॥

मात्रास्पर्शाः। मा धातु का ज्ञान अर्थ है। मीयन्ते परिच्छिद्यन्ते ज्ञायन्ते आभिरिति मात्राः। जिनसे वस्तु परिच्छेद किया जाता है, वस्तुज्ञान उत्पन्न किया जाता है, उनको मात्रा कहते हैं। मात्रा का

अल्प परिमाण भी अर्थ है। इतरासंसृष्ट भी है। **"मात्रा परिच्छेदे अल्पे च परिमाणे"** ऐसा कोश में कहा है। और शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा आदि में अपञ्चीकृत अर्थात् इतरासंसृष्ट अर्थ भी प्रसिद्ध है। सभी बातें इन्द्रियों के लिये लागू हैं। इन्द्रियाँ अपञ्चीकृत महा-भूतों से उत्पन्न हैं, अल्प परिमाण हैं और ज्ञान साधन भी हैं। शब्द तन्मात्रा से श्रोत्र उत्पन्न है और स्वयं इतरभूतों से असंसृष्ट है। अतएव श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ही ज्ञान होता है। शब्द ज्ञान साधनता भी इसी से स्पष्ट है। जो इन्द्रिय जिस तन्मात्रा से उत्पन्न होती है, वह उस तन्मात्रा के कार्य विषय का प्रकाशक होती है। स्वसजातीय ही स्वाभिव्यञ्जक होता है। एक आदमी धीमे शब्द से बोला तो सुनाई नहीं पड़ेगा। उसी धीमे स्वर से पचीस पचास आदमी बोलें तो शब्द बुलंद हो जायेगा। धीमी आवाज जहाँ हो वहाँ इतर की सुगंधि फैलाने से सुगंध और शब्द मिलकर न शब्द ही बुलंद होगा और न सुगंध ही तेज होगी। शब्द विषय का अभिव्यञ्जक शब्द तन्मात्रा से उत्पन्न सजातीय श्रोत्रेन्द्रिय ही होगा। इसी प्रकार स्पर्श तन्मात्रा के पञ्चीकरण से स्पर्श विषय हुआ। बिना पञ्चीकरण, कार्य त्वगिन्द्रिय हुई। उस त्वगिन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है। इस प्रकार तन्मात्रा भी ज्ञानसाधन भी त्वक् हुई। अल्प-परिमाण भी है। श्रोत्र से श्रोत्रेन्द्रिय खतम हो तो दूसरों को पता नहीं लगेगा। त्वगिन्द्रिय त्वचा से नष्ट हो तो भी दीखेगा नहीं। इंजेक्शन से सुन्न करने का अर्थ है त्वगिन्द्रिय को अवसन्न करना। ओपरेशन से पहले इंजेक्शन से सुन्न करने पर स्पर्शानुभव नहीं होगा। त्वचा रहती है। त्वगिन्द्रिय नहीं। ऐसी ही चक्षुरिन्द्रिय है। रूप तन्मात्रा से बाह्य रूप बना। अन्दर चक्षुरिन्द्रिय बनी। चक्षुरिन्द्रिय से रूपप्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार चक्षुरिन्द्रिय रूप-तन्मात्रा भी है और रूपज्ञान साधन भी है। अल्प परिमाण भी है। आँख की रोशनी का पता अपने आपको ही रहता है। बहुत से

अंधे ऐसे हैं, जिनके आँख के गोलक बराबर हैं, पर रोशनी नहीं रहती। रस तन्मात्रा से खट्टा, मीठा रस पंचीकरण के द्वारा बना। अपंचीकृत से रसनेन्द्रिय बनी। इसीलिये रस ज्ञान रसना इन्द्रिय से होता है। वह रसतन्मात्रा स्वरूप है, रसज्ञान का कारण है, अल्प परिमाण भी है। जिह्वा के अग्र पर अति सूक्ष्म रूप से रहती है। गन्ध तन्मात्रा से पञ्चीकृत होकर सुगंध दुर्गंधादि हुए। अपञ्चीकृत कार्य घ्राणेन्द्रिय है। वह गंध ज्ञान का साधन है, तन्मात्रा रूप भी है और अल्प परिमाण भी है। कई लोग ऐसे हैं कि नाक तो खूब लंबी है किन्तु सुगंध दुर्गन्ध का पता नहीं रहता।

इतनी लम्ब्री चौड़ी एक एक विषय को लेकर इन्द्रियों को मात्रा बनाने के लिए क्यों मेहनत की जा रही है? इसलिये कि कुछ लोगों को यहाँ भ्रम हुआ कि मात्रा पद का अर्थ विषय है। क्यों कि शब्दस्पर्शादि विषय भी तो तन्मात्रा का कार्य है। तन्मात्रा कार्य होने से उनको भी मात्रा कह दिया, परन्तु यह एक भ्रम मात्र है। शब्दार्थ नहीं है। अणु से उत्पन्न घट को अणु नहीं, महान् कहते हैं। उसमें अणु परिमाण नहीं माना जाता, महत् परिमाण माना जाता है। तन्मात्रा भी अल्प परिमाण को कहते हैं। उससे उत्पन्न पृथिवी जलादि को तन्मात्रा या अणु कौन कहेगा? "दश प्रज्ञा मात्रा" इस प्रकार कौषीतकि में इन्द्रियों को ही मात्रा कहा है।

इस मात्राओं का—इन्द्रियों का स्पर्श मात्रास्पर्श कहलाता है। स्पर्श का यहाँ त्वाच स्पर्श मात्र अर्थ नहीं है। किन्तु सम्ब्रन्ध-सामान्य अर्थ है। परन्तु एकदम अति सामान्य पर भी नहीं जाना। चक्षुरिन्द्रिय नेत्रगोलक में रहती है, तो उसके साथ भी सम्ब्रन्ध हुआ। श्रोत्रिन्द्रिय कर्ण शष्कुली में रहती है तो उसके साथ भी सम्बन्ध है, इन सब सम्बन्धों को यहाँ नहीं लेना है। मात्रा का अर्थ हमने बताया—मा=ज्ञान का साधन। तो ज्ञान साधनता प्रयोजक सम्बन्ध यहाँ लेना चाहिये। इसी अर्थ को समझाने के लिये

मात्रा पद का प्रयोग किया। अन्यथा "खसम्बन्धास्तु कौन्तेय" ऐसा कहते। "ख" भी इन्द्रियों का नाम है। मात्रास्पर्श कौन कौन सा है ? श्रोत्र का शब्द के साथ सम्बन्ध। त्वक का स्पर्श के साथ सम्बन्ध। चक्षुका रूप के साथ सम्बन्ध। रसना का रसके साथ सम्बन्ध। और घ्राण का गंध के साथ सम्बन्ध। ये सभी मात्रात्व—ज्ञानसाधनत्व का प्रयोजक (कारणीभूत) सम्बन्ध है।

कौन्तेय। यह सम्बोधन कुन्ती माता की अभूतपूर्व सहनशक्ति की याद दिलाकर तत्पुत्र अर्जुन में सहनशक्ति लाने की प्रेरणा प्रदान करने के लिये है।

शीतोष्णसुखदुःखदाः। ये विषयेन्द्रिय संयोग शीत उष्ण सुख दुःखादि प्रदान करने वाले हैं। हे अर्जुन ! तुम यह जो मानते हो कि युद्ध करने से अनेक प्रकार के दुःख होंगे। बाणों का कर्कश भैरव नाद एक ओर, दूसरी ओर मरणासन्न भीरुओं का आर्त्तनाद इनसे कष्ट होगा। तीक्ष्ण बाण वेध से शरीर कटेंगे, बड़ा क्लेश होगा। रुण्ड मुण्ड दर्शन, खून की धारा का अवलोकन करना पड़ेगा। युद्ध ज्यादा दिन चला तो शवों की दुर्गन्धि अति भयानक होगी। फिर कालांतरीय अन्नादि भोग भी रुधिर प्रदिग्ध होगा। अतः महाक्लेशकारी युद्ध उचित नहीं है। किन्तु इन शब्दस्पर्शादिजनित सुख दुःख वैसे भी निवृत्त होनेवाले नहीं हैं। मात्रायें हैं तो मात्रास्पर्श भी होगा और सुख दुःख भी येन केन प्रकारेण होगा ही। सहन के सिवा कोई उपायान्तर नहीं है। क्या घर में रहनेवालों का परस्पर कलह नहीं होता ? गाली गलोच घरों में भी होती रहती है। स्तुति निन्दा जहाँ कहीं भी जाओ, वहीं सुनने को मिलेगी। युद्ध करो या न करो। पंचेन्द्रियों को जो भोग प्राप्त होना है, वह अनिवार्य है। इनसे बचने का अन्य उपाय नहीं है। "तांस्तितिक्षस्व" सहन करना ही उपाय है।

स्तुति निन्दा में राम और कृष्ण को भी किसी ने नहीं छोड़ा। डर के मारे सामने भले न कहें, पर परोक्ष में स्तुतिनिन्दा निश्चित है। श्रीरामचन्द्र के बारे में एक रजक (धोबी) कहने लगा था कि राम के घर में यह चलेगा कि उसकी पत्नी साल भर पराये अर्थात् रावण के घर में जाकर रह जाय। किन्तु मेरे घर में ऐसा नहीं चल सकता। इसका मतलब यह हुआ कि वह धोबी अपने को श्रीराम से भी अधिक श्रेष्ठ मान रहा था। सारी दुनिया की यही स्थिति है। प्रत्येक व्यक्ति भले ही वह अत्यन्त हीन ही क्यों न हो, फिर भी अपने को उत्तम समझता है। और दूसरा कितना ही उत्तम क्यों न हो, निकृष्ट समझने लगता है। इसी कारण फिर स्तुतिनिन्दा शुरू होती है। उत्तम से उत्तम कार्य करो तो भी उसमें नुकस निकालने वाले अवश्यमेव मिलेंगे। आप यदि सौ पचास रुपया दान दीजिये तो एक कहेगा—सेठ जी बड़े उदार हैं। किन्तु दूसरा कहेगा कि यह उदारता दिखाकर दुनिया को ठगना चाहता है। यही सुख दुःख मात्रास्पर्श है। युद्ध करो या न करो। इस मात्रास्पर्श से छुटकारा कहाँ मिलने वाला है। तब उपाय एक ही रह गया—'तांस्तितिक्षस्व'। दुनिया का मुँह कोई पकड़ नहीं सकता। सहन करना ही एक-मात्र साधन है।

युद्ध में बाणों का वेधन दर्दकारी होता है, किंतु घर में बैठे बैठे ही पेट में शूल दर्द हो तब क्या होगा? बिमारीयों में इंजेकशन, शल्य चिकत्सा आदि बाण वृष्टि, तलवार की मार से कम दर्द भरा नहीं होता। बाणों को तुरत निकाल कर पहले समय में कुछ ऐसी दवा करते थे कि निशानी ही मिट जाती थी। जोश में कोई दर्द नहीं होता, किंतु अस्पतालो में घाव पक गया हो और मवाद दबाकर निकाला जा रहा हो, उस समय का दर्द भुक्त भोगी ही जान सकता है। शीत उष्ण भी विलक्षण होता है। गर्मीयों में लोग नैनिताल, शिमला, काश्मीर आदि जाते हैं, क्योंकि वहाँ ठंढक रहती है।

लोग बड़ी प्रशंसा करते हैं। परंतु माघ मास में उसी जगह रहो तब मालूम होगा। क्या बुरा हाल होता है। काश्मीर में ठंढ़ी में एक महात्मा पहुँचे। लोटे में गरम पानी भर कर संडास गये। थोड़ा समय ज्यादा लगा तो जम कर बरफ हो गया। महात्मा गाली देने लगे, यह कैसा काश्मीर है ? ठंढ़ीयों में पंजाब, सिंध, काश्मीर आदि स्थानों में ये कांगड़ी रखते हैं। अर्थात् राख में अंगार दबाकर एक मिट्टी के बरतन में रखते हैं। मैं तो रात्रि को भी वहीं रखकर सो जाता था। एक रोज कंबल के अंदर उसे रखकर सो गया। कहीं हाथ लगा तो उलट गया। सारा कपड़ा ही जल गया। वही उष्ण जो सुख दे रहा था महादुःख दायी सिद्ध हुआ। इसी लिये बताया "शीतोष्णसुखदुःखदाः"। क्या वह अग्नि बाण से कम रहा ? "तांस्तितिक्षस्व" उपाय एक ही है कि सहन करो।

क्या युद्ध में ही बीभत्स दृश्य होता है। आये दिन जगह जगह दुर्घटना होती रहती है। ट्रेन मोटर बस आदि का जहाँ एक्सिडेंट होता है, वहाँ युद्ध से कम बीभत्स दृश्य नहीं होता। बल्कि युद्ध में बीभत्स दृश्य देखने को तैयार होकर निकलते हैं। यहाँ अकस्मात् दिखाई पड़ता है। अस्पतालों में बीभत्स दृश्यकी पराकाष्ठा होती है। भर्तृहरि महराज संसार वर्णन करते हुए कहते हैं—

क्वचिद्वीणानादः क्वचिदपि च हाहेतिरुदितं
क्वचिन्नारी रम्या क्वचिदपि जराजर्जरवपुः।
क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहो
न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः ॥

कहीं वीणा का सप्तस्वरमूर्च्छना सहित तंत्रीवादन हो रहा है तो कहीं दीनदुःखी हा हा करते हुए रुदन कर रहे हैं। कहीं अतिमनोहर अप्सरोपम नारी दिखाई पड़ रही हैं तो कहीं पक्षाघात से उठने बैठने में असमर्थ वृद्ध के मुँह से लार जो गिर रहा है, वस्त्र मैले गंदे हो रहे

हैं, कोई पूछने वाला भी नहीं है, उस दृश्य को भी देखो। कहीं बड़े बड़े विद्वान बैठकर वेद वेदान्त गीतादि चर्चा कर रहे हैं तो कहीं लोग मदिरा पीकर गाली बक रहे हैं, अंट संट बोलते जा रहे हैं, मार पीट हो रही है। यह मालूम नहीं पड़ रहा है कि यह संसार अमृतमय है या विषमय है। बुद्ध ने प्रथम प्रथम नगर यात्रा की तो जो दृश्य दिखाई दिया उसी से उनको वैराग्य हो गया था। कथा बहुत लंबी प्रसिद्ध है। कहीं वे मृतक को देखते हैं, कहीं रोगी को और कहीं भिखारी को। कहते हैं–इन सब दृश्यों को देखकर बुद्ध का हृदय पिघल गया। इन दुःखी प्राणियों का दुःख दूर करने के लिये बुद्ध ने उग्र तप किया, संन्यास लिया। फिर यह दृश्य समाप्त हुआ? बुद्ध सबको मृत्यु से, रोग से बचा सके? नहीं। स्वयमेव मृत्युग्रस्त हो गये। तब? एक ही यहाँ भी उपाय है—"तांस्तितिक्षस्व भारत"।

यह भी कोई नियम नहीं है कि "हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्"। क्या पिता की मृत्यु के बाद पिता की गद्दी पर बैठकर भोगों को नहीं भोगते। उत्तराधिकारी का अर्थ ही होता है मरण से लाभ उठाने वाला। पिता का उत्तराधिकारी पुत्र, अर्थात् पिता की मृत्यु का लाभ उठाने वाला। भले ही सुनने वालों को बात कटु लगे पर है सच्ची। भोजन समय में भयानक समाचार सुनाई पड़ा तो भोजन विष के समान होने लगता है। तो क्या हमेशा के लिये फिर भोजन छोड़ा जायेगा? यह समस्त मनुष्यों के लिये एक ही सुन्दर उपदेश है। "क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः"। मनुष्य को 'यदृच्छालाभसंतुष्टो' होना चाहिये। प्रतिकूलता में सहनशक्ति बनाये रखना चाहिये। अन्यान्य समस्त विषयों के लिये भी यही परम उपदेश है—'तांस्तितिक्षस्व'।

आगमापायिनोऽनित्याः। मात्रा स्पर्श शीतोष्ण सुख दुःख दायी हैं। उनको सहन ही करना चाहिये। "तांस्तितिक्षस्व"। क्यों? उनके

प्रसङ्ग ही न आने दिया जाय। और आया भी हो तो सहन करने की अपेक्षा नष्ट करने का प्रयास किया जाय यही बुद्धिमानों के लिये उचित है। इस पर भगवान का कहना है–एक तो शीतोष्णादि विषय अनैकान्तिक स्वभाव वाले हैं। दूसरा आपका मना करने पर रुकने वाले नहीं, भगाने पर भागने वाले नहीं, रखने पर रहने वाले नहीं। ये आगमापायी हैं। शब्द स्पर्शादि कभो सुख रूप हैं तो कभी दुःखरूप होते हैं। संगीत कानों में अमृतवर्षा कर रहा था। इधर दुर्घटना में प्रियमरण सुनने में आया, तो क्या वही आलाप सुनते रहेंगे? इनकी सुख रूपता और दुःख रूपता प्रायः सांकल्पिकी होती है। भ्रमर के लिये सुखरूप कमल ही अन्तकरूप भी बन जाता है—"हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार"। इनका धर्म आगमापायी है। स्वरूपतः भी ये आगमापायी हैं। आगम का अर्थ है आना, अपाय का अर्थ है नष्ट होना, जाना। कर्म से संसार में मनुष्य आया है तो कर्मफल सुख दुःख भोगना ही पड़ेगा। कहीं न कहीं से रास्ता निकाल कर वह आयेगा। मैं एक बार पहाड़ी जंगल में भटक रहा था। साथ में मेरे जैसा एक और भी था। दिन में पानी नहीं मिला। प्यास के मारे परेशान था। पहाड़ के ऊपर चढ़ना था। एक नाला जैसा दिखाई पड़ा। उसके पास पहुँचा, किन्तु बूँद पानी उसमें नहीं था। उस नाले के रास्ते से काफी नीचे तक भी उतर कर देखा। किन्तु कहाँ से पानी मिले। वह तो सूखा नाला था। रात को वहीं सोया। प्रातःकाल नहीं हुआ था। मेरा कपड़ा भीग गया। मैंने दूसरे को जगाया। घबराहट हुई यहाँ क्या आ गया। कोई जानवर मूता तो नहीं। थोड़े ऊपर आकर फिर सोये। प्रातः काल देखा तो नाले में जगह-जगह गढ्ढे, गहरी जगह आदि थी। वहाँ निर्मल पानी भरा हुआ था। खूब पानी पिया। नहाया। मानो किसी ने रात को नहर खोल दिया हो। फिर उसी नाले के सहारे ऊपर पर्वत पर चढ़े। हम समझ रहे थे, ऊपर कोई तालाब होगा, किन्तु कुछ नहीं था। ऊपर

बिल्कुल शुष्क प्रदेश था। मानना पड़ा कि सुख और दुःख का द्वार सर्वत्र विद्यमान रहता है। **"अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र"**—भवितव्य के लिये सर्वत्र द्वार रहता है, ऐसा महकवि कालिदास की भी संमति है।

जैसे आगमन अवश्यंभावी है, वैसे अपाय भी निश्चित है। एक जैसी दशा जीवन भर में किसी की भी नहीं होती। महाकवि कालिदास ने बड़ा ही सुँदर चित्रण किया है—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीना-
माविष्कृतारुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद् व्यसनोदयाभ्यां
लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु॥

कन्याकुमारी में सूर्योदय एवं अस्त के दर्शन की बड़ी महिमा है। पूर्णिमा के रात को दक्षिणायन में प्रातः बड़ा ही सुन्दर रूप दीखता है। इधर समुद्र में चन्द्रमा डूब रहा होगा। उधर पूर्व में सूर्य का उदय हो रहा होगा। सायंकाल में सूर्य समुद्र में डूब रहा होगा और चन्द्रमा का उदय हो रहा होगा। जो आया वह जायेगा ही। यह केवल सूर्य चन्द्र की ही बात नहीं—लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु। सारी दुनिया एक दशा से दूसरी दशा में पहुँच जाती है। अतः ये शीतोष्ण सुख दुःख आये तो जायेंगे भी। ठंढ़ी के दिन आये तो जायेंगे ही। शिशिरऋतु आयी तो समाप्त भी होगी। ग्रीष्मऋतु आयी तो जायेगी भी जरूर। कोई यहाँ स्थिर नहीं है। वैसे सुख दुःख भी है।

"सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्"।

यह प्रसिद्ध है। जाने वालों को भगाने का प्रयास व्यर्थ ही है। फिर आपके बुलाने से जो नहीं आते और भगाने से जो भागते नहीं, उसके लिये रोना पीटना सर्वथा वृथा है।

भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन ! क्या तुम भीष्मद्रोणादि को हमेशा के लिये मरण से बचा सकते हो ? उनको होने वाले शारीरिक क्लेशों को आने से तुम रोक सकते हो ? क्या तुम अपने आपको भी हमेशा के लिये जीवित रख सकते हो ? सर्वत्र यदि नकारात्मक ही उत्तर है तो सर्वत्र एकमात्र यही उपदेश लागू होगा—"तांस्तितिक्षस्व"।

भारत यह संबोधन है। "मायां प्रभायां ज्योतिषि आत्मनि रतः न तु अप्रभायामन्धकारमये सुखदुःखादाविति भारतः"। यह सुख दुःखादि सभी सांकल्पिक हैं, मायामय हैं। उसमें तुम्हारी रति ठीक नहीं। कुछ विद्वान लोग कौंतेय, भारत इन दो सम्बोधनों से उभय कुल पवित्र व्यक्ति ही विद्याधिकारी है, ऐसा भगवदभिप्राय भी निकालते हैं ॥ १४ ॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

[हे पुरुषश्रेष्ठ सुख दुःख में सम हुए जिस धीर पुरुष को ये व्यथित नहीं करते वह अमृतत्व पाने में समर्थ होता है ॥१५॥]

शोक मोह के दो कारण हैं। प्रथम कारण मनोमयी सृष्टि है। द्वितीय कारण ईश्वरीय सृष्टि है। मनोमयी सृष्टि से शोक मोह का उदाहरण पूर्व में हमने जीवसृष्टि वर्णन में बताया। जिस पिता का लड़का मरा नहीं था, वह लड़के के मरने की झूठी खबर पाकर रोने लगा। उसे पुत्रमरण मन में दीख रहा था। किन्तु किस पुत्र का मरण मनमें दीख रहा था ? मनोमयी सृष्टि के पुत्र का मरण। ईश्वर सृष्टि का पुत्र जिन्दा था। वह सब मनोमयी सृष्टि का ही मामला था। ईश्वरीय सृष्टि से शोकमोहादि का उदाहरण मात्रास्पर्श है। पाँव में काँटा चुभा तो दर्द होने लगा। इसे केवल मनोमयी सृष्टि कहकर टाला नहीं जा सकता। काँटा, उसका चुभन, उससे दर्द होना यह सभी ईश्वरीय सृष्टि हैं। एक व्यापारी ने एक साल के बाद दीपावली के समय हिसाब किताब जोड़ा तो पचास हजार का नुकसान दीख पड़ा तब रोने लगा। घाटा तो साल से ही हो रहा था, पर दीपावली के आस-पास दीखा। वह रोना मनोमयी सृष्टि से हुआ। बिमारी, ठंढी, गर्मी आदि के क्लेश से जो शोक होता है वह ईश्वरीय सृष्टि को लेकर है। इनमें प्रथम प्रकार के शोक को विचार से हटाया जा सकता है। "नानुशोचन्ति पण्डिताः" पण्डित माने विवेक विचार वाला। वह अपने विवेक विचार से 'नानुशोचन्ति' शोक नहीं करता। क्या विवेक करना ? क्या विचार करना ? यह "न त्वेवाहं जातु नासं" इत्यादि से बताया। ये सामने

खड़े भीष्मादि मरेंगे इत्यादि मनोमयी सृष्टि है। उसको आत्म-नित्यत्वादि चिंतन के द्वारा हटाओ। धीरस्तत्र न मुह्यति। धीर पुरुष मोह में नहीं पड़ता। द्वितीय प्रकार का जो शोक है, अर्थात् रोग व्याधि शीतोष्ण सुखदुःख आदि प्रयुक्त जो शोक है, उसको हटाने का तरीका सहन है, सहिष्णुता-तितिक्षा है, यह पूर्व श्लोक में कहा—"तांस्तितिक्षस्व भारत"। पेट में दर्द हुआ तो उसको चाहे रो-रोकर सहन करो चाहे हँस-हँस कर सहन करो। सहन तो करना ही पड़ेगा। इनमें हँस हँसकर सहने को तितिक्षा कहते हैं।

सहनं सर्वदुःखानामप्रतीकारपूर्वकम्।
चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते॥

अप्रतीकारपूर्वकं के बाद—'अपि' जोड़ना चाहिये। प्रतीकार न होने पर भी समस्त दुःखों का सहन करना तितिक्षा है, सो भी चिंता और विलाप के विना। जानबूझ कर प्रतीकार न करना अर्थ नहीं, क्यों कि उससे फिर विक्षेप पैदा होगा और साधना नहीं बनेगी। हाँ, जिसका कोई प्रतीकार नहीं है। उसके लिये वृथा प्रयत्न भी न करना चाहिये। सहन तो सभी को करना ही पड़ता है, तब तितिक्षु में क्या विशेषता होगी ? अतः विशेषण है—चिंता विलाप रहितम्। साधारण सुख दुःख के लिये प्रतीकार तो नहीं ही करना चाहिये। थोड़ी सी ठंढ़ी लगी, थोड़ीसी गरमी लगी, उतने के लिये हाहाकार मचे, उसी के लिये दौड़ धूप हो, यह ठीक नहीं है। क्यों कि उससे शरीर नाजुक बनता जायेगा। उत्तर प्रदेश में घर घर में कहावत प्रसिद्ध है—जितनी गरमी सहो उतनी ही ठंढ़ी सहने की शक्ति आयेगी। रोग भी छोटा मोटा हो, आगे अधिक बढ़ने की संभावना न हो तो उपचार के बिना ही ठीक करना चाहिये। छोटीसी सर्दी लगी उसी पर इंजेकशन पर इंजेकशन लगाया। ठीक है। उस समय बिमारी ठीक हुई, किंतु हमारे अंदर जो जीवाणु हैं (सेल्स) उनको प्रतिरोध करने का मौका नहीं मिला

तो उनकी प्रतिरोधक शक्ति जंग खाने लगती है और अंत में खतम भी हो जाती है। फिर बाद में वही सर्दी जुकाम असाध्य हो जाता है।यह भी लोकोक्ति प्रसिद्ध है, जिसको जिदंगी में कभी बिमारी नहीं आयी, उसको आखिर छोटी भी बिमारी आ जाय तो वह उसे खतम करके ही छोड़ेगी। इसी लिये सहन शक्ति लाने के लिये ही चेचक का टीका लगाकर कृत्रिम बिमारी पैंदा करते हैं। अतः जो खतरा पैदा न करें ऐसे, समस्त दुःखों का बिना प्रतिकार और बिना चिंता विलाप सहन करना ही चाहिये। इसी को तितिक्षा कहते हैं। इसी तितिक्षा से मात्रास्पर्श प्रयुक्त—ईश्वर सृष्टि निमित्त शोक मोह को पार किया जा सकता है। यह तितिक्षा कैसे लायी जाय ? उसकी महिमा ज्ञान से। अत एव उससे होने वाला पार-मार्थिक लाभ इस श्लोक में कहा जा रहा है—"यं हि०"।

यं हि न व्यथयन्त्येते। ये मात्रा स्पर्श जिसको व्यथित नहीं करते। व्यथ धातु का अर्थनिर्देश पाणिनीय व्याकरण में किया है—**"व्यथ संचलने"** संचलन अर्थात् विचालन। 'न व्यथयन्ति न विचालयन्ति' ऐसा भाष्य में व्याख्या की है। स्वरूप से विचलित होना ही व्यथा है। व्यथा तकलीफ को भी कहते हैं। बिमारी को भी कहते हैं। सर्वत्र सामान्य अर्थ ही विचालन है। बिमारी के विपरीत है स्वास्थ्य। बिमारी आती जाती है। स्वास्थ्य आता जाता नहीं। "स्व' में अर्थात् अपने आप में स्थित को स्वस्थ कहते हैं। स्वस्थ का ही भाव स्वास्थ्य है। जैसे भूमिस्थ—भूमि में स्थित। गृहस्थ—गृह में स्थित वैसे स्वस्थ—स्वमें स्थित। दवाई से बिमारी हटायी जाती है, स्वास्थ्य लाया नहीं जाता। बिमारी विकृति है। स्वास्थ्य प्रकृति है। विकृति हटी तो प्रकृति अपने आप होती है। प्रकृत में क्या स्वास्थ्य और विचलन है।? यह दोनों समझना है। प्रथम स्वरूप पर विचार करें। फिर विचलन पर विचार करें। तभी विचलन के अभाव का पता लग सकता है।

स्वास्थ्य को समझने के लिये स्वरूप की ओर देखो। स्वरूप तो आवरण से आच्छादित हो गया है। दूसरा रूप सामने आ गया है। वेदांत बार-बार यही कहता है कि अपने स्वरूप को पहचानो। स्वास्थ्य से च्युति अर्थात् स्वरूप विचलन दो प्रकार से होता है। एक विकार से दूसरा विवर्त्त से। शरीरादि की स्वास्थ्य च्युति विकार से होती है। आत्मा की स्वरूप च्युति विवर्त्त से होती है। विकाररूपी स्वरूप च्युति की निवृत्ति उपचार से औषधादि से होती है। विवर्त्त से स्वरूप च्युति की निवृत्ति ज्ञान से होती है। अतएव यहाँ प्रथम आत्मा के स्वरूप का विचार करना चाहिये। फिर तदभ्यास से अधिष्ठान दर्शन करना चाहिये।

आत्मा का स्वरूप क्या है? यह तभी जाना जा सकता है जब इसे तीनों शरीरों से पृथक कर देखा जाता है। प्रथम स्थूल शरीर को अलग करके देखो। कैसे स्थूल शरीर को अलग करेंगे? क्या मरण के बिना स्थूल शरीर अलग हो सकता है? हाँ। सपने में हम स्थूल शरीर से अलग हो जाते हैं। उस समय स्थूल शरीर का सर्वथा ख्याल छूट जाता है। और आत्म स्वरूपावलोकनार्थ इतना अलगाव ही पर्याप्त है। छांदोग्य उपनिषद में प्रजापति ने इन्द्र को उपदेश देते समय इन्हों तीन शरीरों का विवेक करके तत्व समझाया है। प्रथम पर्याय में **"य एषोऽक्षणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच"** जाग्रत में यह जो आँख में पुरुष है, वही आत्मा है। उससे इतर पुत्रादि की व्यावृत्ति हुई। बाद में उपदेश किया—**"य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाच"** सपने में महिमा को प्राप्त होकर जो बिचरता है, वह आत्मा है। ऐसा बताया। सपने में शरीर जड़ होकर पड़ा रहता है, परन्तु ज्ञान पूर्ववत् हो रहा है। चलने, फिरने, देखने, सुनने आदि में पूर्ववत् ही कार्य चल रहा है। जाग्रत शरीर लंगड़ा हो गया। पर सपने में दौड़ रहा है। जाग्रत में बहरा हुआ, फिर भी सपने में सुन रहा है। इन्द्र कहता है—

"तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति। यदि स्राम-मस्रामः। नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति न वधेनास्य हन्यते। नास्य स्राम्येण स्रामः।" स्थूल शरीर अन्धा होता है किन्तु स्वप्न पुरुष अन्धा नहीं होता। स्थूल शरीर स्राम—एकाक्ष या कीच वाला होता है, पर स्वप्न पुरुष नहीं। स्थूल शरीर के किसी दोष से वह दूषित नहीं होता। स्थूल शरीर के वध से कटने फटने आदि से स्वप्न पुरुष का कुछ बिगड़ता नहीं। सीधी बात है—यह शरीर अचेत पड़ा है तो कौन अन्दर सचेत हो रहा है? अतः स्थूल शरीर से वह पृथक है। तब शायद यही स्वप्न द्रष्टा सूक्ष्म शरीर ही आत्मा हो। वह स्थूल शरीर से मिलकर जाग्रत प्रपंच देखता है। अकेला स्वप्न प्रपञ्च देखता हो। नहीं। इसके बाद और एक अवस्था आती है। वह है सुषुप्ति। यदि स्वप्न पुरुष ही आत्मा है, शाश्वत है तो सुषुप्ति में वह कहाँ जायेगा? सपना क्यों नहीं देखता? उस समय यदि अहमर्थं आत्मा गायब हो गया तो फिर "अहमस्माकं" प्रतिति किस प्रकार? प्रजापति ने कहा—"**तद्व यत्रैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाच**"—जब यह सुप्त हो गया—सो गया, स्वप्नकाल नहीं, समस्त सकल करणवृत्तियाँ अस्त जब हो गयीं, अतएव स्वप्नों को अनुभव नहीं करता, वह आत्मा है। स्वप्न में जो स्वाप्निक शरीर दीखता है वह तो आत्मा नहीं ही। जो कल्पना करने वाला मन है वह भी आत्मा नहीं है, क्योंकि सुषुप्ति में वह मन भी नहीं है। मन होता तो कल्पना क्यों नहीं कर लेता? उस समय मन अभिभूत हुआ। किन्तु अहं अभि-भूत नहीं हुआ। सोकर उठने के बाद पूछो तो क्या बोलता है? सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम्। मैं बड़े आराम से सोया कुछ भी पता न चला। वेखबर सोया। यहाँ चार बातें आती हैं। सुषुप्ति में तुम थे कि नहीं थे? मैं था। तुमने कुछ भी नहीं जाना तो तुम रहे इसमें क्या प्रमाण? मरकर फिर जन्म लेकर शायद आये हो?

नहीं नहीं। मैं तो था ही। मैं ही सोया और कौन सोया ? यह है अपना अस्तित्व। यह एक हुआ। दूसरा—तुम थे इतना तुम्हें पता रहा। जी। मैं सोया यह भी पता रहा। जी। बेखबर था, यह भी मालूम पड़ा। जी। अर्थात् तुम में चैतन्य था। यही अपनी चिद्रुपता है। तीसरा है—सुख। आराम से सोया। सुखपूर्वक सोया। यह पनी आनन्दरूपता है। चौथा है—कुछ नहीं जाना, यह बेखबरी है। इसी को अज्ञान भी कहते हैं। सारांश यह कि सुषुप्ति में सत् चित् आनंद और अज्ञान है। इनमें आपका स्वरूप क्या है ? आपसे पृथक कौन ? वेदांत कहता है—सच्चिदानंद आपका स्वरूप है। अज्ञान कारण शरीर पृथक् है। इसी को लेकर श्रुति कहती है—"विनाशमेवापीतो भवति" विनाश का अर्थ है—अदर्शन अज्ञान उसी में डूब गया।

सपने का विचार करके स्थूल शरीर से आत्मा को पृथक करो। यह स्थूल शरीर अज्ञात अचेतनात्मक पड़ा रहा। मैं सपने में महिमानुभव कर रहा था मैं स्थूल शरीर से पृथक हूँ। स्वप्न शरीर एवं मन से अपने को अलग कर सुषुप्ति में देखो। सुषुप्ति में मन लीन था। "सुषुप्तिकाले सकले विलीने" किन्तु 'अहं' उस समय भी अस्ति भाति सुख एवं अज्ञान का प्रकाशन कार्य कर रहा था। सुषुप्ति में जो अज्ञानरूपी कारण शरीर है उससे भी अपने आपको पृथक कर देखना चाहिये। यद्यपि यह साधारण लोगों के लिये कुछ कठिन है। फिर भी जाग्रत आदि में अज्ञान का जैसा स्वरूप अनुभव में आ रहा था, सुयुप्ति में वैसा नहीं है। समाधिकाल में अज्ञान से पृथक अपने आपका अनुभव करते हैं। यह कारण शरीर है। उससे अलग जब हो जाय तब काम-पूरा हो जाय।

व्यथयन्ति का अर्थ है विचालयन्ति स्वरूपादवसादयन्ति। आत्मा का सच्चिदानंद स्वरूप है। स्थूल शरीर के तादात्म्य से आत्मा स्वरूप च्युत हो जाता है। स्थूल शरीर असत् अचित् असुख-रूप है। उसके तादात्म्य से आत्मा भी असत् सा, अचित् सा, असुख

सा हो जाता है। यही स्वरूप च्युति है। वैसे ही स्वप्न में सूक्ष्म शरीर के तादात्म्य से भी स्वरूपच्युति हो जाती है। तथा सुषुप्ति में कारण शरीर के तादात्म्य से भी स्वरूपच्युति हो जाती है। इन्द्रिय-जनित अनुभव के कारण स्थूल शरीर तादात्म्याध्यास हुआ। इन्द्रिय जनित अनुभवोत्पन्न वासना की उद्‌बुद्धावस्था में सूक्ष्म शरीर तादा-त्म्याध्यास हुआ। इन्द्रियजनित अनुभवोत्पन्न वासना से ही अनुद्‌बु-द्धावस्था में कारण शरीर तादात्म्य।ध्यास हुआ। क्योंकि कारण शरीररूपी अज्ञान वासनामय ही होता है। वासना संसार का कारण है ही। वही वासना उद्‌बुद्धावस्था हो तो स्वप्न है। अनुद्‌बुद्ध हो तो सुषुप्ति है। इन वासनाओं के जन्म में मात्रास्पर्श का बहुत बड़ा भारी हाथ है। वाचस्पति मत में यही पूर्व पूर्व-संस्कार परंपरा तूलाविद्या कहलाती है। अतएव संसार प्रयोजक तूलाविद्या के दृढ़ीकरण या शिथिलीकरण में मात्रास्पर्श का मुख्य हाथ होने से मात्रास्पर्श की तितिक्षा की बात पूर्व में कह आये। मात्रास्पर्श एवं शरीरमय परंपराश्रित है। अर्थात् पूर्व-पूर्व परंपरा से बीजवृक्षन्याय से चले आ रहे हैं। इसकी विशेष विवेचन दार्शनिक ग्रंथों में है। यहाँ हमें इतना ही समझना है कि मात्रास्पर्श से सुख दुःख आदि का अनुभव होता है, उससे वासना बनती है। उसी से अध्यास होता हैं तो स्वस्थ्यच्युति होती है। अतः इन मात्रा स्पर्शों को नकामा करना ही साधक का प्रथम साधन है। अर्थात् मात्रा स्पर्श से उत्पन्न अनुभवों को अकिंचित् करके दृढ़तर वासना को उत्पन्न होने न देना ही साधक का कर्त्तव्य है। यही "यं हि न व्यथयन्त्येते" का मतलब है।

एक जिज्ञासु को इतना सब अर्थ समझ में नहीं आया। वह कहने लगा—महाराज, इतना सब अर्थ यहाँ कहाँ है? यहाँ तो इतना ही अर्थ है कि बाणादिस्पर्श का प्रसङ्ग है, उससे जिसको व्यथा यानी क्लेश न होता हो। हमने उसको बताया—यहाँ आगे

फल लिखा है—"सोऽमृतत्वाय कल्पते"—उसे मोक्ष मिलता है। क्या बाण के दर्द को सहन कर लिया तो मोक्ष मिल जायेगा ? इंजेक्शन लगाकर ओपरेशन करते हैं तो मात्रा स्पर्श से व्यथा नहीं होगी तो मोक्ष उससे प्राप्त हो जायेगा ? गीता बाहर से बहुत सरल दीखती है। किंतु भीतर से गंभीर है। बाहर से जितना अर्थ प्रतीत होता है उतना ही अर्थ लगाकर संतोष न करना चाहिये। अस्तु।

पुरुषम्। क्या स्त्री के लिये यह बात लागू नहीं होती ? मात्रा स्पर्श का सहन यदि स्त्री करे तो निष्फल है ? ऐसा नहीं कहा जा सकता। तत्वज्ञान की सरणि पुरुष हो या स्त्री, एक ही है स्त्रियों को तत्वज्ञान होता ही नहीं यह इतिहास विरुद्ध एवं प्रत्यक्ष विरुद्ध है। इतिहास में गार्गी, मैत्रेयी आदि का नाम उपनिषदों में तो आता ही है। संहिता भाग में भी मंत्रद्रष्ट्री ऋषि के रूप में वागाम्भृणी आदि स्त्रियों का नाम आता है। तत्वज्ञान वस्तुतंत्र होता है, पुरुषतंत्र नहीं। शीतोष्णादि सहने की शक्ति पुरुष एवं स्त्री में समान है। विवेक विचारादि भी दोनों में समान है। मदालसा जैसी माताओं के उपदेश से पुत्र भी तर गये हैं। अतः यहाँ पुरुष शब्द का अर्थ अन्य ढंग से करना चाहिये। एक तो यही है कि ऐसे शब्दों का प्रयोग सामान्यतया सर्ववाचक होता है। जैसे हिंदी में आदमी शब्द है। फलाने नेता की सभा में लाखों आदमी आये थे, ऐसा कहते हैं। तो क्या औरत एक भी नहीं थी ? मतलब, आदमी माने स्त्री— पुरुष सभी थे। परंतु यहाँ केवल सामान्यवाचक शब्द का प्रयोग नहीं है यहाँ विशेष अर्थ विवक्षित है। पुरुष शब्द के मुख्यतया तीन अर्थ यहाँ अभीष्ट हैं। पौरुष युक्त पुरुष, पुरिशयनात् पुरुषः, और पूर्ण पुरुष।

(१) किसको ये मात्रास्पर्श व्यथित नहीं करते ? पुरुष को। पौरुषवान व्यक्ति को। पौरुष का अर्थ है—परिश्रम, धैर्य आदि। हिन्दी में 'पुरुषार्थी' शब्द से इसको कहते हैं। लोग यदि यह समझें

कि तत्वज्ञान की घूंट गुरुजी पिला दें तो हो जायेगा। होगा जरूर, किंतु पात्र भी तो बनना पड़ेगा। तदर्थं पौरुष=पुरुषार्थं करना अनिवार्य है। कर्म उपासना आदि सभी एतदर्थं पुरुषार्थं है। कुछ लोग यह समझते हैं कि कुछ पुस्तकों का वांचन करो तो ज्ञान हो जायेगा। वाँचन नहीं, वह वंचन होता है। साधना के बिना अनुभव नहीं होता। फिर अंत में जो कुछ वाँचा वह भी भूल गये, कोरे के कोरे रह गये। भगवान आगे स्वयं गीता में बतायेंगे :—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥

यतमान ही नहीं, प्रयत्नाद् यतमान, खूब महेनत से यत्न करने वाला योगी पापों से रहित शुद्ध होता है। सो भी एक जन्म का प्रयास नहीं, अनेकजन्मसंसिद्धः—अनेक जन्मों में जाकर सिद्धि पाता है। धैर्य, सहन शक्ति आदि के साथ प्रयत्न करने वाले को ही यहाँ पुरुष बताया है।

(२) श्रवणमनननिदिध्यासनादि प्रयत्न करने वाले पुरुष को प्रथम कहाँ पहुँचना है? सो बताया पुरुषं से। पुरिशयनं पुरुषम्। जो पुर में शयन करे उसको पुरुष कहते हैं।

"पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्"

ऐसा कैवल्योपनिषत् में बताया है। यहाँ तीन पुरों का निर्देश किया गया है। तीन पुर जो हम पहले बता आये हैं। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर ये तीन पुरत्रय का अर्थ है। इन तीन में जो शयन करे वही पुरुष है। मकान में शयन करने वाला या क्रीड़ा करने वाला स्वयं मकान ही नहीं होता। किंतु यह बात समझने की है। जिसने यह समझा वही पुरुष है। अन्यथा वह पुर ही है। जैसे भीलों के मध्य में राजकुमार पला। भीलों की वेषभूषा आहार-विहार, रहन सहन सभी भीलों का। उसको कौन कहेगा—राज-

कुमार। स्वयं आपने आपको समझे और भोलों से अपने को पृथक करे तभी वह राजकुमार हो सकता है। राजकुमार की बात जैसी तैसी हो, यहाँ तो अपने आपको पुरत्रय से अलग समझना अनिवार्य है, क्यों कि यहाँ विकारात्मक स्वरूपविचलन नहीं, विवर्त्तात्मंक स्वरूपविचलन है। उसकी निवृत्ति स्वरूपज्ञान से ही संभव है। जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति में पुर एवं पुरुष को पृथक करके देखना चाहिये। शुद्धान्तःकरण होकर विचार करना चाहिये, अर्थात् पुरुषार्थी रूप पुरुष बनकर पुरिशयान रूप पुरुष रूपेण अपने स्वरूप का दर्शन करना चाहिये।

(३) जब आत्मा को पुर से भिन्न पुरिशयान रूप में हम देखते हैं तब तीसरा पुरुषरूप प्रकट होता है। वह है पूर्ण पुरुष। **"येनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं"**। जो पूर्णरूपेण अवस्थित है, वही यहाँ पुरुष है। पहले हम कह आये हैं कि उपाधि के कारण यह आत्मा परिच्छिन्न सा हो गया है। जैसे घटावच्छिन्न आकाश आकाश रूप से व्यापक होने पर भी घटोपाधिवशात् परिच्छिन्न-सा होता है, वैसे शरीरत्रयो-पाधिवशात् यह आत्मा परिच्छिन्नसा हो गया। शरीर परिमाण बन गया है। वस्तुतः यह व्यापक है, पूर्ण है। जब यह समझ में आ जाता है कि शरीर ही मैं नहीं, शरीर में शयन करने वाला शरीर से पृथक हूँ, तभी अपनी पूर्णता एवं व्यापकता भी समझ में आने लगती है। किंतु हम कह चुके हैं कि इस शाब्दिक ज्ञान से नहीं, पुरुषार्थ से, अभ्यास से पुरुष का अनुभव होगा तभी पूर्णत्व बोध होगा। ऐसी स्थिति मे वह स्वरूप से पुनः प्रच्युत नहीं होगा। यं हि पुरुषं सन्तम् एते न व्यथयन्ति ऐसा यहाँ अन्वयार्थ होगा। पुरुषार्थ से अपने को पुरिशय रूपेण देखते हुए अन्ततः पूर्ण रूपेण जो अवस्थित होता है ऐसे पुरुष को मात्रास्पर्श व्यथित नहीं करते। स्वरूप च्युत नहीं करते, उस पुरुष का यहाँ प्राप्यफल सुनो।

पुरुषषर्भ। अर्जुन ने कहा—हे भगवन् ! यह सब आसमान की उड़ान मेरे जैसों के लिये सपने के बराबर है। अनेक जन्मों में किये गये तप के प्रभाव से ऐसा एकाध तत्ववेत्ता होगा जो जंगलों में, गुफाओं में रहता होगा, उसी पर ये सब बातें लागू हो सकती हैं। भगवान कहते हैं—हे अर्जुन ! मैं यह उन योगियों के लिये नहीं कह रहा हूँ। तुम्हारे जैसे साधकों के लिये कह रहा हूँ। पुरुष पद में जो तीन मुख्य अर्थ हैं, उनमें प्रथम तो तुम्हारे ही अन्दर अच्छी तरह घट रहा है। पुरुषार्थी एवं साहसी होने से तुम पुरुष ही नहीं, पुरुषर्षभ हो। किस बात को लेकर अर्जुन पुरुषर्षभ है ? भगवान को तो पुरुषोत्तम कहते हैं। सो किसलिये, इसलिये कि भगवान पूर्णतम है। कदाचित् शरीर धारण भी करे तो भी आत्मा को अत्यंत पृथक रूप से दर्शन करते हैं। फिर मात्रास्पर्श प्रयुक्त रागद्वेषादि वासना परमात्मा में है भी नहीं, जो कारण शरीर रूप से रहकर तादात्म्याध्यास एवं जन्म-मरणादि कर्म फल परम्परा में हेतु है। अतः परमेश्वर पूर्णतम होने से पुरुषोत्तम कहा जाता है। संत महात्माओं को सत्पुरुष, महापुरुष आदि कहते हैं। सो किसको लेकर ? आत्मा को वे पुरिशयन देखते हैं। प्रारब्धाधीन शरीर में बाधित तादात्म्य से ही सही आखिर आत्मा शयन करता है। यहीं तक महापुरुषों में कल्पना होती है। सर्वथा पूर्णार्थदर्शी हो तो वह मानव भी भगवान है ही। अब अर्जुन को पुरुषर्षभ संबोधन किस बात को लेकर कहाँ ? यदि पूर्णता बोध हुआ या पुरीशयनता बोध हुआ हो तो "नानुशोचन्ति पंण्डिताः" के अनुसार शोक मोह नहीं होना चाहिये। अतः पारिशेष्यात् प्रथम अर्थ ही ग्राह्य है—पुरुषार्थियों में अर्जुन अग्रणी है।

अर्जुन धीर रहा इसमें संशय नहीं। **"अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्"** इत्यादि उक्ति प्रसिद्ध है। किसी के सामने दीन नहीं बनना, युद्ध में मुँह मोड़कर पलायन न करना ये दोनों अर्जुन की प्रतिज्ञायें थीं। दूसरा, अर्जुन परम पुरुषार्थी था। परिश्रमशील

था। बाह्य परिश्रम आन्तर परिश्रम दोनों ही करने में अग्रसर था। तभी तो राजसूय यज्ञ से पूर्व दिग्विजय किया था। और तपस्या कर शंकर को प्रसन्न किया था। उपासना तपस्या आदि आध्यात्मिक प्रगति में भी परम निपुण है। इसलिये गीता एक बार सुनी जभी "नष्टो मोहः" कहा। आजकल के लोग हजारों बार गीता पाठ कर चुके होंगे किंतु अभी तक "नष्टो मोहः" नहीं हुआ। अतः अर्जुन पुरुषार्थ करने में अग्रणी था। इसी कारण भगवान ने उपयुक्त संबोधन किया—पुरुषर्षभ।

समदुःखसुखम्। मात्रास्पर्श जिस पुरुष को व्यथित नहीं करते-विचलित नहीं करते, ऐसा पूर्वार्ध में बताया। किस पुरुष को व्यथित नहीं करते, यह तृतीय पाद में बताया जायेगा। सामान्य रूप से व्यथा का अर्थ लोकप्रसिद्ध है-तकलीफ। परन्तु यहाँ पर थोड़ा अर्थ भिन्न किया। व्यथित का अर्थ बताया—स्वरूपच्युति। ऐसा अर्थ बदलने में हम हेतु पहले ही कह आये हैं, आगे फिर से कहेंगे भी। एक दूसरा भी कारण है। पूर्वश्लोक में बताया था—मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। ये मात्रा स्पर्श शीत उष्ण एवं सुख दुःख प्रदान करते हैं। ठीक है, जब शीत या उष्ण दुःखदायी हो तब मात्रास्पर्श व्यथित करते हैं। सुखदुःखदाः में भी दुःख प्रदानकाल में शैत्य एवं शिशिर ऋतु में अग्निताप सुखप्रद है तब "एते मात्रास्पर्शा व्यथयन्ति" यह उक्ति संगत किस प्रकार हो। और 'सुखदुःखदाः' में 'सुखदाः' इस पक्ष में किसी भी प्रकार 'व्यथयन्ति' यह उक्ति संगत नहीं होगी। सुख किसी को व्यथित करें, यह तो व्याघात है। 'मे माता वन्ध्या' के ससान है "अग्निः शीतयति' जैसा है, अतः व्यथित का अर्थ करना ही पड़ेगा–स्वाभाविक स्थिति से विचलित। दुःख आता है तो मनुष्य रो रोकर सूख जाता है, तब स्वाभाविक स्थिति नहीं रहती। सुख आता है तो हँस हँसकर फूल जाता है तो भी स्वाभाविक स्थिति नहीं रहती। अतः

दोनों में स्वरूप विचलन है। स्वाभाविक का अर्थ है 'स्वभावे भवः' स्वभाव में जो हो वह स्वाभाविक। स्वभाव क्या ? बस वही जो पहले हमने बताया—स्वास्थ्य। लौकिक दृष्टि से सामान्य स्थिति स्वाभाविकता है। अध्यात्म पक्ष में आत्म स्थिति स्वाभाविकता है। उक्त बात को ही स्पष्ट करते हुए अविचलित रहने में साधन रूपेण पुरुष का विशेषण दिया जा रहा है—"सम दुःख सुखम्" यहाँ भी वही बात है—दुःख को सहकर सामान्य स्थिति में लाना ठीक है। सुख को नीचे उतार कर सामान्य स्थिति में लाने की क्या जरूरत ? वही, जिससे स्वरूप च्युति न हो।

भगवान ने व्यथित न होने में हेतुरूप से "समदुःखसुख" बताया। दुःख और सुख में समभाव से रहो। लोगों का स्वभाव बड़ा विलक्षण होता है। लोग सुख का स्वागत करते हैं और दुःख का तिरस्कार करते हैं। सुख में हर्ष होता है, पुनः-पुनः आगमन की कामना करते हैं, स्थिर स्थायी रहने की प्रार्थना करते हैं। सुख का प्रवेश द्वार खुला रहता है। इसके विपरीत दुःख में बड़ा शोक होता है। पुनः कभी नहीं आवे, आया हुआ भी जल्दी भागे यही कामना रहती है। दुःख के लिये दरवाजे पर लिखा रहता है—प्रवेश बंद (नो एड-मिशन) परंतु ये सब होने पर भी विपरीत होता है। जितना स्वागत करते हैं उतना ही सुख दूर चला जा रहा है। दुःख को जितना तिरस्कृत करते हैं उतना ही समीप आ रहा है। जिस प्रवेश द्वार पर प्रवेश बंद लिखा है, वह द्वार ही बेकार है। दुःख को आने के लिये तो हजारों द्वार खुले हुए हैं। कहीं से भी वह आ सकता है। मुख्य फाटक मेन दरवाजा बंद किया तो चूहे का प्रवेश घर में नहीं होगा क्या ? चूहे के आने का यह मार्ग ही नहीं है। उसके मार्ग हजार और हैं। अत एव सुख का स्वागत और दुःख का तिरस्कार दोनों ही वृथा है। श्रीमद्भागवत में विदुरजी का यह वचन है—

सुखाय कर्माणि करोति लोको न तैः सुखं वान्यदुपारमं वा ।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः ॥

हे मैत्रेयजी ! आप उचित सलाह दें। हम यही देख रहे है कि लोग सुख के लिये पूरी मेहनत करते हैं। उससे न सुख की प्राप्ति होती है और न हो दुःख की उपरति होती है। उलटा उसीसे ज्यादा दुःख होता है—हाय ! मैंने इतना प्रयत्न किया और सुख नहीं मिला। यह एक रोना, प्रयत्न करने का जो क्लेश हुआ, उसका दूसरा रोना। ऐसा ही चित्रकेतु के प्रति भगवान का वचन है—

सुखाय दुःखमोक्षाय कुर्वाते दम्पती क्रियाः ।
ततोऽनिवृत्तिरप्राप्तिर्दुःखस्य च सुखस्य च ॥

घर में दम्पति पति पत्नी मिलकर यही तो कोशिश करते हैं कि दुःख दरवाजे में न फटके। इसके लिये दिनभर भटके, पर जो सुख था सो भो छटके जैसी बात होती है। दुख की अनिवृत्ति और सुख की अप्राप्ति यही फल है।

सुख से कभी भी संतोष नहीं होता। सड़क के किनारे जो पड़े हैं वे सोचते हैं जैसे तैसे एक झोंपड़ी कहीं मिल जाय तो अपना निर्वाह हो जायेगा। सड़क के किनारे जिंदगी गुजारना अशक्य है। बारिश में कहाँ भागे। ठंढी में कपड़े के अभाव में रात कैसी गुजरेगी। झोंपड़ी उसको मिल जाती है तो वह स्वर्ग सुख मानने लगता है। किन्तु कितने दिन ? यह झोंपड़ी वाले जानते हैं। बड़ा नर्क है। नल की सुविधा नहीं, संडास की सुविधा नहीं। नरक के कीड़े बने हुए हैं। चाली मिल जाय तो ठीक है। अगर दैवयोग से चाली मिली तो बड़ी प्रसन्नता होगी। किन्तु क्षणिक। चाली में भी असुविधा भरी है। कोमन नल संडास आदि हो तो पानी भरने आदि का रोज झगड़ा। मकान मरम्मत बरावर नहीं होता। शिकायत ही शिकायत। फिर बड़ी-बड़ी नगरियों में फ्लेट प्राप्त

करना भारी लक्ष्य होता है। लेकिन दूसरों के फ्लेट जब देखते हैं तो अपना फ्लेट बड़ा हीन दीखता है। उपनगर वाले नगर को उत्तम मानते हैं और चरम लक्ष्य पर कदाचित पहुंच भी गये तो वहाँ छोटी-छोटी बात को लेकर भारी परेशानी होती है।

लब्धं धनं तदपि पूर्ववदेव कष्टं
लब्धं च हर्म्यमतिचारु तथापि कष्टम्।
लब्धानि तानि सुखदान्यखिलानि किन्तु
न ह्यन्तरं किमपि दृष्टिपथं प्रयातम्॥

धन मिला तो कष्ट पूर्ववत् ही रहा। महल मिला तो भी कष्ट वही का वही रहा। सुखदायी समग्र सामग्रियाँ उपलब्ध हुईं किंतु तकलीफ में कोई भी फरक देखने में नहीं आया। रोना हर जगह चालू ही रहता है। मनुष्य को संतोष नहीं होता।

काशी में जब हम प्रथम-प्रथम अध्ययनार्थ मठ में पहुंचे तो वहाँ दीवट में तेल डालकर बत्ती जलाकर रात को पढ़ते थे। बड़े आराम से हम पढ़ते रहे। कोई शिकायत नहीं थी। केवल गरमियों में तकलीफ थोड़ी होती थी। काशी की भयंकर गरमी तो प्रसिद्ध ही है। हवा में पढ़ने के लिये रात को बैठें तो बत्ती बुझ जाती थी। हवा न हो तो पसीने से तर हो जाते थे। तो क्या करते थे दिन में याद करते और रात को अंधेरा होने पर याद किये हुए की पुनरावृत्ति कर पक्का कर लेते थे। एक दो साल यही सिलसिला जारी रहा। उसके बाद एक लालटेन मिली। फिर क्या कहना था। महान हर्ष का वह विषय था। हवा में बैठो तो कोई तकलीफ नहीं। जब चाहो कम करो, जब चाहो ज्यादा करो। वह तकलीफ दूर हो गयी। किन्तु बरसात में एक तकलीफ रही। क्या ? माचीस गीला हो जाता था तो बत्ती नहीं जलती थी। जमीन पर सील आ जाय और भूल में माचीस जमीन पर पड़ा तो बड़ी तकलीफ। पहले का सुख

तो सामान्यस्तर पर आया और यह तकलीफ ऊपर से दीखने लगी। फिर भी आराम से चलता रहा। थोड़े दिनों के बाद मठ में बिजली आयी। यह तो विशेष हर्ष का विषय रहा। चिरप्रतीक्षित एक अभाव की पूर्ति हो गयी। अब न तो हवा का भय है और न तो माचीस गीला होने की तकलीफ है। पर्याप्त प्रकाश भी हो गया। पहले पचीस पावर के बल्ब में खुशी थी। बाद में चालीस पावर, फिर साठ। अब ट्यूब लाईट हो गयी। किन्तु पता नहीं खुशियाँ कहाँ गायब हो गयीं ? वह सामान्य स्थिति पुनः आयी। इतना अनुभव हुआ कि बिजली कभी फेल होती है तो क्लेश होता है।

संसेव्यमानमधिकाय न तत्सुखाय।
कष्टाय किन्तु परतस्तदलभ्यमानम् ॥

इन विषयों के सेवन से कोई अधिक सुख नहीं मिलता। हाँ एक बार सेवन करने के बाद फिर वह न मिले तो तकलीफ जरूर होगी। एयरकंडीशण्ड रूम में रहने वालों के लिये वह भी सामान्य हो जाता है। हाँ, वहाँ से निकलने पर भारी तकलीफ मालूम होगी। सुख का जितना स्वागत करो उतना ही वह नजदीक होगा। अर्थात् सामान्य से विशिष्ट होगा। गाँव वाले सर्दी जुकाम को कोई बीमारी ही नहीं समझते। न दवाई ही करते। उनको उससे कोई खास क्लेश भी नहीं होता। करोड़पति के बेटे को थोड़ी सर्दी लगी तो उसे मिटाने डॉक्टर के पीछे सौ रुपये खर्च करते हैं। और बहुत भारी बीमारी मालूम पड़ने लगती है। अपार क्लेश भी होने लगता है। भगवान अर्जुन को यहाँ कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! सुख और दुःख को प्रथम सामान्य स्थिति में लाओ फिर सुख और दुःख को सम बनाओ। सुख में न हर्ष हो और दुःख में न उद्वेग हो।

सुख और दुःख को सम बनाने पर ही मात्रास्पर्श मनुष्य को व्यथित नहीं करते। सुख दुःख में विषमता हुई, सुख में हर्ष एवं

और आश्चर्य होता है कि मुझे क्यों मालूम नहीं पड़ा ? यह ईश्वर सृष्टि के सुख की बात हुई। जीवसृष्टि में तो अप्रत्यय करना अत्यंत सरल है। किसी ने अपमान किया तो उस तरफ देखा ही नहीं। हमको कभी-कभी रास्ते में बदमाश लोग गाली देने लगते हैं तो सुने बिना ही चले जाते हैं, इसलिये सुख दुःख नहीं होता। दुःख के अप्रत्यय के समान सुख का भी अप्रत्यय करना चाहिये, क्योंकि केवल क्लेश निवृत्ति की बात नहीं है। उससे रागद्वेष भी न होना चाहिये। सुख में यदि राग हुआ तो फिर वही शरीरतादात्म्या-ध्यास बना रहेगा और स्वरूपच्युति होगी। अतः सुख एवं दुःख दोनों को अप्रत्यय के द्वारा अर्थात् उस ओर ध्यान न देना, इस उपाय से सम बनाया जा सकता है। •बनाने से व्यथा निवृत्ति होगी।

(२) अप्रत्यय एक कठिनतम उपाय है। शरीर में सूई लगे और अप्रत्यय करे यह बड़ा कठीन है। यदि यह शक्य न हो तो दूसरा उपाय स्वीकार करो। माँ बैठी हुई है। उस समय लड़का खेलता खेलता आया और खुशी से माँ की गोद में कूदा। माँ गिर गयी, बड़ा धक्का लगा। परंतु माँ को दुःख नहीं हुआ। क्यों ? माँ ने दुःख को दुःख रूप में स्वीकार नहीं किया या यह कहो कि उसने अपने गिरने को दुःख रूप में न स्वीकार कर सुख रूप स्वीकार किया। बच्चे के प्यार ने दुःख—को सुख के रूप में परिणत किया। महर्षि भृगु क्षीरसागरशायी भगवान के पास गये। तब भगवान सो रहे थे। जाकर छाती पर एक लात जमा दी। भगवान की नींद टूटी। हड़बड़ाते हुए उठ बैठे। देखा तो ऋषि ने लात मारी थी। भगवान उठ खड़े हुए और भृगु को प्रणाम किया। भगवान पूछने लगे, हे महर्षि ! आपको चोट तो नहीं आयी ? मेरा हृदय बड़ा कठोर है। ब्रह्माजी और शंकरजी जल्दी पिघल जाते हैं, तुरत वरदान दे देते हैं। पर मेरा हृदय जल्दी नहीं पसीजता।

मेरा हृदय बहुत कठोर है। और आप संतों का चरण अत्यंत कोमल होता है। संतों का हृदय ही नहीं, सन्तचरण भी नवनीत समान होता है। वह भी नमस्कर्त्ताओं के लिये सद्यः फल प्रद होते हैं।

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन सद्य एव तु (दर्शनादेव) साधवः॥

तीर्थं देवता आदि भी कठोर होते हैं। वे दीर्घकाल में जाकर फल देते हैं। परन्तु सन्तजन इतने सरल कोमल हैं कि तुरत फल देते हैं। यह सुनकर महर्षि भृगु प्रसन्न हुए। यहाँ सारांश यही कि भगवान ने दुःख को दुःखरूपेण अस्वीकार किया। भृगु की परीक्षा में ब्रह्मा आदि ने मानस सृष्ट दुःख का अस्वीकार नहीं किया। अर्थात् वे भी क्रोध में आ गये। यह लोकसंग्रहार्थ ही उन्होंने किया। मतलब यही कि दुःख को स्वीकार करने से स्वरूपच्युति होती है, यह दिखाना था। जैसे भगवान राम ने लोक संग्रहार्थ सीता वियोग में रुदन किया। विष्णु भगवान ने लोक संग्रहार्थं ही सहिष्णुता का परिणाम स्वरूप—अप्रच्युति दिखाई। देवताओं के विषय में इतना ही कहने की हमें योग्यता है। दोषारोपण हम किसी भी देव पर नहीं कर सकते।

(३) सुख दुःख को सम बनाने का तीसरा उपाय है विचार। विचार भी तीन ढंग से होता है। कर्मकांड दृष्टि से, भक्तिकाण्ड की दृष्टि से और तृतीय ज्ञानकांड को दृष्टि से। इनमें कर्मकांड की दृष्टि वाले कहते हैं—सुख और दुःख अपने किये हुये कर्मो का ही फल है। उसे तुम रो रोकर भोगो चाहे हँस हँसकर। भोगना अवश्य है।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।
नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि॥

किया हुआ शुभ और अशुभ अवश्य ही फल देगा। उसका फल भोगना ही पड़ेगा। भले सौ करोड़ कल्प बिता लो, पर, कर्म नष्ट

नहीं होते। भोगे बिना कर्म का क्षय नहीं होता। जब सुख दुःख अवश्यं भावी है तब बिना मतलब क्या रोते रहना—

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः॥

चाहे मनुष्य कितना ही बुद्धिमान हो, बलवान हो, पर अवश्यं भावी होकर ही रहेगा। उसका प्रतीकार नहीं हो सकता। सत्य युग में अति पराक्रमी राजा नल हुआ। श्री हर्ष कवि वर्णन करते हैं—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथास्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।
नलः सितच्छत्रितभूतिमण्डलः, स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः॥

राजा नल की वीरता युक्त ऐसी कथा ही है, जिसका पान करने पर देवता लोग अमृत का भी अनादर करने लग जाते हैं। वह तेजोराशि था। समस्त भूमण्डल का अधिपति था। उज्ज्वलयशोयुक्त था। पर इतना सब होने पर भी कर्म को नहीं टाल सका। दमयन्ती सहित जंगलों में भटकता रहा। त्रेतायुग में साक्षात भगवान ही अवतार लेकर आये। त्रेता का नाम लेते ही राम का स्वरूप सामने आता है। वाल्मीकि रामायण में आदि में ही मूल रामायण की शुरूआत अतिलोकोत्तर ऐश्वर्य वर्णन से होती है। परंतु वे राम भी बनवास से बच न सके। द्वापर में युधिष्ठिर का नाम है। जिसको धर्मराज की संज्ञा भी दी है। धर्म में भी अधर्म की संभावना हो सकती है क्या? किंतु युधिष्ठिर को भी पांडव द्रौपदी सहित बनवास दुःख भोगना पड़ा। तब हम जैसों की क्या कथा? ऐसा विचारकर सुख दुःख में सम होना चाहिये। दुरितक्रम कर्मो का क्रम दुर्गम है। अभी सुख है, हँस रहे हैं। दो क्षण के बाद पता नहीं, क्या होने वाला है। ऐसा सोचकर हर्ष से भी उपरत होना चाहिये। यह कर्मकांडानुसार विचार हुआ।

अब भक्तिकांडानुसार विचार देखो। आप यदि भगवान के भक्त हैं तो कर्म पर जोर देने की जरूरत नहीं है। सुख दुःख जो भी हो

रहा है, यह सब भगवान् ही कृपा करके दे रहे हैं, यही समझना है। भगवान जो करता है सो अच्छाई के लिये ही करता है। किसी बीमारी के होने पर वैद्य कड़वी दवा पिलाता है। बच्चा भला क्या समझे कि यह कड़वी दवा मुझे क्यों पिलायी जा रही है। रहस्य तो वैद्य ही जानता है। यह संसार भी एक रोग है। इनमें सुख मीठी दवा है। दुःख कड़वी दवा है। उसे वैद्यजी पिलाते हैं—"वैद्यो नारायणो हरिः"। जो भी कुछ हो रहा है यह सभी भगवान की इच्छामात्र है। प्रसाद मात्र है। "मैं उसी में राजी हूँ जिसमें तेरी रजा हो"। भगवान की इच्छा का अतिलंघन करने की कोशिश नहीं करनी चाहिये। भगवान की लीला में त्रुटि निकालने का काम नहीं है।

तीसरा विचार ज्ञानकांडानुसार है। ज्ञानी तत्ववेत्ता कहते हैं कि सुख दुःख आदि सभी मिथ्या है। सारा जगत मायामय है। जब सारा जगत मायामय एकरूप है तो किसके लिये रोना ? किसके लिये हँसना ? नाटक चित्र में कोई मर गया तो क्या ? कोई जी गया तो क्या ?। रज्जु में सर्प ज्ञान भ्रांति समझा, शुक्ति रजत ज्ञान भी भ्रांति समझा तो अब सर्प के लिये दुःख और चाँदी के लिये खुशी यह कैसा तमाशा ? सपने में एक लाख का नुकसान एक दिन देखा। दूसरे दिन एक लाख का फायदा। क्या उन दोनों को सोच सोचकर हँसते रोते रहेंगे ? दोनों ही समान है। हानि से हानि नहीं और लाभ से लाभ नहीं। सुख सुख नही दुःख दुःख नहीं। सभी कल्पना मात्र है। यों समझकर दोनों में सम रहना चाहिये। यही स्वरूपच्युति से बचने का परम उपाय है।

इन तीन मतों में कौन सा ग्राह्य है, त्याज्य है ? अर्थात् कौन सही कौन गलत ? उत्तर है ये तीनों विचार साधना है। जिसको जो ठीक जचे वही करे। साधना में वास्तविकता या अवास्तविकता का विचार नहीं होता। फोटो को भगवान समझकर ध्यान लगाना साधना है। उस साधना में वह फोटो सचमुच भगवान है या नहीं

इसे सोचने की जरूरत नहीं हैं। साधना अपने लिये नहीं, साध्य के लिये होती है। अतः साधना में कभी विवाद उठाया नहीं जाता।

(४) सुख दुःख को समान बनाने का चौथा उपाय है—साक्षी भाव से सबको देखना। द्रष्टा भाव से सुख दुःख को देखना। मैं दर्द से भिन्न हूँ—दर्द मेरे पेट में या पीठपर हो रहा है, उसे मैं देख रहा हूँ। नहीं देखना चाहता तो स्वप्न या सुषुप्ति में चला जाता हूँ। अगर यह दर्द मुझमें होता तो स्वप्न सुषुप्ति मूर्छा आदि में साथ में आता। मैं द्रष्टा हूँ, दर्द दुःखादि दृश्य है। ऐसा साक्षी भाव रखे। इसमें सिर्फ इतनी ही बात होती है कि हमेशा साक्षी भाव में सजग होना चाहिये। अनेक कामों में मौज मस्ती में इस भाव को भूल जाते हैं 'भूलना नहीं चाहिये। यही सजगता है। आगे आयेगा—"पश्यञ्छृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्" देखो, सुनो, चलो फिरो, सब कुछ करो किन्तु इन सबको दृश्य समझो। अपने को सर्वत्र द्रष्टा समझो। काम क्रोध आदि हर भाव में द्रष्टा भाव से सजग रहो तो धीरे धीरे ये काम क्रोधादि सभी दोष क्षीण होंगे। शांत होंगे। चोर तभी तक उथल पुथल करेगा जब तक उसे कोई देखता नहीं, और देखकर चोर समझता नहीं। कमादि का प्रभावमात्र हम अनुभव करते हैं। कामादि को नहीं। उन्हें देखने का प्रयास ही नहीं किया जाता। हाँ चले जाने के बाद कहते हैं मुझमें क्रोध आया था। लेकिन उसके बाद देखने से क्या लाभ। कदाचित कामादि को देख भी लेते हैं तो अपने से पृथक दोषरूपेण नहीं। अपने से पृथक इनको देखना चाहिये।

धीरम्। सुख दुःख को सम बनाने के लिये चार उपाय बतायें। ये चारों उपाय शरबत के समान आसानी से पीने योग्य नहीं हैं। न कोई पिला ही सकता है। एतदर्थ आवश्यक गुण भगवान ने धीरं शब्द से कहा है। सुख दुःख का अप्रत्यय हो, अस्वीकार हो, स्वरूप विचार हो या साक्षीभावेन दर्शन हो, सभी धैर्य से ही संभव है।

धीरज रखकर इन साधनों का अनुष्ठान दीर्घकाल पर्यंत करते रहना पड़ेगा। तब ही अनुभूति सामने आ सकती है।

सोऽमृतत्वाय कल्पते। "यं हि न व्यथयन्त्येते" इत्यादि पर इतनी इस ढंग की व्याख्या सुनकर ऐसा न समझ लेना चाहिये कि यह एक व्याख्यानचातुरी मात्र है, वस्तुतः इतना सब तात्पर्य यहाँ नहीं है। कोई कह सकता है कि यहां मात्रास्पर्श में व्यथित न होने और सुख दुःख में अधिक विचलित न होने मात्र की बात बतायी है। परन्तु ऐसा मानने पर "सोऽमृतत्वाय कल्पते" यह चतुर्थ पाद अर्थवाद मात्र मानना पड़ेगा। मात्रास्पर्श में अधिक व्यथित तो किसान भी नहीं होते। वे भी सुख दुःख की अधिक परवाह नहीं करते। वे अमृतत्व भागी तो नहीं ही। अतः पूर्वोक्त रहस्य पूर्णरूप से यहाँ स्वीकार्य है। अमृतत्व की प्राप्ति तो—**"कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्"** इस मंत्र में स्पष्ट बताया है। प्रथम 'धीरः' धैर्य चाहिये। फिर आवृत्तचक्षुः हो। शरीरेन्द्रीयादि में आत्मदर्शन निवृत्ति ही आवृत्तचक्षुपना है। अमृतत्वमिच्छन् से इसी को अमृतत्व साधन सूचित किया। यहाँ यह उक्ति भी स्मरण में रखना चाहिये जैसे कि बताया है—

रत्नैर्महार्हैस्तुतुषुर्न देवा न भेजिरे भीमविषेण भीतिम्।
सुधां विना न प्रययुर्विरामं न निश्चितार्थाद्विरमन्ति धीराः॥

महामूल्य रत्नों से देवता संतुष्ट न हुए। भयंकर हलाहल से भयभीत न हुए। अमृत प्राप्त किये बिना वे उपरत नहीं हुए। बात सही है। धीर पुरुष अपने निश्चय से कभी पीछे नहीं हटते। प्रथम तो देव होना चाहिये। दैवी संपदा से युक्त हो। इसी संसार सागर में रहकर इसी का मंथन करना है और अमृत निकालना है। जरूरत पड़े तो असुरों से सन्धि भी कर लो। द्वेष क्रोधादि आसुरी संपत है। दुष्टों के साथ कभी निपटना भी पड़ सकता है। पर अपने दैवी स्वरूप

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

अश्रद्धा से दी हुई आहुति, दिया हुआ दान, तपस्तप्तं-तपा हुआ तप, कृतं च और किया हुआ कर्म ये सभी असत् कहलाते हैं। इसका मरणोत्तर कोई फल तो नहीं ही, इह लोक में भी कोई महत्व नही है। श्रद्धा का अर्थ क्या है? श्रत् सत्यं धीयतेऽत्रेति श्रद्धा। सत्य धारणा ही श्रद्धा है। अंधश्रद्धा की बात नहीं। स्वयं जो सत्य हो और उसे सत्य समझते हुए धारण करें, यही श्रद्धा है। इससे विपरीत अश्रद्धा है। श्रद्धा का अभाव अश्रद्धा नहीं है। जैसे धर्म का अभाव अधर्म नहीं किन्तु धर्म विपरीत अधर्म है। वैसे श्रद्धा का अभाव अश्रद्धा नहीं, श्रद्धाविपरीत अश्रद्धा है। अश्रद्धा का अर्थ है असत्य धारणा। भारत के स्वातंत्र्य युद्ध में भारतीयों ने बहुत बड़ा बलिदान किया। स्वतंत्रता सेनानी बंदूकों के सामने छाती तानकर खड़े हो जाते थे और उस पर अंग्रेज गोली चलाते थे। यह बहुत बड़ा भारी यज्ञ था। स्वतंत्रता संग्राम यज्ञ में सेनानी आत्माहुति देते थे। पंजाब में जलियाँवाला कांड इतिहास विश्रुत है। जहाँ हजारों नरनारियों ने अपनी आहुतियाँ दी थी। कुछ अंग्रेजों ने भी भारत को परतंत्र बनाये रखने के लिये आहुतियाँ दी थी। क्योंकि आंदोलन के समय कई अंग्रेज भी मारे गये थे। दोनों आहुतियों में क्या फरक था? फरक यही था कि एक सत्य धारणा से आहुति थी, दूसरी असत्य धारणा से आहुति थी। स्वतंत्रता हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है, इस सत्य धारणा से जो आहुति दी गयीं वह 'सत्' थी। भारतीयों को परतंत्रता में ही पड़े रहना चाहिये यह असत्य धारणा थी। इस असत्य धारणा से जो आहुति दी वह असत् हो गयी। उन मरने वाले अंग्रेजों का न परलोक में कल्याण है और न इस लोक में ही नाम रहा। इस 'अश्रद्धया हुतं' का आज कोई भाव नहीं, कोई अस्तित्व नहीं। नासतोविद्यतेभावः।

इसी प्रकार अश्रद्धया दत्तं का भी कोई भाव नहीं है। भारत ने श्रद्धया हुतं से अश्रद्धया हुतं को परास्त किया बीसवीं शताब्दी के मध्य में। किन्तु श्रद्धया दत्तं से अश्रद्धया दत्तं को अभी तक परास्त नहीं किया है। प्रथम तो 'दत्तं' ही दुर्लभ हो रहा है। श्रद्धया दत्तं कहाँ है ? बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध का यह मध्य समय है। अभी तक कोई लक्षण नहीं दीख रहा है। दान देना दत्त है। सत्य धारणा से दान देना श्रद्धया दत्तं है। असत्य धारणा से दान देना अश्रद्धया दत्तं है। सत्य धारणा तभी बन सकती है जब अपना अधिकार समझेंगे। श्रीमद्भागवत में कहा है—

"यावद् भ्रियेत जठरं तावत्स्वत्वं हि देहिनाम्,'

जितने से आपका पेट भरे, उतने में ही आपका अधिकार है। 'पेट भरे' का अर्थ है जीवन निर्वाह। उससे जो अधिक है उसे आप अपना समझते हैं तो वह असत्य धारणा है। परकीय समझते हैं तो सत्य धारणा है। करोड़पति अरबपति बनते जा रहे हैं। पैसा उड़ा रहे हैं। ऐश आराम में पड़े हैं। अन्न सड़ रहा है। वस्तु सड़ रही है। किन्तु दूसरों को नहीं दे रहे हैं। ये तो नरकगामी होते ही हैं। उनकी बात तो छोड़ ही देना है। हम आगे बढ़कर कह रहे हैं। जो दान देते हैं वे सेवारूप में सत्य धारणा से दें। मजदूरों ने मेहनत की। उनको उचित तनखा दिया तो यह कोई कृपा नहीं है। यह उनका अधिकार है। वे मजदूर न होते तो आप पैसा किसी भी हालत में कमा नहीं सकते थे। यदि आगे ऐसा युग आ जाय आविष्कार हो जाय, ऐसी ऑटोमेटिक मशीन लग जाय कि अकेला शेठ ही पूरी मील चला लें, तो भी इतने हजारों वर्षों में मानवों ने मानवजाति की प्रगति में जो योगदान किया उसी का ही परिणाम माना जायेगा। सर्वथापि स्वनिर्वाह से अतिरिक्त वस्तु पर दूसरों का ही अधिकार है, इस सत्य को समझना चाहिये। इस सत्य धारणा के साथ अपने धन को परार्थ जो लगाते हैं उसी को श्रद्धया

दत्तं कहते हैं। इसके विपरीत होने पर अश्रद्धया दत्तं होगा। अर्थात् मानवीय अधिकार को समझे बिना पशु के समान तिरस्कार पूर्वक दूसरों को थोड़ा बहुत दें तो भी वह अश्रद्धया दान ही होगा। अत एव सनातन धर्म में सड़क पर पड़े एक भिखारी को पाँच पैसा या एक केला भी दिया तो उसे देकर 'बाबा प्रणाम' कहने का ही शिष्टाचार है। और भावना भी यही रखी जाती है कि इससे भगवान की मैं सेवा कर रहा हूँ। यह महान सिद्धांत केवल भारत में ही देखने को मिलेगा। परन्तु विदेशियों के अंधानुकरण से हमारी संस्कृति नष्ट होती जा रही है। एतदर्थं अब द्वितीय स्वतन्त्रता संग्राम अपेक्षित है। देश स्वातन्त्र्य के बाद अब अर्थं स्वातन्त्र्य आवश्यक है। अर्थात् इस श्लोक से गांधीजी को प्राप्त प्रेरणा में अब तक एक ही हिस्सा पूरा हुआ। तीन हिस्सा बाकी है। इस अश्रद्धादान का उभय लोक में उन्नति हेतुक अस्तित्व नहीं है।

'अश्रद्धया तपस्तप्तं' भी असत् है। उत्तम लक्ष्य की सिद्धि के लिये जो जो परिश्रम किया जाता है वह सभी तप है। **"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं"** इत्यादि त्रिविधतप का वर्णन आगे आने वाला है। उसका संक्षिप्त स्वरूप यही हो सकता है। सत्रहवें अध्याय का तो केवल आध्यात्मिक तप वर्णन है। उसका बाह्य स्वरूप भी ग्राह्य है। श्रमिकों का श्रम आध्यात्मिक दृष्टिकोण के साथ नितरां तप है ही। सत्य धारणा से श्रम तप करो तो वह सत है। असत्य धारणा से श्रम तप करो तो वह असत् है। सत्य धारणा क्या ? हमारा परिश्रम केवल उदर पूर्त्ति के लिये ही नहीं, परोपकारार्थ भी होना चाहिये। जापान का उदाहरण लोगों के सामने हैं। द्वितीय महायुद्ध में जापान तबाह हो गया था। परन्तु वहाँ के देशवासियों ने अपने अथक परिश्रम से देश को पुनः ऊपर उठाया। भारत में और जापान में यह अन्तर देखने में आता है कि भारतीय श्रमिक अधिक से अधिक छुट्टी चाहते हैं। जापानी कहते हैं—छुट्टियों से देश का ही

तो आखिर नुकशान है, अतः हमें छुट्टी नहीं चाहिये। गवर्मेंट का कानून होने से जबरन छुट्टी दिलायी जाती है। काम न करो, काम धीमा करो आदि जितनी भी बातें हैं उनके लिये गीता में तो स्थान ही नहीं है। पर्याप्त जो कामकाज कर रहे हैं वह श्रद्धा से है या अश्रद्धा से, इतना ही विचार है। राष्ट्र की उन्नति के लिये काम करना है, परोपकारार्थ काम करना है, यह धारणा यदि हो तो वह सत्य धारणा है। मुझे अपना ही पेट भरना है। स्वार्थ ही पूरा करना है। चाहे मील में नुकसान हो चाहे राष्ट्र का नुकसान हो। यह असत्य धारणा है। उस असत्य धारणा से जो भी तप किया वह असत् है। उसका कोई भाव नहीं, मूल्य नहीं।

अश्रद्धया कृतं यह चौथा है। यह सर्वसंग्रहार्थ है। धनिक एवं श्रमिक के बाद जो मध्यमवर्गादि हैं सभी का कर्म श्रद्धा पूर्वक हो तो ही सत होगा, अश्रद्धा पूर्वक हो तो नहीं। सामान्य कर्म में सत्य धारण क्या है ? इस विषय में गीता ही प्रमाण है। **"कर्मण्येवाधि-कारस्ते मा फलेषु कदाचन"** यह सत्य धारणा है। कर्म करो या न करो फल मिलना ही चाहिये, यह असत्य धारणा है। राष्ट्रव्यापी समस्त जनता का कर्म कर्त्तव्य बुद्धि से होना चाहिये। कानून का पालन कर्त्तव्य बुद्धि से करना चाहिये। क्योंकि कानून बनाने वालों ने बहुत सोच समझकर बनाया है। गलती भी हो सकती है, उसे सुधारना चाहिये। मनुष्य को काम करना चाहिये, यह भी एक कानून है। असत्यधारणा से जो भी कर्म करो वह असत होता है। इस असत का कभी भाव नहीं होता। संसार में अस्तित्व नहीं रहता। "अश्रद्धया हुतं दत्तं" इत्यादि श्लोक की विशिष्ट व्याख्या अपने स्थान पर होगी। यहाँ प्रसंगतः किंचित् निर्देश किया।

नाभावो विद्यते सतः। सत् का कभी अभाव नहीं होता। नासतो विद्यते भावः' में आये हुये असत के प्रतियोगी रूप सत् का तो साथ साथ में अर्थ आ गया। जैसे अप्रद्धया हुत असत है तो

श्रद्धया हुत सत् है इत्यादि। अब यहाँ स्वतंत्र रूपेण सत् का अर्थ पुनः देखना है। क्यों कि भगवान ने पृथक् व्याख्या की है। आगे आयेगा—

> सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
> प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥
> यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
> कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते॥

प्रथम पाद में राष्ट्र निर्माण की बात हुई। अब व्यक्ति निर्माण कैसा होगा यह द्वितीय पाद में देखो। असत् का भाव नहीं होता। सत् का अभाव नहीं होता। सत् का एक अर्थ सद्भाव है। सद्भाव अर्थात् सद्भावना। परस्पर सद्भावना होनी चाहिये। "परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ" यह आगे आने वाला एक सूत्र है। वैसे तो वहाँ देव और मनुष्यों के लिये यह बात आयी है। परंतु सूत्र रूप होने से वह विश्वतो मुख है। देव मनुष्य सदृश विभाग जहाँ भी हो वहाँ यही सूत्र लागू होगा। बुद्धिजीवी श्रमजीवी परस्पर सद्भावना से काम करें तो परमश्रेय प्राप्त होंगे। शेठ एवं मजदूर परस्पर सद्भावना से कार्य करेंगे तो परमश्रेय प्राप्त करेंगे इत्यादि रीति सर्वत्र स्थल में व्याख्या की जा सकती है। परस्पर सद्भावना जहाँ है वहीं स्वर्ग है और परस्पर कलह जहाँ होता हो वहीं नरक भी है। (इसकी पौराणीक कथा आगे यथा स्थान बतायेंगे) लोगों में यह देखा जाता है कि दूसरे की उन्नति देखने पर उनको जलन होती है कि यह क्यों आगे बढ़ गया? पारस्परिक सद्भावना नाशवान नहीं। "श्रेयः परमवाप्स्यथ"। उसका फल परम श्रेय पर्यंत है। इसके विपरीत असद्भावना है। असद्भावना पूर्वक कितनी ही प्रगति करें, किंतु एक दिन वह चौपट हो ही जायेगा। "भिक्षुको भिक्षुकं दृष्ट्वा श्वानवद्गुर्गुरायते" एक भिखारी दूसरे भिखारी को देखकर गुर्राने लगता है। एक श्वान तीर्थयात्रा करने

निकला था। गङ्गा यमुना सिंधु काशी प्रयाग मथुरा रामेश्वरं गोदावरी सब जगह घूमकर आया। मित्रों ने पूछा कैसी यात्रा रही ? यात्रा बड़ी अच्छी रही। बस एक ही तकलीफ थी। जहाँ भी बिरादरी वाले मिले, बस, दुर्दशा होती थी। यह असद्भाव मनुष्य को बहुत नीचे गिराता है।

साधुभाव को भी सत् कहते हैं। सद्भाव और साधुभाव में क्या फरक ? परस्पर सद्भावना सद्भाव है और संत भाव ही साधु भाव है। सद्भावना में परस्पर भावना की अपेक्षा की गंध है। किन्तु इतर निरपेक्ष होकर उत्कृष्ट भावना रखे वह साधुभाव है।

"उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्"

यह साधु भाव की व्याख्या है। संतो के लिये सारी पृथिवी ही कुटुम्ब है। 'प्राणियों में सद्भावना हो' यह सद्भाव का स्वरूप है। 'विश्व का कल्याण हो' यह साधु भाव का स्वरूप है। हमारे विनोवा जी कहते हैं—"जय हिंद" का ही नहीं, 'जय जगत' का नारा लगाओ। सारे जगत् का कल्याण हो। यद्यपि यह क्रमिक है, फिर भी लक्ष्य 'जय जगत' का होना चाहिये।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत् ॥

यह साधु भाव का उदाहरण है। संसार में सभी सुखी हो, ऐसा ही भाव होना चाहिये। सभी निरामय-निरोग हो। सभी मंगलमय दृश्य देखें। दुःख की घड़ियाँ गिननी न पड़े, कोई दुःखी न हो, इस प्रकार जो साधुभाव मन में रखते हैं उसका भी कभी नाश नहीं होता। केवल सद्भाव का ही फल 'श्रेयः परमवाप्स्यथ' बताया तो साधु भाव के विषय में कहना ही क्या ? अतएव 'नाभावो विद्यते सतः' यह साधुभाव में भी चरितार्थ है।

प्रशस्त कर्मों को भी सत ही कहते हैं। प्रशस्त कर्म का भी कभी नाश नहीं होता। इसी अध्याय में आगे आयेगा—**"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते"** कर्मयोग प्रारंभ कर भगवान ने यह वचन कहा है। अर्थात् प्रशस्त कर्मरूपी अभिक्रम का नाश नहीं होता। यहाँ प्रत्यवाय की कोई संभावना नहीं है। यह प्रशस्त कर्म परमात्मा तक पहुंचाये बिना विश्राम नहीं लेता। यज्ञदानादि को अगले श्लोक में बताया है। अतएव यहाँ प्रशस्त कर्म का पूर्त्त-कर्म अर्थ लिया जायेगा। परोपकार के निमित्त वापी कूप तडागादि निर्माण, विद्यालय औषधालयादि का निर्माण ये सभी प्रशस्त कर्म हैं। अपनी शक्ति के अनुरूप प्रशस्त कर्म कोई न कोई करना चाहिये। **"अवन्ध्यं दिवसं कुर्याद्दानाध्ययनकर्मभिः"** दिन को वंध्य मत बनाओ निष्फल मत करो। सोचो आज मैंने कोई अच्छा कर्म किया या नहीं। केवल उदर पूरण और धनार्जन का ही कर्म किया, अतिरिक्त कोई कर्म न किया तो वह दिन वृथा गया, ऐसा समझो। क्या आपने इस पर कभी ध्यान दिया ? ध्यान यह जरूर दिया होगा कि आज कोई फिजूल खर्च तो नहीं किया, कुछ धन अधिक जमा किया या नहीं। यह सब मनुष्य की भूल है। प्रशस्त कर्म करो। वही सत है। उसका अभाव नहीं होगा।

यज्ञ में स्थिति सत् है। यज्ञ का वर्णन आगे मिलेगा। मुख्य कुछ प्रकार मात्र यहाँ समझेंगे। साधारण यज्ञ होमादि प्रसिद्ध है। अग्नि जलाकर उसमें आहुति डालते हैं। यह न हो सके तो प्राणाहुति देना चाहिये। वह भी यज्ञ है। सबके उदर में भगवान वैश्वानर के रूप में स्थित हैं। **"अहं वैश्वानरो भूत्वा"**। तब भूखे मनुष्य को अन्न देना यह यज्ञ ही है। स्वयं भी यज्ञ भावना से भोजन करना चाहिये। यह भी न हो सका तो प्राणायामादि का अभ्यास करो। यह भी यज्ञ है, **"प्राणान् प्राणेषु जुह्वति"**। एक न हो सके तो दूसरा करे ऐसी बात नहीं है। ये सब साथ में भी किये जा सकते हैं।

दान में स्थिति भी सत है। जो दान दिया गया वही सत है, उसका अभाव विनाश नहीं होगा। अन्य सब विनाशी है। जो खाया वह शरीर बना। शरीर विनाशी होने से शरीर के नाश के साथ उसका भी नाश हुआ। बड़े-बड़े पहलवान हुए, हो रहे हैं उनका खाया हुआ माल क्या शाश्वत है ? वे भी मर मरा गये। रावण कुम्भकर्ण जैसे महाबलशाली करोड़ों मन अन्न खाकर हजम करने वाले मर गये तो अन्य पहलवानों की क्या कथा ? जमा किया हुआ धन लेने वाले बहुत मिलेंगे। रास्ते में गिरी हुई फाऊण्टेन पेन जिसके हाथ में आ जाती है वही बोलता है—मेरी है। वैसे ही जमा किया हुआ धन जिसका भी हाथ लगता है, वही उसे कहेगा मेरा है। बच्चे लोग पतंग के लिये लड़ पड़ते हैं। टूटा किसका पतंग ? लड़ रहे कौन ? कभी-कभी आपसी झगड़े में पतंग फट जाता है, किसी का भी नहीं रहता। यह धन संचय भी पतंग लीला है। जिसके हाथ में आया उसके लिये सत् जैसा हो गया। जिसको गया उसके लिये असत् जैसा हो गया। इसलिये खाया हुआ—उपभुक्त धन भी शाश्वत नहीं, शरीर नाश से नष्ट होता है। संचित धन भी नष्ट होता है। शाश्वत धन वही है जो अपने हाथ से पात्र में प्रदत्त है। उसका नाश नहीं होता। वह पुण्यरूपेण हमारे साथ में रहता है। फलाभिलाषा हुई तो वही पुण्य फिर धनरूपेण प्रकट हो जाता है। अतः उसे अविनाशी कहा जाता है। हाँ, फलाभिलाषा हुई और प्राप्त धन का पुनः उसी प्रकार विनियोजन हुआ तो ही वह शाश्वत होगा। अन्यथा वहीं खतम होगा। फलाभिलाषा के बिना जो प्रदत्त है वह अनन्त होता है।

तप में स्थिति भी सत है। जीवन को तपोमय बनाना चाहिये। सेवामय बनाना चाहिये।

"तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात् संप्राप्यते मनः।
मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्त्तते ॥"

ऐसा मैत्रेयी उपनिषत का वचन है। तप करने से ही सत्वगुण की प्राप्ति होती है और सत्वगुण से प्रकाश मिलता है। सत्वगुण से प्रकाश (सत्व का अर्थ बुद्धि भी है) मिलता है। तब मन की प्राप्ति होगी। मन का अर्थ यह दौड़ने वाला नहीं। यह तो मिला मिलाया ही है। इसको क्या प्राप्त करना है। मन का अर्थ मनन है। जब श्रवण आदि प्रकाश प्राप्त हो तभी मनन संभव है। अन्यथा मनन किसका किया जा सकता है। मन से ही आत्मा की प्राप्ति होती है। मनन ही उत्कट होने पर निदिध्यासन कहलाता है। अतः उसे पृथक नहीं बताया। जैसे सत्वगुण ही उत्कट होने पर प्रकाश रूप होता है। इस मन से आत्मा की प्राप्ति होती है। जहाँ आत्मा की प्राप्ति हो गयी, वहाँ शांति उपरति निवृत्ति आदि आ जाती हैं, किंतु सबका मूल तप है। जीवन सेवामय बिताना चाहिये। प्राणीमात्र की सेवा यह महान तप है। अन्य तपों का भी वर्णन आया है। जितना संभव है उतना करना चाहिये। यह तप भी आत्मा तक ले जाने वाला है। अत एव सत् है। और इसका विनाश भी उसी कारण नहीं होता है। वैयक्तिक जीवन में तप का होना परम आवश्यक है।

तदर्थीय कर्म भी सत् ही होता है। यज्ञ दान तप स्थिति के निमित्त जो कर्म किया जाता है वह भी सत् है—अविनाशी है। आगे अर्जुन को स्वयं भगवान उपदेश देंगे—"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ"। जय-पराजय को सम बनाकर युद्ध करो। प्राप्त कर्त्तव्य को करो, किंतु यह सर्व साधारण कदापि नहीं हो सकता। युद्ध तो जय के लिये ही किया जाता है। व्यापार किया जाता है तो लाभ को लक्ष्यकर ही किया जाता है। फल के लिये ही सभी कर्म करते हैं। उसमें देखना यही है कि यह फल किस उपयोग में आयेगा ? फल को साधन बनाओ। युद्ध करने से विजय और विजय से राज्य प्राप्त होगा। उस राज्य से हम धर्म रक्षा

करेंगे, यज्ञ दानादि करेंगे, ऐसा विचार है या उस राज्य से सुखोपभोग करेंगे यह विचार है। व्यापार कर धन कमायेंगे। उस धन से फिर आगे क्या करेंगे यह प्रश्न है। ऐश आराम करेंगे ऐसा विचार है या यज्ञदानादि करेंगे यह विचार है ? गीता के कर्मयोग रहस्य को जानने के लिये **"कर्म चैव तदर्थीयं"** पर ध्यान देना परम आवश्यक है। परम लक्ष्य कर्म का भी धन राज्यादि द्वारा धर्म एवं ब्रह्म है, तो वह भी सत ही है। उसका भी अभाव नहीं होगा। 'नाभावो विद्यते सतः' इस प्रकार प्रथम पाद से राष्ट्रीयता का स्तर ऊँचा उठाने को बताया। द्वितीय पाद में वैयक्तिक जीवन का स्तर सन्मय बनाने के लिये बताया। जब तक इन दोनों की पूर्त्ति नहीं होगी तब तक सत्याग्रह जारी ही समझना चाहिये।

इन दोनों तत्वों का सिद्धांत तत्वदर्शियों ने समझा। उन्होंने इसे अपने जीवन में उतारा। यह एक विशिष्ट तरीके का व्याख्यान श्लोक का समझ लीजिये। अब प्रकृत प्रसङ्गानुरूप पुनः इसी पर दृष्टिपात किया जयेगा।

"न त्वेवाहं जातु नासं" इत्यादि से आत्मा नित्य है यह बताया। आत्मा नित्य होने से ही उसका विनाश होने वाला नहीं अत एव वह शोच्य भी नहीं है। शरीर संयोग वियोग को लेकर शोक करना उचित नहीं, यह 'देहनोस्मिन्' इत्यादि से वताया। शरीर को लेकर भो शोक करना व्यर्थ है, यह आगे 'अन्तवंत इमे देहाः' इत्यादि में बतायेंगे। इसी बात को दार्शनिक पद्धति से समझाने के लिये भगवान यह सदसत् सिद्धांत बता रहे हैं—**नासतो विद्यते भावः इत्यादि**। असत् भीष्मादि शरीर का कभी भाव नहीं होगा और सत् भीष्मादि आत्मा का कभी अभाव नहीं होगा। यह पूर्वार्ध का अर्थ है।

सत् शब्द 'अस भुवि' धातु से बना है। 'अस्ति' इति सत्। अस्तिका अर्थ है—"है"। 'पुस्तकम् अस्ति' का अर्थ है—पुस्तक है।

यह जो जगत में 'हैं' 'है' प्रतीति हो रही है यही अस्ति है, यही सत् है। पृथ्वी है, जल है, तेज है, मनुष्य है, पशु है, पक्षी है, घर है, वस्त्र है इस रीति 'है' सर्वत्र अनुगत है। 'है' यह अनुवर्त्तमान है। पृथ्वी जलादि व्यावर्त्तमान है। इसके लिये आगे भगवान उदाहरण देंगे—"**सूत्रे मणिगणा इव**" माला में धागा एक होता है और मणके एक सौ आठ या एक सौ नौ होते हैं। इसी प्रकार 'है' रूपी सत् एक है। उसमें व्यावर्त्तमान ये पृथवी आदि एक सौ आठ हैं। या एक सौ नौ हैं। कौन कौन एक सौ आठ हैं ?

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापो पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥

एतस्मात् का अर्थ है—अभिव्यक्तमायाविशिष्टचेतनात्। एक माया है। प्राण और मन मिलाकर तीन। दस इंद्रियाँ—तेरह। पाँच महाभूत–अठारह। इनके सात्त्विक राजस तामस तीन तीन स्वरूप चौवन। ये ही उत्पत्ति-अभिमुखीभूत और प्रलयाभिमुखीभूत ऐसी दो दो अवस्थाओं के होते हैं। तब एक सौ आठ होंगे। जीवात्मा को अलग लेने पर एक सौ नौ। ये एक सौ आठ परस्पर व्यावर्त्तमान है। धागा रूपी सत् सर्वत्र अनुवर्त्तमान होता है। जैसे आकाश अनुवर्त्तमान है। तारे नक्षत्रादि व्यावर्त्तमान हैं। अनुवर्त्तमानता और व्यावर्त्तमानता ये ही परस्पर विरुद्ध धर्म हैं। व्यावर्त्तमानता की दृष्टि से व्यावर्त्तमान वस्तु अनुवर्त्तमान से भिन्न होगी। आकाश से भिन्न है तारें। वैसे सत् से भिन्न है प्राणादि। आकाश से भिन्न तारे अनाकाश कहे जा सकते है—आकाश नहीं है, इसलिये अनाकाश हैं। वैसे अनुवर्त्तमान सत् से भिन्न व्यावर्त्तमान प्राणादि क्या कहलायेंगे ? सत् से भिन्न। अर्थात् ? असत्। ये ही प्राणादि असत् हैं। यह सुनते ही द्वैतवादी भड़क उठे। आकाश से भिन्न अनाकाश तक हाँ हाँ करते गये। सत् से भिन्न प्राणादि असत् कहते ही भड़के। बोलने लगे—प्राणादि

असत् कैसे ? प्राणादि सत् हैं। प्राण है कहते हैं। प्राण नहीं है, ऐसा कौन बोलता है कि आप उसे असत् कह रहे हैं ? उत्तर है-प्राण है मन है इस प्रकार "है" की अनुगत प्रतीति से प्राणादिसत् से भिन्न सिद्ध हुआ। सूक्ष्म दृष्टि से देखे बिना स्थूल मतियों को यह समझ में नहीं आयेगा। अनुगत आकाशसे विलक्षण अननुगत तारे आपको अनाकाश समझ में आये तो अनुगत सत् से भिन्न अननुगत प्राणादि असत् क्यों नहीं समझ में आते ? आकाश और तारे अलग अलग दीखते हैं, सत् और प्राणादि अलग नहीं दीखते। इसलिये असत् समझ में नहीं आ रहा है, कहें, तो पूछेंगे आकाश के बिना आकाश से अलग तारों को आपने कहाँ देखा ? आकाश नीला है। तारे सफेद हैं इसलिये अलग हैं कहें, नहीं, आकाश में नीलिमा की भ्राँति है। आकाश में कोई नीला रंग नही होता। यह कहें कि माना, आकाश में नीलीमा भ्राँति है। आकाश अरूप है। तारे सरूप है, इसलिये दोनों अलग हैं तो वही यहाँ भी उत्तर है। घटपटादि सरूप हैं, सत् अरूप है। घट है, यहाँ घड़े का रंग लाल है। और "है" का रंग क्या है ? लाल ही ? यदि 'है' का लाल है तो नील कमल है, यहाँ पर 'है' में लाल रंग दीखेगा। कहो—जो रंग घट का है वही रंग 'है' का है। जहाँ घट है वहाँ लाल रंग दीखेगा। जहाँ नील कमल है वहाँ 'है' का रंग नीला दीखेगा। इस कथन का मतलब है, घट कमलादि का ही रंग'है' में है। 'है' का कोई रंग ही नहीं है। अत एव नीरूप से सरूप भिन्न है। नीरूप सत् से सरूप प्राणादि भिन्न है, असत् है। सत् के संबंध से घटादि सत् रूप से प्रतीत हो रहे हैं, और घटादि संवंध से सत् लाल पीला आदि प्रतीत हो रहा है। इसी को अन्योन्याध्यास एवं अन्योन्यधर्माध्यास कहते हैं। जो सत् है वही व्यापक ब्रह्म है, आत्मा है। जो प्राणादि है यही असत्। इनमें 'नासतो विद्यते भावः'—असत् प्राणादि का भाव नहीं होता और सत् ब्रह्म का अभाव नहीं होता।

क्या यह 'है है' करके जो प्रतीत हो रहा है, यही ब्रह्म है? यही आत्मा है? यह एक मामूली चीज हो गयी जो घटपटादि में सर्वत्र है। इतना ही अगर ब्रह्म है तो उसका मूल्य क्या? हम तो समझ रहे थे—सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान चेतन आनंदैकरस तत्व ब्रह्म है। यह घट है पट है वाला 'है' तो जड़ है, वह क्या कर सकता है? क्या जान सकता है? क्या इसी से **"भीषास्माद्वातः पवते"** वायु आदि डरते हैं। 'घट है' में है को समझकर एक चीटी भी नहीं डरेगी। इस पूर्वपक्ष का उत्तर यह है कि परमात्मा अभयरूप है। उससे किसी को डरना नहीं है। बात यह है कि परमात्मा का सदंश मात्र घट है पट है आदि में अभिव्यक्त हो रहा है। चिदंश आनंदांश एवं अखण्डस्वरूपादि नहीं। अन्यथा 'घट है' इतने में सत् ब्रह्म का ज्ञान हो गया होता और मोक्ष हो गया होता। इसे समझने में तो कई जन्म लेने पड़ते हैं क्योंकि अज्ञानावरण एवं असदध्यास जबरदस्त है। उसे निकालने के लिये ही साधन संपादन किया जा रहा है।

क्या है वह साधन? प्रथम साधन है—नासतो विद्यते भावः यह समझना। प्राणादि एवं पृथिव्यादि असत् है, यह पहले दृढ़ करो। भीष्मादि शरीर असत् हैं, इस बात को प्रथम निश्चय करो। असत् होने पर जो दीखे वह सत् में कल्पित होता है। जैसे शुक्ति में रजत असत होने पर भी दीखता है तो वह शुक्ति में कल्पित है। कल्पित का अर्थ यह नहीं है कि उससे व्यवहार ही नहीं होता। मिट्टी में घट कल्पित है। फिर भी व्यवहार होता है। मिट्टी में घट बनाया गया है कल्पनामात्र कहाँ है?। यदि बनाया तो मिट्टी से अलग उसे दिखावो। तंतु ही ऊपर नीचे किये तो कपड़ा दीखने लगा। कपड़ा कौन सा नया पदार्थ उसमें आ बैठा? तंतु को ऊपर नीचे करने की मेहनत है जिससे कपड़ा दीखने लगा। कपड़ा तो कल्पना ही है। फिर भी व्यहार चलता है। वैसे सारा जगत कल्पना

है ब्रह्म में। अनंतशक्तिमती माया से ब्रह्म अनेकधा दीखता है। और उसी से सभी व्यवहार भी होते हैं। परन्तु दीखने वाले इस जगत का कभी भी भाव नहीं हो सकता। कल्पित वस्तु क्षण भंगुर भी होती है। जैसे पूर्व में बताया—"कौमारं यौवनं जरा"। शरीर क्षण भंगुर प्रत्यक्ष सिद्ध है। इसी प्रकार अन्य वृक्षलतादि भी क्षण भंगुर हैं। पृथिवी आदि की क्षणभंगुरता थोड़ा ध्यान देने पर अवगत होती है।

नैयायिक कहते हैं—असत् ही सत् होता है। मिट्टी में पहले घट असत् था। उससे सत् घड़ा पैदा हुआ। उनसे पूछा—मिट्टी में भी घट असत् है, तंतु में भी घट असत् है, तो तंतु में ही घट सत् क्यों नहीं हुआ ? नैयायिक ने कहा—तंतु में घट की शक्ति नहीं है। पूछा असत् घट की शक्ति नहीं है ? कि सत् घट की शक्ति नहीं है ? असत् घट की कोई शक्ति नहीं होती। सत् घट तो आप मानते नहीं। तब सांख्यों ने आकर कहा—मिट्टी में घड़ा पहले सत् था। तब पूछा यदि पहले घड़ा सत् था तो कुम्हार ने क्या किया ? उसको कहना चाहिये घड़ा पहले था, तुमने कुछ नहीं किया। अतः पैसा नहीं दूँगा। वह कहेगा—तो मैं घड़ा भी नही दूँगा। घड़ा सत् था। पर अभिव्यक्त नहीं था। किन्तु वह अभिव्यक्ति सत् थी या असत्। यदि असत् थी तो असत् का सद्भाव माना। यदि सत् थी तब अभिव्यक्त घट क्यों नहीं दीख रहा था ? अतः न असत की उत्पत्ति होती है। प्राणादि प्रपञ्च की अनिर्वचनीय उत्पत्ति होती है और न सत् की उत्पत्ति होती है। अर्थात् कल्पना मात्र होती है। अतएव भगवान ने "नासतो विद्यते भावः" ऐसा निषेधमात्र किया। न कि "सतो हि विद्यते भावः" ऐसा विधान किया।

नाभावो विद्यते सतः। जो सत् है उसका अभाव नहीं होता। भीष्म द्रोणादि का आत्मा सत् है। उसका कभी भी अभाव नहीं होता। आत्मा सत् है। अपरिवर्त्तनशील है। जो मैं बालक अवस्था

में था सो मैं अभी भी हूँ ऐसा एकरूपता का अनुभव सबको होता है। एक साल तक एकांतवास करो। दाढ़ी बाल मत बनवावो। फिर फिर एकाएक दर्पण में देखो तो अपने आपको देखकर आश्चर्य चकित हो जाओगे। मैं काशी में प्रवचन कर रहा था। बाल उस समय लम्बे लम्बे थे। पहले एक महीने तक बाल रखकर प्रवचन किया। फिर प्रयागराज कुंभ में जाकर बाल बनवा लिया। लोग मुझे ही कहने लगे—आप जैसे एक महात्मा पहले भी आए थे। आवाज आपके जैसी थी। लोगों को बड़ा फरक मालूम पड़ा। किंतु मुझे स्वयं को कोई अंतर प्रतीत नहीं हो रहा था। क्योंकि आत्मा अपरिर्त्तनीय है। बहुत से लोगों को अभी भी कहना पड़ता है—क्यों आप मुझे नहीं पहचान रहे हैं। क्योंकि वे शरीर को देख रहे हैं। मैं आत्मा से प्रत्यभिज्ञा कर रहा हूँ। मरणोत्तर देहांतर प्राप्ति होने पर भी यदि पूर्वजन्म का स्मरण हो तो वही प्रत्यभिज्ञा होगी। वह पूर्व जन्म की बात बतलाने वाली लड़की कहती थी कि जब होश सम्हाला तब कुछ दिनों तक मुझे यह पता नहीं लगा कि मुझे ये लोग बेटी क्यों कहते हैं। क्यों प्यार करते हैं ? इन्होंने मेरा अपहरण तो नहीं किया ? यदि वैसा भी हो तो इतना प्यार कैसे करते हैं ? गोद में उठाकर रख रहे हैं, खिला रहे हैं, पुचकार रहे हैं। तब व्याकुल सी होकर बोली—मुझे अपने घर पहुँचा दो। उसको पूर्वजन्मीय 'मैं' में और वर्त्तमान जन्मीय 'मैं' में कोई अंतर नहीं दीख रहा था। इस से निश्चित है कि आत्मा अपरिवर्त्तनीय है। अत एव वह सत है। उस सत् का कभी अभाव नहीं होता।

सत् की व्याख्या की गई है–त्रिकालाबाध्यत्वम्। तत्वबोध ग्रंथ में लिखा है—**"कालत्रयेऽपि तिष्ठतीति सत्"**। जो तीनों कालों में भूत, वर्तमान और भविष्य में एकरूप से रहे उसको सत् कहते हैं। जिसका तीनों कालों में बाध न हो, नासीत्, नास्ति, न भविष्यति ऐसा एक भी निषेध न हो वह सत् है। यह एक लक्षण है। वैसे

'सत्' यह अनुभव वेद्य है। अनुगत प्रतीति विषय है 'अस्तित्व का अभाव कहीं भी नहीं मिलेगा एक ने कहा—'घटो नास्ति' भी तो बोलते हैं। घट में अस्तित्वाभाव आ गया। घट में अस्तित्वाभाव ? घट अस्तित्वाभाव का आधार है क्या ? जो है नहीं, उसको आधार कैसे कह रहे हैं ? ऐसा कोई स्थान नहीं है जहाँ अस्तित्व का अभाव हो। एक आदमी ने कहा—उस वन में कोई आदमी नहीं था। किसने देखा ? मैंने देखा। तब आप ही एक आदमी उस वन में थे। कोई दूसरा वहाँ आता तो वह कहता कि वन शून्य नहीं था, एक आदमी था। जो आदमी था वह खुद बोलता है—वहाँ कोई नहीं था। यही आँख मिचौनी सत् की है। सत् अखण्ड अद्वितीय है। फिर भी नहीं दीखता, और वस्तुतः उसका कहीं भी अभाव नहीं हो सकता।

छांदोग्य में इसी सत् का वर्णन है—**"सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्"** आरुणिने श्वेतकेतु को समझाया—हे सोम्य, जगत सृष्टि से पूर्व एक ही अद्वितीय सत् था। उस सत् का अभाव कभी नहीं हो सकता। कारण, असत् से सत् उत्पन्न नहीं हो सकता। **"कथमसतः सज्जायेत"** सत् का अभाव नहीं। असत् से सत् का जन्म नहीं। **"तत् सत्यं स आत्मा"** वही सत् सत्य है। वही आत्मा है। भीष्मादिका आत्मा भी वही सत् है।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः। सत् हमेशा सत् ही रहता है। भले ही आप बीच में उसे ओझल करें। तथा असत् असत् ही रहेगा। भले आप बीच में उसे सत् कहने लग जाय। यही इन दोनों का अन्त माने सिद्धान्त है। निर्णीत स्वरूप है। इस सिद्धान्त को कौन देख सकता है ? किन्हों ने देखा तत्वर्दशिभिः— तत्त्वदर्शी देख सकते हैं। तत्वर्दशियों ने देखा। तत्त्वदर्शी माने तत्त्वं द्रष्टुं शीलं येषां ते। तत्त्व को देखने की आदत जिनको हो गई वे तत्त्वदर्शी हैं। **"तत्त्वं ब्रह्मणि याथात्म्ये"** तत्त्व ब्रह्म को भी कहते हैं, याथात्म्य को भी कहते हैं। ब्रह्म माने बृहत् व्यापक अखण्डतत्त्व

उसको देखने का स्वभाव पड़ जाना चाहिये। आश्रम में आये और प्रवचन सुनने लगे तो ब्रह्मदर्शन करने की कोशिश शुरू हुई। "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" यह सारा जगत् ब्रह्म है ऐसा दर्शन होने लगा। परन्तु बाहर निकलते ही जगत दर्शन शुरू हुआ। ऐसे लोग तत्त्वदर्शी नहीं हैं। वे सत् एवं असत् के सिद्धान्त को नहीं देख सकते। प्रातः से लेकर रात्रि पर्यन्त सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करने का स्वभाव हो जाना चाहिये। प्रातः उठते ही **"जले विष्णुः स्थले विष्णुः विष्णुः पर्वत-मस्तके"** का दर्शन हो रहा है। स्नान करते समय जल में विष्णु दर्शन हो रहा है। प्रातः पूजा में भगवतदर्शन हो ही रहा है। भोजन समय में "ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतं" इस प्रकार ब्रह्मदर्शन हो रहा है। मैं एक कारखाने में गया। वहाँ अलमारियाँ बनायी जा रही थीं। बहुत सारी प्रक्रियायें हो रही थीं। डिजायन के पतरे तैयार थे। उनको तेजाब स्पिरिट में डाला जा रहा था। फिर फिटिंग करने के बाद पिचकारी जैसे यंत्र से रंग चढ़ाया जा रहा था। मैंने पूछा—इसको तेजाब में क्यों डालते हैं ? सेठ ने कहा—नहीं तो अन्दर से जंग पकड़ता है। वह सत्संगी सेठ कहता है:—जब हम सत्संग में आते हैं तो पहले स्नान पूजापाठ करते हैं, तब साढ़े सात बजे सुबह सत्संग में आते हैं। तेजाब है स्नान पूजापाठ। उससे गृहसंस्कार निकल जाता है और फिर वेदान्त रंग चढ़ाया जाता है तो दिनभर शान्ति रहती है, मस्ती रहती है। जैसे यहाँ प्रथम पतरों को तेजाब में डालते हैं तब रंग चढ़ाते हैं। उस सेठ का व्यापार भी आधा सत्संग ही था। कहने का मतलब व्यवहारकाल में भी तत्त्वचिंतन चलता रहे तो ही वह तत्त्वदर्शी बनकर सदसत् सिद्धान्त को जान सकेगा। अधिष्ठान रूप सच्चिदानन्द का दर्शन हमेशा करते रहना चाहिये। यही ब्रह्मदर्शी का अर्थ है। 'तत्त्वं ब्रह्मणि याथात्म्ये' तत्व का एक अर्थ ब्रह्म अर्थात् व्यापक सच्चिदा-नन्द है। दूसरा अर्थ याथात्म्य है। यथार्थ रूपता यही याथात्म्य

है। वास्तविक स्वरूपको देखते रहो, आरोपित स्वरूप को नहीं। पाञ्चभौतिक शरीरादि पञ्चभूतरूप ही है, यह याथात्म्य दर्शन है। यह सुन्दर है—कुरूप है, पितापितामहादि हैं, भाईबंधु हैं इत्यादि सभी आरोपित रूप है।

यातं क्व मुग्धमधुरांशुकटाक्षमालं
हा चन्द्रचारु मुखमित्यनिशं रुदन्तः।
सिंघाणघर्मसृणिकामलमूत्रगूथ -
पात्रं क्व यातमिति नैव रुदन्ति कस्मात्॥

किसी प्रिय व्यक्ति का वियोग हुआ तो बार बार यह सोचकर रोते हैं—हाय ! कैसा सुन्दर मुख था, चन्द्रसमान मधुर स्वरूप था कैसी अच्छी आँखें थीं। आज हमारे बीच में से उठ गया। किन्तु लोग यह क्यों भूल जाते हैं कि केवल इतना ही रूप न था, बलगम पसीना लार मलमूत्र पुरीष का भी वह पात्र था। ऐसा पात्र कहाँ गया। कहकर क्यों नहीं रोते ? तत्त्व तो असल में वही है। चंद्रकांति आदि केवल आरोपित है, शरीर से किरणें नहीं निकलती थीं। सौन्दर्य भी कल्पित होता है। मोह जहाँ है, वहाँ सौन्दर्य है। कुत्ती को पिल्लों में सौन्दर्य दीखेगा। गाय को बछड़े में सौन्दर्य दीखेगा। सभी अपनी अपनी कल्पना है। असली स्वरूप तो पाञ्च भौतिक है। भीष्मद्रोणादि के शरीर में भी इसी प्रकार मोह के कारण पूजार्हता पुष्पारोपणीयता मदीयता आदि हैं। वस्तुतः वह पाञ्चभौतिक शरीर ही है। उसके संयोग या वियोग में क्या अन्तर है ? इस प्रकार सर्वत्र तत्त्वदर्शन करते रहने वाले ही तत्त्वदर्शी हैं। ऐसे तत्त्वदर्शी ही 'अनयोः उभयोः अन्तः दृष्टः' सत् और असत् इन दोनों का अन्तिम स्वरूप देख सके हैं।

यह अविद्या पानी पर शेवाल के समान है। उसी में पैदा होकर उसी को ढकती है। शेवाल पानी में पैदा होकर पानी को ही ढकता

है। अविद्या आत्मा में प्रकट होकर आत्मा को ही ढकती है। पानी में पत्थर फेंको तो थोड़ी देर के लिये शेवाल का एक अंश खसकता है तो थोड़ा पानी दीखता है। परन्तु थोड़ी देर में फिर से पानी आवृत हो जाता है। वैसे सत्संगादि के समय थोड़ी देर के लिये आवरण हटता है किन्तु उसके वाद तुरत आवृत हो जाता है। अतः निरंतर ब्रह्मदर्शनार्थं प्रयत्न करते रहना चाहिये। वही सत् और असत् का चरम स्वरूप समझ सकता है। वही शोकमोहादि से निवृत्त होकर स्वस्वरूप स्थित हो सकता है ॥ १६ ॥

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति ॥१७॥

[हे अर्जुन उसे तुम अविनाशि समझो जिसके द्वारा सारा यह जगत् व्याप्त है । अव्यय उस (आत्मा) का विनाश कोई नहीं कर सकता ॥१७॥]

असतः सद्भावो नास्ति सतश्चासद्भावो नास्ति यह बताया । अर्थात् असत् का कभी अस्तित्व नहीं होता और सत् का कभी विनाश नहीं होता । भाष्य में बताया—असत् असत् ही रहेगा । सत् सत् ही रहेगा । हिटलर का सिद्धांत था कि सौ आदमी यदि असत्य बतावे तो सत् भी असत्य हो जायेगा और सौ आदमी मिल कर एक असत्य को सत्य बतावे तो वह असत्य भी सत्य हो जायेगा । साम्यवादियों ने कहा—भगवान नहीं है । वोट लिया गया तो भगवान के अभाव पक्ष में वोट अधिक आया तो निश्चित किया गया कि भगवान नहीं है । बहुमत का जमाना है । अधिक लोग जो मानें वही सत्य । बहुमत से असत्य भी सत्य हो जाता है । सत् भी असत्य हो जाता है । भगवान् अर्जुन को कहते हैं कि हे अर्जुन ! सत् सत् ही रहेगा । असत् असत् ही रहेगा । लाख उल्लू मिलकर कहें कि सूर्य का प्रकाश नहीं होता है, सूर्य जैसी कोई वस्तु नहीं है तो क्या सूर्य का अभाव हो जायेगा ? कहते हैं कि एक बार उल्लुओं की भी सभा हो गयी थी । विचार का विषय वही थाः—सूर्य है या नहीं । आखिर वोट पड़ा । तो दो चार बूढ़ों ने सूर्य के अस्तित्व में वोट दिया । बाकी लाखों के बहुमत से सूर्य के अस्तित्व को समाप्त किया । भला उस सभा का और उन वोटों का क्या महत्व ? उल्लू आपस में भले बोले कि हमारी भारी बहुमत से विजय हुई । परन्तु

जो उनकी आँखों का और विचारों का विषय नहीं, उसका निर्णय भला क्या मान्य होगा ?। वैसे ही परमेश्वर के बारे में मनुष्यों का भी बहुमत है। वह आत्मतत्व अतीन्द्रिय है। वोटों से बहुमत से उसका निर्णय नहीं किया जा सकता। शास्त्रों से या स्वयं प्रकाश स्वानुभूति से ही वह अवगम्य है। मान्यता अलग है, अस्तिता अलग है। इन दोनों का परस्पर विरोध भी हो सकता है। मान्यता से अस्तिता पर कोई प्रभाव दहीं पड़ता। मानो या न मानो, सत् सत् ही रहेगा, असत असत ही रहेगा।

अब यह जानना है कि वह सत् क्या है ? उसका स्वरूप क्या है, वह कैसा है ? तथा असत् किसको समझना चाहिये ? कैसे लक्षण से असत् समझा जाना चाहिये ? एतदर्थ उत्तर दो श्लोक हैं। प्रथम श्लोक में सत् का स्वरूप परिचय देंगे। द्वितीय में असत् का परिचय देंगे। दोनों ही हमारे अन्दर है। "सत्यानृते मिथुनीकृत्य सर्वोऽप्ययं लोकव्यवहारः" सत्य और अनृत दोनों के मेल से ही सारा लोक व्यवहार चल रहा है। हमारे अन्दर सत् कौन ? असत् कौन ? जिसमें परमात्मा की झलक हो वह सत्। जिसमें माया की झलक हो वह असत्। आत्मा में परमात्मा की झलक है। शरीरादि में माया की झलक है, उसी बात का यह स्पष्टीकरण है—**"अविनाशि तु०"** इत्यादि।

अविनाशि तु तद्विद्धि। उस आत्मतत्व को तुम अविनाशी समझो। अविनाशी का अर्थ है—नाशरहित। नाश क्या है ? नाश का सर्वसामान्य अर्थ यही समझते हैं—नाश माने ध्वंस। ध्वंस होना, खलास होना, समाप्त हो जाना यही नाश है। जैसे एक कपड़े को जला दिया तो वह मिट गया यही नाश है। परन्तु इतना ही अर्थ नहीं है। एक रुमाल है। उसमें किनारे-किनारे से दो-दो, चार-चार धागा खींच निकाला तो कुछ नहीं होता। यदि पूरे धागे खींच कर अलग कर दिये तो ? नष्ट हो जायेगा या नहीं ? होगा। क्य।

नष्ट हुआ ? क्या जलकर उसमें से खतम हुआ ? उन्हीं निकाले हुए धागों को पुनः जोड़ दिया तो पुनः रुमाल होगा या नहीं ? असल में यह उत्पत्ति और नाश क्या है ? सोने से कुण्डल बनाया । उसके बाद फिर से गलाया तो कुण्डल नष्ट हुआ या नहीं ? यदि नष्ट हुआ तो क्या नष्ट हुआ ? क्या मिट गया ? क्या वजन में कमी आयी ? फिर से दुबारा वही कुण्डल बना सकते हैं या नहीं ?

पाणिनीय व्याकरण में 'नश्' धातु का अर्थ निर्देश किया है— "णश अदर्शने" अर्थात् नश् धातु का अर्थ 'अदर्शन' है । रुमाल में से धागों को अलग किया तो रुमाल का दीखना बन्द हो गया । यही उसका नाश है । सोना गलाया तो कुण्डल का दीखना बन्द हो गया । यही कुण्डल का नाश है । जहाँ वस्त्र जल जाता है वहाँ भी सूक्ष्मदृष्टि से देखो तो कोई वस्तु मिटी नहीं है । जल कर राख हो गई तो कुछ परमाणु राख के रूप में रह गये । कुछ जलीय मरमाणु उड़ गये, इतनी ही बात है । पहले समय में दिल्ली के लालकिले में एक मोमबत्ती जलती थी । सैकड़ों सालों से वह जलती आ रही थी । ऐसा वैज्ञानिक ढंग लगा दिया गया था कि मोम जलने पर उसका धुआँ भाप आदि दूर न उड़ जाय, वापिस उसी स्थान पर आवे । उससे फिर मोम बन जाता था, तब वही जलने लगता था । अंग्रेजों के समय उसका पता लगाने की बड़ी कोशिश की गयी । किन्तु पता नहीं लग सका । बाद में उस स्थान को तोड़ा तो बत्ती बुझ गयी । किन्तु दुबारा नहीं बना सके । सारांश यही कि जलने पर कोई वस्तु नष्ट नहीं होती । केवल अणु अलग-अलग होते हैं । अणु के अलग होते ही कार्य दीखना बन्द हो जाता है । कहीं भागों को अलग-अलग करने मात्र से अदर्शन हो जाता है । कहीं अणुओं को अलग करने से अदर्शन हो जाता है । सर्वथापि अदर्शन ही नाश है । उस अदर्शन का अभाव जहाँ हो उसको अविनाशी कहते हैं ।

दर्शन का प्रतिषेध अदर्शन है। अदर्शन का प्रतिषेध अदर्शना भावरूपी अविनाश है यहाँ दो प्रतिषेध क्यों हैं ? दो प्रतिषेध करने पर वापिस वही अर्थ होता है जो प्रतिषेध न करने पर अर्थ है। 'कपड़े का अभाव नहीं' का अर्थ है–कपड़ा है। रुपये का अभाव नहीं, अर्थात् रुपये हैं। परंतु 'रुपये हैं' सीधा ही कहा जा सकता है। यह वक्रोक्ति क्यों हैं? उत्तर यह है कि दो प्रतिषेध सातत्य सूचनार्थ है। दो वाक्य देखो। क्या फरक है समझो–इस गाँव में पंडित है, इस गाँव में अपंडित नहीं। क्या अंतर है दोनों में ? इस गाँव में पंडित है का अर्थ है दो चार पंडित इधर उधर होंगे। इतने मात्र से पंडित है कहा जायेगा। किंतु इस गाँव में अपंडित नहीं है कहने पर दो चार पंडित होने से नहीं होगा। अपंडित नहीं का अर्थ है—एक भी अनपढ़ नहीं। राजा भोज के राज्य में अपंडित नहीं था, मतलब सभी पंडित थे। जुलाहा भी पंडित था। इसी प्रकार आत्मतत्व अविनाशी है का अर्थ है अदर्शन नहीं, अर्थात् नित्यदर्दन होता है। जिसका नित्य दर्शन होता हो उसी को अविनाशी कहते हैं। **"न हि द्रष्टुर्दृष्टेविपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्"** ऐसा श्रुतिवचन है। दृष्टि का-दर्शन का कभी विपरिलोप नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी अर्थात् नित्यदर्शनवान है। **"अविनाशी वा अरेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा"**—यह आत्मा नित्य दर्शनवान है। क्योंकि इसका उच्छेद कभी नहीं होता। आत्मा का निरन्तर दर्शन होता है। इसलिये यहाँ पर "अविनाशि तु तद्विद्धि" बताया। यही परमात्मा है। यही आत्मा है, अविनाशी है, नित्यदर्शनरूप है।

बोले—महाराज ! एक बार भी दर्शन अभी तक नहीं हुआ और आप कहते हैं कि नित्यदर्शन होता है। परमात्मा का नित्यदर्शन तो दूर, एकाध बार भी जिसको दर्शन मिल गया, वही कृतकृत्य हो जाता है। मरने के बाद गोलोक बैकुंठ लोकादि जाय तो शायद नित्यदर्शन हो। इस मर्त्य लोक में तो हजारों वर्ष तक तप

करने से तपस्वियों को एकाध बार दर्शन मिलता था। ध्रुव के समान कोई उग्र तप करे तब छः महीने में दर्शन हो, नहीं तो जन्म के जन्म बीत जाते हैं परन्तु परमात्मा का दर्शन नहीं हो पाता। यह है भक्तों की गाथा। परन्तु वेदांत शास्त्र कहता है कि दुनिया का दर्शन बाद में होता है। प्रथम परमात्मा का ही दर्शन होता है। श्रुति की यह उद्घोषणा है—**"तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्"** प्रथम परमात्मा भासित होगा, उसके पीछे सारी दुनिया भासित होगी। यदि परमात्मा प्रथम भासित होता है, वह यदि नित्य भासित है, नित्य दर्शनवान है तो फिर कोई बंधन में नहीं रहेगा। "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" बताया है। परमात्मा के दर्शन से सर्वग्रन्थिमोक्ष होता है। नहीं। पश्यन्नपि न च पश्यति। परमात्मा का नित्यदर्शन हो रहा है, फिर भी अदर्शन भी हो रहा है जगत दर्शन से परमात्मा का दर्शन अदर्शन के बराबर हो गया है। कार्य दर्शन से कारण दर्शन नगण्य हो गया। उदाहरणार्थ किसी से पूछो, इस कमरे में या इस होल में मिट्टी है ? उत्तर मिलेगा–प्रातः झाड़ू लगाया था। मिट्टी नहीं है। कमरे में घड़ा पड़ा है। वह मिट्टी है। फिर भी बोलते हैं मिट्टी नहीं है। यह कमरा जो बना इंटों से, वे इंट भी तो मिट्टी ही हैं। किन्तु बात यह है कि घड़े की या इंट की दृष्टि होने से मिट्टी दीखती हुई भी नहीं दीख रही है। इसी को 'पश्यन्नपि न च पश्यति' कहते हैं। इसी प्रकार जगत की दृष्टि इतनी जबर्दस्त है कि मूल परमात्मा का दर्शन नहीं हो पाता। असल में घड़े को देखते समय मिट्टी को ही देख रहे हैं क्योंकि घट तो केवल वाचारंभण है। **"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं"** ऐसा श्रुति में ही लिखा हुआ है। घट इंट आदि नामधेय है, वाचारम्भण है। सत्य तो मिट्टी ही है। उसी मिट्टी को देख रहे हैं। परन्तु जो सत् है उसको देखते हुए भो ओझल किया। और जो असत् है, देखने योग्य नहीं है, उसी को देखने लगे। इसी प्रकार सकल जगत का

मूल परमेश्वर ही दर्शन योग्य है। फिर भी उसे ओझलकर संसार को देखने लगे। कारण है माया। परमात्मा का कभी भी अदर्शन नहीं हो सकता। परमात्मा का अदर्शन हो जाय तो सारा जगत अंधकारमय हो जाय। क्योंकि परमात्मा स्वयं दर्शनात्मक है। दर्शन न हुआ तो सर्वत्र अदर्शन ही अदर्शन होगा। परमात्मा ज्ञानप्रकाश स्वरूप है। ज्ञान प्रकाश न हो तो स्वयं सोच लो क्या रहेगा? उस परमात्मा के पीछे सारा जगत् प्रकाशित हो रहा है।

सामने पुस्तक पड़ी है तो क्या बोलते हैं? पुस्तक है। फिर कहते हैं—पुस्तक दीख रही है—भास रही है। फिर कहते हैं यह पुस्तक बड़ी अच्छी है, प्रिय है। पुस्तक में से अस्ति निकाल दें तो नास्ति होगा। पुस्तक फिर क्या? पुस्तक में से दीखना 'भाति' निकाल दें तो अस्ति क्या होगा। दीखती है, तभी तो 'है' बोलें। पुस्तक प्रिय है तभी तो बनी, तभी तो देखने में प्रवृत्ति हुई। यह अस्ति ही सत् है। भाति ही चित् है। प्रिय ही आनन्द है। ये अस्ति भाति प्रिय रूपी सच्चिदानंद आत्मा भास रहा हो तो पुस्तक का सब कुछ है। अन्यथा शून्य शून्य रहेगा। इसी लिये "तमेव भान्त-मनुभाति सर्वं" बताया। जिस सच्चिदानंद परमात्मा के दर्शन के पीछे पुस्तक क्या? सारा जगत प्रकाशित हो रहा है, वह परमात्मा यदि न भासे तो "जगदन्धं प्रसज्यते" यह उक्ति सोलह आना सत्य उतरेगी। पृथ्वी अस्ति भाति प्रिया, जलम् अस्ति भाति प्रियं, तेजोऽस्ति भाति प्रियं सर्वत्र तीनों जुड़ रहे हैं। इन तीन के बिना कोई वस्तु भासेगी नहीं। अतः वह आत्मा अविनाशी है।

शंका होगी—सर्वत्र अस्ति भाति को माना। आनंद सर्वत्र कहाँ है? कहीं कहीं अप्रियता भी तो है। जहर अप्रिय है, काँटा अप्रिय है। सेव का फल प्रथम प्रिय लगा किंतु सड़ने पर अप्रिय हो गया, उसे फेंक देते हैं। उसमें कीड़े पड़ जाते हैं, तब हमारे लिये दुःखरूप हुआ, सुखरूप कहाँ हुआ? उत्तर यह है कि सर्वथा अप्रिय वस्तु

नहीं होती। सेव में कीड़े पड़े। किन्तु उस कीड़े के लिये सेव तो प्रिय है। काँटा हमारे लिये अप्रिय है। परन्तु ऊंट उसे बड़े प्रेम से खाता है। जहरीली वस्तुओं में भी कीड़े होते हैं, उनके लिये जहर भी प्रिय है। सांप अपने मुँह में ही जहर रखता है। उसको वह बहुत प्रिय है। बात यह है कि आनंद बहुधा आवृत रहता है। इसलिये सर्वत्र नहीं दीखता। किन्तु सत् और चित् ऐसे नहीं है। भले वह अखण्ड रूपेण भास न रहा हो, उपाधि परिच्छन्न रूपेण भास ही रहा है। अन्यथा जगत्प्रतीति नहीं होगी। अतः यह निश्चित है, परमात्मा अदर्शन रहित है-अविनाशी है।

येन सर्वमिदं ततम्। जिसने सारे जगत को व्याप्त किया। अविनाशी शब्द से सामान्यतः काल परिच्छेद का निवारण किया, और विशेषतः नित्य दर्शन स्वरूप बताया। येन सर्वमिदं ततं से देश परिच्छेद की व्यावृत्ति की जा रही है **"येन सर्वमिदं ततं"** यह तृतीय पुरुष से निर्देश है। **"मया ततमिदं सर्वं"** यह प्रथम पुरुष से निर्देश है। **"त्वया ततं विश्वमनन्तरूप"** यह द्वितीय पुरुश से निर्देश हैं। (संस्कृत में प्रथम मध्यम और उत्तम पुरुष ऐसा नाम है) श्रुतियों में अनेक प्रकार से इसे समझाया है। प्रथम सर्वनाम 'सः' से बताया।

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात्।
स दक्षिणतः स उत्तरतः। स एवेदं सर्वमिति॥

इसके बाद **"अथातोऽहंकारादेश एव"** कहकर बताया—

अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्ताद्।
अहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति॥

इसके बाद अथात आत्मादेश एव कहकर बताया—

आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्ताद्।
आत्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति॥

यहाँ सब जगह आदेश—उपदेश भिन्न भिन्न रूप से दिया। तत्व एक ही है। प्रथम स एवाधस्तात् आदि में 'सः' पद से भूमा को बताया। उसी भूमा को फिर अहं से कहा। उसी को फिर आत्मा कहा। वही आत्मा नीचे है, ऊपर है, वही पीछे और आगे है वही दायें और बायें भी है। भूमा रूपी ब्रह्म जगत का कारण है। जगत उससे अभेद रूपेण व्याप्त है। यहाँ सर्वत्र अभेद व्याप्ति बतायी है। 'येन सर्वमिदं ततं' से अभेद व्याप्ति बतायी। न कि भेद व्याप्ति। इस अवकाश रूपी आकाश की जगत में भेद व्याप्ति है। आकाश सर्वत्र है, पर आकाश ही सब नहीं है। किंतु परमात्मा ही सब है। जैसे घड़ा ईंट आदि में मिट्टी व्याप्त है। और वे सब मिट्टी ही है। यहाँ अभेद व्याप्ति है। अभेद व्याप्ति स्थल में व्यापक तत्व एक ही होता है। पानी में नमक डाला तो नमक से पानी व्याप्त हुआ, गरम किया तो उष्णता से व्याप्त हुआ। यहाँ सर्वत्र भेद व्यप्ति है। किंतु जल परमाणुओं से बने जल में अन्य परमाणु व्याप्ति नहीं रहेगी। तब अभेद व्याप्ति स्थल में भूमा, आत्मा और अहं इन तीनों की अभेद व्याप्ति कैसे बतायी? उत्तर वही कि यह आदेशभेद मात्र है, तत्वभेद नहीं। अत एव "न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे" यह सभी आदेश भेद मात्र है। समझने में औपाधिक थोड़ा भेद रहेगा। भूमा व्यापकोपाधिक है। आत्मा कारणोपाधिक है। अहं अहंकारोपाधिक है।

पहले हम कह आये कि सारा जगत अस्ति भाति प्रिय से व्याप्त है। यह भी आदेश भेद मात्र है, तत्व भेद नहीं। शून्यता का अभाव उपाधि होने पर अस्ति शब्द से बोलते हैं। जड़त्वाभाव उपाधिरूप से आता है तो चित् या भाति कहते हैं। दुःखाभाव उपाधिरूप से आता है तो आनंद कहते हैं। वास्तव मे जो सत् है वही चित और आनंद है। जो चित् है वही सत् और आनंद है। जो आनंद है वही सत् और चित् है। यह भ्रम भी न करो कि शून्यत्वाभाव

ही सत् है। जड़त्वाभाव ही चित् है। दुःखाभाव ही आनंद है। ब्रह्म कोई अभाव रूप नहीं है। वह भाव पदार्थ है। शून्यत्वाभाव, जड़त्वाभाव और दुखाभाव ये तीन उपाधि हैं। इनको लेकर एक ही ब्रह्म शब्दभेद से कहा जाता है। यहाँ अभेद, भेदाभेद तादात्म्य आदि कुछ नहीं है। एक ही तत्व है। इसी लिये सत् चित् आनंद शब्द का भी लक्ष्यार्थ है। वैसे जड़त्वाभाव उपाधि विशिष्ट ब्रह्म चित् पद का वाच्यार्थ है। शुद्ध ब्रह्म लक्ष्यार्थ है। दुःखाभावोपाधि विशिष्ट ब्रह्म आनंद पद का वाच्यार्थ है। शुद्ध ब्रह्म लक्ष्यार्थ है। घटोऽस्ति भाति प्रियः इत्यादि में घटादि एक-एक अधिक उपाधि है। इसी लिये घट है कहते समय वह अस्तित्व घट तक ही सीमित प्रतीत होता है। क्योंकि घटादि उपाधि होने से उससे उपहित चैतन्य घटादि तक ही रहेगा। वस्तुतः निरुपाधिक अस्तित्व व्यापक है। समस्त जगत व्यापी है। येन सर्वमिदं ततं—सारा जगत उससे व्याप्त है।

एक संशय होता है—क्या 'शरीरम् अस्ति' जो कहते हैं, इसमें जो अस्ति आया, यही आत्मा है या इससे अतिरिक्त कोई आत्मा है? घटोऽस्ति पृथिवी अस्ति आदि में अस्ति पदार्थ सत् ब्रह्म है तो शरीरमस्ति में अस्ति पदार्थ सत् है, वह भी ब्रह्म ही होगा। किन्तु आत्मा उससे अतिरिक्त है, ऐसी सबकी मान्यता है। अन्यथा शरीर मर गया तो अस्ति भी नहीं रहा। तब आत्मा भी कहाँ रहेगा कुछ वेदांती बोले—महाराज! शरीरोपाधिक अस्ति आत्मा नहीं है। अंतःकरणोपाधिक सत् आत्मा है। परन्तु यह भी कथन मात्र है। अंतःकरण है, मन है, बुद्धि है, आदि में जो 'है' आ रहा है यही आत्मा है क्या। काफी पक्का वेदान्ती यही कहता है कि अहंकारावच्छिन्न चेतन आत्मा है। क्या 'अहंकारः अस्ति' में जो अस्ति है यही आत्मा है? इसका समाधान यह है कि आत्मा केवल अस्ति शब्द से गम्य अर्थ नहीं है। अन्नमय में प्राणमय, उसमें मनोमय, उसमें विज्ञानमय, उसमें आनंदमय और उसके अन्दर जो चेतन है

वह आत्मा है। प्रश्न हुआ कि 'आनन्दमयोऽस्ति' में अस्ति पदार्थ सत् में और उसके अन्तःस्थित आत्मा में क्या फरक है ? फरक यही है कि अस्ति पदार्थ सत् माया से आवृत्त होता है। असत्वापादक आवरण से आवृत्त होने मे वह 'नास्ति' के बराबर होता है। वही अधिष्ठानरूप आत्मा है। उसमें अहंकारादि समस्त जगत कल्पित है। वृत्ति से सत् की किंचित् अभिव्यक्ति होती है तो कल्पित घटादि को लेकर घटः अस्ति आदि कहने लगते हैं। जब तक वृत्ति नहीं होती तब तक घटो नास्ति कहते हैं। परन्तु वही सद्रूप आत्मा आनंदमय के अन्दर अंगुष्ठ परिमाण सत् चित् अंश में नित्य अनावृत्त रहता है। उसे आत्मा कहते हैं। इसको दृष्टान्त के द्वारा समझिये। कुम्हार ने बहुत सारी मिट्टी लाकर डाल दिया। आधी मिट्टी में घड़ों को बनाया। बाकी मिट्टी को उन्हीं घड़ों में डाल दिया। घड़े में घटोपादन मिट्टी भी है। घड़े में भरी हुई मिट्टी भी हैं। 'घड़े में मिट्टी' इसमें कुछ फरक है या नहीं ? फरक यही है उपादान मिट्टी घट से आवृत हुई—आच्छादित हुई। घड़े में जो मिट्टी है वह स्वरूपेण आच्छादित नहीं हुई। वैसे ही अहंकार पर्यन्त या आनंदमयकोश पर्यन्त तत्त्वों से आच्छादित आत्मा अस्ति पदार्थ है। और आत्मा इनसे अनाच्छादित स्वरूपेण स्थित है।

अध्यास दो प्रकार से होता है। उत्पत्त्यध्यास और उत्पन्नाध्यास। रस्सी में सर्प की उत्पत्त्यध्यास है। घटोऽस्ति आदि में अस्त्यर्थ सत् में घटादि का उत्पत्ति अध्यास है। उत्पत्ति के बाद जो अध्यास होता है, वह उत्पन्नाध्यास है। लोहा जल रहा है (अयो दहति) यहाँ उत्पन्नाध्यास है। लोहा भी है, अग्नि भी है। दोनों का अन्योन्याध्यास उत्पन्नाध्यास है। मैं मनुष्य हूँ यह उत्पन्नाध्यास है। मैं भी पहले विद्यमान, शरीर भी विद्यमान दोनों में तादात्म्य हुआ तो 'मैं मनुष्य हूँ' ऐसा हुआ। शरीर है, इन्द्रिय है आदि में उत्पत्त्यध्यास है। मन में शरीरेन्द्रियादि का उत्पत्त्यध्यास हुआ।

उत्पत्त्यध्यास में स्वरूप ढँक जाता है। उत्पन्नाध्यास में वह नियम नहीं है। मैं ज्ञानी हूँ, इच्छुक हूँ आदि में आत्मा में ज्ञानेच्छादि का उत्पत्त्यध्यास नहीं है। किन्तु अन्तःकरण में उत्पन्न ज्ञानेच्छादि धर्माध्यास मात्र है। आत्मा वह है जिसमें उत्पत्त्यध्यास न हो। सत् वह है जिसमें उत्पत्त्यध्यास होता है। यह विश्लेषण बहुत लंबा है। यहाँ इतना ही समझना है कि आत्मा में उत्पत्त्यध्यास नहीं होता। अतएव असत्त्वापादक तथा अभानापदक आवरण से आवृत भी नहीं होता। फलतः इसका नित्य दर्शन होता है। इसी कारण अविनाशी बताकर पुनः दृढ़तार्थ कहा—**विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्त्तुमर्हति**। जैसे घटादि में कभी-कभी विनाश होता है। घटो नास्ति घटो न भाति। घट फूट गया, शक्तिरूपेण रह गया, तब उसने घटोऽस्ति इस अस्ति का विनाश=अदर्शन कराया। घट व्यवहित रहा तब भी अस्ति का विनाश=अदर्शन कराया, और घटोनास्ति ऐसा व्यवहार कराने लगा। इसी प्रकार क्या आत्मा का भी विनाश=अदर्शन होता है? कोई कराता है? नहीं। हमेशा यहाँ तक कि सुषुप्ति मूर्च्छा आदि में भी अहमस्मि ही होता है। अहं नास्मि नासं ऐसा नहीं। वस्तुतः वही अविनाशी तत्त्व सत् भी है। यही समझना चाहिये जो शोकमोहादि निवृत्ति में सहायक है॥ १७॥

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ।।१८।।

[ये अन्तवाले शरोर नित्य अविनाशी अप्रमेय रूप जीवात्मा के बताये गये हैं। इसलिये हे अर्जुन, तुम युद्ध करो ।।१८।।]

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः। तत्वदर्शियों ने यह सिद्धांत समझ लिया कि सत् सत् रहेगा। असत् असत् ही रहेगा। सत् कभी असत् नहीं हो सकता। असत् कभी सत् नहीं हो सकता। कहाँ पर दोनों का अन्त देखा ? सत् का अन्त सिद्धांत परमात्मा में देखा। वह अविनाशी है। कोई उसका विनाश नहीं कर सकता। असत् का सिद्धांत कहाँ देखा ? इन्हीं शरीरों में। इमे देहा अन्तवन्तः। ये सभी शरीर अन्तवाले हैं, विनाशी हैं। परन्तु ये ही तो आत्मा है। नहीं। आत्मा नहीं, ये आत्मा के हैं। लेकिन हम इन शरीरों को आत्मा ही समझते हैं। समझो भले, किन्तु ये हैं नहीं। ये आत्मा नहीं, आत्मा के ये हैं। ऐसा शास्त्रों में बताया है। शास्त्र प्रमाण है। अनुभवियों का वचन प्रमाण है। यदि ये आत्मा के हैं तो आत्मा नित्य होने से शरीर भी क्या नित्य हो सकते हैं। बचायेंगे तो नित्य होंगे, नहीं तो अनित्य भी होंगे। नहीं। ये अनित्य ही हैं। कोई भी शरीर नित्य नहीं है। ब्रह्मा पर्यंत सभी शरीर अनित्य हैं। यह भी शास्त्रों में ही बताया गया है। अतः शरीर अन्तवान होने से, बचाने का कोई तरीका न होने से, और आत्मा नित्य होने से हे अर्जुन तू युद्ध कर।

अन्तवन्त इमे देहाः। ये देह अन्त वाले हैं। 'दिह' धातु से देह शब्द होता है। 'दिह' धातु का अर्थ है—उपचय। अवयवों के योग से जो बढ़ जाय उसको उपचय कहते हैं। यह शरीर उपचीयमान

है। अतः देह कहलाता है। किससे उपचित होता है? यह शरीर पाञ्चभौतिक है। अतः पञ्चभूत के कणों से उपचित होता है। नैयायिक इसे पार्थिव मानते हैं। शरीर पृथिवी तत्त्व से उत्पन्न है। परन्तु वेदांती पाञ्चभौतिक मानते हैं। पाँचो भूतों के मिलते रहने से और बढ़ने से देह कहलाया। पंचभूत कणों के मिलने पर उपचय होता है और निकलने पर अपचय भी होता है। शरीर में पंचभूतों को विचार पूर्वक देखो। शरीर मुलायम है, अच्छा है, किंतु गंदा भी है। शरीर में गंध है। और गंध पृथिवी का लक्षण है। '**तत्र गन्धवती पृथिवी**" ऐसा पृथिवी का लक्षण किया है। "**गन्धवत्त्वं पृथिव्या लक्षणम्**"। जहाँ गन्ध है उसे पृथिवी समझो। जल में भी सुगन्ध या दुर्गन्ध आती हो तो समझना चाहिये उसमें पार्थिवांश मिला है। पार्थिव तत्त्व के बिना सुगंध या दुर्गंध नहीं हो सकती। शरीर में गंध है इसलिये इसमें पार्थिव तत्त्व है। दो चार दिन स्नान न करो तो बड़ी दुर्गन्ध आने लगती है। मरणोत्तर दो चार दिन में शरीर की दुर्गन्ध कोसों दूर तक फैलने लगती है। शरीर में सुगन्ध तो है नहीं। दुर्गन्ध ही दुर्गन्ध है। बल्कि आत्मा के कारण कुछ दुर्गन्ध दब जाती है। आत्मा न हो तो शरीर महान् निकृष्ट हो जाता है। यह शरीर आत्मा का है, आत्मस्वरूप नहीं। आत्मा में कोई गन्ध नहीं हैं। गन्ध के बिना शरीर नहीं रह सकता। भोजन मिलता रहता है तो पार्थिव तत्त्व का उपचय होता है। और न मिलने पर अपचय होता है। कुछ दिन अच्छा खाया, व्यायाम किया तो वजन बढ़ा। फिर कभी ज्वर आ गया, फ्लू हो गया तो वजन दो चार पाउण्ड कम हो गया। जहाँ उपचय है वहाँ अपचय भी होना है। आत्मा में न अपचय है और न उपचय ही है।

यह शरीर केवल पार्थिव तत्त्व से नहीं बना है। इसमें जलीय तत्त्व भी है। पंखा थोड़ी देर के लिये बंद हो गया। तो गरमी में

शरीर से पानी निकलने लगता है। बंबई में तो पंखा चलता रहे तो भी पसीना निकलता है। यह पसीना क्या है ? जलतत्त्व ही तो है। शरीर में खून क्या है ? वह भी जल तत्त्व ही है। जैसे पानी में लाल टिकिया डाल दें तो लालकणों के फैलने से पानी लाल दीखता है। शरीर में कई प्रकार से पानी रहता है। मुँह में पानी रहता है। आँखों से पानी गिरता है। पूरे शरीर में पानी ही पानी है। अगर पानी सूख जाय, पेट-मुँह सूख जाय तो शरीर जिंदा नहीं रह सकता। शरीर में पर्याप्त पानी है। पानी का बल्कि संस्कृत में नामांतर 'जीवन' आया है। **"जीवनं भुवनं वनं कबन्धमुदकं पाथः"** इत्यादि पर्याय परिगणना में जीवन नाम आया है।

शरीर में अग्नितत्त्व भी विद्यमान हैं। छांदोग्योपनिषद में बताया है कि अस्थि मज्जा वाक् ये तीन तैजस हैं। **तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति। यो मध्यमः सा मज्जा योणिष्ठः सा वाक्॥** तैजस पदार्थ से घृतादि लिया गया है। उसमें अग्नितत्त्व अधिक है। इसलिये घी तेल आदि में शीघ्र अग्नि पकड़ती है। नैयायिक घृतादि को जलीय मानते हैं। जलीय अंश उसमें थोड़ा बहुत भले हो। किंतु घी को कौन पानी कहेगा ? वे कहते हैं पानी में स्निग्धता है। इसलिये आटा आदि में पानी डाल कर गूँदने पर पिंड बनता है। घी तेल आदि में भी स्निग्धता है। पर वह अधिक है। इसलिये तेल जलता है इत्यादि। परन्तु पानी की अपेक्षा घी तेल आदि का वजन कम होता है। पानी में घी तेल डालो तो ऊपर आ जाते हैं। उसका कारण है कि उसमें भारहीन तेज अंश अधिक है। अग्नि ऊपर की ओर जलती है। पानी में घी तेल ऊपर की ओर आते हैं। शरीर में इसके अलावा भी तैजस तत्त्व प्रसिद्ध है। जठरानल तो सुप्रसिद्ध है। खाये हुए अन्न को जठराग्नि ही तो पचाती है। कोई कहते हैं समान वायु से अन्न पचता है "अशितपीताद्यादिसमीकरणात् समानः" समान नाम ही

खाये पिये को सम करने से पड़ा। दूसरे लोग कहते हैं—पित्त से अन्न पचता है। यह सब भले मानते रहें, पर जठराग्नि तो निश्चित रूप से है। उसी की उष्णता सारे शरीर में प्रत्यक्ष सिद्ध है। शरीर ठंढा पड़ जाय तो मृत्यु होगी। ठंढियों में हम कंबल ओढ़ते हैं तो अन्दर गरम होता है। वह किसकी गरमी है? कंबल की गरमी? तो एक पत्थर को ओढावो फिर देखो पत्थर या कंबल गरम होता है या नहीं? गरमी तो हमारे अन्दर है। उसको कंबल सुरक्षित रखता है, इतनी ही बात है। कंबल में कोई स्वतंत्र गरमी नहीं है। हर प्रकार से विचार करो तो भी शरीर में अग्नि तत्त्व है ही। अग्नि तत्त्व के बिना भी शरीर जिंदा नहीं रह सकता।

चौथा वायुतत्त्व है। कभी पेट फूल गया, पाँव फूल गया तो प्राण वायु ही कारण हैं. श्वासोच्छ्वास नहीं चलेगा तो मनुष्य जिंदा नहीं रह सकता। जीवन प्राण से है। इसलिये जीव धातु का अर्थ ही लिखा है—**"जीव प्राणधारणे"** प्राण अपान, व्यान, समान, उदान रूप से भिन्न-भिन्न कार्य करता है बल्कि क्रिया शक्ति प्राण से उद्भूत होती है। अतः प्राण भी शरीर में एक मुख्य तत्त्व है।

पाँचवाँ आकाश तत्त्व भी शरीर में है। भोजन करने के बाद में कहते है, अब पेट में जगह नहीं है। यह जगह देनेवाला अवकाश प्रदाता आकाश है। वह न हो, पत्थर जैसे भीतर बाहर से ठोस हो तो शरीर की वृद्धि नहीं हो सकती। बल्कि पत्थर के अन्दर भी आकाश माना जाता है। तभी तो पर्वत बढ़ते हैं वैज्ञानिक लोगों का कहना है कि हिमालय पर्वत अधिक ऊँचा होता जा रहा है। दूसरे प्रकार से सोचो तो भी शरीर में आकाश सिद्ध होता है। **"शब्दगुणक-माकाशं"** बताया है। भीतर निरंतर शब्द होता रहता है। अनाहत शब्द अन्दर है। जो कण्ठतालु आदि के आघात से शब्द हो वह आहत शब्द है। उसके बिना जो शब्द हो वह अनाहत शब्द है। अंदर अनाहत शब्द रहता है। अतः आकाश भी रहता है। उसके

बिना भी जीवन नहीं हो सकता। अनाहत शब्द भी बंद हुआ तो मृत्यु का लक्षण माना जाता है। फिर आकाश न रहे, ऐसी कल्पना भी नहीं हो सकती।

इन पाँच भूतों से जो उपचीयमान है उसको देह कहते हैं। नैयायिक कहते हैं कि पृथिवी तत्त्व से शरीर बना। अन्य तत्त्व केवल सहकारी मात्र हैं। पाँच जाति के पंच तत्त्व से बनने पर जाति सांकर्य होगा। जैसे घट बनाने में पानी आदि सहकारी है। घड़े में पानी रखा गया तो घड़ा और पानी मिलकर एक चीज नहीं मानी जाती। वेदांत का कहना है कि सहकारी के न रहने पर भी कार्य रहता है। पानी पूरा सुख गया तो भी घड़ा रहेगा। वैसे पूरा जल तत्त्व निकाला जाय तो क्या शरीर रहेगा ? उपनिषत् के अनुसार अस्थि आदि को तैजस माना तो अस्थि के बिना शरीर कैसा ? मृत शरीर में शरीरत्व उनके मत में भी विप्रतिपन्न है। तब अग्नि और वायु के बिना शरीर कैसा ? पंचभूत सांकर्य होने पर कोई हानि नहीं है। सारा व्यवहार ही सत्यानृत मिथुनी भाव से हुआ तो पंचभूत मिथुनी भाव में क्या अश्चर्य।

जिसका उपचय होता है उसका अपचय भी सुनिश्चित है। पंचभूत संयोग उपचय है। **"संयोगो विप्रयोगान्तः"** ऐसा नियम है। संयोग हुआ तो कभी न कभी वह संयोग टूटेगा भी, वियोग होगा ही। जहाँ वियोग हुआ वहाँ अंत होना निश्चित है। इसलिये "अन्तवन्त इमे देहाः" बताया जा रहा है। "यतो देहाः अतः अन्तवन्तः"। चूंकि यह शरीर पंचतत्त्व से उपचीयमान है, अतः अपचय भी अवश्यँ भावी होने से अंतवात्त है, नाशवान है।

बहुत से लोग यह समझते हैं कि योगाभ्यास से शरीर को अमर बनाया जा सकता है। अरविंद आदि का मत था कि अतिमानवीय शक्ति उतर आती है तो शरीर अमर हो जाता है। परंतु भगवान इस मत के नहीं है। भर्त्तृहरि महाराज कहते हैं—

यदा मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निदलितः
समुद्राः शुष्यन्ति प्रखरमकरग्राहतिलयाः।
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता
शरीरे का वार्त्ता करिकलभकर्णाग्रचपले।

जब श्रीमान् सुवर्णश्रीमय मेरु भी युगान्ताग्नि से दलित होकर एक रोज गिर पड़ता है, बड़े-बड़े मगर ग्राहादि से भीषण बने हुए समुद्र भी एक दिन जब सूख जाता है, शेषनाग से विधृत हुई यह पृथिवी भी एक दिन अंत को प्राप्त हो जाती है तब हाथी के बच्चे के कान के समान चपल स्वभाव क्षण-क्षण परिवर्तनशील इस शरीर की भला क्या बात है। यहाँ तक की ब्रह्मादिका भी शरीर स्थायी नहीं है। शतवर्षायु सभी हैं। उनके वर्ष भले अलग ढंग से हो। अतः जितने भी देह हैं ये सबके सब अन्त वाले ही हैं।

यहाँ देह शब्द की दूसरी भी व्याख्या करते हैं। नैरुक्त प्रक्रिया से **'दह्यमानत्वाद् देहः'** ऐसी भी व्याख्या है। यास्क महर्षि ने विलक्षण रीति से शब्दों की व्युत्पत्ति दिखायी है। उसमें यद्यपि देह शब्द नहीं आया है। फिर भी उस प्रक्रिया अनुसरण लोगों ने अन्यत्र भी किया है। दाह संस्कार जिसका होता है वह देह है। शरीर के षोडश संस्कार माने गये हैं, उनमें अन्तिम संस्कार दाह संस्कार है। गर्भाधान संस्कार से लेकर दाह संस्कार पर्यन्त सोलह संस्कार शरीर को संस्कृत करते हैं। इनमें अन्तिम परम संस्कार दाह है। **"अथेदं भस्मान्त ँ शरीरम्"** ऐसा उपनिषत् में आया है। यही 'अन्तवन्तः' से बताया। भस्मान्तता होती है अतः अन्तवान है।

अन्तवन्त इमे देहाः—शरीरिणः। यहाँ आत्मा के लिये एक वचन दिया है। और देह शब्द बहुवचनान्त है। यह कैसा ? एक शरीर के बाद दूसरा शरीर, इस प्रकार जन्म जन्मान्तरों को लेकर

बहुत शरीर हो जायेंगे, अतः बहुवचन हैं कहें, तो समीचीन नहीं। कारण "इमे" ऐसा प्रत्यक्ष निर्देश है। ये शरीर अन्त वाले हैं, परोक्ष शरीरों की बात नहीं। एक आत्मा के अनेक शरीर प्रत्यक्ष नहीं हैं। किसी ने कहा—महर्षि सौभरि एक ही थे। उन्होंने एक साथ पचास शरीर धारण किया था। पर, महर्षि सौभरि की बात छोड़िये। 'इमे' यह प्रत्यक्ष निर्देश है। यहाँ आकर सौभरि पचास शरीरों से थोड़े ही खड़े थे। .और सौभरि के पचास शरीर नाशवान् हो, उससे भीष्मादि शरीर के लिये क्या बात आती है ? इसका समाधान वेदान्त में दो प्रकार से दिया जाता है। एक यह कि वस्तुतः आत्मा एक ही है। शरीर ही अलग अलग है। वेदान्त ने एकात्मवाद माना है। एक आत्मा है। वही ब्रह्म है। उससे भिन्न ये शरीरादि हैं। ये अलग अलग हैं। अतः प्रत्यक्ष शरीरों को लेकर ही "अन्तवन्त इमे देहाः शरीरिणः" बताया, अर्थात् एक ही आत्मा के ये दृश्यमान सभी शरीर हैं। अतः आत्मा के लिये एकवचन और शरीर के लिये देहाः ऐसा बहुवचन आया।

दूसरा उत्तर यह है, प्रत्येक व्यक्ति के तीन-तीन शरीर होते हैं। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर ये तीन हैं। रस रक्तादि सात धातुओं से बना यह स्थूल शरीर है। इन्द्रिय प्राण मन बुद्धि निर्मित सूक्ष्म शरीर है, और वासनामय अज्ञान कारण शरीर है। अतः 'देहाः' बहुवचन और 'शरीरिणः' एकवचन हुआ। ये तीनों अन्त वाले ही हैं, क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त सभी नाशवान् माना गया है। इनमें स्थूल शरीर तो प्रत्यक्षतः नाशवान् है और सूक्ष्म तथा कारण शरीर शास्त्र प्रामाण्य से नाशवान् है। तीनों देहों का उपचय एवं अपचय भी होता है। स्थूल शरीर प्रत्यक्षतः उपचीयमान है। **'अन्नमयं हि सोम्य मनः'** इत्यादि श्रुति से मन का भी उपचय सिद्ध है। तथा वासना प्रणयन से कारण शरीर का भी उपचय होता है।

'दह्यमानत्वाद् देहाः' यह व्युत्पत्ति तीनों पर लागू है या नहीं ? स्थूल शरीर का दाह होता है। या दाह योग्य तो है ही। सूक्ष्म शरीर का दाह होता है या नहीं। होता है। भगवान आगे बतायेंगे—

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा"।

केवल कर्म को ज्ञानाग्नि जलायेगी। सूक्ष्म शरीर को कहाँ जलाती है ? सूक्ष्म शरीर कर्ममय ही है। इसी अन्तःकरण में अनन्त कर्म संचित पड़े हैं, उन सबके जल जाने पर बचा हुआ अन्तःकरण तो राख के समान है। उससे आगे संसार वृक्ष पनप नहीं सकता। इस लिये सूक्ष्म शरीर भी दग्ध होता है और देह शब्द योग्य है।

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते"॥

तत्त्ववेत्ता के प्राण उत्क्रमण नहीं करते। कारण उत्क्रमण योग्य नहीं रह जाते। ज्ञानाग्नि से सब जल जाते हैं। प्राण पद से मुख्य प्राण तथा चक्षुरादि गौण प्राण सभी ग्राह्य हैं। इन कर्मोंको और प्राणों को भोग से समाप्त करना अशक्य है। ज्ञानाग्नि से ही इनको जलाना होगा।

अब कारण शरीर का दाह होता है या नहीं, इस पर भी विचार करें। कारणशरीर माने अविद्या। गाढ़ निद्रा में स्थूल शरीर को छोड़ देते हैं, सूक्ष्म शरीर को भी छोड़ देते हैं। उस समय जो गाढ़ अन्धकार—गहन अज्ञान प्रतीत होता है वही अविद्या है। उसका भी नाश होता है। अन्धकार का नाश दीपक से होता है। अज्ञानान्धकार का नाश ज्ञान दीपक से होता है।

"तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता"॥

ऐसा आगे प्रयोग आने वाला है। ज्ञानाग्नि बोलने में और ज्ञानदीप बोलने में कुछ अन्तर भी है क्या ? अवश्य है। अग्नि का काम

वस्तुओं को जलाकर भस्म करना है। दीपक का काम अंधकार मिटाना है। ज्ञानरूपी अग्नि कर्म इन्धन को जलाकर भस्म करती है और ज्ञान रूपी दीपक अज्ञानान्धकार को मिटा कर प्रकाश करता है। अस्तु, यह समझ में आया। किन्तु उपमा में ही अन्तर आया। उपमेय में क्या अन्तर ? अग्नि की उपमा दी या दीपक की उपमा दी इससे उपमेय ज्ञान में क्या फरक ? अग्नि और दीपक में जो फरक है वही यहाँ भी फरक है। स्थूल होने पर अग्नि कहते हैं। सूक्ष्म होने पर दीपक कहते हैं। जैसे बिजली के चुल्हे में भी बिजली है, बल्व में भी बिजली है। दोनों में क्या फरक ? चूल्हे के तार मोटे होते हैं। बिजली उसे गरम कर लाल करती है। किन्तु बल्ब के अंदर के तार बहुत पतले होते हैं। बिजली उसे गरम कर प्रकाश कर देती है। ज्ञान ही परिपक्व होने पर तत्त्व साक्षात्कार कहलाता है। संचित कर्ममनाश तो ज्ञान से ही हो जाता है। वही परिपक्व होकर अपरोक्ष साक्षात्कार रूप हुआ तो वासना को भो धीरे-धीरे समाप्त कर देता है। अतः दह्यमानत्व तीनों देहों में होने से देह कहलाये।

प्रकृत में अर्जुन का शोक तीनों के अन्त को लेकर है या केवल स्थूल शरीर को लेकर ? निश्चित है स्थूल शरीर नाश को लेकर ही शोक मोह हो रहा था। तथापि गीता कल्पवृक्षात्मक है, सर्वतो मुखहै। अतः तीनों देहों को लेकर व्याख्या करना भी अनुचित नहीं है। अत एव जो लोग सरल अर्थ की दृष्टि से शरीरिणः यह जात्येक वचन है, देहाः यह व्यक्ति प्रयुक्त बहुवचन है, ऐसा मानने के लिये प्रयास करते हैं, उनके लिये भी तीन शरीर अर्थ ग्रहण कग्ना अयुक्त नहीं माना जायेगा। ऐसी व्याख्या करने की प्राचीन पद्धति है।

नित्यस्य। यह शरीरी—आत्मा का विशेषण है। देह अन्त वाले हैं। किंतु देही नित्य है। पूर्व श्लोक में अविनाशी बोल दिया। फिर यहाँ नित्य कहने की क्या जरूरत ? दो चार श्लोक के बाद

शायद भूल भी जाय। लेकिन यह तो "अविनाशि तु तद्विद्धि" ऐसा पूर्व श्लोक में ही कह दिया है। तब यहाँ नित्य कहने की क्या जरूरत ? यही की यहाँ नित्य से निरन्तर बताना है। "नित्या-विरताजस्रम्" ऐसा कोश में लिखा है। विज्ञानवादी बौद्ध मानते हैं कि आत्मा दीपज्वाला के समान है। अखण्ड दीपक जल रहा है। जब तक मोक्ष नहीं होता तब तक जलता रहेगा। क्या वैसा ही आत्मा स्वसिद्धान्त में भी है ?। नहीं। वह सान्तर है, निरन्तर नहीं। दीपज्वाला बदलती रहती है। तभी तो तेल खतम होता है। एक बूंद तेल जला उसकी एक ज्वाला है। दूसरा बूँद जला उसकी दूसरी ज्वाला है। परंतु बीच में अन्तर है। वह अन्तर दीखता नहीं है, पर है। इसी प्रकार आत्मा का भी अन्तर है क्या ? नहीं है। आत्मा निरन्तर है। हाँ, हमारा मन सान्तर है। परिवर्तनशील है। असल में मन ही को विज्ञान वादियों ने आत्मा समझा। दीप ज्वाला अदर्शन रूपी नाश वाला नहीं, किन्तु सान्तर है। आत्मा सान्तर नहीं, निरन्तर है। जो सान्तर होता है, वह अन्त में जाकर खतम होगा। अनन्त नहीं होगा। आत्मा निरन्तर है। नित्य है।

शरीरिणः। आत्मा के लिये प्रथम सत् शब्द का प्रयोग किया। फिर शरीर के लिये असत् शब्द का प्रगोग किया। यहाँ आत्मा को समझाने के लिये शरीरी शब्द का प्रयोग किया गया है। शरीरी का अर्थ है—शरीर वाला अर्थात् शरीर धारी। वह शरीर ही नहीं है, किन्तु शरीर से भिन्न है, शरीर धारी है। "शॄ विशरणे" धातु से शरीर शब्द बनता है। जो जीर्ण होकर शीर्ण होता हो, उसको शरीर कहते हैं। शीर्ण माने चिथड़ा जैसा टुकड़े-टुकड़े होने वाला। आत्मा शरीरी होने से शरीर भिन्न है। **"अशरीरं वा-व सन्तं"** ऐसा उपनिषद् में बताया है। अशीर्ण है आत्मा।

अनाशिनः। "अविनाशि तु तद्विद्धि" में "वि" उपसर्ग अधिक था। यहाँ वि उपसर्ग नहीं है। यह दृढ़ता मात्र के लिये है। विनाशी

न हो, नाशी हो, इस शंका को भी हटाना है। विनाशी कहने पर विशिष्ट नाश अर्थ प्रतीत होता है। सर्वथा अदर्शन विनाश है। तो सर्वथा अदर्शन भले न हो, कभी कभी अदर्शन हो सकता है, इस शंका का वारण किया 'अनाशिनः' से। आत्मा का सामान्य नाश भी नहीं होता विशेष नाश भी नहीं होता।

अप्रमेयस्य। प्रमातुं योग्यः प्रमेयः। जो प्रमित होने योग्य है उसको प्रमेय कहते हैं। अप्रमेय माने जो न जाना जा सकता हो। आत्मा अप्रमेय है। जाना नहीं जा सकता। यदि आत्मा नहीं जाना जा सकता हो तो वेदान्त किसलिये ? गीता का भी प्रयोजन शांकर भाष्य के अनुसार आत्मतत्वज्ञान ही है। परन्तु आत्मा यदि अप्रमेय है तो गीता भी किसलिये होगी ? प्रमेय कहने पर मुख्य रूप से चार प्रकार की मेयता आ जाती है। प्रत्यक्षमेय, अनुमेय, उपमेय और शब्दमेय। चारों का निषेध अप्रमेय पद से होगा। परन्तु नैयायिक कहते हैं—अहं सुखी दुःखी, अहमस्मि इस प्रकार आत्मा मानस प्रत्यक्षमेय है। **"प्रवृत्त्याद्यनुमेयोऽयं रथगत्येव सारथिः"** जैसे रथ की गति सारथि पूर्वक होती है, वैसे शरीर रथ की भी प्रवृत्ति आत्म सारथि पूर्वक ही होनी चाहिगे, इस अनुमान से आत्मा सिद्ध है, अतः अनुमेय भी है। 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' यह उपमा है, अतः उपमेय भी है। आत्मा शब्द किसके लिये कहते हैं ? उससे कुछ बोध होता है या नहीं ? अवश्य होता है। तो शब्दमेय भी तो हुआ। तब आत्मा को अप्रमेम कैसे कहते हैं ?। और अप्रमेय विशेषण से मतलब भो क्या हो सकता है ? अस्तु। इसका उत्तर बाद में ढूंढेंगे। प्रथम एक दृष्टांत पर विचार करें। सूर्य प्रकाशित होता है या नहीं ? क्यों नहीं प्रकाशित होता, अवश्यमेव प्रकाशित होता है। यह सम्मुख में पड़ी पुस्तक या घटादि प्रकाशित होते हैं या नहीं ? अवश्यमेव प्रकाशित होते हैं। दोनों के प्रकाशित होने में क्या अन्तर ? पुस्तक अंधेरे में प्रकाशित नहीं थी। दिन में प्रका-

शित हुई। रात में भी बिजली या दीपक की बत्ती में प्रकाशित हुई। इसी प्रकार वस्त्र मकान आदि सभी पदार्थ सूर्य से प्रकाशित हुए या बिजली से या बत्ती से। अब प्रश्न यह है कि घटपटादि सभी किसी न किसी प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। परन्तु सूर्य किस प्रकाश से प्रकाशित होता है ? जैसे प्रातः के समय सुबह चार बजे घड़ी का समय टॉर्च से देखते हैं वैसे सूर्योदय हो रहा है या नहीं, यह टॉर्च से देखा जाता है या नहीं ? नहीं। तो किस प्रकाश से सूर्य प्रकाशित होता है ? उत्तर देंगे कि घटपटादि सभी अपने से अन्य सूर्यादि से प्रकाशित होते हैं। किन्तु सूर्य तो अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है। अन्य प्रकाश से नहीं। :'अपने प्रकाश से प्रकाशित होता है का क्या मतलब ? जैसे डंडे से फल मार गिराया तो देवदत्त ने कुछ परिश्रम के द्वारा वह किया, वैसे अपने प्रकाश से प्रकाशित किया तो प्रकाश को लेकर सूर्य को कुछ श्रम हुआ ? वस्तुतः प्रकाश से प्रकाशित यह शब्दप्रयोग मात्र है। सूर्य उदय हुता तो कोई अन्य क्रिया बीच में आवश्यक नहीं है। कारक क्रिया के बिना ही सूर्य प्रकाशमान होता है। अतएव सूर्य स्वयंप्रकाश माना जाता है। जिस प्रकाश से घटादि प्रकाशित हुए वह प्रकाश अन्य की अपेक्षा तो नहीं हो रख सकता। अपनी अपेक्षा रखना यह केवल शब्द जाल मात्र है। यही आत्मा की भी बात है। आत्मा के ज्ञान प्रकाश से संसार की सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, जानी जाती हैं। परन्तु उस ज्ञान प्रकाशात्मक आत्मा को प्रकाशित करने के लिये किसी अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं हो सकती। स्वयं स्व की अपेक्षा तो होती नहीं, अतएव आत्मा सूर्यवत् स्वयं प्रकाश है। वह आत्मा प्रमाविषय होकर प्रकाशमान नहीं, किंतु प्रमास्वरूप होकर प्रकाशमान है। तब प्रत्यक्षप्रमाविषयत्व, अनुमानप्रमाविषयत्व आदि जो अभी दिखाया सो क्या है ? उत्तर यही है कि—'मैं' इतना अंश स्वयं प्रकाश है। वह अन्तः करण धर्म को तादात्म्य के साथ

प्रकाशित कर रहा है। सामने कोई देवदत्त खड़ा है। उस समय लेटा हुआ आदमी आँख बंद किये ही उसके आगमन की कल्पना कर रहा है। बाद में आँख खोलने पर उसे प्रत्यक्ष देखा। उस प्रत्यक्ष विषय देवदत्त में और कल्पना विषय देवदत्त में क्या फरक ? कल्पना विषय देवदत्त काल्पनिक ही है। वैसे प्रात्यक्षिक आत्मा को प्रवृत्ति आदि से अनुमान करेंगे तो अनुमानविषय आत्मा काल्पनिक ही होगा। वास्तविक आत्मा से बाद में उसका तादात्म्य कर लें यह अलग बात है। यही उपमानादि की भी स्थिति है। शब्द से अर्थात् उपनिषद् आदि से भी आत्मा का ज्ञान यदि परोक्ष हुआ तो वह काल्पनिक ही होगा। जैसे एक समय की बात है। मैं हरिद्वार में गंगा जी के बाँध पर बैठा हुआ था। दो महात्मा वहाँ आये। मेरा नाम उन्होंने खूब सुन रखा था, लेकिन पहचान नहीं थी। वे आपस में स्तुति निंदा दोनों ही कर रहे थे। मैं बैठा-बैठा सुन रहा था। बताइये उन के शब्द से जिस व्यक्ति का चित्र उनके मन में आ रहा था वह मैं ही था या दूसरा ? न दूसरा ही, और न मैं ही। किन्तु काल्पनिक था। यदि मैं होता तो मैं सामने ही था। मेरी स्तुति निंदा कैसे करते ? दूसरे के बारे में बात नहीं है। अतएव वेदान्त का यह परम सिद्धान्त है कि शब्द से प्रत्यक्ष हो तो ही वह वस्तुविषयक होगा। तत्वमसि आदि महावाक्य से साक्षात्कार ही होता है। शब्द से आवरण के मिटने से स्वयं प्रकाश आत्मा प्रकाशित होता है। प्रमा विषय नहीं होता।

प्रमाता, प्रमाण, प्रमिति और प्रमेय ये चार होते हैं। प्रमाता देवदत्तादि है—अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन जीवात्मा प्रमाता है। अन्तःकरण इन्द्रियादि प्रमाण। उससे विषयाकार वृत्ति जो होती है वह प्रमिति है। इन तीनों का प्रभाव जिस पर पड़े वह प्रमेय है। प्रमिति से विषय भासित होता है, अभानरूप विषय भानात्मक होता है। प्रमाण से श्रवणीय, स्पर्शनीय आदि विभाग युक्त होता है। प्रमाता

उसमें सहकारी है। इस प्रकार विषय अनेकविध प्रकाशात्मक होता है। आत्मा अभानात्मक है नहीं। अतः उसपर प्रमिति का प्रभाव पड़ नहीं सकता। वह इन्द्रिय अविषय है। अतएव श्रवणीय स्पर्शनीयादि भी नहीं। अतः सहकारी प्रमाता की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। तीनों का प्रभाव नहीं पड़ा। अतः प्रमेय भी नहीं होता। अपने आप पर अपने आपका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अग्नि लकड़ी को जलायेगी, अग्नि को नहीं। साँप का जहर दूसरों पर प्रभाव डालेगा। साँप के शरीर पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता। वैसे प्रमितिरूप प्रकाश, प्रकाशरूप आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता इसलिये आत्मा अप्रमेय है.।

अप्रमेय होने पर भी वह दर्शन रहित नहीं है। सूर्य अन्य प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता। इसका अर्थ यह नहीं है कि सूर्य पर अन्धकार रहेगा। वह अविनाशी है—नित्य दर्शनात्मक है। अतएव 'अविनाशि तु तद्विद्धि' ऐसा पूर्व कहने पर भी "अनाशिनः" यह विशेषण पुनः दिया। अप्रमेय होने पर भी दर्शनाभावरूप नहीं यह बताना है।

"प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं प्रमितिस्तथा।
यस्य प्रसादात् सिध्यन्ति तत्सिद्धौ किमपेक्षते॥"

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एवं वृत्तिरूपी प्रमिति ये सभी जिस स्वयं-प्रकाश आत्मा से सिद्ध होते हैं उस आत्मा की सिद्धि के लिये भला किसकी अपेक्षा हो सकती है।

अन्यत्वे नाप्रमेयत्वं प्रमेयत्वे च दृश्यता।
अतोऽप्रमेयता श्रौती स्वस्मिन्नवसिता भवेत्॥

यदि अपने से यह आत्मा या परमात्मा भिन्न हो तो अप्रमेय नहीं होगा। निश्चित प्रमेय होगा। प्रमेय होने पर दृश्य होगा, द्रष्टा नहीं। इसलिये श्रुत्युक्त अप्रमेयता आत्मा में ही पर्यवसन्न होगी।

तस्माद् युध्यस्व भारत। यहाँ कर्मपक्षपातियों का कहना है कि इतना भारी तत्त्वज्ञान का उपदेश चल रहा था, उसके बीच में

यह युद्ध की विधि बतलाती है कि ज्ञानी को भी कर्म कर्त्तव्य है। ज्ञान के साथ कर्म भी अवश्य कर्त्तव्य है। ज्ञान कर्म का समुच्चय ही श्रेय का कारण है। भगवान आद्यशंकराचार्य अपने भाष्य में कहते हैं—विधि का अर्थ है अज्ञात अपूर्व अर्थ को बताना। अर्जुन युद्ध के लिये रणांगण में आया ही था। तब युद्ध करना चाहिये यह कोई अपूर्व अर्थ तो नहीं हुआ। बीच में मोह के कारण युद्ध न करने का फैसला किया। भगवान ने आत्मज्ञान से उस मोह को दूर किया तो अवरुद्ध युद्ध कर्त्तव्यता अपने आप दिमाग में आ जाती है। उसमें यह प्रोत्साहन मात्र है, विधि नहीं है। जैसे बच्चा खाने बैठा तो बड़ा आदमी आया तो संकोच होने लगा। बड़े ने कहा—खाओ खाओ। यह कोई विधि नहीं है। अवरोध अपाकरण मात्र है।

आद्य शंकराचार्य का कहना है कि युद्धादि कर्त्तव्य कर्म करना ही चाहिये जब तक पूरी ज्ञाननिष्ठा नहीं होती। तब तक अपने कल्याण के लिये भी कर्म करो, परार्थ भी कर्म करो। परन्तु ज्ञान-निष्ठा प्राप्त होने के बाद अपने कल्याण के लिये कर्म की आवश्यकता नहीं रहती। आवश्यक हो तो भले परार्थ कर्म करते रहो, यह अलग बात है। उतने से उसको विधि में जकड़ नहीं सकते। विधि में जकड़ने का मतलब है कि विहित के अभाव में प्रत्यवाय का भागी बनना। जगत् सम्हालने का बहुत अधिक फिक्र की जरूरत नहीं है। जवान लोग कहते हैं कि ये बूढ़े मोह में चिपके रहते हैं, अधिकार छोड़ना नहीं चाहते। और आप बलात् परार्थ करने का स्वांग रचते हैं। आगे आने वालों की कोई कमी नहीं। फिर आप अनन्तकाल तक जगत को सम्हालने का क्या ठेका लिये हुए हैं? सारांश यह कि ज्ञाननिष्ठा के बाद आवश्यक हो तो परार्थ करो। न हो तो वह भी नहीं। आप स्वयं किसी पर हावी मत हो। "तस्माद युध्यस्व" यह प्राप्तानुवाद मात्र है। अपूर्व विधान नहीं है॥ १८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

[जो इस आत्मा को हन्ता (मारने वाला) जानता है और जो इसे हत (मरा) मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते। क्योंकि यह आत्मा न किसी को मारता है और न मरता ही है ॥ १९ ॥]

"प्रमाणं परमं श्रुतिः" ऐसा मनुवचन है। परम प्रमाण श्रुति ही है। स्थूल वस्तु घट पट वृक्ष लता आदि के लिये प्रत्यक्ष प्रमाण है। किन्तु अदृष्ट धर्माधर्मादि तथा आत्मा परमात्मा के लिये शब्द ही प्रमाण है। श्रुति स्मृति इतिहास पुराणादि सभी शब्द प्रमाण माने जाते हैं। इनमें परम प्रमाण श्रुति है। श्रुति मूलक होने से स्मृति पुराणादि की प्रमाणता है। श्रुति का अर्थ ही है—**"श्रूयत एव केवलं न तु केनापि क्रियते"**। गुरु परम्परा से केवल सुनी जाती है। कोई इसे बनाता नहीं, इसलिये श्रुति है। श्रुति अपौरुषेय है। प्रथम गुरु ने तो बनाया होगा ? नहीं। संसार अनादि है। अनादि ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आदि में वेदों का उपदेश मात्र करते हैं। ये श्रुतियाँ मूल हो तभी स्मृति प्रमाण होती है। मूल रहित स्मृतियाँ अप्रमाणिक मानी जाती हैं। श्रीमद्भगवद्गीता श्रुति मूलक है। अतएव प्रमाण है। विशेष रूपेण उपनिषद् गीता का मूल है। इसीलिये पुष्पिका में 'इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' ऐसा उपनिषत् शब्द आया है। उपनिषद् मूल होने से गीता को भी उपनिषत् कह दिया। मुख्यतया कौन उपनिषत् मन्त्र गीता का मूल है, यह बताने के लिये और विशिष्ट अर्थ प्रस्तुत करने के लिये यहाँ दो मन्त्रों का संनिवेश किया जा रहा है।

कठोपनिषद् के ये दो मन्त्र हैं। **"न जायते म्रियते वा"** प्रथम पढ़ा गया है, **"हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं"** (इस श्लोक का मूल) बाद में पढ़ा गया है। गीता में और वेद में क्या फरक है ? वेद भी भगवान् का निःश्वास है। **"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः"** इत्यादि श्रुति में ही बताया है। और गीता भगवान् के मुख से निःसृत है। उत्तर इसका यह है कि अवतार काल में मानवोचित व्यवहार चलता है। अतः प्रामाणिकता के लिये मूल अपेक्षित हैं। **"अश्वत्थामा हतः नरो वा कुञ्जरो वा"** यह भी तो भगवान ने सिखाया था, तो क्या वह वचन प्रमाण रहा ? श्रुति तो अनादि कालगत शब्दानुपूर्वी परम्परा मात्र होने से, वहाँ शब्दों का हेरफेर तक न होने से प्रामाणिकना में कोई संशय नहीं : वेदोपदेश में शब्द मुख्य है। अर्थ स्मरण भगवान् भले साथ करें। किन्तु गीतोपदेश में अर्थ मुख्य है। शब्द उसके लिये जो भी आवे। जैसा कोई कवि अर्थ मन में धारण करता है। फिर अर्थ के अनुरूप शब्दों को जोड़ता जाता है। ऐसी स्थिति में अनादि कालीन शब्दावली छोड़कर स्वतन्त्र शब्दावली कहते हैं तो सामयिक नीति, आवश्यकता आदि भी उसमें प्रतिबिम्बित हो सकती है। अतः श्रुत्यर्थ ही अर्थमुख्यता में भी मुख्य है इस बात को बताने के लिये काठक मन्त्रों को यहाँ उपस्थित किया। इसका मूल मन्त्र इस प्रकार है—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तु ँ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नाय ँ हन्ति न हन्यते ॥

जो हननकारी मारने को यदि सोचता है और जो आहत अपने को आहत मानता है ये दोनों ही वास्तविक ज्ञान नहीं रखते। क्योंकि यह आत्मा न मारता है और न आहत ही होता है।

यमराज ने नचिकेता से वरदान माँगने के लिये कहा तो नचिकेता ने इसी प्रश्न का उत्तर वरदान के रूप में माँगा—**येयं प्रेते**

विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके, एतद्विद्याम्" मनुष्य के मरणोपरान्त कुछ लोग कहते हैं कि आगे कुछ नहीं रहता और दूसरे लोग कहते हैं, आगे भी रहने वाला तत्व है। इस शंका में निश्चित सिद्धान्त क्या है यह मैं जानना चाहता हूँ। यमराज ने कहा—हे नचिकेता ! देवताओं को भी इसी विषय में संशय रहा है—**"देवैरत्रापि विचिकित्सितं"** यह जल्दी समझ में नहीं आयेगा, अतः अन्य कोई वर माँग। नचिकेता ने कहा—हे यमराज ! यदि आप इस बात को नहीं बतायेंगे, आप इसे कठिन समझते हैं तो दुनिया में अन्य कोई भी इस तत्व को नहीं बता पायेगा। क्योंकि आप मृत्यु के देवता हैं। मृत्यु के विषय में आपकी जितनी जानकारी कोई अन्य देवता नहीं रख सकता। अपने मकान के बारे में मकान मालिक को जितना पता होगा उतना दूसरे को क्या मालूम होगा ? वैसे मृत्यु के बारे में यमराज को जितना मालूम होगा उतना अन्य किसी को हो सकता है क्या ? अतः नचिकेता ने "येयं प्रेते विचिकित्सा" इत्यादि मृत्यु विषयक प्रश्न किया। नचिकेता यमराज के दिये सभी प्रलोभनों को ठुकरा कर एक मात्र जिज्ञासा पर डटा रहा तो यमराज ने जो रहस्य बताया उसी के मुख्य ये दो मन्त्र हैं "न जायते म्रियते वा०" "हन्ता चेन्मन्यते०"

प्रथल विचार यह है कि कर्त्ता और भोक्ता कौन है ? प्रथम यही समझा जाता है कि यह शरीर कर्त्ता है और शरीर ही भोक्ता है। अपराध किया शरीर ने तो दंड भी शरीर को ही मिलता है। जो कर्त्ता वही भोक्ता होता है। परन्तु प्रश्न हुआ कि किसी ने दूसरे को हाथ से पीटा तो जवाब में गाल पर उसने क्यों मारा ? पीटने वाला हाथ है तो हाथ ही को वापिस दण्ड देना चाहिये। उत्तर दिया कि शरीर का ही एक देश हाथ भी है, गाल भी है। अस्तु। फिर भी उत्तर पूरा नहीं हो सकता। किसी ने इस जन्म में अन्य की हत्या की। उसको इस जन्म में फाँसी नहीं मिली। बहुत सारे

पाप करते हैं। किन्तु इस जन्म में फल नहीं मिलता। तो क्या वे कर्म निष्फल जायेंगे ? कहेंगे कि दूसरे जन्म में फल मिलेगा। परन्तु दूसरे जन्म में यह शरीर नहीं है, यह निश्चित है। क्योंकि दूसरा शरीर धारण करना ही तो दूसरा जन्म है। कर्त्ता दूसरा और भोक्ता दूसरा ऐसा तो नहीं हो सकता। तब शरीर कर्त्ता एवं भोक्ता नहीं, यह निश्चित हुआ। अस्तु। शरीर कर्त्ता भोक्ता न हो, आत्मा को कर्त्ता भोक्ता माना जाय। आत्मा जो इस जन्म में है, वही अगले जन्म में भी तो है। नैयायिकों ने यही कहा कि आत्मा ही कर्त्ता है और पुण्य पाप फल सुख दुःख का भोक्ता भी वही है। परन्तु भगवान कहते हैं, यह भी भूल है। आत्मा कर्त्ता भोक्ता नहीं हो सकता। आत्मा यदि कर्त्ता भोक्ता होगा तो भोग एवं भोग्य सुख दुःख भी होंगे। ये सब आत्मा के अन्दर से बाहर की ओर प्रकट हुए यही कहना पड़ेगा। तब आत्मा का विकारी होना अनिवार्य होगा। और जो विकारी होगा वह अनित्य भी निश्चित रूपेण होगा। परन्तु आत्मा नित्य है, यह बात पहले सिद्ध कर चुके हैं। तब कर्त्ता भोक्ता कौन ? शरीर भी नहीं, आत्मा भी नहीं तो बीच में कोई होगा। वह है इन्द्रिय, प्राण एवं अंतःकरण। इनमें भी इन्द्रियाँ तो केवल करण मात्र है। प्राण क्रियासहकारी मात्र है। अतः पारिशेष्यात् अन्तःकरण या बुद्धि ही कर्त्ता है। तो क्या शरीर और आत्मा का कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व से कोई वास्ता नहीं है ? है। शरीर क्रिया करने में साधन है। शरीर के बिना केवल अन्तःकरण क्या कर सकता है ? तथा आत्मा सत्ता स्फूर्ति प्रदान से उपकारक है। किन्तु इतने मात्र से वे दोनों ही कर्त्ता और भोक्ता नहीं हो सकते। क्यों नहीं ? इसलिये कि कोई रथपर या गाड़ी पर बैठकर दूसरे पर वार करे, हमला करे तो रथ साधन भले हो, पर कर्त्ता नहीं हो सकता। कोई सूर्य के प्रकाश में दान करता है या चोरी करता है तो उन दोनों पुण्य पाप कर्मों का कर्त्ता सूर्य नहीं हो

सकता। इसी प्रकार रथ स्थानीय शरीर एवं सूर्य स्थानीय आत्मा भी कर्त्ता भोक्ता नहीं हो सकते।

दो आदमी आपस में लड़ पड़े। दोनों ताकत वाले पहलवान थे। एक के हाथ में कच्ची लकड़ी थी। दूसरे के हाथ में लोहे की छड़ थी। कच्ची लकड़ी से पहले ने मारा। वह टूट गयी। दूसरे ने लोहे की छड़ से मारा तो माथा फूटा। लोहू लुहाण हो गया। दोनों का केस चला। मजिस्ट्रेट ने पूछा—तुमने मारकर इसका सिर तोड़ दिया ? उसने कहा, नहीं। मैंने नहीं तोड़ा। फिर किसने तोड़ा ? लोहे की छड़ ने, क्योंकि हम दोनों में बराबर ताकत थी, बराबर लड़ने की शिक्षा थी। हम दोनों हर प्रकार से बराबर थे। फरक केवल लकड़ी और लोहे की छड़ का ही रहा। अतः अन्वय व्यतिरेक से लोहे की छड़ ही माथा फोड़ने वाली है। क्या यह बयान, यह तर्क, यह अन्वय व्यतिरेकादि कामयाब होंगे ? नहीं होंगे। अतएव जैसे लोहे की छड़ कर्त्ता और भोक्ता नहीं हो सकती वैसे शरीरादि भी नहीं। शरीरादि के द्वारा मन ही कर्त्ता है। शरीर पर दण्ड विधान का भी परिणाम मन पर ही सुख दुःखादि है। अतएव कर्त्ता भोक्ता मन ही है। यही मन दूसरे जन्म में भी जाता है। इसलिये इस जन्म के किये कर्मों का फल अगले जन्म में भी भोग लेता है।

य एनं बेत्ति हन्तारं—हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम्। गीता में युद्ध प्रकरण होने से हन्ता शब्द का प्रयोग प्रकरणानुकूल है। किन्तु उपनिषत् में युद्ध का प्रकरण न होने से वहाँ पर कर्त्ता मात्र विवक्षित है। किन्तु किसी क्रिया को लेकर कर्त्तृत्वादिका प्रतिपादन करना है। तब कौनसा धातु लेना चाहिये ?। गमं धातु, वद धातु आदि अनेक धातु हैं जो क्रिया वाचक है। किन्तु यमराज के सामने प्रथम हन धातु ही उपस्थित हुआ। क्योंकि यमराज स्वयं मृत्यु देवता है। प्राणियों को मारने वाले वे ही हैं। अथ च हनन करते

हुये भी वे अपने को हन्ता नहीं मानते। अतः उसी धातु से नचिकेता को समझाया—हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम्। सारांश यह है कि कर्त्तृ सामान्य ही विवक्षित है। उसी मूल को लेकर प्रवृत्त हुई गीता का भी फिर यहाँ कर्त्तृ सामान्य ही अर्थ माना जायेगा।

यश्चैनं मन्यते हतम्—हतश्चेन्मन्यते हतम्। यहाँ 'हतं' यह कर्म में 'त' प्रत्यय है। कर्म का अर्थ है—क्रियाजन्यफलाश्रय। जो भी क्रिया हो उसका फल जिस पर आता है, व्याकरण के अनुसार उसको कर्म कहते हैं। काष्ठं छिनत्ति—लकड़ी तोड़ रहा है या फाड़ रहा है, इस क्रिया में छेदन क्रिया है। उसका फल है—दो टुकड़े होना। उसका आश्रय लकड़ी कर्म है। यह फल दो प्रकार से होता है। साक्षात और परम्परया। पुण्यपापादि के द्वारा परम्परया फल जहाँ मिलता है वहाँ कर्म में प्रत्ययादि नहीं होता है। फिर भी वह भी यहाँ उपलक्षणीय है। हन्ता से कर्त्तृत्व विवक्षित है। हत से भोक्तृत्व विविक्षित है। कर्त्तृत्व न होने ही के कारण कर्त्तृत्व समानाधिकरण भोक्तृत्व भी संभव नहीं है। कर्त्तृत्व से व्यधिकरण फल भी नहीं। इस बात को बताने के लिये शब्दान्तर का प्रयोग है।

यह कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व वस्तुतः कहाँ पर है। स्थूल शरीर में नहीं और आत्मा में भी नहीं। किन्तु लिङ्ग शरीर ही कर्त्ता तथा भोक्ता है।

कर्तृ च भोक्तृ च लिङ्गं न खलु चितिस्तत्र बुध्यतेऽध्यासात्।
भोक्तृत्वे हेतुरिति प्रकाशरूपत्वतो भगवान्॥

कर्त्ता और भोक्ता लिङ्ग शरीर ही है, आत्मा नहीं। आत्मा में कर्त्ता भोक्तापने की प्रतीति अध्यास से होती है। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते' यह भगवद्वचन आत्मा प्रकाशरूप होने से बताया। न कि आत्मा भोक्ता है इस आशय से।

एक प्रश्न होता है—चोरी करने पर आदमी चोर होता है या चोर होने पर चोरी करता है। बहुत से लोग कहते हैं—चोरी

करने पर वह चोर हो गया। चोरी करने से पहले चोर कैसे होगा ? चोरी रूपी क्रिया को लेकर चोर कहलाता है। जैसे पाक क्रिया को लेकर पाचक कहा जाता है। गमन क्रिया को लेकर गन्ता कहते हैं, शयन क्रिया को लेकर शयिता कहलाता है। सारांश हुआ कि चोरी के बाद चोर कहलाया। तब प्रश्न हुआ कि चोरी करने जब जा रहा था (चोरी अभी हुई नहीं) तो कौन चोरी करने जा रहा था ? भला आदमी चोरी करने जा रहा था क्या ? वस्तुतः बात यह है कि प्रथम वह मनसे चोर बनता है। कहाँ से जाना, कैसे जाना, कहाँ से सेंध मारना, कैसे माल उठाना आदि सभी वह पहले ही निश्चय कर लेता है। प्रथम चौर्य ज्ञान होता है। बाद इच्छा होती है। वही फिर क्रियारूप बनता है। ज्ञान ही क्रिया रूपेण परिणत होता है—

क्रिया नाम परिस्पन्दपरिणामस्वरूपिणी।
स्पन्दमाने बहिर्ज्ञाने तदङ्कुरवदुद्भवेत् ॥

ज्ञान बाहर की ओर स्पन्दित होने लगता है तो वही क्रिया है। वृत्त्यात्मक ज्ञान अन्तःकरण में होता है। वही शरीर में क्रिया रूपेण परिणत होने पर प्रत्यक्ष क्रियात्मना दीखता है। ज्ञान बीज है। क्रिया अङ्कुर है। जैसे वट बीज में वट वृक्ष निहित है। वैसे ज्ञान बीज में क्रियाङ्कुर रहता है। अन्तःस्थित ज्ञान ही बाहर क्रियारूप में आता है। यों कहिये—अन्दर से वह पहले ही से चोर बना। बाह्य दृष्टि से तो चौर्यक्रियोत्तर बना। यह केवल चोरी की ही बात नहीं। हनन दानादि समस्त क्रियाओ में यही बात है। ज्ञान-इच्छा-कृति ये तीनों लिङ्ग शरीर में हैं। कृति ही स्थूलाकार होने पर क्रियारूप होती है। एक कारीगर पहले मनमें नकशा बनाता है, फिर कागज पर उतारता है, फिर क्रियारूप से बाहर मकानादि बनाता है। एक साड़ी डिजाइन बनाने वाला हमारा परिचित था। उसने कई डिजाइन दिखाया। उसने बताया यह

अगले साल के लिये है। हमने पूछा ऐसा क्यों ? उसने कहा, डिजाइन हर साल बदलना पड़ता है। हम लोग उसे पहले मनमें तैयार करते हैं, फिर कागज पर, फिर साड़ी पर उसे उतारते हैं। वैसे ही यहाँ भी कर्त्तृत्व पहले ज्ञान पर, फिर इच्छा पर, फिर कृति पर वही बाह्य क्रिया रूपेण प्रकट होता है। इसलिये यह बात निश्चित होती है कि कर्ता लिङ्ग शरीर है। भोक्ता भी लिङ्ग शरीर ही है। बेहोश होने के बाद शरीर का चीर डालते हैं तो भी दुःख मालूम नहीं पड़ता।

शरीरस्य न चैतन्यं मृतेषु व्यभिचारतः।
तथात्वं चेदिन्द्रियाणामुपघाते कथं स्मृतिः॥

शरीर में चैतन्य भी नहीं, कर्त्तृत्वादि भी नहीं। मरणोत्तर ये कुछ भी नहीं दिखाई पड़ते। इन्द्रियादि की भी वही बात है। अन्ततः कर्त्ता भोक्ता लिङ्ग शरीर ही सिद्ध होता है।

हनन क्रिया का फलभूत स्थूल प्राण संयोग वियोग लिङ्ग शरीर में होता है। तथा सुखादि रूप फल तो लिङ्ग शरीर में है ही। आत्मा सबका प्रकाशक एवं प्रेरक मात्र है। वह कर्त्ता भी नहीं और भोक्ता भी नहीं।

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोदयः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारो न प्रवर्त्तते॥

ऐसा गौडपादाचार्य का वचन है। हेतु से कर्तृत्व और फल से भोक्तृत्व विवक्षित है। जब तक मैं कर्त्ता हूँ, भोक्ता हूँ, ऐसा अभिमान रहता है तभी तक कर्तृत्व और भोक्तृत्व का उदय होता है। अभिमान के समाप्त होते ही संसार समाप्त होता है। संसार क्यों समाप्त होगा ? केवल हेतु फल उदय समाप्त होगा। ठीक है। यही तो संसार है। कर्तृत्व भोक्तृत्व ही संसार है। अतः इस मन्त्र में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का ही प्रतिषेध किया जा रहा है।

वेत्ति का अर्थ है जानना और मन्यते का अर्थ है मानना। बहुत से लोग जानते हैं, मानते नहीं। बहुत से मानते हैं, जानते नहीं। जैसे श्रीकृष्ण को बहुत से लोग भागवत पुराणादि के द्वारा जानते हैं, पर नास्तिक हो तो मानते नहीं। बहुत से अज्ञानी भगवान को मानते हैं किन्तु भगवान के विषय में कुछ जानते नहीं। अतः जानना और मानना अलग है। वेत्ति यह भ्रमात्मक जानना है। मन्यते यह अभिमानात्मक मानना है। यद्यपि हन्तारं वेत्ति भोक्तारं मन्यते ऐसा एक एक ही कहा है, तथापि दोनों जगह दोनों समझ लेना चाहिये। हन्तारं वेत्ति च मन्यते च हतं वेत्ति च मन्यते च। क्योंकि दोनों संसार के प्रयोजक हैं।

उभौ तौ न विजानीतः। पूर्वार्ध में संसार का स्वरूप बताया। यावद्धेतुफलावेशः। आवेश क्या? 'वेत्ति च मन्यते च'—जानना और मानना। यही पूर्वार्ध में कहा। उसका फल अपने आप समझ लेना चाहिये। वह क्या? "तावद्धेतुफलोदयः" कर्त्तृत्व भोक्तृत्व की आध्यासिक उत्पत्ति। इस हेतु फलों के आवेश और उदय में बीज तृतीय पाद में बताया जा रहा है। उभौ तौ न विजानीतः। उभौ का यहाँ द्वित्व अर्थ नहीं है। दोनों को समझने वाले व्यक्ति में तात्पर्य है। कर्त्तृ भोक्तृ आवेश वाला नहीं जानता। दोनों ज्ञानहीन हैं अर्थात अज्ञानी हैं। "यह सूखता जा रहा है, यह बीमार है" ऐसा कोई कहे तो क्या अर्थ निकलता? सूखने में बिमारी कारण है। यहाँ बदबू आ रही है, कोई चीज सड़ी है। क्या अर्थ है? सड़न बदबू का कारण है। आत्मा को कर्त्ता भोक्ता मानने वाला अज्ञानी है। क्या अर्थ है? अज्ञान कर्त्ता भोक्ता भाव का कारण है। अर्थात् कर्त्तृ भोक्तृरूप संसार का कारण अज्ञान है। न विजानीतः यहाँ 'ज्ञा' धातु के साथ 'न' के जुड़ने से ज्ञानाभाव अर्थ नहीं, अज्ञान अर्थ है। ज्ञानाभाव में और अज्ञान में क्या फरक? फरक यही है कि ज्ञानाभाव पत्थर लकड़ी आदि में होता है, किन्तु वहाँ अज्ञान

नहीं होता। कोई नहीं कहेगा—पत्थर अज्ञानी है। चेतन ही अज्ञानी होता है। अमुक मनुष्य अज्ञानी, पशु अज्ञानी आदि कहा जाता है। पत्थर अज्ञानी है, लकड़ी अज्ञानी है, ऐसा नहीं कहा जाता है। पत्थर में अज्ञान है, लकड़ी में अज्ञान है, ऐसा भी नहीं कहा जाता। 'प्रस्तरादिषु ज्ञानं नास्ति' बोल सकते हैं। 'प्रस्तरादिषु अज्ञानमस्ति' ऐसा नहीं होता। यह अज्ञान अच्छादक भावपदार्थ है, अभावात्मक नहीं है। आगे भगवान स्वयमेव कहेंगे—**"अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्"** अज्ञान से ज्ञान आवृत हुआ। अभाव से भाव आवृत नहीं होता। अतः अज्ञान भाव पदार्थ है। यह आगे विस्तार से कहेंगे। यहाँ पर न विजानीतः का अज्ञान अर्थ है। प्रश्न होगा यहाँ पर ज्ञानाभाव अर्थ करने में क्या हर्जा है ? यहाँ पर "उभावज्ञानिनौ तौ च" ऐसा सीधा अज्ञान शब्द नहीं आया है। उत्तर है—'य एनं वेत्ति हन्तारं' में 'वेत्ति' पहले बताया। वेत्ति का अर्थ बताया—जानाति—जानता है। जानता है तो फिर न जानता है कैसे बोल रहे हैं ? एक भी घट है तो घट नहीं है, ऐसा नहीं कहा जाता है। जब 'वेत्ति' बताया तो 'न विजानीतः' कैसे ? आखिर कुछ तो जानते हैं। वे दोनों तत्त्व को नहीं जानते ऐसा अर्थ करें तो क्या हर्जा ? हर्जा यह है कि यहाँ तत्त्व पद है नहीं, ऊपर से अध्याहार करना पड़ेगा। एक ने कहा—महाराज ! तत्त्वपद न हो तो भी ऐसे स्थलों में ऐसा अर्थ करना पड़ता है। जैसे—हीरे को कोई पत्थर समझता है तो वह नहीं समझता है। यहाँ अर्थ है कि, वह तत्त्व नहीं समझता। वेदान्ती का उत्तर है, वहाँ भी अज्ञान ही अर्थ है। अज्ञान का परिणाम है हीरा में प्रातिभासिक प्रस्तरभाव। फिर आत्मा में तत्त्व नाम का कोई धर्म है भी नहीं। यह विचार बहुत गहन है। अतः यहीं छोड़ देते हैं। सारांश इतना ही कि जो आत्मा को कर्त्ता और भोक्ता समझते हैं—हन्ता और हत समझते हैं, उस कर्तृत्व भोक्तृत्व विशिष्ट समझ के प्रति अज्ञान कारण है। 'शुक्ति में

रजत ज्ञान के प्रति अज्ञान कारण है' का मतलब केवल ज्ञान के ही प्रति नहीं, रजत के प्रति भी रजतविशिष्ट ज्ञान के प्रति भी अज्ञान कारण है। अर्थात् रजत के प्रति भी, और उसके ज्ञान के प्रति भी अज्ञान कारण है। अज्ञान की तमोवृत्ति से रजत हो गया और अज्ञान की सत्त्ववृत्ति से रजत ज्ञान हुआ। वैसे यहाँ पर 'उभौ तौ न विजानीतः'—इस अज्ञान की तमोवृत्ति से कर्तृत्व और भोक्तृत्व हुआ और अज्ञान की सत्त्ववृत्ति से "वेत्ति" यह कर्तृत्व भोक्तृत्व ज्ञान हुआ।

नायं हन्ति न हन्यते। क्यों "उभौ तौ न विजानीतः" कहा? दोनों अज्ञानी हैं। वह कैसे? इस लिये कि कर्तृत्व और भोक्तृत्व की पारमार्थिक सत्ता आत्मा में नहीं है। जो नहीं है उसको समझना अज्ञान का ही परिणाम है। क्योंकि वह मिथ्या होता है। शुक्ति में रजत नहीं है। अथ च उसे रजत समझा तो यह अज्ञान का ही परिणाम है। क्योंकि ऐसा समझने पर वह मिथ्याज्ञान ही होगा और मिथ्याज्ञान अज्ञान का ही परिणाम है। 'य एनं वेत्ति हन्तारं' का अर्थ है—आत्मा में हननकर्तृत्व जानना। 'नायं हन्ति' का अर्थ है—आत्मा में हननकर्तृत्व का अभाव। यही मिथ्या का लक्षण है। न हो और प्रतीत हो वही मिथ्या है। मिथ्या वस्तु को जन्म देने वाला अज्ञान ही है। यतः 'य एनं वेत्ति हन्तारं' अतः "न विजानीतः" ऐसा अन्वय करने पर—चूंकि :कर्तृत्व भोक्तृत्व मिथ्या है अतः उसे जानने वाला अज्ञानी है, ऐसा अर्थ निकलता है।

वेदान्त की भाषा में इसको अध्यारोप अपवाद न्याय कहते हैं। पूर्वार्ध में अध्यारोप बताया। अध्यारोप कहते हैं अविद्यमान अर्थ की प्रतीति करना या कराना। आत्मा में कर्त्ता भोक्तापना नहीं है। उसको कर्त्ता भोक्ता समझना यह अध्यारोप है। अध्यारोपित अर्थ का निषेध करना अपवाद है। शुक्ति में रजत का अध्यारोप

है—यह रजत है ऐसा जानना। अपवाद है—यह रजत नहीं है ऐसा निषेध करना। अध्यरोप और अपवाद का तात्पर्य निष्प्रपञ्च—तत्त्वबोधन माना गया है।—"**अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते**" सुषुप्ति काल में आत्मा को कोई कर्त्ता भोक्ता नहीं समझता तो क्या वह ज्ञानी हो गया ? क्या उतने से मोक्ष होगा ? नहीं। अज्ञान वहाँ है। उस अज्ञान की निवृत्ति अध्यारोप और अपवाद से होगी। अपने आपको थोड़ी देर के लिये आप कर्त्ता भोक्ता मानते हो या न हो, लेकिन कभी तो आप मानते हैं, उसी को लेकर याद दिलाया 'य एनं वेत्ति हन्तारं' इत्यादि। यह अध्यारोप किया। फिर उसका निषेध किया 'नायं हन्ति न हन्यते। तब अपने अज्ञान का वास्तविक पता चला। कर्त्तृत्व भोक्तृत्वात्मक संसार जनक यह अज्ञान है। आत्मा का वास्तविक स्वरूप कर्त्तृत्व भोक्तृत्वाभाव वाला है। इस अनुसन्धानसे, इस निदिध्यासन से जो स्वरूपावबोध होता है, उससे मूल अज्ञान की निवृत्ति होती है। अन्यथा मूल अज्ञान रह जाता है और उससे समय समय पर कर्त्तृत्व भोक्तृत्वादि रूप संसार फिर उठ खड़ा हो जाता है। इसी लिये गौड़पाद कारिका में कहा—"क्षीणं हेतुफलावेशे संसारो न प्रवर्त्तते" हेतुफलावेशे—कर्त्तृ भोक्तृ भावावेश कार्य है। यह कार्य क्षीण होगा तभी अज्ञान निवृत्त होगा। और तभी संसार की भी निवृति होगी। इसी लिये अध्यारोपण एवं अपवाद दोनों की आवश्यकता पड़ती है। जैसे अंदर फोड़ा हो गया है तो पहले दवाई लगाकर उसको बाहर निकालते हैं। पकाते हैं। फिर ओपरेशन कर उसको मिटाते हैं। फोड़े को पकाना और बाहर प्रकट करना अध्यारोप है। ओपरेशन कर निकालना अपवाद है। वैसे जो अपने को कर्त्ता भोक्ता न भी कहता हो तो कहलवाया। फिर उसका निषेध किया।

यह काठक मन्त्र वेदान्त का मूल मन्त्र है। अतः भगवान ने उस मंत्र को गीता के आरंभ में रखा। प्रथम शोक मोह निवृत्ति

के लिये 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' आदि बताया। क्योंकि आग लगी हो तो उसे प्रथम बुझाना है, मरहम पट्टी बाद में होगी। फिर "नासतो विद्यते भावः" से सत् असत् का विवेक किया। सत् है—'अविनाशि तु तत्'। असत् है—"अन्तवन्तः इमे"। सदसद् विवेक के बाद तत्त्वज्ञान निरूपण प्रारंभ किया "य एनं वेत्ति हन्तारं' इत्यादि से यहाँ अध्यारोप एवं अपवाद के साथ निष्प्रपञ्च ब्रह्म का निरूपण किया। इसी का विवरण "न जायते म्रियते वा" इत्यादि श्लोक में है। काठक में विवकोदय का काम उसी मन्त्र से लिया। अतः उसे पूर्व में पढ़ा ॥१९॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। २० ।।

[यह आत्मा न कभी उत्पन्न होता है या मरता ही है। यह उत्पन्न होकर अस्तित्व में नहीं आता और न आगे फिर से अभविता=अस्तित्व हीन ही होता है। यह अज नित्य शाश्वत एवं पुराण है। शरीर के मारे जाने पर भी स्वयं मरता या मारा जाता नहीं ।।२०।।]

कठोपनिषद् में नचिकेता का आत्म विषय प्रश्न आया है—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ।।

जो धर्म से सम्बन्धित नहीं, जो अधर्म से सम्बन्धित नहीं अर्थात् धर्म एवं अधर्म का हेतु-स्वरूप-फलात्मक नहीं तथा जो कार्य एवं कारण नहीं तथा जो भूत-वर्त्तमानादिकाल से परिच्छिन्न नहीं, ऐसे जिस तत्व को आप देखते हैं, उसे बताइये। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये प्रथम ओंकारालम्बन परमात्मा का स्वरूप बताकर फिर परमार्थ स्वरूप वर्णनार्थ वास्तविक उत्तर देते हुए यही मन्त्र यमराज बोले थे। जिसमें थोड़ा सा अन्तर यहाँ किया गया है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।

ऐसा वहाँ मन्त्र का स्वरूप है। वहाँ एक विपश्चित् पद अधिक है। उसका तात्पर्य व्याख्या के समय में समझ में आयेगा। इस मन्त्र में

मुख्य रूप से छः भाव विकारों का निषेध है। "जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते' विनश्यति" ऐसे छः भाव विकार महर्षि यास्क ने बताये हैं। उत्पत्ति, अस्तिता, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय, और विनाश ये छः सभी सांसारिक वस्तुओं में देखने में आते हैं।

(१) जायते। यह प्रथम भावविकार है। यह विकार किस प्रकार ? जो है उसमें विकार होता है। जैसे फल है तब उसमें सड़ना विकार होता है। जन्म से पहले था ही नहीं। तब जन्म विकार किस प्रकार ? पैदा होने के बाद शरीर में विकार हुआ। मन में विकार हुआ। महर्षि यास्क कहते हैं—जन्मना भी एक विकार ही है। बालक का जन्म हुआ तो लोग कहते हैं घर में बच्चा आया। कहाँ से आया ? विदेश से आया या स्वदेश में ही अन्यत्र नगर या गाँव से आया ? उत्तर है—माता के उदर से आया। माता के उदर में कहाँ से आया ? पिता के शरीर से। पिता के शरीर में कहाँ से आया ? अन्न से पिता के शरीर में आया। अन्न में कहाँ से आया ? बस आना ही आना है। तब उत्पन्न होने से पहले नहीं था, यह बात असत्य निकली। या यों कहिये उत्पत्ति नाम का कोई असत का भाव नहीं है। पहले कहा भी जा चुका है—'नासतो विद्यते भावः' इसलिये महर्षि पाणिनि ने धात्वर्थ निर्देश में 'जनी प्रादुर्भावे' बताया। प्रादुर्भाव का अर्थ है प्राकट्य। जन्म का अर्थ प्राकट्य है। जो पहले से विद्यमान है उसका प्राकट्य मात्र होता है। एक पत्थर चार फूट लम्बा, दो फुट चौड़ा और दो फुट गहरा है। उससे राम या कृष्ण आदि किसी की मूर्ति बनायी। मूर्ति पहले से पत्थर में थी या नहीं ? पहले नहीं थी। तो क्या बाहर से लाकर पत्थर में चिपकायी ? नहीं। पहले से ही उसमें थी। किन्तु व्यक्त नहीं थी। अर्थात् कुछ पत्थर के भाग ऐसे थे कि जिनसे मूर्ति नहीं दीख रही थी। उस भाग को छीणी से खोदकर निकाल दिया तो

मूर्ति प्रकट हो गयी। तब लोग कहने लगते हैं मूर्ति बना दी गयी। मूर्ति का बनना पत्थर का एक विकार है। पहले सीधा लम्बा चौड़ा पत्थर था। उस पर छीणी मारी तो जो विकार हुआ वही तो मूर्ति का होना है। मूर्ति पहले से विद्यमान थी परन्तु उसमें प्रादुर्भाव रूपी भाव विकार हुआ। इसी प्रकार अंकुरोत्पत्ति भी है। बीज में से अंकुर उत्पन्न होता है तो क्या बीज में अविद्यमान अंकुर उत्पन्न हुआ ? नहीं। अन्दर स्थित अंकुर फूट निकला। अंकुर तो क्या, पूरा वृक्ष बीज में प्रथम विद्यमान था। जमीन में डालने से केवल प्रगट हुआ। आप कहेंगे कि बीज में कैसे पेड़ है ? उसमें खाद और पानी चला जाता है उससे वृक्ष बना। पानी और खाद से इतना बड़ा पेड़ तैयार हुआ। बीज ती एक तोला वजन का भी नहीं है, वृक्ष सैकड़ों मन वजन का होता है ती उसमें मिट्टी पानी ही तो है। ठीक कहते हैं। परन्तु बात विचारणीय है। एक तोला बीज सौ मन वृक्ष में तो नहीं के बराबर है। तो बरगत, पीपल, आम, कटहल आदि के बीजों में वे वे पेड़ ही क्यों होते हैं ? मिट्टी पानी से सभी बनते हैं तो आम के बीज से पीपल क्यों नहीं ? सौ मन पानी में एक तोला नमक डालो या एक तोला चीनी डालो तो क्या फरक पड़ता है। क्या सौ मन मिट्टी पानी में एक आम का बीज पीसकर डाला जाय तो आम का पेड़ हो जायेगा ? कहना ही पड़ेगा कि मिट्टी पानी आदि सब सहकारी हैं। किन्तु तत्तत् वृक्षशक्ति तत्तत् बीजों में ही है। वृक्ष शक्ति बीज में है इसका अर्थ है—वृक्ष का सूक्ष्म रूप बीज में बैठा है। मिट्टी पानी आदि के सहकार से वह प्रकट होता है। सूक्ष्म वृक्ष स्थूल वृक्ष रूप में परिणत हो जाता है। यही मनुष्यादि शरीर की भी बात है। बीज में मनुष्यादि शरीर पहले से विद्यमान था। माता के उदर में वह अंकुर के समान किंचित् प्रकट हुआ। और जन्मने का अर्थ है पूरा प्रकट होना। अतः पैदा होना यह प्रथम भावविकार है।

(२) अस्ति। यह दूसरा भावविकार है। "है" ऐसा हम कहते हैं। यह भी एक भावविकार ही है। पैदा होने के बाद 'है' कहते हैं। लड़का पैदा हुआ तब कहते हैं 'लड़का है'। पैदा होने में और अस्तित्ववान होने में क्या फरक है? पैदा होना क्षण भर की बात है। किन्तु अस्तित्व जिन्दगी भर की बात है। जिन्दगी भर 'मनुष्य पैदा हो रहा' ऐसा नहीं बोलते। जिन्दगी भर 'मनुष्य है' ऐसा बोलते हैं। अतः पैदा होना अलग है, अस्तित्ववान् होना अलग बात है। फिर भी खास अन्तर तो नहीं देखने में आ रहा है। प्रथम क्षण सम्बन्ध जन्म है। और पूरे जीवन भर के समय से सम्बन्ध अस्तित्व है। तब अस्ति का ही एकदेश उत्पत्ति है। नहीं। प्रथम क्षण सम्बन्ध उत्पत्ति है। सत्ता सम्बन्ध अस्ति है। ज्योतिष में एक क्षण का भी फरक पड़ा तो जन्म का फलादेश गलत हो जाता है। क्योंकि योग करण आदि बदल सकते हैं। अतः पहले क्षण का सम्बन्ध ही जन्म है। इसको वेदान्त के अनुरूप समझा जाय तो ही स्पष्टीकरण होगा। 'नासतो विद्यते भावः' यह पहले आ गया है। तदनुसार सारा जगत् ही असत् ही है। वह असत् कभी प्रकट और कभी अप्रकट होता है। असत् का अर्थ शशविषाण नहीं, किन्तु सद्भिन्न अर्थ हैं। वह असत् उत्पत्ति से पहले अप्रकट था। उत्पत्ति से प्रकट हुआ। प्रकट होते ही उसका सत्तादात्म्य आ जाता है। "सन् घटः" "घटोस्ति" इत्यादि बोलने लगते हैं। "घट" से यहाँ 'है' का तादात्म्य घट में आ गया है। वह तादात्म्य घटोत्पत्ति के बाद में ही आ सकता है। क्योंकि दो सम्बन्धी हो तभी सम्बन्ध होगा। वह सत्तादात्म्य घट का दूसरा विकार है। यहाँ जो पौर्वापर्य दिखाया है वह विशेषता के कारण है। क्योंकि वृद्धिकाल में विपरिणाम और विपरिणाम काल में वृद्धि भी देखने में आती है। अतः जन्मकाल में ही अस्ति विकार माना जाय तो भी विकार स्वरूपतः पृथक् ही है। प्रथम अव्यक्त था। वह व्यक्त हो गया और व्यक्तत्वेन 'अस्ति' भी हो गया।

(३) **वर्धते।** बढ़ना तीसरा भावविकार है। बीज में से अंकुर फूटा तो अंकुर है कहने लगे। फिर वह धीरे-धीरे बढ़ने लगा। और बढ़ता-बढ़ता वृक्ष रूप हो जाता है। नये-नये अवयवों के मिलने से वृद्धि होती है। अंकुर में पत्ते आने लगे, डालियाँ टहनियाँ आने लगीं, इस प्रकार अवयव जुड़ते गये—जुड़ते गये तो वृद्धि हो गयी। हम सभी पहले बच्चे थे। अब बड़े हो गये। शरीर कैसे बढ़ा ? वेदान्त वाले कहते हैं कि हम सब जितने बैठे हैं सब रोटी बैठी है। रोटी खायी। उसका परिणाम शरीर हो गया। हम जिसको मैं-मैं कहते हैं, वह यह रोटी ही तो है। थाली में रोटी कहते हैं। शरीर में आने पर मैं कहने लगते हैं। यही फरक है। मंत्रों में बताया है—

"अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
अन्नेन जातानि जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ॥"

अन्न से पैदा होकर अन्न से ही यह बढ़ता है। शरीर में और कोई सोना चाँदी नहीं। पूरा शरीर अन्नमय है। यह मैं नहीं। आत्मा शरीर नहीं। यह बढ़ने वाला है, घटने वाला है, यह बात समझाने जा रहे हैं। तीसरा भावविकार वृद्धि है।

(४) **विपरिणमते।** चौथा भावविकार विपरिणाम है। जब हम बालक थे तब शरीर छोटा था बाद में हम बड़े होने लगे। माता पिता कहते हैं कि बच्चे को हमने पाला-पोसा, बड़ा किया। बड़ा किया तो कैसे किया ? जैसे लोहार लोहे को पीट पीटकर लंबा करता है वैसे बच्चे को खींच खींचकर बड़ा किया क्या ? पाला-पोसा ठीक है। खिलाया-पिलाया भी ठीक है। लेकिन बड़ा किया वह गलत है। बड़ा तो अपने आप हो गया। अगर आप में बड़ा करने की ताकत है तो बीस पचीस साल के बाद थोड़ा बड़ा करके दिखाईये। अठारह उन्नीस साल में ही प्रायः जितना लंबा होना है, हो जाता है। उसको खिलाना-पिलाना जारी रखिये,

पालो पोसो। सब ठीक है। परन्तु फिर वृद्धि नहीं होती। फिर क्या होता है ? फिर विपरिणाम होता है। बाईस वर्ष में बालिग हो जाता है। उसके बाद जो विकार होता है उसे विपरिणाम कहते हैं। अर्थात् वृद्धि एवं अपक्षय का मध्यसंघर्ष। बीस से तीस तक वृद्धि पक्ष मजबूत रहता है। तीस से चालीस तक अपक्षय जोर जमाता है। काश्मीर में हमने बड़े लंबे लंबे पेड़ों को देखा। वहाँ के लोग उसको चिनार का पेड़ कहते हैं। ऐसा लगेगा कि कुछ दिन बाद तो ये आसमान छूने लगेंगे। किन्तु उनकी भी बढ़ने की अमुक सीमा होती है। उसके बाद फिर आगे नहीं बढ़ते। फिर विपरिणाम ही चलता है। जैसे सूर्य भगवान् दक्षिणायन की ओर चल पड़े तो बीस बाईस दिसंबर तक जहाँ तक पहुँचना है पहुँच जाते हैं। फिर जन्युअरी पंद्रह बीस तारीख से उत्तर की ओर चल पड़ते हैं। बीच में पौराणिक भाषा में रथ चक्र घूमना कहते हैं। यही विपरिणाम है। तब न उत्तर की ओर न दक्षिण की ओर गति होती है। वैसे शरीरादि भी न ऊपर ओर न नीचे ऐसी स्थिति में हो तो विपरिणाम कहते हैं।

(५) **अपक्षीयते**। पांचवाँ भावविकार अपक्षय है। "वर्धते" में अवयवों का जुड़ना अधिक रहता है। अपक्षीयते में अवयवों का बिछुड़ना अधिक रहता है। केले के पेड़ पर शुरूआत में छोटे पत्ते रहते हैं। फिर बड़े बड़े पत्ते आने लगते हैं, बड़े होने की एक सीमा पर आकर फिर बड़े ही बड़े पत्ते निकलते रहते हैं। अमुक संख्या में बड़े पत्तों के आने के बाद फिर धीरे-धीरे छोटे होने लगते हैं। उसी प्रकार यह शरीर भी आखिर में पुनः अल्पशक्ति वाला होने लगता है। यह अपक्षय है। बड़े बड़े पहलवानों को देखा है। प्रथम पत्थर के समान गठीला शरीर बनता है। परंतु बुढ़ापे में मांस लटकने लगते हैं। यह अपक्षय है **"अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं"**

यह अपक्षयावस्था का वर्णन है। शक्ति क्षय हुआ, शरीर शिथिल हुआ। इसी प्रकार सारा संसार क्षयशील है।

(६) **विनश्यति।** विनाश अन्तिम परिणाम है। अन्तिम विकार है। यहाँ भी वैसा ही प्रश्न होगा जैसे उत्पत्ति में किया। विकार तभी होगा जब विकारी हो। फल खतम हो गया तो उसमें विकार क्या। फल रहते हुए सड़ जाय तो वह विकार माना जा सकता है। फल ही न रहा तो विकार किसमें ? शरीर ही नहीं रहा तो नाशरूपी विकार किसमें होगा ? तब नाश को विकार कैसे कहेंगे ? उत्तर यही है कि वेदान्त मत में नाश होने वाली वस्तु सर्वथा असत् नहीं होती। उसका रूपान्तर मात्र होता है। घड़ा फूटा तो उसका रूपान्तर टुकड़े रहे। शरीर जला तो रूपान्तर है राख। पहले हम कह आये हैं कि एक रूप का अदर्शन ही नाश है। रूपान्तर होना विकार तो है ही। इस प्रकार समस्त संसार में छः भाव विकार देखने में आते हैं। उसका अनुसंधान करो।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥

ऐसा नचिकेता का वचन है। जैसे गेहूँ आदि के पौधे उत्पन्न होते हैं, जगत में अस्तित्व प्राप्त करते हैं, बढ़ते हैं, पकते हैं, सूखते हैं और काटे जाते हैं वैसे मानव शरीर भी हं। पूर्व की ओर भी देखो, भावी की ओर भी देखो। पौधा नष्ट होता है फिर उत्पन्न भी होता है। वैसे शरीर नष्ट होता है फिर रूपान्तर से उत्पन्न भी होता है। इन छः भाव विकारों से पूरा संसार जकड़ा हुआ है। इनसे किसी को भी छुटकारा नहीं है। मनुष्य जन्मता है। संसार में अस्तित्व को प्राप्त होता है, बढ़ता है, पकता है, क्षीण होता है। अन्त में नष्ट होता है—मर जाता है। यह महान दुःख रूप है। जन्म-जरामरण दुःख से सभी प्राणी पीड़ित हैं। बीच की तीन अवस्था

अस्ति वर्धते विपरिणमते उतनी दुःखदायी प्रतीत नहीं होती। फिर भी वे भी दुःखदायी हैं ही। इन सबसे छूटने का क्या तरीका? एक ही तरीका है कि अपने स्वरूप को पहचानो। इसलिये श्रुति कहती है—न जायते म्रियते वा विपश्चित्। विपश्चित् माने विद्वान् जनमता मरता नहीं।

इस मन्त्र में विपश्चित् से आत्मा कहा है या शरीरादि? आत्मा को लेकर कहते हैं तो वह विद्वान् हो या न हो, मरने वाला है नहीं। शरीर को लेकर कहते हैं तो भी वह विद्वान् हो या न हो, मरेगा ही। तब विपश्चित् विशेषण क्यों है? उत्तर यह है कि शरीर और आत्मा का तादात्म्याध्यास हो गया है। शरीर गत जन्मादि विकार आत्मा में प्रतीत हो रहे हैं। जिससे मैं जन्मा, मैं बढ़ रहा हूँ, मैं बूढ़ा हो गया, मैं मरने वाला हूँ ऐसी प्रतीतियाँ होती हैं। इन जन्मादि विकारों का अध्यास तभी मिटेगा जब शरीराध्यास छूटेगा। अतः विपश्चित् विशेषण है। गीता में आत्मा का स्वरूप वर्णन मात्र है, अतः विपश्चित् नहीं कहा। उपनिषत् में स्वरूप वर्णन करते हुए प्रतीयमान जन्मादि की निवृत्ति का भी उपाय बताया गया। उपनिषत् में प्रथम मन्त्र होने से निवृत्त्युपाय कथन आवश्यक हुआ। गीता में 'य एवं वेत्ति हन्तारं' को पहले कह दिया। अतः निवृत्त्युपाय कथन उसी में गतार्थ होने से पुनः नहीं कहा। उपनिषद् में यह साधना बतायी जा रही है कि निरन्तर विपश्चित् बने रहो। मैं अजन्मा हूँ, अजर अमर हूँ ऐसा ज्ञान या अनुसन्धान चालू रखो। क्या-क्या अनुसंधान योग्य है यह बात श्लोकार्थ के साथ देखो।

न जायते म्रियते वा कदाचित्। कभी भी यह आत्मा जनमने वाला या मरने वाला नहीं। कुछ लोग मानते हैं—सृष्टि के आदि में यह उत्पन्न होता है। प्रलय में मरता है। वर्त्तमान में तो शरीर

भेद ही है, जन्म मरण नहीं। परन्तु ऐसा भी नहीं समझना। सृष्टि काल में भी मैं उत्पन्न नहीं हुआ। प्रलयकाल में नष्ट होने वाला भी नहीं हूँ। यह आत्मा अनादि है और अनन्त भी है। भगवान अर्जुन को कहते हैं, हे अर्जुन! भीष्मादि का आत्मा कभी उत्पन्न नहीं हुआ। कभी नष्ट भी नहीं होगा। 'न त्वेवाहं जातु नासं न चैव न भविष्यामः' ऐसा जो मैंने पहले कहा उसमें यही श्रुति वचन प्रमाण है। अपने आपका जन्म और मरण कोई नहीं देख सकता। आत्मा को दूसरा नहीं देख सकता। अतः आत्मा का जन्म मरण प्रमाण सिद्ध नहीं है। यह पहले समझा। परन्तु आत्मा का अज अमर भाव भी तो प्रमाण सिद्ध नहीं है। अनादि काल को किसने देखा फिर उसमें अपना अस्तित्व देखना और भी अशक्य है। अनन्त काल तो अभी आया ही नहीं, उसमें आत्मा की स्थिति कौन देख सकेगा? अतः आत्मा का जन्म मरण असिद्ध है तो अजन्म अमरण भी तो असिद्ध है। इस पर कहा—इसमें श्रुति ही प्रमाण है। अपौरुषेय श्रुति कह रही है आत्मा जन्म मरण रहित है—न जायते म्रियते वा।

नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। यह आत्मा हो करके फिर होने वाला भी नहीं है ऐसी व्याख्या गीताप्रेस की पुस्तकों में एवं अन्य पुस्तकों में देखने में आती है। परन्तु मूल श्लोक में दो नकार है, अतः यहाँ दो वाक्य समझना ही उचित है। भविता अभविता ऐसे दो पदच्छेद करना चाहिये। नायं भूत्वा भविता, न वा भूयः अभविता। यह उत्पन्न होकर अस्तित्व प्राप्त नहीं करता किन्तु अनादिकाल से ही अस्तित्व को प्राप्त हुआ है। तथा बाद में यह पुनः अनस्तित्व को प्राप्त नहीं होगा। यद्यपि दो पदच्छेद कर शब्द-पूर्त्ति करने का नियम नहीं है। तथापि अभविताके प्रतियोगी भविता का अध्याहार समझना चाहिये।

नायं भूत्वा। यह आत्मा उत्पन्न होकर आया, अस्तित्व में आया ऐसे कुछ लोगों की मान्यता है। मुसलमानों की यह मान्यता है। खुदा ने सबको पैदा किया। किन्तु वे आत्मा का नाश आगे नहीं मानते। अतः गीता में भी दो मतों का पृथक निराकरण है। यद्यपि यहाँ मुसलमानों के मत का निर्देश नहीं है। अज्ञानी लोग ऐसे बहुत से रहे जो ऐसा मानते थे। उनका मत निराकरण मात्र है। उत्पन्न होकर यदि आये हों तो दुबारा उत्पन्न होकर नहीं आ सकते। न्यायशास्त्र वाले यही मानते हैं कि जो एक बार उत्पन्न हुआ उसकी पुनः उत्पत्ति नहीं होती। घड़ा फूटने पर जोड़ो तो वह पहले वाला असली घड़ा नहीं होगा। वह तो जोड़ा हुआ घड़ा अलग ही है। वैसे भीष्मादि यदि उत्पन्न होकर अस्तित्व में आये हों तो फिर कभी उत्पन्न नहीं होंगे, फिर इनका दर्शन कभी भी न होगा। यह अर्जुन का शोक है।

अभविता वा न भूयः। फिर बाद में यह अस्तित्वहीन भी नहीं होगा। विज्ञानवादियों का कहना है कि विज्ञान की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। परन्तु अन्त में यह समाप्त होगी। यही निर्वाण है। निर्वाण बुझने को कहते हैं। दीपक बुझ जाता है तो 'निर्वाणो दीपः' ऐसा कहते हैं। ज्ञानदीप ज्वाला जल रही है। यह बुझ जाती है तो निर्वाण होता है। उसका भी यहाँ निराकरण है। यह आत्मा दीपक के समान बुझता भी नहीं है। निर्वाण का बुझना अर्थ भी हो परन्तु मोक्ष अर्थ भी इसका है। उसकी व्याख्या 'ब्रह्म-निर्वाणमृच्छति' आदि स्थानों में हम करेंगे।

अजः। नायं भूत्वा भविता अतः न जायते अतः अजः ऐसा यहाँ हेतुहेतुमद्भावेन अन्वय है। जिसका अस्तित्व जन्मपूर्वक होता है उसका अस्तित्व देखने पर वह जन्म वाला है ऐसा अनुमान होता है। तब वह अज नहीं होगा। आत्मा का अस्तित्व जन्मपूर्वक नहीं है। क्योंकि यह स्वयं अस्तित्व रूप ही है। घट का अस्तित्व

घट जन्म पूर्वक है। किन्तु अस्तित्व का अस्तित्व अस्तित्वजन्म पूर्वक कहो तो अनवस्था दोष आ जायेगा। अतः अस्तित्व स्वतः सिद्ध है, जन्मपूर्वक नहीं। अतएव न जायते। 'है' का अस्तित्व कब हुआ ? 'है' का जन्म होने पर ? 'है' का जन्म होने पर 'है' है ऐसा कहने लगें क्या ? तब वह दूसरा 'है' कब अस्तित्व में आया ? यह अनवस्था दोष है। अतः अस्तित्व स्वयं सिद्ध है। नहीं जनमता इसलिये वह अज हुआ। इससे 'जायते' इस प्रथम विकार का प्रतिषेध हुआ। नायं भूत्वा भविता से ही 'अस्ति' विकार का भी प्रतिषेध है। उत्पत्युत्तर अस्तित्व विकार है। स्वयं अस्तित्व नित्य होने से विकार नहीं है। उत्पत्ति के बाद का 'अस्ति' असल में सत्तादात्म्य है। सत् में सत्तादात्म्य संभव नहीं है। अतः अस्तित्व विकार सत् में नहीं है।

नित्यः। न भूयः अभविता अतः न म्रियते अतः नित्यः, ऐसा यहाँ भी जोड़ना चाहिये। बाद में यह अस्तित्वहीन नहीं होता। जो अस्तित्वहीन हो वही मरता है। जो मरता है वह अनित्य होता है। जो सत्तादात्म्य से सत् बना वह कभी भी सत्तादात्म्य के टूटने पर अभविता बनेगा। जैसे शक्कर के संयोग से जल मीठा हुआ है तो कभी कालान्तर में फीका भी होगा। सूर्य प्रकाश तादात्म्य से घट प्रकाश हुआ तो उस तादात्म्य के हटने पर घट अन्धकारमय भी होता है। परन्तु स्वयं सत् सत्तादात्म्य की अपेक्षा नहीं रख सकता। अतएव अभविता नहीं हो सकता। तब नित्य भी अवश्यं-भावी है। इससे 'विनश्यति' यह छठा विकार का निषेध हुआ। आदि और अन्त के निषेध से मध्य विकारों का भी निषेध हो जाता है। फिर भी शब्दतः भी आगे निषेध किया।

शाश्वतः। आत्मा नित्य है तो क्या यह जन्ममरण वाला प्रवाह-नित्य तो नहीं है ? संसार भी तो प्रवाहनित्य है। तब आत्मा में क्या विशेषता ? इस पर कहा—शाश्वतः। **"शाश्वतस्तु ध्रुवः"** ऐसा

कोश में कहा गया है। ध्रुव का अर्थ है—वृद्धिक्षयादिपरिणाम रहित। जो बढ़ता घटता है उसको ध्रुव या शाश्वत नहीं कह सकते। संसार बढ़ता घटता है अतः शाश्वत नहीं है। केवल शाश्वत ही कहो 'अजो नित्यः' क्यों कहना ? इसलिये कि ध्रुव का भी जन्म हुआ ऐसा पुराणों में लिखा है। शश्वत् भवः पुनः पुनः होने वाला ऐसा भी अर्थ है। इसलिये अजो नित्यः भी कहा। शाश्वत माने स्थिर। अर्थात् वृद्धि एवं विपरिणाम से रहित। दो भावविकारों का एक साथ निषेध है।

पुराणः। यह विशेषण अपक्षयवारण के लिये है। यहाँ भाष्य में व्याख्या लिखी है—पुरापि नव एव। पुरा + नव इस विग्रह में व का लोप हुआ, णत्व हुआ तब पुराण शब्द बना। इसका क्या अर्थ ? पहले नया था। पहले नये तो सभी होते हैं। हम सभी पहले नये थे और अब पुराने हो गये। बोले—'पुरापि' ऐसा अपि पद जोड़ दिया है। पहले भी नया था अर्थात् अभी भी नया है। लेकिन पहले भी कहने की जरूरत क्या ? पहले तो नया होता ही है। और यह अपिकार ऊपर से जोड़ा गया है। इसका समाधान यह है कि पहले नया ऐसा अर्थ यहाँ नहीं है। 'पुरा पुरातनः सन्नपि नवः' ऐसा विग्रह है। पुरा होने पर भी, पुरातन होने पर भी नया ही है ऐसा अर्थ है। अनादिकाल से चला आ रहा है किन्तु आज तक यह आत्मा नया ही है। अनादिकाल से आज तक जो नया रहा वह अब कैसे जीर्ण होगा ? क्योंकि पुरापि नवः यह नियम लाखों वर्ष बाद भी लागू रहेगा। 'प्राचीन होने पर भी ताजा' यह लक्षण है। जब जीर्ण होगा तब यह लक्षण नहीं रहेगा। तब लक्षण ही किस प्रकार होगा ? लक्षण उसको कहते हैं, जब तक लक्ष्य हो तब तक जो रहे। 'मनुष्य नौजवान होता है' ऐसा कोई लक्षण नहीं है। क्योंकि बूढ़ा होने पर नौजवानी नहीं रहती। 'मनुष्य दो पाद वाला होता है' यह लक्षण ठीक है। जब तक जहाँ भी मनुष्य हो

वह द्विपाद ही होगा। वैसे कालान्तर में यदि आत्मा जीर्ण हो जाय तो पुरानव लक्षण नहीं रहेगा, तब पुराजीर्ण कहना पड़ेगा। पुराणः इस श्रौत लक्षण से यह सिद्ध होता है कि आत्मा कभी भी जीर्ण नहीं होता अर्थात् आत्मा का अपक्षय कभी भी नहीं होता।

न हन्यते हन्यमाने शरीरे। शरीर भले कटे मरे, पर, आत्मा कटता मरता नहीं। यह सूर्य के समान है। सूर्य का प्रकाश एक गुब्बारे पर पड़ा। गुब्बारा हवा भरने से पहले छोटा था। हवा भरने पर बड़ा हुआ। तो क्या प्रकाश भी बड़ा हुआ? नहीं। गुब्बारा फटा तो क्या उस फटे गुब्बारे का प्रकाशक सूर्यप्रकाश भी फट गया? नहीं। वैसे शरीर के मरने पर भी आत्मा नहीं मरता। छहों भाव विकारों का इसी प्रकार आत्मा में अभाव समझो। अनुसन्धान करो। शरीर जनमता है किन्तु आत्मा नहीं जनमता। शरीर मरता है, आत्मा नहीं मरता। शरीर घटता बढ़ता है किन्तु आत्मा नहीं। शरीर जीर्ण होता है, आत्मा नहीं। आत्मा शरीरानुविधायी नहीं। किन्तु सूर्य जैसे प्रकाशयिता है, वैसे आत्मा द्रष्टा है। सर्वदोष वर्जित है ॥ २० ॥



वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥

[जो पुरुष इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, अज एवं अव्यय समझता है, हे पार्थ, वह कैसे किसको मरवायेगा और कैसे किसको मारेगा ॥ २१ ॥]

कठोपनिषद् के दो मन्त्रों को भगवान ने प्रमाणार्थ प्रस्तुत किया। प्रमाण किस बात के लिये ? एक तो बताया था आत्मा नित्य है, उसे प्रमाणित करना था। दूसरा यह बताया था—तस्माद् युध्यस्व। परन्तु गुरुजनों के साथ युद्ध करना अनुचित है। उस पर बताया कि आत्मा मरता या मारा जाता हो तब तो यह प्रश्न उठता है। या मरने का कोई प्रभाव पड़ता हो। किंतु इनमें एक भी बात नहीं है। इसको प्रमाणित करने के लिये "नायं हन्ति न हन्यते" यह श्रुति प्रमाण बताया। इस श्रुति प्रमाण से प्रकृतोपयोगी जो अर्थ सिद्ध करना है जो पूर्व श्लोकों में किंचित् स्पष्ट तथा अस्पष्ट रूप से प्रतिपादित हुआ है, उसे स्पष्ट करते हुए भगवान अर्जुन को यह कह रहे हैं—वेदा-विनाशिनं इत्यादि। अर्थात् पूर्व में आत्म नित्यत्व तथा कर्म संन्यास बताने के लिये अशोच्यानन्वशोचः से लेकर तस्माद्युध्यस्व भारत तक का प्रकरण है। उसमें प्रमाण काठक मन्त्र है। यही संपूर्ण गीता का भी रहस्यार्थ है। उस प्रमाणित अर्थ को स्पष्टतया इस श्लोक में भगवान कह रहे हैं।

वेद। वेद का अर्थ है जानना। किन्तु यहाँ केवल जानना अर्थ मात्र नहीं समझना। किन्तु अपरोक्ष साक्षात्कार पर्यन्त अर्थ समझना

चाहिये। क्योंकि केवल वाचिक ज्ञान से "कं घातयति हन्ति कं" यह चतुर्थ पादोक्त अर्थ सम्भव नहीं है। इसी अर्थ में श्रुतियों में भी वेद शब्द का प्रयोग आया है। ध्यान द्वारा, निदिध्यासन द्वारा जहाँ साक्षात्कार हो वहाँ 'वेद' प्रयोग करते हैं।

अविनाशिनम्। विनाश का अर्थ हम पहले ही कह आये हैं। विनाश माने अदर्शन। सोने का कुण्डल था। उसे गलाया तो कुण्डल नष्ट हुआ। क्या गलाया ? सोना गलाया या कुण्डल गलाया या आकार गलाया ? सोना गलाया होता तो सोना ही खलास हो गया होता। कुण्डल गलाया कहेंगे तो क्या सोने को गलाये बिना कुण्डल को गला सकते हैं ? दोनों को गलाया तो दोनों नष्ट हो जाते। कहें कि न सोना गलाया और न कुण्डल ही गलाया, केवल आकार गलाया। तो आकार कोई द्रव्य तो है नहीं जो गलाया जाय। यह कहना पड़ेगा कि गरम करके सोने के अवयवों को आगे पीछे किया, पानी जैसा बनाया। यही गलाना है तब बात यही है कि नष्ट कुछ नहीं हुआ। पहले अवयव गोल आकृति में जुड़े थे तो कुण्डल कह रहे थे। उस आकार का न दीखना ही कुण्डल का नाश है। पहले अवयवों का अमुक संस्थान होने से कुण्डल दीख रहा था। वह संस्थान बदल गया तो कुण्डल दीखना बंद हो गया। यही कुण्डल का नाश है। जैसे बादल के टुकड़े अमुक प्रकार से ऊपर नीचे हुए तो उसमें हाथी घोड़े दीखने लगे। स्थिति बदली तो हाथी घोड़े का दीखना बंद हो गया। इसमें वहाँ कौन सा हाथी घोड़ा पैदा हुआ, या मरा ? उत्पत्ति है दीख पड़ना, और विनाश है न दीखना। असल में कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, नष्ट भी नहीं होती। अवयव संस्थान से दीखना और न दीखना ही उत्पत्ति बिनाश है। यदि कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हुई तो दीखी क्यों ? इस प्रश्न का उत्तर बादल दृष्टान्त में आपको ही देना पड़ेगा। बादल में हाथी घोड़ा उत्पन्न नहीं हुआ तो दीखा क्यों ? यही कहो कि बादल के टुकड़ों के

ऊपर नीचे होने से भ्रान्ति हुई। तो यही उत्तर सर्वत्र है। सुवर्णावयवों के उपर नीचे होने से कुण्डल की भ्रान्ति हुई। यही अजात वाद सिद्धान्त है।

क्या इस प्रकार आत्मा का भी फिर कभी अदर्शन होता है या नहीं ? ध्वंस भले न हो अदर्शन तो हो सकता है। तब नाश भी माना जा सकता है । इसका उत्तर है—**'अविनाशिनम्'**। आत्मा का अदर्शन कभी नहीं होता। अदर्शन होता है या नहीं इस प्रश्न को रहने दिया जाय। पहले दर्शन होता है या नहीं ? दर्शन के बाद अदर्शन का सवाल होता है। वेदान्त शास्त्र से इसका सीधा उत्तर है। श्रुति कहती है—**"यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म"**। ब्रह्म तो नित्य अपरोक्ष है। वह भी परम्परया नहीं, किन्तु साक्षात्। वह कभी अदृश्य होता ही नहीं। तब हमें अपना अनुभव क्यों नहीं होता ? अपना साक्षात्कार क्यों नहीं हो रहा ? यदि हो रहा तो **"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"** यह दर्शनोपदेश किस लिये ? फिर आत्म-दर्शन हो ही रहा है तो बन्धन कैसे हो रहा है ? उत्तर एक ही है कि **"पश्यन्नपि न च पश्यति मूढ़ः"**। हम देख रहे हैं फिर भी नहीं देख रहे हैं। कैसे देखते हुए नहीं देखते ? वह अपना आपा है। स्वयं प्रकाश रूप है। अतः देखना अनिवार्य है। परंतु अज्ञाना-वरण के कारण नहीं दीखता। पुरुषापराध के कारण नहीं दीख रहा है।

एक कथा प्रसिद्ध है। श्रेष्ठी वर्धमान बड़ा कंजूस था, नास्तिक और गुस्से बाज भी। ठीक इसके विपरीत सेठानी उदार थी, बड़ी आस्तिक। भगवान में और महात्माओं में श्रद्धा भक्ति रखने वाली सेवा परायण थी। सेठ से छिपकर वह मंदिर में जाती थी। संत महात्माओं को कुछ दान देती थी। ऐसा करना चाहिये या नहीं यह एक अलग प्रश्न है। इसका उत्तर श्रीमद्भागवत में बड़े कड़े

शब्दों में दिया है। हम अधिक विस्तार में नही जाते। सारांश इतना ही समझना है कि स्वपरकल्याणकारी कर्म का संपादन करना चाहिये। एक दिन एक सिद्ध संत घर में आये तो सेठानी ने श्रद्धावश उनको कुछ खाने को दिया और संयोग वश सेठ ने देख लिया तो उस रोज सेठानी की बड़ी पिटाई की। महात्मा देख रहे थे। उनको दया आयी। सेठानी को धीरे से सांत्वना दी।

संत सिद्ध थे। सेठ रोज सायंकाल घूमने जाता था। उस रोज सेठ बाहर निकला किंतु पाँच ही मिनिट में वापिस आया। वस्तुतः वह सेठ नहीं था। महात्मा ने अपनी याया से रूप बदल कर सेठ का रूप धारण किया था, क्योंकि वे सिद्ध थे ही। सेठ के पुत्रों ने पूछा, पिता जी जल्दी कैसे आये? संत ने कहा कि आज मैं डर गया हूँ। एक बहुरूपिया रास्ते में दिखाई पड़ा। बिल्कुल मेरे जैसा ही था। मैंने सोचा कहीं मेरे घर में आकर लड़कों को ठग न ले। यहाँ आयेगा वह जरूर, तुम लोग होशियार रहना। सेठ अंदर जा बैठा। असली सेठ रोज के मुताबिक आधा घंटा बाद आया। इधर जवान लड़के तैयार ही थे। अंदर घुसते ही गला दबाकर कमीज पकड़ा। सेठ घबराया। बदमाश पागल बोलने लगा। किंतु इतने में धक्का देकर बाहर निकाला। सेठ बाहर बैठकर रोने लगा। इतने में लड़के डंडे लेकर आये तो संत सेठ ने मारने से रोका। संत को देखकर असल सेठ आश्चर्य में पड़ा। कहने लगा यह बहुरूपिया है। लड़के फिर मारने दौड़े तो सेठ जान बचाकर भागा। समझ लिया जरूर यहाँ भारी गोटाला है। यहाँ मेरा कुशल नहीं है।

उस समय राजा लोग शासन करते थे। न्याय देते थे। सेठ ने दूसरे दिन राजा से शिकायत की। राजा ने दूसरे को भी बुलाने के लिये भेजा। लड़के भी स्त्री भी सब आये। स्वयं आश्चर्य में पड़ा।

क्योंकि देखने में दोनों बिल्कुल बराबर थे। राजा मन्त्री सभी हैरान। दोनों का दावा था कि मैं असली सेठ हूँ। आखिर संत सेठ ने कहा—राजन् मैं सुझाव रखता हूँ। जो नकली होगा उसको पूर्व की बात मालूम नहीं होगी। यदि यह सच्चा है तो बतावे कि कि हमारी शादी में कितना खर्चा हुआ। असली सेठ से पूछा तो बेचारा बूढ़ा था उसको याद नहीं आया। संत सेठ ने अपनी योग शक्ति से बताया। चोपड़ा देखा तो यथार्थ पाया। राजा ने मुँह कालाकर असली सेठ को नगर से बाहर निकाला। वह रोता-रोता जंगल में पहुँचा। इतने में वही महात्मा अपने महात्मा भेष में रास्ते में जा बैठे। महात्मा के चरणों में सेठ गिर पड़ा। गिड़-गिड़ाने लगा। महाराज बचाओ। मैंने आपका भी एक दिन तिरस्कार किया। आज मैं बुरी तरह से तिरस्कृत हो गया। महात्मा ने सेठ को ले जाकर सांत्वना दी।

इस दृष्टान्त में यह समझना है कि सेठ के लड़के सेठ को देखते हुए भी यह हमारे पिता नहीं, ठग है, ऐसा बोल रहे थे। यह कैसे ? इसी को सर्वज्ञात्म मुनि ने पुरुषापराध कहा। यह पिता नहीं दीख रहे। पिता नहीं है, ठग है। 'पिता नहीं दीखते' यह अज्ञान। 'पिता नहीं है' यह आवरण है। 'ठग है' यह विक्षेप है। सबका मूल कारण है जो संत ने बहुरूपिये का संस्कार डाला। इसी प्रकार ब्रह्म का भी नाम रूप संस्कार के कारण स्वरूप नहीं दिखाई देता। दीखता ब्रह्म ही है। किन्तु नामरूप वासना से स्वरूप नहीं दीखता, अन्य रूप दीख रहा है। यह वासना किसने डाली ? ईश्वर ने डाली कहो, या कहो अनादि वासना परम्परा से आयी। वस्तुतः सेठ दीख ही रहा था। वैसे वस्तुतः ब्रह्म दीख ही रहा है। ब्रह्म निरन्तर दीख रहा है। उसका कभी अदर्शन नहीं होता।

ब्रह्म यदि निरन्तर दीखता है तो मोक्ष क्यों नहीं होता ? पुरुषापराध के कारण। अज्ञानावरण के कारण। अन्यथाग्रहण के

कारण। परंतु दीखता है इसमें क्या प्रमाण ? प्रमाण यही है कि अस्ति भाति प्रिय रूप से ब्रह्म का ही भान नित्य हो रहा है। नामरूप प्रपंच वासना से, दीखता हुआ भी अस्ति भाति प्रिय, अखण्ड रूप से नहीं दीख रहा। वह कैसे ?। यह पुस्तक है। पुस्तक दीखती है। ऐसी प्रतीति पुस्तक में होती है। किन्तु वस्त्र को देखकर यह पुस्तक नहीं है, यह पुस्तक नहीं दीख रही है, ऐसा उसका अभाव भी प्रतीत होता है। यद्यपि वहाँ भी वस्त्र है, दीख रहा है, ऐसा अस्तिभाति दोनों हैं। परंतु उसीका अभाव पुस्तक में प्रतीत हो रहा है। तात्पर्य यह कि यद्यपि अस्तिभाति सर्व संसार में एक है। तथापि पुस्तक-वस्त्र आदि नामरूप उपाधि से विशिष्ट होकर ही भासने से अखण्ड रूप भासित नहीं हो रहा। विशिष्टाभाव विशेषणाभावप्रयुक्त है। किन्तु भ्रान्ति हुई—विशेष्याभावप्रयुक्त है। एक आदमी को दूध लेने भेजा। भेजने वाले ने कहा—गाय का दूध मिले तो वही लाना। उसने दुकान में जाकर पूछा—गाय का दूध है ? उसने कहा, नहीं है। वह वापिस आया और कहा, गाय का दूध नहीं है। तो दूसरा दूध लाना था। कहा—कोई दूध नहीं है। गाय का दूध नहीं का अर्थ क्या, कोई भी दूध नहीं है ऐसा ? यह विशेषणाभाव प्रयुक्त विशिष्टाभाव है। विशेष्य है, 'दूध है'। किन्तु अज्ञानी पुरुष विशेष्य का ही अभाव समझ लेता है। घट नहीं है कहते समय घट ही को 'अस्ति' समझ लेते हैं और अस्ति का ही अभाव समझ बैठते हैं।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। सारा जगत ब्रह्मरूप है समुद्र में तरंग उठ रही है। फेन बुद बुद पैदा हो रहे हैं। उससे समुद्र के असली स्वरूप का दर्शन नहीं हो रहा। समुद्र का ही दर्शन हो रहा है किन्तु तरङ्गादि रूप में। तरंगें बंद हों तो समुद्र के शान्त गम्भीर रूप का दर्शन होगा। या तरङ्गों को देखते हुए ही तरङ्ग दृष्टि हटायी तो समुद्र ही दीखेगा। वैसे ही ब्रह्म सागर में नामरूप तरंगें

उठ रही हैं। नामरूप तरंगें भी वासना प्रयुक्त हैं। सर्वथा वासना वृत्तियों को मिटा दो तो ब्रह्म दर्शन ही हो रहा है। **"योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः"** चित्त वृत्तियों को बंद कर दो तो नामरूप दीखना बंद होगा। वही ब्रह्म दर्शन है। यदि नामरूप या नामरूप प्रयोजक वृत्ति-वासना को नहीं हटाना है तो नामरूप को देखते हुए ही अधिष्ठान को देखो। नामरूप पर ध्यान ही मत दो। तो भी ब्रह्म ही दीखेगा। ब्रह्म दर्शन का तरीका चाहे जो भी हो, किन्तु ब्रह्म अदृश्य तो नहीं है। चाहे तरंग के बिना देखो चाहे तरंग दृष्टि न रखकर देखो, चाहे तरंग को ही देखो, फिर भी सागर तो अदृश्य नहीं ही माना जा सकता। देखने के तरीके अलग-अलग हैं। वैसे ब्रह्म तो अदृश्य नहीं ही। तथापि देखने का तरीका अलग-अलग होने से एक प्रकार का दर्शन बन्धन कारण है और दूसरे प्रकार का दर्शन मोक्ष कारण है इत्यादि व्यवस्था उपपन्न है। द्रष्टव्यः इस दर्शनोपदेश का अर्थ है— आत्मा को नामरूप प्रकार के बिना शुद्ध रूप से देखो। अत एव अविनाशिनं का अर्थ है—जिसका कभी अदर्शन न हो—नित्यापरोक्षरूप।

नित्यम्। नवरात्र में अंबाजी की पूजा के लिये तो घी का अखण्ड दीपक जला कर रखा। वह दीपज्वाला नौ दिन लगातार जली तो एक ही ज्वाला थी कि अनेक? अनेक लौ का अर्थ है एक ज्वाला आयी खतम हुई, दूसरी आयी खतम हुई, तीसरी आयी खतम हुई। यदि ऐसी उत्पन्न और नष्ट हो तो अखण्ड दीपक कैसा? इसलिये लोग मानते हैं कि अखण्ड दीपक एक ही ज्वाला है। बुझकर फिर जले या जलावे तो दीपक खण्डित माना जायेगा। अस्तु। यदि एक ही ज्वाला मान ली जाय तो यह प्रश्न होता है कि तब घी क्यों खतम हो रहा है? बार-बार घी क्यों डालना पड़ रहा था? घी नहीं डालेंगे तो बत्ती बुझेंगी। कैसे बुझेगी? एक मणि है। उसमें भी प्रकाश है। तो क्या घी न डाले तो वह प्रकाश बुझेगा? वस्तु

स्थिति यह है कि एक-एक बूँद घी जलता जाता है तो ज्वालायें बनती जाती हैं। ज्वाला एक नहीं है। क्षण-क्षण बदलने वाली हजारों लाखों ज्वालायें हैं। इंधन बदलने पर ज्वालायें भी बदलती ही हैं। परन्तु ज्वालायें ऐसे निरन्तर बनती जाती हैं कि आपको एक ही ज्वाला प्रतीत होती है। कभी कम घी होने पर ज्वाला छोटी, कभी अधिक घी जलने से बड़ी होती है। तो इंधन के अनुरूप ज्वाला होती है। बूंद के बदलने से ज्वाला भी बदलती ही रहती है। यदि उसी घी को बाँटकर सौ दीवट में डाले और जलावे तो क्या एक ही ज्वाला मानी जायेगी ? अखण्ड का वहाँ इतना ही अर्थ है कि एक ज्वाला के बाद दूसरी ज्वाला में कोई अन्तर—समय का व्यवधान नहीं होता। बीच में अगर थोड़े क्षण के लिये न जले तो खण्डित माना जाता है। यही दीपक की अखण्डता है। बौद्ध लोग ऐसे ही ज्ञान को आत्मा कहते हैं। इसको क्षणिक विज्ञान-वाद कहते हैं। जैसे दीपक क्षणिक होने पर भी उसका अदर्शन नहीं होता। निरन्तर जलते रहने से दर्शन होता रहता है वैसे आत्मा भी क्षणिक होने पर भी अदर्शन नहीं होता। किन्तु निरन्तर जलते रहने से दर्शन होता है। इस प्रकार का अविनाशित्व यहाँ समझने के लिये कहा जा रहा है क्या ? इस प्रश्न के उत्तर में "नित्य" कहा। पूर्व श्लोक में नित्य कहने पर यह आशंका रही। उसके वारण के लिये शाश्वत विशेषण दिया। तात्पर्य यही समझना चाहिये कि नित्य या शाश्वत का अपरिणाम नित्य वाच्यार्थ नहीं है। किन्तु पुनरुक्ति समार्थ्य से ऐसा अर्थ लगाना चाहिये **"शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्यः सदातनसनातनाः"** ऐसे सभी पर्यायवाची ही हैं। **"द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति"** इस न्याय से उक्त अर्थ का लाभ है।

मोटे दृष्टान्त से समझना है तो यूं समझा जा सकता है—दीपक का प्रकाश क्षणिक होता है और मणि का प्रकाश स्थिर होता है, क्योंकि मणि के प्रकाश में घी तेल आदि का खर्च नहीं है। वह नित्य

प्रकाशित रहती है। दीपक के समान मणि की ज्वाला बदलती नहीं है। इसी प्रकार आत्मा का भी प्रकाश है। वह नित्य एकरस है। कहीं आता जाता नहीं। बदलता नहीं, अर्थात् परिवर्त्तनशील नहीं है। नामरूपप्रपञ्चरूपी चित्र बदलता रहता है। किन्तु आत्म प्रकाश अपरिवर्त्तित रहता है। **जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु स्फुटतरा या संविदुज्जृम्भते"** उस प्रकाश में जाग्रत प्रपञ्च रूपी चित्र आया तो उसने उसे प्रकाशित किया। इसके बाद स्वप्न प्रपञ्च रूपी दूसरा चित्र आया तो उसने उसको भी प्रकाशित किया। इसके बाद सुषुप्ति रूपी घोर अन्धकार आया तो उसको भी उसने प्रकाशित किया।

या ब्रह्मादिपिपीलिकान्ततनुषु प्रोता जगत्साक्षिणी।

वही प्रकाशरूप आत्मा ब्रह्मा में भी है और वही आत्मा पिपीलिका में (चीटी में) भी है। उसका कहीं भी अदर्शन नहीं। वह सर्वत्र प्रकाशरूपेण वर्तमान है। जाग्रदादि काल में वह अपरिच्छिन्न है। ब्रह्मादि पिपीलिकान्त देश में भी वह अपरिच्छिन्न है। सबको अपने प्रकाश में प्रकाशित करता रहता है।

अजम्। काठक मन्त्र के अनुसार आत्मतत्त्व को किन-किन रूप से समझना है यह भगवान बता रहे हैं। उनमें यह तृतीय रूप है अजम्। जन्म का अर्थ नैयायिकों ने किया है—'आद्यक्षणसम्बन्धः' और 'असतः सद्भावः'। अर्थात् पूर्वक्षण में न रहा और बाद में हो गया। होने में जो प्रथम काल सम्बन्ध है वही जन्म है। दूसरे लोग 'असतः' की जगह 'अनभिव्यक्तस्य' कहेंगे और 'सद्भावः' की जगह 'आविर्भावः' कहेंगे। जैसा भी हो पूर्वकाल से जो परिच्छिन्न होगा वह जन्मवान् होगा। परन्तु जैसे जाग्रदादि प्रपञ्च उस अत्मा में कल्पित है वैसे काल भी उसी में कल्पित है। प्रथम आत्मा हो तब उसमें काल कल्पना हो। जैसे सपने में हम कहते हैं कि मैं उन्नीस सौ

पच्चीस में पैदा हुआ। वह पैदा होना और उन्नीस सौ पच्चीस सभी आत्मा में कल्पित है। उस कल्पना से पूर्व भी आप थे। सपने में एक बूढ़े को देखा। बोले—यह सौ वर्ष का बूढ़ा है। हमसे पहले का है। किन्तु सपने का बूढ़ा, और उसका सौ वर्ष सभी तत्काल कल्पित हैं। वह आपसे बाद में हुआ। कहते हैं पहले हुआ। पहले कोई नहीं हुआ। सपने में तो कभी-कभी हजारों वर्षों को भी देख लेते हैं। वैसे जाग्रत का काल भी है। इसको भी अनुसंधान से अनुभव करो। पूर्व श्लोक में तत्त्व वर्णन था। इस श्लोक में उसे जानने के लिये कहा जा रहा है—"वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजम्" आत्मा को नित्य दर्शनात्मक प्रकाश स्वरूप समझो। उसमें सारा जगत प्रकाशित हो रहा है। उसी में यह काल भी कल्पित होकर दीख रहा है, ऐसा समझो।

अव्ययम्। भले निरन्तर दर्शनात्मक नित्य अविनाशी हो और अजन्मा भी हो। फिर भी प्रकाश होने के नाते घटना तो चाहिये। वैज्ञानिकों का कहना है कि यह सूर्य भी धीरे-धीरे घट रहा है। सम्भव है, कई अरब खरब वर्ष के बाद सूर्य भी ठंढा पड़ जाय। मणि आदि में भी प्रकाश घटता बढ़ता है। बहुत से दार्शनिक यह मानते हैं कि ज्ञान प्रकाश आत्मा में यदा कदाचित् उत्पन्न होता है। वैसे तो आत्मा जडरूप है। इन्द्रिय मन आदि के संयोग से ज्ञान प्रकाश उसमें उत्पन्न होता है। उस पर यह पूर्वपक्ष होगा कि ज्ञान प्रकाश यों ही उत्पन्न हुआ कि उसका उपादान भी है ?। माचिस के संयोग से तेल में या बत्ती में प्रकाश उत्पन्न हुआ तो उसका उपादान तेल है। और वह तेल धीरे-धीरे जलकर घटता है। इसी प्रकार आत्मा में प्रकाश हुआ तो उपादान तो आत्मा ही होगा और उसका क्षय होता ही रहेगा। इस पर भगवान का कहना है—यह आत्मा अव्यय है। तेल के समान आत्मा का व्यय नहीं होता क्योंकि आत्मा में ज्ञानप्रकाश दीपक के समान उत्पन्न नहीं होता।

वह स्वयमेव प्रकाश रूप है। ज्ञान उत्पन्न हो रहा है, बढ़ रहा है, घट रहा है, इत्यादि जो प्रतीति है वह बुद्धि वृत्ति को लेकर होती है। ज्ञान स्वतः घटता बढ़ता नहीं है। 'आत्मतत्त्व ज्ञान भी किसी को अधिक और किसी को कम हैं' का मतलब इतना ही है कि आत्माकार बुद्धि वृत्ति के अभ्यास से किसी का आवरण कम निकला। किसी का अधिक निकला। तात्पर्यार्थ यह हुआ कि आत्मा तेल के समान जड़ नहीं। जो घटता बढ़ता है। किन्तु उसमें जो प्रकाश है उसी प्रकार है। तथा आत्मा दीपज्वाला के समान क्षणिक क्षणभंगुर भी नहीं, किन्तु मणि प्रकाशवत् नित्य है। आत्मा मणि आदि प्रकाश के समान विनाशी तथा जन्मवान् भी नहीं, अपि तु अज अविनाशी है, नित्य साक्षात्कार स्वरूप है। ऐसे आत्मा को समझना चाहिये।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्। इन चार विशेषणों से युक्त आत्मा का जो साक्षात्कार करता है वह स्वयं न कर्त्ता होता है और न कारयिता ही हो सकता है। क्या मतलब ? कोई कर्म वह करता कराता नहीं, चुपचाप बैठा रहता है यह अभिप्राय है या करता हुआ ओर कराता हुआ भी करता कराता नहीं यह अभिप्राय है ? प्रथम अभिप्राय तो नहीं है। यदि यह अभिप्राय होता तो **"तस्माद्युध्यस्व भारत"** ऐसा जो पहले कहा उसमें प्रमाण रूप में उपनिषत्प्रमाण देकर उसका सारार्थ यह कैसे कहते। एक ने कहा— शरीर करता कराता है किन्तु आत्मा करता कराता नहीं है, यह मतलब है। किन्तु यह मतलब भी ठीक नहीं। क्योंकि इन चारों विशेषणों को जानो तो भी आत्मा करता कराता नहीं। न जानो तो भी आत्मा करता कराता नहीं। अतः द्वितीय अभिप्राय ही समझना चाहिये। परन्तु करता हुआ नहीं करता, कराता हुआ नहीं कराता यह वदतोव्याघात लगता है। अतः इसका विवेकपूर्वक अर्थ समझना चाहिये। विवेक यह है कि अज्ञानी कहता है—

मैं कर्त्ता हूँ, कराता हूँ। वह मैं कौन ? केवल शरीर नहीं। वह जड़ है। "मैं" शब्द में आत्मा भी आ रहा है। केवल आत्मा भी नहीं। क्योंकि प्रत्यक्षतः शरीरादि ही कर रहे हैं। तब मैं का अर्थ है—शरीरेन्द्रियादि तादात्म्य विशिष्ट आत्मा। इसको अन्योन्याध्यास कहते हैं। जब यह मालूम पड़ जाता है कि आत्मा अविनाशी है, नित्य है, अज है, अव्यय है, तो अज पद से शरीर की व्यावृत्ति हुई। शरीर का जन्म हो चुका है। अव्यय से बुद्धि की व्यावृत्ति हुई। बुद्धि घटती बढ़ती है। नित्य से इन्द्रियादि की व्यावृत्ति हुई। वे नित्य नहीं हैं। और अविनाशी कहने से जड़ सबकी व्यावृत्ति हुई। शुद्ध आत्मा का इस प्रकार दर्शन हुआ तो आत्मानात्मतादात्म्य मिट गया। तब अनात्मगत कर्तृत्व धर्म का आत्मा में अध्यास भी मिट जायेगा। आत्माध्यास जहाँ मिट गया वहाँ कर्तृत्व और कारयितृत्व का फिर कोई मूल्य नहीं रहता। क्योंकि उस कर्तृत्व या कारयितृत्व से न पुण्य होगा और न पाप होगा। उसका फल भी नहीं होगा।

"शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्"।

ऐसा आगे बतायेंगे। आत्माध्यास के बिना केवल शारीर कर्म करने से पुण्य पाप नहीं लगता। और उसका कोई फल नहीं होता। पूछेंगे क्यों नहीं ? जैसे अन्तःकरण में कर्तृत्व हुआ, वैसे भोक्तृत्व भी आत्माध्यास के बिना क्यों नहीं होगा ? उत्तर यह है कि दृष्टफल होने पर भी अदृष्ट फल नहीं होगा। कारण शास्त्रोक्त अधिकारी विशेषण उसमें नहीं है। मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूं, मैं शुचि हूँ इत्यादि शरीरात्माध्यासियों के लिये ही कर्म विधान है। इसीलिये भाष्यकार भगवान् शंकराचार्य ने यहाँ पर संन्यास का वर्णन किया। संन्यास का अर्थ कर्म का स्वरूपतः त्याग नहीं, किन्तु फल प्रयोजक अधिकारपूर्वक कर्म का अभाव अर्थ है। और यही यहाँ पर अर्थ है। अन्यथा भीष्मादि को अर्जुन मार रहा हो और 'कं हन्ति'

किसको मारता है ? किसी को नहीं, ऐसा कहा जा रहा हो तो केवल विरुद्धार्थ कथन (विरोधाभास) ही होगा। कर्म संन्यासाधिकार का मतलब है आत्मा अकर्त्ता अभोक्ता समझने का जो फल है वही उसको मिलेगा अर्थात् मोक्ष ही फल मिलेगा। कर्मफल स्वर्ग नरकादि नहीं।

कुछ लोग आत्मा को कर्त्ता तो नहीं मानते, कारयिता मानते हैं। प्रेरक मानते हैं। उपनिषत् का उदाहरण भी देते हैं। परन्तु अध्यास का प्रयोजक मात्र वहाँ अर्थ है। तत्त्वज्ञानोत्तर वह भी मिट जाता है, अतः "कं घावयति" इस प्रकार कारयितापने का भी निषेध किया ॥ २१ ॥

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥२२॥

[जिस प्रकार पुराने वस्त्रों को त्यागकर मनुष्य अन्य नये वस्त्रों को धारण करता है वैसे ही यह देही पुराने शरीर को त्यागकर नये शरीरो को धारण करता है ॥२२॥]

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र बड़े सरल गंभीर शब्दों में सुंदर उपदेश अर्जुन को दे रहे हैं। दृष्टान्त के द्वारा दार्ष्टान्तिक समझा रहे हैं। अर्जुन के मन में दो प्रकार से शोक मोह हो रहा था, एक तो बन्धु एवं स्वजनों के मरण से होने वाले भावी वियोग के भय से शोक हो रहा था। मेरे ये पिता पितामहादि मारे जायेंगे, जिनकी गोद में मैं पला, खेला, कूदा, जिनके साथ जिन्दगी गुजारी। उन्हीं के अभाव में हम कैसे रहेंगे? यह प्रथम शोक का स्वरूप था। दूसरा भय अपनी मृत्यु का था। मैं भी युद्ध में मारा गया तो? अर्जुन को इस प्रकार अपनी मृत्यु का भी भय था, शोक था।

कुछ व्याख्याकार मानते हैं कि अर्जुन को अपनी मृत्यु का भय था, यह बात जचती नहीं है। अर्जुन ने अपनी मृत्यु की कभी पर-वाह नहीं की। यह बात पूर्वाध्याय में ही स्पष्ट है। "एतान्न हन्तु-मिच्छामि घ्नतोऽपि"—ये मुझे मारें, पर इनको मैं मारना नहीं चाहता। "यदि मामप्रतीकारं····धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युः"—प्रतिकार किये बिना ही मुझे ये धार्त्तराष्ट्र मार डाले तो भी मेरा श्रेय होगा। इत्यादि वचनों में अर्जुन की निर्भीकता झलकती है। मरण भय का

स्पर्श भी नहीं दीख रहा। इस अध्याय के आदि में भी "यानेव हत्वा न जिजीविषामः" यहाँ "न जिजीविषामः" शब्द ध्यान देने योग्य है। जीवनेच्छा का अभाव यहाँ स्पष्ट है। वैसा व्यक्ति मरण से कैसे डरेगा ? परन्तु बात ऐसी नहीं है। अर्जुन को अपने मरण से भी भय था।

मृत्यु जब तक संनिकट नहीं आती तब तक उससे भय नहीं होता। किंतु मृत्यु का लौकिक स्वरूप स्पष्ट झलकने लगता है तो प्राणीमात्र भयभीत होने लगते हैं। मृत्यु का सीधा अर्थ है अपना अभाव। अपना अभाव सामने दीखने लगता है तो बड़ा धीर भी विचलित हो उठता है। जो लोग पुनर्जन्म मानते हैं, उनके सामने भी मृत्यु के बारे में सोचने पर अंधकार उपस्थित होता है—

"त्यक्त्वा द्वित्रक्षणेभ्यः परमखिलमथ क्वेव गम्यं मया स्याद्
दीर्घायाह्वे न जाने न खलु कथयितारं च कंचिद्विलोके।
अन्धं पश्यामि दृश्यं प्रतिभयमभितो ध्वान्तपूरं पुरस्तात्
गात्रं मे त्रस्यतीदं विचलति च मनः कुर्वतोऽखर्वचिन्ताम्"

हाय, कुछ क्षणों के बाद सब कुछ त्यागकर जाना पड़ेगा। लम्बे ससय के लिये जाना पड़ेगा। कहाँ जाना पड़ेगा ? यह मालूम नहीं, कोई बतलाने वाला भी नहीं। आगे अन्धकारमय दृश्य दीख रहा हैं। शरीर काँप रहा है, मन चलित हो रहा है, जब मैं दीर्घकालीन स्थिति का चिन्तन करता हूँ। अपने संगृहीत एक दो भी मूल्यवान बस्तु छोड़ जाने की इच्छा लोगों को नहीं होती। यहाँ सर्वस्व छोड़कर जाना है। फिर वापिस आने का कोई अवसर नहीं। हजारों वर्ष बाद वापिस आने की नौबत भी आवें, तब तक ये सब चीजें कहाँ रह जायेंगी। बन्धु मित्रादि कहाँ रहने वाले हैं ? यही तो मरणोत्तर स्थिति है। एक आदमी मेरे पास आता था। कहता था—जीना मरना तो एक खेल है। उसका एक बार एक तगड़े

आदमी से झगड़ा हुआ। उसने उसे मार डालने की धमकी दी। फिर क्या था—हर हमेशा सशंक, सभय। रात को सोता भी तो अन्दर से ताला बन्दकर। बोलने की बात आसान है। बुद्धि में बैठाना सरल नहीं है।

एक हमारा भक्त बड़ा अन्वेषक था। मनोविज्ञान का विशेषज्ञ। वह कैदियों का मनोविज्ञान जानने के लिये मृत्युदंड वालों के पास जेल में गया। एक मृत्यु दंड प्राप्त आदमी की बात सुनने लगा। जब मृत्यु दण्ड सुना तो उस समय उसे घबराहट नहीं हुई। परन्तु फांसी के लिये दस बारह दिन बाकी थे। एक-एक दिन बीतता था तो उसके चेहरे पर रौनक घटती जा रही थी। दो तीन दिन रह गये तो वह रोने लगा। राम राम पुकारने लगा। हे राम, अब क्या होगा। मैं खतम हो जाऊँगा तो क्या होगा। अपनी मृत्यु, अपना अभाव उसको सामने दीखने लगा तो उसकी अपार बेचैनी का वर्णन करना असंभव सा हो गया। भगवान को कहता कि आगे मैं ऐसी गलती नहीं करूँगा, अबकी बार बचाओ। पर उसको अब भगवान भी बचाने वाला नहीं था। असाध्य रोगी मृत्यु शय्या पर पड़ा है तो उस को जीने की आशा रहती है। शायद आखिर कोई दवाई लग जाय। और डॉक्टर आदि धीरज दिलाते रहते हैं। परन्तु यहाँ कैदी को आशा क्या? धीरज दिलाने वाला कौन? उस भक्त ने अनेक ऐसे कैदियों को देखा। सौ में निन्यानवे प्रतिशत घबराये हुये रोने वाले ही मिले। मतलब मरण भय अपार होता है। मरण भय अर्जुन को भी घेरे हुए था। इस बात को भगवान ताड़ गये थे।

वेद व्यासजी ने महाभारत में एक कथा लिखी है। वे कहते हैं कि एक बार मैं कहीं जा रहा था तो एक कीड़े को भागते हुए देखा। व्यासजी ने उससे पूछा, हे कीड़े तुम क्यों भाग रहे हो? हमको देखकर? हम तो अहिंसावादी हैं। कीड़े ने कहा—नहीं,

आपको देखकर नहीं। ध्यान से कान लगाकर देखिये। वह जो रथ की आवाज आ रही है वह रथ मेरे ऊपर चढ़ जायेगा तो मैं मर जाऊँगा। उससे बचने के लिये मैं भाग रहा हूँ। व्यासजी ने पूछा, (ऋषि होने से कीड़े आदि की भी भाषा वे जानते ही थे)—तू कीड़ा है, तेरा यह अतिनिकृष्ट शरीर है, इस शरीर को रखने से भी क्या लाभ ? इस शरीर का कोई महत्व नहीं है। यह शरीर रहे तो क्या, मरे तो भी क्या ? कीड़े ने कहा—हे महर्षे ! आपको अपने इस महर्षि शरीर से जितना प्यार है, मोह-ममता है उतना ही प्यार मुझे इस कीट शरीर में है। मानव शरीर में जैसा-जैसा भोग प्राप्त होता है, वैसा ही भोग मुझे इस कीट शरीर में भी मिलता है। दुःख इस शरीर में अधिक होता होगा। किन्तु आशा वलवान् होती है। आशा से ही दुःख आवृत होता है। बल्कि मनुष्य भी आशा पर ही जीवित है। असली सुख उसको भी कहाँ मिलता है। आज का दिन दुःखमय हो पर कल अच्छा समय आयेगा इस आशा में मनुष्य भा जी रहे हैं।

"आशामात्रेण तृप्तो विचरति जगति प्राणमाशैकतुष्टः"

मनुष्य आशा से ही तृप्त है। आशा से ही तुष्ट है। कीड़े ने कहा—मेरा भी जीवन ऐसा ही है। आशा से ही हम भी जीवित हैं। कीड़े से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त मरण भय सबको बराबर है। रही उपयोगिता की बात। तो क्या ये जितने अज्ञानी मानव हैं, जो कामक्रोधादि में पड़े हैं, अर्थकाममात्र परायण हैं, भोगमात्र के लिये आयास करते हैं, उनके जीवन में और हमारे जीवन में क्या फरक है ? उनकी क्या उपयोगिता है जो प्राणिहिंसा में लगे हैं ? क्या उनकी भी कोई उपयोगिता है ? उनका भी कोई भविष्य है ? कीड़े ने कहा—अच्छा नमस्कार, रथ नजदीक आ रहा है। विलम्ब करने पर वह मुझे कुचल डालेगा। इतना कह कर वह कीड़ा भाग गया।

"मा न भूवं हि भूयासमिति प्रेमात्मनीक्ष्यते" मेरा अभाव कभी न हो, मैं हमेशा बना रहूँ, ऐसा प्रेम अपने विषय में ब्रह्मा से लेकर पिपीलिका पर्यन्त सब में है। क्या इसका अपवाद अर्जुन हो सकता है ? यह बात अलग है कि युद्धादि के जोश में, आवेश में जीवन मरण की परवाह न करे। विचारावस्था में जीवनेच्छा बलवती होती है। अर्जुन भी इससे पृथक नहीं था। अत एव अपनी विरक्ति बताने के बावजूद भी मरणभय भी अर्जुन ने अपने शब्दों में सूचित किया—

"न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः" यदि जीतने का ही निश्चित लक्षण होता, या मरणभय बिल्कुल न होता तो **"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं"** यह भगवान का विकल्प न बनता। भगवान अर्जुन के भाव को पूरा पूरा समझ चुके थे। अर्जुन अपना भाव भगवान के सामने भला कैसे आवृत रख सकता था। अतः भगवान् स्वजन बन्धु मरण तथा स्वमरण दोनों में निर्भय एवं निर्मोह रहने के लिये सदृष्टान्त जन्म मरण की व्याख्या करते हैं—**"वासांसि जीर्णानि०"** जैसे जीर्ण वस्त्रों को छोड़कर मनुष्य नये वस्त्रों को पहनता है, वैसे देही भी जीर्ण शरीरों को छोड़कर नये शरीरों को धारण करता है।

वासांसि जीर्णानि०। वस्त्र का दृष्टान्त शरीर के लिये दिया गया है। 'वस अच्छादने'। वस्त्र आच्छादन करता है। पंजाब या कश्मीर में ठंढी के दिनों में जाओ तो वहाँ के लोगों का सिर्फ आँख और गाल ही दिखाई पड़ेंगे। बाकी सभी गरम कपड़े से आच्छादित होगा। परन्तु शरीर और वस्त्र का ऐसा तादात्म्य सा हो जाता है कि देखने वाले केवल वस्त्र ही को देखते हैं, फिर भी कहते हैं, देवदत्त को देखा, रामसींग को देखा। वैसे ही यह शरीर भी आत्मा को ढँकता है। पाँव में मोजे, सिर में टोप मफलर पूरे शरीर वस्त्र। फिर भी कपड़े को देखा ऐसा कोई नहीं कहता, क्योंकि

मानो तादात्म्य सा हो गया। वैसे ही शरीरादि तादात्म्याध्यास होने के कारण 'अहं' ऐसा आत्म प्रत्यय करते हैं। तादात्म्याध्यास के समान धर्माध्यास भी होता है। बढ़िया चमकीला किमती वस्त्र पहने तो लोग उसे भला मानस समझने लगते हैं। जेंटलमेन कहते हैं। सेठ कहने लगते हैं। पहले जमाने में खादी वस्त्र पहने हुए को कांग्रेसी कहते थे। कहावत प्रसिद्ध है—प्रथम प्रभाव वसन का द्वितीय प्रभाव वचन का। वसन माने वस्त्र। वचन माने वाणी। किसी भी सभा में खूब ठाठ-बाट से कोई पहुँचे तो उसी का पहला प्रभाव पड़ता है। भाषण का प्रभाव बाद में पड़ता है। स्त्रियाँ बढ़िया-बढ़िया किमती साड़ियाँ क्यों पहनती हैं? इसीलिये कि वे सुन्दर प्रभावशाली दीखे। वस्त्रगत सौन्दर्य का अध्यास शरीर में किया जाता है। इसी प्रकार शरीर धर्मों का अध्यास आत्मा में होता है। मैं ब्राह्मण हूँ, काला हूँ, गोरा हूँ, अमुक का पुत्र हूँ इत्यादि। सभी आत्मा में शरीर धर्माध्यास है। दक्षिण देश में पहले जमाने में वस्त्र को छू लिया तो देवदत्त कहता है मुझे क्यों छुआ। यह अन्योन्याध्यास है। वस्त्र में शरीराध्यास है। इस प्रकार वस्त्र और शरीर का अध्यास प्रायः आत्मा अनात्मा अध्यास के बराबर है। अत एव भगवान ने शरीर को समझाने के लिये वस्त्र का अत्यन्त उपयुक्त दृष्टान्त बताया।

नरः। नर का अर्थ है बुद्धिमान मनुष्य। किसी पशु को ठंढी में ऊपर से कपड़ा बाँध दो और उसको वह आदत पड़ जाय तो फटने पर उसे बदलने के लिये वह कोशिश नहीं करेगा। बल्कि नया पहनाने के लिये कोई उतारने लग जाय तो कुत्ता काटने आयेगा। गाय सींग मारेगी। हाँ, पहाड़ी तिब्बतियों की बात अलग है। वे बहुत गन्दे होते हैं। एक बार पहना हुआ कपड़ा फटकर अपने आप गिरे तो ही वे छोड़ते थे। गंदे गंदे कपड़े शरीर पर निरन्तर लगे रहते, ऐसे नर तो नर नहीं, वे पशु कोटि के हैं। नर

शब्द यहाँ एक विशिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त है। जैसे वीर पुरुष के लिये कहते हैं—"यह है मर्द"। मर्द तो पहले से है। किन्तु वह विशेषार्थ बोधक है। वैसे यहाँ नर शब्द विशेषार्थ बोधक है। अध्यात्म विद्यावान् को ही अध्यात्म शास्त्र में नर मानते हैं, मनुष्य मानते हैं। अन्य पशुतुल्य है। **"साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः"** ऐसी उक्ति प्रसिद्ध है। इसीलिये अनेक स्थानों में ऐसी जगह जन्तु शब्द का प्रयोग शास्त्रों में किया है। **"अज्ञो जन्तुरनीशानः"** इत्यादि प्रयोग आया है।

"येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥"

ऐसा नीतिकारों का भी कहना है। जिनमें विद्या नहीं, तप नहीं, दान नहीं, ज्ञान नहीं, शील नहीं, गुण नहीं और धर्म भी नहीं, वे पृथिवी के भार रूप हैं। इस मर्त्यलोक में वे देखने में मनुष्य हैं, पर मनुष्य के रूप में वे पशु ही विचर रहे हैं। यद्यपि यहाँ दृष्टान्त में नर शब्द आया है। तथापि दृष्टान्तगत शब्द भी दार्ष्टान्तिक में अपने अर्थ की अभिव्यक्ति करता है।

तथा शरीराणि०। भगवान् कहते हैं, हे अर्जुन! तुम्हारा शोक किस लिये है? भीष्मादि का हमेशा के लिये अभाव हो जायेगा इसके लिये? या मैं मरूँगा तो मेरे लिये भीष्मादि का अभाव होगा और मेरा खुद का भी अभाव होगा इसके लिये? दोनों ही बात गलत है। यह शरीर वस्त्र के समान है। जीर्ण वस्त्र को लोग फेंककर नया वस्त्र धारण करना ही पसन्द करते हैं। वैसे यह शरीर पुराना हो जाय तो उसे छोड़कर नया शरीर धारण करना ही बुद्धिमानी है। एक कंजूस सेठ को हमने देखा। वह कुर्त्ता फट

जाय तो भी फेंकता नहीं था। जैसे तैसे सिलाई करके पहन लेता था। उसके लड़कों को और घर वालों को यह बुरा लगता था। तो वे कभी-कभी जान बूझकर ज्यादा फाड़ देते थे। थोड़ा बहुत फटा हो तो सिलाई करने पर काम चल जाय। लेकिन पूरा फटने पर सेठ भी आखिर फेंक देता था। हे अर्जुन! भीष्मपितामहादि का शरीर अति जीर्ण हो चुका है। अब युद्ध प्राप्त हुआ उसमें वह नष्ट हो जाय तो शोक की क्या बात है? खुशी की बात है कि वे नये शरीर धारण करेंगे।

एक संदेह यह हो सकता है कि नया कपड़ा यदि मिलता हो तो पुराना कपड़ा त्यागना उचित है। नया कपड़ा यदि न मिलता हो तब पुराना कपड़ा फटा चिथड़ा भी पहनना ही पड़ेगा। भगवान् कहते हैं कि मनुष्य के राज्य में यह दरिद्रपना हो सकता है कि पुराना कपड़ा खतम हो रहा हो और नये कपड़े की कोई व्यवस्था न हो। परन्तु भगवान् के राज्य में यह विशेषता नहीं है। वहाँ तो एक शरीर के पीछे दूसरा शरीर तैयार रहता है। बल्कि यहाँ तो—

देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोऽवशः।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः॥

ऐसा बताया है। अर्थात् यह देह जीर्ण हो जाता है तो देही कर्मानुसार दूसरे शरीर पर पहुँच जाता है। तब पहले वाले शरीर को छोड़ता है। जैसे हम वस्त्र पहनते हैं तो नये वस्त्र को प्रथम चढ़ाते जाते हैं और पहले वाले वस्त्र को त्यागते हैं। पाजामा पेंट आदि पहनने वाले पहले उसको चढ़ाते हैं तब कटिवस्त्र रुमाल आदि को निकालते हैं। वैसे यह शरीरी भी दूसरे शरीर पर घुसते हुए पूर्व शरीर को त्यागता है। यह भला कैसे? क्या दूसरा शरीर उसी घर में रहता है? जिसमें बूढ़ा मरता है। वह लोक लोकान्तर में जाता है। इस लोक में भी देशान्तर में पैदा होगा। उसी घर में मरा,

उसी घर में पैदा हुआ, ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता। जब इस घर को छोड़कर दूसरे घर में पैदा होगा तब बीच की जगह बिना शरीर ही जाना पड़ेगा। इसका उत्तर है कि बीच में एक छोटा यातना शरीर मिलता है। वह यातना शरीर सूक्ष्म होता है। इस शरीर के छूटते ही वह यातना शरीर मिलता है। उस यातना शरीर के छूटते ही दूसरा शरीर मिलता है। जैसे एक रुमाल पहनकर प्रथम पेंट छोड़ देते हैं। फिर उस रूमाल को पहनते हुए ही पाजामा पहन लेते हैं। यह तो यातना शरीर जहाँ मिलता है वहाँ की बात हुई। कहीं कहीं यातना शरीर के बिना ही दूसरा शरीर मिलता है। यह अन्तःकरण संकल्पानुसार लम्बा होता है। संकल्प से स्वर्ग नरकादि पहुँचता है। किन्तु मूल शरीर को नहीं छोड़ता। मूल शरीर को तभी छोड़ेगा जब दूसरा शरीर तैयार प्राप्त हो। जैसे जड़ भरत ने संकल्प से मृग शरीर को प्रथम प्राप्त किया। तब पूर्व शरीर त्यागा। वहाँ यातना शरीर की बात नहीं आती है।

सारांश यही कि भगवान के राज्य में दूसरा शरीर अवश्यमेव प्राप्त होता है, अतः फिकर करने की जरूरत नहीं है कि दूसरा शरीर मिलेगा या नहीं। इसी दृष्टान्त से यह भी मालूम पड़ता है कि द्वापर युग में किसी को अन्न वस्त्र की कमी नहीं थी। कपड़ा जहाँ फटा उसे छोड़कर दूसरा नया वस्त्र पहन लेते थे। अन्यथा दृष्टान्तानुसार यही शंका उठ खड़ी होती। उस समय सारी पृथिवी सस्य श्यामला थी। अन्न वस्त्र की कहीं कमी नहीं थी।

एक दूसरा संशय होता है कि फटा पुराना छोड़ कर नया वस्त्र पहनने हैं, किन्तु वस्त्र रेशमी हो, फट गया हो, और दूसरा बोरे का वस्त्र हो तो कौन पूर्व वस्त्र को शीघ्र छोड़ना चाहेगा। यह मानव शरीर अत्यन्त उत्तम है। रेशमी वस्त्र के समान है। इस शरीर के बाद यदि पशु पक्षी का शरीर मिले तो कौन उसे स्वी-

कारेगा ? कौन आसानी से पूर्व शरीर छोड़ना चाहेगा ? मजबूरन छोड़ना पड़े यह अलग बात है। भीष्म द्रोणादि का शरीर अत्यन्त उत्तम है। द्रोणाचार्य ब्रह्मणोत्तम हैं। भीष्म पितामह क्षत्रित प्रवर हैं। मरणोत्तर कोई निश्चय तो है नहीं कि वे ब्राह्मण या क्षत्रिय ही बनेंगे। भरत जैसे को हिरण बनना पड़ा तो अन्यों की बात ही क्या ? अर्जुन कहता है यही हालत मेरी भी है। कोई ग्यारंटी है कि मैं मरूँ तो मानव शरीर तत्रापि ब्राह्मण या क्षत्रिय शरीर ही मिलेगा। घोड़े गधे का शरीर भी मिल सकता है। अतः पुराना ही सही। जहाँ तक अपने बस की बात है तब तक इन शरीरों की रक्षा करनी ही चाहिये। इस पर भगवान का उत्तर है। नर शब्द की आवृत्ति से ही समझ लेना चाहिये। व्यास जी ने नर का परमात्मा अर्थ किया है—

"नरतीति नरः प्रोक्तः परमात्मा सनातनः।"

मुकुट ने नर शब्द की व्याख्या में बताया है—

"नयन्ति पूर्वान्पुरुषानुत्तमां गतिम्।"

निरुक्त में 'नृत्यन्ति कर्मसु' ऐसी व्याख्या है। सारांश यह है कि परमात्म भाव से कर्म करते हुए पूर्व पुरुषों को भी जो उत्तम गति दे वही नर कहलाने योग्य है। ऐसे नरों में अर्जुन का प्रथम स्थान है ही। अत एव अर्जुन का खास नाम नर भी है। नर नारायण के अवतार रूप अर्जुन एवं कृष्ण हैं ऐसी प्रसिद्धि पुराणों में है। उस नर शब्द की व्याख्या में पूर्वोक्त सारी बातें स्पष्ट आती हैं। साधारण मनुष्यपने को लेकर नरनारायणान्तर्गत नर में नर शब्द की प्रवृत्ति नहीं है। नर वह है जो अपना कल्याण करे ही, पूर्व पुरुषों को भी उत्तम गति प्रदान करें। ऐसे नर के मरणार्थ शोक व्यर्थ है।

हमारे परम गुरु (भाषा में दादागुरु) अन्त समय में पुष्करराज में रहने लगे थे। उनके शिष्य बड़े-बड़े महामण्डलेश्वर थे। उनके

अन्तिम दर्शनों के लिये सभी शिष्य उपस्थित थे। अन्त समय में उनका शरीर कुछ अस्वस्थ था। उनका शरीर छूटा। अन्तिम क्रियायें सम्पन्न हुईं। षोडशी के दिन बड़ा समारोह रखा था। बड़े बड़े वक्ताओं ने प्रवचन किये। कई गृहस्थ शिष्य भी आये हुए थे। उनको वहाँ का दृश्य देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। आखिर एक गृहस्थ प्रश्न पूछ ही बैठा। उसने कहा—महाराज! हमारे यहाँ कोई बड़ा क्या साधारण व्यक्ति की भी मृत्यु होती है तो सब लोग रोते हैं। परंतु आपके यहाँ कई दिनों से देख रहा हूँ, इतने बड़े महात्मा गये, किन्तु कोई रोता नहीं, सभी प्रसन्न हैं। यह कैसी बात है। उस समय हमारे गुरुजी महाराज बोले—भगतजी! तुम्हारा रोना भी ठीक है, हमारा हँसना भी ठीक है। तुम्हारे घरों में जो मरते हैं वे अपने कर्त्तव्य को पूरा किये बिना ही जाते हैं तो तदर्थ रोना चाहिये, अफसोस करना चाहिये। किन्तु हमारे गुरू महाराज कृतकृत्य हो चुके हैं। वे मरे नहीं ब्रह्मलीन हो गये, ब्रह्मस्वरूप हो गये। तदर्थं हमारी प्रसन्नता भी उचित है। यही बात यहाँ भगवान कह रहे हैं। रोना चाहिये अकृतार्थों के लिये। भिष्म द्रोणादि अकृतार्थ नहीं हैं। वे नररूप हैं। ज्ञातार्थ हैं, कृतकृत्य हैं। उनका कुछ कर्म अवशेष भी रह गया तो उससे "नवानि" और भी अधिक ताजा उत्तम शरीर ही उन्हें प्राप्त होगा। नवानि का अभिनवानि ऐसा अर्थ भाष्य में किया है। हर प्रकार से नवीनता हो तो अभिनव कहते हैं। पुराना रेशमी कपड़ा हटाकर नया बोरा दे दें तो कोई नहीं कहेगा कि इसको अभिनव कपड़ा प्राप्त हुआ। ऐसा कहने पर यह व्यंग ही माना जायेगा। नव शब्द 'नू स्तुतौ' धातु से बना है। नूयते स्तूयतेऽयमिति नवः। जो स्तुत्य हो उसे नव कहते हैं। रेशमी के स्थान पर बोरा क्या स्तुत्य होगा? इसी प्रकार भीष्म द्रोणादि के ब्राह्मण क्षत्रिय शरीर के स्थान पर घोड़े गधे का शरीर हो तो वह स्तुत्य नहीं हो सकता। हाँ, जिन

दुर्योधनादि को ऐसा अधम शरीर प्राप्त होने को आशंका है उनके लिये शोक करना ठीक भी हो सकता है। परंतु वह मोह प्रयुक्त नहीं, दया प्रयुक्त है। वहाँ व्यक्ति के लिये शोक नहीं, उनके कुकर्मों के लिये शोक है। सर्वथापि व्यक्ति तो अशोच्य ही है।

देही। क्या सबको नूतन शरीर मिलेगा? नहीं। जो देही—देहाधारी देहाभिमानी हो उसीको मिलेगा। देहाभिमान रहित होने पर मुक्त ही हो जायेगा ॥२२॥



नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

[इस आत्मा को शस्त्र नहीं काटते, अग्नि नहीं जलाती, पानी नहीं भिगाता और हवा नहीं सुखाती ॥ २३ ॥]

'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इस बात को वस्त्र के दृष्टान्त से पूर्व श्लोक में समझाया। वस्त्र के फटने से शरीर भले न फटे। वस्त्र के टुकड़े होने से शरीर भले टुकड़े न हो, किन्तु स्वतन्त्र रूप से शरीर कटता फटता तो है। वैसे शरीर के कटने फटने से आत्मा भले कटे फटे नहीं। किन्तु स्वतन्त्र रूप से कट सकता है। फट सकता है, ऐसा पूर्वपक्ष कोई करे तो उसका भी यहाँ जवाब दिया जा रहा है—"नैनम्०"। शस्त्र आत्मा को नहीं काट सकते। अग्नि उसे जला नहीं सकती। पानी उसे फुला नहीं सकता। वायु उसे सुखा नहीं सकता। यह कर्तृनिष्ठ असामर्थ्य प्रतिपादक श्लोक है। क्यों नहीं ? इसमें हेतु यहाँ स्पष्ट नहीं बताया, फिर भी 'एनं' इस अन्वादेश से हेतु समझा जा सकता है। कठोपनिषद् में इन दोनों मन्त्रों के बाद में यह 'न जायते म्रियते वा' इत्यादि से उक्त तत्त्व क्या है ? इसे नामतः निर्देश किया है—

"अणोरणीयान् महतो महीयान्

आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको

धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥"

अर्थात् पूर्वोक्त तत्त्व यही आत्मा है। वह आत्मा अणु से अणुतर एवं महान से महत्तर है। समस्त जन्तुओं के हृदयगुहा में स्थित

है। उस आत्मा को कामशोकरहित पुरुष ही देखता है। आत्मा की महिमा को इन्द्रियान्तःकरणादि के प्रसाद से ही देखा जा सकता है। उसी आत्मा को यहाँ 'एनं' से परामर्श किया है। आत्मा का अर्थ है—स्वरूप। इसीलिये इसके भाष्य में बताया है—"अणु महद् वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवात्मना नित्येनात्मवत्संभवति। तदात्मना विनिर्मुक्तमसत् संपद्यते।" अर्थात् अणु महान् आदि कोई भी वस्तु हो, इस आत्मा से स्वरूपवान् होती है। अन्यथा असत् होती है। यही बात "नासतो विद्यते भावः" इस श्लोक में भी बताया।

स्मृतियों में आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति अनेक प्रकार से की है। 'आप' धातु से और आङ्पूर्वक 'दा' धातु, 'अद' धातु, और 'अत' धातु से भी आत्मा शब्द बनाया है—

"यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते॥"

यच्चाप्नोति। "आप्लृ व्याप्तौ" धातु से मन् प्रत्यय किया और पकार को तकार किया तो आत्मा हुआ। आप्नोतीत्यात्मा। प्राप्त करता है इसलिये आत्मा है। क्या प्राप्त करता है? कैसे प्राप्त करता है?। शेषवाचक पद न होने से प्राप्तव्य सभी प्राप्त करता है। कैसी प्राप्ति है? दो प्रकार की प्राप्ति प्रसिद्ध है। एक, जैसे पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। रास्ते में किसी स्त्री की नथनी का हीरा गिर पड़ा था, दूसरे को मिल गया, क्या ऐसा पुत्ररत्न प्राप्त हुआ? कुँआ खोदते समय हीरा मोती आदि रत्न प्राप्त हुआ, उसी प्रकार पुत्ररत्न प्राप्त हुआ? नहीं। यह अप्राप्त की प्राप्ति नहीं है। पुत्र प्रथम पिता के शरीर में सूक्ष्मरूप से था। बाद में माता के उदर में आया। वही प्रकट हुआ। अन्तःस्थित पुत्र केवल प्रकट हुआ। यही पुत्ररत्न की प्राप्ति है। न कि अन्यत्र स्थित किसी पुत्ररत्न की प्राप्ति। दूसरे प्रकार की प्राप्ति धन गृहादि की प्राप्ति है। मेहनत की, व्यापार किया, नौकरी की, तो दूसरे के पास में जो धन था वह अपने पास

आ गया। यह भी प्राप्ति है। यह अप्राप्त की प्राप्ति है। अप्राप्त की प्राप्ति प्रायः काल्पनिक होती है। वास्तविक नहीं। आज जो आपके पास धन है वह दूसरे दिन दूसरे का हो सकता है। वह असली प्राप्ति नहीं है। पुत्रादि प्राप्ति में ऐसी बात नहीं है। पुत्र प्राप्त हुआ तो वह पुत्र कहीं भी जाय लेकिन पुत्र ही रहेगा। आज एक का पुत्र कल दूसरे का नहीं हो सकता। वह अपनी इच्छा से अन्यत्र चला जाय, दूसरे को माने, यह अलग बात है। किंतु जिसका पुत्र होगा, उसका वह पुत्र ही रहेगा। ब्रह्म ने जगत को प्राप्त किया तो कैसी प्राप्ति ? यहाँ मुख्य और गौण दोनों के विचार में प्रथम मुख्य अर्थ आता है। अर्थात् असली प्राप्ति ही यहाँ अर्थ है। जैसे पिता ने पुत्र प्राप्त किया, जैसे बीज ने अंकुर प्राप्त किया वैसे प्राप्तव्य सकल जगत को अपने अंदर से प्रकट कर जो प्राप्त करता है वही आत्मा है! "व्याप्नोति" इस अर्थ में भी वही अर्थ है। समस्त जगत में व्यापक वही होगा जो सबका उत्पादक हो। घट में व्यापक मिट्टी ही होती है। घड़े में पानी भरकर रखा तो पानी व्यापक नहीं होगा। बाहर के भाग में पानी नहीं। बाहर भीतर घट में व्यापक तो मिट्टी ही है। वैसे समस्त जगत में व्यापक आत्मा है। इसलिये वह आत्मा कहलाया।

"यदादत्ते" इत्यादि आत्मा के लक्षण बहुत विस्तृत है। यहाँ पर उपयोगी केवल 'यच्चाप्नोति' यह प्रथम लक्षण ही है। यच्चा-प्नोति में प्राप्नोति और व्याप्नोति ये दो अर्थ आते हैं। "आप" धातु का प्राप्ति अर्थ है। "आप्लृ व्याप्तौ" ऐसा व्याप्ति अर्थ महर्षि पाणिनि ने बताया है। दोनों ही अर्थ पक्ष में उपादान कारण ही आत्मा शब्द का अर्थ है। आत्मा मानें खुद—स्वयम्—अपने आप। घट का आत्मा है मिट्टी। वह घट का स्वरूप है। जो स्वयं है, अपना स्वरूप है, उसको उसका कार्य कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। कपड़ा तन्तु को कोई नुकशान नहीं पहुँचा सकता। क्यों

कि कपड़ा यदि तन्तु को नष्ट करे तो कपड़ा ही कैसे रहेगा ? वैसे ही समस्त जगत आत्मा का कार्य है। वह जगत आत्मा को क्या नुकशान पहुँचायेगा ? तलवार दूसरे को काट सकती है। अपने आपको नहीं। अग्नि लकड़ी को जलायेगी अपने आपको नहीं। पानी दूसरे को गलायेगा, अपने आपको नहीं। वायु पत्ते फल आदि को सुखायेगा, अपने आपको नहीं। आत्मा तो सबका अपना आपा है, उसे ये सब कैसे हानि पहुँचा सकते हैं ? यही बात इस श्लोक में बतायी जा रही है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि। प्रथम प्रश्न है कि अस्त्र-शस्त्र आत्मा को काट सकते हैं या नहीं। यह युद्ध का अवसर है। अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा होने जा रही है। तो ये अस्त्र-शस्त्र आत्मा को काट सकते हैं या नहीं ? किसी पर तलवार पड़ी तो धड़ से सिर अलग हो जाता है। सिर कटा तो आत्मा भी कटा कि नहीं ? रणांगण में जवानों के शरीर टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं तो आत्मा के भी टुकड़े होते हैं या नहीं ? जब शरीर में आत्मा व्यापक है। तब शरीर के टुकड़े होने पर आत्मा के भी टुकड़े होने चाहिये। शरीर कटने पर आदमी मर जाता है, इसका अर्थ है शरीर के साथ आत्मा भी कट गया और नष्ट हुआ। यदि आत्मा न कटता और न मरता तो शरीर के दोनों टुकड़े जीवित रहते। कहीं कहीं शरीर कट जाता है तो आत्मा कटकर दो भी हो जाता है, मरता नहीं। बारिश में केचुए होते हैं। उनके शरीर दो टुकड़े होने पर दोनों टुकड़े जीवित रहते हैं। वहाँ विशेषता यह है कि बाद में एक टुकड़े पर पाँव लगा या कोई आघात हुआ तो वही टुकड़ा छटपटाता है, दूसरा नहीं। यदि आत्मा टुकड़ा न होता, एक ही होता तो केचुए के दोनों खण्डों में एक ही आत्मा होने से एक खण्ड पर आघात होने पर दोनों खण्ड छटपटाते। जैसे आदमी के पाँव पर चोट लगतो है तो हाथ भी फड़फड़ाता है मुँह से भी हाय! हाय! निकलती है।

क्योंकि आत्मा एक है। अफ्रिका आदि देशो में 'अमीबा' नामक एक प्राणी होता है। वह लंबा हो जाता है तो दो टुकड़े हो जाते हैं। तो दो प्राणी होते हैं। फिर वे दोनों भी लंबे होते हैं तो फिर दो दो टुकड़े होते हैं। फिर वे टुकड़े बड़े होते हैं इसी प्रकार उस प्राणी की वंश परम्परा चलती है। वहाँ स्पष्ट है कि आत्मा के टुकड़े होते हैं। उस प्राणी को जिन्होंने नहीं देखा हो उनके लिये भी दृष्टान्त हमारे पास है। मेहंदी, मोगरा आदि को टहनियाँ लग जाती हैं। बरगद की जड़ अलग उतर आती है। वह भी जमीन में लगती है। फिर बीच में से न काटो तो एक वृक्ष रहता है। बीच में से काट दो तो बरगद के पेड़ दो हो जाते हैं। वृक्षादि का भी आत्मा माना है तो वहाँ आत्मा के टुकड़े हो गये ऐसा मानना पड़ेगा।

पौराणिक कथाओं में भी आत्मा के टुकड़े होने और जुड़ने की बात आती है। गांधारी ने एक मांस पिंड को जन्म दिया था। उसके सौ टुकड़े कर घडों में रख दिया तो सौ भाई कौरव हो गये, ऐसी कथा आती है। जरासंघ की कथा में यह बात आती है कि प्रथम जन्म समय में दो मांस के टुकड़े पैदा हो गये थे। उन दोनों को जरा नाम की राक्षसी ने जोड़ दिया, इस लिये जरासंध नाम पड़ा। कलमी आम तैयार करते समय दो को मिलाकर एक करते हैं। पुराणों में सौभरि ऋषि की कथा बहुत प्रसिद्ध है। सौभरि ऋषि राजा मांधाता के प्रासाद में बिवाहार्थ गये। सौभरि को वृद्ध देखकर राजा ने कहा, आप कन्या अन्तः पुर में जाइए। जो कन्या आपको पसंद करे उसे ले जाइए। सौभरि ने राजा की चतुराई समझी तो तपशक्ति से ऐसा सुन्दर रूप धारण किया कि कन्या अन्तः पुर में जाने पर राजा की जो पचास कन्यायें थीं, पचासों ने एक साथ वरण किया। तब सौभरि ने भी पचास शरीर धारण किया। पचास शरीरों में एक ही आत्मा था या आत्मा के पचास टुकड़े हुए ? एक ही आत्मा हो तो अलग-अलग सुख दुःख भोग

आदि नहीं होते। एक शरीर में दर्द हो जाता तो पचासों रोने लग जाते। योगशास्त्र में भी ऐसे स्थलों में अलग-अलग ही भोग माना है। जैसा भी हो। अस्त्र शस्त्रादि से तो शरीर के कटने पर आत्मा भी कट जाता ही होगा। तब भीष्म पितामहादि के शरीर नाश के साथ आत्मा का भी नाश होने से वे शोक योग्य क्यों नहीं ? इसका उत्तर है—**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि**। आत्मा को अस्त्र शस्त्रादि नहीं काटते। केचुल को शस्त्र काट सकते हैं। पर आत्मा को नहीं। अधिक विचार आगे करेंगे।

नैनं दहति पावकः। दूसरा प्रश्न हुआ कि काटा न जा सके तो भी जला सकते हैं या नहीं। जो जंगल काटकर खतम नहीं किया जा सकता उसको भील लोग जलाकर खतम करते हैं। पहाड़ों में बहुत जगह अग्नि जलती हुई दिखाई पड़ती है। तो यह प्रायः भीलों का काम रहता है। चलने फिरने के लिये रास्ता नहीं रहता। इतने पेड़ काटे नहीं जा सकते तो आग लगा देते हैं। आग में सारा जंगल जल जाता है। इसी प्रकार अग्नेयास्त्र को अग्नि से या चिता की अग्नि से आत्मा जलता है या नहीं ? आत्मा को शस्त्र क्यों नहीं काट सकते इस विषय में एक संत बोल रहे थे—सोने की एक ईंट थी उसे दो टुकड़े किये तो ईंट के दो टुकड़े हुए या सोने के दो टुकड़े हुए ? सोने के अगर दो टुकड़े होते तो कहना चाहिये यह अधूरा सोना है। आधा सोना है। जैसे ईंट पहले पूरी थी अब अधूरी ईंट है, आधी आधी ईंट है। वास्तव में सोना नहीं टूटा, सोने की ईंट टूटी। इस प्रकार सोने का कटना मत मानिये लेकिन अग्नि जलाती है। मिट्टी के घड़े को अग्नि ने जलाया तो मिट्टी को भी जलाया। नहीं तो मिट्टी का रंग काला क्यों हुआ ? कपड़ा जलाया तो तंतु भी जल जाता है। वैसे आत्मा भी जलता है या नहीं ? इसका उत्तर है—नैनं दहति पावकः। चिता पर शरीर जलता है, आत्मा नहीं। आत्मा चला गया इसलिये नहीं जलता है क्या ?। नहीं। जिंदा भी जलावे तो भी आत्मा नहीं जलता।

न चैनं क्लेदयन्त्यापः। कई वस्तु ऐसी हैं जो शस्त्र से काटी नहीं जातीं, आग से जलायी नहीं जाती, किन्तु पानी में गला दी जा सकती है। चना भिगोकर फुलाते हैं। अंकुर आ जाता है तो वह फट जाता है। इसी प्रकार वारुणास्त्र से भिगोने पर शरीर के साथ आत्मा भी फूल जाता है या नहीं, और बाद में फूटता है या नहीं ? जैनों का मत है कि अन्न-जल से शरीर फूलता है तो आत्मा भी फूलता है। आत्मा यदि न फूले तो शरीर व्यापी नहीं होगा। तब पूरे शरीर का ज्ञान नहीं होगा। अतः आत्मा भी फूलता है। तब यह आशंका भी अवश्यमेव होगी कि जलोदर बिमारी से पेट फट जाता है तो आत्मा भी फट जायेगा। फूलता है, किन्तु फटता नहीं ऐसा कहना मुश्किल है। इसके उत्तर में कहा जा रहा है कि आत्मा फूलता भी नहीं। फटता तो है ही नहीं।

न शोषयति मारुतः। वायु में पृथिवी जल और तेज की अपेक्षा भी एक विलक्षण शक्ति होती है। प्रलयकाल में अन्त में वायु ही सबको नष्ट करता है। पृथिवी को गन्ध रहित बनाकर जल में वायु ही विलय करता है—

"वायुना हृतगन्धा भूः सलिलत्वाय कल्पते"

ऐसा श्रीमद्भागवत में बताया है। अर्थात् वायु पृथिवी की गन्ध का हरण करता है तो पृथिवी जल में लीन हो जाती है। फिर पानी को सुखाने का काम भी वायु कर सकता है। तेज का रूप भी हरने वाला वायु है। तब तेज स्वयं वायु में लीन होता है। इस प्रकार प्रसिद्ध त्रिदेवता रूपी भूतत्रय को वायु नष्ट करता है। कपड़ा गीला हो तो हवा में डालो। थोड़ी देर में हवा कपड़े को सुखा देती है। क्या यह हवा इन भूतत्रत के समान आत्मा को भी सुखा सकती है या नहीं ? इसके उत्तर में यहाँ बताया 'न शोषयति मारुतः'। हवा आत्मा को सुखा नहीं सकती।

'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' इत्यादि प्रतिज्ञामात्र यहाँ दीखती है। हेतु स्पष्ट नहीं है। तथापि इसमें हेतु हम पहले कह आये हैं। चूंकि यह सबका आत्मा है-स्वरूप है स्वयं है, अतः ये चारों (शस्त्रादि) आत्मा का कुछ भी नुकसान नहीं कर सकते। तलवार अपने से भिन्न लकड़ी को काट सकती है, गला काट सकती है, वृक्ष को काट सकती है। किन्तु कहो, अपने आप को काटो तो नहीं हो सकता। क्योंकि अपने आप पर अपने आप की क्रिया काम कर नहीं सकती। जब अपने आप पर भी उसकी क्रिया नहीं हो सकती तो उसकी आत्मा-परम स्वरूप पर कैसे कामयाब हो। घड़ा स्वयं को नहीं फोड़ सकता तो अपने अंदर स्थित मिट्टी को खलास कैसे कर सकता है। तब परम मूल सच्चिदानन्द रूप आत्मा पर कैसे सक्रिय हो सकता है।

घड़े का कारण—उपादान कारण मिट्टी है। वैसे क्या शस्त्रादि का परम उपादान कारण आत्मा है? हाँ। आत्मा से ही समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है। यह बात उपनिषदों में बतायी है।

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः
आकाशाद्वायुर्वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी"

ऐसा श्रुति वचन है। तब ये अस्त्र-शस्त्रादि अपने आपको नहीं काट सकते तो परमोपादान कारण आत्मा को कैसे काटते?

जैसे शस्त्र अपने आपको और अपने स्वरूपभूत आत्मा को नहीं काट सकते वैसे अग्नि भी न अपने आपको जला सकती है और न अपने परमस्वरूप आत्मा को जला सकती है। अग्नि लकड़ी को जलाती है। और राख बना देती है। परन्तु यदि आगे राख को जलाने के लिये सोचा जाय तो राख को अग्नि नहीं जला सकती। अग्नि जिसको न जला सके वह ब्रह्म का प्रतीक माना गया। इसी लिये शंकर भगवान अपने शरीर में भस्मी लगाते हैं। लकड़ी आदि

का अन्तिम सार तत्त्व राख है। इसी प्रकार जगत् का सार ब्रह्म है। जगत् के जलने के बाद वही बचता है। जगत् को जलाने वाली अग्नि कौन सी है?—"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।" ज्ञानरूपी अग्नि जगत को जलाती है। क्रियन्त इति कर्माणि। यहाँ कर्म शब्द का केवल पुण्यपाप कर्म ही अर्थ नहीं। किन्तु उत्पत्ति वाली समस्त वस्तु अर्थ है। पुण्यपाप अर्थ पक्ष में भी सारा जगत् पुण्यपाप का फल होने से कर्म पद से ग्राह्य है। कुछ वस्तु समष्टि कर्म का परिणाम है। और कुछ पदार्थ व्यष्टि कर्म का फल है—इतना ही अन्तर है। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि से व्यष्टि समष्टि सभी कर्म ग्राह्य हैं। प्रश्न होगा कि अभी तक कई ज्ञानी हो गये किन्तु अभी तक जगत भस्म नहीं हुआ। अतः कर्म पद का अर्थ सारा जगत किस प्रकार? उत्तर यही है कि यहाँ ध्वंसरूपी दाह अर्थ नहीं, किन्तु बाधरूपी दाह अर्थ है। नाश दो प्रकार का होता है। एक ध्वंसात्मक है। दूसरा बाधात्मक है। घड़े को डंडे से तोड़ा तो ध्वंसात्मक नाश हुआ। लेकिन घड़ा कसोरा इंट आदि सभी मिट्टी ही है। घटादि वाचारंभण नामधेय मात्र है। शरीर पृथिवी जलादि पाँच भूत ही हैं। सुन्दर, कुरूप शरीर इत्यादि वाचारम्भण मात्र है। इस प्रकार की भावना से कार्य दृष्टि समाप्त होकर केवल कारण दृष्टिमात्र रहती है तो वह बाधात्मक नाश है। ज्ञानाग्नि बाधात्मक नाश करती है। ध्वंसात्मक नाश नहीं।

इसी ब्रह्मरूपी परमतत्त्व को धारण करने के लक्ष्य से संत लोग भी मस्तक में एवं शरीर में भस्म धारण करते हैं। त्रिपुण्ड्र का भी अर्थ—जगत् भस्मीकरण के बाद अवशिष्ट अस्ति भाति प्रियरूप तत्त्वत्रय को मस्तक में धारण करना है। अखण्ड विभूति रमाते हैं तो वहाँ विभाग नहीं रखते। व्यवहार दशा में अस्ति भाति प्रिय विभाग रहता है। परमार्थ दशा में वह विभाग भी नहीं रहता। अतः अवधूत लोग अखंड विभूत रमाते हैं। या ऐसा भी अर्थ कर

सकते हैं कि त्रिगुणात्मक जगत है। सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को जलाया तो तीन भस्म हो गये। यही त्रिपुण्ड्र का अर्थ है। जो भी अर्थ हो, किन्तु जगत दहन के बाद बचेगा ब्रह्म ही।

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायु-
र्न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः।
अनैकान्तिकत्वात् सुषुप्त्येकसिद्ध-
स्तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्॥

इस प्रकार बाध करना ही दाह है। उसके बाद अवशिष्ट जो रहता है, जिसका दाह नहीं होता, वही अदाह्य है।

यह अधिक गहराई से विचार हुआ। सामान्य अर्थ यह है कि लकड़ी के जलने के बाद जो बाकी भस्मी बचती है, उसे भी अग्नि नहीं जला सकती तो प्रलयादि समय में जगत भस्मीकरणोत्तर बचने वाले ब्रह्म को अग्नि कैसे जला सकती है। पानी को अग्नि जलाती है। बरतन में पानी रख कर नीचे अग्नि जलावे तो पानी जल जाता है। किन्तु जलने के बाद वह भाँप बनता है। उस भाँप को फिर अग्नि नहीं जला सकती। पानी के जलने के बाद बचने वाले भाप को भी यदि अग्नि नहीं जला सकती तो जगत के जलने के बाद बचने वाले ब्रह्म को अग्नि कैसे जला सकती है? अतः बताया—नैनं दहति पावकः।

न चैनम्। जैसे शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती वैसे पानी भिगा नहीं सकता, फुला नहीं सकता, गला भी नहीं सकता। क्यों नहीं? हेतु वही है, चूँकि वह आत्मा है जल का भी। अतः जल उस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकता। जल अपने आपको गला नहीं सकता। अन्य लकड़ी पत्ते आदि को गला सकता

है। परमात्मा जलादि का भी मूल स्वरूप है। उस पर जल का प्रभाव कैसे पड़ सकता है ? परमात्मा से ही जल की सृष्टि हुई है।

'अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्'।

परमात्मा ने प्रथम जल का सर्जन किया। उसमें अभिन्ननिमित्तो-पादान के रूप में परमात्मा ही कारण है। उस मूल परमात्मा में कार्य स्वरूप जल कोई भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकता।

न शोषयति। इसी प्रकार वायु भी आत्मा में कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकता। वायु का काम सुखाना है। गीली लकड़ी, गीला कपड़ा आदि को वायु सुखाता है। एक बोतल में गङ्गाजल भरकर अच्छी तरह ढककर सालों रखो तो भी पानी सूखेगा नहीं। किन्तु खुला रखें, हवा लगती रहे, तो थोड़े दिन में पानी सूख जायेगा। अतः निश्चित होता है कि पानी को हवा ही सुखाती है। लकड़ी आदि को भी हवा ही सुखाती है। क्या वैसे आत्मा को वायु सुखा सकता है ? नहीं। क्यों ? आत्मा हवा का भी स्वरूप है। इस प्रकार चारों भूतों का प्रभाव आत्मा में नहीं पड़ता। तब हे अर्जुन ! तुम क्यों घबरा रहे हो युद्ध के लिये। केंचुए आदि के दो टुकड़े होते हैं तो आत्मा के भी टुकड़े हो जाते हैं कि नहीं ? इसका उत्तर हम अगले श्लोक की व्याख्या में बतायेंगे ॥ २३ ॥

●

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च
नित्यः सर्वंगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।२४।।

[यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है। और यह आत्मा निःसन्देह नित्य सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है ॥ २४ ॥]

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि इत्यादि पूर्व श्लोक में शस्त्रादि चार आत्मा पर कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकते बताया। शस्त्र से पृथिवी पावकः से अग्नि, आपः से जल और मारुतः से वायु इस प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों का प्रभाव आत्मा पर नहीं पड़ता यह तात्पर्य हुआ। इसमें हेतु यह बताया गया कि आत्मा इन सबका परम स्वरूप है। अपने स्वरूप को कोई विकृत नहीं कर सकता। सांप दूसरे को काटे तो जहर चढ़ेगा। किन्तु सांप का विष अपने आप पर नहीं चढ़ता। तलवार की धार अपने आप को नहीं काट सकती। अस्तु इस प्रकार शस्त्रादि भले न काटे। एवं पावकादि दाहादि न करे। किन्तु इतने से उत्तर नहीं हो जाता। कालवशात् यह अपने आप कट भी जाता है या नहीं। जलता, गलता एवं सूखता है या नहीं ? अमीबा नाम के कीड़े का उदाहरण पूर्वत्र दिया। वह बड़ा होने पर अपने आप कट जाता है। केले के कंद से अपने आप बीच का पेड़ सूख जाता है और चारों ओर चार-पाँच पौधे पैदा हो जाते हैं। इस प्रकार शस्त्र अग्नि आदि कर्त्ताओं के बिना स्वत एव छेदन दाहादि होता है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर सामान्यरूपेण छेद्यत्व, दाह्यत्वादि का निषेध करते हुए भगवान् कहते हैं— **अच्छेद्योऽयं** इत्यादि। यहाँ शस्त्र, अग्नि आदि का विशेष नाम नहीं लिया गया। अतः सामान्यतः छेदनादि का निषेध है।

अच्छेद्योऽयम्। बंबई जैसी नगरी है। वहाँ रहने की बड़ी तंगी है। बंबई में गुजराती लोग कहते हैं—यहाँ रोटला मिलता है किन्तु ओटला नहीं मिलता। एक बड़ा कमरा हॉल जैसा है। दूसरा एक रूम है। माँ बाप रूम में रहते थे। लड़के हॉल में सोते थे। लड़के की शादी हुई। कमरे का अभाव है। तब क्या करते हैं? हॉल का पार्टीशन करते हैं। एक हॉल था, अब उसे दो खण्ड बना दिये। खण्ड माने टुकड़े। पार्टीशन किया अर्थात् विभक्त किया। किसका विभाजन किया? कमरे का। जो हॉल जैसा था। उस कमरे में क्या इंटों को खण्ड किया या दीवार के टुकड़े किये या छत को तोड़ा या फरश को भंग किया? क्या किया? उत्तर है दीवार आदि को कुछ नहीं किया। यदि किराये का मकान हो तो दीवार आदि को खोद भी नहीं सकते। तब किसके खण्ड किये? बीच में जो है अवकाश, उसका। 'स्पेस' अब एक के बदले दो हो गये। बीच में आकाश का विभाजन किया। किन्तु आकाश के टुकड़े हो सकते हैं क्या? कमरे के मध्य में लकड़ी या इंट की दीवार बनायी गई तो मकान के टुकड़े नहीं हुए, अन्दर के आकाश के ही टुकड़े हुए। पर, आकाश के टुकड़े नहीं हो सकते। माना जाय कि आकाश के टुकड़े हो गये। तो बाद में नया मकान लड़के के लिये मिला और बीच का पार्टीशन हटाया तो? आकाश जो दो टुकड़े हो गये थे वे दो के दो ही रहेंगे या जुड़ जायेंगे। जुड़ने पर टूटने की निशानी रहती है कि नहीं? बात यह है कि आकाश न तो विभक्त होता है और न जुड़ता ही है। उपाधि से टुकड़े प्रतीत होते हैं। उपाधि हटने पर एक दीखता है। यही आत्मा की भी स्थिति है। आत्मा सकल शरीर में एक है। अन्तःकरण उपाधि भेद से अलग-अलग प्रतीत होता है। वह चेतन है। ज्ञानस्वरूप है। उपाधि जड़ है। एक केले के कंद से प्रथम एक केले का पेड़ हुआ, बाद में वह सूखा, चार पेड़ और उग आये तो उस कंद में स्थित चार

बीजों से चार पेड़ हुए। बीज उपाधि भेद से चार आत्मा प्रतीत होने लगे। बीज शक्ति अभिव्यक्त होती है तो उसमें अन्तःकरण आ जाता है तो अन्तःकरणोपाधिक जीवात्मा भी आता है। जिस जन्तु का वर्णन हम पहले कह आये, जो टुकड़े होकर दो बनता है। वहाँ एक अन्तःकरण निर्गत होता है। टूटे हुए शरीरों में दो अन्तःकरण आते हैं। पेड़ की डाली काटकर लगाते हैं तो नये अन्तःकरण का सम्बन्ध उसमें हो जाता है। बरगद के पेड़ में बोर लगते ही नया अन्तःकरण जुड़ जाता है। किन्तु जुडुये जुड़े हुए लड़कों के समान एक सा प्रतीत होता है। अत एव आत्मा का कहीं भी कटना फटना नहीं होता। सौभरि आदि ने पचास शरीर ग्रहण किया तो वह एक योग की प्रक्रिया है। महर्षि पतञ्जलि ने कहा है–

"प्रवर्त्तकं चित्तमेकमनेकेषाम् ।"

अर्थात् वहाँ मुख्य चित्त एक ही है। किन्तु निर्माण चित्तों से अनेक शरीरों में जीवात्मा विचरता है। उनमें समस्त निर्माणचित्तों का प्रवर्त्तक मुख्य चित्त एक में रहता है। मुख्य चित्त के ही अवयव निर्माण चित्त हैं। उसका पृथक्करण योग प्रक्रिया से होता है।

अदाह्योऽयम्। लकड़ी का सार राख है। वह जब जलता नहीं है तब सर्वसार कैसे दग्ध होगा। राख कैसे सार है ? सार जल गया तब असार राख रह गयी, ऐसा कहना चाहिये। नहीं। हीरे का भस्म बनाते हैं, सोने का भस्म बनाते हैं, तो क्या सार वस्तु जल जाती है ? और असार वस्तु रह जाती है ? उसमें जो असार तत्त्व है वही नष्ट होता है और सार भस्म रह जाता है। लकड़ी की राख में हमने असारत्व बुद्धि की, यह अलग बात है। किन्तु वहाँ भी अदाह्यतत्त्व तो राख ही है। ब्रह्म में कोई असार अंश है हीं नहीं, जो नष्ट हो और सार बाकी रह जाय। अत एव अग्नि आदि से भी नहीं जलता और स्वयं भी नहीं जलता।

अक्लेद्यः । संधि विश्लेषण जहाँ होता है वहाँ क्लेदन–फूलना होता है। और संधि योजन में शोषण होता है। लकड़ी में पानी प्रविष्ट हुआ। और लकड़ी के परमाणुओं की संधि तक पहुँच गया। फिर धीरे-धीरे परमाणुओं को दूर करने लगा तो कहने लगते हैं—लकड़ी फूल गयी। इस शरीर में भी पानी का अंश या चिकनाई का अंश बढ़ जाता है तो शरीर फूल जाता है। प्रश्न है कि इसी प्रकार आत्मा के भी परमाणु हैं क्या ? और उनकी संधि भी होती है ? यदि हो तो संभव है उसमें पानी घुस जाय, या घी तेल की चिकनाई प्रविष्ट हो जाय और आत्मा भी फूलने लगे। ठोस वस्तु प्रायः क्लिन्न नहीं होती। पत्थर क्लिन्न हुआ ऐसा व्यवहार कम होता है। मणि क्लिन्न नहीं होती। कारण, उसके अंदर पानी प्रवेश नहीं करता। कपड़ा भिगोया गेहूँ भिगोया, चना भिगोया इसी प्रकार लोहा पत्थर मणि आदि क्या भिगोयेंगे। उनमें पानी का निषेक या अभिषेक मात्र संभव है। आत्मा को ठोस बताया है। "प्रज्ञानघनः" ऐसा शब्द आया है। प्रज्ञानघन का अर्थ है घनीभूत प्रज्ञान। उसमें ज्ञानेतर वस्तु का प्रवेश ही नहीं होता तो पानी कहाँ से प्रवेश करेगा ? ज्ञान गीला हो गया ऐसा कौन कहेगा। अतएव अक्लेद्यः कहकर यहाँ घनीभूत स्वरूप सूचित किया।

अशोष्य एव च । क्लेदन के विपरीत शोषण है। अतः वैपरीत्य सम्बन्ध होने से दोनों को एक साथ पढ़ा। अन्यथा शस्त्रोपलक्षित पृथिवी के बाद जल को बोलते। बाद में अदाह्यता और अशोष्यता कहते। पानी अंदर प्रविष्ट हुआ तो क्लेद्य हुआ। उस पानी को खतम किया या वह पानी स्वयं खतम हुआ तो शोष्य हो गया। आत्मा क्लेद्य ही नहीं तो सुतरां शोष्य भी नहीं है।

इतनी छोटी चार बातें भगवान् ने आत्मा के लिये क्यों कही ? यथा कथंचित् युद्ध प्रसंग होने से मरणभय निवृत्ति के लिये "अच्छेद्यः" विशेषण की सार्थकता हो भी, किन्तु अदाह्यः, अक्लेद्यः,

अशोष्यः ये तीन विशेषण व्यर्थ ही हैं। आत्मा को क्या, अन्तःकरण को भी तो पानी भिगा नहीं सकता। क्या नहाने पर शरीर के समान मन भी भीग जाता है? हवा लगने पर शरीर सूखता है तो मन भी सूख जाता है क्या? चूल्हे में हाथ जल गया तो क्या मन भी जल जाता है? सूक्ष्म होने मात्र से स्थूल अग्नि जलादि का वहाँ प्रवेश नहीं हो सकता, तो ये सब आत्मा के लिये असाधारण विशेषण नहीं हो सकते। इस शंका का समाधान यह है कि आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन करते हुए स्वरूपानुसंधानार्थं स्वरूप वर्णन भी यहाँ किया जा रहा है। केवल 'आत्मा नित्यः' कह दिया और सुन लिया, किन्तु इतने मात्र से शोकापनयन नहीं होता। आत्मा-नुसंधान करते हुए आत्मसाक्षात्कार हो जाय तो ही शोकादि निवृत्ति हो सकती है। अतः इन सब विशेषणों से प्राप्य विशेष अर्थ के साथ आत्मचिन्तन करने का यहाँ विधान है। अच्छेद्यः कहने का तात्पर्य यह है कि वह आत्मा अखण्ड है, ऐसा चिन्तन करो। आत्मा समस्त जगत् में व्यापक है। भेद-प्रतीति या खण्डता-प्रतीति घटा-काश, गृहाकाशवत् है। आत्मा अविभक्त है। पार्टीशन से आकाश के समान औपाधिक विभागयुक्त होता है। अदाह्यः कहने का मतलब है कि आत्मा जगत् का परमसार स्वरूप है। जिसमें आगे कोई विकृति नहीं हो सकती। अक्लेद्यः कहने से घनाकारता प्राप्त होती हैं। बाहर भीतर एकरस, संधिरहित तत्त्व उपस्थित होता है। तथा अशोष्यः कहने से काष्ठादि में विजातीय द्रव्य पानी जैसा रहता है, वैसे आत्मा में विजातीय द्रव्य नहीं रहता। एकरस हैं ऐसा अर्थ प्राप्त होता है। अन्य भी अनेक छोटी-मोटी बातें इन्हीं विशेषणों से निकलती हैं। उन सब रूप में यथा सम्भव आत्म चिन्तन करना चाहिये।

नित्यः सर्वगसः स्थाणुः। इत्यादि विशेशण भी आत्मचिन्तनार्थं है। शून्यवादी आत्मा को अनित्य मानते हैं। वे लोग निर्वाण का

अर्थ मोक्ष नहीं करते। निर्वाण का अर्थ है बुझना। जैसे दीपक में तेल पड़ता रहता है तो जलता रहता है। तेल खतम हुआ तो बुझ जाता है। यह दीपक का निर्वाण है। इसी प्रकार कर्म रूपी तेल जब तक रहता है तब तक आत्मा रूपी दीपक जलता रहता है। कर्म समाप्त होने पर आत्मदीप बुझ जाता है, यही निर्वाण है। भला, दीपक प्रकाश अच्छा है ? या दीपक के बुझने पर अन्धकार हो तो वह अच्छा होता है। आत्म दीपक कभी बुझता नहीं है। वह अबुझ नित्यप्रकाश है। शून्यवादी कहते हैं—जब तक ज्ञान प्रकाश होगा तब तक सुख दुःख होता रहेगा। ज्ञान प्रकाश बुझ जाता है तो सुखदुःखादि नहीं होंगे। अतः ज्ञान को बुझावो। भला यह भी कोई बात है ? चूल्हा जलाते हैं, रोटी बनाते हैं तो भिखारी आ सकते हैं। अतः चूल्हा ही मत जलावो, रोटी ही मत बनावो, ऐसा कोई करता है ?

"भिक्षुका आयान्तीति न स्थाल्यो नाधिश्रीयन्ते"

ऐसा न्याय है। अर्थात् भिक्षुक आयेंगे इस भय से कोई भोजन बनाना बन्द नहीं करता। वैसे सुख दुःख को मिटाने का तरीका ज्ञान को ही बुझाना नहीं है। ज्ञान के रहने पर सुख दुःख निवृत्ति नहीं होती है यह वाद उपायानभिज्ञता का परिणाम है। इसी विपरीत ज्ञान को वेदान्त दूर करता है। वेदान्त का सिद्धांत है—ज्ञान रहेगा और सुख दुःखादि विकार नहीं होंगे। क्योंकि सुख दुःखादि सभी ज्ञान में कल्पित हैं। स्वरूप ज्ञान होने पर सुख दुःखादि समस्त द्वैत प्रपञ्च की निवृत्ति होती है तो अधिष्ठानरूप नित्य ज्ञान मात्र अवशिष्ट रहता है। अतः आत्मा को नित्यरूप से ही समझना चाहिये।

सर्वगतः। आत्मा को नित्य के समान सर्वगत भी समझना चाहिये। सर्वगतः का अर्थ है—व्यापक। रामानुजादि अनेक आस्तिक आचार्य भी इस विषय में भूल कर गये। वे आत्मा को

अणु मानते हैं। उनका कहना है कि आत्मा व्यापक हो तो आपका आत्मा दूसरों के शरीर में रहेगा। तब दूसरों को जो सुख दुःख होता है वह आपको भी होने लगेगा। तथा आप सर्वज्ञ होने लगेंगे। शत्रुओं के मन में क्या विचार उठा यह आप पहले जान जायेंगे। क्योंकि शत्रु में भी आपका आत्मा है। पशु पक्षी आदि सब के हृदय में आप हैं तो सर्व सुख दुःख ज्ञान होने लगेगा। अतः आत्मा अणु है। वह हृदय स्थान में रहता है। यदि अणु है तो पूरे शरीर भर का ज्ञान कैसे होगा? पाँव में काटा लगा तो उसका ज्ञान कैसे होगा? आत्मा यदि पाँव में चला जायेगा तो हृदय आत्मा से शून्य होगा और आदमी मर जायेगा। इसका उत्तर वे लोग देते हैं कि आत्मा हृदय में रहता है, किन्तु उसका प्रकाश पूरे शरीर में फैल जाता है। जैसे घर के किसी कोने में ही दीपक रखो तो भी पूरे घर में प्रकाश जाता है। वैसे हृदय में रहने पर भी प्रकाश पूरे शरीर में व्यापेगा। यह सब कल्पनावाद मात्र है। भगवान स्पष्ट रूपेण यहाँ कह रहे हैं—सर्वगतः। दीपक दृष्टान्त विषम है। वहाँ तेल खर्चा होता है। ज्वालायें निकल कर बाहर प्रकाश रूपेण जाती हैं। क्या उसी प्रकार आत्म प्रकाश के लिये भी कोई ईंधन है? तेल है? उस ईंधन के समाप्त होने पर शून्यवादियों के समान क्या दीपक बुझेगा नहीं? इन द्वैतवादियों का कहना है 'नित्यः सर्वगतः' यहाँ सर्वगत का अर्थ यह है कि मोक्षकाल में प्रकाश व्यापक हो जाता है। संसार काल में कर्मवशात् वह संकुचित होकर शरीर मात्र में रह जाता है। कर्म नाश होने पर वह प्रकाश सीमा तोड़कर व्यापक होता है। परंतु इसी के अनन्तर विशेषण 'स्थाणु' के साथ इसका विरोध है। स्थाणु का अर्थ है स्थिर। गतिहीन। दूसरी बात यह जीवात्मा के प्रकाश का संकोचक कर्मबन्धन निवृत्त होने पर फैलने लगेगा तो भी अनन्तकाल पर्यन्त फैलता जायेगा तो भी वह व्यापक नहीं बन सकेगा। क्यों कि देश अनन्त है उसका परिच्छेद

होता नहीं। परिच्छिन्न जीवप्रकाश रबर के समान कितना ही खींचा जाय फिर भी अपरिच्छिन्न व्यापक रूप हो ही नहीं सकता। परिच्छिन्न का अपरिच्छन्न होना गणित सिद्धान्त से विरुद्ध है। अतः 'सर्वंगत:' का यथाश्रुत अर्थ ही उचित है। यह प्रश्न जो उठाया था कि यदि आत्मा व्यापक हो तो सर्वज्ञ होने लगेगा, परकीय सुख दुःख भागी होने लगेगा इत्यादि। सो प्रक्रिया के अनवलोकन से ही कहा गया है। आत्मा व्यापक हो, पर अन्तः करण प्रतिशरीर भिन्न है। सर्वज्ञाता के लिये प्रत्येक वस्तु आकार की चित्तवृत्ति चाहिये। क्योंकि वस्तुज्ञान चित्त का धर्म है। आत्मा केवल प्रकाश मात्र करता है। सुख दुःखादि भी मनोधर्म है। आत्मा के धर्म नहीं। अतः आत्मा को व्यापक मानने पर भी उपरोक्त किसी दोष की प्रसक्ति नहीं। अतः "सर्वंगत:" इस भगवान के बचन को झुठलाना ठीक नहीं है। आत्मा को व्यापक रूप से ही स्मरण करना चाहिये।

स्थाणुः। स्थाणु का अर्थ है स्थिर। **"ष्ठा गतिनिवृत्तौ"** ऐसा पाणिनीय धातुपाठ है। अर्थात् 'स्था' धातु का गतिनिवृत्ति अर्थ है। गतिहीन स्थाणु कहलाता है। वैसे तो खंभे को स्थाणु कहते हैं। परन्तु खंभे को भी स्थाणु इसीलिये कहते हैं कि वह स्थिर है। गतिहीन है। खंभा स्वयं गतिहीन है और उस पर बने मकान, उस पर बन्धे पशु आदि सबको भी गतिहीन बनाने में सहयोगी होता है। इसलिये वह स्थाणु है। आत्मा स्वयं गतिहीन है, इसलिये आत्मा को भी स्थाणु कहा जाता है। क्रिया का मतलब है, जहाँ वस्तु नहीं हैं, वहाँ वस्तु का पहुँचाना। जैसे घर से चले तो बाहर पहुँचे, बाहर से चले तो घर पहुँचे। इस प्रकार आत्मा कहीं पर न रहा तो उस जगह प्राप्त होने के लिये क्रिया होती। क्रिया माने सरकना। सरके कहाँ ? जहाँ सरकना है, वहाँ स्वयं बैठा है। तब फिर 'सर्वंगतः' कहने से ही सरकने की जगह न होने से गतिहीन

सिद्ध हो गया तो 'स्थाणु' यह अलग कहने की क्या जरूरत ? जरूरत इसलिये है कि कहीं पहिये के समान गति तो नहीं है, यह शंका संभव है। पहिया घुमावो तो अपनी धुरी पर ही घुमता रहेगा। देशान्तर नहीं जायेगा, जहाँ स्वयं नहीं है। वैसे आत्मा सर्वत्र होने पर भी अपने आप में घुमता तो नहीं है ? उत्तर है— पहिया सावयव होने से अवयव अपने अभाव स्थल में पहुँचता है तदर्थ क्रिया होती है। आत्मा निरवयव है। आकाश न तो सरकता है। और न घूमता ही है। आत्मा भी न सरकता है और न घूमता है। अतः स्थाणु है।

अचलः। स्थाणु और अचल का प्रायः एक ही अर्थ है। तब क्या पुनरुक्ति नहीं है ? नहीं। अचलः का अर्थ कुछ विशेष है। जो स्वभाव से या स्वरूप से चलित न होता हो वह अचल है। वस्तुएँ पुरानी हो जाती है तो चमक दमक नहीं रहती। ताजी रोटी अच्छी दीखती है। एक दो दिन रखने पर बासी हो जाती है। मकान ताजा खूब चमकता है। सौ वर्ष में जीर्ण होता है। नया कपड़ा मनोहर होता है। बाद में वह बेकार हो जाता है। क्या ऐसे यह आत्मा भी कालान्तर में च्युत तो नहीं होता ? नहीं। शरीर स्वरूपच्युत होता है। किन्तु आत्मा नहीं। जो मैं बचपन में था वही अब भी हूँ। शरीर बदल गया। पर मैं नहीं बदला। वह अविचल रूप है। चैतन्य में किसी प्रकार की विकृति नहीं आती। ज्ञान चैतन्य घटता नहीं, बढ़ता नहीं, सड़ता नहीं, गलता नहीं। ज्ञान प्रकाश तो ज्ञान प्रकाश ही है। प्रकाश में क्या सड़न गलन हो ? अतएव उसे अविचल स्वरूप समझना चाहिये।

सनातनः। चैतन्य उत्पन्न नहीं होता। चार्वाक मत में भूतों के संयोग से चैतन्य उत्पन्न होता है। परन्तु यह सिद्धान्त वेदांत को मान्य नहीं है। चैतन्यरूपी आत्मा अनादिकाल से चला आ रहा है। हम इस शताब्दी में हैं। पूर्व शताब्दी में थे। कलियुग में, द्वापर,

सत्यादि युग में भी रहे। इस कल्प में हैं, पूर्व, पूर्वंतर कल्प में भी रहे। आत्मा अनादि है। उपाधि मन भी प्रवाह परम्परया अनादि है। ऐसा न होता तो प्रथम जन्म और उस जन्म के कर्म एवं सुख दुःख निष्कारण होते। प्रथम जन्म हमको मिला। हमारा उससे पूर्वजन्म नहीं था तो पुण्यपाप भी नहीं था। तो हमें जन्म क्यों मिला? गर्भवास दुःख, बाल्यकालीन दुःखादि क्यों मिला? कुछ सुख भी भोजनादि जनित हुआ होगा। तो क्यों हुआ? यदि यह कहें कि ईश्वर ने लीला से जन्म दिया। उस समय कोई सुख दुःख नहीं था। फिर उसने कर्म किया तो तदनुरूप फल मिलने लगा। ऐसे ही यवन लोग मानते हैं। परन्तु प्रथम सत्कर्म और पापकर्म करने की बुद्धि कहाँ से आयी? सत्कर्म ही की बुद्धि क्यों नहीं हुई?

"कर्मायत्तं फलं पुंसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी।"

कर्मानुसार फल होता है। किन्तु कर्म बुद्धि अनुसार एवं बुद्धि कर्म अनुसार होती है। अतः अन्ततः यही कहना पड़ेगा कि सर्व प्रथम जन्म नाम का कोई जन्म ही नहीं है। सभी जन्मपूर्वक ही है। **"यः-कल्पः स कल्पपूर्वः"** के अनुसार सादि कोई सृष्टि भी नहीं है। उनमें जन्यपदार्थ प्रवाह परम्परा से नित्य है। और आत्मा कूटस्थ नित्य है। अतएव सनातन कहा जाता है॥ २४॥



अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

[यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है, यह आत्मा अविकार्य कहा जाता है। इसलिये इस आत्मा को ऐसा जानकर तूँ शोक करने योग्य नहीं है ॥ २५ ॥]

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र शोकमोहाकुल अर्जुन के शोक मोह रूपी संसार का निदान पकड़ कर उसकी दवा कर रहे हैं। निदान का पता लगाये बिना रोग निवृत्ति नहीं हो सकती। किसी को फोड़ा हो गया तो ऊपर से दबाकर पीव निकालने मात्र से फोड़ा अच्छा नहीं हो सकता। उसमें फिर पीव भरेगा। जिस रक्त दूषण निदान से फोड़ा फुनसी हुई उस रक्त दूषण को मिटाने से ही बिमारी मूलतः अच्छी हो सकती है। शोक मोह का मूल निदान भीष्मादि मरण नहीं है। शोक मोह का मूल निदान आत्मा का अज्ञान है। अतः उसे हटाने का ही प्रथम प्रयास भगवान ने किया। "नैनं छिन्दन्ति" इत्यादि श्लोकों में बताया कि आत्मा कटता जलता आदि नहीं। पृथिवी जल तेज एवं वायु चारों भूतों का प्रभाव आत्मा पर पड़ता नहीं। ये न आत्मा को बिगाड़ सकते हैं और न आत्मा को सुधार सकते हैं। वह नित्य व्यापक स्थिर तत्त्व है, अनादिनिधन है। इसी प्रसङ्ग में आत्मा के स्वरूप को अत्यन्त गहराई से भगवान समझा जा रहे हैं **"अव्यक्तोऽयं"** इत्यादि से। यद्यपि आत्मा स्वयं निर्विशेषण है। तथापि अनेक प्रकार के गलत विशेषणों से आत्मा को लोग समझ बैठे हैं, उन सबकी व्यावृत्ति के लिये ये निषेधात्मक विशेषण हैं।

अव्यक्तोऽयम्। (१) अयम् आत्मा अव्यक्तः—यह आत्मा अव्यक्त है। (२) अयमात्मा अचिन्त्यः—यह आत्मा अचिन्त्य है। (३) अय-

मात्मा अविकार्यः—यह आत्मा अविकार्य है इस प्रकार यहाँ तीन बार अयं शब्द का प्रयोग किया है। इसलिये कि प्रत्येक विशेषणों पर जोर देना है। एक विशेषण मुख्य एवं अन्य गौण या विशेषण का विशेषण नहीं है। अव्यक्त का अर्थ है—इन्द्रियों से जिसकी अभिव्यक्ति नहीं होती। अर्थात् जो प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। प्रत्यक्ष विषयता ही व्यक्तता है।

"आभासेन घटः स्फुरेत्"

घटादि प्रत्यक्ष होता है तो घटादि आकार की चित्तवृत्ति होती है। उसमें आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उस आत्म चैतन्य के प्रतिबिम्ब से घट स्फुरित होता है तो घट व्यक्त होता है। अनुमानादि में इस प्रकार घटादि व्यक्त नहीं होता। क्योंकि अनुमानादि स्थल में वस्तु सामने नहीं होती। तात्पर्य यह है कि व्यक्त का अर्थ प्रत्यक्ष विषय होता है। आत्मा प्रत्यक्ष विषय नहीं है। चक्षु से आत्मा का दर्शन नहीं होता—

"न तत्र चक्षुर्गच्छति"

वहाँ तक आँखे नहीं पहुँचती; आँखों से परमात्मा का दर्शन नहीं किया जा सकता। क्यों नहीं ? इसलिये कि चक्षु का विषय वही होता है जो रूपवान हो, या स्वयं रूप हो। क्योंकि चक्षु का मुख्य विषय रूप है। वह आत्मा में नहीं है। न आत्मा रूपवान है और न रूप ही है। अतः चक्षु का विषय नहीं होता। एक बार मैं मरीन ड्राईव पर एक भक्त के यहाँ ठहरा था। वहाँ पर एक वैष्णव संत भी ठहरे थे। भक्त ने वैष्णव संत से कहा—महाराज ! मैं भगवान को अपनी आँखों से दर्शन करूँ ऐसा आशीर्वाद कीजिये। संतजी ने कहा—भगवान का दर्शन चर्म चक्षु से नहीं होता। भगवान का दर्शन दिव्य चक्षु से ही सम्भव है। भक्त ने कहा—महाराज मीरा ने भगवान का दर्शन अपनी आँखों से किया था। गोस्वामी जी ने

अपनी आँखों से भगवान का दर्शन किया था। क्या वैसे मैं भी नहीं देख सकूंगा ? संत जी ने कहा—मीरा को और गोस्वामी जी को जो दर्शन हुआ था वह दिव्य चक्षु से हुआ था। अत एव मीरा के समीप ही खड़े राणा को दर्शन नहीं हो रहा था। जब भगवान ने कृपा करके दिव्य चक्षु दिया तभी राणा को दर्शन हुआ था। भक्त और संत दोनों का इस प्रकार विवाद चल ही रहा था, मैं पहुँचा। भक्त ने मुझे कहा—महाराज आप इसका निर्णय दीजिये। भक्त ने कहा—चर्म चक्षु से भगवान का दर्शन हो सकता है या नहीं ? क्या दिव्य चक्षु से ही दर्शन होता है ? मैंने कहा—चर्म चक्षु से भी दर्शन होता है। और दिव्य चक्षु से भगवान का दर्शन होता है, कहते हैं तो सो भी ठीक है। परमार्थतः पूछो तो न चर्म चक्षु से और न दिव्य चक्षु से ही दर्शन होता है। दोनों का वह अविषय है। भक्त ने कहा—महाराज ! तीनों बातें कैसी ? ये तो परस्पर विरुद्ध जैसी लगती हैं। मैंने बताया—मीरा ने या गोस्वामी आदि ने दिव्य चक्षु से देखा होगा। किन्तु गोप गोपियों ने भगवान को किस चक्षु से देखा था ? क्या उन्होंने जो देखा वह भगवान नहीं था ? गोप गोपियों की दिव्य चक्षु मानी जाय तो भी कंस ने तो दिव्य चक्षु से नहीं देखा था। और कंस ने भगवान का दर्शन नहीं किया तो 'भयात् कंसः' के अनुसार कंस ने जो भगवान को प्राप्त किया वह कैसे संगत होगा ? द्वारिका वासी सबने भगवान को चर्म चक्षु से ही देखा। उस समय भक्त ने कहा—यही तो मैं भी कह रहा था कि भगवान को मैं चर्म चक्षु से देख सकूं।

अब दूसरा मत सुनो। दिव्य चक्षु से ही भगवान का दर्शन होता है। अर्जुन जो भगवान को देख रहा था, वह श्रीकृष्ण भगवान थे या नहीं ? श्रीकृष्ण भगवान नहीं थे ऐसा नहीं कहा जा सकता। ऐसा होता तो "श्री भगवानुवाच" इस प्रकार गीता में क्यों लिखा ? श्रीकृष्ण उवाच ऐसा लिखना चाहिये था। श्रीकृष्ण जब भगवान है,

और भगवान को अर्जुन देख रहा था, तब अर्जुन को दिव्य चक्षु देने की क्या जरूरत थी। भगवान कहते हैं—

"न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥"

हे अर्जुन तुम अपनी इस चर्मचक्षु से मुझे नहीं देख सकते हो। मैं तुम्हें दिव्यचक्षु देता हूँ, मेरे ऐश्वर (ईश्वरीय) योग को देखो। तब अर्जुन जिसको देख रहा था वह कौन था ? यह जटिल प्रश्न हुआ। "न तु मां शक्यसे" यहाँ 'माँ', 'मुझे' का स्पष्ट प्रयोग है। एक और प्रश्न है कि यह दिव्यचक्षु क्या थी ? कोई चश्मा था या आँख में विलक्षण कोई शक्ति पैदा कर दी थी ? यह भी समझना कठिन है। आँख में शक्ति पैदा कर दी तो बाद में विश्वरूप दर्शन बन्द क्यों हुआ ? क्या विश्वरूप हमेशा नहीं रहता ? क्या अर्जुन की दिव्यचक्षु को भगवान् ने वापस ले लिया था ? यदि वापस ले लिया तो उसी से विश्वरूप दर्शन बन्द हो जाता तो "तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव" यह प्रार्थना क्यों ? आप फिर से चतुर्भुज हो जाइये न कहकर आप अपनी दिव्यचक्षु वापिस लीजिये, यह चम्मा खतरनाक है, ऐसा ही बोलना चाहिये था। यह कहें कि भगवान विश्वरूप स्वयं थे। किन्तु दिव्यचक्षु से विश्वरूप दीखने लगे तो अर्जुन को भ्रान्ति हुई कि भगवान विश्वरूप बन गये। बने नहीं। थे ही। परन्तु इतने से उत्तर नहीं होता। "भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा" इस श्लोक में फिर से सौम्य शरीरधारी बनने की बात बतायी है।

इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए प्रथम यह समझना है कि दिव्यचक्षु क्या है। इस विषय में ज्ञानियों का दृष्टिकोण कुछ अलग है, भक्तों का दृष्टिकोण कुछ अलग है। भक्तिमार्गानुसार भावना प्रकर्ष ही दिव्यचक्षु है। भगवान ने स्वयमेव कहा—

भक्त्या त्वनन्यया लभ्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप॥

अनन्य भक्ति से ही भगवान् का ऐसा रूप जाना जा सकता है और देखा जा सकता है। अर्जुन ने जाना और देखा। परन्तु 'प्रवेष्टुं' प्रवेश नहीं किया। इससे लगता है कि दिव्यचक्षु अनन्य भक्ति से कुछ निम्न कोटि की है। अत एव हमने उसका नाम भावना प्रकर्ष रखा। इस दिव्यचक्षु को पहचानने के लिये हमें द्वापर युग तक जाने की जरूरत नहीं है और न अर्जुन का इतिहास देखने की ही आवश्यकता है। हम मन्दिर में जाते हैं तो किसका दर्शन करने जाते हैं। निश्चित है—नुमाईश देखने नहीं जाते। भगवान का दर्शन करने जाते हैं। मन्दिर में यदि चर्म चक्षु से भगवान का दर्शन होता हो तो चूहे, चिपकली आदि को भी भगवान का दर्शन होना चाहिये। परन्तु चूहे बिल्ली आदि ने भगवद्दर्शन किया, ऐसा नहीं माना जाता। चर्मचक्षु से लक्ष्मीनारायण का दर्शन नहीं होता। आरस पत्थर का दर्शन होता है। किन्तु भावनारूपी दिव्य-चक्षु हो तो मन्दिर में लक्ष्मीनारायण का दर्शन होता है। सामान्य भावना से मन्दिर में सामान्यरूप से लक्ष्मीनारायण का दर्शन होता है। और भावना प्रकर्ष होने पर विशेष दर्शन होता है। क्या भावना झूठी नहीं होती? क्या हम पीतल में सोने की भावना करें तो पीतल सोना हो जायेगा?। वैसे आरस पत्थर में भगवद्भावना करने से भगवद्दर्शन किस प्रकार माना जाय? उत्तर है—वैध-भावना से परमात्मदर्शन झूठा नहीं होता। जैसे नोटबुक में से एक कागज फाड़कर उसमें दस रुपये की भावना करो तो वह दस रुपये नहीं होते। किन्तु दस रुपये के नोट में भावना सत्य होती है। क्योंकि वह वैध है। वैसे मन्दिर में प्रतिष्ठापित मूर्तियों में भगवद्भावना वैध है। अतः वहाँ सामान्यरूप से भगवद्दर्शन माना जाता है। हाँ नोट में और मूर्ति में फरक इतना है कि नोट में मनुष्यकृत विधि

है। मूर्ति में शास्त्र विधि है। शास्त्र विधि में भगवद्‌बुद्धि आवश्यक है। नोट को नोट समझो या न समझो तो भी मूल्य वही रहेगा। मूर्ति को भगवान न समझो तो फल प्राप्त नहीं होगा। परमभक्त तो भगवद्‌बुद्धि न रहने पर भी फल मिलता है ऐसा मानते हैं यह अलग बात है। पर भगवद्भावना तो चाहिये ही। यह तो मूर्ति विषयक विचार हुआ। अब त्रेता द्वापरादि में रामकृष्णादि के विषय में विचार किया जाय। वहाँ तो मूर्ति के समान भावनामात्र भगवान का स्वरूप नहीं था। किन्तु साक्षात् भगवान के ही राम-कृष्णादि अवतार थे। थे जरूर। फिर भो मायाजवनिकाच्छादन होने के कारण भगवान का स्वरूप सर्व दृश्य नहीं था। राकेट के यात्री आपस में मिलते थे। किन्तु वहाँ की पोशाक ऐसी होती है कि पोशाक ही पोशाक दीखती। आदमी कहाँ दीखता है। फिर भी 'देखा' ऐसा व्यवहार होता है। वैसे मायारूपी पोशाक में छिपे हुए भगवान का दर्शन दुर्योधन, रावण आदि को होता था। इसे भगवान ने ही स्पष्ट किया—

"नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।"

योगमाया से आच्छादित होने के कारण मैं सबके लिये प्रकाशित नहीं होता हूँ। जब भगवान प्रत्यक्ष सबको दीख रहे थे तब "नाहं प्रकाशः सर्वस्य" का क्या मतलब हो सकता था। इस मायारूपी परदे को हटाने का तरीका भी बताया—

"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।"

भगवत् शरणागति से ही माया को पार कर सकते हैं।

भक्त ने कहा—महाराज! ये दोनों बात समझ में आ गयी कि भगवान को चर्मचक्षु से देख सकते हैं किन्तु योगमायावृत रूप को। मेरे प्रश्न का उत्तर हुआ। और योगमाया को पार करने के लिये भावनारूपी दिव्यचक्षु चाहिये। तभी भगवान का ऐश्वर्य रूप

दीख सकता है। संतजी की भी बात समझ में आ गई। अब आप जो बोलते हैं कि दोनों (चर्मचक्षु और दिव्यचक्षु) का अविषय परमेश्वर है, इस बात को समझाइए। मैंने कहा—परमात्मा किसी भी इन्द्रिय से प्रकाशित नहीं किया जा सकता। किसी अन्य प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता। विचार करो—श्रोत्र शब्द को सुनेगा या शब्द श्रोत्र को भी सुनेगा? उत्तर साफ है। श्रोत्र शब्द को ही सुनेगा। शब्द श्रोत्र को नहीं सुनता। क्यों? जब कि श्रोत्र भी भी आकाश से बना और शब्द भी आकाश से ही बना। यही उत्तर है—शब्द और श्रोत्र दोनों ही आकाश से ही बना तथापि शब्द विषय है। श्रोत्र विषयी है। इसी प्रकार रूप और चक्षु में भी है। चक्षु रूप को प्रकाशित करेगी या रूप चक्षु को प्रकाशित करेगा? चक्षु रूप को प्रकाशित करेगी। यद्यपि रूप तथा चक्षु दोनों ही तेज से बने तथापि रूप विषय है, चक्षु विषयी है। इसी प्रकार स्पर्श, रस गन्ध की भी बात है। त्वगिन्द्रिय स्पर्श को प्रकाशित करेगी। स्पर्श त्वगिन्द्रिय को नहीं। रसना रस को प्रकाशित करेगी। रस रसना को नहीं। घ्राण गन्ध को प्रकाशित करेगा, गन्ध घ्राण को नहीं। समान धर्मा होने पर भी विषय विषयीभाव अलग-अलग है। अब आत्मा की ओर देखो। आत्मा के बारे में श्रुति कहती है—

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति॥

वह आत्मा श्रोत्र का भी श्रोत्र है, चक्षु का भी चक्षु है, घ्राण का भी घ्राण है। रसना की भी रसना है। श्रोत्र का श्रोत्र कहने का मतलब श्रोत्र बिषय है, आत्मा विषयी है। चक्षु का भी चक्षु कहने का मतलब है—चक्षु विषय है, आत्मा विषयी है। विषयी को विषय प्रकाशित नहीं कर सकता। अतः चक्षुरादि सबको आत्मा प्रकाश देकर चक्षुरादि बना सकता है। किन्तु चक्षु आदि की वहाँ

गति नहीं हो सकती। सूर्य का प्रकाश चन्द्रमा में है, दर्पण में है। वह चन्द्रप्रकाश और दर्पणप्रकाश अन्य वस्तुओं को भले प्रकाशित करे। किन्तु स्वयं सूर्य को प्रकाशित करना चाहे तो संभव नहीं। सूर्य प्रकाश के सामने चन्द्रादि प्रकाश कुण्ठित हो जाते हैं। वैसे ही चक्षु आदि के प्रकाश आत्मप्रकाश के सामने कुण्ठित हो जाते हैं।

तब आत्म प्रकाश कैसे होता है? आवरण निवारण से। एक हीरे का मणि है। देखने में साधारण पत्थर जैसा दीख रहा था। उसकी पालिश की गयी। खास ब्रश होता है। उससे रगड़ा, तो चमक आ गयी। कहाँ से आयी? कहीं बाहर से आयी। नहीं। अंदर से केवल प्रगट हुई। तो पहले क्या हुआ था? आवरण विशेष से आवृत हो गया था। ऐसा क्यों मानना? ब्रश में से चमक आयी, या ब्रश लगाने से बाहर से चमक आयी, ऐसा क्यों नहीं मानते? यदि ब्रश में से चमक आती तो पुस्तक को ब्रश से रगड़ो तो पुस्तक में भी चमक आ जाती। किन्तु उलटा होता है। पुस्तक पर ब्रश मारोगे तो पुस्तक फट जायेगी। अतः ब्रश से चमक नहीं आती। चमक अंदर है। आवरण हटता है तो चमक प्रकट होती है। आवरण का मतलब केवल कपड़े आदि का ही आवरण नहीं है। खादी की पालिश होती है तो खादि में चमक आती है। ऊपर का खरखरापन भी आवरण है। वैसे ब्रह्मपर अज्ञान का आवरण है। "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं"। उस आवरण के हटने पर ब्रह्म अपने आप प्रकाशित होता है। ब्रश मणि में चमक नहीं लाता। आवरण वारण मात्र करता है। वैसे ब्रह्म का आवरण वारण ही ज्ञान से होगा प्रकाशन नहीं होगा। अत एव कहा—

"न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः"

वहाँ आँख नही पहुँचती, वाणी नहीं, मन नहीं। अत एव वह अव्यक्त है।

भक्त ने पूछा—थोड़ा संशय रह गया। चर्मचक्षु से भगवान सामान्य रूप से दीखते हैं। दिव्यचक्षु से विशेष रूप से दीखते हैं। तो इन्द्रियों से न दीखने वाले ब्रह्म से ये भिन्न हैं क्या ? मैंने उत्तर दिया चर्मचक्षु से भगवान का मायामय शरीर विशिष्ट स्वरूप दीखता है। उसमें मायामय शरीर चक्षु प्रकाश्य है। किन्तु स्वरूप स्वयं प्रकाश है, उसमें आवरण वारण मात्र होगा। उसमें केवल सद्रुप का आवण निवृत्त होगा। दिव्य चक्षु मिलने पर भी मायामय शरीर विशिष्ट का ही दर्शन होता है। किन्तु आवरण अधिक निवृत्त होगा। जिससे सद्रुप तथा चिद्रुप दोनों का प्रकाश होगा। चिद्रुप प्रकाश हुआ इसी लिये अर्जुन को विश्वदर्शन हुआ। परंतु आनंद नहीं आया। अर्जुन भयभीत हुआ। भावना भी एक प्रकार की नहीं होती, और हमेशा एकरूप नहीं होती। भावना अति प्रकर्ष होने पर भगवत्कृपा से भगवान की दर्शनात्मक वृत्ति होती है तो भगवत्स्वरूप का आवरण निवृत्त होता है अर्जुन के भावना प्रकर्ष से वृत्ति उत्पन्न हुई। मीरा की भावना और प्रकार की थी। उसमें कुछ आनन्दाभिव्यक्ति थी। और विरह व्याकुलता भी। केवल ज्ञान-मात्रस्वरूप आत्मा इन्द्रिय एवं भावना दोनों का अविषय है। आवरण निवृत्ति से स्वयमेव प्रकाशित होता है।

अचिन्त्योऽयम्। 'अव्यक्तोऽयं' इस विशेषण का तात्पर्य बताया वह प्रत्यक्ष का अविषय है। प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा में कोई स्फुरणा नयी उत्पन्न नहीं होती। दूसरा विशेषण "अचिन्त्योऽयं" है। इस विशेषण का मतलब है कि वह चिन्तन—मनम का अविषय है। अर्थात् अनुमान प्रमाण का अविषय है। कुछ वस्तु प्रत्यक्ष से दीखती हैं। किन्तु बहुत सारी वस्तु प्रत्यक्ष से नहीं दीखती। वे अनुमान प्रमाण से ज्ञात होती हैं। 'आँख स्वयं को नहीं देखती, कान स्वयं को नहीं सुनता। मेरी आँख बराबर है कि नहीं, यह अनुमान से ज्ञात होता है। देखने में आँख की पुतलीयाँ बराबर होती हैं। किन्तु

पुस्तक पढ़ते समय अक्षर बराबर दिखाई नहीं पड़ते तो समझते हैं कि चश्मे का नंबर बढ़ गया है। क्या प्रत्यक्ष से ? क्या दर्पण में आँख को देखकर अपने आप समझ सकते हैं कि नंबर बढ़ गया ? नहीं। अक्षर आदि बराबर यदि नहीं दीखते तो अनुमान लगाते हैं कि नंबर बढ़ गया। सर्दी जुकाम हो गया। फूल सूंघा तो पहले लगा कि फूल में सुगंध नहीं है। जब दूसरे ने कहा इसमें बड़ी सुगन्धि है, तब अनुमान किया कि घ्राणेन्द्रिय काम नहीं कर रही है। इन्द्रियाँ सभी अतीन्द्रिय होती हैं। केवल अनुमान का विषय होती हैं।

अनुमान तीन प्रकार का होता है। पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट ये तीन उसके प्रकार हैं। इसकी प्राचीन व्याख्या इस प्रकार है कि कार्य को देखकर कारण का अनुमान होता है। नदी में बाढ़ देखकर अनुमान करते हैं कि ऊपर कहीं वृष्टि जरूर हुई होगी। इसी प्रकार ब्रह्म का अनुमान हो सकता है या नहीं ? यह सारा जगत् कार्य है। अवश्य ही इसका कोई कारण होना चाहिये। बनाने वाला होना चाहिये। वह अल्प शक्तिमान कोई होगा नहीं। तब सर्वज्ञ परमात्मा की सिद्धि होती है। ऐसा अनुमान परमात्मा के बारे में होता है या नहीं ? उत्तर है—नहीं। वह अचिन्त्य है। स्वतन्त्र अनुमान आत्मा को सिद्ध नहीं कर सकता। श्रुति ने आत्मा को बताया। उसको लेकर उस पर अनुमान भले करते रहो। किन्तु स्वतन्त्र रूप से यहाँ अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। कार्य से कारण का अनुमान क्यों नहीं होता ? इसलिये कि उस ब्रह्म का कोई कार्य ही नहीं है। श्रुति कहती है—

"न तस्य कार्यं करणं च विद्यते"।

तब यह कार्य प्रपञ्च दीख रहा है वह क्या है ? यह माया प्रयुक्त है, भ्रान्ति सिद्ध है। और अनुमान करे तो भी जगत्कारण के रूप में होगा। शुद्ध रूप में नहीं। जैसे कार्य से कारण का

अनुमान ब्रह्म में नहीं होता। वैसे कारण से कार्यरूपेण भी ब्रह्म का अनुमान नहीं होता। पिपीलिकाण्ड संचरण (चीटियाँ अंडे उठा ले जाती हैं) से भविष्यत् वृष्टि का अनुमान होता है। ब्रह्म कारण नहीं है तो कार्य भी नहीं है। कार्य धर्म भी ब्रह्म में नहीं हैं। ब्रह्म किसी का कार्य नहीं है तो कहाँ से आया? ब्रह्म कहीं से तो आया होगा? ब्रह्म को भी जन्म देने वाला कोई होगा। जो ब्रह्म का भी पिता होगा। बच्चे लोग प्रश्न करते हैं कि ईश्वर का पिता कौन है? केवल बच्चों का ही प्रश्न नहीं है। ऋषिकेश में रहने वाले एक बड़े भारी तपस्वी दार्शनिक महात्मा के साथ मेरा एक बार पत्र व्यवहार हुआ था। उन्होंने मुझसे प्रश्न किया कि आप कहते हैं कि जगत भ्रान्ति से हुआ। तो प्रथम भ्रान्ति कैसे हुई? मैंने कहा—जगत् अनादि है। प्रथम नाम की कोई भ्रान्ति ही नहीं है। उन्होंने उत्तर दिया कि अनादि का अर्थ है कि आप आदि नहीं जानते। आप आदि न जानें, तो भी इसका आदि तो होगा ही। मैंने उत्तर में कहा—यह प्रश्न फिर ईश्वर में भी समान होगा। ईश्वर अनादि है कहते हैं। अनादि का अर्थ है आदि नहीं जानते। न जानने पर भी आदि तो होगा ही। तब ईश्वर का भी जन्म मान्य होगा। तब ईश्वर का भी कोई बाप जरूर रहा होगा। सारांश यह कि बड़े-बड़े संत भी अनादि को नहीं समझते। वे भी सबको कार्य समझते हैं। आदि भले न जानो, फिर भी आदि तो होगा ही। यही कार्यानुमान है। भगवान कहते हैं—यह आत्मा अचिन्त्य है, अर्थात् परमात्मा में कार्यानुमान भी नहीं हो सकता।

आत्मा अव्यक्त क्यों है? इसलिये कि व्यक्तता किसी इन्द्रिय से होती है। यदि श्रोत्र से आत्मा व्यक्त होता तो वह शब्दात्मक या शब्दवान् होता। यदि त्वगिन्द्रिय से व्यक्त होता तो स्पर्शात्मक या स्पर्श वाला होता। यदि नेत्र से व्यक्त होता तो रूपात्मक या रूप वाला होता। यदि रसनेन्द्रिय से व्यक्त होता तो रसात्मक या रस

हैं ? आपको कहना होगा—मन में दीखने वाला मकान मन का ही एक आकार है। मन से कल्पित है। मन निर्मित है। असली मकान बाहर है। मन ने उसकी एक तस्वीर अपने अंदर बनायी। वह असली नहीं हो सकता। यदि असली हो तो अग्नि को सोचते ही शरीर जल जाता। क्योंकि असली अग्नि अंदर घुसी। जहर को सोचते ही आदमी मर जाता। इससे निर्णित है कि जो सोचा जाता है वह मिथ्या होता है, कल्पित होता है। वैसे यदि आप ब्रह्म को भी सोचेंगे तो वह सोचा जाने वाला ब्रह्म क्या होगा, स्वयं समझ लो। वह भी कल्पित होगा, मिथ्या होगा। अतः जो चिन्त्य है वह सत्य ब्रह्म नहीं हो सकता। सत्य ब्रह्म अचिन्त्य है।

परंतु इतने से जवाब पूरा नहीं होता है। सत्य ब्रह्म अचिन्त्य है तो सत्य गृहादि भी तो अचिन्त्य ही हुआ। गृह धन पुत्र पौत्रादि भी तो मन में घुस नहीं सकते। तब अचिन्त्यता में गृहादि एवं ब्रह्म में क्या फरक हुआ ? इसका समाधान यह है कि गृह धनादि भले ही मन में न घुसे, किन्तु इनका नकशा इनका आकार तो मन में आ सकता है। क्या ब्रह्म का भी इस प्रकार कोइ नकशा है ? कोई आकार है ? यदि कोई ऐसा नकशा या आकार आप सोचेंगे तो वह सर्वथा मिथ्या होगा। नकशा माने प्रतिकृति। आकार माने आकृति। ब्रह्म की कोई आकृति भी नहीं और प्रतिकृति भी नहीं है। गृहादि की आकृति प्रतिकृति दोनों हैं। अतः वे चिन्त्य हैं। ब्रह्म के ये दोनों नहीं हैं अतः वह अचिन्त्य है।

तब ब्रह्मचिन्तन करने का जो शास्त्रीय विधान है उसकी क्या गति होगी। उत्तर जो पहले बताया वही है। अर्थात् ब्रह्म स्वयं प्रकाश रूपेण समझना ही ब्रह्म चिन्तन है। स्वयं प्रकाशानुभव क्या है ? यह शुद्धान्तः करण गुरुकृपापात्र ही समझ सकता है। हाँ, दूसरों को भी आभास प्रतीत होगा। समझ में आ रहा है; पकड़ में नहीं आ रहा ऐसी, बात है। अतिरहस्य यह है कि प्रत्यक्ष अभिमुख घट

होने पर जैसे घटाकार वृत्ति होती है, वैसे अनात्म व्यवृत्ति होने से स्वयं प्रकाशभिमुख हुए मन में एक प्रकार की वृत्ति होती है। वही ब्रह्मानुभव है। उसी को अखण्डाकार वृत्ति कहते हैं। वह चिन्तनात्मक नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष है। घट को देखना घट चिन्तन किस प्रकार ? फिर भी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष न होने से व्यावहारार्थं ब्रह्म चिन्तन कह देते हैं।

अविकार्योऽयम्। अव्यक्तोऽयं से आत्मा को प्रत्यक्ष का अविषय बताया। अचिन्त्योऽयं से अनुमान का अविषय बताया। और अविकार्योऽयं इस विशेषण से शब्द का अविषय बताया जा रहा है। छः अस्तिक दर्शन प्रसिद्ध हैं। परंतु एक सातवाँ भी दर्शन है। उस दर्शन को, शाब्दिक दर्शन, व्याकरण दर्शन आदि कहते हैं। **"अथ योगानुशासनम्"** इस प्रकार योगदर्शन प्रारम्भ किया। वैसे **"अथ शब्दानुशासनं"** इस प्रकार शब्द दर्शन का प्रारम्भ है। शब्द ब्रह्म दर्शन का सिद्धान्त है कि यह समस्त जगत् शब्दब्रह्म का ही विवर्त्त है। इसीलिये शब्दा का विषय है।

श्री लक्ष्मीरमणं नौमि गौरीरमणरूपिणम्।
स्फोटरूपं यतः सर्वं जगदेतद्विवर्त्तते ॥

लक्षणावृत्ति ही लक्ष्मी है। और शक्तिवृत्ति गौरी है। क्योंकि शक्ति मुख्यरूप से पार्वती को ही कहते हैं। "शिवः शक्त्या युक्तः" इत्यादि प्रसिद्ध है। लक्ष्मी और लक्षणा ये एक धातु से निष्पन्न हैं। लक्षणा और शक्ति ये परब्रह्म परमात्मा शब्द ब्रह्म की दो पत्नियाँ हैं **"श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ"** ऐसा मन्त्रवर्ण में भी बताया गया है। वहाँ श्री का शक्ति अर्थ है। इन दो उपाधियों से ही ब्रह्म के विष्णु और शिव ऐसे दो भेद हैं। उस शब्दब्रह्म से लक्ष्मी एवं शक्ति उपाधि द्वारा स्फोट रूपेण समस्त जगत् की उत्पत्ति हुई। इस बात को माण्डूक्योपनिषत् में भी कहा है—

"ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वम्"

यह सारा जगत् ओंकार रूप है। ॐकार से पैदा हुआ। निर्विशेष परमात्मा प्रलयोत्तर सृष्टि का आरंभ का समय आया तो ॐकार रूपी शब्दब्रह्म रूप से प्रकट हुआ। उससे पूरा वाक् प्रपञ्च बना। उससे फिर अर्थप्रपञ्च हुआ। ॐकार में जो तीन मात्रायें हैं—अ उ और म उनमें अकार से ही सारी वाणी निकली, उससे पूरा जाग्रत प्रपञ्च उत्पन्न हुआ। उकार से स्वप्न प्रपञ्च हुआ। मकार से कारण प्रपञ्च हुआ। जाग्रत में प्रथम घट शब्द हुआ। तब उससे घट रूपी अर्थ हुआ। वैसा पटादि शब्द हुए। उससे फिर पटादिरूप अर्थ हुए। इस प्रकार शब्द से ही सारा जगत् हुआ।

यह शब्दब्रह्मदर्शन सिद्धान्त हुआ। हम यहाँ क्या बताने जा रहे थे उस पर भी ध्यान दिया जाय। हम यह कह रहे थे कि शब्द और अर्थ का परस्पर वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध रहता है। किस शब्द के साथ किस अर्थ का सम्बन्ध रहता है? जिस शब्द का जो विकार है। घट शब्द से घटरूपी अर्थ बना। इसलिये घट शब्द का घटरूपी अर्थ के साथ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध माना जाता है। इस प्रकार सृष्टि में समस्त वस्तुओं के साथ शब्द का सम्बन्ध सिद्ध होता है। परंतु ब्रह्म के साथ शब्द का कैसा सम्बध है? यह विचारणीय हुआ। घटपटादि वस्तु उन उन शब्दों का कार्य विकार होने से उन उन शब्दों का विषय हुआ। किन्तु परब्रह्म तो शब्द का विकार नहीं है। अत एव शब्दशक्य नहीं हो सकता। ब्रह्म तो शब्द का भी कारण है। कारण में कार्य की गति नहीं हो सकती। यदि ब्रह्म शब्द का विकार होता तो वहाँ शब्द की गति हो सकती थी। किंतु वह अविकार्य है। अत एव शब्द का भी अविषय है।

ब्रह्म के अनुभव को मूकास्वादनवत् बताया है गुंगे ने गुड़ खाया। किन्तु वह गुड़ के रस का वर्णन नहीं कर सकता। क्योंकि उसके पास शब्द शक्ति नहीं है। ब्रह्म के विषय में श्रुति में बताया गया है कि—

"रसौ वै सः रस ँ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति"

वह ब्रह्म रस रूप है। "रसानां रसतमः"। संसार में जितने भी रस हैं, उन रसों का भी रसतम है—परम रस है। इसी रस को पाकर मनुष्य आनंदित होता है। संसार में सभी रस उस परमरस की मात्रा है। उस रस का अनुभव हो सकता है। परंतु शब्द से वर्णन नहीं हो सकता। जैसे गुंगे में शब्दशक्ति नहीं हैं, वैसे हममें भी ब्रह्मरस के लिये शब्दशक्ति नहीं है। फरक इतना ही है कि गुंगे के पास शब्द नहीं है, अन्य के पास शब्द हैं। परंतु ब्रह्म के लिये न हमारे पास शब्द है और न अन्य के पास। उसके लिये कोई शब्द ही नहीं है। क्योंकि वह विकार्य नहीं है।

अयमुच्यते। ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं। क्योंकि वह अव्यक्त है। ब्रह्म अनुमान का विषय नहीं, क्योंकि वह अचिन्त्य है। ब्रह्म शब्द का भी विषय नहीं, क्योंकि अविकार्य है। इस प्रकार मुख्य तीन प्रमाणों का अविषय दृढ़रूपेण बताने के लिये ही तीन बार 'अयं' शब्द का प्रयोग किया—अव्यक्तः अयम्, अचिन्त्यः अयम्, अविकार्यः अयम्। ठीक है। किन्तु आखिर फिर ब्रह्म का बोध होगा किससे ? इसी का उत्तर है—उच्यते। इन्हीं शब्दों से। अव्यक्तः, अचिन्त्यः, अविकार्यः ये तीन अतद्व्यावृत्तियाँ हैं। इन अतद्व्यावृत्तियों से ही ब्रह्म का बोध होगा।

"अतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि"

तद् माने ब्रह्म। अतद् माने जो ब्रह्म नहीं। उसकी व्यावृत्ति माने निषेध। व्यक्त, चिन्त्य, विकार्य ये तीन अतद् है। इनका निषेधकर ही श्रुतियाँ भी ब्रह्म को कहती हैं। साक्षात नहीं। इसलिये जानना भी इसी प्रकार है—"तस्मादेवं विदित्वैनं" अव्यक्त अचिन्त्य अविकार्य इस प्रकार अतद्व्यावृत्ति से ही जानना है।

यह एक प्रकार की व्याख्या हुई। अव्यक्त का अर्थ है—प्रत्यक्ष प्रमाण का वह विषय नहीं। अचिन्त्य का अर्थ है—वह ब्रह्म अनु-

मान प्रमाण का विषय नहीं। अविकार्य का अर्थ है—वह ब्रह्म शब्द प्रमाण का विषय नहीं। अर्थात् सामान्य रूप से किसी भी प्रमाण का विषय नहीं। द्वैतवादी शंका करते हैं कि यदि प्रमाण का विषय नहीं तो प्रमेय की सिद्धि कैसे होगी ? **"प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि"**। प्रमाण से प्रमेय की सिद्धि होती है। इसका उत्तर अद्वैतवेदान्त में यही दिया कि वह स्वयं सिद्ध है, स्वयं प्रकाश है। उसको प्रमाणों की आवश्यकता ही नहीं है। प्रकाश से घटपटादि समस्त वस्तु प्रकाशित होती है तो क्या सूर्य को प्रकाशित करने के लिये भी कहीं से प्रकाश लाना पड़ेगा ? वह स्वयंप्रकाश है। उसको अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। फलतः ब्रह्मरूपी आत्मतत्त्व स्वयं प्रकाश नित्य निरन्तर एकरसरूप सिद्ध हुआ। अब इन्हीं शब्दों की दूसरे प्रकार से भी व्याख्या की गयी है। उसे भी देखें।

अव्यक्तोऽयम्। व्यक्त का अर्थ है—इन्द्रिय संनिकर्ष जन्य ज्ञान-विषय। जाग्रत्काल में जो ज्ञान होता है वह इन्द्रिय संनिकर्षजन्य होता है। **"इन्द्रियैरर्थावलोकनं जाग्रत्"** ऐसा जाग्रत का लक्षण ही है। यह स्थूल जगत् प्रपञ्च कहलाता है, वही व्यक्त शब्द का भी अर्थ है। स्थूल प्रपञ्च में मुख्य है यह स्थूल शरीर। अव्यक्त शब्द से स्थूल शरीर तथा स्थूल प्रपञ्च का निषेध है। सांख्यप्रवचन के षष्ठाध्याय में स्थूल शरीर भेद में दो हेतु दिये हैं—

देहादिव्यतिरिक्तोऽसौ वैचित्र्यात् ॥

षष्ठीव्यपदेशादपि ॥

देह में बाल्य, कौमार, यौवन, वार्धक्य, कृशता, स्थौल्यादि अनेक धर्म भिन्न-भिन्न समयों में आते और जाते हैं। परन्तु आत्मा में इनमें किसी का भी अनुभव नहीं होता। बचपन में जो मैं था वही अभी भी हूँ। जो स्थूलता में मैं था वही कृशता में भी हूँ। शरीर पहले कृश था। अब स्थूल हो गया। लेकिन मैं तो वही का वही हूँ।

दूसरा हेतु षष्ठी व्यपदेश है। षष्ठी विभक्ति में का, के, की, रा, रे, री आते हैं। जैसे मेरा कपड़ा, मेरा मकान इत्यादि में आता है। मेरा शरीर, मेरा पाँव, मेरी जीभ, मेरे कान, इस प्रकार शरीर एवं शरीर के अवयवों में षष्ठी विभक्ति से व्यवहार होता है। जो मेरा है वह मैं नहीं हो सकता। इसलिये भी स्थूल शरीर से यह आत्मा भिन्न है। मुख्य रूप से स्थूल शरीर ही विवेचनीय है। क्योंकि उसी में आत्मत्व की प्राप्ति है। स्थूल शरीर आत्मा नहीं तो स्थूल प्रपञ्च स्वत एव आत्मा सिद्ध नहीं होगा। स्थूल प्रपञ्च आत्मा नहीं है कहने से यह भी सिद्ध होता है कि आत्मा स्थूल नहीं है।

अचिन्त्योऽयम्। जो चिन्तन का विषय हो वह चिन्त्य है। स्वप्न प्रपञ्च चिन्त्य होता है। चिन्तन जन्य होने से चिन्त्य कहलाता है। चिन्तन का अर्थ है वासना प्रयुक्त चित्त वृत्ति। पूर्वानुभूत वस्तुओं की वासना होती है अर्थात् संस्कार होता है। उससे फिर चिन्तन होता है। चिन्तन से चिन्त्य वस्तु होती है। स्वप्न का लक्षण यही किया है कि—

जाग्रदवस्थायां यद् दृष्टं यत् श्रुतं तज्जनितवासनया।
निद्रासमये यः प्रपञ्चः प्रतीयते स स्वप्नो भवति॥

जाग्रत् अवस्था में जो देखा या जो सुना उससे उत्पन्न वासना से निद्रा के समय में जो प्रपञ्च प्रतीत होता है वह स्वप्न कहलाता है। स्वप्न काल में वासना के कारण मन ही हाथी घोड़ा रथ सड़क आदि रूप में परिणत होता है। उसका प्रकाश साक्षी से होता है। जाग्रत में जितना भारी संसार दीखता है उतना ही भारी संसार सपने में भी दीखता है। उसी को स्वप्न प्रपञ्च कहते हैं। यह स्वप्न प्रपञ्च और 'तदन्तर्गत स्वप्न शरीरादि चिन्त्य कहलाता है। सपने में हम अन्य प्रपञ्च के साथ अपने शरीर का भी निर्माण करते हैं। सपने में जो शरीर दीखता है वह जाग्रत शरीर नहीं है। सपने में

अपने को एक नौकर ने राजा देखा। देवतोपम अपना शरीर था। दिव्य कान्तियुक्त था। अनेकविध आभरण भूषित था। किन्तु जगा तो देखा वही काला कलूटा शरीर है। अतः सपने में शरीर भी नया कल्पित होता है। कुछ लोग मानते हैं कि सपने में आत्मा ही उस ढंग का शरीर बन कर घूमता है। क्योंकि वही शरीर उस समय द्रष्टा श्रोता मन्ता रहता है। फरक इतना ही है कि वह शरीर सूक्ष्म होता है किन्तु सपने में देखा स्थूल रूप में। स्थूल वस्तुतः वह इसलिये नहीं है कि यदि वह स्थूल होता तो दूसरे लोग भी देखते। उस स्वप्न प्रपञ्च एवं तदन्तर्गत शरीर में आत्मत्व का यह निषेध किया जा रहा है—अचिन्त्यः। स्वाप्निक शरीर काल्पनिक है—मिथ्या है। वह आत्मा नहीं हो सकता। जगने पर स्वप्न दृष्ट सकल वस्तुओं का बाध होता है।

अचिन्त्यः से स्वप्न शरीर के समान सूक्ष्म शरीर का भी निषेध है। स्वप्न शरीर में और सूक्ष्म शरीर में फरक है क्या ? अवश्य है। स्वप्न शरीर प्रातिभासिक कल्पित होता है। सूक्ष्म शरीर प्रातिभासिक कल्पित नहीं होता। वह व्यावहारिक होता है। फिर भी प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु चिन्त्य है, अर्थात् अनुमेय है। एकादश इन्द्रिय बुद्धि तथा पाँच प्राण इन सत्रह तत्त्वों से निर्मित सूक्ष्म शरीर तो जाग्रत काल में भी रहता है। किन्तु स्वप्न शरीर जाग्रत काल में नहीं रहता। अतएव सूक्ष्म शरीर और स्वाप्न शरीर की व्याख्या करते समय बड़ी सावधानी बरतनी पड़ती है। क्योंकि विश्व तैजस प्राज्ञ की व्याख्या में स्वप्नाधिष्ठाता को तैजस माना और समष्टि हिरण्यगर्भ को कहते समय सूक्ष्म समष्टि अभिमानी बताया है। अतः वहाँ भी तैजस को स्वप्न शरीर विशिष्ट सूक्ष्म शरीराधिष्ठाता ही समझना चाहिये।

सूक्ष्म शरीर को चिन्त्य कैसे कहा गया ? इसलिये कि वह अनुमेय है। चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय तथा वागादि कर्मेन्द्रिय अनुमेय हैं

यह हम पहले ही कह आये हैं। चक्षुरादि गोलक ही इन्द्रिय नहीं है। किन्तु उसके अन्र इन्द्रिय शक्ति अलग ही है। वह अनुमानगम्य है। ग्यारहवाँ मन है। उसे भी अनुमेय माना है। न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम कहते हैं—

"युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्।"

एक साथ में अनेक ज्ञान नहीं होता। यही मन का लिङ्ग अर्थात् अनुमापक है। बहुत से लोग शतावधानी होते हैं। किन्तु उनको भी एक साथ सौ ज्ञान नहीं होता। मन अतितीव्रगामी होने से बहुत ही अल्प समय में वह सौ चक्कर लगा लेता है। यही शतावधानता है तात्पर्य यही कि मन भी अनुमेय है। प्रत्यक्ष नहीं है। अतः 'चिन्त्यं' कहा। मन अनुमेय है तो मन का ही एक विशेष स्वरूप बुद्धि भी अनुमेय ही होगी। इस प्रकार बारह तो चिन्त्य हो गये। सूक्ष्म शरीर में बाकी पाँच रह गये। पाँच प्राण हैं। वे चिन्त्य-अनुमेय कैसे? वे तो प्रत्यक्ष हैं। श्वासोच्छ्वास प्रत्यक्ष देखने में आता है। अवश्य। किन्तु श्वासोच्छ्वास ही प्राणादि पंचक नहीं है। अपञ्चीकृत आकाशादि के रजोगुण समष्टि से निर्मित प्राणादि प्रत्यक्ष कैसे होंगे? श्वासोच्छ्वास तो प्राणशक्ति के खिचाव और अलगाव का फल है। कथंचित् प्राण और अपान को आप प्रत्यक्ष मान लें लेकिन व्यान, समान, उदान इन तीनों को कैसे देखेंगे? ये कौन से ऐसे प्रत्यक्ष वायु है। फिर प्राण में आकाशादि का भी रजोगुण संमिलित है। केवल वायु का नहीं। अतः श्वासोच्छवास रूपी कार्य से प्राण का अनुमान ही होता है। इस प्रकार सत्रहों तत्त्व अनुमेय होने से चिन्त्य कहलाये। आत्मा अचिन्त्य है। अर्थात् सत्रह तत्त्व वाले लिङ्ग शरीर से भिन्न है। क्यों भिन्न है? इसलिये कि ये सब लिङ्ग शरीर है। सूक्ष्म शरीर का दूसरा नाम लिङ्ग शरीर है। लिङ्ग का अर्थ है—"लीयमानत्वाल्लिङ्गम्"। ये सब लीन

होते हैं। आत्मा लीन नहीं होता। कब ये सब लीन होते हैं ? इसका उत्तर श्रुति में आया है—

"सुषुप्तिकाले सकले विलीने।"

सुषुप्तिकाल में ये सभी विलीन हो जाते हैं। किन्तु एक आत्मा सुषुप्ति में भी लीन नहीं होता। अतः वह लिङ्ग शरीर स्वरूप नहीं हो सकता। सुषुप्ति में आत्मा का भी लय माना जाय तो क्या आपत्ति है ? यही कि तब उस लय का साक्षी कौन होगा ? असाक्षिक लय मान्य नहीं है। और साक्षी रह गया तो वही आत्मा है। उसका लय कैसे माना जायेगा ? अतः सुषुप्ति में भी सर्वसाक्षी आत्मा तो रहता ही है।

अविकार्योऽयम्। जिसका विकार होता हो जो विकारित किया जा सकता हो, उसको विकार्य कहते हैं। "सर्वं वस्तु सावधारणं" ऐसा एक न्याय है। उसका मतलब है कि 'मेरे पास दस रुपये हैं' कहने पर दस ही रुपये हैं, नो नहीं, ग्यारह भी नहीं, ऐसा अवधारण सहित अर्थ आता है। विकार्य का अर्थ होगा—विकार्य एव न तु प्रकार्यः। जिसकी विकृति ही होती है प्रकृति नहीं, वही पूरा विकार्य कहने योग्य है। वह कौन ? मूल प्रकृति। मूल प्रकृति की विकृति ही होती है, उसका भी मूल अन्य प्रकृति नहीं है। महत्तत्त्वादि की विकृति भी होती है और प्रकृति भी। इन्द्रिय एवं महाभूत तो विकार रूप ही हैं। सांख्यशास्त्र में कहा है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

अर्थात् मूलप्रकृति किसी की भी विकृति नहीं है। वह प्रकृति ही है। महत्तत्त्व मूल प्रकृति की विकृति है, किन्तु अहंकार तत्त्व की प्रकृति भी है। अहंकार तत्त्व महत्तत्त्व की विकृति है, पञ्चतन्मात्रा की प्रकृति भी है। एकादश इन्द्रिय तथा पञ्चमहाभूत विकृति ही हैं, प्रकृति नहीं। पुरुष आत्मा तो न प्रकृति है और न विकृति है।

केवल विकार्यता प्रकृति में ही है। उसी को वेदान्त में अज्ञान कहते हैं। कारण प्रपञ्च कहते हैं। और कारण शरीर भी कहते हैं। यहाँ "अविकार्य" से उसी कारणप्रपञ्च कारणशरीर का निषेध है। स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर विकार्य नहीं है। सूक्ष्म शरीर में एकादश इन्द्रियों का विकार नहीं ही होता। पंच प्राण का भी विकार नहीं होता। बुद्धि का भी वेदान्त मत में विकार नहीं होता। स्थूल शरीर में शंका कर सकते हैं कि इसका तो विकार होता है। परन्तु यहाँ विकार शब्द का पारिभाषिक अर्थ है।

"तत्त्वान्तरपरिणामो विकारः"।

ऐसा सांख्यशास्त्र में बताया है। महत्तत्त्व से अहंकार तत्त्वान्तर है। अहंकार से पञ्च तन्मात्रा तत्त्वान्तर है। मिट्टी से घड़ा हुआ तो वह विकार नहीं है। क्योंकि घड़े में तत्त्व बदला नहीं है। मिट्टी में भी मृत्तत्व है, घट में भी मृत्तत्व है। अतः वह एक ही तत्त्व है। तत्त्वान्तर नहीं है। स्थूल शरीर का परिणाम होता है किन्तु विकार नहीं होता क्योंकि स्थूल शरीर में पञ्च महाभूत तत्त्व है। इसमें परिणाम आने पर भी पञ्चमहाभूत तत्त्व ही रहेगा। अतः स्थूल शरीर भी विकार्य नहीं है। विकार्य तो कारण शरीर ही है।

आत्मा अविकार्य क्यों है ? इसलिये कि वह किसी की प्रकृति नहीं। "न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः" यह हम कह आये। शुद्धाद्वैत वाले परमात्मा का ही परिणाम जगत है ऐसा मानते हैं। तब तत्त्वान्तर परिणाम हो गया तो विकार्य होना सुनिश्चित है। वे कहते हैं—जगत् परमात्मा का अविकृत परिणाम है। जगत् बनने पर भी परमात्मा ज्यों का त्यों रहता है। परन्तु सांख्य मत में भी प्रकृति से महत्तत्व बनने पर भी प्रकृति ज्यों की त्यों बनी रहती है। प्रकृति नष्ट नहीं होती। अथ च महत्तत्त्व को विकृत परिणाम ही मानते हैं। क्योंकि महत्तत्व तत्त्वान्तर है। वैसे जगत् तत्त्वान्तर हो गया और परमात्मा से पैदा हुआ तो परमात्मा का वह विकृति

परिणाम ही माना जायेगा। प्रकृति के अन्दर से महत्तत्त्व बाहर आया जैसे शरीर के अन्दर से फोड़ा बाहर आता है। वैसे परमात्मा के अन्दर से जगत् बाहर आया तो वह सच्छिद्र होगा। विनाशी भी होगा। अतएव वेदांत में प्रकृति को भी नित्य नहीं माना। उपनिषद में स्पष्ट उल्लेख मिलता है—**"भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः"** अन्त में माया का भी नाश होता है। माया माने प्रकृति। यह भी वहीं पर कहा है—**"मायां तु प्रकृतिं विद्यात्"** वेदान्त में वस्तुतः आत्मा को कारण भी नहीं माना। अतएव श्रुति में कहा—**न तस्य कार्यं करणं च विद्यते"** उस आत्मा का कोई कार्य और करण नहीं है। कार्य नहीं कहने से अपने आप सिद्ध होता है कि वह आत्मा किसी का कारण नहीं है। कारण ही विकार्य होता है। कारणता निवृत्त होने से विकार्यता की भी निवृत्ति है।

स्थूल शरीर या स्थूल प्रपञ्च तो आत्मा नहीं ही। स्थूल शरीर विशिष्ट विश्व भी आत्मा का असली स्वरूप नहीं है। अतएव "न विद्यते व्यक्तं स्थूलशरीरं यस्य" ऐसा भी इसका विग्रह है। वैसे सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म प्रपञ्च के समान सूक्ष्म शरीर विशिष्ट तैजस भी आत्मा का परमार्थिक रूप नहीं है। अतएव "न विद्यते चिन्त्यं सूक्ष्मशरीरं यस्य सः" इस प्रकार भी विग्रह समझना चाहिये। इसी प्रकार कारण शरीर के समान कारण शरीर विशिष्ट प्राज्ञ भी आत्मा का वास्तविक रूप नहीं है। "न विद्यते विकार्यं कारणशरीरं यस्य सः" इस प्रकार अविकार्य की भी व्युत्पत्ति करनी चाहिये।

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया।
न निद्रां नापि च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः॥

तुरीय स्वरूप ही आत्मा का वास्तविक रूप है। वहाँ जाग्रत और स्वप्न रूपी अन्यथाग्रहणात्मक स्वप्न नहीं। और निद्रारूपी कारण सुषुप्ति भी नहीं।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि। अव्यक्तोऽयं इत्यादि-रीति प्रथम आत्मा का श्रवण मनन करो। फिर बार-बार उसका अनुसन्धान करो। मैं स्थूल नहीं, मैं सूक्ष्म नहीं, मैं कारण नहीं, इस प्रकार अनुसन्धान चलते रहना चाहिये। निरन्तर साक्षी भाव से शरीरादि को पृथक देखने से आत्मा का वेदन अर्थात् अनुभवात्मक ज्ञान होता है। उसमें शोक की निवृत्ति होती है। **"तरति शोक-मात्मवित्"** इस प्रकार श्रुति में आत्मवेदन का फल शोकतरण बताया है। यह यद्यपि अनुभवात्मक आत्मवेदन का फल है। और वह तो "अनेकजन्मसंसिद्धः" इस प्रकार आगे कहना है इसलिये शीघ्रसाध्य नहीं है। तथापि परोक्ष ज्ञान भी कुछ हद तक शोक निवर्तक है ही। अतएव यहाँ अर्हपद जोड़कर कहा—नानुशो-चितुमर्हसि ॥ २५ ॥

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ।। २६ ।।

और यदि हे अर्जुन ! तुम इस आत्मा को नित्यजात एवं नित्यमृत मानते हो तो भी हे महाबाहो, तुम्हें इस प्रकार शोक करना योग्य नहीं है ।। २६ ।।]

शोक मोह निवारणार्थ भगवान ने अर्जुन को पंद्रह श्लोकों में आत्म तत्त्व ज्ञान का उपदेश किया। भगवान अर्जुन के मुख की ओर देखने लगे। किन्तु मुख पर रौनक दिखाई नहीं पड़ी। ऐसा आभास हो रहा था कि उपदेश कुछ काम नहीं कर रहा है। आत्मज्ञान होने पर चेहरे का स्वरूप बदल जाता है। छोन्दोग्य में जाबाल ऋषि और उपकोसल के वृत्तान्त में जाबाल ऋषि कहते हैं—

"ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति"

—हे सोम्य ! तुम्हारा चेहरा देखने से ऐसा लगता है कि तुम्हें ब्रह्म ज्ञान हो गया हो। और सचमुच में अग्नि देवताओं ने उपकोसल को पूरा नहीं, कुछ ब्रह्म ज्ञान दिया ही था। उतने में ही चेहरे की चमक विलक्षण हो गयी थी। यहाँ भगवान देख रहे थे कि मैंने इतना सारा आत्म ज्ञान बताया, फिर भी अर्जुन के चेहरे पर कोई अंतर नहीं आया। वही मुर्झाया ही मुख दीख रहा है। मानो कमल के पत्ते पर पानी डालने के बराबर मैं अर्जुन पर आत्म ज्ञान धारा गिरा रहा हूँ।

अर्जुन की समझ में यह ऊँचा तत्त्व ज्ञान बराबर बैठ नहीं रहा था। इतनी तेज बुद्धि वाले नरावतार अर्जुन के मन में बात क्यों नहीं उतर रही थी ? इसलिये कि अर्जुन शोक मोह में डूबा हुआ था। शोक मोह के आवेग में पड़े हुए मनुष्य पर उपदेश काम नहीं

करता। तत्त्वज्ञान का उपदेश वहाँ विफल हो जाता है। किसी कामातुर पुरुष को कहो कि क्यों इतने व्यथित हो रहे हो। यह शरीर केवल मांस का लोथड़ा है, गंदा है, विनाशी है, तो क्या उसकी समझ में आवेगा ? किसी क्रोधी को क्रोध के समय कहो कि क्रोध करना बुरा है, विवेक नाशक है, तो क्या उसका क्रोध दूर होगा ? वह उपदेश देने वाले पर ही टूट पड़ेगा। वैसे शोक मोह में जो पड़ा है उस पर भी आत्मतत्त्वज्ञानोपदेश कैसे काम करेगा ?

यहाँ बड़ी जटिल समस्या है। शोक मोह के गये बिना आत्म ज्ञानोपदेश काम नहीं करेगा। किन्तु आत्म ज्ञान के बिना शोक मोह नहीं जायेगा। यह तो अन्योन्याश्रय हो गया। शोक मोह निवृत्त होने पर आत्म ज्ञान होगा। आत्म ज्ञान होने पर शोक मोह निवृत्ति होगी। ऐसे अन्योन्याश्रय स्थल में दोनों असंभव होंगे। अर्थात् शोक मोह रही जायेंगे। यह ऐसी बात है जैसे गाड़ी ठंढी पड़ गयी है। उसे स्टार्ट करना है। स्टार्ट हुए बिना गाड़ी चलेगी नहीं। और ऐसी ठंढी पड़ गयी है कि जब तक कुछ दूर तक नहीं चलेगी तब तक स्टार्ट नहीं होगी। यह भी अन्योन्याश्रय है। वहाँ एक उपाय किया जाता है। क्या ? दो तीन आदमी मिलकर गाड़ी को धक्का दें। और गाड़ी कुछ दूर तक दौड़े, पुर्जे घूमने लग जाय। तब स्टार्ट करे, तो गाड़ी दौड़ने लगेगी। वहाँ धक्का देने से जो दौड़ना है वह असली दौड़ नहीं है। वह नकली दौड़ है। किन्तु गाड़ी को स्टार्ट करने में वह भी उपयोगी है। भगवान ने सोचा कि इसी प्रकार अर्जुन के तत्त्वज्ञान को स्टार्ट करने के लिये थोड़ा नकली तत्त्वज्ञान को काम में लावे। अर्थात् अर्जुन की मान्यता के अनुरूप उसी में कुछ प्रगति—सुधार करें। गाड़ी को धक्का मारकर आगे बढ़ाने के बराबर भगवान् मान्यता के अनुरूप यह उपदेश दे रहें हैं—**अथ चैनं नित्यजातं**·······इत्यादि। यहाँ मन्यसे का अर्थ है—

मान्यता। इसी को अभ्युपगमवाद कहते हैं। मान्यता को स्वीकार करके आगे बोलना अभ्युपगमवाद है।

हे अर्जुन ! तुम कुछ देर के लिये मान ही लो कि आत्मा नित्य जनमता है और नित्य मरता है—"नित्यं जातं च नित्यं मृतं च मन्यसे"। वैसे तो आत्मा न नित्यजात है और न नित्यमृत ही है। परन्तु तुम अपनी मान्यता के अनुसार मान लो कि आत्मा नित्य जात और नित्य मृत है। हे अर्जुन ! ऐसी तुम्हारी मान्यता स्वीकार करने पर भी नित्य जात और नित्य मृत के लिये शोक क्या करना है ? वह नित्य जात नित्य मृत है ही। नित्य मृत को लेकर, हाय यह मर गया, मर रहा है, ऐसा शोक वृथा ही है।

यह मान्यता कैसे प्रकट हुई ? आत्मा नित्य जात और नित्य मृत है, यह किसका सिद्धांत है ? मान्यता तो किसी न किसी परम्परा से, या किसी संप्रदाय से आती है। तो किस संप्रदाय का यह सिद्धान्त है कि आत्मा नित्य जात और नित्य मृत है, जिसको अर्जुन ने अपना लिया था। कम से कम यह वेदान्त का सिद्धान्त तो नहीं ही है। न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य एवं योग दर्शन वाले भी इस प्रकार के आत्मा को नहीं मानते। संक्षेप में आस्तिक दर्शन सभी आत्मा को नित्य ही मानते हैं। भले ही आत्मा के स्वरूप के बारे में दार्शनिकों में मतभेद हो। परन्तु नित्यता के बारे में दो मत हैं ही नहीं। अतः अर्जुन की यह मान्यता आस्तिक षट् दर्शन को लेकर नहीं है, यह निश्चित बात है।

अब हम नास्तिक दर्शन की ओर देखें। उनमें प्रथम चार्वाक का नंबर आता है। क्या अर्जुन की यह मान्यता चार्वाक मतानुसार है ? क्या अर्जुन चार्वाक था ? क्या अर्जुन आस्तिक नहीं था ? चार्वाक लोग धर्म-अधर्म को, पूर्व जन्म-पर जन्म को एवं बन्ध-मोक्षादि को नहीं मानते। तो क्या अर्जुन इन सबको नहीं मानता था ? यद्यपि आज कल आस्तिक कहलाने वाले भी, धर्माधर्म चर्चा करने वाले भी,

निन्यानवे प्रतिशत चार्वाकमतानुयायी हो गये हैं, तथापि क्या अर्जुन को भी वैसा ही माना जाय ? चार्वाकों का सिद्धान्त है कि खूब धन कमावो और उसका खूब उपभोग करो। इसमें पुण्यपापादि देखने की जरूरत नहीं है। झूठ से, कपट से, जैसे तैसे भी धन कमावो और कमावो। बृहस्पति का सूत्र है—

"अर्थकामौ पुरुषार्थौ"

अर्थ माने धन। काम माने धन का उपभोग। ये दो ही पुरुषार्थ हैं। धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ नहीं। ऐसा वृहस्पति सूत्र का अर्थ है। अब थोड़ा स्वयं अपने आपको टटोलकर देखो। एक ओर धर्म चर्चा हो रही है, ब्रह्मोपदेश हो रहा है, संत समाज हरिकथा दोनों हो रहे हैं जिसके बारे में शास्त्रों में बार-बार दुहराया है—

क्षणार्धेनापि तुलये न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥

आधे क्षण के सत्संग की बराबरी स्वर्गादि भी नहीं कर सकते। ऐसा संत समाज हो रहा है, हरि कथा हो रही है। दूसरी ओर उसी समय मार्किट जाने पर पचीस हजार रुपये का फायदा होने जा रहा है, तो इन दोनों में किसको अपनाओगे, किसको छोड़ोगे। प्रायः उत्तर स्पष्ट है। संत समाज को ही कह दिया जायेगा कि महाराज सत्संग जरा आगे पिछे करिये तो हम को भी लाभ हो सकता है। अन्यथा मैं उस लाभ से वंचित रह जाऊंगा। तब क्या माना जायेगा ? वृहस्पति सूत्र हम पर भी लागू हो गया, ऐसा नहीं माना जायेगा ? हम अपने को नास्तिक नहीं कहला सकते तो पूरा आस्तिक कहलाने का भी हक खो बैठते हैं। अतएव आस्तिक नास्तिक के चार विभाग मानने पडेंगे। (१) नास्तिक (२) नास्तिक-आस्तिक (३) आस्तिक-नास्तिक (४) और आस्तिक ये चार विभाग मानने पडेंगे। इनमें प्रथम नास्तिक वह है जो पक्का हो। धर्माधर्म को सर्वथा न मानता हो। अर्थ काम में ही सारी जिंदगी बिता रहा

हो। इस कोटि के लोग आज के युग में हजारों की संख्या में मिलेंगे। दूसरे नास्तिक-आस्तिक है। नास्तिकता प्रथम, आस्तिकता बाद में। अर्थात् अर्थकाम प्रधान है। धर्म-मोक्ष गौण है। अर्थकाम के लिये सब कुछ करने को तैयार है। बचे हुए समय में थोड़ा बहुत धर्म चर्चा भी। सो भी इसलिये कि अर्थकाम में बाधा न हो, उसकी वृद्धि हो, ईश्वर उसमें सहयोग दें। इस कोटि के लोग तो पचहत्तर प्रतिशत मिल जायेंगे। क्योंकि ठोकर खाने पर भगवान याद आते हैं। धर्म याद आता है। फिर दुबारा ठोकर न लगे एतदर्थ भगवान से और धर्म से आशा रखते हैं। किन्तु मुख्य अर्थात साध्य तो अर्थकाम ही रहेंगे। नास्तिक-आस्तिक को विपरीत करने पर आस्तिक-नास्तिक होता है। आस्तिक-नास्तिक वह है जो ईश्वर एवं धर्म को मुख्यता देता हुआ ही अर्थकाम प्रधान है। वह ईश्वर एवं धर्म के लिये पृथक समय निकालता है। फिर भी अर्थकाम में हानि को सहन नहीं करेगा। चौथा आस्तिक वह है जिसके जीवन में धर्म और ईश्वर ही मुख्य है—साध्य है। अर्थ काम गौण है। वह अर्थकाम निर्वाहमात्रोपयोगी होगा। इसमें हम किस कोटि के हैं इसका निणर्य करना अपना काम है। और उसमें संभव सुधार लाना भी अपना ही काम है।

चार्वाक दर्शन और वेदान्त दर्शन इन दोनों का उद्गम मूल ही भिन्न दिशा के हैं। चार्वाक दर्शन चाह को लेकर उत्पन्न हुआ है। वेदान्त माँग को लेकर। चाह में और माँग में क्या फरक है? चाह बाह्य दृष्टि से होती है। माँग अन्तर्दृष्टि से होती है। चाह प्रायः अविवेक पर आधारित होती है। माँग विवेक पर आश्रित है। एक लौकिक उदाहरण है। स्वास्थ्य सर्वाभीष्ट है। माँग है सर्वत्र सफाई रखो। चाह है कि एक व्यक्ति ने सोचा हाथ में जो कचड़ा है उसे कहाँ फेकने जाऊँ, यहीं डाल दो। इसी प्रकार दार्ष्टान्तिक भी समझो। सुख सर्वाभीष्ट है। उसे अर्थकाम से संपादन करने की कोशिश चाह

है। धर्म-मोक्ष से संपादन करने की कोशिश माँग है। विवेक करने पर यह अर्थ सामने आयेगा। अंदर की चाह ही माँग है। आप कैसा सुख चाहते हैं ? आज हम खुशी से रहें आनन्द से रहें, कल भले बिमार होऊँ, छटपटाऊँ, रोऊँ-पीटूं ऐसा सुख आपको चाहिये ? नहीं। हम सभी यही चाहते हैं कि हम आज भी सानन्द रहें, कल भी रहें, परसों भी, यावज्जीवन सुखी रहें। जिन्दगी में एक दिन भी यदि दुःख आया तो भोगा गया सारा आनन्द उस रोज चौपट हो जायेगा। निरर्थक लगेगा। 'यावज्जीवन' यह भी संभावना को लेकर कहा जा रहा है। क्योंकि मरण अनिवार्य है। अगर मरण का कोई उपाय हो तो अनन्त समय तक ही आप सुख चाहेंगे। और आगे सोचो। यावज्जीवन सुख मिलेगा घर में ही बैठे रहो तो। बाहर जाने पर दुःख होगा। ऐसा कोई वरदान देने आवे तो क्या कहेंगे ? यही कहेंगे कि ऐसा वरदान ठीक नहीं। घर में भी सुख मिलना चाहिये, बाहर भी सुख मिलना चाहिये। घर में इसीलिये सुखार्थ कुर्सी, सोफा, पलंग, पंखा, एयरकंडोशन आदि हजारों सुख सामग्री संचित करते हैं कि घर में सुख हो। बाहर जाने पर सुख हो इसलिये जूता, छाता, मोटर, कार आदि रखते हैं। जहाँ आफिस में जाते हैं वहाँ भी पंखा वातानुकूलित चाहिये। गाड़ी में बैठते समय खिड़की के पास बैठने के लिये इसीलिये दौड़ते हैं। ब्रह्म को पाने के लिये बल्कि इतना खतरा मोल नहीं लेते, जितने कि गाड़ी के रुकने से पूर्व ही चढ़ने के लिये। विशेष रूप से बम्बई लोकल ट्रेनों में। और आगे सोचो। रोज सुख मिलेगा। सब जगह भी सुख मिलेगा। किन्तु बैठने में मिलेगा। भोजन से दुःख मिलेगा–बदहजमी। अधिक प्रकाश में आँखों में जलन होगी। अधिक लिखने में सिरदर्द होगा तो ?। वह भी नहीं। हर वस्तु से सुख मिलना चाहिये। दुःखद वस्तु चाहिये ही नहीं। कंकड़, पत्थर, काँटा आदि चाहिये ही नहीं, जो दुःखद हो। इन तीन विचारों से मालूम पड़ता है कि आप जो सुख चाहते

हैं वह कालपरिच्छिन्न न हो, देश परिच्छिन्न न हो, वस्तु परिच्छिन्न न हो। सब काल में सुख चाहिये, सब देश में सुख चाहिये, सब वस्तु में सुख चाहिये। सब काल में सुख चाहिये अर्थात् कालाऽपरिच्छिन्न सुख हो। सब देश में सुख चाहिये अर्थात् देशापरिच्छिन्न सुख हो। सब वस्तु में सुख चाहिये अर्थात् वस्त्वपरिच्छिन्न सुख हो। देशकाल वस्तु अपरिच्छिन्न सुख ही ब्रह्म है। समस्त प्राणियों की वही माँग है। परन्तु अविवेक के कारण विषयों की चाह होती है। वेदान्त ब्रह्मशास्त्र है, माँग शास्त्र है। चार्वाक विषय शास्त्र है, चाहशास्त्र है।

वेदों में प्राणी मात्र की इस मांग को लेकर ही अनेक विध प्रार्थनायें आयी हैं। वेद भगवान् विपर्ययनिमित्तक चाह से मनुष्य को पृथक करना चाहते हैं।

"अहानि शं भवन्तु नः शँ रात्रीः प्रतिधीयताम्"।

इस मन्त्र में कालापरिच्छिन्न सुख की प्रार्थना है। 'अहानि' यह अहः शब्द का बहुवचन है। अह दिन को कहते हैं। बहुवचन समस्त दिनों के ग्रहणार्थ है। सभी दिन हमारे शं—अर्थात् मङ्गलमय सुखमय आनन्दमय हो। इसी प्रकार रात्रियाँ भी मङ्गलमय सुखमय आनन्दमय हो।

"द्यौः शान्तिरन्तरिक्षँ शान्तिः पृथिवी शान्तिः"।

इस मन्त्र में देशापरिच्छिन्न सुख की प्रार्थना है। स्वर्ग शान्तिरूप हो अर्थात् स्वर्ग में जाने का अवसर आया तो वहाँ उपशमात्मक आनन्द प्राप्त हो। आन्तरिक्ष शान्तिरूप हो। अर्थात् विमान आदि से अन्तरिक्ष में पहुँचने पर वहाँ भी निर्भयता, अनुद्वेगता आदि के साथ सुख हो। पृथवी शान्तिरूप हो अर्थात् पृथवी में सर्वत्र अध्यात्मिकादि दुःख शमन पूर्वक परम सुख प्राप्त हो। सकल देश व्यापी देशापरिच्छिन्न शान्ति यहाँ पर अभिप्रेत है।

शं नो वातः पवता ँ शं नस्तपतु सूर्यः
शं नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽभिवर्षतु।

इस मन्त्र में वस्तु परिच्छेद शून्य सुख की प्रार्थना है। हवा इस प्रकार चलें कि हमें उससे आनन्द प्राप्त हो। वात खरस्पर्श न हो, क्षोभकारी न हो। इसी प्रकार सूर्य ऐसे तपे कि उस से हमें सुख प्राप्त हो। प्रखर किरणों से हम परितप्त न हो। मेघ भगवान इस प्रकार बरसे कि हमें आनन्द प्राप्त हो। अतिवृष्टि अनावृष्टि आदि से हम क्लेश भागी न हो। यहाँ वातादि वस्तु सुखरूप हो यह प्रार्थना है।

हमारी मांग देश, काल एवं वस्तु से अपरिच्छिन्न आनंद की है। वेदमन्त्र कहते हैं कि वास्तविक रूप से सभी उस अपरिच्छिन्न सुख को ही चाहते हैं, अर्थात् प्रह्म को ही चाहते हैं। क्योंकि देश-कालवस्त्वपरिच्छिन्न आनन्द ही तो ब्रह्म है। वेदान्त शास्त्र उस माँग की पूर्ति के लिये उपदेश करता है। चर्वाक इससे विपरीत है। वह विषयों की चाह के पीछे लगा है। वेदान्ती कहता है कि वह चाह नहीं, आह है। विषय की चाह का परिणाम आह है। दुःख प्राप्ति है, सुख प्राप्ति नहीं। चाह को मिटावो तो ही आह मिटेगी। **दूरमेते विपरीते विषूची"** वेदान्तशास्त्र और चार्वाक शास्त्र अत्यन्त विरुद्ध है।

अर्जुन वेदान्तानुसारी तो नहीं ही था। क्योंकि वेदान्त अपरिच्छिन्न आनन्द स्वरूप ब्रह्माभिन्न आत्मा की नित्यता आदि जो बतलाया है उसके ज्ञान के न होने से ही शोक कर रहा था— "नानुशोचन्ति पण्डितः।" । वेदान्त विज्ञानयुक्त पण्डित होता तो अर्जुन शोक न करता। तब क्या चार्वाक था ? चार्वाक की कुछ झलक तो मिल सकती है। क्योंकि बन्धुबान्धव संग सुख तो आखिर विषय सुख ही है। उसकी चाह का परिणाम जो आह होती है वह अर्जुन में देखने में आ रही है। इसीलिये उनके मरण को लेकर

अर्जुन शोक संविग्नमानस हुआ था। परंतु अर्जुन वस्तुतः चार्वाक मतानुयायी भी नहीं था। यह बात पूर्वाध्याय के विवेचन से स्पष्ट होती है। अर्जुन ने कहा—

"धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत"

चार्वाक न धर्म को ही मानता है, और न अधर्म को ही। अर्जुन ने यहाँ धर्म और अधर्म दोनों की बात कही। धर्म नष्ट होने से अधर्म बढ़ेगा। अधर्म से कुल स्त्रियाँ दूषित होंगी, उससे वर्ण संकर होगा इत्यादि बातें चार्वाक नहीं कह सकता। चार्वाक मरणोत्तर आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं मानता। लेकिन अर्जुन ने कहा—

"पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः"।

"नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम"।

चार्वाक न पितारों को मानता हैं, उनका पतन फिर क्या हो, और न नरक को ही मानता है। चार्वाकों का कहना है कि स्वर्ग नरकादि सभी धन लोलुप पण्डितों की कल्पना की उपज है। और अर्जुन के उक्त शब्दों में मरणोत्तर पितरों का अस्तित्व एवं नरक का अस्तित्व स्पष्ट झलकता है।

आत्मा के नित्यजातत्व और नित्यमृतत्व की मान्यता आस्तिक षट्दर्शनानुसारी नहीं है। और अर्जुन चार्वाकानुयायी भी नहीं था। क्योंकि वह धर्माधर्मादिको मानता था। तब यह मान्यता किस सिद्धान्त को लेकर हुई ?। एक दर्शन और है। वह है बौद्ध दर्शन। बौद्ध दर्शन के क्षणिक विज्ञान वाद के साथ इस मान्यता का तालमेल बैठता है। क्योंकि क्षणिक विज्ञान में क्षण-क्षण में विज्ञान का जन्म और द्वितीय-द्वितीय क्षण में उसका विनाश भी होता है। अतः वह नित्यजात और नित्यमृत कहा जा सकता है। और बौद्ध लोग भी स्वर्ग नरकादि मानते हैं। धर्माधर्मादि भी अपने ढंग से मानते हैं। सनातन धर्मानुसार वे धर्माधर्म की व्याख्या भले न करे। फिर भी एक प्रकार धर्म-अधर्म को तो वे मानते ही हैं। तब यह

मान्यता बौद्ध मतानुसार है क्या ?। उत्तर है—नहीं। अर्जुन की मान्यता बौद्धानुसारिणी भी नहीं है। क्योंकि "लुप्तपिण्डोदक-क्रियाः" यह उक्ति शुद्ध सनातन की लगती है। दूसरी बात क्षणिक विज्ञान एक नहीं है कि वही नित्य पैदा हो और नित्य नष्ट होता रहता हो। क्षण-क्षण में विज्ञान बदलता रहता है। अत्मैकत्व की प्रतीति को वे भ्रान्ति मानते हैं। और बौद्धों के समस्त वादों का चरम सोपान शून्यवाद है। "सर्वं शून्यं शून्यं" यह उनकी अन्तिम भावना है। अर्जुन शून्यवादी तो नहीं ही था। जहाँ शून्यवाद है वहाँ शोक नहीं होता। वहाँ निराशा होती। चित्त भी शून्य हो जाता है।

इस विचार श्रेणी से यह प्रश्न जटिल हो गया कि "अथ चैनं नियत्जातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्" यह मान्यता आखिर किस सिद्धान्त के अनुसार है ? इस प्रश्न का समाधान यह है कि अर्जुन न आस्तिकदर्शनानुसारी मान्यता वाला है और न नास्तिकदर्शनानुसारी मान्यता वाला है। अर्जुन की यह मान्यता उस समय के साधारण जनों की मान्यता थी। सामान्य जन यही मानते हैं कि इस शरीर में आत्मारूपी एक चिराग जल रही है। जिसको जीव भी कहते हैं। वह चिराग जब तक शरीर रहता है तब तक जलती है। शरीर नष्ट हुआ तो बुझ जाती है। दीपक में तेल डालते रहो तो चिराग जलती रहती है। किन्तु हवा का एक जोरदार झोंका आया तो दीपक बुझ जाता है। शरीर दीवट है। अन्तःकरण तेल बत्ती है। चिराग जीवात्मा है। दीवट फूटने पर तेल बिखर जाता है दीपक बुझ जाता है। वैसे शरीर नष्ट होने पर जीवात्मारूपी चिराग बुझ जाती है। फिर कर्मवशात् दूसरा शरीर मिलता है। उसमें अन्तःकरण जम जाता है तो फिर वह चिराग जलती है। एक दीपक हवा में बुझ गया फिर उसे जलाया तो दीपक वही माना जायेगा। दूसरा नहीं। इसी प्रकार जीवात्मा बुझ गया और दुबारा जला तो बदलता नहीं वही माना जायेगा। यह मान्यता

कहाँ तक सही है, कहाँ तक गलत है, इसकी यहाँ चर्चा नहीं है। यहाँ चर्चा उस मान्यता को स्वीकार करके चलायी जा रही है। अखण्ड दीपक कहने से न बुझने वाला अर्थ होता है। दीपक खण्डित हो गया मतलब बीच में बुझ गया। बुझने पर भी दीपक वही है। इस प्रकार लौकिक दृष्टि होती है। उसी लोकानुसारी दृष्टि को लेकर भगवान् अथ चैनं नित्यजातं इत्यादि मान्यता को उठा रहे हैं।

भगवान ने प्रथम समझाया कि हे अर्जुन! यह आत्मारूपी चिराग बुझती नहीं है। शरीर के नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होती– "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" अतः इसके बुझने का शोक मत कर। किन्तु बार-बार समझाने पर भी अर्जुन के दिमाग में चिराग के जलने बुझने का ही स्वरूप घूम रहा था। इसलिये आत्मोपदेश करने पर भी चेहरे पर रौनक नहीं आयी। भगवान ने चेहरा देखकर पहचान लिया कि मेरा पूरा उपदेश ऊषर भूमि में पानी डालने के बराबर गायब हो रहा है। उसका कोई असर अर्जुन पर नहीं पड़ रहा है। तब भगवान ने सोचा—

यया यया भवेत्पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव प्रक्रिया साध्वी ज्ञेया सा चानवस्थिता ॥

जिस-जिस प्रक्रिया से आत्मबोध मनुष्य को हो उसी प्रक्रिया को अपना लेना चाहिये। ये प्रक्रियायें अनवस्थित हैं। एक जैसी नहीं है। इसीलिये नानामतों का आविर्भाव हुआ। अतः भगवान् यहाँ प्रक्रिया बदल कर बोल रहे हैं।

एक बार मैं अजमेर गया। कुछ दिन वहाँ प्रवचन किया। मेरे पहले एक महात्मा कथा कह रहे थे। बड़े ऊँचे वेदान्ती थे। वेदान्त रहस्य को वे सुनाते थे। वे कभी चित्सुखी की कथा कहते थे और कभी अद्वैतसिद्धि की। लोग बड़े श्रद्धालु थे। सुनते जाते थे। चित्सुखी में महाविद्यानुमान आता है जो असाधारण दिमाग वालों

को भी चक्कर में डाल दे। अद्वैतसिद्धि में फिर कहना ही क्या। उस महात्मा ने ही मुझे प्रवचन करने को कहा। ;मैं सोचने लगा कि इतनी ऊँची बात ये श्रोता लोग सुन चुके हैं तो मैं क्या सुनाऊँ। परन्तु मुझे इस विषय में संशय ही हो रहा था कि ये लोग चित्सुखी, अद्वैतसिद्धि आदि की बात समझ गये हैं और समझते हैं। जो भी हो अपने तो सरल ढंग से प्रथम उपक्रम तो कर ही लें। फिर दूसरे दिन से लोगों की माँग के अनुसार कथा सुनायेंगे। उपक्रम मुझे यही करना था कि कर्म और उपासना से जिनका मन निर्मल एवं निर्विक्षेप हो जाता है उन्हीं में विविदिषा-जिज्ञासा होती है। "यज्ञेन विविदिषन्ति" श्रुति है। तो आप सब श्रोता कर्म एवं उपासना से विविदिषु बनकर विद्या प्राप्त कर रहे हैं। वह कौन सी विद्या ? यही ब्रह्म विद्या। इस प्रकार उपक्रम करना था। मुख्य आऊट लाईन पहले खींच लेते हैं, फिर उसमें रंग भरते हैं। उस रंग भरने में हमने प्रथम कर्म को शुरू किया। निष्काम कर्म से जिज्ञासा किस प्रकार होती है इसमें हमने एक दृष्टान्त दिया—एक राजा की कई रानियाँ थीं। राजा ने एक दूसरे राज्य पर आक्रमण करके उसे वश में किया। वह बड़ा संपन्न राज्य था। राजा ने अपने दूत के द्वारा रानियों को पुछवाया, तुम्हें जो-जो चीज पसंद हो, उसे लिखकर भेजो। यहाँ सब मिलता है। किसी रानी ने सोना माँगा, किसी ने हीरा माँगा, किसी ने साड़ी मँगायी। लेकिन आखिर छोटी जो रानी थी उसने लिख भेजा जो आपको पसंद हो सो मुझे दीजिये। राजा ने औरों के लिये वे वे चीजें ला दीं। किन्तु आखिर रानी का प्रश्न बड़ा जटिल था। आपको जो पसंद हो सो मुझे दीजिये। मुझे क्या पसंद है ? सबसे अधिक क्या पसंद है ? राजा ने बड़ा विचार किया। अन्त में यह श्रुति याद आयी—

पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात्
अन्तरतरं यदयमात्मा।

पुत्र से, वित्त से एवं अन्य सबसे प्रियतर तो आत्मा-अपना आपा है। राजा ने औरों को मँगायी हुई चीजें भेजीं। और छोटी रानी के पास स्वयं गये। स्वयं राजा पहुँचे तो फिर किस बात की कमी थी। इस प्रकार भगवान से कुछ माँगना नहीं है। यही माँगना कि जो तुम्हें ठीक लगे सो मुझे देना।

"यद्भद्रं तन्न आसुव"

मन्त्र भी यही बताता है। जो आपको भद्र लगे, भला लगे, वही हमें देना। इस निष्काम भाव से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। कथा मैंने काफी लंबी चौड़ी करके सुनायी। और अन्त में कहा—कल से आप जो विषय पसंद करेंगे उस पर बोलूँगा।

कथा पूरी हुई तो एक भक्त ने कहा—आज कथा समझ में आयी। पास में ही दूसरे महात्मा बैठे थे। उन्होंने कहा—मतलब यह कि अभी तक कथा समझ में नहीं आती रही। उस समय मैं सोचने लगा—भक्त अच्छी सभ्य भाषा में बोलेगा—पहले भी समझ में आती रही, आज अधिक समझ में आयी। परन्तु भक्त वैसा नहीं बोला। वह कहने लगा, महाराज! सत्संग में आकर झूठ नहीं बोलना चाहिये। मेरी धृष्टता है। अभी तक हमको कुछ भी समझ में नहीं आता था। महात्मा ने फिर से पूछा—कुछ भी समझ में नहीं आता था? भक्त ने कहा, महाराज! नहीं। "तब तुम क्या सुनते थे? क्यों सुनते थे?" महाराज! सत्संग बड़ा पवित्र होता है। घड़ी या आध घड़ी अगर श्रवण करें तो हमारा पाप धुल जायेगा। कभी न कभी समझ में आ ही जायेगा। सो आज हमारी अभिलाषा पूर्ण हुई। वे महात्मा बहुत नाराज हुए। लेकिन क्या करते। मैं भी समझ गया कि ये भक्त क्या सुनने योग्य हैं। दूसरे दिन से वही कर्म, भक्ति कहानियाँ सुनाने लगा। लोग पचीस तीस श्रोता थे तो अब वे भी सौ-डेढ़ सौ होने लगे। कहने का मतलब यही कि श्रोता की बुद्धि के अनुसार प्रथम कहकर फिर उनको ऊपर

उठाना चाहिये। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने भी यही देखा कि ऊँचा तत्त्वज्ञान अर्जुन की समझ में नहीं आ रहा है तो थोड़ा नीचे उतर-कर अब बात करनी चाहिये। बहुत ऊँचे दर्जे के यदि श्रोता हों तो उनको श्रुति सुनानी चाहिये। क्योंकि श्रुतियों में सारात्मक अति रहस्यमय बात बतायी गयी है। उसके लिये योग्य उत्तम श्रोता ही हो सकता है। यदि श्रोता मध्यम दर्जे का हो तो स्मृति सुनानी चाहिये। स्मृति का अर्थ केवल मनुस्मृति आदि ही नहीं। किन्तु इतिहास पुराणादि में जो तत्त्वज्ञानोपदेश है वह सब स्मृति कह-लाती है। गोपीगीत, भीष्मस्तुति, गजेन्द्रमोक्षादि सभी स्मृति रूप है। और जो सामान्य जन है वे श्रोता हो तो उनको पुराण सुनाना चाहिये। पुराण कथा भाग को कहते हैं। कथायें सभी उपदेशप्रद होती हैं। महापुरुषों का आचरण स्वयं उपदेशात्मक होता है।

"यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः"

ऐसा गीता में ही आगे बताया जायेगा। यह श्रुति स्मृति पुराण एक सामान्य परिभाषानुसार क्रमिक बताया। कोई जरूरी नहीं कि उत्तम मध्यम सामान्य श्रोताओं के लिये यही रीति हो। कोई अन्य तरीका हो तो वह भी अपनाया जा सकता है। तरीके अनेक हैं। यहाँ भगवान ने "य एनं वेत्ति हन्तारं" इत्यादि श्रुत्युपदेश किया। उसे बराबर समझ न पाने से एक अनोखा तरीका ही अपनाया— "अथ चैनं नित्य जातं" इत्यादि।

हे अर्जुन ! तुम आत्मा को नित्यजात और नित्यमृत मानते हो तो मानो। तुम्हारी मान्यता ही सही रहने दो। फिर भी महाबाहु होकर शोक कर रहे हो, यह उचित नहीं है। चिराग बुझती है और जलती भी है। यह उसका स्वाभाविक काम हो गया। जिसका जो स्वभाव हो गया उसको लेकर अफसोस नहीं किया जाता। घर में कोई अचानक बिमार हुआ तो जरूर घबराहट होती है। यह कैसे बिमार हुआ। उसके लिये चिन्ता, दौड़ धूप आदि होना स्वाभाविक

है। परन्तु जो सदा ही बिमार रहता हो, बिमारी उसका स्वभाव हो गया तो उसके पीछे दिन रात कौन रोने बैठेगा। एक आदमी गिर गया, पाँव टूट गया, लंगड़ा हो गया तो उसको ठीक करने के लिये अस्पताल में महीना पन्द्रह दिन शुश्रूषा की जा सकती है। लेकिन जो बच्चा लंगड़ा होकर ही पैदा हो गया, कभी ठीक होने वाला नहीं, उसके पीछे कौन उसे ठीक करने लगा रहेगा, रोने बैठेगा ? जो दोष शाश्वत हो गया स्वाभाविक हो गया उसे मिटाने का कोई प्रयत्न नहीं करता। यह मेरा अपना भी अनुभव है। प्रथम प्रथम एक बार मुझे बड़ा भारी सिर दर्द हुआ। शरीर ठंढा सा होने लगा; तो कई भक्त, क्या है महाराज ! क्या हो गया महाराज ! पूछते हुए सेवा में तत्पर रहे। दो तीन घंटे में ठीक हुआ। महीना बाद फिर वैसा हुआ तब भी भक्त लोग आये। फिर हर महीने हर पन्द्रह दिन ऐसा होने लगा तो भक्त लोगों ने भी समझ लिया इनको ऐसा होता रहता है। लोगों की दौड़ धूप कम हुई। धीरे-धीरे दौड़ना बंद ही हो गया जब कि दर्द उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। आखिर हमने भी समझ लिया कि लगता है कि यह रोग मेरा साथी जैसा ही हो गया। हमने भी समझा कि जो स्वाभाविक जैसा हो जाता है तो लोग भी उसकी उपेक्षा ही करते हैं। भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन ! इसी प्रकार यह जात, मृत होना नित्य है स्वाभाविक है, उसकी फिर उपेक्षा ही उचित है।

महाबाहो सम्बोधन यह विशिष्ट अर्थ रखता है। साधारण लोग स्वाभाविक बिमारी आदि को लेकर भी बहुत रोते पीटते हैं। परन्तु जो धीर पुरुष होते हैं वे सोचते हैं कि अब इस दर्द को रो-रोकर सह लो चाहे हँस हँसकर। सहना तो पड़ेगा ही। अतः रोना हँसना सभी व्यर्थ है। हे अर्जुन ! तुम महाबाहु हो, वीर हो, तुम्हारे जैसों के लिये इस स्वाभाविक अर्थ को लेकर शोक करना सर्वथा अनुचित है॥२६॥

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

[जन्मवाले की मृत्यु और मृत का जन्म निश्चित है। अतः हे अर्जुन! अपरिहार्य विषय में तुम्हें शोक करना उचित नहीं है ॥२७॥]

अर्जुन की कहो या साधारण जनता की कहो यह मान्यता है कि आत्मा नित्यजात एवं नित्यमृत होता है। इस सिद्धान्त के उद्गम में शरीरात्मतादात्म्याध्यास कारण है। पूरे शरीरादि सहित चेतना को ही प्रायः सभी आत्मा समझते हैं। आदमी मरता है तो विशिष्ट आत्मा का नाश तो होता ही है। उसमें एक जीवांश रह जाता है। वही फिर शरीरादि विशिष्ट होकर पैदा होता है। जैसे सुवर्णमणि के हार खतम कर कुण्डल बनाया तो हार ही कुण्डल बन गया। उसमें हार नष्ट हुआ, कुण्डल उत्पन्न हुआ। हार में से धागा निकल गया, कुण्डल की कुछ नयी चीज आ गयी। फिर भी एकता इसलिये कि सुवर्ण एक है। वैसे यह आत्मा मृत होता है, फिर जात होता है, यही सामान्य लोगों का ख्याल है। इस नित्य जात एवं नित्यमृत के विषय में भगवान ने पूर्व श्लोक में कहा कि नित्य शब्द जोड़कर इस जन्म मरण को स्वभाविक अङ्गीकार कर रहे हो तो स्वभाविक परिवर्तनों के लिये शोक करना बुद्धिमानों का काम नहीं। अब उसी बात को दार्शनिक पुट देकर भगवान् पुनः स्पष्ट प्रस्तुत श्लोक में कर रहे हैं।

जातस्य....। जो पैदा होता है उसकी मृत्यु भी निश्चित है। ध्रुवं जन्म मृतस्य च। जो मर जाता है उसका जन्म होना भी निश्चित है। यह अपरिहार्य तथ्य है। इस ध्रुव सत्य को कोई मिटा नहीं सकता। इसके लिये हे अर्जुन! शोक करना उचित नहीं है।

जो बना है वह बिगड़ेगा। बिगड़ने पर बनेगा भी। कुण्डल बना है तो बिगड़ेगा। कुण्डल गल गया–बिगड़ गया तो कंगन आदि नहीं तो कम से कम पिण्ड तो बनेगा ही। पिण्ड भी आखिर एक आकृति है। क्योंकि कुण्डल बनने पर पिण्डाकृति नष्ट होती है, कुण्डलाकृति आ जाती है। पिण्डाकार नष्ट हुआ। किन्तु सुवर्ण नष्ट नहीं हुआ। अत एव कुण्डलाकार के समान पिण्डाकार भी एक आकार ही है। वह भी बनता बिगड़ता रहता है। उसमें सुवर्ण बनता नहीं है। अतः बिगड़ता भी नहीं है। बिगड़ता नहीं अत एव बनता भी नहीं है। बनने वाले कुण्डल पिण्डादि बिगड़ते हैं। बिगड़ते हैं इसीलिये एक के बाद दूसरा बनता है। यही शरीरादि की भी स्थिति है। कहीं पदार्थान्तर मिलकर बनता बिगड़ता है। कहीं पदार्थान्तर के बिना; इतना ही फरक है। शरीरादि विशिष्ट चेतना को जो आत्मा मानते हैं, उनका शरीरनाश से आत्मनाश और शरीरान्तरोत्पत्ति से आत्मोत्पत्ति होती है।

एक नवीनतम दार्शनिक हुए। जिनका नाम आपने भी सुना होगा—अरविंद घोष। उनका कहना था कि हम इस शरीर से अमर हो सकते हैं। अरविंद घोष का कहना था कि हम योगाभ्यास करेंगे तो अमर बन सकते हैं। योगाभ्यास से अतिमानवीय शक्ति उतर आती है। उस शक्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य अमर हो जायेगा। उन्होंने स्वयं वही योगाभ्यास किया। किन्तु अमर नहीं बन सके। उनकी मृत्यु हुई तो तीन दिन तक लोगों को यह विश्वास ही नहीं हुआ कि ये मर गये। वे समझ रहे थे कि ये समाधिमग्न हैं। किन्तु मृत शरीर अपने आप गलने लगता है, सड़ने लगता है। तब अन्त में उनको स्वीकार करना पड़ा कि अतिमानवीय शक्ति उतर आयी सही, परन्तु वे उसे सह नहीं सके। अतः मर गये। किन्तु इस बात को दो-चार हजार वर्ष पूर्व ही भगवान कह गये थे—"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः"।

यह अति मानवीय शक्ति अवतरण की कल्पना कहाँ से आयी थी ? क्या यह कोई मौलिक अपनी कल्पना थी या शास्त्रों से प्राप्त थी ? चर्चा अवश्य ही प्रकारान्तर से शास्त्रों में आयी है। उसमें अति मानवीय शक्ति का पुट उन्होंने जोड़ा। योगसूत्र में आया है—

"ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्तद्धर्मानभिघातश्च"

योगाभ्यास से अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व एवं वशित्वरूपी आठ सिद्धियाँ मिलती हैं। इनमें छः सिद्धियाँ तो शारीरिक हैं, केवल इशित्व तथा वशित्व आन्तरिक सिद्धियाँ हैं। इसके अलावा—कायसंपत प्राप्त होती है। योगी का शरीर दिव्य तेजोमय बन जाता है।

रूप-लावण्य-बल-वज्रसंहननत्वानि कायसंपत्।

सुन्दर रूप, लावण्य-मनोहरता इत्यादि शारीरिक संपदा है। और उन धर्मों का फिर अभिघात नहीं होता। ये सभी धर्म शाश्वत रूप से रहेंगे। इस योगसूत्र के आधार पर अमरता एवं अतिमानवीय शक्ति की कल्पना की गयी। परन्तु महर्षि पतञ्जलि ने इसे अमर नहीं बताया। यदि अमरता इतने से होती तो इन सबसे वैराग्य कर कैवल्यार्थ समाधि लगाने का उपदेश न करते। महर्षि पतञ्जलि ने अनेक प्रकार की सिद्धियों का वर्णन कर यही बताया कि—

"ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः"

ये सभी सिद्धियाँ समाधि में विघ्नकारक हैं। हाँ, विक्षिप्तचित्तों के लिये सिद्धियाँ श्रद्धोत्पादक होने से उपयोगी जरूर है। फिर भी ये ही योग के लक्ष्य नहीं हैं। क्योंकि उन सिद्धियों को प्राप्त करने में आयास अधिक होता है। लाभ अल्प होता है। इन समस्त प्रकार की योगक्रियाओं से मनुष्य चिरंजीवी बन सकता है। अमर नहीं। चिरंजीवी बनने वाले अनेक महापुरुषों के नाम इतिहास एवं पुराणों में वर्णित हुए हैं।

अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनूमानृक्षराडपि।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ॥

अश्वत्थामा आज भी नर्मदा तट पर हिंगन घाट के पास शूलपाणेश्वर के जंगल में रहते हैं, ऐसा विश्वास किया जाता है। नर्मदा की परिक्रमा करने वालों में कईयों को अश्वत्थामा का दर्शन हुआ है, ऐसा बताया जाता है। वे बहुत ऊँचे हैं। क्योंकि द्वापर के लोग बारह फूट ऊँचे होते थे। कलियुग में उससे आधी ऊँचाई होती है। अर्थात् औसतन छः फुट ऊँचाई लोगों की होती है। त्रेतायुग में कहते हैं बारह से दुगुना–चौबीस फुट ऊँचे आदमी होते थे और सतयुग में उससे भी दुगुना। यह केवल गुणवाद है या भूतार्थवाद, यह तो भगवान जाने। फिर भी इतना तो सही है। कि पहले के लोग काफी ऊँचे-ऊँचे होते थे। अस्तु। अश्वत्थामा को देखने वाले कहते हैं कि वे बहुत ऊँचे हैं। वे बार बार अपना मस्तक टटोलते हैं। क्या टटोलते हैं? तो उनकी ही कल्पना है कि वे मणि टटोलते हैं। द्रौपदी के पाँचों पुत्रों के मारने पर अर्जुन ने अश्वत्थामा की मणि काट निकाली थी। ऐसा भागवत में प्रसङ्ग आया है। जब जब मणि की याद आती तब तब वे अपना मस्तक टटोलते हैं। शूलपाणीश्वर के जंगल में वे किसी किसी को दर्शन देते हैं। हमारे परिचित एक संत जो बंबई के ही थे—अश्वत्थामा के दर्शन के लिये शूलपाणीश्वर गये थे। सन् उन्नीस सौ साठ (१९६०) के आस-पास वे बंबई से गये थे। परन्तु अभी तक वापिस नहीं आये। अश्वत्थामा से भेंट कर शायद योग सीख रहे होंगे या किसी शेर से, बाघ से भेंट हो गयी और उनका भोग बन गये, यह पता नहीं चल सका। जो भी हो। अश्वत्थामा चिरजीवी हैं यह शास्त्रसंमत है। प्रातः उनका स्मरण करने से भी पुण्य प्राप्त होता है। मनुष्य दीर्घायु होता है।

बलि राजा भी चिरजीवी हैं। सत्युग में हो गये थे। बलि का अर्थ है—समर्पण। समर्पण करने में वे राजा थे। वामन भगवान को बलि ने दान में त्रिलोकी का समर्पण किया था। भगवान वामन ने उन्हें पाताल में भेज दिया। सप्त पाताल में सुतल नाम का वह स्थान है जहाँ राजा बलि आज भी विद्यमान हैं। भगवान स्वयमेव उनके दरवान बने हुए हैं। उनकी मृत्यु नहीं हुई। क्योंकि भगवान का चरण राजा बलि के मस्तक पर रखा गया था। वहाँ मृत्यु का सहसा प्रवेश कैसे हो। सर्वस्वात्मनिवेदन के परिणाम स्वरूप भगवदनुगृहीत होकर वे चिरजीवी बने। प्रातः उनका नाम लेने से पुण्य होता है। दीर्घायु प्राप्त होती है।

व्यास भगवान चिरजीवीयों में तीसरे हैं। उनका नाम कृष्ण-द्वैपायन भी है। द्वापरकलि सन्धि में वे हुए। उन्होंने वेदों का विभाजन किया। अतः वेदव्यास नाम पड़ा। अष्टादश पुराणों की रचना की। व्यासजी का भी दर्शन किसी किसी को मिलता है। वे प्रायः हिमालय पर्वत पर रहते हैं। बदरीनारायण बड़ा पवित्र स्थान है। उसको अपना निवास स्थान बनाया। इसलिये बादरायण नाम भी उनका पड़ा। शंकरदिग्विजय में कथा आयी है कि भगवान् आद्यशंकराचार्य को व्यासजी का दर्शन हुआ था। जब आचार्य अपने शिष्यों को ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य पढ़ा रहे थे, उस समय एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप में व्यासजी वहाँ पहुँचे। उन्होंने कुछ प्रश्न छेड़ दिये। उस पर बोलते-बोलते कई दिन बीत गये। न किसी की जीत और न किसी की हार हो रही थी। आचार्य की अलौकिक प्रतिभा के सामने इस प्रकार अम्लान तरीके से बोलते हुए वृद्ध ब्राह्मण को देखकर "पद्मपाद" को संशय होने लगा। आखिर उन्होंने पहचान ही लिया। वे बोले—

शंकरः शंकरः साक्षाद् व्यासो नारायणः स्मृतः।
तयोर्विवादे संजाते किंकरः किं करिष्यति॥

भगवान् शंकराचार्य साक्षात् शंकर ही हैं। और भगवान् वेदव्यास साक्षात् नारायण ही ठहरे। इन दोनों का जहाँ शास्त्रार्थ हो वहाँ मैं किंकर क्या कर सकता हूँ। तब व्यासजी अपने स्वरूप में आये। व्यासजी ने कहा—मेरे हृदय को ही आपने इस भाष्य में लिख दिया है। इस कथा प्रसङ्ग से सिद्ध होता है कि व्यासजी भी चिरजीवी हैं। व्यासजी का भी प्रातः स्मरण करने से महान् पुण्य होता है और आयुवृद्धि होती है।

हनूमानजी चौथे चिरजीवी हैं। वे त्रेतायुग में हुए। उनकी चिरजीवीता का प्रसंग इतिहास पुराणों में आता है। पाण्डव जब बनवास में थे तब एक बार एक फूल उड़ता-उड़ता द्रौपदी के पास आ गिरा। उसकी सुगंधि अत्यन्त अपूर्व थी। इतनी दूर से आने पर भी कहीं चोट लगी नहीं थी। वह कुम्हलाया हुआ भी नहीं था। वह पारिजात पुष्प था। एक कान के लिये पुष्प हुआ तो द्रौपदी के मन में दूसरे कान के लिये भी ऐसा ही पुष्प हो ऐसी अभिलाषा हुई। भीमसेन को कहा तो भीमसेन हाथ में गदा लेकर दूसरे फूल के लिये कुबेर पत्तन की ओर निकले। रास्ते में एक कदली वन आता है। हनूमानजी वहीं रहते थे। संभव है आज भी वहीं हो। हमने भी एक कदली वन देखा। घनघोर जंगल के मार्ग से मैं जा रहा था। असल में मार्ग तो था ही नहीं। झाड़ियों को और काँटों को पार करते-करते सारा शरीर खून से लथपथ होने लगा था। एक जगह पहुँचा तो वहाँ बड़े बड़े केले के पेड़ दिखाई दिये। हमको बड़ा आश्चर्य हुआ। यहाँ आदमियों के आने के लिये कोई मार्ग नहीं था। आसपास में कोई गाँव नहीं। यहाँ पर केले किसने लगाये? हनूमानजी की कुछ कुछ याद जरूर आयी। पर वहाँ हनूमानजी नहीं दिखाई पड़े। वानर जरूर आस-पास में थे। उन्हीं में से किसी को हनूमानजी मानते तो अलग बात है। ऐसा सुनने में आया है कि बेंत के बीच जलने पर भी उनसे

केले के पेड़ तैयार होते हैं। अस्तु। भीमसेन जा रहे थे तो उनको भी एक कदली वन नजर आया। वहाँ छोटासा एक मार्ग था। हनूमानजी ने सोचा यह मेरा भाई अनजान होकर जा रहा है और मुफत में मारा जायेगा। उनको कुछ मार्ग बताने के लिये एक बूढ़ा बंदर बनकर रास्ते में बैठ गये। भीमसेन ने डाँटकर कहा, अरे बंदर रास्ते से हट जाओ। हनूमानजी बोले—मैं बूढ़ा हूँ, उठने की ताकत नहीं तो मुझे लाँघ कर जाओ। भीमसेन संस्कारी थे। बोले कि बूढ़े को लाँघना पाप है। तुम रास्ता छोड़ दो जैसे तैसे भी। हनूमानजी बोले, मुझे मत लाँघों, मेरी पूँछ लाँघ कर जाओ। भीमसेन ने कहा, अरे ! किसी का अंग लाँघना भी धर्मशास्त्र विरुद्ध है। हनूमानजी ने कहा, तो मेरी इस टेढ़ी पूँछ को अपनी गदा से उठाकर एक किनारे कर दो। भीमसेन ने अपनी गदा पूँछ के नीचे डाली। इधर हनूमानजी ने पूँछ से गदा को दबाया। भीमसेन ने उसे उठाने की सारी ताकत लगायी। किन्तु टस से मस नहीं हुई। हनूमानजी ने कहा—अरे ! तुम एक बूढ़े बंदर की पूँछ नहीं हटा सकते हो, तब पारिजात कैसे लाओगे ? भीमसेन ने हनूमानजी को पहचान लिया, उनके चरणों में गिर पड़े। हनूमानजी ने भीमसेन को शक्ति प्रदान किया। मार्गदर्शन किया। दोनों वायु पुत्र थे। कथा लंबी है। त्रेतायुग के हनूमानजी द्वापरयुग में भी रहे। आज भी हनूमानजी विद्यमान हैं यही मान्यता है। वे चिरजीवी हैं। उनका प्रातः स्मरण करने से पुण्य होता है। मनुष्य दीर्घायु को प्राप्त होता है।

ऋक्षराज जांबवान पाँचवे चिरजीवी हैं। वे त्रेतायुग में रामावतार में ही बूढ़े थे। सत्ययुग में उनका अस्तित्व था। द्वापरयुग में भी उनके अस्तित्व का दर्शन मिलता है। स्यमन्तकमणि के निमित्त भगवान श्रीकृष्णचन्द्र गुफा में पहुँचे तो जाम्बवान से बड़ा भारी युद्ध हुआ था। गिरनार में जांबवान की गुफा है। वे गुजरात-

सौराष्ट्र में रहते हैं। लेकिन गुजराती नहीं बोलते। उनके साथ बात करने के लिये संस्कृत सीखना पड़ेगा। श्रीकृष्ण के साथ युद्ध में अजेय जाम्बवान भी परास्त होने लगे थे। तब उन्होंने पहचाना कि ये मेरे प्रभु से अन्य नहीं हो सकते। राम ने जांबवान को अपने से अतिरिक्त किसी ने अजेय एवं चिरजीवी होने का वरदान दिया था। प्रातः जाम्बवान का भी स्मरण पुण्यप्रद एवं दीर्घायुष्यप्रद होता है।

कृपाचार्य चिरजीवियों में छठे हैं। परन्तु वे कहाँ रहते हैं, क्या करते हैं, किसी को कहीं मिलते भी हैं या नहीं इत्यादि के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता। द्रोणाचार्य के वे स्याले लगते हैं। कृपाचार्य की बहन कृपी द्रोणाचार्य की पत्नी थी। कृपाचार्य का प्रातः स्मरण करना भी पुण्यदायी आयुष्यदायी है।

परशुरामजी सप्तम चिरजीवी हैं। परशुरामजी को भगवान् श्रीराम ने हराया था। वैसे तो विष्णु के अवतारों में परशुरामजी का नाम आता है। तथापि श्रीराम से हारने के बाद वे अवतारी नहीं रहे। क्योंकि एक जगह बताया है कि परशुराम ने अपने आवतारिक तेज श्रीराम को सौंप दिया था। वहीं से तपस्या करने निकल पड़े हैं। ये त्रेतायुग के प्रारम्भिक अवस्था में रहे, श्रीराम के समय में रहे। और द्वापर युग में भीष्म को शस्त्रविद्या सिखायी। कर्ण ने भी अपने को ब्राह्मण बताकर परशुराम से शस्त्रविद्या सीखी। अतः द्वापर के अन्त तक तो रहे ही। इस कलियुग में अभी वे विद्यमान हैं, ऐसी मान्यता है। उन्होंने उपासना के विषय में कल्पसूत्र लिखे, जो आजकल 'परशुराम कल्पसूत्र' नाम से मिलते हैं। भगवती अंबामाता के अनेकविध रूपों की उपासना विधि यन्त्र मन्त्रादि का उसमें स्पष्ट वर्णन है। वे भी प्रातः स्मरणीय हैं। विशेषरूपेण शक्ति उपासकों के गुरु कोटि के हैं। उनके स्मरण से भी महान् पुण्य प्राप्त होता है, दीर्घायुष्य प्राप्त होता है।

ये सात चिरजीवी कैसे बने ? योग से, तप से और ब्रह्मचर्य से। इनमें एक बलि ही गृहस्थ हुए। वे अपने समर्पण बल से भगवान वामन से वरदान प्राप्त कर चिरजीवी बने। बाकी सब ब्रह्मचर्य के बल से तथा योगबल और तपोबल से चिरजीवी हुए। यद्यपि व्यासजी के भी पुत्र शुकदेवजी प्रसिद्ध हैं। तथापि वे अरणि-संभव हैं इत्यादि अनेकविध कथायें हैं। सर्वथापि वे योगी, तपस्वी, ब्रह्मचारी तो थे ही। इसी योग तप आदि का ही परिणाम— "ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपत्" इत्यादि पहले हमने बताया। इस आधार पर अरविन्द घोष आदि का अतिमानव शक्त्यवतरण की कल्पना है।

परन्तु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का कहना है कि इस प्रकार मनुष्य चिरजीवी बन सकता है। अमर नहीं बन सकता—"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" जनमनेवाले का मरण अवश्यंभावी है। **"सप्तैते चिर-जीविनः"** बताया। न कि **"सप्तैते मृत्युर्वजिताः"** सात मृत्युरहित नहीं, चिरजीवी मात्र हैं। इनमें व्यासजी के बारे में शिवपुराण में बताया है कि हर द्वापरान्त में व्यास बदलते हैं। अतएव इन सबका जीवन कल्पपर्यंत भी नहीं है। किन्तु अधिकाधिक एक चतुर्युगी ही है। कल्प पर्यन्त रहने वालों को तो अमर हो कहा गया है। वही आपेक्षिक अमरता है।

योगियों का विश्वास है कि आयु प्रारब्धाधीन है। जितने दिन जीने का प्रारब्ध है उतना ही मनुष्य जीवित रह सकता है। अतएव यह वचन प्रसिद्ध है—

आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।
पञ्चैतानि हि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

आयु का मतलब श्वासोच्छ्वास से लेते हैं। प्रतिदिन मनुष्य इक्कीस हजार छः सौ श्वास लेते हैं। इस हिसाब से एक साल में और वैसे सौ साल में कितने श्वास होते हैं, देख लो। उतने श्वास

लेने तक जीवन रहता है। प्राणायाम से श्वास कम खर्च करते हैं तो हिसाब बढ़ जाता है। प्राणायाम से शारीरिक तत्त्व कम खर्च होता है। महाराष्ट्र में च्यांगदेव बड़े प्रसिद्ध हो गये। सुनते हैं कि वे चौदह सौ वर्ष तक रहे। कैसे ? प्राणायाम के बल से। उन सात चिरजीवियों ने इस प्रकार प्राणायाम के द्वारा अपनी आयु बढ़ायी। योग की अन्य भी अनेक प्रक्रियायें हैं, जिनसे प्रारब्ध में भी थोड़ा बहुत परिवर्तन किया जाता है। तथा भगवदनुग्रह से भी प्रारब्ध में परिवर्तन होता है। तीव्रतर प्रारब्ध ही अपरिपर्तनीय होता है। अतः पुरुषार्थ से आयु वृद्धि करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

परन्तु आयुवृद्धि क्यों करना ? यह भी विचारणीय है। केवल संसार भोग अधिक से अधिक समय तक प्राप्त करना ही लक्ष्य है, तो ऐसी आयुवृद्धि निरर्थक है। परमात्मा की प्राप्ति के लिये साधना करना यदि लक्ष्य हो तो आयुवृद्धि करना सार्थक हो सकता है। अन्यथा दूसरों के भोगों के हक को केवल छीनना ही आयुवृद्धि का प्रयोजन होगा। खैर, यह एक प्रसक्तानुप्रसक्त विचारान्तर मात्र है। हमारा मूल प्रश्न यह था कि इस प्रकार प्राणायामादि उपायों से हम हमेशा के लिये अमर बन सकते हैं या नहीं। उत्तर सीधा ही है—"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः"।

एतेऽजय्यबला भगीरथरघुश्रीरामभीष्मादयः
विश्वामित्रवसिष्ठकश्यपमुखा योगीश्वराः क्वाधुना।
सत्यः क्वैव मदालसाद्रुपदजासीतानसूयादिकाः
सर्वे कालकरालवक्त्रचणकव्यापार सारं गताः॥

बल से यदि लोग अमर होते तो भगीरथ, रघु, राम एवं भीष्मादि के समान कौन बलवान हो सकता है ?। परन्तु इनमें कौन अभी तक जिन्दा रह सका है ? यदि योग से अमर बन जाते तो विश्वामित्र, वसिष्ठ, कश्यपादि महर्षि आज भी घूमते हुए पृथिवी

पर नजर आते। किन्तु कोई भी आज देखने में नहीं आ रहा है। पातिव्रत्य की महिमा का बड़ा बड़ा वर्णन आता है। सूर्योदय को भी रोकने वाली पतिव्रता की महिमा की कथा आती है। किन्तु मदालसा, द्रौपदी, सीता, अनसूया आदि प्रसिद्ध कोई भी नारी आज नजर नहीं आ रही। इतना ही कहना पर्याप्त है कि ये सव उस कराल काल के मुँह में चने मुरमुरे के बराबर पिसे गये, कोई बच नहीं सका, तो अन्य कौन अमर बन सकता है ?

बड़े बड़े असुरों ने भी भारी तपस्या करके देखा। किन्तु कोई अमर नहीं बन सका। हिरण्यकशिपु ने तप किया। तारकासुर ने तप किया। ब्रह्माजी ने कहा—अमर होने का वरदान नहीं हो सकता। निमित्तायु भले माँग लो। उन लोगों ने ऐसा उलटा पलटा वरदान माँगा। हिरण्यकशिपु का वरदान तो प्रसिद्ध ही है। मनुष्य न मारे, पशु न मारे, भूमि में न मारे आसमान में न मारे, दिन में न मारे, रात को न मारे। बाहर न मारे भीतर न मारे, आखिर इन सभी संयोगो को एक जगह काल ने जोड़ा कि नहीं ?। काल बड़ा विलक्षण है। यह सभी संयोगों को जोड़ने वाला भी है। अलग करने वाला भी है।

ध्रुवं जन्म मृतस्य च। जनमने वालों का मरण ध्रुव है। और मरने वालों का जन्म भी ध्रुव है। जनमने वाले की मृत्यु की निश्चयात्मकता समझ में आती है। किन्तु मृत का निश्चयात्मक जन्म समझ में नहीं आता। क्या मरने वाले सभी वापिस आते हैं ? यदि सभी वापिस आते हैं तो भगवान के अपने वचन से विरोध होगा।

यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।

भगवान स्वयं यह वचन आगे कहेंगे—मेरा वही परमधाम है, जहाँ जाकर यह जीवात्मा फिर वापिस संसार में नहीं आता।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥

इत्यादि वचन अन्य स्थानों में भी आया है। इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहाँ मृत पद पारिभाषिक है। जो अमृत नहीं हुआ वही मृत है। जो मृत्यु देवता के अधीन हो वही मृत है। केवल शरीर छूटना ही यहाँ मरण का अर्थ नहीं है। अतः यहाँ दो प्रकार से मृत की व्याख्या है। जिसको शरीर वियोगोत्तर मृत्यु देवता ले जावे वह मृत है। और अमृत हुए बिना ही जिसका शरीर छूटे वह भी मृत है। सीधी व्याख्या इतनी ही है—जो मृत्यु के अधीन हो वही मृत कहलाने योग्य है। जो वैसा नहीं वह यहाँ मृतपद का अर्थ नहीं है।

मृत्यु के अधीन कौन कौन नहीं होते ? वैसे तो सर्व सामान्य सभी मृत्यु के अधीन होते हैं, किंतु जो भगवदुपासक है वह मृत्यु के अधीन नहीं होता। पुराणों में वर्णन आया है कि भगवद्भक्तों को लेने के लिये यमदूत नहीं आते किन्तु देवदूत, विष्णुदूतादि आते हैं। अजामिल के प्रसंग में यमदूत और विष्णुदूतों की मुठभेड़ की भी बात आती है। इसका सब आध्यात्मिक अर्थ बड़ा गहन है। उपनिषदों में भी उपासकों के विषय में बताय है कि कुछ दूर जाने के बाद उनको अमानव पुरुष ले जाते हैं।

तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति

उत्तरायण मार्ग से जाने वाला मास संवत्सरादि मार्ग से विद्युत तक पहुँचता है। वहाँ से अमानव अर्थात् देव कोई ब्रह्मलोक पहुँचाता है। जो इस प्रकार उपासना द्वारा ब्रह्मलोक पहुँच जाते हैं, वे ब्रह्मा के आयुष्य पर्यन्त ब्रह्मलोक में रहते हैं। फिर जब ब्रह्मा मुक्त होते हैं तो साथ ही मुक्त हो जाते हैं।

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

ब्रह्मलोक में तत्त्वज्ञान होने से वे सर्वबन्ध विनिर्मुक्त हो जाते हैं।

मृत्यु के अधीन दूसरा कौन नहीं होता ? जिसने यहीं पर ब्रह्म-साक्षात्कार किया। जिसने यह समझा कि जन्ममरणादिधर्मों से रहित यह आत्मा है। इसमें जन्म मरणादि का केवल अध्यास होता है। जो अपने आप को यह समझता है कि मैं जनमने वाला मरने वाला शरीरादि संघातरूप हूँ। वही जनमता मरता है। जीवन किसको कहते हैं ? **"जीव प्राणधारणे"** ऐसा धात्वर्थ निर्देश किया है। अर्थात् प्राणों को धारण करना ही यह जीवन है। और मरण किस को कहते हैं ? **मृङ् प्राणत्यागे"** ऐसा धात्वर्थ निर्देश महर्षि पाणिनि ने किया है। प्राण का छूटना मरण है। जीवन अर्थात् प्राणधारण। प्राण को किसने धारण किया है ? शरीर ने या आत्मा ने ? शरीर जड़ है, वह कैसे पकड़ रखेगा ? आत्मा तो पकड़ता नहीं। तब आप कहेंगे—लिंग शरीर-सूक्ष्म शरीर प्राण को धारण करता है ओर छोड़ता है। नहीं। लिङ्ग शरीर स्वयं प्राण सहित है। सत्रह तत्त्वों में प्राण भी आता है। लिङ्ग शरीर उसे छोड़ता कहाँ है। जहाँ जायेगा, साथ में प्राण भी रहेगा। और जीवात्मा को आने जाने वाला मानो तो वह भी हमेशा प्राण को धारण कर रखेगा। त्यागता कहाँ है ? इसलिये जीवन प्राण का धारण नहीं और मरण प्राण का त्याग नहीं। तब जीवन मरण क्या है ? आत्मा का ध्वंस तो होता नहीं। व्याख्या कीजिये। प्राण को धारण करना जीना नहीं। किन्तु प्राण ने धारण किया वह जीना है। प्राणशक्ति ने आपके शरीरेन्द्रियादि को कसकर धारण किया है। जब तक प्राणशक्ति है, तब तक शरीरेन्द्रियादि कसे रहते हैं। प्राण के निकलते ही ढीले पड़ जाते हैं। प्राण ने शरीरादि में क्रिया-शक्ति संचार किया। मरण माने प्राणत्याग। उसका भी मतलब प्राण को त्यागना नहीं है। किन्तु प्राण शरीर को जो त्यागता है, वही मरण है। कर्म परतन्त्र होकर प्राणादि सहित लिङ्ग शरीर इस शरीर को छोड़कर चला जाता है। सारांश यह हुआ कि प्राण-

कृत शरीर धारण जीवन है और प्राणकृत शरीर त्याग मरण है। यह धारण और त्याग दोनों ही शरीर गत है। किन्तु अध्यासवशात् उसे हमने आत्मगत समझा। हमने समझा कि प्राण से आत्म का धारण हो रहा है और प्राण आत्मा को त्यागता है। क्यों ऐसी समझ हुई ? शरीरात्मतादात्म्याध्यास से। शरीर को और आत्मा को एक समझा तो शरीरगत प्राणधारण एवं प्राणत्याग को आत्मा में समझने लगे। शरीर और आत्मा को एक समझना इसको तादात्म्याध्यास कहते हैं। और आत्मा में शरीरगत प्राणधारणादि समझना यह धर्माध्यास है। इस तादाम्याध्यास एवं धर्माध्यास से मैं जी रहा हूँ। मैं मर रहा हूँ, ऐसी मिथ्या प्रतीति होने लगी। यह मिथ्या प्रतीति जब तक रहेगी तब तक जन्म मरण संचारचक्र भी अनिवार्य है। जब तक अंधकार में भूत की प्रतीति होती रहेगी तब तक वह भूत डराता रहेगा। सताता रहेगा। देखने वाला बालक बिमार होगा। शरीर में ज्वर आता रहेगा। जिसको अंधकार में भूतभ्रान्ति नहीं होती, उसको भूतप्रेत कुछ नहीं कर पाते। वैसे जिसको जन्म मरणाध्यास रहेगा, उसी को जन्म मरण संचार चक्र सताता रहेगा। यही मृत्यु देवता यमराज के ले जाने का मतलब है। यह जिसका छूट गया वह यहीं अमृत हो जाता है। उसका फिर जन्म मरण नहीं होता।

"एवं विद्वानमृत इह भवति"

यहीं पर वह अमृत होगा। मरने के बाद कोई अमरत्व प्राप्त नहीं कर सकता। वह मर ही गया। फिर क्या अमरत्व ? इसलिये जो अमर बनना चाहता है, उसको प्रथम मृत ही नहीं होना चाहिये।

इसी से भगवान सूचित करते हैं कि अमृत बनना हो तो पहले मृत ही न हो ऐसा उपाय करना चाहिये। मृत कब होते हैं ? जब शरीरगत मृत्यु धर्म को आत्मा में अध्यस्त करते हैं। मृत्यु धर्माध्यास कब होता है ? जब धर्मी शरीर का तादात्म्याध्यास होता

है। उस शरीर तादात्म्याध्यास की निवृत्ति करो। वह कैसे होगा ? बार बार अभ्यास करने से। क्या अभ्यास करना चाहिये ? प्रातः और सायंकाल शान्त चित्त होकर विवेक करो। मैं शरीर, इन्द्रिय मन, बुद्धि से अलग हूँ। इन सबको देखने वाला साक्षी हूँ। इस हाथ को मैं देख रहा हूँ। मैं हाथ नहीं हूँ। हाथ को देखने वाला मैं उससे भिन्न हूँ। मैं पाद नहीं, पाद को देखने वाला हूँ। मैं मन बुद्धि नहीं, उसको देखने वाला हूँ। संकल्प उठ रहे हैं, शान्त हो रहे हैं। तरंगो के समान इनको मैं देख रहा हूं। ये सभी दृश्य हैं। मैं द्रष्टा इनसे पृथक हूँ। ये मैं नहीं, ये मेरे भी नहीं। मेरी सत्ता से इनकी सत्ता है। मेरे प्रकाश से ये प्रकाशित हैं। मेरे आनन्द से इनमें आनंद प्रतीत हो रहा है।

एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥

प्रातः और सायं की बात एक नियम के लिये बताया। इसे बढ़ाते बढ़ाते निरन्तर ही—"नास्मि न ने नाहं" ऐसा अभ्यास चलता रहना चाहिये।

इस प्रकार अभ्यास न किया और उपासना भी पर्याप्त रूप से न किया तो वह जरूर मृत होगा। और "ध्रुवं जन्म मृतस्य च" का विषय बनेगा। मरना वैसा भी बहुत बुरा माना जाता है। महात्मा लोग मरते नहीं। उनके लिये लिखा जाता है—ब्रह्मलीन हुए या ब्रह्मीभूत हुए। गृहस्थ भी बल्कि मरण को अच्छा नहीं समझते। वे भी कहते हैं—स्वर्गवासी हो गये। स्वर्गीय अमुक ऐसा लिखा जाता है। न कि 'मृत अमुक'। जीवन में यदि उपासना की तो देव के साथ तादात्म्य होगा। शरीर तादात्म्य छूटेगा। अत एव बताया—

'देवो भूत्वा देवं यजेत्'

परन्तु भेदभाव रखकर कठोर उपासना भी यदि करे तो भी वह मरेगा ही। क्योंकि देवता के साथ तादात्म्य नहीं हुआ तो शरीर के

साथ तादात्म्य अवश्यंभावी है। तब प्राण धारण तथा प्राण त्याग भी अनिवार्य है। वैसे मरने वाला निश्चित ही जन्म लेगा। क्योंकि एक शरीर के छूटते समय शरीराध्यास वासना दृढ़ रहती ही है तो वह द्वितीय नवीन शरीर के साथ आध्यास को बनाकर छोड़ेगी।

पूर्वश्लोक में नित्यजात और नित्यमृत का भी इसी प्रकार अर्थ समझना चाहिये। शरीरध्यास के कारण उस शरीर के छूटने से संघात मरण, अपना मरण ही समझना नित्यमृत का अर्थ है। संघात जन्म से अपना जन्म मानना नित्यजात का मतलब है। यह अज्ञानी का ही काम है। इस प्रकार मान्यता रखोगे तो भी यह जन्ममरण अपरिहार्य है। अवश्यंभावी है। उस अपरिहार्य तथ्य का परिहार तो स्वयं जनमने मरने वाला ही विचार से कर सकता है। भीष्म, द्रोण, दुर्योधनादि को जन्म मरण से अर्जुन बचा नहीं सकता। वे स्वयं यदि शरीराध्यास परित्याग करें तो जन्म मरण चक्र से छूट सकते हैं। अन्यथा यह जन्म मरण अपरिहार्य है। अत एव षष्टाध्याय में भगवान स्वयमेव कहेंगे—

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्"

अपना उद्धार अपने आप ही कर सकते हैं। यह अन्य के हाथ की बात नहीं। इसीलिये भगवान कहते हैं—**तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि**। यदि भीष्मादि जात हैं तो अवश्य मृत होंगे। और मृत होंगे तो अपश्यमेव जात भी हो जायेंगे। यदि तत्त्व साक्षात्कार से वे जात नहीं रहे तो वे मृन भी नहीं होंगे और मरणाध्यासाभाव से मृत न होने से जात भी नहीं होंगे। अत एव शोक के लिये अवकाश नहीं। और दुर्योधनादि जन्ममरणाध्यास वाले हैं तो हे अर्जुन ! तुम युद्ध करो न करो फिर भी अपने समय में वे अवश्यमेव मृत भी होंगे। अतः अपरिहार्य अर्थ हुआ। तदर्थ शोक करना भी सर्वथा व्यर्थ है। इसका परिहार करना तुम्हारे हाथ की बात नहीं है ॥२७॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥

[ये समस्त भूत (कार्य जगत) आदि में अव्यक्त रहे । मध्य में व्यक्त हो गये । अन्त में फिर अव्यक्त में लीन होंगे, इसमें क्या विलाप करना है ॥ २८ ॥]

मनुष्य की बुद्धि को क्रमशः ऊपर उठाने की जरूरत है। इसलिए भगवान ने यहाँ क्रमिक उत्कर्ष से उपदेश देना शुरू किया था। 'अथ चैनं नित्यजातं' इस श्लोक में सामान्य आस्तिक के मतानुसार साधारण लोगों की मान्यता के अनुरूप शोकानर्हता बतायी कि इस आत्मा को नित्यजात एवं नित्यमृत मानते हो तो भी यह उसका स्वभाव समझ कर तदर्थ शोक न करना चाहिये। उसी बात को कुछ गहराई से लेते हुए दार्शनिक पुट देते हुए "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" इत्यादि कहा। इस श्लोक में उसी बात को सिद्धान्त के साथ जोड़कर कुछ संशोधन के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है। 'अव्यक्तादीनि' इत्यादि उसी पूर्वोक्त बात का स्पष्टी करण होने पर भी सिद्धान्तानुरूप है। इस श्लोक की व्याख्या तीन प्रकार से की जाती है। तोनों अनुसंधान योग्य हैं। अतः हम क्रमशः तीनों को कुछ विशेष रूप से देखेंगे।

(१) अव्यक्तादीनि। अव्यक्तमेव आदि येषां तानि अव्यक्तादीनि। अव्यक्त जिनके आदि में हो वे अव्यक्तादि कहलाते हैं। अव्यक्त को ही प्रकृति और प्रधान भी सांख्यशास्त्र में कहते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार प्रथम हम इसकी व्याख्या करें। सांख्य दर्शन छः आस्तिक दर्शनो में एक है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तर मीमांसा ये छः आस्तिक दर्शन हैं। दृश्यते अनेन तत्त्वमिति दर्शनम्।

जिससे तत्त्व साक्षात्कार हो उसको दर्शन कहते हैं। श्रवण मात्र से तत्त्व सत्क्षात्कार नहीं होता। कहानी के समान सुन लिया तो काम नहीं चलेगा। उस पर विचार करना चाहिये। दर्शन विचार शास्त्र है। अतः दर्शन से तत्त्व दर्शन होता है। सांख्य वाले कहते हैं कि जगत आदि में अव्यक्त था। बीच में व्यक्त हो गया और अन्त में फिर अव्यक्त होगा। अव्मक्त का दूसरा नाम है प्रकृति। 'प्रकर्षेण करोतीति प्रकृतिः', 'प्रकृष्टा कृतिर्यस्याः सा प्रकृतिः' 'क्रियते अनयेति कृतिः प्रकृष्टा कृतिः प्रकृतिः' इस प्रकार इसकी अनेक व्युत्पत्तियाँ हैं। सभी व्युत्पत्तिका सारांश है श्रेष्ठ कारण। उदाहरण के लिये किसी एक कार्य को लिजीये। जैसे घट एक कार्य है। उसके अनेक कारण हैं। मिट्टी कारण है, दण्ड कारण है, चक्र कारण है, कुलाल कारण है। परंतु प्रकृष्ट कारण कौन ? मिट्टी ही प्रकृष्ट कारण है। दण्ड चक्रादि के बिना दूसरी मशीनरी से भी घड़ा बनाया जा सकेगा। कुलाल के बिना ओटोमेटिक मशीन से भी हो सकेगा। घट के लिये ज्यादा आविष्कार न किया हो किन्तु कपड़े के लिये पर्याप्त आविष्कार हो गया है। घट के बाद पट का नंबर आता है। कपड़े के लिये रुई तन्तु, चर्खा, तुरी, वेमा, कुविन्दादि कारण हैं। किन्तु ऐसी-ऐसी मशीनें हो गयी हैं कि अब जुलाहा कोई रहा नहीं। बड़े-बड़े सेठ जुलाहे हो गये। परंतु अन्य सब भले ही बदले, एक चीज नहीं बदल सकती। वह क्या ? घट के प्रति मृत्तिका, पट के प्रति रुई। वही प्रकृति है। घट की प्रकृति मृत्तिका है। वह प्रकृष्ट कारण है। इसलिये भी वह प्रकृष्ट कारण है कि यावतकार्यानुवर्त्ती है। जब तक घड़ा रहेगा तब तक मृत्तिका अनुगत रहेगी। दण्ड चक्र बाद में टूट सकते हैं, जल सकते हैं किन्तु घट का कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। बनाने वाला कुम्हार मर भी जाय तो भी कोई हानि न होगी। किन्तु घड़े से मिट्टी छेद होकर निकल गयी, कपड़े में कहीं तन्तु जल गया तो न घड़ा रहेगा और न कपड़ा रहेगा। इसलिये वह प्रकृष्ट

कारण प्रकृति है। इसको उपादान कारण भी कहते हैं। सांख्य में इसीलिये इसका नाम प्रधान भी बताया है। क्योंकि कारणों में यह प्रधान है, मुख्य है।

प्रकृति का अर्थ साधारणतया नेचर करते हैं। गिरि, पर्वत, लता, वृक्षादि को ही लोग प्रकृति समझते हैं। परंतु सांख्य मत में ये सब विकृति हैं। प्रकृति नहीं। प्रकृति और विकृति का स्वरूप वर्णन करते हुए सांख्य कारिका में बताया है—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

चार प्रकार के पदार्थ हैं। एक प्रकृतिमात्र है। दूसरा प्रकृतिविकृति है। तीसरा केवल विकृति है। चौथा प्रकृतिविकृतिभिन्न पुरुष है। प्रथम प्रकृति मात्र है। उसको मूल प्रकृति भी कहते हैं। देवी भागवत में प्रकृति का अर्थ बताया है। 'प्र' माने प्रकृष्ट गुण सत्त्वगुण। 'कृ' माने करने वाला क्रियात्मक रजोगुण और 'ति' माने ताम्यतीति तमन करने वाला गुण तमोगुण। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था मूल प्रकृति है। यही समस्त जगत् का मूल कारण है। इसलिये उसे मूल प्रकृति कहते हैं। महत्तत्त्व, अहंकार और आकाशादि तन्मात्रायें ये सात प्रकृतिविकृति हैं। अर्थात् प्रकृति भी हैं विकृति भी हैं। पूर्व पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर विकृति हैं, कार्य हैं। उत्तरोत्तर की अपेक्षा पूर्व पूर्व प्रकृति हैं। जैसे राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न चार भाई हैं। इनमें राम सबसे बड़ा। राम से भरत छोटा। भरत से लक्ष्मण छोटा। लक्ष्मण से शत्रुघ्न छोटा। आपने भरत और लक्ष्मण को छोटा बताया। लेकिन अभी विपरीत बोलेंगे। शत्रुघ्न की अपेक्षा लक्ष्मण छोटा कि बड़ा? बड़ा। लक्ष्मण से भरत? बड़ा। अभी आपने दोनों को छोटा बताया, अब बड़ा कैसे कह रहे हैं? वे दोनों बड़े भी हैं, छोटे भी हैं। शत्रुघ्न की अपेक्षा

बड़े हैं। राम की अपेक्षा छोटे हैं। इसी प्रकार प्रकृतिविकृति है। मूल प्रकृति की अपेक्षा महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा विकृति हैं। किन्तु पञ्चमहाभूत की अपेक्षा प्रकृति हैं। पञ्चमहाभूत एवं ग्यारह इन्द्रियाँ केवल विकृति हैं। प्रकृति क्यों है ? प्रकर्षेण करोतीति प्रकृतिः। पञ्चतन्मात्रा पञ्चमहाभूतों को उत्पन्न करती हैं। अतः प्रकृति हैं। तन्मात्रा माने सूक्ष्मरूप। अहंकार तत्त्व पञ्चतन्मात्रा एवं एकादशेन्द्रियों को उत्पन्न करता है। अतः प्रकृति है। अहंकार माने आपका अहंकार और मेरा अहंकार नहीं, किन्तु समष्टि अहंकार तत्त्व। जिसकी मात्रा पाकर हम 'अहं' बोला करते हैं। महत्तत्त्व अहंकार तत्त्व को उत्पन्न करता है अतः प्रकृति है। महत्तत्त्व माने बुद्धितत्त्व। वह भी समष्टि बुद्धितत्त्व समझना चाहिये। महत्तत्त्व को मूल प्रकृति उत्पन्न करती है। उसका और कोई कारण नहीं। अतः उसे मूल प्रकृति कहते हैं। प्रकृति, महत्तत्त्वादि सात और सोलह विकृति मिलाने पर चौबीस तत्त्व, पचीसवाँ आत्मा इस प्रकार विवेक पूर्वक संख्यान जो करे वही सांख्य है। यहाँ सृष्टि क्रम है—प्रकृति से महत्तत्त्व, उससे अहंकार, उससे एकादश इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्रायें। पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत तथा भौतिक समस्त जगत। यही कारिका में बताया—

प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥

संहारक्रम विपरीत होता है। पाँच महाभूत पाँच तन्मात्राओं में विलीन हो जाते हैं। पाँच तन्मात्रा और एकादशेन्द्रिय अहंकार-तत्त्व में लीन होते हैं। अहंकार महत्तत्त्व में लीन होता है। और महत्तत्त्व प्रकृति में लीन होता है। तब—

प्रकृत्यादीनि भूतानि कार्यमध्यानि भारत।
प्रकृतिनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

ऐसा क्यों नहीं कहा ? अवश्य इसमें कारण है। भगवान यहाँ सृष्टि क्रम और प्रलय क्रम मात्र नहीं समझा रहे। यहाँ अव्यक्त पद से अर्थ विशेष की विवक्षा है।

प्रकृति उपादान कारण को कहते हैं। उसमें प्रथम कार्य अव्यक्त अवस्था में रहता है इसलिये प्रकृति का दूसरा नाम अव्यक्त पड़ा। आम की गुठली तोड़कर देखो। उसमें एक सफेद गिरी निकलेगी। बादाम तोड़कर देखो तो उसमें भी एक सफेद गिरी होगी। आम की गिरी बड़ी होगी। बादाम की गिरी कुछ छोटी होगी। इतना ही फरक है। उस सफेद गिरी में से अंकुर और वृक्ष पैदा होगा। उसी में से हरे हरे पत्ते पैदा होंगे। उसमें से ही लाल पीले सफेद पुष्प पैदा होंगे। उसी में से लाल पीले फल पैदा होते हैं। वे सबके सब उस सफेद गिरी में थे। परन्तु देखने में आते थे ? नहीं। चश्मा लगाकर देखो। तो देखने में आयेंगे कि नहीं ? नहीं। मैस्क्रोप, दूरदर्शी 'सूक्ष्मदर्शी' काँच लगाकर देखो। तो भी नहीं। उस बीज के अन्तः स्थित गिरी में पेड़ को देखने का कोई यन्त्रादि साधन आज तक आविष्कृत हुआ है ? कि नहीं। न हुआ और न होने की आशा ही है। क्योंकि यन्त्रादि विद्यमान को बड़ा करके दिखा सकते हैं। बीज में वृक्ष को दिखाने वाला कोई यन्त्र नहीं हो सकता। तो क्या बीज में वृक्ष नहीं है ? है अवश्य। इसी को अव्यक्त कहते हैं। किसी भी इन्द्रिय से यन्त्र से जो न दीखे जो व्यक्त न हो, उसे अव्यक्त कहते हैं। अंडे के अन्दर कबूतर का शिशु है। किन्तु फोड़ने पर दीखेगा ? नहीं। खाली एक तरल पदार्थ पानी जैसा दीखेगा। उसी में कठोर चोंच है। मुलायम पंख है। कबूतर के पूरे अवयव उसी में हैं।

यह केवल आम्रबीज और कपोताण्ड की ही बात नहीं है। मानव शरीर की भी यही पूर्वावस्था है। यह भी प्रथम अव्यक्तावस्था में ही रहा।

एतस्मात् किमिवेन्द्रजालमपरं यद् गर्भवासस्थितं
रेतश्चेतति हस्तमस्तकपदप्रोद्भूतनानाङ्कुरम् ।।

गर्भोपनिषद में इस शरीर की कलल बुदबुद् कर्कन्धु आदि अवस्था का वर्णन किया है। कपोताण्ड के अन्तर्गत पानी के समान जब हो तब वह कलल है। पानी जब बुद्‌बुद होता है तब थोड़ा सा सख्त होता है। वैसी अवस्था बुद्‌बुदावस्था है। फिर कोमल ककड़ी के समान जब हो तब कर्कन्धू, जब हड्डी आदि की कठोरता नहीं रहती है। उस समय तक भी यह शरीर अव्यक्त ही रहता है। छः सात महीने का शिशु माता के उदर में ही व्यक्त होने लगता है। हे अर्जुन! यह सब तुम्हारे सामने पैदा होने वाले बच्चों की ही स्थिति नहीं है। तुम भी वैसे थे। ये भीष्मादि भी ऐसे ही थे— अव्यक्तादीनि भूतानि।

केवल कलिल बुद्‌बुद कर्कन्धू आदि अव्यक्तावस्था ही नहीं। और भी आगे, उनकी भी अव्यक्तावस्था रही। घट की अव्यक्तावस्था है मृत्‌पिण्ड। मृत्‌पिण्ड की अव्यक्तावस्था है मृत् चूर्ण। मृच्चूर्ण की अव्यक्तावस्था है पार्थिव परमाणु। पार्थिव परमाणु की अव्यक्तावस्था है पृथिवी तन्मात्रा। इसी प्रकार शरीर को भी समझो। इस शरीर की अव्यक्तावस्था है कललबुद्‌बुदादि। केवल कहानी सुनना नहीं ऐसा अनुसंधान करो। यह शरीर पहले केवल कललबुद्‌बुदादि रूप था। उसकी अव्यक्तावस्था है—पितृरेत। उसकी अव्यक्तावस्था आयुर्वेदोक्त रीति से समझो—

रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान् मेदः प्रजायते।
मेदसोऽस्थि ततो मज्जा मज्जायाः शुक्रसंभवः ।।

मूल अव्यक्त अन्न है। कलिल की अव्यक्तावस्था शुक्र। उसकी अव्यक्तावस्थ, मज्जा, अस्थि इत्यादि। मूल अव्यक्त अन्न।

"अन्नाद्‌ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते"

अन्न की अव्यक्तावस्था वही पार्थिव तन्मात्रा। पार्थिव तन्मात्रा अव्यक्तावस्था-जलीय तन्मात्रा। जलीय तन्मात्रा की अव्यक्तावस्था तैजस तन्मात्रा। तैजस तन्मात्रा की अव्यक्तावस्था वायव्य तन्मात्रा। उसकी अव्यक्तावस्था आकाश तन्मात्रा। उसकी अव्यक्तावस्था अहंकार तत्त्व। अहंकार तत्त्व महत्तत्व में अव्यक्त रहा। महत्तत्व की अव्यक्तावस्था-मूलाव्यक्त, वह है मूल प्रकृति। वह अव्यक्त समस्त जगत् का आदि निदान है। यही समझना है—"अव्यक्तादीनि भूतानि"। भीष्मादि शरीर एवं स्व शरीर त्रिगुणात्मक मूलप्रकृति में ही अव्यक्तरूप से रहा।

व्यक्तमध्यानि। उस मूल प्रकृति से 'क्रमशः' ये सब व्यक्त होते गये। प्राणियों का पुण्य पापात्मक कर्म प्रलयकाल में उस मूल प्रकृति में विलीन रहा। सृष्टिकाल जब आया तो कर्म फलाभिमुख होने लगा। तब प्रकृति में क्षोभ हुआ। सत्त्वादि गुणों की साम्यावस्था ही प्रकृति है। उसमें क्षोभ हुआ अर्थात् विषमता आने लगी। कर्म के कारण कोई गुण कहीं बढ़ा कहीं घटा। उद्भवाभिभव हुआ तब विकृति शुरू हुई। यही महत्तत्त्वादि की व्यक्तावस्था है। जैसे पक्षी के अंडे में पर्याप्त गरमी पहुँचने पर हस्त मस्तकादि विभाग प्रारम्भ होता है। वैसे प्रकृति में भी कर्म विपाक के कारण महत्तत्त्वादि विभाग प्रारंभ होता हैं। कर्मों को सृष्टि के अभिमुख किसने बनाया? काल ने ही। गुणों की साम्यावस्था प्रलय है। वही प्रकृति है। उस समय भी परिणाम होता रहता है। विषम परिणाम नहीं। सम परिणाम। "प्रतिक्षणपरिणामिनो हि सर्वं एव भावाः"। उसी परिणाम से क्षणादि व्यवहार है। उस प्रकृति के पेट में पड़े हुए कर्म काल से परिपक्व हुए। पूरे प्रलयकाल में कर्म पकते रहे। प्रलयकाल की समाप्ति का अर्थ ही कर्म परिपाक है। क्योंकि परिपक्व कर्म जब गुणों में विषमता लाने लगते हैं तब प्रलयकाल समाप्त होकर सृष्टि काल प्रारम्भ होता है। फिर पूर्वोक्त क्रम से प्रकृति में से तेईस

तत्त्वों का आविर्भाव हुआ। यह सामान्य कर्म समष्टि फल हुआ। इसके बाद विशेष कर्म परिपाक प्रारंभ होता है। कर्म कच्चे पक्के तो चलते ही रहते हैं। यह बारहमासी पेड़ है। कुछ फल पक रहे हैं। कुछ कच्चे हैं। कुछ फूल लगे हैं। उसी विशेष कर्म के परिणाम स्वरूप चतुर्विध शरीरोत्पत्ति हुई। जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज ये चार शरीर हैं। ये शरीर तदन्तर्गत जीवात्माओं के विशेष कर्मों का परिणाम है।

व्यक्त वास्तविक स्वरूप नहीं है। जो असली स्वरूप है वह एकात्मक होता है। अनेकात्मक नहीं। शाश्वत होता है। अनित्य नहीं। व्यक्त और अव्यक्त की परिभाषा की है—

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥

व्यक्त हमेशा सहेतुक होता है। हेतुओं के जुड़ने पर व्यक्तावस्था आती है। हेतुमान होने ही से अनित्य भी है। क्योंकि "संयोगो विप्रयोगान्तः" ऐसा नियम है। हेतु संयोग से व्यक्त हुआ तो हेतु वियोग से फिर अव्यक्त हो जायेगा। उत्पत्ति विनाशवान होने से ही व्यक्त अव्यापक भी होता है। काल परिच्छिन्न होने से वह देश परिच्छिन्न भी होगा। क्योंकि हेतु संयोग क्वाचित्क होता है। अतएव सक्रिय चलनशील परिवर्तनशील भी रहता है। तथा वह अनेक भी होगा। अर्थात् एकरूप नहीं होगा। अव्यक्त तो एकरूप होता है। व्यक्त होने पर रूप परिवर्तन निरन्तर होता ही रहेगा। शरीर कभी भी एक रूप नहीं रहेगा। इसमें परिवर्तन होता ही रहता है। इसी प्रकार यह आश्रित भी होता है। जो आश्रित होगा वह सावयव तथा परतन्त्र भी होगा। आश्रय के अधीन उसका अस्तित्व होता है। इसलिये व्यक्त पर कभी भरोसा नहीं होता। भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! इस जगत का असली स्वरूप अव्यक्त पर ध्यान दो। व्यक्त रूप को लेकर शोक मोह मत करो।

अव्यक्तनिधनान्येव। जो यह मध्य में व्यक्त है इसका निधन पुनः अव्यक्त में ही होगा। नितान्तं धनं निधनम्। यही असली धन है। शास्त्रों में बताया है—

"मरणं प्रकृतिः शरीरिणां विकृतिर्जीवनमुच्यते बुधैः"

मरण ही प्रकृति है। जीवन तो विकृति है। जैसे सुर्वण है। उससे कुण्डल बनाया। आदि में सुवर्ण है। मध्य में कुण्डल हुआ। अन्त में फिर सुवर्ण ही रहा। सुवर्ण ही धन है। कुण्डल तो नामरूप मात्र है। उसकी कोई किमत नहीं हो सकती। मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष लतादि समस्त व्यक्तों की यही स्थिति है। प्रथम वे अव्यक्त रहे। बीच में व्यक्त हुए। अन्त में पुनः अव्यक्त हुए। अव्यक्त ही आदि अन्त है। तब यह थोड़ी देर के व्यक्त के लिये 'का परिवेदना' क्यों रोना पीटना ?।

एक संशय होता है। बीज में वृक्ष अव्यक्त रूप से रहता है यह वात समझ में आती है। क्योंकि बाद में वृक्ष उसमें व्यक्त होता हुआ नजर आता है। किन्तु वृक्ष का निधन हुआ—जल गया जो राख बनी, वह वृक्ष का अव्यक्त रूप है—यह कैसे समझ में आवे ? क्योंकि उसमें से पुनः वृक्षोत्पत्ति कभी नहीं होती। क्या भीष्मादि शरीर मरणोत्तर राख हो जाय तो फिर कभी उस राख में से भीष्मादि शरीर प्रकट होगा ? मरे हुए, राख बने हुए में से फिर से प्रकट हो तो उसे लोग भूत समझेंगे। इसका उत्तर यह है कि व्यक्त हमेशा सावयव होता है। "सावयवं परतन्त्रं" ऐसा हम पहले बता आये हैं। राख बनने पर बहुत सारे अवयव बिखर जाते हैं। फिर वे जुट नहीं पाते। अतः फिर व्यक्त नहीं हो पाता। श्रीमद् भागवत में कहा—**"देहे पञ्चत्वमापन्ने"**। जब शरीरादि को जलाते हैं तब पार्थिवांश राख के रूप में रह गया। जलीयांश भाप होकर उड़ा और जल में जा मिला। तैजसांश साक्षात् अग्नि में ही मिल गया। वायु का अंश भी निकलकर महावायु में मिला। आकाश की तो

कोई बात ही नहीं। यदि इन अवयवों को पुनः पकड़ ला सकें तो पुनः व्यक्त बन सकता है, इसमें कोई संशय नहीं।

श्रीमद्भागवत में और विशेष रूपेण महाभारत में कथा आती है कि राजा परिक्षित को श्रृङ्गी ऋषि ने श्राप दिया था कि आज से सातवें दिन तक्षक के काटने से तुम्हारी मृत्यु होगी। राजा परीक्षित गंगा किनारे प्रायोपवेश में बैठे थे। तब कश्यप नाम का एक ब्राह्मण राजा की रक्षा करने के लिये, जहर उतारने के लिये उस ओर गया। उसी रास्ते से तक्षक भी जा रहा था तो बीच में दोनों की भेंट हुई। तक्षक भी भेष बदलकर एक ब्राह्मण का रूप लेकर जा रहा था। तक्षक ने कश्यप से पूछा—आप कौन हैं ? कहाँ जा रहे हैं ? कश्यप ने उत्तर दिया मैं ब्राह्मण हूँ विषवैद्य हूँ। मैंने सुना है कि आज राजा परीक्षित को तक्षक काटने वाला है, तो मैं जहर उतारने राजा के पास जा रहा हूँ। ब्राह्मण रूप में तक्षक ने कश्यप से कहा—हे ब्राह्मण देवता ! आपको मालूम है कि तक्षक बिल में रहने वाला चलता फिरता कोई सर्प नहीं है। वह इन्द्र-सिंहासनाश्रित है। उसके जहर की अपार शक्ति का सामना कोई नहीं कर सकता। कश्यप ने कहा—बकवास बंद करो। एक तक्षक क्या ? एक हजार तक्षक भी एक साथ मिलकर काटे तो भी मैं बचा सकता हूँ। तक्षक ने कहा—विप्रदेवता ! अधिक गर्व न करो। ब्राह्मणों को सत्यवाक् होना चाहिये। गर्व में भी आकर असत्य नहीं बोलना चाहिये। कश्यप ने कहा—मिथ्या गर्व नहीं कर रहा हूँ। परीक्षा कर सकते हो। आज ही परीक्षित पर परीक्षा हो जायेगी। तक्षक ने कहा—राजा तक जाने की जरूरत नहीं। यहीं परीक्षा हो जायेगी। मैं ही तक्षक हूँ। ब्राह्मण बड़ा ठहाका मार कर हँस पड़ा। और कहा—अरे ! तुम ही तक्षक हो ? कर लो यहीं परीक्षा। किसी को डस लो और देख लो। तक्षक ने अपना उग्र रूप धारण किया। पास में ही एक पीपल का पेड़ खड़ा था,

उसको जाकर डसा। तक्षक के अति भयंकर जहर के बारे में कहना ही क्या था। डसते ही क्या देखते हैं ? दावानल के समान भयानक अग्नि प्रकट हो गयी। गगन चुंबी लपटों ने पीपल को चारों ओर से घेरा और घड़ी भर में जलाकर भस्म किया। तक्षक ने कहा—देखा मेरा प्रभाव ? ब्राह्मण हो इसलिये छोड़ता हूँ। तुम्हारे अन्दर सामर्थ्य हो तो दिखावो। कश्यप ने कहा—उबलो मत। शान्त रहो। तुम्हारा काम पूरा होने पर मुझे बताना। थोड़ी देर में ही वृक्ष राख बन गया। कहा—मेरा काम पूरा हो गया। अब अपनी शक्ति दिखावो। ब्राह्मण आगे बढ़ा। बिखरी हुई राख को एकत्रित किया। कमंडल से पानी लिया और अभिमन्त्रित किया। उस राख पर चारों ओर से छिड़का। क्या महान आश्चर्य ! राख क्षण भर में अदृश्य हो गई, उसमें से उसी प्रकार का पीपल वृक्ष हरा भरा होकर खड़ा हो गया। पहले तो कुछ पत्ते सुखे भी थे। किन्तु अब तो बिलकुल ताजे नये पत्ते नयी डालियाँ, नया ही स्वरूप। कश्यप ने कहा—और कुछ परीक्षा करनी है। तक्षक आश्चर्य चकित होकर दाँतो तले अंगुली दबाकर खड़ा खड़ा देख रहा है। क्या मैं कहीं अपनी पराजय का सपना तो नहीं देख रहा हूँ। कथा आगे काफी लम्बी है। अपना उपयोगी अंश यहीं तक है। यहाँ स्पष्ट है कि ये सभी अव्यक्तनिधन है। पीपल वृक्ष राख बन गया। राख में वह अव्यक्त हो गया।

विशेष मणिमन्त्र औषधादि के बल से बिखरे हुए अवयवों का पुनः संयोजन होता है। अव्यक्त बनी वस्तु पुनः व्यक्त हो जाती है। किन्तु प्रायः अव्यक्त होने के बाद फिर व्यक्त नहीं होता। कारण अवयव संयोग पुनः नहीं हो पाता। फिर भी व्यक्त होने की स्वरूप योग्यता तो रहती ही है। अत एव अव्यक्त निधन सुसंगत है। कई विद्वान यह भी मानते हैं कि प्रलयकाल में समस्त व्यक्त अव्यक्त में विलीन हो जाते हैं तो क्रमबद्ध रीति से अव्यक्त होते हैं। अतः पुनः

सृष्टि प्रारम्भ होती है तो पूर्वकल्प की आनुपूर्वी ही होती है। अत एव—

"धाता यथापूर्वमकल्पयत्"

इस वेदमन्त्र की भी संगति है। यथा पूर्वं का अर्थ है—जैसे पूर्वकल्प में था वैसा ही सब कुछ बना। अत एव जबतक मोक्ष नहीं होता तब तक इसी प्रकार हमारा भी जन्म मरण होता रहेगा। इस पक्ष में अव्यक्तनिधनता में कोई शंका ही नहीं रह जाती।

तत्र का परिदेवना। जहाँ से आये वहीं गये, इसके लिये रोना नहीं होता। भीष्म आदि जिस अव्यक्त से आये उसी अव्यक्त में लीन होंगे। यह नियत है। समय आने पर यथा संभव पुनः अव्यक्त होंगे। यही अपनी भी स्थिति है। समस्त ब्रह्माण्ड की भी हालत है। यह समस्त जगत् अव्यक्त रूपी सागर में गोते लगा रहा है। फिर बाहर आ रहा है। फिर डूब रहा है, फिर उठ रहा है। ऐसी विशाल दृष्टि से मनुष्य सोचने लगता है तो तुच्छ विषय को लेकर शोक मोह नहीं होता।

सांख्य मतानुसार यह व्याख्या हुई। यह चिन्तन भी शोक मोह निवृत्यर्थं परमोपयोगी है। सांख्य शास्त्र वेदान्त का पूर्वसोपान है। महर्षि कपिल ने सांख्य शास्त्र का प्रवर्त्तन किया। जिनका वर्णन श्रीमद्भागवतादि में बिस्तार पूर्वक आया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी सांख्य सिद्धांत का जगह-जगह वर्णन है। अतएव वेदान्त ने भी सांख्य की अनेक प्रक्रियाओं को अपनाया है। साधक के लिये जिस प्रकार भी साधना सिद्ध हो उसे अपनाना चाहिये ही। अब इसके अनन्तर वेदान्तानुसार व्याख्या करेंगे।

(२) **अव्यक्तादीनि भूतानि।** इस श्लोक की वेदान्त मतानुसार भी दो व्याख्याये हैं। सांख्य मतानुसार अव्यक्त का प्रकृति अर्थ है। उसका भी यदि माया अर्थ कर लिया जाय तो यह अर्थ भी वेदान्त

संमत ही होगा। और अन्य अर्थ तो वेदान्त पक्ष में स्पष्ट ही होंगे। इस श्लोक के सदृश ही एक अन्य कारिका आयी है।

अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः।
नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना॥

इसी के सदृश ही एक दूसरी करिका भी इस प्रकार आयी है कि—

अदर्शनादिहायातः पुनश्चादर्शनं गतः।
त्वं चाहं चापि राजेन्द्र ततः किमनुशोचसि॥

व्यक्तं व्यक्तिः दर्शनं तदभावोऽदर्शनम् इस विग्रह के अनुसार अव्यक्त ही अदर्शन है और अदर्शन ही अव्यक्त है। अदर्शन से हो यह सारा जगत आया है। और फिर अदर्शन को प्राप्त होगा तब यह वर्त्तमान दर्शन क्या है? केवल मिथ्या प्रत्यय ही है। क्योंकि पहले अदर्शन होने से असत् था। आगे अदर्शन होगा, मतलब असत ही होगा। तब मध्य में यह दर्शन सद्विषयक नहीं हो सकता। पहले जो असत् और बाद में भी जो असत् वह बीच में सत् नहीं हो सकता।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः॥

जो आदि में नहीं और जो अन्त में नहीं, वह वर्त्तमान में भी वैसा ही होगा। जो आदि में अदर्शन हो और जो अन्त में अदर्शन हो वह वर्त्तमान में भी दर्शन होने पर भी अदर्शन ही है। आपने दूर सें देखा तो मालूम पड़ा यह कपड़े की दुकान है। कपड़ा खरीदना था। तो आप दुकान के अंदर गये और कपड़े का थान निकलवा कर हाथ से पकड़ कर देखने लगे। क्या देखने लगे? कपड़ा? कपड़ा तो आपने दूर से ही देख लिया था। दुकान के बाहर से ही देख लिया था। तब अंदर जाकर हाथ में लेकर देखने की क्या जरूरत? असल में आप अंदर जाकर कपड़ा नहीं, देख रहे थे। धागे देख रहे थे। धागा मोटा है या पतला है? कैसा है? जब मील में कपड़ा

बन रहा था वायल, तब धागे पहले तैयार हुए। उसमें कपड़े का अदर्शन था। कपड़े से धागे को अलग किया तो पुनः अदर्शन होगा। किन्तु कपड़े का परीक्षण करने के लिये हाथ में लिया तब भी धागा देखने लगे। कपड़े का तो अदर्शन जैसा ही हो गया। और अधिक ध्यान से देखेंगे तो धागे भी गायब हो जायेंगे। यह रेशमी है या सूत है इत्यादि देखते-देखते धागे की दृष्टि भी खतम होगी। प्रथम चैन देखी। फिर यह सोने के तार की चैन है या पीतल के तार की, देखते-देखते चैन की दृष्टि गौण हो गयी। सोने के तार की चैन मालूम पड़ी तो अब असली सोना है या नकली देखते-देखते चैन तो कहीं रह गयी। तार की दृष्टि भी खतम जैसी हो गयी।

यह तो हमारे जैसों की बात हुई। योगी महापुरुष यदि देखने जाते हैं तो और आगे बढ़ जायेंगे। वे तन्मात्राओं को देखने लगते हैं। वस्त्र में सूत है। सूत में रुई देखा, गरम वस्त्र हो तो ऊन देखा। योगी महर्षियों ने उसमें तन्मात्रा को देखा। साधारण में वस्त्र में पार्थिव तन्मात्रा अधिक है। ऊनी रेशमी वस्त्रों तैजस तन्मात्रा ज्यादा है। उन्होंने तब घोषित किया कि ऊनी वस्त्र पवित्र होता है, उसे धोने की जरूरत नहीं है। मैल चढ़ जाय तो उसे दूर करने भले धो लो, परंतु पवित्रता के लिये धोने की जरूरत नहीं है। क्योंकि अग्नि को पावक बताया है। वह स्वयमेव पवित्र है। केवल वस्त्रों में ही नहीं, पात्रों में भी यही स्थिति है। मनुस्मृति में बताया है—मिट्टी का बर्तन एक बार जूठा किया तो उसे फेंक देना ही पड़ेगा। वह पुनः शुद्ध नहीं होगा। तांबे पीतल आदि का तो मिट्टी या राख से माँजो तो पवित्र होगा। किन्तु सोने चाँदि का बरतन हो तो केवल पानी से पवित्र होगा। लोग कहने लगे कि यह मतलब की बात है। मिट्टी के पुड़वे बहुत मिलते हैं। फेंकने से हर्जा नहीं। पीतल, तांबा महंगा है वह फेंका नहीं जाता। अतः घिसो कहा। सोना चाँदी घिसोगे तो नुकसान होगा, अतः पानी

से ही साफ होगा बताया। नहीं। मिट्टी बरतन में पार्थिव तत्त्व ही है, अतः वह धोने से पवित्र नही होगा। इसी लिये संत लोग प्लेट में और कांच में और कांच के बरतन में दूध, चाय नहीं पीते। यह याद रखें। पीतल, तांबा में तैजस तत्त्व अधिक है।।सोने, चांदी में पूरा तैजस तत्त्व है। अतः पानी से ही साफ होगा। वैसे ऊन गरम है। उसमें तैजस तत्त्व अधिक है। अतः वायु से ही शुद्ध हो जाता है। ऋषियों ने तन्मात्रा दर्शन किया। और इसमें भी आगे बढ़े तो तन्मात्रा भी गायब हो जायेगी। अन्ततः अदर्शन ही अदर्शन रह जायेगा। आदि अन्त में यही अदर्शन रहता है। तो "वर्त्तमानेऽपि तत्तथा" ऐसा कहा।

राम का वियोग पाँच दिन पहले हुआ ही था। आज रात दशरथ की मृत्यु तो जले पर नमक डालना जैसा हो गया। ठोकर पर ठोकर। कौसल्या अत्यन्त शोकातुर होकर रो रही थी। बल्कि राम का वियोग उतना दुःसह नहीं था। कारण, राम के पुनरागमन की आशा थी। राजा दशरथ के पुनरागमन की अब आशा हमेशा के लिये समाप्त है। दूसरी बात यह कि एक नारी के लिये पुत्र से बढ़ कर पति का महत्त्व रहता है।

मितं ददाति वै तातो मितं भ्राता मितं सुतः।
अमितस्य तु दातारं का पतिं नाभिनन्दयेत्॥

पिता अपनी कन्या को धनादि देता है। किन्तु उसकी कुछ सीमा है। ऐसा नहीं कि अपना पूरा घर ही लुटा दे। भाई देता है तो भी सीमित ही। दे या न भी दे। साक्षात् पुत्र भी सीमित ही देता है। क्योंकि लड़के की शादी हो जाती है तो अधिकतर लड़के माता पिता से अलग होने और उनके पास जो कुछ भी है उसे लेने की ही कोशिश करते हैं। असंकोच अपना सर्वस्व देने वाला तो पति ही है। चाभी सौंपने वाला पति ही है। कालिदास ने समस्या पूर्ति की थी—

सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके न बोधयामास पतिं पतिव्रता।
तदाभवत्तत्पति भक्ति गौरवाद्धुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः॥

अपनी गोद सिर रखकर सोते हुए पति को पतिव्रता ने तब भी नहीं जगाया, जब छोटा बच्चा खेलता खेलता अग्नि कुण्ड में जा गिरने लगा। किन्तु उस स्त्री की सेवा एवं निष्ठापरायणता से अग्निदेव भी चन्दन समान शीतल होने लगा था। खैर यह सब बड़ी-बड़ी योगिनी तपस्विनियों की चर्चा है। अस्तु। दशरथ के मरण से कौसल्या अति व्यथित थी। निरन्तर कुररी के समान रुदन कर रही थी। अनेक संत माहानुभावों ने सान्त्वना देने की कोशिश की। किन्तु वे असफल हुए। अन्त में वसिष्ठजी आ गये। बसिष्ठजी बहुत बड़े तत्त्वज्ञानी थे। जिन्होंने रामचन्द्र को योगवासिष्ठ रामयण जैसा सर्वोत्कृष्ठ वेदान्त शास्त्र सुनाया। वसिष्ठजी ने कहा—हे कौसल्ये, तुम विषाद छोड़ो। जनमना और मरना संसार का धर्म है। जो वस्तु स्वाभाविक है उसके लिये क्या शोक करना है। मन में धीरज रखो। जो गया वह वापिस नहीं आयेगा, यह निश्चत है। अतः भगवान का यह विधान समझकर धैर्य धारण करना चाहिये। कौसल्या ने कहा—हे भगवन्! यह मैं जानती हूँ कि जनमने वाले का मरण अवश्यंभावी है। मैं जन्म-मरण के लिये नहीं रो रही हूँ। परंतु आज तक मुझे जो दिव्य दर्शन प्राप्त होता रहा वह आज अदर्शन में परिणत हो गया। अब मैं कभी दर्शन नहीं कर सकूंगी। यह जो मेरी अपूरणीय क्षति हुई उसके लिये मुझे क्या शोक नहीं होगा? वसिष्ठजी ने कहा–हे कौसल्ये जब तुम्हारा विवाह नहीं हुआ था तब भी दशरथजी का अदर्शन था। दशरथजी के जन्म से पूर्व भी अदर्शन था। और अब भी अदर्शन हुआ तो क्या फरक पड़ा? विवाह से पहले भी रोना था। उस समय क्यों नहीं रोती रही? कौसल्या ने कहा—विवाह के पहले मेरे मन में यह संस्कार नहीं था कि ये मेरे पति हैं, मैं उनकी पत्नी हूँ। विवहोत्तर ही भावना हुई

कि ये मेरे पति हैं, मैं उनकी पत्नी हूँ। इसलिये इस सयय अदर्शन से रो रही हूँ। वसिष्ठजी ने कहा—तब रोने का कारण 'मैं' और 'मेरा' हुआ। अहंकार और ममकार शोक का कारण है। अदर्शन नहीं है। तू उस अहंकार और ममकार हटाले। मेरे पति यह ममकार है। मैं पत्नी यह अहंकार है। यह केवल वासनाजन्य है। क्यों ? अदर्शनादापतितः पुनश्चादर्शनं गतः। यह सारा संसार अदर्शन से आया और अदर्शन में जाता है। तब कौन किसका ?

"नासौ तव न तस्य त्वम्"

अहंता और ममता वस्तु में हो सकती है। अवस्तु में नहीं। अदर्शनागत हमेशा ही अवस्तु है। अदर्शन से जो दर्शन हुआ वह दर्शन भी अदर्शन ही है। उदाहरण के लिये रज्जु में प्रथम सर्प का अदर्शन था। भ्रान्ति की उत्पत्ति से पूर्व सर्पादर्शन निश्चित है। और भ्रान्त्युत्तर बाध होने पर भी सर्पादर्शन होगा। तब बीच का सर्प दर्शन क्या है ? वह अदर्शन ही है। दर्शनवत् प्रतीत हो रहा है। "वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः" वितथ असद् सदृश होने पर भी सत्यवत् प्रतीत हो रहा है। हे कौसल्ये—

दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम्।
दीर्घं वापि मनोराज्यं संसारं कोसलात्मजे॥

यह पूरा ही संसार वस्तुतः अदर्शन रूप ही है। क्यों ? यह स्वप्न दर्शन मात्र है। रात को जो स्वप्न दर्शन होता है वह दर्शन नहीं अदर्शन ही है। हाथी घोड़ा आदि का कोई सच्चा दर्शन नहीं है। वैसो हालत जाग्रत दर्शन की भी है। फरक इतना ही है कि रात का स्वप्न ह्रस्व होता है। जाग्रत दर्शन दीर्घ होता है।

अदर्शन अविद्या अज्ञान को भी कहते हैं। यह समस्त भूत भौतिक जगत् सृष्टि अविद्या से होती है। अविद्या अर्थात् अधिष्ठान ब्रह्म को न पहचानना।

"यदविद्याविलासेन भूतभौतिकसृष्टयः"

भूत एवं भौतिक सृष्टि अविद्या का ही विलास है। वह अविद्या दो प्रकार की है। एक मूलाविद्या है। दूसरी तूलाविद्या है। मूलाविद्या से ईश्वर सृष्टि हुई। तूलाविद्या से जीवसृष्टि हुई। मूलाविद्या ने अधिष्ठान ब्रह्म स्वरूप को आवृत किया तो नानाविध संस्कारों के जागृत होने से ईश्वर ने जगत बनाया। ईश्वरोपाधि का अर्थ है—कर्म एवं वासना का समुदाय। उसी से अन्य उपादान के बिना ही जगत का जन्म हुआ। कर्म एवं वासना शांत हो जाती है तो उसी अदर्शन में सारा जगत लीन हो जाता है। यही अदर्शन से आना और अदर्शन में जाना है। तुलाविद्या से जीवसृष्टि हुई। जब तक यह तूलाविद्या है तब तक 'असौ मम तस्याहं' यह अहंता ममता होगी। तूलाविद्या के मिटते ही—"नासौ तव न तस्य त्वं" का यह उत्तरपाद लागू होगा। किन्तु तूलाविद्याकाल में आविद्यिक होने से यही "नासौ तव न तस्य त्वं" का ही उपदेश होगा।

(३) वेदान्त की ही एक सर्वोच्च प्रक्रिया है। तदनुसार इस श्लोक का तीसरा अर्थ होगा। उसके अनुसार अव्यक्त का अर्थ परमात्मा है। **"अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते"** यह अभी अभी बताया।

"ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते"

इत्यादि प्रयोग आयेगा। अव्यक्तादीनि का अर्थ है—आदि ब्रह्म रूपी अव्यक्त था। किन्तु बीच में अव्यक्त से विपरीतस्वभाव व्यक्त दीखने लगा। अन्त में फिर से अव्यक्त परमात्मा में ही सारा जगत लीन होगा। छान्दोग्य श्रुति में बताया है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत

यह सारा जगत् ब्रह्म ही है। क्यों? 'तज्जलान्' का अर्थ वह पानी है ऐसा नहीं है। जलान् में तीन शब्द हैं। 'ज', 'ल' और 'अन्'। ज का अर्थ है जन्मना। ल का अर्थ है लीन होना। अन का अर्थ प्राणित होना, जीवित होना। तस्माज्जायत इति तज्जं, तस्मिंल्ली-

यत इति तल्लं, तस्मिन्ननितीति तदन् । उस ब्रह्म से उत्पन्न हुआ। तब उत्पन्न होने से पूर्व क्या ? ब्रह्म अव्यक्त। और उसी ब्रह्म में लीन होगा तो लीन होने के बाद क्या रहेगा ? वही ब्रह्म अव्यक्त। हाँ उत्पन्न होने पर मध्य में यह व्यक्त हो गया, अब्रह्म सा हो गया। यह केवल सृष्टि प्रलय की ही बात नहीं है। प्रतिदिन हम उस अव्यक्त ब्रह्म में लीन होते हैं। फिर वहाँ से वापिस आते हैं। किन्तु अव्यक्त होने ही के कारण हमें पता नहीं चलता।

तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा
उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः।
एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य
एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥

हम प्रतिदिन सुषुप्ति काल में ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। सुषुप्ति में यह जोवात्मा परमात्मा में विलीन होकर स्वयं परमात्मा स्वरूप हो जात है।

"सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति"

सत् परमात्मा के साथ यह एकीभूत हो जाता है। इसीलिये सोये हुए को जगाना पाप है। सबकी बात नहीं। विद्यार्थी, नौकर, पहरेदार आदि को जगाना पाप नहीं है। पहरेदार सो जायेगा तो पहरा ही क्या हुआ। विद्यार्थी ज्यादा सोयेगा तो परीक्षा में फेल होगा। प्रतिदिन हम ब्रह्म में लीन होते हैं, ब्रह्म में उठते हैं, ब्रह्म में रहते हैं, ब्रह्म में ही चलते फिरते हैं। विशेष रूप से सुषुप्ति काल में ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं।

तब एक बड़ा भारी प्रश्न हुआ कि यदि हम सुषुप्ति में ब्रह्म में लीन होते तो वापिस कैसे आते हैं। "यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते" बताया है। इसका उत्तर दिया—अनृतेन हि प्रत्यूढाः। लोटे में पानी भरा। और ऊपर से रांगा लगाकर ढक्कन ढक दिया। अब उसको कुएँ

में क्या, समुद्र में डुबा दो तो भी कुएँ के या समुद्र के जल के साथ एकीभाव नहीं होगा। उसे कुएँ से खीचेंगे तो वही पुराना पानी लेकर बाहर आयेगा। यहाँ जीवात्मा का आवरण है अनृत। अनृत माया अविद्या वासना से आवृत होकर ब्रह्म में डूबकी लगाता है। इसलिये डूबकी लगाने पर भी अलग ही रह जाता है।

इस बात को इस ढंग से समझो कि वैसे तो सभी हमेशा ही ब्रह्म में डूबे हुए हैं। किन्तु जाग्रत काल में हम ब्रह्म में रहते हैं तो तीन पडदों के व्यवधान से। तीन परदे कौन-कौन ? स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर। इनमें प्रथम स्थूल शरीर पर ही दृष्टि पड़ती है। इसी कारण ब्रह्म में रहते हुए भी ब्रह्म दर्शन नहीं कर पाते। यह स्थूल शरीर या स्थूल प्रपञ्च ऐसा है कि ब्रह्म को सर्वथा आच्छादित कर देता है। यद्यपि जाग्रतकाल में भी सूक्ष्म और कारण शरीर भी रहते हैं। परन्तु जो स्थूल प्रपञ्च को देखने में उलझ गया उसको सूक्ष्म और कारण में फँसने की क्या जरूरत ? जो बाहर से महा-नगरी बंबई आ गया वह साक्षात बंबई देखेगा कि बंबई का नकशा देखता रहेगा। यहाँ से हमारी यात्रा प्रारम्भ हुई। "अहरह-र्गच्छन्त्यः"। यहाँ से सपने में पहुँचे तो वहाँ स्थूल शरीर नहीं रहा। केवल सूक्ष्म शरीर रहा। सपने में जो भी हम देखते हैं वह वासनामय प्रपञ्च है। साकार वासना मात्र है। अतएव भले ही देखने में स्थूलवत् दीखे, किन्तु है सूक्ष्म प्रपञ्च ही। उस समय भी सूक्ष्म प्रपञ्च में उलझने के कारण ब्रह्म को नहीं देख सके। उसको देखते-देखते भी आँखें चकाचौंध हो जाती हैं। देखने की शक्ति खो बैठती हैं। इसलिये स्वप्न काल में स्वयं ज्योति रूप से स्थित होने पर भी ब्रह्म दिखाई नहीं पड़ता। फिर वहाँ से आगे बढ़े। यात्रा अभी समाप्त नहीं हुई। वहाँ से हम साक्षात् ब्रह्म में पहुँचे। परन्तु अनृतेन प्रत्यूढ़ होकर। अर्थात् कारण शरीर से आवृत होकर। कारण शरीर तो केवल अविद्या मात्र है। अदर्शनरूप है। अतएव

सूक्ष्म से यात्रा कर कारण में पहुँच गये ऐसा नहीं बताया। क्योंकि अविद्या के होने पर भी सत् में ही पहुँचा हुआ माना जाता है। अतएव प्रारम्भ में प्रलयकालीन अविद्या के होने पर भी **"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्"** बताया। न कि 'इदं जगत् तम एवासीत्' ऐसा कहा गया। सुषुप्ति काल में भी वही प्रलयकालीन तम है। अतः यहाँ भी ब्रह्म में ही पहुंचा माना जाता है। प्रलय में भी अनृत से प्रत्यूढ़ आवृत होने से ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती और सुषुप्ति में भी अनृत आवरण से ही ब्रह्म प्राप्ति नहीं होती है। वैसे तो ब्रह्म सुख का आभास तो अनुभव में आता है। तथापि साक्षात् ब्रह्म सुख भासित नहीं होता।

सुषुप्ति में और प्रलय में क्या अन्तर है? यही अन्तर है कि सुषुप्ति नित्य प्रलय है और दूसरा नैमित्तिक प्रलय है। दूसरा अन्तर यह है कि सुषुप्ति में जीवसृष्टि विलीन होती है। प्रलय में ईश्वर सृष्टि भी विलीन होती है। ईश्वर सृष्टि सामान्य है। उस पर प्रत्येक जीवात्मा की अलग-अलग सृष्टि होती है। इसी लिये सुषुप्ति से उठने पर केवल जीवात्मा का ही परमात्मा से आगमन नहीं बताया। किन्तु सारे जगत् का आगमन बताया। सुषुप्ति प्रकरण में बताया—

यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति
एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः
सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति
तस्योपनिषत् सत्यस्य सत्यमिति।

जैसे अग्नि से छोटी-छोटी चिनगारियाँ चारों ओर बिखरती हैं वैसे ही व्युत्थानकाल में सद्रूपी आत्मा से प्रथम सभी प्राण अर्थात् मन एवं चक्षुरादि इन्द्रियरूपी सूक्ष्म शरीर तथा लोक देव भूतादि स्थूल प्रपञ्च आविर्भुत होते हैं।

"सुषुप्तिकाले सकले विलीने"

सुषुप्तिकाल में सारा प्रपञ्च सत् आत्मा में विलीन होता है और जाग्रत् काल में यह पूरा प्रपञ्च प्रादुर्भूत होता है। वेदान्त में दृष्टि सृष्टिवाद ही प्रधानवाद है।

किसी ने शंका की—आपने आँख मूँद ली तो क्या सारा प्रपञ्च लीन हो जायेगा ? जंगल में मोर खरगोश आदि कई ऐसे जानवर हैं जो शिकारियों के हाँकने से भागते-भागते थक जाते हैं। तो अपना सिर जमीन में या पत्ते आदि में छिपा देते हैं। वे यही समझते हैं कि हम दुनिया को नहीं देखते हैं तो हमको भी कोई नहीं देखता। दुनिया ही नहीं है। तो क्या सचमुच में दुनियाँ नहीं रह जायेगी ? शिकारी तो मौके पर उनको मार देते हैं। तब यह दृष्टिसृष्टिवाद की कैसी संगति ?। इसका उत्तर यही है, दृष्टिसृष्टि का यह अर्थ नहीं कि भगवत्सृष्टि भी आपकी दृष्टिसृष्टि है। भगवत्सृष्ट पर आपकी दृष्टिसृष्टि है। भगवत् सृष्ट है शक्ति की गति। उसमें जीवात्मा की की दृष्टिसृष्टि होती है। आजकल बड़े-बड़े वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं कि यह शब्द स्पर्शादि सभी शक्ति परिस्पन्द मात्र है। इंग्लिश में उसको वे 'वायबरेशन' कहते हैं। पंखा घूम रहा है तो थाली के आकार में दीख रहा है। तो यह थाली दृष्टिसृष्टि ही है और यद्यपि परस्पर प्रत्यभिज्ञा होती है। फिर भी भिन्न-भिन्न है। गाँव के चार आदमी शहर में आये। पंखा देखकर चारों ने कहा कि घूमती हुई एक थाली हमने देखी। तो चारों ने चार थाली देखी या एक ही थाली ?। प्रत्यभिज्ञा हो रही है। फिर भी एक नहीं है। ईश्वरसृष्ट पंखा एक है। किन्तु उस पर चारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से अलग-अलग ही थाली बनायी। वैसे यह विश्व भी है। शक्ति परिस्पन्द में हम विश्व को देख रहे हैं। शक्ति परिस्पन्द ही ईश्वर सृष्ट है। बाकी आकार प्रकार सभी पंखे में थाली के समान प्रतिव्यक्ति कल्पित है। सुषुप्ति में सभी विलीन होते हैं। व्युत्थान में पुनः प्रकट होते हैं। इसी प्रकार भीष्मादि शरीर भी परमेश्वर सृष्ट शक्ति परिस्पन्द में

प्रकल्पना मात्र है। इसके आदि में ब्रह्म है, अन्त में ब्रह्म है। मध्य में केवल प्रकल्पना से व्यक्त होता है।

(४) इसकी एक चतुर्थ प्रकार की भी व्याख्या है। वह न्याय वैशेषिक मतानुसारी है। प्रशस्त पाद भाष्य में सृष्टि एवं प्रलय की भिन्न तरीके से व्याख्या की है। प्रशस्तपादाचार्य कहते हैं कि संसार में आने पर प्राणियों का भटकना ही भटकना रहता है। 'समन्तात् सरति गच्छतीति संसारः। समन्तात् स्रियतेऽस्मिन्निति वा संसारः'। संसार कहते हैं जो निरन्तर चलता ही रहता है। और उसमें आने वाला भी चारों ओर भटकता ही रहता है। 'संसरणं वा संसारः'। स्वयं भटकना भी संसरण है, संसार है। भटकने से प्राणी थक जाते हैं। फिर स्वयं भटके या न भटके। संसार स्वयमेव दुःख रूप है ही। इसे न्याय वैशेषिक वालों ने एकविंशति दुःख रूप माना है। इनका आघात तो निरन्तर सहना ही पड़ता है। एकविंशति दुःख क्या है ? इनकी परिगणना में कुछ मतभेद है। एक मत यह है कि षडिन्द्रिय दुःख, सप्तधातुज दुःख, वातादि त्रिदोष दुःख, राग द्वेष दुःख, मिथ्याज्ञान दुःख और जन्म मरण दुःख ये इक्कीस दुःख हैं। कान से उग्र शब्द सुनाई पड़ा तो दुःख होता है। न सुनाई पड़े तो भी दुःख है। निन्दा सुननी पड़े तो कहना ही क्या ? ठंढी में शीतस्पर्श और गरमी में उष्णस्पर्श से "शीतोष्णसुखदुःखदाः" प्रसिद्ध है, दुःख होता है। आँखो से दुर्घटना देखी तो दुःख हुआ। सिनेमा देखने को न मिला तो भी दुःख होता है। अक्षि रोग दुःख तो प्रसिद्ध ही है। कटु, कषाय तिक्तादि रस से रसनेन्द्रिय दुःख होता है। नीम की पत्ती पीसकर माथे में लगाने को वैद्य कहे तो खुशी से मान लेंगे। किन्तु जिव्हा पर रखने को कहेंगे तो मान्य नहीं करेंगे। उसमें भारीं दुःख होता है। आखिर माथा भी शरीरावयव है, जीभ भी शरीरावयव है। फरक क्या ? फरक यही कि यह रसनेन्द्रिय दुःख है। मिर्ची से रसनेन्द्रियदुःख होता है। मिठाई देखने को न

मिला तो कोई हर्जा नहीं, खाने को न मिला तो रसनादुःख होता है। मरीनड्राईव पर सैर करते समय अवश्य सुख मिलता है। किन्तु गट्टर जहाँ मिलाया गया है, वहाँ बड़ा दुःख होता है। कौन सा दुःख ? घ्राणज दुःख। संयोग वियोग लाभ हानि आदि से मानस दुःख होता है। असन्तजन संयोग से दुःख होता है और संतजन वियोग अति दुःखदायी होता है। ये छः इन्द्रिय दुःख माने गये हैं। नैयायिक छः ही इन्द्रिय मानते हैं। अतः षाडन्द्रिय दुःख ही माना जाता है।

रस रक्तादि धातुज दुख है। यह शरीर दुःख है। अन्न खाने मिला या न मिला इसके लिये जो दुःख है, वह रसनेन्द्रिय दुःख हुआ। अन्न खाया किन्तु पचा नहीं बदहजमी हो गयी। खट्टी तीती डकार आने लगी तो यह दुःख है। बराबर अन्न का रस न बनने से दुःख है। रस तो बना। किन्तु बराबर न हुआ। किसी के रक्त में लाल अणु खतम होने लगे तो पीलिया रोग होने लगता है। शरीर पीला पड़ जाता है। पीलिया में तो कई मर भी जाते हैं। यह रक्त दुःख है। ।रक्तस्राव होने लगा, नाक से मुँह से या अन्य किसी अवयव से, तो रक्त दुःख होता है। रक्त अशुद्ध होने पर शरीर में फोड़ा, फुन्सी आदि होती है। यह भी रक्त दुःख है। शरीर कटा फटा तो एक प्रथम त्वाच दुःख होता है। किन्तु अंदर मांस भी काटा गया तो मांस दुःख भी साथ हो जाता है। किसी का शरीर क्षय रोग से सूख गया, केवल हड्डी रह गयी, यह भी वही दुःख है। मेदा बढ़ना भी बुरा है, बिल्कुल घटना भी बुरा है। कांदीवली में एक माई बड़ी पतली थी और उसका पति बहुत मोटा था। बेचारी रोती रही। किसी ने दूध में छुहारा डालकर खाने की सलाह दी। बेचारी ने वही किया। उसी से हुआ या और किसी से, पता नहीं, जो स्थूल होने लगी, फिर वह प्रार्थना करने लगी कि मैं पतली हो जाऊँ तो ही ठीक है। किन्तु एक बार स्थूल हो जाय, फिर कहीं मारवाड़ी

सेठानी हो तो कहना क्या है ! कितना ही मशीन शरीर पर फेर लो कोई फरक आनेवाला नहीं यही मेदा दुःख है। हड्डी टूटने फूटने का सड़ने का एवं अस्थि क्षयादि का जो दुःख है वह अस्थि दुःख है। अस्थि में मज्जा होती है। मस्तक में भी मज्जा है, जिससे बुद्धि बराबर बनी रहती है। उसके क्षय से वही मज्जा दुःख होता है। भगवान से प्रार्थना करते हैं, मनौतियाँ मानते हैं। अनेक उपाय करते हैं। परंतु ये सब तब कार्य करते हैं यदि किसी पाप प्रतिबन्ध से संतति न हो। किन्तु शुक्र रोग से संतान न हो रहा हो वह शुक्र दुःख है। इस प्रकार सात धातुओं को लेकर सात दुःख हैं।

वातादि त्रिदोष तीन दुःख होते हैं। बात, पित्त और कफ ये दोष हैं। वैद्य लोग नाड़ी पकड़ कर इन्हीं की परीक्षा करते हैं। माधव निदान में नाड़ियों की पहचान करायी है। ये तीन वैसे तो दोष माने जाते हैं किन्तु ये साम्यावस्था में हो तो इन्हीं से शरीर की स्थिति है। किन्तु ये ही तीन विषम हो जाय तो रोग का कारण होते हैं। वातविकार होने से शरीर में दर्द होता है। गंठियावात-संधिवात प्रसिद्ध है। उठना बैठना आदि सभी दुःसाध्य हो जाता है। अम्लपित्त एवं रक्तपित्त प्रसिद्ध है। अम्लपित्त वाले को लगेगा कि पेट में इमली, नींबू के झाड़ लग गये हैं। जो भी खायें, अम्ल बन जाता है। खट्टी डकार आने लगती है, छाती जलने लगती है। पित्ती उछलती है। यह सब पित्त दुःख हैं। कास श्वासादि कफ दुख है। जो खाते हैं, कफ बनता है। खांसते खांसते अति परेशान होते हैं। बोलने लगते हैं—हे भगवान ! ऐसा दुःख और किसी को न देना। कहीं ये प्राण प्रयाण समय में हो जाय तो क्या कहना ?! "प्राणप्रयाणसमये कफवात्तपित्तैः कण्ठावरोधनविधौ" प्रसिद्ध है। अत एव यह दुःख भी अत्यन्त भारी होता है। षडिन्द्रिय दुःख, सप्त धातु दुःख, त्रिदोष दुःख ये मिलकर सोलह हुए।

इसके बाद दो दुःख है—रागद्वेष दुःख। राग हो तो महान दुःख होता है। चाहे वह धन का राग हो या स्त्री पुत्रादि का राग हो। राग के अनुसार वस्तु मिलती जाय तो वह तत्काल शान्त हो जाता है। किन्तु नष्ट नहीं होता। 'लाभाल्लोभः प्रवर्धते' वाली बात है। लाख रुपये प्राने की इच्छा थी। तदर्थ अनेक क्लेश सहे। ओर मिल गये तो क्या हमेशा के लिये धन राग मिट जायेगा ? मिटना तो दूर रहा। पहले लाख का राग था। किन्तु अब करोड़ का राग होने लगा। मतलब सौ गुना बढ़ गया। लोग राग विषय प्राप्ति में सुख मानते हैं। परन्तु उसी में सौ गुना दुःख छिपा है। द्वेष तो प्रत्यक्ष ही दुःख को लेकर होता है। और स्वयमपि दुःख रूप है। द्वेष तो प्रत्यक्ष अग्नि ज्वाला का आलिङ्गन है। द्वेष्य को उससे नुकसान होगा या नहीं यह तो उसका भावी स्वरूप ही बता सकेगा। किन्तु क्रोध करने वाला स्वयं जल भुन जायेगा, इसमें कोई संशय नहीं। मुझे अपने अध्ययन काल की घटना याद है। एक मुझसे बड़ा द्वेष करता था। और मुझे इस बात की खबर भी नहीं। वह जलता जलता प्रायः वर्बाद ही हो गया। नुकसान उसी का हुआ। इस प्रकार राग द्वेष दुःख को मिलाकर अठारह दुःख हुए।

मिथ्याज्ञान भी दुःख है। संशयविपर्यासादि सभी मिथ्याज्ञान है। 'संशयात्मा विनश्यति' ऐसा आगे बताया जायेगा। अनेक संशयाक्रान्तमति कर्त्तव्य बिमूढ़ होकर अवसन्न हो गये। और विपर्यास तो सर्वानर्थमूल है ही। ज्ञान ही परम शान्ति का साधन है। मिथ्याज्ञान भयादिदुःख जनक है। शरीरादि में आत्म बुद्धि विपर्यास है। अतस्मिंस्तद्बुद्धिर्मिथ्याज्ञानम्। इस प्रकार यह उन्नीसवाँ दुःख हुआ।

दो दुःख अन्तिम हैं—जन्म मरण दुःख। जन्म दुःख को बहुत भारी बताया है। माता के उदर में रहते समय प्राणी मात्र अपार

दुःख का भागी होता है। बहुत से मनीषियों का कहना है कि जनमते समय कोई दुःख नहीं होता। प्राणी उस समय अचेत रहता है। मूर्च्छित सा रहता है। परन्तु यह बात शास्त्र संमत नहीं है। गर्भोपनिषद् में बताया है कि सातवें मास में ही बालक होश में आता है। और इतने अधिक होश में कि उसको पूर्वपूर्वंतर जन्म कर्म का भी स्मरण होता है। वर्त्तमान समय का तो नितरां स्मरण होता है। इसीलिये बताया है—

आदौ कर्मप्रसङ्गात् कलयति कलुषं मातृकुक्षौ स्थितं मां
विण्मूत्रामेध्यमध्ये क्वथयति नितरां जाठरो जातवेदाः।
यद्यद्वै तत्र दुःखं व्यथयति सततं शक्यते केन वक्तुं
क्षन्तव्यो मेऽपराधः शिव शिव शिव भो श्रीमहादेव शंभो॥

पूर्वकृत पुण्य पाप कर्म का फल भोगने के लिये प्रथम हम मातृ कुक्षि में पहूँचे। मातृ कुक्षि तो कालुष्य पूर्ण है। अपवित्र विण्मूत्रादि का स्थान है। वहां जठरानल शरीर को क्वथित करता रहता है। खिड़की से रहित वायु संचार शून्य अन्धकारमय कमरे के समान वह उदर है। तत्रापि गंदगी और ऊपर से जठरानल ताप। उस समय क्या क्या कितना कितना दुःख भोगा। इसका भला कौन वर्णन कर सकता है। उस दुःख में दुःखार्त्त होकर भगवान को पुकारा जरूर। परन्तु, मन अस्थिर होने से भगवद् ध्यान बराबर नहीं हो सका। हे प्रभु! उस अपराध को आप क्षमा करो। यदि उस समय इतना दुःख अनुभूत हुआ तो उसका स्मरण क्यों नहीं? उपनिषद में कहा कि गर्भ से बाहर आते ही वैष्णवी वायु से अभिहत होकर सभी भूल जाता है। यही तो भगवान की माया है। यदि अनुभूत दुःखों का स्मरण हो जाय तो वैराग्य ही ना हो जाता।

"न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्"

यह कहावत प्रसिद्ध है। वन्ध्या प्रसव वेदना नहीं जानती। तो क्या पुत्रवती को याद रहता है ? प्रसव समय में वैराग्य होता है कि अब इस संसार में कभी नहीं पड़ूंगी। परन्तु पुत्रोत्पत्ति के बाद वही वैष्णवी माया रूपी हवा फिर चल जाती है। मरण दुःख का विस्तृत वर्णन हम पहले ही कर आये हैं, इस प्रकार एक विंशति दुःख है।

षट् इन्द्रिय दुःख, सप्त धातुज दुःख, तीन वातादि त्रिदोष दुःख और पाँच अविद्या, अस्मिता, राग द्वेष, और अभिनिवेशात्मक पञ्च क्लेश दुःख ऐसी भी परिगणना है। उसी में त्रिदोष के स्थान पर जन्म जरा मरण दुःख है। ऐसी भी मान्यता है। अन्य भी अनेक प्रकार हैं। जैसा भी मान सकते हैं। सांख्य मतानुसार दुःख त्रय बोलो, योग मतानुसार पञ्च क्लेश कहो, न्याय मतानुसार एक विंशति दुःख कहो, जैसा भी हो संसार दुःखमय तो है ही।

सृष्टिकाल में इस प्रकार दुःखमय संसार में परिभ्रमण करने से प्राणी अति संतप्त होता है तो उसके मन में विश्राम की परम इच्छा होती है।

"संसारपरिभ्रमणखेदखिन्नानां विश्रान्तये।"

ऐसा प्रशस्तपादाचार्य का कहना है। अर्थात् इस प्रकार संसार खेदखिन्न प्राणियों को विश्राम देने के लिये परमेश्वर संजिहीर्षा करते हैं। प्रलय का मतलब है कि भगवान समस्त संसार का संहार कर सकल प्राणियों को अपनी गोद में सुलाते हैं। अर्थात् प्राणियों को विश्राम देने के लिये ही भगवान संहार करते हैं, न कि दुःख देने के लिये। जैसे मनुष्य दिन भर परिश्रम करता है, कोई मील मालिक है तो कोई मजदूर है। मजदूर भी दिन भर काम करता है। मालिक उससे अधिक दौड़ धूप करता है। दिन भर काम करने के बाद विश्राम की इच्छा होती है। विश्रामार्थ ही भगवान ने रात्रिका निर्माण किया। उसमें सो जाने से दिन की थकावट दूर

हो जाती है। थकावट कब दूर होती है ? जब सुषुप्ति में पहुँच जाते हैं। सुषुप्ति में पहुँचने का मतलब है अव्यक्त में डूब जाना। सुषुप्ति भी अव्यक्तावस्था है। उस अव्यक्त में लीन होकर प्रातःकाल उसी अव्यक्त से फिर बाहर आते हैं तो ताजगी का अनुभव करते हैं।

तीन प्रकार का अव्यक्त लय और अव्यक्तागमन है। प्रतिदिन सुषुप्तिकाल में यह जीवात्मा अव्यक्त में लीन होता है। और प्रातः उस अव्यक्त से बाहर आता है। अव्यक्त में लीन होने से दिन भर की थकावट दूर होती है और ताजगी मिलती है। यह प्रथम हुआ। द्वितीय है मरणरूपी अव्यक्तावस्था। जीवन एक महान संघर्ष है। धन कमाना और खर्च करना, एक साधारण घटना है। प्रतिदिन इधर दौड़ो, उधर दौड़ो। आज वह टूटा, दूसरे दिन दूसरा फूटा। आज किसी से झगड़ा, कल दूसरे से। सुधर रहा है, बिगड़ रहा है। कुछ लोग तो घोर परेशानी में जीवन गुजार रहे हैं। जीवन रोते पीटते पूरा कर रहे हैं। कुछ लोग परेशानी होने पर भी उसे परेशानी न मानकर चल रहे हैं। बाहर तकलीफ भीतर तकलीफ। इस जीवन संघर्ष से यह जीवात्मा थक जाता है। तब मरणरूपी विश्राम मिलता है। इसमें सारी झंझट खतम। पूरा क्रम समाप्त। भगवान इस प्रकार सारी झंझटों से छुड़ाकर जीवात्मा को सुला देते हैं। उसके बाद पुनः उसको ताजगी के साथ नया शरीर प्रदान करते हैं। यही जन्म कहलाता है। और तीसरा प्रकार प्रथम हमने बता दिया है। पूरा सृष्टिकाल ही संसरण रूप है। सुषुप्ति अल्प विश्राम है। मरण उससे कुछ बड़ा विश्राम है। उसमें अनन्तविध राग द्वेषादि परिसमाप्त होते हैं। इसीलिये भगवान दूसरे जन्म में पूर्व जन्म स्मरण नहीं देते। अत एव सुषुप्ति स्थूल शरीर विश्राम है तो मरण सूक्ष्म शरीर विश्राम है। तृतीय तो कारण शरीर विश्राम या आत्म विश्राम है। वह है प्रलय। उस समय अनन्तविध वासनायें भी शान्त होती हैं। नष्ट नहीं होती। किन्तु शान्त हो

जाती हैं। इसे प्रकारन्तर से कहना हो तो चार विश्राम कह सकते अल्पविश्राम, अर्धविश्राम, पूर्ण विश्राम और परिपूर्ण विश्राम।

भगवान श्रीकृष्णचन्द्र अर्जुन को कहते हैं, हे अर्जुन ! जैसे कोई सुषुप्ति में सो जाय तो उसके लिये कोई रोता पीटता नहीं। क्योंकि वह विश्राम उसके लिये जरूरी है। हजारों काम पड़े हैं। फिर भी सब काम छोड़कर भी सुषुप्ति ग्रहण करनी ही पड़ती है। प्रलय की भी वही स्थिति है। हमने प्रलय का अनुभव नहीं किया है। क्रिया है, किन्तु स्मरण पथ पर नहीं है। सुषुप्ति का अनुभव तो किया ही है। उसी दृष्टान्त को मरण के लिये समझना चाहिये। सुषुप्ति के लिये जैसे रोना पीटना नहीं है, वैसे मरण के लिये रोना व्यर्थ है। पूरे जन्म भर जो भी रादद्वेष मोहादि दोष शत से कलुषित यह हृदय हो गया है, उसे धोकर साफ करना परम आवश्यक है। हर बार यह मैल इतना गाढ़ा होता है, अगर इसे न धोया जाय तो सहस्र लक्षादि वर्ष में जाकर इतना यह गाढ़ा हो जायेगा कि इसे छुड़ाना असंभव होगा। इनमें गाढ़ा होने का मतलब है अज्ञान का दृढ़ से दृढ़तर, दृढ़तम होना। जिससे फिर उस अज्ञान को मिटाना असंभव सा हो जायेगा।

नैयायिक कहते हैं, हमारे सिद्धान्त में अज्ञान के दृढ़ होने का मतलब है—रागद्वेषादि संस्कारों का दृढ़ बनना। वेदान्तमत में भी अज्ञान परिणाम रागद्वेषादि मल को ढीला करने के लिये निष्काम कर्मादि का विधान है। उससे अज्ञानकार्य मल विक्षेप दूर होने से आवरण मात्र दूर करना आसान होता है। नैयायिक कहते हैं, यही हमारी भी प्रक्रिया है। हमारे यहाँ अज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा जाता है।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम्

यह क्रम है। मिथ्याज्ञान से रागद्वेषादि दोष प्रबल होते हैं। फिर उनके संस्कार जैसे जैसे बढ़ेंगे वैसे वैसे मिथ्याज्ञान भी दृढ़

दृढ़तर होता जाता है। यह कहीं वज्रलेप न हो जाय एतदर्थं भगवान मरण देते हैं। फिर जब दूसरा जन्म मिलता है तो उस समय बालक का हृदय अतिस्वच्छ होता है। बाल गोपालरूप होते हैं। यद्यपि संस्कार सर्वथा नष्ट नहीं होते। तथापि ढीले पड़ ही जाते हैं। बालक के चित्त पर फिर जैसा संस्कार डालो वैसा डाला जा सकता है। वेदान्ततत्त्व बालकों को श्रवण करना चाहिये, तो उनका चित्त तुरन्त शुद्ध बुद्ध हो जाय। परन्तु घर वाले भी घबराते हैं कि यह कहीं विरक्त न हो जाय। बूढ़ों को पता है कि हममें कोई परिवर्तन आने वाला नहीं है, चाहे सत्संगामृत वृष्टि निरन्तर होती रहे। हम तो जल में कमलवत् ही रहेंगे। घबराने की बात नहीं है। बालक विरक्त नहीं, सुधर जायेगा, यदि अच्छा उचित सत्संग प्राप्त हो तो। भगवान इन पूर्व संस्कारमल समूह व्युदासार्थ ही मरण देकर नया जन्म देते हैं। यही तो "वासांसि जीर्णानि यथा विहाय" में भी बताया गया था। पुराने कपड़ों में मैल जम जाता है तो फिर फटने पर ही निकलता है। हाँ, वहाँ स्थूल शरीर को लेकर कहा, यहाँ सूक्ष्म शरीर को लेकर कहा जा रहा है। मरणोत्तर सूक्ष्म शरीर सर्वथा बदलता नहीं है, जैसे स्थूल बदलता है। किन्तु उसी सूक्ष्म शरीर को ढाल कर नये ढंग से तैयार किया जाता है। नैयायिक लोग इसे आत्मशुद्धीकरण मानते हैं। क्योंकि उनके यहाँ सूक्ष्म शरीर अतिरिक्त नहीं है। जीवात्मा पर जो अनन्तविध दृढ़तम संस्कार पड़े हैं उनको समाप्त कर दिया जाता है।

नैयायिक कहते हैं कि भगवान मरणोत्तर आत्मशुद्धि करते हुए अत्यन्त आवश्यक थोड़े बहुत संस्कार ही बाकी बचाते हैं। जैसे जीवनोपयोगी स्तन्यपान प्रवृत्ति। बालक स्तन्यपान में कैसे प्रवृत्त हुआ? नैयायिकों का कहना है कि इष्टसाधनता ज्ञान के बिना प्रवृत्ति नहीं होती। आप घर से सत्संग हॉल तक पहुँचे तो क्या समझ

कर ? इसे अपना इष्ट साधन समझकर। कोई तात्कालिक मनोरंजन को ही अपना इष्ट समझता है। कोई जीवन कल्याण अपना इष्ट समझता है, यह तो भिन्न भिन्न रुचि की बात हुई। सर्वथापि इष्ट साधनता ज्ञान से ही प्रवृत्ति होती है। तब बालक स्तन्यपान में कैसे प्रवृत्त हुआ ? अवश्य ही उसको उसमें इष्ट तृप्ति साधनता ज्ञान हुआ। यह ज्ञान संस्कार के बिना संभव नहीं है। क्योंकि इस जन्म में उसने पूर्व अनुभव नहीं किया। अतः पूर्वजन्म संस्कार ही उसका बीज होगा। यह जीवनादृष्ट से उद्बोधित संस्कार माना जाता है। उसी प्रकार श्रवणमननादि संस्कार भी कुछ दबा हुआ ज्यों का त्यों रहता है। यही योग भ्रष्ट प्रकरण का भी तात्पर्य है।

"पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः"

ऐसा आगे बताया जायेगा। इस प्रकार अभ्यास प्रयुक्त कुछ संस्कार बच जाते हैं। यह अभ्यासादृष्ट उद्बोधित संस्कार माना जाता है। बाकी शत्रुता मित्रता आदि सब भूल जाते हैं। हाँ, उसका भी यदि अभ्यास जारी रहा तो थोड़ा बहुत संस्कार उसका भी रह जाय। इसलिये बोलते हैं कि—मालूम पड़ता है कि इन दोनों को पूर्व जन्म की मित्रता है या शत्रुता है इत्यादि। जैसा भी हो जीवनादृष्टोद्बोधित और अभ्यासादृष्टोद्बोधित से अतिरिक्त संस्कारों का उद्बोध न होने से बालक स्वच्छ हृदय होता है। यह सफाई मरण प्रयुक्त है। अतः मरण कोई बुरी चीज नहीं है। हे अर्जुन ! जैसे बालक अवस्था में संस्कारादि अव्यक्त है, वैसे मरणोत्तर भी अव्यक्त होगा। बीच में यह अहं मम संस्कार व्यक्त हुआ है। तदर्थ शोक करना वृथा है ॥ २८ ॥

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

[इस आत्मा को कोई आश्चर्यवत् देखता है। वैसे ही दूसरा इसे अश्चर्यवत् कहता है। तीसरा इसको आश्चर्यवत् सुनता है और कोई तो इसे सुनकर भी समझता नहीं है ॥ २९ ॥]

भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र ने 'अथ चैनं नित्यजातं' इस श्लोक में साधारण लोकमान्यता को लेकर यह बताया कि स्वाभाविक जन्म-मरण के लिये शोक वृथा है। क्योंकि स्वभाव स्वभाव ही है। उस धर्म के लिये शोक नहीं होता। बिल्ली पंजा मारती है तो उसके लिये शोक नहीं होता। सांप में जहर होता है, इसके लिये शोक नहीं होता। वैसे आत्मा में नित्य जन्म नित्य मरण धर्म है तो तदर्थ शोक क्यों करना ?। इसके बाद द्वितीय श्लोक में उसी अर्थ को दार्शनिक पुट देकर दृढ़ किया। जनमा तो मरेगा जरूर। तब एक ध्रुव सत्य को लेकर शोक करना अनुचित है। ध्रुव सत्य है कि सूर्योदय हुआ तो अस्त भी होगा। अस्त हुआ तो उदय भी होगा। कौन इसके लिये रोयेगा पीटेगा—हाय ? सूर्य डूबा सूर्य डूबा। तृतीय श्लोक में उसी मान्यता में थोड़ा संशोधन कर सांख्य वेदान्त एवं न्यायमतानुसार जन्म मरण की अशोचनीयता "अव्यक्तादीनि भूतानि" इत्यादि शब्दों में बतायी। वस्तुतः आत्मतत्त्व का ही वर्णन प्रस्तुत था। आत्म तत्त्व दर्शन एवं मात्रा तितिक्षा ये दोनों ही शोक निवृत्तिसाधन हैं। आत्मतत्त्वदर्शन विविक्तआत्मस्वरूपयथार्थ ज्ञान ही है। तदर्थ पुनः पूर्व प्रक्रान्त आत्म स्वरूप का निरूपण भगवान करने जा रहे हैं।

'आश्चर्यवत् पश्यति' यह श्लोक कुछ सामान्य भ्रान्ति के निवारणार्थ है। अर्थात् कोई वैशेषिकानुयायी यह कहें कि "नानुशोचन्ति पण्डिताः" यह बात सही नहीं है। पण्डित का अर्थ इतना ही किया जाता है—विविक्त आत्मदर्शी। तो विविक्त आत्मा का दर्शन सबको होता है। मनका आत्मा के साथ संनिकर्ष होता है तो मानस प्रत्यक्ष होता है। चक्षु का पुष्प के साथ संनिकर्ष हुआ—संनिकर्ष माने संयोग—तो पुष्प का चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है, रसना का रस के साथ संयोग हुआ तो रासन प्रत्यक्ष होता है। त्वचा का शीतोष्णादि स्पर्शों के साथ संयोग होने पर त्वाच प्रत्यक्ष होता है, वैसे मन का आत्मा के साथ संनिकर्ष होने पर मानस प्रत्यक्ष होता है। नैयायिकादि कहते हैं कि यद्यपि साधारण सबको आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। किन्तु विविक्त आत्म प्रत्यक्ष नहीं होता। शरीरादि तादात्म्यापन्न आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। फिर भी मेरा शरीर इत्यादि देखते समय विविक्त आत्मा का भी तो प्रत्यक्ष होता है। तब "नानुशोचन्ति पण्डिताः" यह बात कैसी ? इस भ्रान्ति का इस श्लोक में निवारण है। भगवान कहते हैं कि आत्म दर्शन तो एक महान आश्चर्यकारी घटना है। सामान्य जन को अहं सुखी, मम शरीरं आदि जो प्रत्यक्ष होता है, वह वस्तुतः आत्म दर्शन ही नहीं है। आत्म दर्शन इतना सस्ता नहीं है।

इस श्लोक का मूलभूत मंत्र कठोपनिषद् में आया है। वहाँ यमराज ने नचिकेता के प्रति इसी प्रकार आत्मदर्शनादि की दुर्लभता बतायी है—

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा
आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

बहुत से लोगों को आत्मचर्चा सुनने को भी नहीं मिलती। सुनते हुए भी बहुत से लोग आत्मतत्त्व को जान नहीं पाते। इसके वक्ता आश्चर्य से देखने में आता है, कुशल आत्मलाभ करने वाला भी दुर्लभ है। और कुशल आचार्य से शिक्षा पाकर इस आत्मतत्त्व को सही रूप से जानने वाला भी आश्चर्य से ही देखने में आता है। इस मन्त्र का अर्थसंग्रह प्रस्तुत श्लोक में है। अत एव इसमें आये सभी अर्थ को श्लोक की व्याख्या में जोड़ना होगा।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्। इस प्रथम वाक्य में आश्चर्यवत् का तीन के साथ अन्वय है। कश्चित् द्रष्टा आश्चर्यवत्। एनं दर्शनीयम् आश्चर्यवत्। पश्यति इति दर्शनं आश्चर्यवत्। इस संसार में आत्मा का द्रष्टा अति दुर्लभ है। अगर कोई मिल जाय तो आश्चर्य समझना। क्यों? इसलिये कि सभी मलविक्षेप और आवरण इन तीन दोषों से प्रदुष्ट हैं। जन्म जन्मान्तर संचित आत्म-दर्शन-प्रतिबन्धक इतने सारे पाप हमारे अंदर भरे हैं, जिनका कोई हिसाब नहीं। नित्य नैमित्तकादि कर्मों से प्रथम से जिसका चित्त निर्मल हो अर्थात् पाप रहित हो वही आत्मदर्शन के योग्य होता है। **"नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्"** ऐसा स्मृति में लिखा है। नित्य कर्म और नैमित्तिक कर्मों से दुरित क्षय होता है। कौन नित्यकर्म और नैमित्तक कर्म विधिवत् करता है। थोड़े से सत्संगी अवश्यमेव नित्य नैमित्तिक कर्म थोड़ा बहुत करते हैं। नित्य नैमित्तिक कर्मों से ही अगर पाप नष्ट हो जाय तब ज्ञान किस लिये? उत्तर यह है कि नित्य नैमित्तिक कर्म केवल ज्ञान के प्रतिबन्धक पापों को ही नष्ट करते हैं सर्वपापप्रणाश नहीं करते। प्रातः संध्या कीजिये। सम्यग् ध्यायते ब्रह्म यस्यां सा संध्या। ब्रह्म का ध्यान सूर्य का वन्दन ये सब बुद्धिदोषनाशक हैं। ध्यान से धी शुद्ध होती है। सूर्य के लिये तो "धियो यो नः प्रचोदयात्" यह प्रसिद्ध ही है। भगवत् पूजनादि भी नित्यकर्म है। उस से भी बुद्धि शुद्धि होती है।

नित्य तथा नैमित्तिक ये दोनों कर्त्तव्य कर्म है। कर्त्तव्य पूरा करने पर मनस्तृप्ति अनुभव सिद्ध है। हाँ, सात्त्विक व्यक्ति के लिये। अन्य तो वैसे भी विद्यानधिकारी है।

नित्यनैमित्तिक कर्मों से मनोमल की निवृत्ति तो हो सकती है। परंतु उतने से भी वह ज्ञान का पूरा अधिकारी नहीं होता। इतने मात्र से "एनं पश्यति" नहीं। उसके लिये संयम की भी जरूरत होती है। विक्षिप्तचित्त को ब्रह्मदर्शन नहीं होता। उपनिषत् में कहा है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभू-
स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्ष-
दावृत्तचक्षुरमृतत्त्वमिच्छन् ॥

स्वयंभू ब्रह्मा ने प्राणीमात्र की एक भारी हिंसा की। कैसी ?। सबको उन्होंने बहिर्मुख बना डाला। 'पराञ्चि खानि'। ख माने इन्द्रिय। इन्द्रिय वहिर्वृत्ति हो गयों। यही भारी हिंसा है। ब्रह्माजी ने ऐसा क्यों किया ? क्या हमारे साथ उनका कोई वैर था ? नहीं। यह ब्रह्माजी का दोष नहीं। हमारा ही दोष है। हमने पूर्व में जैसी वासना का संचय किया उसी के अनुसार ही तो सृष्टि की जा सकती है। हमने जैसी सामग्री दी वैसी सृष्टि ब्रह्माजी ने कर दी। यदि हम सड़े गेहूँ चक्की वाले को दें और बढ़िया आटा चाहें, ऐसा हो सकता है ?। ऐसा नहीं हो सकता। गेहूँ पिसाने को दिया तो उससे पहले जो दूसरे का गेहूँ पीसा गया उसमें थोड़ा अंश आपके गेहूँ में आ जाय तो अलग बात है। दुनिया की चक्की में मात्रा में फ़रक हो सकता है। परन्तु ब्रह्माजी की चक्की में अणु मात्र भी अन्तर नहीं आयेगा। वहाँ कर्मादि सांकर्य नहीं होता। पितृ कर्म से पुत्र कलंकित होता है, पुत्र कर्म से पिता कलंकित होता है। सत्कर्म हो तो एतद्विपरीत भी होता है। किन्तु लोक में। ब्रह्माजी के यहाँ

ऐसा नहीं होता। न कर्म सांकर्य होता है और न संस्कार सांकर्य ही।

यदि हमारा मन अनिच्छापूर्वक भी विषयाभिमुख जाता है तो समझ लेना चाहिये कि पूरे पूर्वजन्म को हमने विषयोपभोग में ही बिताया। विषयों को त्यागने का कभी भी प्रयास नहीं किया। **"अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः"** यह अर्जुन का वचन संसारियों के अनुभव का ही अनुवाद है। किसी ने हमसे कहा, महाराज! विषय सेवन तो प्रकृति सिद्ध है। प्राकृतिक वेगों को रोकना ठीक नहीं। मैंने कहा—अध्यात्म शास्त्र प्रकृति को जीतने के लिये ही निर्मित है, प्रकृति में बहने के लिये नहीं। क्रोधी पुरुष को परहिंसा करने की प्राकृतिक प्रवृत्ति होती है। तो क्या वैसे करने दिया जायेगा? लोभी पुरुष को दुनिया भर का धन स्वाधीन करने की इच्छा होती है। तो वैसे करने दिया जायेगा? यही कामी पुरुष की भी स्थिति है। अध्यात्म शास्त्र स्वच्छन्दतापादक नहीं है। इस प्रकृति को जीतने में ही जीवन की सफलता है। प्रकृति को जीतने पर प्रकृतिजय ही अपनी प्रकृति बनेगी।

अध्यात्मशास्त्र का रहस्य बड़ा गहन है। कुछ आधुनिक प्रवक्ता लोग भी कहते हैं प्रकृति को रोकने से विकृति होगी। परन्तु उनको न प्रकृति का पता है और न विकृति का ही। प्रकृति जैसी बनावो वैसी बनेगी। बच्चे में हिंसा करने की प्रकृति है। किन्तु मा बाप ने सिखाया तो अहिंसा प्रकृति बनी। शिक्षा से प्रकृति का स्वरूप बदल जाता है। बदलने पर फिर वही प्रकृति होती है। यही वैराग्यादि का भी रहस्य है। प्रथम प्रथम वैराग्य में विकृति प्रतीत होगी। परन्तु बाद में वही वैराग्य प्रकृति हो जायेगी। बशर्ते कि वैराग्य का सम्यक् पालन हो। अभ्यास से प्रकृति भी बनती है। परन्तु यह अभ्यास बड़ा दीर्घ होना चाहिये।

"पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः"

पूर्व में अभ्यास किया। फिर योगभ्रष्ट भी हुआ तो चिन्ता की बात नहीं है। दूसरे जन्म में जाकर विकृति समाप्त होकर वही पूर्वाभ्यास प्रकृति हो जायेगा। इसीलिये कहा—

"न हि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति"

कल्याण मार्गावलम्बी बीच में कदाचित् स्खलित भी हो, फिर भी उसकी दुर्गति नहीं होती।

यह विषय वैराग्य विवेक से शुरू होता है। यह बुद्धि ऐसी है कि वर्त्तमान में ही भटक रही है। भूत भविष्यत् की ओर नहीं पहुँचती। वर्त्तमान को सुधारना परम आवश्यक है। परन्तु भूत भविष्यत् का भी दर्शन होना चाहिये। आशा रूप और शोक रूप से नहीं, किन्तु ज्ञान वैराग्य रूप से।

अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषया
वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत्स्वयममून्।
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः
स्वयं त्यक्त्वा ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥

यही विषय विवेक है। विषयों का यह नियम है कि चिरकाल तक साथ में रहने पर भी अन्त में ये छूट ही जायेंगे। वह भी निश्चित छूट जायेंगे। ऐसा कभी नहीं होगा कि एक साथ में आवे और जावे। वैसा हो तो आपकी वंशपरम्परा ही कैसे चलेगी ? एक ही साथ दादा परदादा माता पिता बेटा पौत्र उत्पन्न हो जाय और एक ही साथ चले जाय यह अति असंभव है। यही अन्य विषयों की भी स्थिति है। शब्द स्पर्शादि विषय भी आयेंगे जायेंगे। धनादि भी आते और जाते हैं। जव इनको जाना ही है तो पहले से क्यों न छोड़ दें। लाख दो लाख का नुकसान हुआ तो बड़ा धक्का लगता है। किन्तु उतना स्वयं सत्कार्य में लगा दें तो उसका परिणाम

अनन्तशम सुख है। इस प्रकार विचार के द्वारा विषयाकर्षण कम करना चाहिये। पूर्व जन्म में ऐसा अभ्यास न किया, विषय लोलुप रहे। विषय वासना मन में गाढ़ रूप से पड़ी है तो आखिर ब्रह्माजी भी क्या कर सकते हैं ? 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्' ही तो करेंगे। यह अपने प्रमाद का ही परिणाम है, ब्रह्माजी का दोष नहीं।

परन्तु इतना सुनकर अपना मनश्चाञ्चल्य देखकर निराश होने की भी आवश्यकता नहीं है। पुरुषार्थ हमारे साथ में है। पहले नहीं किया तो अभी ही सही। हमने बंबई में ऐसे सैकड़ों सेठों को देखा है कि बंबई आते समय रहने का ठिकाना नहीं, खाने का ठिकाना नहीं, फूटपाथ पर और स्टेशनों पर गुजारा किया। भूखे भी रहे। परन्तु बाद में निरन्तर परिश्रम से लखपति करोड़पति बने। मतलब, यदि पुरुषार्थ तगड़ा हो तो पूर्व संचित पूँजी के बिना भी लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। पूर्व जन्म में हमने अभ्यास न किया तो भी कोई परवाह नहीं, अभी से अभ्यास में लग जावो। भले सफलता मिलने में विलम्ब हो। "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुः" कोई धीर तो निकल ही आता है जो इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त कर आत्मदर्शन करता है। किन्तु है वह दुर्लभ। पूर्वोक्त रीत्या सत्कर्म से निर्मल हृदय हो और उपासना से आवृत्त चक्षु हों तो ही आत्मदर्शन हो सकता है। ऐसा आत्मद्रष्टा कोई मिल जाय तो आश्चर्य समझना।

द्रष्टा आश्चर्य है। और द्रष्टा देखता भी आश्चर्य से है। आश्चर्य पूर्वक दर्शन करेगा। जब मैं हरिद्वार में था तब की बात है, एक मारवाड़ी भक्त परिवार वहाँ आया। उनके साथ में उनके तीन चार बच्चे भी थे। मारवाड़ तो मरुभूमि ठहरी। उनके गाँव में नदी, तालाब दूर रहा। कुंआ भी है तो सौ सौ फूट नीचे पानी रहता है, सो भी अधिकतर खारा ही। पीने का पानी दूर से लाना पड़ता है। एक माईल दो माईल दूर पर एक पीठा कुंआ हो।

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ा
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥

शास्त्राज्ञा का उलंघन कर अपने आपको बुद्धिमान पण्डित मानने वाले मूढ़ पुरुष अन्धे से प्रेरित अन्धों के समान चलने से अधमगति को प्राप्त होते हैं। भला, जो खुद ही अन्धा है, वह दूसरों को कैसे मार्गदर्शन दे सकता है ? उसी प्रकार जो अज्ञानरूपी अन्धकार में पड़े हैं, जिन्होंने ब्रह्मदर्शन नहीं किया है, वे दूसरों को ब्रह्मदर्शन के विषय में क्या कह सकते हैं ? जिस रोज "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" इस भगवदुक्त दिव्य चक्षु प्राप्त होंगे, उस रोज हम भी ब्रह्म का स्वरूप देखकर आश्चर्यान्वित होंगे। ब्रह्म तो क्या भगवान सोपाधिक विश्वरूप भी देखकर अर्जुन आश्चर्य चकित हो गया था।

तीसरी बात यह है कि ब्रह्म स्वयं आश्चर्यरूप है। अन्धे को आँख मिली तो मरीन ड्राईव उसको आश्चर्यरूप दीखा। परन्तु रोज देखने वालों के लिये मरीन ड्राईव में और बोरीवली में कोई फरक नहीं है। रोज देखने वाले मरीन ड्राईव को देखकर उछलेंगे नहीं, हँसेंगे नहीं। उसका वह दर्शन ही आश्चर्य है। दृश्य वस्तु आश्चर्यात्मक नहीं है। यहाँ तो दर्शनीय ब्रह्म भी अति आश्चर्यात्मक है। इसीलिये पुष्दन्ताचार्य कहते हैं।

"अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो-
रतद्व्यावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि"

श्रुति भगवती स्वयमेव चकित होकर बोलती है। वह तत्त्व तो वाणी और मन के विषय से परे की चीज है। अतएव स्वतः आश्चर्यात्मक है। उसे विरोधाभास से ही समझना पड़ता है। ईशावास्य का मन्त्र है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

वह चलता है, नहीं चलता है। वह दूर है, वह नजदीक है। वह सबके अंदर है, वह सबके बाहर है। यहाँ परस्पर विरोधाभास स्पष्ट है।

अणोरणीयान् महतो महीयान्

एक ओर कहते हैं कि यह अणु से अणुतर है। दूसरी ओर कहते हैं कि यह महान् से महत्तर है। इससे भी बढ़कर आश्चर्य बताया --

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता
पश्चत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥

इसी को "बिनु पद चलै" इत्यादि से संतो ने भी अनुवाद किया। बिना पाँव चलता है, बिना आँख देखता है, बिना कान सुनता है। यह सब आश्चर्य सूचक है। कुछ महिमा को, आश्चर्य को पुष्पदंताचार्य भी कहते हैं—

नमो नेदिष्ठाय प्रियदव दविष्ठाय च नमो
नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः।
नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयन यविष्ठाय च नमः
नमः सर्वस्मै ते तदिदमितिसर्वाय च नमः॥

वह परमात्मा इतना नजदीक, इतना नजदीक कि पूछो मत। उससे अधिक नजदीक कोई है ही नहीं। शरीरादि बल्कि दूर है। अणु-व्यवधान है। अन्तःशरीरात्मसंयोग यह जो संयोग है उससे व्यव-धान है ही। परमात्मा स्वरूपभूत है। अतः अणुमात्र भी व्यवधान नहीं है। अतः नेदिष्ठ है। परन्तु वह इतना अधिक दूर, इतना अधिक दूर है कि शतकोटि जन्म पर्यन्त प्रकाश वेग से दौड़ते रहें

तो भी उसे पा नहीं सकते। दूर से दूरतर वस्तु जितनी हैं उससे भी परे वह ब्रह्म है। दूरतर वस्तु अनन्त दूरी में है, वहाँ भी परमेश्वर है, उससे परे भी है—

स भूमिं सर्वतः स्पृत्वा अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।

ऐसा मन्त्र में कहा गया है। अर्थात् जहाँ तक यह भूमि—अर्थात् भूत फैले हैं, उससे भी दस अंगुल आगे परमेश्वर है। भूमि का खाली मिट्टी अर्थ नहीं किन्तु भूतमात्र अर्थ है। भूत, भूमि ये दोनों एक ही धातु के रूप हैं। भूतों में आकाश भी आता है। आकाश कहाँ तक है? वहाँ से भी दस अंगुल आगे तक है। आकाश अनन्त है तो अनन्त शब्द से निर्वचन हुआ। इसका तो अनन्त शब्द से भी निर्वचन नहीं होता। वह परमात्मा क्षोदिष्ठ है, परमाणु से भी छोटा है। जैसे बीजशक्ति अत्यल्प है। अणुतर है, उसमें अनन्तवृक्ष पैदा होते हैं वैसे अणु परमात्मा से अनन्त जगद्वृक्षोत्पत्ति है। दूसरी ओर अनन्त जगत् व्यापक होने से महिष्ठ भी है। बड़े से बड़ा भी है। वह वर्षिष्ठ माने बूढ़े से बूढ़ा उससे बढ़कर कोई भी बूढ़ा नहीं है। ब्रह्मादि की तो बात ही क्या? किन्तु जवान से जवान नवजवान है। क्योंकि पूरा काल उसमें कल्पित है तब कालपरिच्छेद प्रयुक्तवर्षिष्ठता कैसे हो। इस प्रकार महापुरुषों ने भी उस आत्मा को अति आश्चर्य स्वरूप समझाया है। इस प्रकार आत्मा के बारे में द्रष्टा दृश्य दर्शन ये तीनों आश्चर्यकारी है यही "आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं" का मतलब है।

"आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः" इस द्वितीय पाद में भी प्रथम पाद के समान आश्चर्यवत् का तीनों के साथ अन्वय है। वक्ता आश्चर्यवत्। वदनम् आश्चर्यवत्। वक्तव्यार्थ आश्चर्यवत्। इसमें प्रथम वक्ता की दुर्लभता को देखें। नचिकेता यमराज के प्रति कहते हैं—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यः
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥

हे मृत्यो ! आपने स्वयं स्वीकार किया कि देवता भी इस आत्मतत्त्व के बारे में संशयापन्न ही रहे। स्वयं आप कह रहे हैं यह तत्त्व सुज्ञेय नहीं है। तो मैं भी यह समझता हूँ कि इस विषय में आपके बराबर दूसरा वक्ता मिलना संभव नहीं है। अतः यही वरदान मैं आपसे माँगता हूँ। इसी प्रकार का एक वाक्य अर्जुन भी आगे बोलेगा—

एतन्मे संशयं कृष्ण च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥

हे भगवन् ! जो यह मुझे संशय हो गया है उसको आप ही दूर किजिये। इस संशय को आप से अन्य कोई मिटा सके ऐसा लक्षण नहीं दीखता। क्यों नचिकेता ने वैसा कहा, और अर्जुन ने भी इस प्रकार कहा ? उत्तर यही है कि इस ब्रह्म तत्त्व का वक्ता साधारण व्यक्ति नहीं हो सकता। श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ ही हो सकता है। इसीलिये श्रुति में—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

ऐसा बताया। उस परम तत्त्व का विज्ञान प्राप्त करने के लिये सद्गुरु के पास ही जाना चाहिये। स्वयं बांचने से भी ज्ञान नहीं होगा। स्वयं शास्त्र को वांचना, वांचना नहीं वंचना है। अपनी वञ्चना करना है। गुरु से शास्त्र सुनकर उसे दृढ़ करने के लिये वांचन करो। असद्गुरु तो अपने को भी ठगता है, चेले को भी ठगता है। अतः गुरु कैसा हो ? सो बताया–श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। श्रोत्रिय का अर्थ है श्रुति का जिसने

अध्ययन किया हो और करता जा रहा हो। "श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते" ऐसा पाणिनीय सूत्र है। श्रुति का अध्ययन खास करके कहा जा रहा है। क्योंकि श्रुति अपौरुषेय है। पुरुष हमेशा संशयविप्रलिप्सादि पुरुष-दोषाक्रान्त होता है। वह दोष उसकी वाणी में भी आ सकता है। अतः श्रुत्यध्ययन ही करना चाहिये। आजकल के लोग आधुनिक कवियों की चौपाई शाँयरी रटकर ही अपने को तत्त्ववेत्ता घोषित करते हैं। कुछ लोग यह भी बोलते हैं, हम तत्त्ववेत्ता नहीं हैं। वहाँ प्रति-षेध औरतों का होता है। एक स्त्री ने दूसरी को समझाया कि देख, कोई 'औरत' न बोले तो उसका हाँ अर्थ होता है। 'मैं तत्त्ववेत्ता नहीं हूँ' का अर्थ है मैं तत्त्ववेत्ता हूँ। यह निरभिमानता की चद्दर के अन्दर अपने तत्त्ववेत्तापने का दर्शन कराने का मात्र प्रयास है। कवियों की उक्ति मान्य है। उसकी भी ग्राह्यता बतायी है।

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदान् समुपबृंहयेत्"

ऐसा मनुवचन है। वेदार्थ समझने के लिये इतिहास पुराण का सहारा लीजिये। अतः श्रुत्यध्ययन परम आवश्यक है। दूसरा ब्रह्मनिष्ठं विशेषण है। गुरु वही है जो ब्रह्म में निष्ठा रखता हो। निष्ठा का अर्थ है नितरां स्थिति। साक्षात्कार उसका अभिप्रेतार्थ है। इस बात को ही भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र स्वयमपि अर्जुन को निर्देश करेंगे—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

ज्ञानी का ही अर्थ श्रोत्रिय है। और तत्त्वदर्शिनः का अर्थ ब्रह्मनिष्ठ है। ऐसे श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ वक्ता बहुत ही दुर्लभ होता है। आश्चर्य से मिलता है।

वक्ता लोग आजकल श्रोत्रित ब्रह्मनिष्ठ नहीं, अपितु श्रोताओं के मनोरञ्जन का साधन बन गये हैं। मनोरंजन होना चाहिये वाणी

में माधुर्य होना चाहिये। किन्तु मनोरंजन ही लक्ष्य न होना चाहिये। उसको रखते हुए ही वक्ता का लक्ष्य ब्रह्म होना परम आवश्यक है। वृहदारण्यक उपनिषद् में एक कथा आयी है—

दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस
स होवाचाजातशत्रं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति
स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मः

गर्गगोत्रोत्पन्न बालाकि एक बार अजातशत्रु के पास गया। अजातशत्रु वैसे तो युधिष्ठिर का भी नाम है। किन्तु उपनिषद् में युधिष्ठिर नाम नहीं लिया। बालाकि ने कहा कि मैं आपको ब्रह्म के विषय में बताऊँगा। अजातशत्रु इतने प्रसन्न हो गये कि ऐसा बोलने वाला कोई मेरे पास आया नहीं। आज आप आ गये। आप आगे ब्रह्म के बारे में कहें या न कहें। किन्तु 'मैं ब्रह्म को कहूँगा' जो आपने कहा, इतने के लिये मैं आपको एक हजार गिन्नी दक्षिणा के रूप में देता हूँ, क्योंकि "आश्चर्यो वक्ता"। मेरे पास लोग आते हैं तो किसी ने ऐसा नहीं कहा। कोई मेरी स्तुति करता है। कोई प्रशंसा करता है। कोई चापलूसी करता है। और लोग भी प्रशंसाप्रिय होते हैं। और कभी-कभी मिथ्या प्रशंसा में लोग बह भी जाते हैं। यह प्रथम बार आप ही आये हैं जो यह कह रहे हैं कि मैं आपको ब्रह्म सुनाऊं। इसलिये इतने मात्र की दक्षिणा सहस्र गिन्नी है। आगे सुनाने के बाद जो भी हो विचार करूँगा। आगे कथा काफी लम्बी है। ब्रह्म सुनाने में राजा के सामने बालाकि अपनी हार स्वीकार करता है अन्त में, क्योंकि राजा अजातशत्रु बालाकि से भी बहुत अधिक ज्ञानी थे। श्रोताओं को वक्ता से आगे बढ़ जाना चाहिये। हाँ, परमवक्ता की तो कौन बराबरी करें, किन्तु ऐसा वक्ता तो "आश्चर्यो वक्ता" है।

दूसरा अन्वय है यद्वदति तदप्याश्चर्यवत्। ब्रह्म विषयक वचन आश्चर्यकारी होता है। क्योंकि स्वयं श्रुति इस विषय में कहती है—

"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

वहाँ तक वाणी पहुंचती ही नहीं है। फिर भी ब्रह्म को वचन से ही समझाया जाता है। कैसे समझाया जाता है ? तरीके अनेक हैं। दक्षिणामूर्ति स्तोत्र में बताया है—

"चित्रं वटतरोर्मूले वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा।
गुरोस्तु मौनं व्याख्यानं शिष्यास्तु छिन्नसंशयाः ॥"

वटवृक्ष के नीचे दक्षिणामूर्त्ति भगवान बैठे हैं। बड़ा आश्चर्यकारी दृश्य है। युवा वक्ता और श्रोता वृद्ध। गुरुजी का व्याख्यान मौन है। और शिष्य रहस्य समझ रहे हैं।

मौनव्याख्याप्रकटितपरब्रह्मतत्त्वं युवानं
र्वाषिष्ठान्तेवसदृषिगणैरावृतं ब्रह्मनिष्ठैः।
आचार्येन्द्रं करकलितचिन्मुद्रया भद्रया तं
स्वात्मारामं मुदितवदनं दक्षिणामूर्त्तिमीडे ॥

मौन व्याख्या है उससे ब्रह्मतत्त्व को प्रकट कर रहे हैं। बोल नहीं रहे। यही बोलना है। आश्चर्य नहीं तो क्या ! यह चिन्मुद्रा से ही समझा रहे हैं। मुद्रा से भी शब्द का स्मरण होकर शाब्द बोध होता है। त्रिगुण से पृथक् जीव पर से मिलकर एकाकार होता है।

चिन्मुद्रा से आधी व्याख्या कर लिया। अहंकार विशिष्ट जीव ही तर्जनी है। जब तक वह झुकेगी नहीं अर्थात् अहंकार त्याग नहीं करेगी, परमात्मा से मिलन असंभव है।

अन्य तो मौन व्याख्यान है। मौन ही वचन है, यही आश्चर्य है। कैसा मौन ? केवल जिह्वा का ही मौन नहीं। श्रोत्रादि का भी मौन। क्या श्रोत्रादि भी बोलते हैं ? अवश्य। आपको जल्दी कहीं जाना था। रास्ते में अत्यन्त सुमधुर गीतस्वर सुनाई पड़ा। आप

खड़े हो गये। आवाज मानो ऐसी थी कि अमृतवर्षा हो रही हो। आपने कहा—चलो काम बहुत पड़े हैं। तब कान ने कहा—नहीं नहीं, यह आवाज, यह स्वर फिर नहीं मिलेगा, खड़े रहो। देखो यहाँ कान भी बोलने लगे या नहीं ? टी० वी० जब नया-नया निकला था, रास्ते में प्रदर्शनी हो रही थी तो कई लोग वहीं खड़े-खड़े देखते थे। आँख कहती थी और थोड़ा देखो और थोड़ा देखो। इस प्रकार आँख भी बोलती है। रसना तो दो प्रकार से बोलती है। एक जो आप बोल रहे हैं यही। दूसरा जब मिठाई खाने को मिली तब। इधर शक्कर की बीमारी से मीठा खाने को नहीं मिल रहा था। इधर थाली में रसगुल्ला, मोहन थाल आ गया। रसना ने कहा—थोड़ा सा खा लो तो कोई हानि नहीं होगी। थोड़ा सा खाया। जीभ ने कहा—थोड़ा और खा लो तो भी क्या हर्जा ? खाते-खाते पूरा ही खा गये। गुलाब की इत्तर की सुगंधि आने लगी तो नाक कहने लगी, लो तुम भी कुछ फूल, कुछ इत्तर सूँघ लो। गरमी के दिन में स्नानागार में पहुँचे। बाथ में पहुँचे तो त्वचा इतनी अधिक बात करने लगती है कि वहाँ से निकलने ही नहीं देगी। इन्द्रियाँ ये श्रोत्रादि पाँच। किन्तु बात करे छः। इन इन्द्रियों को मौन रखना ही मौन व्याख्या है।

"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ"

अनुकूल विषयों को वे कहती हैं आओ आओ। प्रतिकूल विषयों को बोलती हैं हटो हटो। इन राग और द्वेष से विमुक्त होकर प्रथम इन्द्रियाँ निश्चञ्चल बनाना यह प्रथम मौन है। इसके बाद मन का भी मौन करना होगा। ऐसी निर्विकल्पक अवस्था में दक्षिणामूर्ति भगवान बैठे थे। यही ब्रह्मदर्शनोपायोपदेश है। ब्रह्मदर्शी के पास बैठो तो यह उपदेश स्वयमेव प्राप्त होने लगता है। परन्तु एक दो दिन, एक दो साल की बात नहीं है। वर्षों तक यह साधना आवश्यक है।

यही "वर्षिष्ठान्तेवसत्" का अर्थ है, न कि बूढ़े चेले। यहाँ तक कि कभी कभी 'अनेक जन्म संसिद्ध' के अनुसार कई जन्मों की भी प्रतीक्षा करनी पड़ जाय।

कुछ लोग इसी तत्त्व को तत्त्वमसि महावाक्य से समझाते हैं। यह वचन भी अतिविचित्र है। लक्षणा से यहाँ बोध होता है। परन्तु किसी शब्द का भी जो अवाच्य है वह लक्षणा से भी कैसे ज्ञात हुआ ?। ऐसा शब्द व्यवहार संसार में अद्वितीय है। जिससे अखण्डाकारवृत्ति होती है। "सोऽयं देवदत्तः" में भागत्याग है। फिर भी अत्यन्त अखण्डाकारता नहीं है। अत एव अखण्डाकार-वृत्ति जनक एकमात्र वाक्य होने से वह आश्चर्यकारी ही माना जायेगा। अन्य वचनों से विचित्रता "अणोरणीयान्" इत्यादि पूर्वोक्त उदाहरणों से ही स्पष्ट है।

उच्यमान ब्रह्म भी आश्चर्यवत् है। क्योंकि शब्द के द्वारा हमेशा ही जाति गुण क्रिया सम्बन्ध विशिष्ट का ही बोध होता है। न्याय-सूत्रकार गौतम ऋषि कहते हैं—

"जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थः"

जाति, आकृति और व्यक्ति ये तीन शब्दार्थ हैं। गाय कहने से गोत्व जाति उपस्थित होगी। चार पाँव सींग पूँछ गलकंबल आदि आकार उपस्थित होगा। और पूर्वदृष्ट व्यक्ति उपस्थित होगी। तब अपूर्व गो व्यक्ति का शाब्द बोध होगा। कोई आदमी आया, ऐसा बोलने पर पशुजाति नहीं, मनुष्यत्व जाति का बोध होगा। गवाकार नहीं, द्विपाद द्विहस्त मनुष्याकार उपस्थित होगा। और पूर्वदृष्ट कोई मनुष्य व्यक्ति उपस्थित होगी। तब अपूर्व व्यक्ति ज्ञात होगी। इसी प्रकार सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म बोलने पर किस किसकी उपस्थिति होगी ? ब्रह्मत्व कोई जाति है क्या ? नहीं। नैयायिक कहते हैं कि व्यक्ति एक ही हो तो जाति नहीं होगी।

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं संकरोऽथानवस्थितिः ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसंग्रहः ॥

आकाश एक है तो आकाश जाति नहीं होती। गायें अनेक होती हैं। अतः गो जाति है। ब्रह्म अनेक है क्या ? नहीं है। तब ब्रह्मत्व कोई जाति नहीं है। जाति बिरादरी तो अनेक होने पर ही होती है। दूसरा आकार है। गाय का आकार है। मनुष्य का आकार है। ब्रह्म का अकार ? वह तो निराकार है। तो निराकर का बोध शब्द कैसे करायेगा ? राम कृष्ण आदि बोलने पर शाब्द बोध होगा, क्योंकि उनका आकार है। उस आकार से उनको जान सकेंगे। किन्तु निराकार का क्या अकार होगा ? तीसरी व्यक्ति है। प्रथम गाय को देखा हो तब गाय बोलने से बोध होगा। अपूर्व गाय का ज्ञान होगा। किन्तु कभी भी न देखा हो तो कैसे बोध होगा ? ब्रह्म को अगर पहले देखा है तो फिर शास्त्र की ही क्या जरूरत ? इस लिये वह आश्चर्य है। गीता में भगवान भी ब्रह्म के बारे में क्या कहते हैं ? ध्यान से देखो—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

भगवान ने प्रथम प्रतिज्ञा की—ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि। लेकिन आगे कहते हैं—'न सत्तन्नासदुच्यते' वह सत् नहीं कहा जाता, असत् भी नहीं कहा जाता। नहीं कहा जाता तो 'प्रवक्ष्यामि' क्यों कहा ? सत् नहीं तो असत् होगा। या असत् नहीं तो सत् होगा। यह तृतीय पन्थाः कौनसा है ? सदसद्विलक्षण तो मिथ्या होता है। उत्तर यही कि आप उसे सत् या असत् मत कहो। बिना कहे हो सत्त्व धर्म और असत्त्वधर्म से रहित आत्मस्वरूप जानो। सर्व धर्म रहित स्वयं प्रकाश आतमा ही ब्रह्म है। वह अत्यन्त निर्विकल्प है। सर्वधर्म सर्व संकल्प रहित ज्ञान प्रकाश को समझना है। खण्डनखण्ड खाद्य में बताया है—

अविकल्पविषय एकः स्थाणुः पुरुषः श्रुतोऽस्ति यः श्रुतिषु ।
ईश्वरमुमया सहितं वन्दे नुमयापि तमधिगतम् ॥

वेद वेदान्त श्रवण समनन्तर जब आप के मन की समस्त विकल्प-वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं, निर्विकल्पकावस्था आ जाती है, वही ब्रह्मदर्शन है। खण्डनकार कहते हैं—'श्रुतिषु श्रुतः' अर्थात् श्रुति प्रतिपादित है। क्या श्रुति प्रतिपादित है ? 'एकः स्थाणुः पुरुषः'। एकः का अर्थ है सजातीय, विजातीय, स्वगतभेदशून्यः। विशेषण व्यावर्त्तक होता है। जब व्यावर्त्त्य है नहीं तब एकः यह विशेषण ही किस प्रकार ? 'नीलं कमलं' यहाँ नील विशेषण रक्तादि व्यावर्त्तक है। एक ही है यह विशेषण द्वितीय व्यावृत्ति के लिये है। द्वितीय नहीं तो क्या व्यावृत्ति करना ? यही तो आश्चर्य है कि व्यावर्त्त्य नहीं फिर भी व्यावृत्ति हो रही है। परमार्थतः तो—

न चैकं तदन्यद् द्वितीयं कुतः स्यात्

एक ही नहीं तो द्वितीय कहाँ से आवे। अतएव अविकल्पक ज्ञान ही होता है। स्थाणु भी पुरुष भी किस प्रकार ? आश्चर्य है। 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' होता है। वह भी विकल्प होता है। यहाँ अविकल्प होता है और स्थाणु पुरुष भी है। स्थाणु माने स्थिर उत्पत्ति विनाश रहित। 'एकः' से वस्तु परिच्छेद निराकरण। 'स्थाणुः' से काल परिच्छेद निवृत्ति। 'पुरुषः' माने पूर्ण, देश परिच्छेद रहित। धर्मों के न होने पर भी धर्मों से प्रतिपादन किया। यही यदुच्यते तदाश्चर्यवत् का मतलब है।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति। यहाँ भी तीन प्रकार अन्वय है। श्रोता आश्चर्यवत्। श्रवणमाश्चर्यवत्। श्रूयमाणमाश्चर्यवत्। श्रोता क्यों आश्चर्यवत् है ? इसलिये कि श्रोता के लिये जो अपेक्षित है वह यहाँ प्रकट नहीं है। कुमारिल भट्टाचार्य कहते हैं—

सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्त्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥

लोग पहले यह देखते हैं कि इससे हमारा कुछ मतलब सिद्ध होता है या नहीं। बच्चे डॉक्टरी पढ़ते हैं। क्यों ?। उसने उसमें प्रयोजन देखा। उसमें उसकी रुचि हुई। दूसरा बच्चा कॉमर्स पढ़ता है। क्यों ? उसको उसी से लाभ दीखा। यह ब्रह्म शास्त्र है। इसके श्रवण से क्या फायदा है ? एक महात्मा प्रवचन कर रहे थे तो एक तार्किक ने कहा—महाराज ! इस वेदान्त न्यायादि शास्त्र पढ़ने से क्या लाभ ? महात्मा ने कहा—हर जगह लाभ क्यों देखते हो ? दुकान में लाभ हानि देखो। उस तार्किक ने कहा—हम दुकानदार हैं, इसलिये हर जगह लाभ हानि देखेंगे ही। महात्मा ने कहा—तब तुम कभी घाटे का व्यापार क्यों करते हो ? उसने कहा—आशा लाभ की थी, किन्तु विधि ने विपरीत किया। उसके लिये हम क्या करे ? महात्मा ने कहा—तब तुम्हारी आशा निरर्थक सिद्ध हुई। आशा ही क्यों रखें ? कर्त्तव्य समझकर क्यों नहीं करते ? वैसे इसे भी श्रोतव्य समझकर सुनो। उसने कहा—मुझे संतोषात्मक उत्तर नहीं मिला। तब महात्मा ने कहा—वेदान्त श्रवण लाभ के लिये नहीं, हानि के लिये है। "वह कैसे ?"। वेदान्तश्रवण का लाभ आत्मलाभ है। परन्तु आत्मा पहले से ही लब्ध है। अविद्या की हानि करना है। इस आत्मा से, जो अनादिकाल से मिला है—अविद्या एवं तत्कार्य द्वैत प्रपञ्च, उसे निकालना ही वेदांत श्रवण का प्रयोजन है। परन्तु यह प्रयोजन किसके दिमाग में आवे ? सभी प्रत्यक्ष कुछ धनजन आदि लाभ ही चाहते हैं। वह भी इस श्रवण से प्राप्त होता है। क्योंकि वेदान्त श्रवण सबसे बड़ा पुण्यकार्य माना है। परन्तु लोग पुण्य के द्वारा नहीं, साक्षात् फल चाहते हैं। इसलिये वेदान्त शास्त्र के श्रोता दुर्लभ होते हैं।

वस्तुतः वेदान्त शास्त्र के श्रोता नचिकेता सदृश मनीषी ही होता है। नचिकेता ने एक मार्मिक बात यमराज से कही है। वेदांत के विषय में वह एक पूर्ण निरुक्ति है।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो
लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं
वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥

वेदान्त शास्त्र का श्रोता वही बन सकता है, जिसने यह निश्चय कर लिया है—"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः" वित्त से किसी को आजतक न तृप्ति हुई है और न आगे होगी। वित्ताशावर्जित ही श्रवण का अधिकारी होता है। तो क्या वेदान्त श्रवण वाले के पास वित्त नहीं रहेगा ? 'लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा' वेदान्त श्रवण की बात छोड़ो, वेदान्तवेत्ता पुरुष के दर्शन मात्र से भी अभीप्सित वित्त की प्राप्ति होगी। क्योंकि वही सर्वाधिक पुण्यशाली है। आप प्रतिदिन किसी वेदान्त वेत्ता का दर्शन कीजिये यही पर्याप्त है सर्वधन प्राप्ति के लिये। यही बात मुण्डकोपनिषद् मन्त्र में भी बताया है -

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामान्
तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्‌ भूतिकामः ॥

मन से जिस जिस लोक का संकल्प करता है। स्वर्ग लोक, बृहस्पति विष्णु लोकादि किसी भी लोक की कामना हो तो आत्मवेत्ता की अर्चना करो। लोक का जन्म भी अर्थ होता है। श्रीमंत के घर में जन्म, तत्त्ववेत्ता के घर में जन्म या योगियों के कुल में जन्म आगे हो ऐसी अभिलाषा हो तो आत्मवित् की पूजा करो। अन्य धन जन पुत्र पौत्रादि की कामना हो तो भी आत्मज्ञानी की अर्चना करो। अवश्य ही वे लोक एवं वे कामनायें प्राप्त होंगी। शर्त इतना ही है कि आप शुद्धसत्त्व अर्थात् शुद्धान्तःकरण वाले हो और गुरु ब्रह्मवित् हो। तात्पर्य यह कि मरणोत्तर लोक प्राप्ति या इह लोक

में धनादि भोग प्राप्ति आत्मवेत्ता के दर्शन एवं अर्चन का ही फल है। यह श्रावण का फल नहीं है। श्रवण फल तो—"एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं" ब्रह्मज्ञान ही है। अत एव वेदान्त श्रवणकर्त्ता दुर्लभ होते हैं। क्योंकि यह सिद्धार्थ नहीं है। अपने लिये उपयुक्त प्रयोजन इसमें सब नहीं देखते। प्रयोजन ही सिद्ध नहीं तो प्रयोजन को चरितार्थ करने वाले साध्य साधन भावादि सम्बन्ध का भी प्रश्न कहाँ रह जाता है।

श्रवण भी दुर्लभ होने से आश्चर्यवत्। वक्ता एवं वचन दुर्लभ हुआ तो श्रवण दुर्लभ होता ही है। श्रवण किसको कहते हैं ? उपनिषत् को किसी ने जोर से पढ़ा और आप ने सुना, यही श्रवण है ? गीता जयन्ती के समय मैंने कई देखा है। गीता का सामूहिक पाठ होता है। और बहुत से लोग बैठकर श्रवण करते हैं। यही श्रवण है क्या ? ऐसा श्रवण अवश्यमेव करो। इससे आपको महान पुण्य मिलेगा। किन्तु इतना ही श्रवण नहीं है।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यः"

इस वाक्य में जो श्रवण बताया है वह तत्पूर्वोक्त 'द्रष्टव्यः' इस दर्शन का साधन है। पाठ श्रवण मात्र से आत्म साक्षात्कार नहीं हो सकता। वह श्रवण क्या है ? **"षड्भिर्लिङ्गैः वेदान्तानामद्वैते ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणं श्रवणं"** उपक्रमोपसंहारादि छः तात्पर्य निर्णायक लिङ्गों से वेदान्त वाक्यों का अद्वैत ब्रह्म में तात्पर्यावधारण श्रवण है। कहीं कहीं वक्ता बहुत बड़ा भारी रहता है। बोलता भी है फिर भी श्रवण बराबर नहीं हो पाता। उदाहरण के रूप में प्रजापति के पास इन्द्र और विरोचन का शिष्यत्व है। प्रजापति से बढ़कर वक्ता और कौन हो सकता था। फिर भी उन्होंने प्रथम पर्याय में वास्तविक श्रवण नहीं कराया। गोलमोल शब्द कहा—"य एषोऽक्षणि पुरुषः" इत्यादि।

दूसरी बात यह भी है कि वैसे श्रवण बहुत करते हैं। किन्तु विधिवत् श्रवण कोई ही करता है। मुण्डकोपनिषद् में बताया है— **"तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते"** महर्षि अङ्गिरा का कहना है कि जिन्होंने व्रत धारण नहीं किया है, वे इस ब्रह्मविद्या का अध्ययन—श्रवण नहीं करते। अर्थात् नहीं कर सकते। कौन सा व्रत करना चाहिये, व्रत तो बहुत सारे हैं ? इसका उत्तर पूर्व मन्त्र में आया—

क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः
स्वयं जुह्वत एकर्षि श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत
शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥

एक व्रत है—क्रियावन्तः। वेदोक्त सत्कर्म निरन्तर जिन्होंने संपादन किया। वैसे तो क्रिया सभी करते हैं, परन्तु व्रत बनाकर क्रिया करते रहना चाहिये। व्रत का अर्थ है नियमपूर्व करना। यज्ञदानादि क्रियायें मानी जाती हैं। दूसरा व्रत है—श्रोत्रियाः। प्रतिदिन वेदशास्त्राध्ययन करना चाहिये। तीसरा व्रत है—ब्रह्मनिष्ठाः। यहाँ ब्रह्म का अपर ब्रह्म अर्थ है। क्योंकि ब्रह्मविद्याधिकारी का यह विशेषण है। इन तीनों को लोक भाषा में कहना हो तो—पूजापाठ एवं दानपुण्य करने का नियम ही ये तीन व्रत है। ब्रह्मनिष्ठाः से पूजा, साकार ब्रह्म की भक्ति अभिहित है। श्रोत्रियाः से पाठ अभिमत है। क्रियावन्तः से दानपुण्य अभिमत है। इन तीनों का आपने नियम रखा है तो आप श्रवणाधिकारी हैं, अन्यथा नहीं। प्रातःकाल आप बाह्य पूजा करें या मानस पूजा। यह अनिवार्य है। वेदमन्त्र एवं गीतादि का पाठ करना अनिवार्य है। अपनी शक्ति के अनुरूप दान-पुण्य करना भी अनिवार्य है। भागवत में भगवान की नित्यचर्या के वर्णन में इन तीनों का मुख्य रूप से वर्णन आया है। अत्यन्त भारी विघ्नों की उपस्थिति में भी ये

अत्याज्य है। अत्यन्त परवश अवस्था में भी मानस पूजन सुगम है। पड़े-पड़े भी स्तोत्र पाठादि संभव है। दानपुण्य क्रिया भी यथाशक्ति की जा सकती है। चौथा व्रत है—स्वयं जुह्वतः एकर्षि श्रद्धयन्तः। श्रद्धा भक्ति के साथ स्वयं को उस एकर्षि परमात्मा में हवन करते हुए अनुभव करो।

"आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते"

ऐसा भगवान का भी कहना है। नदियाँ समुद्र में लीन हो रही है, वैसे हम भी परमात्मा में लीन हो रहे हैं, ऐसा चिन्तन ही बड़ा हवन है।

अन्त में एक शिरोव्रत बताया है। शिरोव्रत किसको कहते हैं? यह एक विचारास्पद विषय है। कहीं इसका भस्म धारण अर्थ किया है। कहीं अन्य अर्थ भी किया है। वस्तुतः व्रतानां शिरः शिरोव्रतम्। ऐसा विग्रह करने पर सर्वोत्तम व्रत अर्थ निकलता है।

"न्यासः शीर्षणि संस्थितः"

न्यास, त्याग, संन्यास यह शीर्षव्रत है। "मुण्डकानां संन्यासिनामुपनिषत्" इस व्युत्पत्ति से और शिरोमुण्डन प्रसिद्ध होने से भी यही अर्थ निकलता है। इसका वाह्य अर्थ न लिया जाय तो सर्वसङ्ग परित्याग रूपी संन्यास ही शिरोव्रत है। उसका विधिवत् संपादन प्रसिद्ध संन्यास पक्ष में स्पष्ट है। पक्षान्तर में भी कादाचित्क न होकर व्रत रूपेण धारण करना ही यहाँ ग्राह्य है। इस प्रकार अधिकार संपादन पूर्वक श्रवण ही वास्तविक श्रवण है। वह श्रवण वस्तुतः दुर्लभ होता है। अतएव आश्चर्यवत् है।

श्रोतव्य आत्मा भी आश्चर्यवत् है। क्योंकि वह श्रवणजन्य साक्षात्कार विषय है। नैयायिकादि का मत है कि शब्द से परोक्ष ज्ञान ही होता है। अपरोक्ष नहीं। परन्तु वेदान्त का कहना है यही तो ब्रह्मशास्त्र की विशेषता है कि यहाँ शब्द से श्रूयमाण होने पर वह अपरोक्ष होता है इसलिये आश्चर्य है। कहा कि आँख से देखो,

हाथ से छुओ, नाक से सूँघो, इन्द्रियों से ग्रहण करो तो अपरोक्ष होगा। शब्द से अपरोक्ष किस प्रकार ? राम हुए, रावण हुआ आदि कहने से राम या रावण का अपरोक्ष होता नहीं है। वेदान्त कहता है कि जहाँ विषय प्रत्यक्ष हो वहाँ शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है। उदाहरण 'दशमस्त्वमसि' का दिया। दस बच्चे गिन रहे हैं। अपने आपको नहीं गिन रहे थे और नौ ही हम रह गये। हम दस निकले थे। एक कहाँ गायब हो गया। शायद नदी पार करते समय बह गया आदि बोल कर रो रहे थे। तो पथिक ने दया कर समझाया 'दशमस्त्वमसि' अरे दसवाँ तूं ही है। इस शब्द से अपना अपरोक्ष हो गया या परोक्ष ?। अपरोक्ष। क्यों ? विषय अपरोक्ष है। केवल भूल हो रही थी। भूल को निकाला तो वह अपरोक्ष है ही। वैसे ब्रह्मरूपी आत्मा की भी अनादिकाल से भूल हुई है। भूल भी बड़ी जबरदस्त है। माया अविद्यारूपी भूल है। इस भूल को शब्द ही निकालेगा। वही शब्द 'तत्त्वमसि' आदि है। परन्तु 'दशमस्त्वमसि' की अपेक्षा विशेषता यह है कि वहाँ एक बार बोलते ही तुरत अविद्या निकल जाती है। यहाँ तत्त्वमसि का सैकड़ों बार श्रवण से भी अनधिकारी को बोध नहीं होता। आत्मा की व्यापकता गाढ़ अन्धकार में निमग्न है। इसे निवर्तित करने के लिये ही अधिकारी विशेषण शमदमादि एवं अन्य श्रवणादृष्टादि हैं।

श्रोतव्य में दूसरा आश्चर्य यह है कि यह आत्मतत्त्व केवल उपनिषद के शब्दों से ही ज्ञातव्य है। उसके लिये अन्य शब्द असमर्थ है। याज्ञवल्क्यजी कहते हैं—

"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि"

राजा जनक के यहाँ बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ता एकत्रित हुए थे। क्योंकि स्वयं राजा ब्रह्मवेत्ता थे। जहाँ ब्रह्मचर्चा होती है, वहाँ संत एकत्रित होते हैं पुनः पुनः श्रवणार्थं। एक सत्संगी ने मुझे बताया कि मैं बीस साल से सत्संग करता आया हूँ। अब कुछ मनन भी

तो करना चाहिये। मैंने कहा—यह ऐसी बात है, जैसे कोई कहे कि मैं दस रोटी खा गया, अब थोड़ी दाल साग भी खा लूँ। दाल साग तो रोटी के साथ खाये जाते हैं। मनननिदिध्यासन श्रवण के साथ होता है। ऐसा नहीं कि विद्यार्थी चार महीना पाठ प्रवचन सुना, तब मनन किया नहीं, और बाद में मननार्थ बैठा। अस्तु। श्रवण निरन्तर करते ही रहना चाहिये। राजा जनक ने कहा—ये हजार गायें हैं। जो श्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ हो वह इन्हें ले जाय। राजा की इच्छा थी कि इसी बहाने ब्रह्मविषयक शास्त्रार्थ हो। ऋषि भी गाय के लोभ से नहीं, तत्त्ववेत्ता को लोभ क्या हो, फिर भी संमान रखना चाहिये। आलंपिक खेल में कांसे के पदक को बाजार में बेचने जाय तो क्या मूल्य मिलता ? फिर भी वह गौरव की चीज है। शास्त्रार्थ शुरू हुआ। अनेक ऋषियों ने याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ किया। अन्त में शाकल्य आया। शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से ढ़ेर प्रश्न किये। याज्ञवल्क्य ने सबका उत्तर दिया। प्रश्न पर प्रश्न करते जा रहे थे। अति प्रश्न करना वर्जित था। वैसे तो कहीं पर भी 'अति' अच्छा नहीं होता।

अतिरूपेण वै सीता अतिगर्वेण रावणः।
अतिदानात् बलिर्बद्धो ह्यति सर्वत्र वर्जयेत् ॥

सीता हरण हुआ तो उसका कारण सीता का अति रूप था। सीता इतनी अधिक रूपवती थी कि उससे रावण मोहित हो गया। इसका अर्थ यह नहीं कि अतिरूप हो तो विकृत किया जाय, किन्तु 'अति' खतरनाक है, इसमें यह उदारण है। हाँ, अतिरूप बनाने का प्रयास तो नहीं करना चाहिये। अतिगर्व से रावण का नाश हुआ। वैसे रावण बड़ा भारी पण्डित था। वेदभाष्य उसने लिखा। श्री रामजी ने नीति सीखने लक्ष्मण को रावण के पास भेजा था। किन्तु बिभीषण की सदुक्ति समझ में आने पर भी रावण गर्व के कारण नहीं झुका और परिणाम सामने आया। अति दान भी ठीक नहीं।

उसीका फल बलिराजा बंधन में पड़े। गार्गी से शास्त्रार्थ में ही याज्ञवल्क्य ने सूचित किया था—

स होवाच गार्गि मातिप्राक्षीः
मा ते मूर्धा व्यपप्तत्

परंतु इसकी अवगणना करके शाकल्य ने अति प्रश्न किया। उसका उत्तर भी दिया। अन्त में याज्ञवल्क्य ने जोश में पूछा—अब मैं पूछता हूँ, तुम उत्तर दो।

'यस्तान् पुरुषान् निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'

इन समस्त पुरुषों को सत्ता से निर्वाहकर अपने अंदर समेटते हुए जो आगे अतिक्रमण करता है उस औपनिषद पुरुष को मैं पूछता हूँ, उसे तू बता दे। अन्यथा तुम्हारा भला नहीं होगा। औपनिषद का अर्थ है—उपनिषदमात्र वेद्य। उसके लिये अन्य शब्द अपर्याप्त है। उसको "वह तू है" "हि इज दे" आदि बोलने से नहीं चलेगा? नहीं चलेगा। उपनिषद वाक्य श्रवणजनितादृष्टविशेष सहकृत ही 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य भूळ को निकाल कर आत्मपद का दर्शन करायेगा।

वाणी अर्थ बोधन में माध्यम है। किन्तु संस्कृत वाणी अर्थ बोधन के साथ पुण्योत्पादक भी है। "**एकः शब्दः सुप्रयुक्तो ज्ञातः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति**" ऐसा योगीश्वर महर्षि पतञ्जलि ने साक्षात्कार कर बताया है। योगज साक्षात्कार से उन्होंने शब्द पुण्य देखा। इसीलिए हम संस्कृत वाक्योच्चारण बीच बीच में करते हैं। फिर उपनिषद् वाक्य का कहना ही क्या ?। यह उपनिषद वाक्यश्रवणजन्य पुण्य भी औपनिषद पुरुष साक्षात्कार में सहकारी है। अत एव उसको औपनिषद कहा। यह भी श्रोतव्यार्थ की विशेषता है, आश्चर्यता में बीज है।

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्। इसके मूल में कहा— "श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः" बहुत से लोग आत्मतत्त्व को

बार बार सुनते रहते हैं। फिर भी उसका सम्यग् ज्ञान ही नहीं हो पाता। साक्षात्कार तो दूर रहा। ब्रह्म के विषय में श्रवण करना ही पर्याप्त नहीं है। तत्त्वबोध प्राप्त करने के लिये अनेकानेक सहकारी साधनों को भी जुटाना परम आवश्यक है। उनके अभाव में श्रवण कोरा रह जाता है। खेत में बीज बोना ही पर्याप्त नहीं है। पहले खेत की जमीन बराबर की है या नहीं, यह देखना होगा। बीज बोने से पहले हल चलाकर जमीन को मुलायम बनाते हैं। उसकी कठोरता नष्ट करते हैं। फिर समीकरण करते हैं। खाद डालते हैं। बाद में बीज बोया जाता है। इतने से ही इति श्री नहीं है। बाद में पानी की व्यवस्था करो। बाढ़ की व्यवस्था करो। फल आने पर चिड़ियों से, कीड़ों से बचाओ। आखिर तक कर्त्तव्य ही कर्त्तव्य भरा है। वैसे यहाँ भी है। श्रवण तो बीजवपन है। परन्तु प्रश्न यह है कि प्रथम भूमि विलेखन और समीकरण किया है या नहीं? खाद डाला है या नहीं? भूमि विलेखन कर्म है। समीकरण उपासना है। जिससे उबड़ खाबड़पन नहीं रहता। खाद है, शमदमादि साधन। इनके बिना बीजवपन तो प्रायः व्यर्थ ही समझना चाहिये। पथरीली जमीन में धान बोने से भला क्या हो। अच्छी जमीन में भी खाद के अभाव में बीजवपन सार्थक नहीं होता। बीजवपन के बाद जलसेचन मननस्थानापन्न है। इतरवृत्तिनिरास रूपी निदिध्यासन ही कीड़े पतंग पक्षी आदि से रक्षण है।

आज से लगभग बीस वर्ष पहले अर्थात् सन् अठावन साठ के आसपास प्रेमकुटीर में हमने विवेक चूड़ामणि पर प्रवचन किया था। उस समय काफी श्रोता आते थे। कुछ अच्छी विशिष्ट मातायें भी आती थीं। एक बार हम कमरे में बैठे थे तो दो तीन मातायें आयीं। उन्होंने कहा—महाराजजी आप से कुछ प्रश्न पूछना है। मैंने कहा पूछो। मैं इस समय खाली ही बैठा हूँ। उन्होंने कहा कि प्रथम प्रथम स्वामी प्रेमपुरीजी महाराज ने यहाँ पर वेदान्त की

कथा की। कथा और स्वाध्याय से हमारी अद्वैततत्त्व में पूर्ण निष्ठा हो गयी थी। हमें यह पूर्ण निश्चय हो गया था कि "ज्ञानादेव तु कैवल्यम्"। फिर उसके बाद यहाँ भागवत की कथा हुई, भक्ति कथा हुई। इतनी अच्छी सरस कथा होती रही कि पहले जो ज्ञान का प्रतिपादन हुआ था, उन सबको भुला ही दिया। फिर हमारे मन में यह विश्वास बैठ गया कि भक्ति से ही कल्याण होगा। निराकार ब्रह्म के ध्यान में जो परेशानियाँ थीं वे सब साकार स्मरण में समाप्त हो गयीं। उसके बाद अब आपने विवेक चूड़ामणि सुनायी तो फिर से ज्ञान की महिमा सामने आने लगी। अब हम संशय में पड़ गये हैं कि ज्ञान ठीक है या भक्ति ठीक है। निराकार उपास्य है या साकार उपास्य है। कुछ समझ में नहीं आता। अद्वैतज्ञान सुनते समय वही ठीक लगता। भक्ति द्वैत सुनते समय वही ठीक लगता है। आप इस संशय को निवृत्त कीजिये। माताओं का नाम तो नहीं बताऊँगा। किन्तु उन्होंने मानो कुछ व्यथा के साथ ये बातें सुनायीं। मैंने कहा—स्वामी प्रेमपुरीजी महाराज के प्रवचनों से पूर्ण निश्चय हुआ था कि नहीं? कि अद्वैततत्त्व ही वास्तविक है। हुआ था। लेकिन फिर द्वैतभक्ति कथा सुनकर वह निश्चय हिल गया कि नहीं? हाँ, हिल गया था। तब तुम्हारा पूर्ण निश्चय कहाँ हो गया था? पूर्ण तो कभी हिलता नहीं। अपूर्ण ही हिलता है। माताओं ने कहा—बात सही है। हमें अधूरा ही ज्ञान और निश्चय हुआ था। मैंने कहा—फिर भक्ति कथा श्रवण से पूर्ण विश्वास हुआ था कि नहीं कि यही कल्याण मार्ग है। माता ने कहा कि अब कैसे हम कहें कि विश्वास पूर्ण हुआ था। क्योंकि आपने पूर्णता का खण्डन किया। मैंने कहा—जो भी हो। वह पूर्ण विश्वास मेरी विवेक चूड़ामणि से फिर हिल गया कि नहीं? हाँ, हिल गया। लेकिन अभी मैं जो विश्वास दिलाऊँ, वह भी आगे जाकर फिर से द्वैतवादी की कथा से नहीं हिलेगा, इसमें क्या ग्यारंटी? दूसरी बात यह है कि ज्ञान पूरा होने पर फिर कोई संशय नहीं रह सकता।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

ऐसा उपनिषद् में कहा है। आत्मदर्शन होने पर सकल संशय क्षय होता है। संशय हो रहा है अतएव अनुमान कर सकते हैं कि तुम्हें प्रथम आत्म ज्ञान नहीं हुआ था। "श्रृण्वन्तोऽपि वहवो यं न विद्युः" यह उक्ति तुम पर ही चरितार्थ हो रही है। वे कहने लगी कि यह बात हम मानते हैं कि हमें आत्म ज्ञान नहीं हुआ था। परंतु महात्मा लोग भी तो भिन्न-भिन्न तरीके से बोलते हैं। कोई भक्ति को श्रेष्ठ कहते हैं, कोई ज्ञान को। कोई द्वैत का प्रतिपादन करते हैं, कोई अद्वैत का। तो हमें किसमें निष्ठा रखनी चाहिये ? मैंने कहा—इसका उत्तर पूर्व से गतार्थ है। मैं कहूँगा अमुक में निष्ठा करो। फिर दूसरा आकर कहेगा—अमुक में निष्ठा करो तो फिर वही हालत नहीं होगी ? उन्होंने कहा—नहीं। अब हम दृढ़ निश्चय करेंगी। मैंने बहा—न कोई मार्ग खराब है और न मत ही खराव है। विवेचक व्यक्ति में दोष होता है। भक्ति भी ठीक है। ज्ञान भी ठीक है। दोनों में कोई विरोध नहीं है। अद्वैत के परमाचार्य आद्यशंकराचार्य ने स्वयं साकार पूजा की, बदरीनारायण मूर्ति की स्थापना की। अनेक देवी देवताओं की स्तुति की। आप चौबीस घण्टे ज्ञान में नहीं पड़े रह सकते। प्रातःकाल स्नानादि कर जप पूजा आदि सभी करो। द्वैत अद्वैत की बात है। यदि परस्पर खण्डन मण्डन हो तो वह अज्ञान का परिणाम है। हमारे सिद्धान्त में व्यवहार में द्वैत है। परमार्थ में अद्वैत है। जो लोग परमार्थ में द्वैत मानते हैं वे परमार्थ का मतलब नहीं समझते। जो लोग व्यवहार में अद्वैत कहते हैं, वे व्यवहार परमार्थ दोनों नहीं जानते। द्वैत में व्यावहारिक सत्ता है। माता ने पूछा—आखिर हम निष्ठा कहाँ रखें ? मैंने कहा—इसके लिये भगवद्वचन ही शरण है।

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥

आप कर्मयोगी हैं या सांख्ययोगी। यह अधिकार की बात है। अधिकारानुरूप अपनी निष्ठा बनाईये। किन्तु इनमें उत्तम निष्ठा कौन है ? पूछा। मैंने कहा—यह भी भगवान ने कहा है—

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढ़स्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते॥

इसके बाद में ही योगारूढ़ का लक्षण भी बताया है। हमारे यहाँ सभी निर्णीतार्थं है। कहीं संशय के लिये अवसर ही नहीं है। कुछ स्वार्थी लोग इसमें भेद डालकर लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं।

निराकार और साकार में भी विवाद नहीं है। निराकार पानी है। साकार वर्फ है। पानी और वर्फ में क्या फरक ? पानी ही जमकर बरफ बनता है। बर्फ पिघल जाती है तो वही पानी बन गया। समुद्र में कहीं कहीं उत्तरध्रुव में पानी भी रहता है, बर्फ भी रहता है। मानस सरोवर के ऊपर कैलास के रास्ते में गौरीकुण्ड है। वहाँ हमने देखा पानी है, ऊपर बर्फ भी तैर रही है। कभी कभी बर्फ से पानी पूरा ही ढ़क जाता है। उपाधि के कारण पानी और बर्फ है। इसी प्रकार निराकार परमात्मा में साकार स्वरूप है। चित्त की एकाग्रता संपादनार्थं भगवान साकार विग्रह धारण करते हैं।

"भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्"

क्यों सुन्दर है ? श्रेष्ठता को लेकर ? नहीं। चित्तस्थिरतारूपी साध्य की दृष्टि से। द्वैत औपाधिक है। उपाधिविगम होने पर अद्वैत ही अवशिष्ट रहता है।

भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग ऐसा दो अवश्य है। और उस ज्ञानमार्ग में एक भक्ति भी आती है। और भक्तिमार्ग में एक ज्ञान

भी आता है। भक्तिमार्गगत ज्ञान भक्ति उपकारक है। ज्ञान मार्ग में आयी हुयी भक्ति ज्ञानोपकारक है। मार्ग में क्या फरक है? भक्तिमार्गी कहता है—"वासुदेवः सर्वमिति"। ज्ञानमार्गी कहता है—"अहं ब्रह्मास्मि"। लेकिन दोनों में अवशिष्ट तो एकमेवाद्वितीय ही रहेगा। दोनों सिद्धान्त से आखिर कटेगा द्वैतभेद ही। केवल शब्द में फर्क है। अर्थ में कोई अन्तर नहीं आता। कीसी ने कहा— ज्ञातमार्ग में अहंकार रहता है। किन्तु वे भूल में हैं। अहं का अर्थ अहंकार नहीं है। किन्तु अहंकारविशिष्ट चेतन वाच्यार्थ है। लक्ष्यार्थ में वही अहंकार छोड़ दिया जाता है। अत एव उक्त आरोप वेदान्त की भागत्याग लक्षणा को न पहचानने का परिणाम है। आत्मा की उपाधिरूप अहंकार मिटा दिया तो वही व्यापकतत्त्व परमात्मा है।

यह एक सामान्य रूप से श्रवण करने पर भी ज्ञान न होने का उदाहरण प्रस्तुत किया। इसी को अब शास्त्रीय पद्धति से भी देखें। सन्तों ने ज्ञान के अनेक प्रतिबन्धक माने हैं—

प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः।
विषयासक्तिकार्पण्ये ज्ञानस्य प्रतिबन्धकाः॥

हमने ऊपर जो माताओं का उदाहरण दिया वह प्रज्ञामान्द्य का ही उदाहरण है। बुद्धि प्रकर्ष भी भगवान की देन कहो या पूर्वजन्मीय पुण्य परिणाम समझो। उसके न होने से वस्तु का वास्तविक स्वरूप ग्रहण नहीं हो पाता। उपनिषद् में बताया है—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रचया बुद्धचा सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

कठोपनिषद् के इस मन्त्र में तीन विशेषण हैं— अग्रचया, सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः। अग्रचया का अर्थ है—प्रतिभा सम्पन्न। बहुत से लोगों की बुद्धि प्रथम प्रवेश नहीं करती। प्रवेश करने पर तो सूक्ष्मतर

ग्रहण करेगी। इसका अर्थ है प्रतिभा नहीं है। प्रतिभा से प्रथम प्रवेश हुआ किन्तु आगे गहराई में जाना यह सूक्ष्मता का काम है। फिर स्वयं द्रष्टा भी सूक्ष्मदर्शन शील होना चाहिये। अर्थात् बुद्धि सूक्ष्म होने पर भी यदि उससे काम लेते नहीं रहेंगे तो फिर वह स्थूल होने लगती है। एक सन्त मुझे बोलने लगे कि जब मैं न्याय शास्त्र पढ़ने लगता था तब बुद्धि इतनी तेज रहती थी कि कठिन से कठिन बातें भी आसानी से समझ में आती थी। परंतु जब से कथा प्रवचन करने लगे यहाँ स्थूल बातें बोलते बोलते बुद्धि भी स्थूल हो गयी। यह प्रज्ञामान्द्य ज्ञान का प्रतिबन्धक है। प्रज्ञा को तीव्र करने के लिये ब्रह्मचर्य एवं ध्यान की आवश्यकता है। कुतर्क द्वितीय प्रतिबन्धक है। कुतर्क की आदत पड़ने पर किसी भी निष्कर्ष पर पहुँचा नहीं जा सकता। पञ्चदशी में बताया है—"तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्" तर्क करना बुरा नहीं, कुतर्क करना बुरा है। अत एव आचार्यों ने भी बताया—

"दुस्तर्कात्सुविरम्यतां श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धीयताम्"

विपर्यय और दुराग्रह दो मान लो, अथवा विपर्यय में दुराग्रह एक हो मान लो, यह भारी दोष है। द्वैतवादियों का द्वैत से इतना अधिक अभिनिवेश होता है कि अनेकविध युक्तियों से द्वैत ही सिद्ध करने का उनका निरन्तर आग्रह रहता है। यह कहें कि अद्वैत-वादियों का अद्वैत में भी तो आग्रह ही कहा जायेगा। नहीं। द्वैत तो ज्ञानी-अज्ञानीसाधारणतया जन्म सिद्ध है। अद्वैत विवेकमात्र सिद्ध है। प्रथम प्रथम अद्वैत सुनते समय अचरज लगता है। तब दृष्ट द्वैत में ही आग्रह होने लगता है। क्योंकि द्वैत में ही भोग होता है। अद्वैत में भोग नहीं होता। तो भोगियों को अद्वैत पसंद नहीं आता। तब द्वैत में आग्रह बढ़ता जाता है। अद्वैत तो विवेक एवं वैराग्य का परिणाम है। अतएव विषयासक्ति की भी परिगणना की। भोग में आसक्ति हो और भोग के लिये गुंजाइश न हो तो

अद्वैत का विरोध स्वाभाविक है। कार्पण्य दीनता को कहते हैं जो धीरता के विरोधी है। "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्" यह हम पहले कह आये हैं। धैर्य के बिना वेदन संभव नहीं है। इन छः प्रतिबन्धकों में यदि एक भी रहा तो 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्' का ही वह उदाहरण होगा। सूक्ष्म से अवलोकन करो कि इन छः प्रतिबन्धकों में मुझ में कौन कौन प्रतिबन्धक है ? एक है दो हैं चार हैं या सभी हैं। पूर्ण निरीक्षण कर एक एक को निकालने का प्रयत्न करो। तभी श्रवण पूर्ण सफल होगा।

इस श्लोक के चार पादों में चार बातें बतायी गयीं। और इन बातों के द्वारा चार मुख्य साधनों को भी सूचित किया। प्रथम—"आश्चर्यवत्पश्यति" में पश्यति का अर्थ है देखना। क्या देखना ? शरीर को या अत्मा को या परमात्मा को ? शरीर को देखना कोई आश्चर्य नहीं है। आत्मा को भी परिच्छिन्नतया देखते हैं, अतः वह भी आश्चर्य नहीं है। आत्मा को व्यापकतया देखना आश्चर्य है। अर्थात् परमात्मदर्शन आश्चर्य है। अतएव 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" यहाँ भी परमात्मदर्शन में ही पर्यवसान सिद्धान्तित किया है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय
निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥

इस मन्त्र में पश्यः पश्यते बताया। देखने वाले के लिये दर्शनीय वही है। इसलिये 'पश्यः पश्यते' कहा। वही परमात्मदर्शन यहाँ प्रथमपाद में अभिप्रेत है। परमात्मदर्शन क्यों आश्चर्यवत् है ? इसलिये कि वह परमात्मा योगमायासमावृत है। "नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः" इस योगमाया की निवृत्ति भगवच्छरणागति से ही संभव है। जो भगवान की शरणागति स्वीकार करता है उस

पर भगवान की कृपा होती है। भगवत्कृपा होने पर ही माया-वरणापसरण संभव है। यही आगे भगवान स्वयं कहेंगे—

"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"

जो मेरी शरण में आता है वही मेरी इस माया को तर सकता है। यद्यपि शरणागति से साक्षात् मायापसरण नहीं होता। फिर भी उसका रास्ता खुल ही जाता है।

ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जायते॥

इस प्रकार महात्माओं ने उसे स्पष्ट किया है। अर्थात् भगवद-नुग्रह से विविदिषा एवं अद्वैतनिष्ठा दृढ़ हो जाती है। और यह अनुग्रह महाभयत्राण अर्थात् मोक्षप्राप्ति पर्यन्त सहयोग करता ही रहेगा। जैसे फल तो बृक्ष ही देगा। परन्तु वृक्ष के नीचे सींचने का पानी अंकुरोत्पत्ति से लेकर फल पर्यन्त सहयोग देता ही रहेगा। फूल से फल होता है। वैसे श्रवणादि से आत्मसाक्षात्कार होता है। किन्तु श्रवणादि भी भगवत्कृपा सहकृत हो तभी सफल होगा। यह "शृण्वन्तोऽपि वहवो यं न विद्युः" में बताया। अतः ईश्वरानुग्रह परमात्मदर्शन में निश्चित रूप से साधन है वही प्रथमपाद में सूचित किया है।

द्वितीयपाद में द्वितीय साधन सूचित किया है। 'आश्चर्यवद् वदति'। को वदति ? गुरुर्वदति। गुरु आश्चर्य रूप से बोलते हैं। कब ? जब उनकी अहैतुकी कृपा होती है। बोलने-चालने में फरक रहता है। एक व्याख्यान श्रोता के बाँचने बराबर का होता है। अर्थात् वाक्य आया वैसा अर्थ करते गये। परन्तु वाक्य सब के सब एक बराबर नहीं होते। कोई वाक्य अतिगहनार्थ होता है। और कोई तो सामान्य होता है। यही तो देववाणी में विशेषता है। कोई वाक्य सूत्र रूप होता है और कोई भाष्यरूप। कोई वृत्तिरूप। गुरुजन व्याख्या करते समय इंगित करते जाते हैं यह मुख्य वाक्य है, गहन

वाक्य है। उदाहरण के लिये—"नानुशोचन्ति पण्डिताः" बताया। वहाँ सामान्यतया सीधा अर्थ यही करते हैं 'पण्डित लोग शोक नहीं करते'। कैसे पण्डित ? कौन पण्डित ? इस प्रश्न का उत्तर शास्त्रों का पण्डित अर्थ बता देंगे। परन्तु गुरु लोग बतायेंगे—"पण्डा विवेचिनी बुद्धिः संजाताऽस्य स पण्डितः"। कैसी वह बुद्धि होगी, उससे युक्त पण्डित कैसा होगा ? उसको समझायेंगे—**"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्"** कर्म में अकर्म दर्शन और अकर्म में कर्म दर्शन ही बुद्धि है। यह ऊपर से अविवेकिनी बुद्धि लगेगी। किन्तु है विवेचिनी बुद्धि। उससे युक्त ही बुद्धिमान अर्थात् पण्डित है। क्या यह पण्डित की व्याख्या है या अन्य किसी बुद्धिमान की ? देखो इससे पूर्व का श्लोक—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥

ज्ञानाग्निदग्ध होने ही से कर्म कर्माभास हो गया, अकर्म हो गया। अतः सभी आरम्भ काम संकल्प वर्जित हुआ। कर्म दग्ध है तो काम क्या ? जले वृक्ष से फल की आशा ! काम माने भोक्तृत्व, संकल्प माने कर्तृत्व। भोक्तृत्व भी न रहा, कर्तृत्व भी न रहा। कर्म भी दग्ध हो गया। तब वह बाहर शकल से ही कर्म है। स्वतः अकर्म है। यह नैष्कर्म्य ही आत्मा का स्वरूप है। वैसा आत्मज्ञान जिसका हो वही पण्डित। दूसरी व्याख्या देखिये—

विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

ये समदर्शी पण्डित हैं। सबमें समरूप से कैसे व्यवहार होगा ? क्या कुत्ते को धुत्कार करके भगाया तो ब्राह्मण को भी धुत्कार कर भगायेंगे ? किसी ने उत्तर दिया—समवर्त्ती नहीं, समदर्शी। परन्तु यह तार्किक उत्तर है। गुरुमुखोत्तर नहीं। दर्शन सम हुआ और

वर्त्तन विषम हुआ तो "मनस्यन्यद् वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यत्" यह लक्षण आपमें नहीं आयेगा ? तब सम की क्या व्याख्या हुई—

"निर्दोषं हि समं ब्रह्म'

यहाँ समदर्शी का अर्थ ब्रह्मदर्शी है। समदर्शन से समवर्त्तन भी होगा। योग्यतानुरूप वर्त्तन समवर्त्तन है। यह रहस्य भी गुरू ही बतायेंगे। तदर्थं गुरुकृपा आवश्यक है गुरुकृपा कब होती है ? जब शिष्य गुरू के प्रति स्निग्ध होता है।

"ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत"

स्निग्धता श्रद्धा शुश्रूषा एवं सेवा से आती है। तभी गुरू आश्चर्यवत् कहेंगे। शिष्य की श्रद्धा एवं सेवा से प्रसन्न होने पर गुरु का व्याख्यान बड़ा विलक्षण होता है।

तृतीयपाद में तृतीय साधन इंगित किया है 'आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति'। केभ्यः शृणोति ? श्रुतिवाक्येभ्यः। श्रवण किसके द्वारा हो ? श्रुतिवाक्यों के द्वारा। श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः" ऐसा स्मृति वचन है। श्रुतियों को सुनो, स्मृतियों के द्वारा उसी को दृढ़ करो। और पुराणादि से विस्तृत करो। फलतः श्रुति स्मृति पुराण इन तीनों का श्रवण अभिप्रेत हैं। शास्त्रों द्वारा ही हम आत्मा का श्रवण कर सकते हैं। परंतु तदर्थं शास्त्रानुग्रह की भी आवश्यकता है। शास्त्रानुग्रह क्या चीज है ? ईश्वरानुग्रह समझ में आता है। आचार्यानुग्रह भी समझ में आ जाता है। शास्त्र कोई चेतन तो नहीं है। उसका अनुग्रह किस प्रकार ? इसका उत्तर सीधे सादे संत यही देते हैं कि शास्त्र भी जड़ नहीं है। इसकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती चेतन है। जिसके बारे में सभी यह स्तुति पढ़ते हैं—

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना।
या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥

शास्त्र या सरस्वती का अनुग्रह उसकी प्रसन्नता है। बाहर और भीतर से प्रसादगुणवत्ता ही कृपा है। कुन्द, इन्दु, तुषार एवं हार के समान आन्तर शरीर धवल है। और बाहर वस्त्र भी धवल है। सृष्टि करने के लिये ब्रह्मा, रक्षा करने लिये विष्णु और संहार के लिये शंकर भी श्रुति सरस्वती का ही अवलम्बन करते हैं। तथा अन्य इन्द्र वरुण, यम कुबेर, आदि भी सर्वाधिकार परिपालन वेद सरस्वती के आधार पर ही करते हैं। इसलिये ये सभी अपौरुषेय वाणी रूपी सरस्वती का वन्दन करते हैं। वह भगवती सरस्वती हम पर अनुग्रह करें तो ही अन्तःस्थ जड़ता की निवृत्ति होगी।

शास्त्रानुग्रह तभी होगा जब हम शास्त्रों का समादर करेंगे। शास्त्रों का अभ्यास करेंगे। विधिवत् अध्ययन एवं अर्थ मनन करना परम आवश्यक है।

"अनभ्यासे विषं विद्या अजीर्णे भोजनं विषम्"

अभ्यास न करने पर शास्त्र इतना अधिक कठोर लगेगा, उसका अर्थ करना कठिन पड़ेगा। जैसे भोजन अजीर्ण होने से विष का काम करता है, वैसे शास्त्र भी अभ्यास के अभाव में दिमाग के लिये केवल दर्द ही होगा। हमें स्मरण है, बचपन में कई श्लोक, चौपाई आदि रटाये गये थे। उस समय तो वह सिरदर्द ही लगता था। क्यों ? अभ्यास नहीं था। परन्तु शास्त्राभ्यास होने पर वे ही श्लोक आज मधुर मधुर लगने लगे। आज उन श्लोकों के बारे में सोचने पर कितना कितना अर्थ निकल आ रहा है।

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्। इस चतुर्थपाद में चतुर्थ साधन सूचित किया है। श्रुत्वापि में अपि से दृष्ट्वापि भी अर्थ किया जाता है। ईश्वरं दृष्ट्वापि गुरूक्तं श्रुत्वापि ईश्वर को देखकर भी और गुरूक्त सुनने पर भी कोई जान नहीं पाता। ईश्वर तो दर्शन दे रहे हैं, गुरु आचार्य बोल रहे हैं। स्वयं सुन रहे हैं। फिर भी नहीं जान

पा रहे तो किसका दोष ? यह अपना ही दोष है। अर्थात् चतुर्थ साधन आत्मानुग्रह है। रामायण की जहाँ कथा होती है वहाँ हनूमान जी भेष बदल कर आते हैं। भगवान् राम भी किसी रूप में आते हैं। जहाँ भागवत की कथा होती है, वहाँ उद्धवजी भेष बदल कर आते हैं और श्रीकृष्ण भी किसी रूप में आ जाते हैं। भेष बदलकर राम और कृष्ण नहीं आते। क्योंकि सभी रूप उन्हीं के हैं—

अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे

अतः रूप बदलने का वहाँ प्रश्न ही नहीं है। जहाँ ब्रह्म कथा होती है, वहाँ तो आने जाने का कोई सवाल नहीं उठता। क्योंकि ब्रह्म तो स्वयमेव अपरोक्ष है—**"यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म"** इस प्रकार श्रुति ने ब्रह्म को नित्यापोक्ष बताया है। ब्रह्म कभी भो कहीं भी ओझल नहीं हो सकता। उसी के प्रकाश में सारा जगत प्रकाशित होता है—

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति

उसका प्रकाश अगर बन्द हो जाय तो पूरा जगत् अन्धकारमय हो जायेगा। इस प्रकार विचार करने पर ईश्वरानुग्रह की कहीं कमी नहीं है। ईश्वर बादल के समान ऊपर से कृपावृष्टि कर रहे हैं। घड़ा औंधा रखा हो तो अलग बात है। आचार्य कृपा की भी कमी नहीं है। बड़े बड़े आचार्य संत निरन्तर आ रहे हैं। कथा श्रवण करा रहे हैं। सत्संग गङ्गा की धारा प्रवाहित हुई है तो यह बन्द नहीं होती। गुरु लोग गुह्य से भी गुह्य बातों को खोल खोलकर रख रहे हैं। ब्रह्मनिष्ठ भी प्रवचन में बोलने लगते हैं तो किसी प्रकार का कसर नहीं रखते। स्वाध्याय में कसर रख सकते हैं। किन्तु प्रवचन में तो कभी भी कसर नहीं रखते। अतः आचार्यानुग्रह की भी कमी सत्संग मंचों पर नहीं होगी। शास्त्रकृपा है, वह भी प्राप्त है। शास्त्र ही का तो विवेचन विश्लेषण चल रहा है। परन्तु फिर भी तत्त्व-

वेदन न हुआ तो कसर किसका ? अपनी कृपा का। स्वयं स्वपर अनुग्रह करो। हम दुनिया पर अनुग्रह करने जाते हैं, किन्तु अपने आप पर अनुग्रह नहीं करते।

बल्कि यह कहा जा सकता है कि आत्मानुग्रह पर अन्य सभी अनुग्रह अन्तर्निविष्ट है। आत्मानुग्रह न हो तो सत्संग में नहीं पहुँचेंगे, आप घर में ही बैठे रहेंगे। तो गुरु क्या कर सकते हैं ? और कभी कभी यह भी देखा है कि माता-पिता श्रद्धा से किसी संत को घर पर बुलावे तो ऐन मौके पर बच्चे घर से ही निकल जाते हैं। तब शास्त्र श्रवण कैसे होगा ? शास्त्रानुग्रह किस प्रकार होगा ? स्वयं आप प्रयत्न नहीं करेंगे तो गुरु भी क्या कर सकते हैं ? आचार्यानुग्रह व्यर्थ जायेगा। आचार्य दया से खूब विश्लेषण करते जा रहे हैं, किन्तु सुनने को ही तैयार न हो तो क्या होगा ? तथा ईश्वरानुग्रह भी तभी होगा, जब आप स्वयमेव उपासना करेंगे, साधना करेंगे। धन दौलत आदि तो भगवान दे सकते हैं। किन्तु शरणागति नहीं देंगे। वह तो स्वयं आप शरण में जायँ तो ही संभव है।

आत्मानुग्रह का अर्थ क्या है ? अपने को प्रथम अविवेक से मुक्त रखना। हर बात का विवेक करो। युक्त-अयुक्त का निर्णय करो। फिर प्रमाद आलस्यादि का परित्याग कर उस कार्य का संपादन करो। इसके लिये सर्व प्रथम आवश्यक है—थोड़ी सी नम्रता। मनमें अहंकार आता है तो अपने आपको सर्वज्ञ समझने लगते हैं। दूसरों को मूर्ख भी समझने लगते हैं। तो हिताहित विवेक कभी भी नहीं हो पाता। अतः प्रथम अहंकार त्यागकर नम्रता सीखो, जिससे दूसरों के वचनों पर श्रद्धा हो—

"युक्तियुक्तमुपादेयं वचनं बालकादपि"

साधारण व्यक्ति भी कुछ बोलता है तो उसे ध्यान से सुनने और समझने की आदत होने पर हर जगह से कुछ न कुछ तत्त्व मिलने लगता है। श्रीमद्भागवत में कहा है

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यः कुशलो नरः।
सर्वतः सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः॥

शास्त्र वचन अणु हो या महान हो, इसे मत देखो। और बोलने वाला अणु है या महान है यह भी मत देखो, उनसे भी शास्त्र सुनो, शास्त्रानुसारी वचन सुनो। और उसमें से सार ग्रहण करो। जैसे भ्रमर है। वह यह नहीं देखता कि पुष्प छोटा है या बड़ा है। सबसे मधु संग्रह करता है। इसी प्रकार ज्ञानवृद्धिकर आत्मानुग्रह किया जा सकता है।

इन्हीं चार अनुग्रहों को चार कृपा के रूप में वर्णन किया है। ईश्वरकृपा, गुरुकृपा, शास्त्रकृपा और आत्मकृपा। आत्मकृपा से स्वयं गुरु की शरण में पहुँचते हैं और गुरुसेवा शुश्रूषा करते हैं तो गुरुकृपा होती है। गुरु प्रसन्न होकर साङ्ग सरहस्य शास्त्र सुनाते हैं–

उपनीय तु यः शिष्यं वेदानध्यापयेद् गुरुः।
साङ्गं च सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

शिष्य का उपनयन कर अर्थात् पास रखकर—उप = समीपे, नयनं प्रापणं ऐसी इसकी व्युत्पत्ति है। पास में रखकर वेदशास्त्राध्ययन करावे वही आचार्य है। इस प्रकार व्याख्यान से शास्त्रकृपा संपन्न होती है। शास्त्र श्रवण मननादि भी उसमें सहयोगी है। फिर गुरूपदिष्ट एवं शास्त्रोक्त मार्ग से ईश्वर शरणागति स्वीकार की जाती है। उससे परमेश्वर कृपा भी संपन्न होती है। तब ये चार कृपायें मिलकर एक महाकृपा का रूप धारण करती है। जैसे गंगा, यमुना और सरस्वती की धारायें मिलकर एक महानदी बनती है। उसी से संरूढ़ महापुण्य से सहकृत होकर श्रौतवाक्य आत्मतत्त्व साक्षात्कार कराते हैं। अतः इन चार साधनों को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। तभी लक्ष्य सिद्ध होता है। परन्तु भगवान कहते हैं कि चार तो क्या एक एक भी आश्चर्यवत् है।

भगवान् अर्जुन को कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! इन चारों कृपाओं को प्राप्त करने का प्रयास करो। मेरी कृपा तुम पर है ही। तभी तो स्वयं सारथि होकर आया हूँ। आगे जगह जगह अपनी कृपा का वर्णन भगवान ने किया ही है—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं।
भक्तोऽसि मे सखा चेति॥

इत्यादि वचनों से स्पष्ट है कि भगवत्कृपा अर्जुन पर विद्यमान थी। अर्जुन को गुरुकृपा भी प्राप्त थी "शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नं" इस प्रकार भगवान को ही अर्जुन ने अपना गुरु बना लिया था। और प्रपन्नं कहकर शरणागति भी अंगीकार की थी। अतः गुरुकृपा भी अर्जुन पर स्वतः प्राप्त हो गयी थी। भगवान का उपदेश ही शास्त्र है। भगवान शास्त्र तो बोलने ही जा रहे थे। गीताशास्त्र से बढ़कर अन्य शास्त्र क्या ढूँढ़ना है। उसे निकट भविष्य में ही भगवान पूरा बतायेंगे। अतः शास्त्रकृपा भी मानो उपस्थित हो गयी है। भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन ! अब तेरे पास एक ही कृपा की कमी है। वह है—आत्मकृपा। तदर्थं युक्तायुक्त विवेक करो। आत्मानात्म विवेक करो।

अर्जुन की अपने आप पर अपने आप की कृपा जहाँ हुई, वहीं चारों कृपायें पूर्ण हो जाती हैं। गीताश्रवणोत्तर वही अवशिष्ट चतुर्थ कृपा को अर्जुन ने **"करिष्ये वचनं तव"** इस शब्द से प्रकट किया। आत्मकृपा होते ही अर्जुन का उद्धार भी हुआ॥ २९॥



देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।। ३० ।।

[हे अर्जुन। सबके शरीर में यह आत्मा सदा अवध्य है। इसलिये किसी भी प्राणी के लिये शोक करना तुम्हारे लिये उचित नहीं है ।।३०।।]

आत्मतत्त्वज्ञानोपदेश जो प्रारम्भ हुआ, उसका यहाँ संक्षिप्त उपसंहार किया जा रहा है, क्यों कि इसके बाद "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" इत्यादि से कर्मोपदेश होने वाला है। फिर भी यह सांख्योपदेश का उपसंहार नहीं माना जायेगा। क्योंकि आगे जाकर "एषा तेऽभिहिता सांख्ये" ऐसा बतायेंगे। उससे अवगत होता है कि अगले श्लोक से कर्मोपदेश होगा वह सांख्य के अन्तर्गत ही है। प्रस्तुत श्लोक में केवल अत्म तत्त्व का जो ज्ञानोपदेश किया था, उसका निष्कर्ष मात्र बताया जा रहा है। अतएव इसका अर्थ समझने के लिये जो भी प्रक्रिया पूर्व में बतायी उसका एक सिंहावलोकन करना आवश्यक होगा।

प्रथमाध्याय में ही यह स्पष्ट हो गया था कि अर्जुन शोकनिमग्न है। यह वहाँ के अन्तिम श्लोक में शब्दतः ही बता दिया गया— "शोकसंविग्नमानसः"। पूरा श्लोक—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ।।

प्रथमाध्यायार्थ को द्वितीयाध्याय के प्रारंभिक श्लोक में कार्य निर्देशपूर्वक अनुवाद किया—"तं तथा कृपयाविष्टं विषीदन्तं" यह पूर्वानुवाद है। उसका कार्य है—अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्। अश्रुपूर्ण से अर्थ निकलता है कि अर्जुन रो रहा था। रोने तक की नौबत

आ गयी थी। अर्थात् अर्जुन अति शोकाकुल था। शोक से कौन रोता है? इतना अति शोकाकुल कौन होता है? जो प्रगल्भ न हो। जो अप्रगभ्भ हो। प्रगल्भता माने प्रौढता। जिसमें प्रौढता नहीं है वह बात-बात पर रोता है। स्त्रियाँ बात-बात पर रोने बैठती हैं, क्योंकि वे प्रगल्भ नहीं होतीं। बालक भी रोते हैं। क्योंकि बालक अप्रगल्भ होते हैं। जो प्रौढ होता है, वह रोता नहीं है। भयंकर आपत्ति में भी धैर्य खोता नहीं। भगवान ने शोक का प्रथम निमित्त रूप इसी अप्रगल्भता को हटाने के लिये अर्जुन को डाँटते हुए कहा था—**"क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ"** यहाँ क्लैब्य का अर्थ प्रायः नपुंसकता करते हैं। परंतु यह एक असांसदिक प्रयोग है। किसी को नपुंसक कहना भारी गाली है। फिर भी अत्यन्त मित्रता में ऐसा प्रयोग भी हो सकता है। अपने तो उतने अर्थ तक जायँ क्यों? क्लीब धातु का अर्थ निर्देश व्याकरण शास्त्र में आचार्यों ने इस प्रकार किया है—**"क्लीबृ अधाष्टर्चे"** क्लीब धातु का आधाष्ट्यं अर्थ है। **"ञिधृषा प्रागल्भ्ये"** इस प्रकार अधाष्ट्य में आये हुए धृष धातु का भी अर्थ बताया है। इसीलिये हमते अप्रगल्भ यह नया शब्द,—नया शब्द तो नहीं है, संस्कृत में प्राचीन शब्द है, हिन्दी में नया जैसा है, प्रयुक्त किया। अर्थात् यहाँ क्लैब्य शब्द का धात्वर्थ निर्देशानुसार अप्रगल्भता अर्थ है। इसी को हटाने के लिये भगवान ने कहा।

यह अप्रगल्भता क्यों होती है? इसमें कारण क्या है? भवगान ने इसे त्यागने के लिये कहा तो लगता है यह कोई स्वभाविक दोष नहीं है। त्यागने योग्य है। इसका उत्तर यही है कि अप्रगल्भता में कारण हृदय की दुर्बलता है। जो प्रथम हमने उदाहरण स्त्री एवं बालक का दिया, वहाँ हृदय की दुर्बलता स्पष्ट है। स्त्रियों का हृदय कोमल अर्थात् दुर्बल होता है। वैसे सभी स्त्रियों की बात नहीं है। कठोर से कठोर स्त्रियाँ भी मिलेंगी। फिर भी प्रायोवाद

कोमलता है। बालकों का हृदय तो कोमल होता ही है। थोड़ी बात के लिये वे भयभीत होते हैं। इसीलिये—

"बालानां रोदनं बलम्"

बताया है। बालकों के पास क्या बल है ? मातापिता से पैसे माँगे, और नहीं दें तो बेचारे छीनकर नहीं ले सकते। तब क्या करते हैं ? रोते हैं। रोना ही उनके पास बल है। इसीप्रकार स्त्रियाँ भी अपनी बात न मानने पर रोती हैं। पुरुष तो बड़े-बड़े कष्टों में भी—आह भरेगा जरूर। किंतु रोयेगा नहीं। रोता है तो उसका पौरुष ही क्या ? अर्जुन को जो शोक हो रहा था उसमें अप्रगल्भता कारण है ही और उसमें भी हृदय की दुर्बलता ही कारण है। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने इसी दुर्बलता को हटाने के लिये तदुत्तर कहा—**"क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप"** हे अर्जुन ! जिस हृदय की दुर्बलता के कारण तुममें यह .अप्रगल्भता एवं शोक आये उसे निकाल। उसे मिटाकर उठ खड़ा हो जा।

यह हृसय की दुर्बलता दो प्रकार से होती है। एक तो स्वाभाविक रूप से होती है। दूसरी नैमित्तिक रूप से। बालकावस्था में हृदयदौर्बल्य एवं अप्रगल्भता स्वाभाविक होते हैं। यह सर्व साधारण है। जैसे बीज में से प्रथम अंकुर आता है। प्रथम वह एरंडका हो चाहे शीशम का हो, कोई फरक नहीं रहता। हाथ से मरोडते ही टूट जायेगा। किन्तु थोड़े दिनों के बाद फरक आ जाता है। शीशम की लकड़ी पक्की हो जाती है तो हाथ से क्या, कुल्हाड़ी से काटना भी मुश्किल हो जाता है। ऐरंड तो कितना ही पुरना हो जाय फिर भी वह हाथ लगा तो टूटेगा। प्रौढ़ावस्था में दुर्बलता भी एक स्वाभाविक हीती है, दूसरी नैमित्तिक होती है। मूंज की घास कितनी भी प्रौढ़ हो फीर भी वह नरम ही रहेगी। टेढ़ी करने से टेढ़ी हो जाती है, टूट जाती है। किंतु लोहे की छड़ ? उसे भी लोग टेढ़ी करते हैं। कैसे ? आग में रखकर। आग में रखने से लाल

लाल हो जाती है। उसके बाद उसे जैसी भी टेढ़ी मेढ़ी करनी हो कर सकते हैं। वह नरम हो जाती है, किन्तु वह नरमाई स्वाभाविक नहीं, नैमित्तिक होती है। जब तक अग्नि संयोग रहेगा तब तक लोहे को छड़ नरम रहेगी। अग्नि शान्त हो गयी तो फिर कड़क की कड़क ही। अर्जुन का हृदयदौर्बल्य स्वाभाविक था।या नैमित्तिक ? यह प्रश्न सामने आया। तो अर्जुन का दौर्बल्य स्वाभाविक नहीं था। यदि स्वाभाविक होता तो किसी भी युद्ध में अर्जुन नहीं उतरता। किन्तु पता नहीं आज तक कितने-कितने युद्धों में अर्जुन उतरा और विजयी हुआ। इसीलिये अर्जुन का नाम ही 'विजय' पड़ा। क्योंकि हर जगह वह विजयी होता था। क्या दुर्बल हृदयवाला हर जगह विजयी होता रहेगा ? क्या हर जगह भाग्य ही भाग्य काम करता रहा होगा ? अर्जुन तो बलवान पुरुषार्थी के रूप में प्रसिद्ध है। न कि भाग्यावलम्बी के रूप में।

इससे यह निश्चित हुआ कि अर्जुन का हृदयदौर्बल्य स्वाभाविक नहीं था। नैमित्तिक था। वह निमित्त क्या था ? किस निमित्त से अर्जुन का हृदयदौर्बल्य हुआ ? नरम हुआ ? इसका उत्तर यहाँ पर भाष्यकार भगवान शंकराचार्य ने दिया कि इसका मूल कारण अर्जुन का मोह ही था। मोह के कारण हृदय दुर्बल हुआ। स्वभावतः नहीं। भगवान भी कहेंगे—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति

हे अर्जुन ! तुम अहंकार से 'नहीं लड़ूँगा' ऐसा मान रहे हो। यह तुम्हारा व्यवसाय मिथ्या है। तुम्हारी प्रकृति-स्वभाव इससे विपरीत है। तुम युद्ध छोड़कर जाने भी लगोगे तो भी कुछ दूर जाकर फिर वापिस लौटोगे और लड़ने लगोगे। इस श्लोक में भगवान की यह एक विलक्षण जैसी बात है—अहंकार से तुम न लड़ने के लिये सोच रहे हो। अहंकार से मनुष्य लड़ेगा कि लड़ाई से भागेगा ?

लड़ाई से भागना तो अहंकार को मटियामेट करना है। तब यह भगवद् उक्ति किस प्रकार संगत होगी ? इसीलिये यहाँ अहंकार का गर्व अर्थ नहीं है। गर्वी भागता नहीं। गर्वी तो अपने में शक्ति न हो तो भी शक्ति प्रदर्शन करने वाला होता है। यहाँ अहंकार का अहंकार ममकार में प्रसिद्ध अहंकार ही अर्थ है। भाष्यकार भगवान शंकराचार्य ने इसी को मोह बताया है। पुत्रमित्रबन्धुवान्धवों में "अहमेतेषां ममैते" इस प्रकार का भाव ही मोह है। अहंकार का अर्थ गर्व भी नहीं, अहंकार का अर्थ अहंकार तत्त्व भी नहीं, जो महत्तत्त्व से उत्पन्न है। किन्तु 'अहमेतेषां' इस प्रकार का जो भाव है यही अहंकार है। अर्थात् पुत्र बन्धु गुरु आदि में परस्पर दो भाव होते हैं। एक है—ये सब मेरे हैं। यह ममकार है। और दूसरा है—इनका मैं हूँ। यह अहंकार है। मेरे पितामह भीष्म, मेरे गुरु द्रोण, मेरा भाई दुर्योधन यह ममकार है। भीष्मपितामह का मैं प्रपौत्र हुँ। द्रोणाचार्य का मैं शिष्य हूँ। दुर्योधन का मैं भाई हूँ। यह अहंकार है। यही—"अहमेतेषां ममैते" इस प्रकार के अहंकार ममकार का अर्थ है। यही मोह है। इसी अहंकार को भगवान श्रीकृष्ण ने "यदहंकारमाश्रित्य" में निर्देश किया। न कि गर्व को। उसी 'यदहंकारमाश्रित्य' श्लोक से स्पष्ट हो गया कि अर्जुन की दुर्बलता नैमित्तिक है—स्वाभाविक नहीं है। इस मोह से अर्जुन के हृदय में दुर्बलता आयी, जिसका परिणाम अप्रगल्भता हुई और अन्त में शोक हुआ।

इस मोह के प्रति कारण क्या है ? यह अब ढूंढना है। यह विचार करो कि 'अहमेतेषां ममैते' यह परस्पर सम्बन्ध आत्मा को लेकर है या शरीर को लेकर ? निश्चित बात है कि आत्मा किसी का पिता नहीं, किसी का पुत्र नहीं। आत्मा किसी का गुरु नहीं, किसी का शिष्य नहीं। आत्मा किसी का भाई नहीं, किसी की बहन नहीं। आत्मा तो अनादि अनन्त है। यदि आत्मा पिता हो, तो

मरकर फिर उसी बेटे का बेटा बना तो वह कैसे संभव होगा ? क्या इस जन्म का पिता हर जन्म में पिता ही रहेगा ? अतः पिता पुत्रादि सभी धर्म शरीरगत है, आत्मगत नहीं। यदि शरीर गत धर्म है तब मेरे पिता मेरा पुत्र इत्यादि क्यों बोलते हैं ? मेरे शरीर का पिता, मेरे शरीर का पुत्र ऐसा क्यों नहीं कहते ? और कहना चाहिये कि मेरा यह शरीर अमुक का बेटा है, भाई है इत्यादि। किन्तु ऐसा कोई नहीं कहता। इसका एक मात्र उत्तर यही है कि इस अहं मम रूपी मोह का कारण शरीरात्मतादात्म्याध्यास है। यहाँ से दार्शनिक शब्द का प्रयोग शुरू हो गया। शरीर और आत्मा को एक समझा। दोनों का परस्पर तादात्म्य किया। इसलिये मेरे शरीर का पुत्र आदि न कहकर मेरा ही पुत्र इत्यादि कहने लगे। इसी को भ्रान्ति प्रत्यय कहते हैं। इसी को मिथ्याज्ञान भी कहते हैं। वैसे तो मोहादि भी भ्रान्तिरूप ही है। तथापि मूल भ्रान्ति प्रत्यय शरीरात्मतादात्म्याध्यास है। शरीर से शरीर इन्द्रिय मन बुद्धि आदि सभी लिये जाते हैं। उसमें भी पूर्वापर भाव एवं कार्य कारण भाव है। किन्तु उतनी दूर तक हमें जाने की आवश्यकता नहीं है। हमें यहाँ सिर्फ इतना ही समझना है कि आत्मानात्मतादात्म्याध्यास अहंकार ममकार रूप मोह का मूल कारण है। उससे अहंकार ममकार उससे फिर हृदयदौर्बल्य तथा अप्रागल्भ्य हुआ। परिणामतः शोक हुआ।

अब आगे बढ़ो। इस भ्रान्ति प्रत्यय का मूल क्या है ? मिथ्याज्ञान का कारण क्या है ? यह देखना है। मिथ्याज्ञान का मूल कारण अज्ञान है, अविद्या है। अविद्या का अर्थ है—आत्मस्वरूप को न पहचानना। इस प्रकार हम मूल जड़ पर पहुँचे। आत्मा नित्य शुद्ध बुद्ध अखण्ड एकरस है, ऐसा ज्ञान होता तो शरीरादि के साथ एकता न करते। शरीर अनित्य है। आत्मा नित्य है। शरीर अशुचि है। आत्मा शुद्ध है। शरीर जड़ है। आत्मा बुद्ध अर्थात्

मुझे अपने इस शोक को जो कि सारी इन्द्रियों को सुखा रहा है, दूर करने का कोई उपाय नहीं सूझ रहा है। अतः

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।

जिससे मेरा श्रेय हो उसे निश्चित रूप से मुझे बतावो, मैं आपका शिष्य हूँ, मुझे ठीक-ठीक रास्ता बताओ। सारांश यही कि सर्वप्राणी को अभीप्सित है दुःख निवृत्ति।

गौतम ऋषि आगे कहते हैं कि इस दुःख का कारण क्या है इस पर भी विचार करो। दूःख का कारण है जन्म। जन्म मिला तो दुःख भी निश्चित होगा। पूरे जन्म में ढूंढ़ लो तो सुख नाम मात्र का होगा। दुःख की मात्रा तो इतनी अधिक होगी कि कई गुना। उसमें भी जो सुख मिलता है वह भी दुःख का बीज बोकर ही जायेगा। डनलोप का गद्दा मिला। उस पर सोये तो प्रथम-प्रथम बड़ा आनन्द आया। किन्तु उसने दुःख का बीज भी बोया। अब दूसरी जगह कहीं पहुँचे और वहां डनलोप का गद्दा नहीं मिला तो नींद का आना दूर, रात भर में सारा शरीर भी दर्द करता रहेगा। तो डनलोप ने सुख देकर क्या किया? दुःख का बीज ही तो बोया। यह एक डनलोप की ही बात नहीं। समस्त सुख सामग्रियों में यह सामान्य नियम है। अतः जन्म तो दुःखमय ही है। जन्म को मिटाये बिना दुःख निवृत्ति नहीं हो सकती। वह जन्म किस प्रकार हुआ? उसका कारण क्या है यह अब देखो। महर्षि गौतम कहते हैं कि जन्म का मूल कारण है—प्रवृत्ति। कभी पुण्य में प्रवृत्ति होती है, कभी पाप में प्रवृत्ति होती है। कभी मिश्र प्रवृत्ति होती है। पुण्य प्रवृत्ति हुई जिससे अच्छे घर में जन्म हुआ। सुख सुविधा प्राप्त हुई। पाप प्रवृत्ति हुई, जिससे जीवन कष्टमय बीता। यह केवल मनुष्य की ही बात नहीं। पशु पक्षी आदि में भी यही नियम है।

एक कुत्ता फ्लेटो में रह रहा है, सेवा के लिये दो-दो नौकर तैयार हैं। नहलाने धुलाने घुमाने के लिये। बल्कि आदमी तो अपने आप नहाता होगा। कुत्ता नहाने के लिये भी नौकर माँगता है। दूसरा कुत्ता है, जो रास्ते में ठोकर खाता फिर रहा है। लोग उस पर पत्थर फेंक रहे हैं। अस्तु। तात्पर्य यह कि प्राणी मात्र का जन्म पुण्य-पाप प्रवृत्ति से होता है। अब आगे विचारणीय है कि यह प्रवृत्ति भी आखिर क्यों हुई? इसका मूलकारण क्या है? महर्षि गौतम ने कहा—प्रवृत्ति का कारण है—दोष। दोष किसको कहते हैं? इसका विवरण भाष्यकार ने दिया। भाष्यकार माने न्यायसूत्र भाष्यकार वात्स्यायन ऋषि। **"राग-द्वेष-मोहा दोषाः"** राग द्वेष एवं मोह ये तीन दोष हैं। इनसे प्रवृत्ति होती है। किससे क्या प्रवृत्ति होती है? इसका उत्तर किसी ने दिया—राग से पुण्य करते हैं, द्वेष से पाप करते हैं। मोह से मिश्र कर्म करते हैं। नहीं। ऐसा कोई नियम नहीं है। राग से भी पुण्य-पाप दोनों करते हैं। द्वेष से भी पुण्य-पाप दोनों करते हैं। मोह से भी पुण्य-पाप दोनों करते हैं। राग से पुण्य करते हैं यह प्रसिद्ध ही है। अच्छा जन्म मिले; धन मिले, स्वास्थ्य मिले इस राग से पूजा पाठ दान पुण्यादि लोग करते हैं। लेकिन चोर चोरी क्यों करता है? धन राग से ही। काला-बाजार भी क्यों करते हैं? मांसाहारी जीव हत्या क्यों करता है? ये सब पाप है कि पुण्य? अर्थात् यह सिद्ध हुआ कि राग से पाप भी करते हैं। फलतः पुण्य एवं पाप दोनों ही राग से होते हैं। वैसे द्वेष से भी है। द्वेष से परपीड़न, परहिंसा आदि पाप में प्रवृत्ति प्रसिद्ध है। किन्तु कहीं-कहीं द्वेष से पुण्य भी होता है। किरातार्जुनीय नाम का एक विख्यात काव्यग्रंथ है। उसमें महाकवि भारवि कहते हैं—

"वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः"

दुर्योधन और युधिष्ठिर का प्रसङ्ग है। बारह साल के लिये बनवास और एक साल के लिये अज्ञात वास पाण्डवों को दिया था। परन्तु

इस बीच में दुर्योधन ने सोचा कि उसके बाद में क्या होगा ? युधिष्ठिर आयेंगे तो उनको राज्य देना पड़ेगा। किन्तु कब ? प्रजा का समर्थन उनको मिलेगा तब। पहले समय में राजा होते थे। किन्तु प्रजातन्त्रीय राजा। प्रजा जिसका समर्थन करे वह राजा होता था। अतः दुर्योधन ने प्रजापालन इस ढंग से शुरू किया कि बारह साल में सब एक स्वर से यही कहें कि हमारा राजा दुर्योधन ही रहेगा। भारविजी कहते हैं कि इससे यही सिद्ध होता है कि मित्रता करो तो महापुरुषों से करो और शत्रुता भी करो तो महापुरुषों से ही करो। कम से कम यह कोशिश तो होगी कि हम उससे भी अधिक भले बने, उत्कृष्ट हों। इसका अर्थ यह न समझना, फिर महात्माओं से द्वेष ही किया करो। अपने आचरणों को सुधारने की दृष्टि से कहा जा रहा है। दुर्योधन का व्यवहार कैसा हो गया था ?

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः
समानमानान् सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः
कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥

दुर्योधन अपने सेवक नौकर चाकरों के प्रति ऐसा व्यावहार करने लगा कि उनको लगने लगा ये हमारे मित्र हैं। मित्र के समान बरताव कर रहे हैं। तब मित्रों को रोष नहीं होगा ? नौकरों को हमारा जितना सम्मान दिया जा रहा है, हममें और नौकरों में अब क्या अन्तर रह गया ? नहीं। मित्रों से अपने भाई-बन्धु के समान व्यवहार करने लगा। क्या तब भाई बन्धुओं में क्षोभ नहीं हो गया होगा ? बाहर के मित्रों को भीतर के बन्धुओं के समान ये मानने लगे। नहीं। बन्धुओं को तो कहते थे—तुम्हीं मालिक हो, राजा हो। मैं तो निमित्त मात्र राजगद्दी पर बैठा हूँ। इतनी सब उदारता दुर्योधन में कहाँ से कैसे आयी ? युधिष्ठिर के साथ द्वेष करने से।

अतः द्वेष से भी पाप ही होता हो ऐसी बात नहीं, द्वेष से भी पुण्य होता है। अस्तु। जैसा भी हो, रागद्वेष मोह ये तीनों पुण्य पाप रूपी प्रवृत्ति के कारण हैं।

पूछा, इन दोषों का मूल कारण क्या है? महर्षि ने उत्तर दिया—मिथ्या ज्ञान। मिथ्या ज्ञान वही जो अनात्मा शरीरादि को आत्मा समझना। एवं अशुचि आदि को शुचि समझना। यही मिथ्या ज्ञान है। उस मिथ्या ज्ञान की निवृत्ति तत्त्व ज्ञान से होगी मिथ्या ज्ञान निवृत्ति से रागद्वेषादि दोष नहीं होंगे। राग द्वेषादि नहीं होंगे तो फिर पुण्य पाप प्रवृत्ति नहीं होगी। पुण्य पाप नहीं रहेंगे तो जन्म नहीं होगा। जन्माभावाद् दुःखाभावः—जन्माभाव से अत्यन्तिक दुःख निवृत्ति होगी। पूछा कि यह क्रम तो आप ने बड़ा सुन्दर बताया। किन्तु दोषाभाव से अग्रिम प्रवृत्ति नहीं होगी। पूर्वकृत पुण्य पाप रूपी प्रवृत्ति संचित है उसके लिये क्या होगा? उत्तर दिया—पूर्व संचित पुण्य पाप तो ज्ञान से ही दग्ध हो जायेंगे। और वर्त्तमान पुण्य पाप तो रागभावादेव संश्लिष्ट नहीं होगा।

"वीतरागजन्मादर्शनात्"

वीतराग पुरुष का इसीलिये जन्म नहीं होता। तब दुःख भी नहीं होगा। इस प्रकार महर्षि गौतम ने भी दुःख शोकादि के मूल कारण रूप में मिथ्याज्ञान को ही प्रकारान्तरेण बताया। सर्वथापि दुःख का मूल कारण निथ्याज्ञान या अज्ञान ही है। अज्ञान को दूर करने के लिये आत्मज्ञान चाहिये। आत्मज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति होती है। उसी से फिर दोषनिवृत्तिक्रम से आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति होगी। अत एव प्रथम सूत्र में "तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" इस प्रकार तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष की प्राप्ति बतायी।

गीता में उक्त क्रम से सोच लो, चाहे न्यायशास्त्रोक्त क्रम से। अर्थात् शोक कारण क्लैव्य, उसका कारण हृदयदौर्बल्य, उसमें हेतु अहंमम मोह, उनका कारण भ्रान्तिज्ञान और मूल निदान अविद्या,

अथवा दुःख का कारण जन्म, जन्म कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति कारण दोष, दोष का कारण मिथ्याज्ञान और उसका निदान अज्ञान। बात एक ही है। प्रक्रिया अलग अलग भले हो। मतलब एक ही है। मूल तो अविद्या-अज्ञान ही है। उसकी निवृत्ति तत्त्वज्ञान से ही होगी। अतएव भगवान ने तत्त्वज्ञानोपदेश प्रारंभ किया। अंधकार की निवृत्ति प्रकाश से ही होगी। ऋषिकेश से आगे पंद्रह बीस मील दूर एक गुफा है। उसका नाम वसिष्ठ गुफा है। मैं वहाँ गया हुआ था, उसमें अंधेरा भरा था। महात्मा वहाँ बैठे थे। उनका जप, तप, संध्या, पूजा पाठादि चल रहे थे। किन्तु अंधेरा ज्यों के त्यों था। उस अंधेरे को किससे भगायेंगे? माचीस जलाने से या टार्च से। वैसे आत्मा का अज्ञान भी जपतपादि से नहीं। आत्मज्ञान से ही निवृत्त होगा। कर्म उपासनादि का फल चित्त शुद्धि है। गुफा के अंदर का अंधकार तो लालटेन जलाने से दूर होता है। किन्तु लालटेन के बाहर का काँच तो रोज साफ करना पड़ता था। हवा के प्रतिरोध की भी जरूरत थी। वैसी ही बात यहाँ भी है। पिषयों की हवा लगने पर बत्ती बुझ जाती है। काँच मैला हो तो जलाने पर भी प्रकाश पूरा नहीं होता। अतः इसी अंश में कर्म और उपासना का उपयोग है। बत्ती जलाते हुए भी फानस का काँच साफ रखना पड़ता है। अतएव सांख्य के अन्तर्गत आगे कर्म बतायेंगे। अग्रिम श्लोक से सांख्यान्तर्गत कर्म का वर्णन होगा।

बत्ती को तैयार करके तेल डालो, फिर दियासलाइ जलाओ तो प्रकाश होगा। उससे अंधेरा दूर होगा। इसी प्रकार हृदय प्रकाशित करने के लिये प्रथम बत्ती तैयार करो। जप तप आदि करो। स्वधर्म करते जाओ। शास्त्र श्रवण रूपी तेल भरो। मनन निदिध्यासन करो। फिर उसके बाद में दियासलाई का काम तत्त्वमसि महावाक्य करेगा। एतदर्थ ही चार कृपाओं का वर्णन पूर्व श्लोक में किया। बत्ती के जलते ही अन्धकार तुरत दूर होगा।

तत्त्वज्ञान होते ही अज्ञान मिथ्याज्ञानादि दूर होंगे। भगवान ने यही निदान देखा। ऊपर कीं मलहम पट्टी से काम चलने वाला नहीं, यही समझकर 'अशोच्यानन्वशोचः' से देही नित्यमवध्योऽयं तक तत्त्वज्ञानोपदेश किया।

देही नित्यमवध्योयम्। हे अर्जुन, यह देही अर्थात् देहवाला आत्मा नित्य ही अवध्य है, जिसका वध होने की आशंका तुमने की। उसे तुम पूर्वोपदिष्ट मार्ग से सम्यक् पहचानो। और आत्मवध चिन्ताप्रयुक्त शोक को मिटावो। देही माने देहवाला। जैसे धनी माने धन वाला। गृही माने गृह वाला। धनी-धन वाला, वह धन हो नहीं है। गृही गृह वाला, वह गृह ही नहीं है। वह धन से पृथक और गृह से पृथक होता है। देही भी देह से पृथक ही समझना चाहिये। देही का अर्थ देह का मालिक भी कर लो तो भी वह देह से पृथक ही होगा। धन का मालिक स्वयं धनरूप नहीं होता सांख्य-कारिका में बताया है—

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥

यह शरीर संघातरूप है। हस्तपादादि समुदाय रूप है। जो समुदाय होता है वह निश्चित ही परार्थ होगा। गृह तो ईंट, सीमेंट, लोहा का समुदायरूप है, पानी, बत्ती, कुर्सी, पलंग आदि समुदायरूप है। वह परार्थ है, निजार्थ नहीं। देह परार्थ है तो देह से पर कोई होगा वही आत्मा है। वह देह से पर है। देह रूप ही नहीं। अतएव देही कहलाता है। वह नित्य अवध्यस्वरूप है। शरीरनाश के समय तो वध्य नहीं ही, प्रलयकाल में भी अवध्य है, अविनाशी है। प्रलय का भी वह साक्षी है। अगर प्रलय को कोई देखने वाला न होता तो प्रलय है, हुआ करके कौन देखेगा और बोलेगा। आत्मा स्वप्रकाश है, प्रलय सुषुप्त्यादि सकल साक्षी होने से सर्वदा अवध्य है। उस नित्य अवध्य आत्मा का हे अर्जुन तुम क्या वध करोगे।

देहे सर्वस्य भारत। सबके देह में वही एक देही है। देह भिन्न-भिन्न है। किन्तु वह देही एक ही है। देह एवं अन्तःकरण उपाधि भेद से प्रति देह भिन्न सा लगता है। किन्तु वह वस्तुतः एक ही है, अलग-अलग नहीं। निरुपाधिक दृष्टि से वही प्रलय का द्रष्टा है। सोपाधिक रूप से वही सुषुप्ति साक्षी है। 'सर्वे देहिनः नित्यमवध्याः' ऐसा न कहकर सर्वस्य देहे देही कहने से आत्मा की एकता सूचित होती है।

तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि। नानुशोचन्ति पण्डिताः इस उपक्रान्त शोकत्याग का यह एक लघूपसंहार है। यहाँ परमोपसंहार तो गीता के अन्त में "मोक्षयिष्यामि मा शुचः" इस प्रकार होगा। यह प्रकृत आत्मतत्त्व ज्ञानोपदेश का उपसंहार है। सभी प्राणियों के प्रति शोकरहित होकर रहना चाहिये अर्थात् किसी भी प्राणी को लेकर शोक करना योग्य नहीं है ॥ ३० ॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

[और अपना स्वधर्म समझकर भी विचलित नहीं होना चाहिये। क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर क्षत्रिय के लिये श्रेयस्कर अन्य नहीं है ॥३१॥]

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं से लेकर बीस श्लोकों में भगवान ने आत्मतत्त्वज्ञान का उपदेश किया, उसके अंदर अर्जुन की मान्यता को लेकर "अथचैनं नित्यजातं" इत्यादि से समझाने का प्रयास किया। फिर भी अर्जुन के चेहरे पर रौनक नहीं आयी। आत्मतत्त्व तो समझ में आ रहा था। किन्तु युद्ध समझ में नहीं आ रहा था। पिता पितामहादि के साथ युद्ध करना, युद्ध में उनका बध करना आदि कुछ कार्य ऐसे दीख रहे थे कि उसके सामने आत्म तत्त्वोपदेश फीका पड़ रहा था। अत एव यह अंदाज लगाना भी कठिन नहीं था कि अर्जुन आत्मतत्त्व को भी ठीक समझ नहीं पा रहा था। अर्जुन सिर हिला रहा था, आत्मतत्त्व समझ में आने का स्वांग भी रच रहा था। परंतु आत्मतत्त्व समझ में आता तो युद्ध भी समझ में आ जाता। परंतु समस्या कुछ जटिल हो रही थी। समस्या यह है कि आत्मतत्त्व समझ में तब आयेगा जब स्वयं अधिकारी हो। अधिकारी तब होगा जब मलविक्षेपादि दोष दूर हों। मलविक्षेपादि तभी दूर होंगे जब स्वधर्म कर्मनिष्ठता होती है। परंतु स्वधर्म यहाँ युद्ध होने से उसके लिये प्रथम आत्मतत्त्व का ज्ञान होना आवश्यक है। अन्यथा शोक मोह ग्रस्त होने के कारण युद्ध में प्रवृति ही नहीं होगी। यह अन्योन्याश्रय या चक्रक दोष माना जाता है। अन्योन्याश्रय उसको

कहते हैं कि एक पर दूसरा आधारित हो। जैसे एक नाव को दूसरी नाव से बाँध दिया। वहाँ दोनों नावें नहीं ठहर सकतीं।

"नौर्नावि बद्धा नेतरत्र त्राणाय"

एक नाव को किनारे के वृक्ष पर बांधो, दूसरी नाव को पहली नाव पर बांधो तो काम चलेगा, किन्तु पहली नाव दूसरी नाव पर और दूसरी नाव पहली नाव पर बांधो तो कैसे काम चलेगा ? वैसे आत्म तत्त्व ज्ञान होने पर शोक निवृति पूर्वक युद्ध प्रवृत्ति होगी। और युद्ध प्रवृत्ति होने पर अन्तःकरण शुद्धि पूर्वक आत्म तत्त्वज्ञान होगा। तब कौन प्रथम कारण हो कौन बाद में हो। यह अन्योन्याश्रय दोष हुआ। गाड़ी को स्टार्ट कहाँ से करे ? भगवान ने सोचा कि यह असंदिग्ध बात है कि अन्त:करण की शुद्धि के बिना आत्म तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। और अन्त:करण शुद्धि कर्म के बिना संभव नहीं। अतः कर्म को ही जैसे तैसे शुरू करवाना होगा। अतः अब पैंतरा बदलकर—या शैली बदलकर यहाँ से कर्मोपदेश शुरू कर रहे हैं।

परंतु यह प्रश्न एक रह जायेगा कि यदि जैसे तैसे कर्म प्रारंभ करवाना ही लक्ष्य है तो प्रथम आत्मोपदेश किया ही क्यों ? पहले कर्मोपदेश से ही प्रारंभ करना चाहिये था। क्या भगवान भी परीक्षण कर रहे हैं ? कि प्रथम आत्मोपदेश करके देखें, शायद तीर लग जाय। फिर उसमें विफल भी होना कैसी विडंबना ? क्या भगवान को यह पूरा पता नहीं था ? कि कर्म के बिना आत्मोपदेश सफल नहीं होगा। उत्तर यह है कि यहाँ की परिस्थिति कुछ विलक्षण है। बात ऐसी नहीं हैं कि अर्जुन आज कर्म करना प्रारंभ करे और अन्त:करण शुद्ध हो जाय फिर आत्मोपदेश करे। अर्जुन ने जीवन भर सत्कर्म ही किया और उससे अर्जुन का चित्त भी शुद्ध ही था। किंतु फिर भी कर्त्तव्यरूप में कर्म के आने पर उसे न करे तो तुरत मन अशुद्ध होगा। अत एव—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"

इस प्रकार शत संवत्सर पर्यन्त कर्म करते ही रहने की आज्ञा मन्त्र ने दी। आत्मज्ञान होने से पूर्व कर्म से अन्तःकरण शुद्ध होने पर भी पुनः कर्त्तव्य उपस्थित होने पर अकरण से पुनः अशुद्धि हो जाती है। भगवान स्वयमेव आगे बतायेंगे भी

"मा शुचः संपदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव"

हे अर्जुन ! शोक मत कर। तू दैवी सम्पत्तिसम्पन्न हो, शुद्धान्तःकरण हो। प्रकृत में स्थिति यह है कि उपस्थित कर्त्तव्य युद्ध बड़ा विलक्षण है। उसे न करने का संकल्प करने पर चित्त अशुद्ध हो रहा है। अत एव अर्जुन आत्मज्ञान के योग्य होने पर भी उसे आत्मोपदेश समझ में नहीं आ रहा है। बिलकुल समझ में नहीं आ रहा हो, ऐसी बात भी नहीं है। क्योंकि अभी तक के सत्कर्म—कलापों से अर्जुन का मन काफी शुद्ध है। अतः यहाँ वर्त्तमान में केवल अकरण संकल्पमात्र को हटाना है जो अशुद्धि करण हो गया है। उस संकल्प के हटते ही पूर्वकृत आत्मोपदेश काम करने लगेगा और शोक निवृत्त होगा। इतने पर निःसंकोच कर्त्तव्य कर्म अर्जुन करने लग जायेगा। जिससे अर्जुन का चित्त उत्तरकाल पर्यन्त शुद्ध होने के साथ आत्मतत्त्व साक्षात्कार भी संपन्न होगा। अतः अकरण संकल्प को मिटाने के लिये ही–अकरण संकल्प रूपी बिकम्पन को भगवान प्रस्तुत श्लोक से दूर कर रहे हैं—**स्वधर्ममपि चावेक्ष्य**। हे अर्जुन ! अपना स्वधर्म समझकर भी इस घोर युद्ध के लिये विचलित होना ठीक नहीं। यह युद्ध नहीं करूँगा ऐसा संकल्प छोड़ दे। युद्ध को अपना श्रेय समझ। धर्मयुक्त युद्ध से अधिक श्रेयस्कर कार्य क्षत्रिय के लिये अन्य कोई नहीं।

पूर्व उपक्रान्त सांख्योपदेश का मूल कठोपनिषद् है ऐसा हम पहले कह आये। उसी उपनिषद् में यमराज ने नचिकेता के प्रति कुछ विशेष चेतावनियाँ दी हैं।

"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" ।।

जो दुश्चरितोपरत नहीं, जो शान्त नहीं, जो समाहित नहीं और जो शान्तमानस नहीं वह प्रज्ञान से इस आत्मा को नहीं पा सकता। प्रज्ञान से नहीं पा सकता तो अन्य किसी उपाय से पा सकेगा? किस लिये यह विशेषण है? विशेषण नहीं है। अर्थ यह है कि प्रज्ञान होने पर भी दुश्चरितोपरति आदि न होने से आत्म प्राप्ति नहीं कर सकते ऐसा अर्थ है। किन्तु दुश्चरितोपरति आदि न हो तो प्रज्ञान ही किस प्रकार? उत्तर है जैसे अर्जुन को प्रथम बीस श्लोकों के उपदेश से हुआ। अर्थात् यमराज भी यह मानते हैं कि दुश्चरितोपरामादि के न होने पर भी उपदेश मात्र से प्रज्ञान होता ही है। भले ही साक्षात्कार न हो। अत एव अर्जुन के प्रति प्रथम सांख्य-तत्त्वोपदेश संगत है। परन्तु वह उपदेश साक्षात्कारपर्यवसायी तभी होगा अर्थात् आत्मप्राप्ति परिणामी तभी होगा जब दुश्चरितो-परामादि होगा।

यहाँ दुश्चरित का अर्थ अनाचार व्यभिचारादि लोक प्रसिद्ध दुश्चरित अर्थ नहीं है। क्योंकि ऐसे दुश्चरित्र को तो प्रथम प्रज्ञान ही नहीं हो सकता। तब प्रज्ञान से आत्मा की प्राप्ति या अप्राप्ति का सवाल ही पैदा नहीं होता। दुश्चरित का अर्थ है—दुर्गतं चरितम् दुश्चरितम्। चरित दुर्गतिग्रस्त हो वही दुश्चरित है। जैसे प्रकृत में अर्जुन का चरित दुर्गतिग्रस्त हो गया है। अर्जुन की कर्त्तव्यनिष्ठा दुर्गतिग्रस्त हो गयी है। हर हमेशा अपना कर्त्तव्य सत्संकल्पों के द्वारा सम्यक् निष्पादित करना चाहिये। उससे क्या होगा? अन्तःकरण निर्मल होगा। अन्यथा अन्तःकरण मलावृत होगा और उत्तरोत्तर घनावरणयुक्त होगा। मल क्या है? कपड़े का मल समझ में आता है। हृदय का मल क्या है? क्या ऐसा कोई मल प्रत्यक्ष या अनुमेय अनुभव में आता

है ? जो धोने से मिकल सकता है। मल है पूर्वकृत पाप संचय प्रयुक्त कुण्ठा। उसके लिये सत्कर्म करना पड़ेगा। सत्कर्म से इन पापों का क्षय होता है। तब तत्प्रयुक्त कुण्ठा नहीं रहेगी। उस कुण्ठा के रहने पर **"श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्"** जो पहले बताया वही बात होगी। यहाँ तक कि पाप उग्र होने पर अर्थज्ञान तो क्या, शब्दोच्चारण भी नहीं हो पायेगा। जैसे वाल्मीकि के पूर्व चरित्र में आता है। उनके मुख से राम नाम भी नहीं निकल रहा था। तभी तो सनकाकि को (या नारदजी को) मरा मरा ऐसा नाम रटाना पड़ा था। सत्कर्म से हो या रामनाम से हो उस पाप को नष्ट करना है।

एक पूर्वपक्ष यहाँ उठता है कि सत्कर्म करने मात्र से अनादिकाल संचित अनंत कोटि पापों का नाश कैसे होगा ? एक जन्म क्या, अनन्त जन्म तक भी कर्म करते रहेंगे तो भी अनादि संचित अनन्त पापों का विनाश नहीं हो सकता। फिर जन्म भर पुण्य ही पुण्य होता रहे ऐसा भी नहीं हो सकता। पुण्यों के साथ भी जानकारी में या अनजान में पाप होते ही रहते हैं। अतः कर्म के द्वारा पाप क्षय की बात तो सर्वथा वृथा है। इसका उत्तर सुनिये। यद्यपि पाप अनन्त हैं। परन्तु ये पाप जमीन में पड़े हुए बीज के समान हैं। इनमें अंकुर नहीं निकला है। और न अभी अभी निकलने वाला भी है। संचित पापों से अंकुर निकलने में समय सापेक्षता है। जैसे जंगल के मार्ग में जाते हैं तो जमीन में काँटे के बीज असंख्य पड़े हैं। परन्तु उनसे पाँव नहीं कटता। जो बीज अंकुरित होकर काँटे के पेड़ के रूप में परिणत हो गया है, उससे पाँव कटेगा। इसलिये अंकुरित काँटे को काटकर निकाल देना ही वर्त्तमान में आगे बढ़ने के लिये पर्याप्त है। इसी प्रकार जो पाप अंकुरित होकर हमारे सामने आया है उसी को खतम करना है। संचित पापों के लिये उपाय नहीं है। उनको वैसे ही पड़े रहने दीजिये। यदि हमें जंगल के रास्ते से चलना हो तो एक एक काँटे के बीज को खोद खोदकर

निकालना आवश्यक नहीं है और न संभव ही है। सामने आये हुए काँटे को काट डालो। पूरे जंगल को जला डालोगे तो भी दूसरे साल फिर जंगल ज्यों का त्यों होगा। क्योंकि संचित कण्टक बीज अनन्त है। उनको खोद फेंकना अशक्य है। जंगली लोग जंगलों में कई बार आग लगाते हैं, तो क्या जंगल खतम हो जाता है। हाँ, जाने का रास्ता उनका बन जाता है। चलने के लिये रास्ता निष्कण्टक होना चाहिये। निर्बीज करने की आवश्यकता नहीं। सत्कर्म करो तो संचितकर्म बीज नष्ट नहीं होंगे। किन्तु वर्त्तमान में अंकुरित कंटक निकल जायेंगे। बीजों को नष्ट करना तो केवल ज्ञानाग्नि का ही काम है।

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा"

ज्ञान होने के बाद ही सर्वकर्म नाश होगा। अन्यथा सत्कर्म से ही कर्म नष्ट होते तो ज्ञान की आवश्यकता ही क्यों पड़ती।

प्रश्न हुआ कि कितना सत्कर्म करने से कितना पाप नष्ट होगा। यह तो जानने में आना चाहिये। जिंदगी भर कर्म करेंगे तो पाप नष्ट होगा तो पाप नष्ट होते होते जिंदगी खतम होगी। फिर सुनेंगे कब? क्या दूसरे जन्म में? दूसरे जन्म में तो दूसरे संचित कर्म उभरकर अंकुरित होकर सामने आ जायेंगे। तदर्थ दूसरे जन्म भर भी कर्म करो। तब तक दूसरा जन्म भी पूरा हो गया। फिर तीसरे जन्म की प्रतिक्षा करो यह कौन सा तमाशा है। यह अनवस्था दोष है। यदि कहते हैं कि आधे जन्म तक कर्म करने से पाप नष्ट हो जायेंगे तो फिर श्रवण शुरू करो। तब कर्म करने की क्या जरूरत है? अर्जुन आधे जन्म से अधिक कर्म कर चुका था तो अब कर्म करने की क्या जरूरत? फिर—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"

इस हिसाब की क्या जरूरत रही? इसका भी उत्तर सुनिये। प्रारब्ध पाप कर्म भी एक ही दिन में अंकुरित नहीं होते। अंकुरित

होने के योग्य जरूर हुए। फिर भी जीवन के प्रत्येक दिन के लिये, प्रत्येक घड़ी के लिये, प्रत्येक क्षण के लिये भी अलग अलग कर्म अंकुरीभूत होते हैं। अतः थोड़ा यज्ञदानतप प्रारंभ किया और उग्र पाप नष्ट किया तो फिर अंकुरित होने वाले पापों को नित्यनैमित्तिक कर्मों से रोज ही शुद्ध करते जाईये। रोज ही घास उगती रहती है, रोज ही साफ करते जाईये। रोज ही बरतन मैला होता है तो रोज ही मांजते भी जाईये। कर्म की गति बड़ी गहन है। अंकुरित एवं अंकुरीभाव में तैयार होकर बैठे हुए पाप कर्म सत्कर्मों के द्वारा नष्ट होंगे। वह भी सब पाप कर्म नहीं। ऐसा नहीं कि नित्य नैमित्तिक कर्म से ही बिमारी गरीबी आदि भी खतम होगी। केवल ज्ञान के प्रतिबन्धक कर्म नष्ट होंगे। वह भी यदि उग्रकर्म अधिक न हो तो। उग्रकर्म अधिक होने पर संभव है कि इस जन्म में ज्ञान ही उत्पन्न न हो। तब "शतं समाः" सौ वर्ष तक यज्ञदानतप रूपी कर्म करते ही रहना पड़ेगा। एक सौ आठ संख्या पूरी करनी पड़ेगी। एक सौ आठ संख्या किस प्रकार? तीन सौ साठ दिन का साल होता है। सौ वर्ष में छत्तीस हजार (३६०००) दिन होते हैं। प्रत्येक दिन यज्ञदानतप ये तीन कर्म करना है। छत्तीस हजार का तिगुना करो तो एक सौ आठ हजार होते हैं। एक सौ आठ हजार कर्मों से ही उग्र कर्म नष्ट होंगे। तब उत्तर जन्म में उग्र कर्म के लिये उद्बोधक नहीं रहेगा। तो दूसरे जन्म में निर्मल चित्त के साथ शरीरोदय होगा। परन्तु एक सौ आठ हजार सत्कर्म नहीं हो पाते। बचपन में, बिमारियों में और बुढ़ापे में कर्म छूट ही जाते हैं। अतः आधे से कम ही कर पाते हैं। अत एव अनेक जन्म की जरूरत पड़ती है। **"अनेकजन्मसंसिद्धः"** ऐसा इसलिये कहा। अनेक माने न्यूनतम तीन जन्म इसीलिये कहा। सर्वथापि सत्कर्म में कभी भी प्रमाद न करना चाहिये। शरीर से यज्ञकर शरीर शुद्धि करो। धन से दान देकर धनशुद्धि करो। मन से तपकर मनःशुद्धि करो। इसीलिये "कुर्वन्नेे

वेह कर्माणि" यह बहुवचन है। न्यूनतम तीन सत्कर्म प्रतिदिन होना ही चाहिये। और भी हो जाय तो अति उत्तम। अन्यथा बाद में पछताना पड़ेगा। मरण तो आयेगा निश्चित। मरणोत्तर शरीर प्रतिबन्ध न होने से सारी बातें सामने स्पष्ट आती हैं। उस समय यमदण्ड पड़ते समय पछताने लगते हैं—अहा ! यह जो तिजोरी में, आलमारी में, तकिये के नीचे नोट पड़े हैं, इन्हें यदि दान में देता तो आज यह डण्डा मुझे खाना नहीं पड़ता। अहा ! मैंने जिनको अपना समझा था, वे मेरी ओर ताकते नहीं। मेरे द्वारा एकत्रित धन के लिये आपस में लड़ रहे हैं। और आज मैं कुछ नहीं कर पा रहा हूँ। कौन किसका बेटा। किसका बाप था ?। पता नहीं कितने बार शरीर ग्रहण किये, कितने बाप बेटे हो गये। मैंने इन सबका चिन्तन छोड़कर, फिकर छोड़कर यदि आत्मार्थ आत्मचिन्तन रूपी तप किया होता तो कितना अच्छा था। यज्ञादि सत्कर्म करता तो कितना अच्छा था। ऐसी विचारधारा चलती। इतने में धड़ाम धड़ाम से माथे पर यमदण्ड पड़ने लगते। छोटी सी भूल भयानक परिणाम को लाती है। व्यवहार में ही सिगरेट पीकर गाड़ी के डब्बे में फेंका। डिब्बे में आग लगी। कितना भयंकर नुकसान हुआ। एक बार काश्मीर में मैंने देखा। वहाँ सब लकड़ी के मकान होते हैं। नौकर सिगरेट बुझाये बिना ही लेट गया। मकान में आग लगी। क्या भयानक दृश्य दीखने लगा था। जब व्यवहार में भी छोटी सी भूल का परिणाम भयानक होता है तो परमार्थ में कहना ही क्या ? वहाँ तो छोटी छोटी इन भूलों का परिणाम लाखों वर्ष तक यम यातना है। फिर पशु-पक्षी आदि लाखों तिर्यक योनि जन्म पाना होता है। अत एव मनुष्य को सत्कर्म में कभी भी प्रमाद न करना चाहिये। यह मनुष्य शरीर कल्पवृक्ष समान है। अमूल्य इस शरीर को पाकर भी प्रमाद करना अति भयानक अपराध है। यह "ऊर्ध्व-मूलमधःशाखं" कल्पवृक्ष है। इसी कल्पवृक्ष की छाया में हमें विश्राम

करना है, तत्त्वज्ञान पाना है। तदर्थ सत्कर्म निरन्तर करते ही रहना चाहिये। इनसे ही दुरितक्षय होगा। दुरितोत्पन्न कुण्ठा मल है। उसका क्षय इनसे ही होगा।

प्राप्त सत्कर्म में जहाँ प्रमाद हुआ वहीं दुरित अंकुरित होकर कुण्ठा पैदा करने लगता है। अर्जुन ने यद्यपि जीवन भर में सत्कर्म ही किया। तथापि संप्रति प्राप्त कर्म में दुर्गतता उद्भूत की। यही प्रकृत में दुश्चरित है। अन्य कोई दुश्चरित नहीं। अन्य दुश्चरित तो महापाप प्रत्यक्ष पाप है ही। उससे उपरत होना परम आवश्यक है। परंतु यह तो अति स्थूल बात हुई। प्राप्त कर्त्तव्य में से उपरति भी दुश्चरित है। उसके कारण ही अर्जुन को प्रथमोपदिष्ट तत्त्वज्ञान प्रकाशित नहीं हो रहा था। गीतोपदेश के मध्य में ही प्राप्तकर्म कर्त्तव्यता का उद्बोध हुआ और अन्त में "करिष्ये वचनं तव" पर दृढ़ हुआ। तब यही उपदिष्ट तत्त्वज्ञान प्रकाशित होने लगा। बल्कि ग्यारहवें अध्याय तक ही कर्त्तव्य विषयक मोह दूर हो गया था।

यमराज ने नचिकेता को कहा—दुश्चरित से उपरत होना चाहिये और आगे बताया—"नाशान्तः"। अशान्त हो तो भी प्रज्ञान से आत्मप्राप्ति नहीं होगी। अशान्त का अर्थ है विक्षिप्त। चित्त में विक्षेप हो तो अशान्त कहते हैं। विषय वासना से विक्षेप होता है। काम क्रोध लोभादि सभी चित्तदोष विक्षिप्तता में हेतु हैं। इनके कारण ही निदिध्यासन नहीं हो पाता। समुद्र में निरन्तर तरंगे उठती रहती हैं। वैसे ही विक्षेप तरंगे निरन्तर मन में उठती रहती हैं। इसके नियमनार्थं यद्यपि यहाँ पर भगवान ने कोई उपाय नहीं बताया। एतदर्थं आगे उपासना प्रकरण उठायेंगे और यह उपदेश देंगे कि योग के द्वारा और उपासना के द्वारा विक्षेप की निवृपि करो। जैसे सांख्य तत्त्वोपदेश के पश्चात् ही यहाँ "स्वधर्ममपि-चावेक्ष्य" से कर्मोपदेश है वैसे उपासनोपदेश भी है। जब तक अपरोक्ष तत्त्वसाक्षात्कार नहीं होता तब तक केवल औपदेशिक ज्ञान

के बल पर न कर्म त्यागना चाहिये और न उपासना त्यागना चाहिये। अत एव संत संयासी होने पर भी कर्म और उपासना से छुटकारा नहीं है। संन्यासी जिन्हें आप देख रहे हैं ये सर्वकर्म सन्यासी नहीं हैं। क्योंकि विविदिषा संन्यास में संन्यासाश्रमार्थ प्रतिपादित प्रणव जपादि वाक्कर्म ध्यानादि मानसकर्म करने ही पड़ते हैं। तथा ईष्टदेवोपासना भी अवश्य कर्त्तव्य है। बाह्यकर्म अत्यल्प होते हैं। फिर भी सर्वकर्म संन्यास तो तत्त्वसाक्षात्कारोत्तर ही संभव है। उपासना से ही चित्तविक्षेपनिवृत्ति होती है। तभी वह शान्त होना है। उसके बिना प्रज्ञान से भी आत्मप्राप्ति नहीं होती।

नासमाहितः। अर्जुन को उपदेशोत्तर भी तत्त्वज्ञान क्यों नहीं हो रहा था? एक कारण बताया दुश्चरित अर्थात् कर्त्तव्य कर्म में मोह प्रयुक्त दुर्गतता। अन्यों के लिये क्रियमाण पापकर्म भी दुश्चरितता हो सकती है। परंतु अर्जुन के लिये कर्त्तव्य वैमुख्य 'नाहं युद्धं करिष्यामि' इस प्रकार का चिन्तन ही दुश्चरितता है। दूसरा बताया–विक्षेप भीष्म आदि विषयक मोहममता से विक्षेप हो रहा है। या और किसी हेतु से। इस पर विचार उत्तर कर्त्तव्य है। तीसरा हेतु असमाहितता है। समाहित शब्द का रूपान्तर समाधियुक्त है। समाहितता माने समाधि। समाधि का भी निर्विकल्पक सविकल्पकादि समाधि यहाँ अर्थ नहीं। किन्तु चित्तैकाग्रता मात्र अर्थ है। एकाग्र का अर्थ है—एक अग्रभाग जिसका हो वह। अग्र अर्थात् नोक। सूई के छेद में धागा पोरना है तो धागे की एक सूक्ष्म नोक बनायी जाती है। वही उसकी एकाग्रता है। अगर दो या अधिक अग्र भाग हो, धागा फटा हुआ हो तो कितनी ही कोशिश कर लो सूई में धागा नहीं जायेगा। किसी भक्त कवि ने कहा है।

एकाग्रं यदि हि मनोऽचलं तथा स्या
त्तर्ह्येव प्रविशति तन्महेश्वराऽङ्घ्रौ
न ह्यग्रं न हि च सकम्पभावमाहो
सूच्यग्रे प्रविशति पतलोऽपि सूत्रम्।

धागा अनेक अग्रवाला हो तो भी सूई में प्रवेश नहीं करेगा और काँपता हो तो भी प्रवेश नहीं करेगा। वैसे यह मन भी यदि अनेकाग्र हो और चञ्चल हो तो परमेश्वर में प्रवेश नहीं करेगा। क्योंकि परमेश्वर अत्यन्त सूक्ष्म है।

"अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्"

ऐसी काठक श्रुति है। एकाग्र के विपरीत है—द्व्यग्र। 'द' को हटाकर बोलो तो व्यग्र। व्यग्र शब्द प्रसिद्ध है। "विविधानि अग्रणि यस्य तद् व्यग्रम्" ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है। व्यग्रचित्त होने पर भी ज्ञानोपदेश काम नहीं करता। अर्जुन का मन व्यग्र हो ही रहा था। "न चैतद्विद्मः" यहाँ व्यग्रता स्पष्ट है। उस व्यग्रता को दूर करने के लिये भी कर्त्तव्यनिष्ठा लाना आवश्यक है। वैसे तो अर्जुन का मन जीवन में कृतैकाग्रताक है। शंकर की उपासना करके पाशुपतास्त्र जिसने प्राप्त किया वह कृतोपास्ति भी है। और समाहित चित्त भी है। इसमें संशय नहीं। तथापि सामयिक कर्त्तव्य संशय से चित्त का व्यग्र होना भी स्वाभाविक ही है।

यमराज ने चतुर्थं "नाशान्तमानसो वापि" बताया। स्वाभाविक अशान्ति को लेकर 'नाशान्तः' कहा। और नैमित्तिक अशान्ति को लेकर 'नाशान्तमानसः' बताया। पूर्व जन्मीय वासना प्रयुक्त स्वाभाविक अशान्ति होती है। वर्त्तमान परिस्थिति प्रयुक्त अशान्त मानसता होती है। उस परिस्थिति के हटने पर फिर शान्ति कायम हो जाती है। अर्जुन की अशान्ति वासना प्रयुक्त थी या परिस्थिति प्रयुक्त। जो भी हो दोनों का निवारण भगवान ने किया। उपासनोपदेश वासना प्रयुक्त अशान्ति निवारणार्थ है। मोह प्रयुक्त या कर्त्तव्य वैमुख्य प्रयुक्त अशान्ति परिस्थितिवश हुई। अतः इन समस्त दोषों का निवारण करना प्रथम आवश्यक हुआ। भगवान ने देखा कि बीस श्लोकों में जो उपदेश किया उससे गाड़ी चली नहीं। उसे स्टार्ट करने के लिये तत्काल कुछ उपाय करना चाहिये। कर्त्तव्यो-

परति यदि मिट जाय तो वही उपदेश फिर काम करने लगेगा। जैसे पानी पहले नल में बह रहा था। बीच में रुकावट आयी तो बंद हो गया। वह रुकावट हटी तो पूर्ववत् फिर से चालू हो जाता है। तदर्थं अब यह कर्त्तव्य कर्म प्रेरणार्थ भगवान का उपदेश है—

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।

हे अर्जुन गुरु पितामहादि वध को पाप समझ कर तुम जो युद्ध से उपरत हो रहे हो, यह ठीक नहीं। क्योंकि इसे स्वधर्म समझ कर भी कर्त्तव्य से विचलित होना उचित नहीं। स्वधर्म अगर दोष-युक्त है तो भी उसे करना चाहिये। उसके लिये हिचकिचाना नहीं चाहिये।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।

स्वधर्म को किसी भी हालत में नहीं छोड़ना चाहिये। स्वधर्म से प्रच्युत करने के लिये अनेक-अनेक राक्षस घूमते रहते हैं। कोई सौम्य रूप से मारीच सुवर्ण मृग के समान, तो कोई उग्र रावणादि के रूप में। कामना परवश होकर कभी लोग धर्म त्याग देते हैं। अजामिल ने स्वधर्म त्याग किया काम परवश होकर। धर्म को त्यागा, धर्मपत्नी को त्यागा। एक आस्तिक कामुक का वचन है—

वेदशास्त्रपुराणानि सत्यानि यदि भामिनि।
आवयोस्तर्हि संयोगः कुम्भीपाके भविष्यति॥

एक कामुक शूद्र का ब्राह्मणी के साथ संग हुआ। राजा को खबर मिली। पकड़ने के लिये सिपाहियों ने घेरा लगाया। निकलने का कोई मार्ग न रहा। तब उसका यह अन्तिम वचन है कि हे भामिनि! हे प्रिये! वेदशास्त्र पुराणादि यदि सत्य है तो हमारा पुनः संयोग होगा इसमें संशय नहीं। कहाँ पर? कुम्भीपाक नरक में तू भी पड़ेगी, मैं भी पड़ूंगा, वहीं संयोग होगा। काम से धर्म

त्याग न करो। लड़के अमरीका इङ्गलैण्ड जाते हैं। वहीं कामी होकर माँ-बाप को छोड़कर शादी कर बस जाते हैं। माँ-बाप भले ही प्रतिक्रिया न करें, किन्तु यमराज की ओर से तो होगी ही। काम से धर्मत्याग न करो। भय से भी न करो। ऐहिक भय से भी नहीं, पारत्रिक भय से भी नहीं। ऐहिक भय हो सकता है। परन्तु पारत्रिक भय तो मिथ्या ही है; क्योंकि धर्मानुष्ठाता को परत्र भय संभवत ही नहीं है।

जाजलि ऋषि की कथा बड़ी प्रसिद्ध है। महाभारत में यह कथा आयी है। जाजलि ने इतनी घोर तपश्चर्या की कि उनके चारों ओर दीमगों ने बांबी बना डाली थी। एक बार उनकी समाधि खुली तो उन्होंने सोचा गंगा स्नान कर संध्या तर्पण करूँ। गंगास्नान किया। इतने में ऊपर से उड़ती जा रही किसी चिड़ियाँ ने उनपर बीट कर दिया। ऋषि ने क्रोध से ऊपर देखा तो इतने में वह चिड़ियाँ जल कर नीचे गिरी। जाजलि ने समझा ओहो, मैं तो भारी सिद्ध हो गया। उनके मन में भारी अभिमान हुआ। स्नान पूजा की। बहुत दिनों की तपस्या से वे एकदम सूख गये थे। भूख जोर से लगी हुई थी। जाजलि ने सोचा, गाँव में जाकर भिक्षा माँगूं। वे वहाँ से गाँव में एक घर में पहुँचे और "नारायण हरि" बोले। संत लोग पहले समय में घरों में भिक्षा लेकर खाते थे तो घरों में जाकर नारायण हरि बोला करते थे। अंदर एक स्त्री कुछ काम कर रही थी। उसका पति बिमार था। दवाई तैयार करके दे रही थी। उस देवी ने कहा—भगवन् दो मिनट ठहरिये। मैं दवाई पिलाकर अभी आती हूँ। जाजलि को यह अपना भारी अपमान प्रतीत हुआ। अंदर से क्रोधाग्नि जलने लगी। इधर क्षुधाग्नि तो थी ही, उधर क्रोधाग्नि ऊपर से। इतने में वह देवी भिक्षा लेकर पहुँची। ऋषि क्रोध से तमतमा उठे थे। देवी ने कहा, भगवन्! मैंने जान-बूझ कर विलम्ब नहीं किया। पतिदेव बिमार हैं। मैं सेवा में

लगी थी। दो ही मिनट का फरक पड़ा। उतने के लिये मैं क्षमा माँगती हूँ। जाजलि ने गरज कर कहा—तुम्हें मालूम है? मैं कौन हूँ? दो मिनिट के लिये मैं अपमान क्यों सहूँ। देवी ने कहा भगवन! आपको मैं जानती हूँ। आप महान तपस्वी हैं, तेजस्वी हैं। किन्तु आप इतना अवश्य समझें कि मैं वह चिड़िया तो कम से कम नहीं हूँ, जिसको आपने जलाया। इतना सुनते ही ऋषि ठंढे पड़ गये। जाजलि ने सोचा कि इस देवी को यह कैसे मालूम पड़ा कि मैंने चिड़िया को जलाया। जाजलि ने कहा, तुम रुग्ण सेवा में अंदर बैठी हो। तुम को यह कैसे मालूम पड़ा कि मैंने चिड़िया को जलाया।यह कौन सी विद्या तुम्हारे पास है? सती ने कहा, भगवन! इस विषय में चर्चा करने के लिये मेरे पास समय नहीं है। क्योंकि आप देख ही रहे हैं, मेरे पति रुग्ण हैं। आप भिक्षा ग्रहण करें और आपके मन में जो भी जिज्ञासा हो उसका समाधान प्राप्त करने के लिये धर्मव्याध के पास जायँ। उनके पास पर्याप्त समय होगा। इतना कहकर धर्म व्याध का उसने पता बताया और हाथ में भिक्षा भी दी। नतमस्तक होकर जाजलि ने भिक्षा ग्रहण किया और वहाँ से वे धर्म व्याध की ओर चले। वहाँ जाकर देखा तो कई दुकानें थीं, उनमें एक में एक विलक्षण व्यक्ति मांस बेच रहा था। लोगों से पूछा तो उसी मांस विक्रेता को लोगों ने धर्म व्याध बताया। जाजलि को संशय हुआ कि कहीं यह देवी मेरे अभिमान को चूर करने के लिये शूद्र के पास तो नहीं भेजा? मांस की दुर्गन्ध यहाँ तक आ रही है? क्या यह ज्ञान रहस्य को बतायेग? इतने में धर्म व्याध की दृष्टि जाजलि पर पड़ी। तुरत धर्म व्याध ने हाथ धो कर एक काठ का फलक (कुर्सी) उनको बैठने को दी और कहा, भगवन! विराजिये। मैं अपने काम से निवृत्त होकर सेवा में हाजिर होता हूँ। जो खरीद-दार आये हुए थे, उनको मांस बेचा। इधर जाजलि खड़े ही खड़े

चिन्तामग्न से देख रहे थे। ग्राहक गये तो दुकान से उठकर धर्म-व्याध जहाँ जाजलि खड़े थे उनके पास गये और बोले भगवन! आपकी तपस्या ठीक चल रही है? सतीदेवी जिसने आप को मेरे पास भेजा अच्छी है न? आपकी मैं क्या सेवा करू? मेरे हाथ का आप खायेंगे नहीं, तो दूसरों के द्वारा भोजन का प्रबन्ध करूँ? जाजलिको महा आश्चर्य हुआ कि इस शूद्र को कैसे यह मालूम पड़ा कि सतीदेवी ने मुझे यहाँ भेजा। यहाँ कोई फोन तो लगा नहीं है। महर्षि ने कहा—हे धर्म व्याध! सतीदेवी की भिक्षा से ही मैं तृप्त हूँ। मैं कुछ जिज्ञासा लेकर आपके पास आया हूँ। यह बताओ कि सती देवी को कैसे मालूम पड़ा कि मैंने। चिड़िया को भस्म किया, और आपको कैसे मालूम पड़ा कि सती ने मुझे आपके पास भेजा। यहाँ से धर्मव्याध ने बहुत बड़ा एक उपदेश जाजलि को दिया। जिसमें समझने के लिये विशषांश यह है कि हे महर्षि! धर्म सबसे बड़ा है। धर्म से ही अन्तःकरण निर्मल पवित्र होता है। धर्म कैसा है यह देखने की जरूरत नहीं। धर्म है इसलिये करना है। वह सतीदेवो धर्मनिष्ठा थी। सेवापरायणा थी। वह अपने पति की सेवा करती है। वही उसका परमधर्म है। मैं भी सेवा परायण हूँ। मेरे वृद्ध मातापिता घर में हैं। उनकी सेवा ही मेरे लिये सब कुछ है। जीविकोपार्जन के लिये जो प्राप्त कर्म है, उसे मैं करता हूँ। मैं मांसविक्रेता अवश्य हूँ, किन्तु मांसभोक्ता नहीं हूँ। अपने-अपने कर्मों को प्रमाणिकता के साथ करें और सेवा भाव से सेव्यों को सेवा निश्छल भाव से करें तो अन्तःकरण परिशुद्ध होता है। स्वच्छ दर्पण के समान अन्तःकरण चमकने लगता है। जैसे स्वच्छ दर्पण में वस्तु सम्यक् प्रतिबिम्बित होती है वैसे स्वच्छान्तःकरण में भूत वर्तमान भविष्य सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्टादि समस्त वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है। उस सतीदेवी का हृदय इस प्रकार स्वच्छ हुआ। अत एव विप्रकृष्ट शकुन्तदाह को भी उन्होंने अपने हृदय में प्रति-

बिम्बित देखा। मैं भी अपने प्रामाणिक स्वधर्मानुष्ठान एवं मातृपितृ सेवा से स्वच्छ हृदय को प्राप्त हो गया। अत एव आपका आगमनादि समस्त वृत्तान्त हृदय में ही प्रतिबिम्बित देखा। अतः समस्त अभिमानाहंकारादि दोष परित्याग करें। आप स्वधर्म कर्मनिष्ठ हो, सेवा परायण रहें। धर्मव्याध ने बहुत बड़ा उपदेश जाजलि को दिया, जिससे वे कृतकृत्य हुए। भगवान भी यहाँ अर्जुन को उसी स्वधर्मनिष्ठा का उपदेश दे रहे हैं—**"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि"**।

धर्म्याद्धि युद्धात्। क्षत्रिय के लिये धर्म युद्ध है। 'धर्मादनयेतं धर्म्यं' जो धर्म भाव से बाहर न गया हो वही धर्म्य है। क्षतत्राण से ही क्षत्रिय हुआ है—

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः।
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रुढः॥

शत्रु जब क्षति पहुँचाते हैं तब उससे रक्षा करना क्षत्रिय का खास कर्त्तव्य है। वह युद्ध से संभव है। अत एव युद्ध परमधर्म है। क्षत्रिय के लिये सर्वोत्तम धर्म है। इस धर्म को इहलोक भय से या परलोक भय से त्यागना नहीं चाहिये।

लोभ से भी स्वधर्म त्याग न करना चाहिये। आजकल धन की, नौकरी की, गृहादि की लालच दिखाकर धर्म परिवर्तन कराने की चेष्टा खूब चल रही है। और लोभ में आकर बहुत से लोग धर्म परिवर्तन भी कर रहे हैं। केवल धर्म परिवर्तन नहीं। स्वधर्म त्याग करते हैं। वेद व्यासजी का कहना है लोभ में आकर धर्म को मत छोड़ो।

यहाँ तक कि अपने जीवन बचाने के लिये भी धर्म त्याग न करना चाहिये। युद्ध में संभव है, अपनी मृत्यु भी हो जाय। परन्तु

उसकी परवाह मत करो। इस मृत्यु के भय का ही परिणाम भारत वर्ष दो सौ वर्ष तक गुलामी में गुजरा। जिससे उसकी सारी शान नष्ट हो गयी। संस्कृति भ्रष्ट हो गयी। उज्ज्वल भविष्य धूल में मिल गया। व्यक्तिगत मरण अकिंचित्कर है। उससे समाज रक्षा होती हो तो स्वयं स्वर्गभागी तो होंगे ही, समाज भी उन्नति पथ पर आयेगा। अतः स्वधर्मरक्षार्थ जीवन त्याग के लिये भी तैयार रहो। गुरुगोविंद सिंह के लड़कों ने जीवन को त्यागा। किन्तु धर्म को नहीं त्यागा। यही महानता है। इससे बढ़कर क्षत्रिय के लिये अन्य श्रेय क्या हो सकता है?।॥ ३१ ॥

●

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।। ३२ ।।

[हे पार्थ ! और भी बात सुनो यह युद्ध क्या है, अचानक आया हुआ खुला स्वर्गद्वार है। ऐसे युद्ध को तो सुखी क्षत्रिय ही पाते हैं ।। ३२ ।।]

सांख्योपदेश के साथ उसके आवश्यक बहिरङ्ग साधन कर्म का वर्णन भगवान् श्रीकृष्णचंद्र कर रहे हैं। बिना बुलाये जो आ जाय उसको यदृच्छागत कहते हैं। यदृच्छा से एकाएक जो पहुँच जाय, जिसकी कल्पना भी पहले नहीं की हो वह आ जाय 'उपपन्नं' माने आया। यहाँ यदृच्छा से क्या आया है ? युद्धं—संयोग ऐसा हुआ कि युद्ध आ गया। उसको हे अर्जुन, तुम समझो कि खुला स्वर्गद्वार आ गया। स्वर्गद्वार पर जाना पड़ता है, फिर बंद हो तो खुलवाना पड़ता है। यहाँ तो खुला हुआ ही स्वर्गद्वार स्वतः आ गया। स्वर्ग का दरवाजा उखाड़ के लाये, यह अर्थ नहीं कि स्वर्ग दूर ही रह जाय। स्वर्ग सहित द्वार आ गया। अपावृत अर्थात् जो आवृत नहीं, बंद नहीं, मतलब—खुला। सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ—हे पार्थ ! जो सुखी क्षत्रिय हैं वे ही 'लभन्ते युद्धमीदृशं' ऐसा युद्ध पाते हैं। युद्ध के बाद में होने वाला सुख इतना बिशाल है कि वर्तमान में भी वह व्याप्त है। अतः युद्ध मिलते ही समझ लो, क्षत्रिय सुखी हो गया। युद्ध प्राप्त होने का मतलब है कि भाग्य खुल गया।

मारे जायेंगे कि भाग्य खुलेगा ? भगवान कहते हैं कि एक गरीब जैसा आदमी जा रहा था। जीवन निराशा से गुजर रहा था। रास्ते में ठोकर लगो, अँगूठे पर जोर की चोट लगी। उसने सोचा नीचे क्या है देखूँ, जिससे अँगूठा टूट गया। नीचे दिखाई

दिया, एक चमकदार पत्थर। क्या था वह ? दस लाख का हीरा था। ठोकर से जों दर्द हुआ, वह जाता रहा। हृदय में आनंद की लहरें दौड़ीं। हमेशा के लिये गरीबी दूर हो गयी। वैसे ही युद्ध में मारा जाना है। तत्काल दुःख होगा। मृत्यु दुःख होगा। किन्तु भविष्य अति उज्ज्वल है। स्वर्गद्वार खुल गया है।

क्या यह केवल अर्थवाद नहीं ? युद्ध भाग्य से मिलता है या दुर्भाग्य से ! जहाँ भयानक नर संहार होगा, स्वयं के भी जीवन का कोई भरोसा नहीं। कहीं इसका ऐसा अर्थ तो नहीं कि युद्ध आ गया तो स्वर्गद्वार खुल गया अर्थात् स्वर्गवासी होने ही वाले हैं। मरने पर सभी स्वर्गवासी होते हैं। स्वर्गवास का अर्थ ही मरण होता है। फलाने का स्वर्गवास हो गया यह मरने की बात कहने के लिये—एक सभ्य भाषा मात्र है। भगवान कहते हैं—यह अर्थवादमात्र नहीं। यह फल सम्बन्ध विधि है। 'स्वर्गकामो यजत' के समान वास्तविक फल कथन है। न कि गुणवाद या अन्य कोई वाद। सुखी क्षत्रिय ही ऐसा युद्ध पाते हैं। जान बूझकर तुमने युद्ध मोल नहीं लिया। यह संयोगवश आ गया है।

किस ढंग का स्वर्ग युद्ध से मिलता है ? यद्यपि आगे विशेष चर्चा होगी। **"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा"** इत्यादि उभयतः सुख आगे बतायेंगे। तथापि यहाँ पर स्वर्ग पदार्थ की विशेष जिज्ञासा होती है। क्योंकि स्वर्ग दो प्रकार का माना गया है। एक तो ज्योतिष्टोमादि यज्ञ करने से जो देवलोक स्वर्गलोक प्राप्त होता है वह स्वर्ग है। दूसरा श्रुति उक्त स्वर्ग है। श्रुतियों में अनेक जगह स्वर्ग नाम आया है। केनोपनिषद में कहा है—

अपहत्य पाप्मानमनन्ते स्वर्गे लोके
ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति।

समस्त पाप कर्म को समाप्त कर अनन्त एवं प्रशस्ततर स्वर्गलोक में वह ज्ञानी प्रतिष्ठित होता है। इसमें स्वर्ग के लिये दो

विशेषण हैं—अनन्ते और ज्येये। इससे प्रतीत होता है एक सान्त तथा अप्रशस्ततर भी स्वर्गलोक है। अर्थात् यहाँ स्वर्गलोक आनन्द-लोक मोक्ष अर्थ है। इन दो प्रकार के स्वर्गों में अर्थात् सान्त देव-लोकरूपी स्वर्गलोक तथा अनन्त मोक्षरूपी स्वर्गलोक इन दो में युद्ध किसका द्वार है? किस स्वर्ग का द्वार? इस पर बहुत से व्याख्या-कार यही मानते हैं कि युद्ध भी एक यज्ञ है। अतः यज्ञ से जो देव-लोकात्मक स्वर्ग प्राप्त होता है वही युद्ध से भी प्राप्त होता है। परन्तु दूसरे आचार्यों का कहना है—यथायोग्य दोनों ही स्वर्गलोक युद्ध से प्राप्य है। स्मृतियों में योद्धाओं की उपमा परिव्राजक संन्यासी से की है—

द्वावेतौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ
परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखं हतः।

संसार में सूर्यमण्डल भेदन करने वाले दो ही हैं। एक है योगी परिव्राकक सन्त महात्मा और दूसरा हैं रण में अभिमुख मारा गया योद्धा। सूर्यमण्डल भेदी का अर्थ है उत्तरायण मार्ग से जाने वाला। **"अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः"** इत्यादि जो आगे बतायेंगे तथा श्रुतियों में जो वर्णन किया। उस मार्ग से जाने वाला अग्नि से ज्योति, ज्योति से दिन, दिन से शुक्ल पक्ष फिर उत्तरायणादि क्रम से सूर्यमण्डल और वहाँ से क्रमशः ब्रह्मलोक में पहुँच जाता है। इसी योगी को सूर्यलण्डल भेदी कहते हैं। सूर्यमण्डल भेदन कौन कर पाते हैं? संन्यासी महात्मा परिव्राजक तथा रण में अभिमुख मारा जाने वाला। संन्यासी महात्मा जीवन भर त्याग तपस्या करके मर जाते हैं तो वे उत्तरायण मार्ग से सूर्य-मण्डल भेदन कर ब्रह्मलोक पहुँच जाते हैं। वहाँ कल्प पर्यन्त ब्रह्म-लोक में निवास करते हैं। फिर कल्पान्त आता है तो ब्रह्माजी के साथ ही युक्त हो जाते हैं। किन्तु रणाभिमुख हत जो होगा उसने जीवन भर में त्याग तपस्या की हो या न हो, जीवन भर रण किया

हो या न हो, फिर भी रण में मरने पर उत्तरायण मार्ग से जाता है, और सूर्यमण्डल भेदन कर संन्यासी के बराबर ब्रह्मलोक में पहुँच जाता है और कल्पान्तर में ब्रह्मा के साथ मुक्त होता है।

स्वर्ग के दो विभाग सकामता तथा निष्कामता पर आधारित हैं। षष्ठाध्याय में दो प्रकार के योगभ्रष्ट का वर्णन है। एक सकाम और दूसरा निष्काम। सकाम योगभ्रष्ट हुआ तो वह पुण्य स्वर्गलोक प्राप्त कर "शुचीनां श्रीमतां गेहे" पवित्र श्रीमन्तों के घर में जन्म लेता है। निष्काम हो तो वह योगीकुल में पैदा होगा। अर्थात् समझना चाहिये कि योगभ्रष्ट न हुआ तो ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्मा के साथ मुक्त होगा। वैसे ही रणाभिमुख हत भी है। यदि वह सकाम होगा तो पुण्यकृतां लोक-सान्त स्वर्ग लोक प्राप्त होगा और यदि निष्काम होगा तो सूर्यमण्डल भेदन कर ब्रह्मलोक में पहुँचेगा जो पहले प्रक्रिया बतायी।

भगवान् ने यह अति रहस्यपूर्ण बात बतायी। परन्तु यह हृदयंगम नहीं हो रहा है। प्रथम-प्रथम मुझे भी इसका तात्पर्य बराबर समझ में नहीं आया था। इसे समझने के लिये मैंने जवानों से संपर्क किया। भारत पाकिस्तान सीमारक्षक युद्धरत जवानों के बीच में भी हम गये। उनकी जीवनचर्या पर निगाह डालने से रहस्य मालूम पड़ा। प्रथम इस पर पूर्वपक्ष क्या है ? यह समझने का प्रयास करो। फिर सिद्धान्त समझेंगे। प्रश्न यह है कि रण में मारे जाने पर स्वर्ग प्राप्ति या मोक्ष प्राप्ति किस प्रकार ? रण में हिंसा को हिंसा न भी माना जाय तो भी "यं यं वापि स्मरन् भावं" के अनुसार जिसका चिन्तन मरण समय में होगा, उसी भाव की तो प्राप्ति होगी। रण में मारो काटो यही आवाज, यही भावना, यही दृश्य। तब कौन सा वहाँ भगवत्स्मरण होने वाला है। खून की नदियाँ बह रही हैं, किसी का सिर कटा है, किसी का हाथ कटा है, किसी का पाँव कटा है, कोई रो रहा है, कोई कराह रहा है, इस दृश्य में मरने वालों की

सद्गति कैसी ? मैंने जवानों से पूछा कि तुम सेना में भर्ती हुए हो अपने कुटुम्ब का पालन करने के लिये। एक ने कहा—जी। परन्तु शान्ति के समय तो ठीक है, तनखा मिलता रहेगा। घर पैसा भेजते रहोगे। किन्तु युद्ध के समय में क्या स्थिति है ? क्योंकि वहाँ तो जीवन मरण का प्रश्न है। वहाँ तो—**"यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः"** वाली बात है। तब युद्धार्थ जाते समय अपने बीबी बच्चों का स्मरण कर विवशता नहीं होगी ? क्या उस समय तुम्हारी भावना होती है ? उसने उत्तर दिया—लड़ाई शुरू होती है तो हमारे अन्दर एक अपूर्व उत्साह होता है। यही भावना रहती है—आगे बढ़ते जाओ, शत्रुओं को खदेड़ते और मारते जाओ। इधर भी गोली लगती है तो परवाह नहीं होती। मरने के लिये तो आगे बढ़ ही रहे हैं। ऐसी यात्रा जहाँ शुरू होती है, वहाँ फिर महाराज ! बीबी बच्चों को कौन याद करता है ? कोई मंदिर दिखाई पड़ा तो जेब खाली कर देते हैं। क्योंकि वापिस आयेंगे कि नहीं, कोई भरोसा नहीं रहता, भगवान ही भरोसा रहता है। कुलाबा (बंबई) में नेवी वाले रहते हैं। उन जवानों के मुँह से भी मैंने यही सुना। बस, मेरे लिये समाधानार्थ इतना ही पर्याप्त था। इसी से पूरा रहस्य खुला। **"अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः"** स्वयं पण्डित हूँ या न हूँ लेकिन ऊहन तो हमारा चला ही। भगवान ठीक ही बोलते हैं—**"यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्"**। योद्धा का जो त्याग है वह किसमें हो सकता है ? बड़े-बड़े सेठों को सौ दो सौ दान में खर्च करते समय छाती पर दर्द होता है। परन्तु ये योद्धा युद्धार्थ जाते समय अपना जेब खाली कर के जा रहे हैं। जो भी कुछ पास में, पूरा समर्पण करके जा रहे हैं। इतनी बात तो बहुत छोटी है। केवल धन को ही नहीं त्याग रहे। उसपर अपने तन की आहुति युद्ध यज्ञ में देने के लिये बढ़ रहे हैं। जो जीवन प्राणी-मात्र के लिये अतीव प्यारा है। **"पुत्रात् प्रेयः वित्तात् प्रेयः"**

सबसे अधिक प्यारा है, उस जीवन का बलिदान देने के लिये आगे बढ़ रहे हैं। कितना भारी यह त्याग !! वह भी किसके लिये ? हम आप सबके लिये। यदि ये जवान अपने प्राणों को हथेलियों में रखकर लड़ने के लिये सीमा में आगे न बढ़ते तो यह बम्बई बच सकती ? कलकत्ता दिल्ली बचेंगे ? भारत वर्ष बचेगा ? जवानों की नाकामयाबी में दो सौ वर्ष गुलामी जो बीती, जिसमें भारत वर्ष तबाह हो गया, सारा धन नष्ट हुआ, जीवन नष्ट हुआ, संस्कृति नष्ट हुई। यह घटना कोई पुरानी नहीं हुई है। रक्षक दल बराबर न होने का यह परिणाम है। अर्थात् ये भारत के प्रहरी ही सचमुच हमारा सबका जीवन है। हमारे लिये हथेली में प्राण रख कर वे लड़ने जा रहे हैं। कितना बड़ा भारी त्याग !! मन में उस समय उनका एक मात्र विचार, भारतमाता के हम सपूत, भारत पर टेढ़ी आँख रखने वालों का सफाया हम करें, इस प्रकार तन-मन धन तीनों का समर्पण करने वाले ये जवान, आखिर किसके लिये ? अब हमारे लिये मत बोलो। समष्टि रूप, विश्वरूप भगवान की सेवा के लिये, सर्वस्व त्यागने वाले ये जवान स्वर्ग जायेंगे कि नहीं जायेंगे ? इसमें भी संशय ? संन्यासी त्यागी को मोक्ष मिल सकता है तो ये त्यागी संन्यासी से किस अंश में कम है ?—हाँ युद्धावसर में। आगे पीछे त्यागी नहीं है। अत एव "रणे चाभिमुखं हतः" बताया। न कि मिलटरी भर्त्ती होने से स्वर्ग मिलता है, ऐसा कहा। वास्तविक त्याग का अवसर युद्धकाल में ही आता है। अत एव "सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धं" इस प्रकार युद्ध की दुर्लभता बतायी। त्याग की महिमा वेदों में भी गायी हैं—

न कर्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां
विभ्राजते यद् यतयो विशन्ति॥

कर्म से अमृतत्व नहीं मिलता। कर्म तो सभी करते हैं। कर्म के बिना कौन रहेगा। व्यापारादि यज्ञ आदि सभी कर्म हैं। उसमें यज्ञादि न करें, व्यापार तो करते ही हैं। तो क्या इतने से मोक्ष मिलेगा? उस व्यापारादि में अगर त्याग भावना है तो अलग बात है। उसके लिये "त्यागेनैके" यह द्वितीय पाद है ही। कर्म से मोक्ष नहीं मिलता। प्रजा से भी नहीं। पुत्र पौत्रादि से घर भरपूर है, बूढ़े लोग अपने आपको कृतकृत्य मानने लगते हैं। तो क्या ये पुत्र पौत्रादि आपको स्वर्ग पहुँचायेंगे? आपका यह एक भाव मात्र है। और अभिमान मात्र है। पुत्र पौत्र तो यही चाहेंगे कि बूढ़ा चला जाय तो मैं स्वतन्त्र हो जाऊँ। वह उत्तराधिकारी है। उत्तराधिकारी का मतलब आपके मरण से लाभ उठाने वाला। ये सब अधिक से अधिक श्मशान पर्यन्त पहुँचेंगे, आपको पहुँचायेंगे। "जनः श्मशाने" आगे तो आपको ही अकेले जाना पड़ेगा। बस यहीं तक पुत्र पौत्र सम्बन्ध। फिर आप अलग, ये अलग। पता नहीं आप कहाँ जा पहुँचेंगे। आगे आपके माता पिता पुत्र पौत्र कौन बनेंगे। धन से अमृतत्व की संभावना नहीं है।

"अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन"

ऐसा याज्ञवल्क्य वचन भी है। आप लखपति हो, करोड़पति हो चाहे अरबपति ही हो। "धनानि भूमौ" ये सब धरे धराये रह जायेंगे। और सब चीज को आप खरीद सकते हैं। किन्तु मोक्ष खरीदी जाने वाली वस्तु नहीं है। मोक्ष के प्रति कारण क्या है — "त्यागेनैकेऽमृतत्त्वमानशुः" त्याग ही अमृतत्व का एक मात्र साधन है। युद्ध में सर्वस्व त्याग होता है। धन त्याग, जन त्याग, जीवन त्याग और भगवान में मन का भी त्याग। इतना भारी त्याग करने वालों के लिये अमृतत्व में संशयावकाश ही नहीं है। संत महात्माओं को भी मोक्ष की संभावना तो त्याग से ही है। उन्होंने प्रथम अपने गृह को, बन्धुओं को, और यदि हैं तो गृहिणी पुत्र पौत्रादि को

त्यागा। यह कोई मामूली त्याग नहीं है। इन सबसे ममता हटाकर वसुधा को उन्होंने अपना कुटुम्ब बनाया। महात्माओं का अब संग्रह एक सिमित कुटुम्ब के लिये नहीं है। विश्वकल्याण के लिये है। महात्मा ने अपना शरीर भी समर्पित किया। इसीलिये संन्यास काल में स्वपिण्ड दान करते हैं। मन भगवान में समर्पित करते हैं। यही त्याग है, इसी त्याग का फल उनका मोक्ष है। यही त्याग प्रकारान्तर सें युद्ध समय में जवानों का है। अतः यह स्मृति वचन कि ये दोनों ही सूर्य मण्डल भेदी मोक्षपथगामी हैं। अक्षरशः सत्य है, इसमें अर्थवाद की गंध भी नहीं है।

त्याग की महिमा अपार है। केवल शरीरेन्द्रिय धनजनादि का ही नहीं, पुण्यपापादि का भी त्याग होता है। राजा विपश्चित् की कथा आती है। वह बड़ा ही पुण्यात्मा था। जीवन भर राजा ने पुण्य ही पुण्य किया। मानव शरीर यह कल्पवृक्ष प्राप्त हुआ है तो पुण्य को लूटो। इसी में बुद्धिमत्ता है। अन्य शरीर भोग शरीर है, कर्म शरीर तो मानव शरीर ही है। यह कमाने की भूमि है। जितना कमाना हो उतना कमा लो। अन्य स्थान में केवल खर्च कर सकते हो। विपश्चित् ने कभी मुँह से असत्य वाणी नहीं निकाली। तुच्छ स्वार्थ के लिये अमूल्य सरस्वती को असत्य में लगाने की भूल उन्होंने नहीं की। युद्धादि यज्ञ कर्मातिरिक्त स्थान में उन्होंने कभी हिंसा नहीं की। हर समय वह सजग रहे, कहीं कोई भूल न हो। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रहों का विधिवत् पालन किया। भगवान ने धन दिया, पद दिया तो उसका सद् उपयोग करना चाहिये। इस प्रकार पूरा जीवन पुण्यमय बिताया। राजा विपश्चित की मृत्यु हुई। तब उनको ले जाने के लिये विमान लेकर देवदूत पहुँचे। वे राजा को स्वर्गलोक ले जा रहे थे। रास्ते में एक छोटा पड़ाव आ गया। देवदूतों ने कहा—यहाँ थोड़ा ठहरकर

आगे बढ़ेंगे। परन्तु वहाँ करुण रुदन की तीखी आवाज आ रही थी। राजा ने देवदूतों से पूछा—यह क्या मामला है ? यह रोने की आवाज कहाँ से आ रही है ? क्यों आ रही है ? देवदूतों ने कहा—हे राजन ! यह नरक स्थान है। जो प्राणी पाप करते हैं तो वे उसका फल भोगने के लिये इसी स्थान में आते हैं। राजा ने उस समय कर्मों के बारे में सूक्ष्म सूक्ष्म अनेकों प्रश्न पूछे। सबका विश्लेषण कर देवदूतों ने बताया।

रुदन की आवाज धीमी हो जा रही थी। राजा ने ध्यान दिया तो आवाज बहुत कम हो गयी थी। थोड़ी देर में देखा कि आवाज बिल्कुल बंद हो गयी। राजा ने देवदूतों से पूछा कि अभी तक ये नरकवासी बड़े जोरों से रो रहे थे। किन्तु अब शान्त क्यों हो गये ? देवदूत मुस्कराने लगे। उन्होंने कहा, राजन ! आप महान पुण्यात्मा हैं। आपने जीवन को सफल किया। मनुष्य शरीर का आपने पूरा-पूरा सदुपयोग किया। इसका फल एक तो यह हुआ कि आप स्वर्ग जा रहे हैं, दूसरा, यहाँ पर आपके आने से इन नरकवासियों का भी बड़ा उपकार हुआ। आपके शरीर में लगकर जो हवा जा रही है इसके स्पर्श से ही इन नरकवासियों को भारी राहत मिल रही है। इसलिये इनका रुदन बंद हो गया है। राजा ने कहा—तो मुझे यहाँ जरा उतरने दो, मैं थोड़ा अवलोकन करूँ। राजा को देवदूतों ने उतारा। उस समय नरकवासी राजा की जय जय बोलने लगे। क्योंकि शरीर के छूटने के बाद बोध हो जाता है कौन पुण्यात्मा, कौन पापात्मा, मैंने कितना पुण्य या पाप किया। मरते-मरते ही यह सब उद्बुद्ध हो जाते हैं। राजा को लोगों ने पुण्यात्मा पहचाना और सभी जय जयकार बोलने लगे। राजा ने नरकवासियों से पूछा—आप सब सुखी हैं ? । उन्होंने बताया—आपकी कृपा से हम सब सुखी हैं। क्योंकि आप के शरीर में लगकर आ रही हवा से हमें भारी राहत मिल रही है। शान्ति

मिल रही है। आप से प्रार्थना है कि हम पर कृपाकर कुछ क्षण हमें सुख देने की कृपा करें। राजा ने कहा—यदि ऐसी बात है तो मैं यहीं पर रह जाऊँ। आप सबको सुख प्राप्त होता हो तो मेरे से इतना उपकार हो जाय, यह मेरे लिये धन्य भाग होगा।

'राजन'! समय हो गया। आप विमान पर आरूढ़ हो जाय' इधर देवदूतों की आवाज आयी। राजा ने मुड़कर देखा तो देवदूतों को हाथ जोड़े उन्हें विमान पर चढ़ने का इशारा करते देखा। राजा ने देवदूतों से कहा—हे देवदूतो! ये नरकवासी अनन्त कष्ट पा रहे हैं। मेरे कारण इनको शान्ति मिल रही है। अतः अब मेरा बिचार बदल गया है। मैं यहीं पर इन प्राणियों को सुख शान्ति देता हुआ रह जाऊँगा। मुझे स्वर्ग नहीं आना है। देवदूतों ने कहा—राजन! आपका बिचार उत्तम है। परंतु कर्म की गति विलक्षण है। पुण्यात्मा होकर आप नरक में डेरा नहीं जमा सकते। आप यहाँ अब अधिक ठहर नहीं सकते। यह पुण्यात्माओं का स्थान नहीं है। पाप के लिये प्राणी परवश है तो पुण्य के लिये भी पराधीन है।

"ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा"

भगवत्प्रेरित होकर जैसे पापी नरक में पहुँचे वैसे भगवत्प्रेरित होकर ही तुण्यात्मा स्वर्ग में भी जाते हैं। अतः आपको अब स्वर्ग की ओर चलना ही पड़ेगा। राष्ट्रपति झोंपड़े में नहीं रह सकता। उसके पीछे रक्षकदल हैं, कई सेक्रेटरी हैं। तब महान पुण्यात्मा राजा विपश्चित् नरक में कैसे रह सकते थे। देवदूत बोले—आप को स्वर्ग चलना ही पड़ेगा। राजा ने कहा—यदि ऐसी बात है तो आप मुझे नरक के मार्ग से लाये क्यों? और कैसे लाये, जब आप मुझे महान पुण्यात्मा मानते हैं। राष्ट्रपति झोंपड़ी में नहीं रह सकते तो उस मार्ग से भी नहीं लाये जाते। उनके लिये गमनागमन की व्यवस्था ही अलग होती है। देवदूतों ने कहा—आपने अपना

जीवन पुण्यमय ही बिताया। फिर भी जीवन में कहीं भूल हो जाती है। वैसी एक भूल आपसे हो गयी। राजा ने पूछा—क्या भूल मुझसे हुई ? देवदूत ने कहा—एक बार आप अत्यन्त व्यग्रता में थे। शत्रुओं ने राज्य पर चढ़ाई किया था। शत्रुओं को मार हटाने की व्यंग्रता में आप रास्ते में आते हुए महर्षि गौतम को अभिवादन नहीं किया। संत, गाय, भगवन्मंदिर आदि रास्ते में आवे तो न्यूनतम मन से ही अभिवादन कर लेना चाहिये। वैसे आपने नहीं किया। यदि अवसर हो तो यान से उतर कर प्रणाम करो। उतना न हो सके तो मन से अवश्यमेव प्रणाम करो। दूसरा हाथ जोड़ो। कुछ जरूर करो। जान बूझकर प्रणाम न करे तो प्रत्यवाय लगता है। भूल में भी ऐसा नहीं होना चाहिये। प्रश्न होगा—भूल तो भूल ही है, भूल में तो ऐसा होगा ही। उत्तर यह है कि भूल में ऐसा होगा, किन्तु भूल ही क्यों हुई ? प्रमाद से तो भूल हुई। अत एव मनुष्य को हमेशा ही सजग रहना चाहिये। भूल होवे नहीं, एतदर्थं ही प्रयास करना चाहिये। किसी सेठ के यहाँ काम करते समय यह भूल हो गयी, कहने मात्र से उत्तर नहीं होता। भूल क्यों हुई ऐसा ऊपर से प्रश्न होता है। प्रश्रय देने से बार-बार भूल होती जायेंगी। अतः अप्रमादी रहना चाहिये। गलती चाहे भूल से ही हुई तो भी परिणाम भोगना ही पड़ता है।

राजा विपश्चित् कहने लगे—यह आपने बड़ी अच्छी बात बतायी। परंतु मेरी भूल भी इस समय वरदान का काम करने लगी। मेरे नरक में आने से इन नरकवासियों को आराम मिल रहा है। मैंने महर्षि के प्रति जो भूल की तदर्थं अवश्यमेव वे दयालु मुझे क्षमा करें। फिर भी अब मैं इन नरकवासियों को इसी प्रकार दुःखी छोड़कर स्वर्ग नहीं आ सकता। देवदूत भी असमञ्जस में पड़ने लगे। पुण्यात्मा को नरक के मार्ग से लाना भी आफत सिद्ध हो गयी। देवदूतों ने कहा—जैसा भी हो, भगवदाज्ञा का तो पालन

करना ही पड़ेगा। उसमें आपकी इच्छा या अनिच्छा प्रयोजक नहीं है। राजा ने पूछा—क्या भगनान की आज्ञा का स्वरूप ? देवदूतों ने कहा—फलोन्मुख पुण्यों के होते हुए पुण्यात्मा नरक में नहीं रह सकता। उसको स्वर्ग जाना ही पड़ेगा। राजा ने कहा—यही बात है न ? मेरे पास पुण्य हो तब मैं यहाँ नही रह सकता। तो मैं अपना जीवन भर में किया पूरा पुण्य इन नरकवासियों को समर्पित करता हूं। मेरे पुण्य से ये सभी नरकवासी सुखी हों, स्वर्ग में चले जाय, और अनन्तकाल पर्यन्त मैं इस नरक में रहूँ। राजा ने मानसिक संकल्प से ही समस्त पुण्य उन नरकवासीयों को दिया। फिर क्या था—नरक में तो बिमानों का ताँता लग गया। राजा की प्रसन्नता का ठीकाना नहीं। राजा के प्रदत्त पुण्य से उस समय के समस्त नरकवासी विमानों में बैठ कर स्वर्ग चले गये। आखिर अकेला राजा रह गया। देवदूतों ने कहा—राजन ! आप के पुण्य से ये समस्त नरकवासी अब स्वर्ग चले गये। अब आप एकमात्र यहाँ रहे। अब आप भी इस बिमान में चढ़ जाइये। राजा ने कहा—मैं अनधिकृत चेष्टा नहीं कर सकता। मेरा पुण्य खलास हो गया है। अब मैं स्वर्ग जाने योग्य नहीं रह गया। राजा की आँखों में आँसू भरे हुए थे। देवदूत जोर से हँसे। और बोले, राजन् ! पुण्य का दान तो आपने किया। परंतु इस दान का कुछ फल नहीं है क्या ? राजा ने कहा—अश्वदान, गोदान, धनदानदि का पुण्य होता है। पुण्यदान का पुण्य कहीं वर्णित नहीं है। देवदूतों ने कहा—पुण्यदान दान नहीं, यह त्याग है। महान त्याग है। त्याग का फल अनन्त होता है।

"त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः"

त्याग का फल मोक्ष है। यद्यपि आप अभी मुक्त हो गये हैं। मुक्त का फिर उत्क्रमण नहीं होता।

"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते"

तथापि आपका उत्क्रमण प्रारंभ हो गया है। इसे पूरा करना पड़ेगा। उत्क्रमणार्थं अब पुण्य की जरूरत नहीं क्योंकि वह आरब्ध हो गया है।

देखते देखते नरक शून्य हो गया। राजा अति प्रसन्न हुआ। समष्टि के लिये राजा का वह त्याग था। युद्ध में भी यही बात है। समष्टि सुख के लिये जवान अपना सर्वस्व त्याग कर रहे हैं। शत्रु देश ने आक्रमण किया तो समष्टि राष्ट्र की रक्षा के लिये जवान लड़ रहे हैं, त्याग कर रहे हैं यह अनन्त पुण्यकारी है। इसका फल स्वर्ग मोक्ष सभी है।

स्वर्ग दो प्रकार का बनाया एक सान्त स्वर्ग और दूसरा अनन्त। अनन्त स्वर्ग को ही मोक्ष कहते हैं। वह दो प्रकार का है। एक क्रम मुक्ति। दूसरी सद्यो मुक्ति है। वैसे तो सद्यो मुक्ति तुरत मुक्ति को कहते हैं किन्तु व्यवहारार्थं हम यहाँ सद्यो मुक्ति उसको बोल रहे हैं, जो शरीर के साथ ही होता है। क्रम मुक्ति वह है जो पहले हमने क्रम दरसाया, "अग्नि ज्योति अहः," आदि क्रम से सूर्यमण्डल जाकर वहाँ से ब्रह्म लोक पहुँचना, फिर वहाँ से कल्पान्त में ब्रह्मा के साथ मुक्त होना इत्यादि, उस क्रम से जो मुक्ति होती है उसे क्रम मुक्ति कहते हैं। वेदों के अंदर यह बतया है कि चाहे जैसी भी मुक्ति हो **"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"** ज्ञान के बिना मुक्ति तो नहीं होगी। सद्यो मुक्ति वालों को तो यहीं पर ज्ञान होता है, क्रम मुक्ति वालों को ब्रह्मलोक में ज्ञान होता है। यहीं पर गुरूपसदन कर श्रवण मनन और निदिध्यासन विधिवत् करने से यहीं पर ब्रह्म तत्त्व साक्षात्कार होता है। उसके लिये फिर प्रतीक्षा की जरूरत नहीं होती। वह जीवित अवस्था में ही मुक्त होता है, फिर जीवनोत्तर कहना ही क्या? जीवितावस्था में मुक्त होने पर जीवन्मुक्त कहलाता है। और मरणोत्तर विदेह मुक्त कहलाता है। ब्रह्म लोक में जाने वाले यहीं पर ज्ञान प्राप्त कर मुक्त होते हैं।

किन्तु सवाल यह होता है कि ब्रह्म लोक में ज्ञान कैसे होता है ? क्या बिना श्रवण मनन निदिध्यासन ही वहाँ ज्ञान होता है या श्रवणादि पूर्वक ? बिना श्रवणादि ज्ञान नहीं हो सकता। हम पहले भी कई बार बता चुके कि वह ब्रह्म औपनिषद है, श्रवण मात्र गम्य है। अतः श्रवणादि पूर्वक ही ज्ञान स्वीकार करना होगा। किन्तु ब्रह्मलोक में उपनिषद की पुस्तकें मिलती है कि नहीं ? पढ़ाने वाला भी वहाँ कोई है ? है तो वह कौन सी दुकान और कोन सा गुरु है ? ब्रह्मलोक में कोई वेदान्त की पुस्तक नहीं मिलती और न वहाँ कोई गुरु ही है। ब्रह्माजी अपने कार्य में लगे हुए हैं। कोई पाठशाला या सत्संग भवन उन्होंने खोल नहीं रखा है। उपदेश आपको यहीं मर्त्यलोक में पाकर जाना होगा—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः
संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले
परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥

परिव्राजक के लिये यहाँ क्रम बताया है वेदान्त का निरन्तर श्रवण-कर तात्पर्य को सुनिश्चित कर लिया। किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार प्रति-बन्धक विशेष के कारण यहाँ नहीं हुआ। सन्यास योग से त्याग से यति महात्मा शुद्धान्तःकरण हो गये हैं। ब्रह्मलोक पहुँचने पर जो पूर्वश्रुत वेदान्त है वही वहाँ उनका काम करेगा। ब्रह्मलोक में रहते-रहते प्रतिबन्धकों का अपनयन होगा। वहीं पर ब्रह्म तत्त्व साक्षात्कार होगा। जो श्रवण किया है वह कभी व्यर्थ नहीं जाता। जन्मान्तर तो क्या ? ब्रह्मलोक में भी यही काम आता है। वहाँ ब्रह्म तत्त्व साक्षात्कार से परान्त काल में—कल्पान्त काल में मोक्ष होता है। परंतु जिन्होंने यहीं पर श्रवणादि नहीं किया उनको ब्रह्मलोक में भी तत्त्व साक्षात्कार नहीं होता। अतः ऐसे लोगों को ब्रह्म लोक से भी पुनरावृत्ति होती है। इसी आशय से आगे भगवान कहेंगे—

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन"

कहीं ब्रह्मलोक जाने वालों की क्रम मुक्ति बतायी और कहीं पुनरावृत्ति बतायी तो उसका रहस्य यही है। यहीं पर श्रवण मननादि से तत्त्व निर्णय कर ही लेना चाहिये। नहीं तो ब्रह्मलोक पहुँच कर भी पछताना पड़ेगा।

यही बात रणाभिमुखहत की भी है। रणाभिनुख मरण तो महान् त्याग है, उसमें कोई संशय नहीं। समष्टि परमात्मा के निमित्त वह त्याग है। परंतु इसके साथ ही श्रवण भी होना चाहिये। इसीलिये भगवान ने प्रथम बीस श्लोको में आत्मतत्त्वोपदेश योद्धा अर्जुन को दिया। अन्यथा युद्ध करने मात्र से मोक्ष मिलता। फिर "नासतो विद्यते भावो" "न जायते म्रियते" इत्यादि ज्ञानोपदेश की जरूरत न होती। अतः यहाँ यही सारांश निकलता है कि श्रवण द्वारा आत्म ज्ञान प्राप्त करो, भले ही परोक्ष हो, साथ ही त्याग भी करो। एक महात्मा गीता शब्द की बड़ी सुन्दर व्याख्या कर रहे थे—गीता त्याग शास्त्र है। गीता त्याग सिखाती है। बालमीकि की कथा आती है कि उलटा राम नाम जपकर वे सिद्ध हो गये। मरा-मरा से राम-राम हो गया। वैसे गीता भी उलटा नाम है। उसको बार-बार बोलो तो अवाज निकलेगी—तागी-तागी। तागी अर्थात् त्यागी। जगत को त्याग दिया। ऐसा त्यागी बनो। शरीरेन्द्रियादिका समष्टि के लिये त्याग करो। इस त्याग से ही अमृतत्व प्राप्ति है। मरते सब हैं। त्यागना तो सबको ही पड़ता है। किन्तु वह त्याग मजबूरी है। मजबूरन त्यागना ही पड़ेगा तो स्वेच्छा से क्यों नहीं त्यागते। मजबूरन त्याग करना जन्म का कारण है। दुःख का कारण है। स्वेच्छया त्याग अनन्त फलद है—

व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः।
स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥

स्वतन्त्र रूप से छूटने पर अनन्त ताप होगा। स्वयं छोड़ देने पर अनन्त सुख होगा।

समष्टि को परमेश्वर समझ कर तदर्थं त्याग करो। तदर्थं सेवा करो। वह त्याग और सेवा निष्काम होंगे। रास्ते में जा रहे थे। एक काँच का टुकड़ा पड़ा हुआ दिखाई दिया। आपने उसे उठाकर रास्ते से अलग फेंक दिया है। एक छोटी बात। किन्तु यह समष्टि सेवा है। ईश्वर सेवा है। आपने देखा, तो आप बच ही गये। अतः अपने लिये उसे उठाकर नहीं फेंका। दूसरे के लिये तो वह दूसरा कौन? आपका रिश्तेदार? फिर किस लिये, कुछ पाने के लिये? नहीं, यह निष्काम समष्टि सेवा है। जगह जगह प्याऊ लगाते थे। पहले समय में धर्मशाला बनवाते थे, कुआँ खुदवाते थे। अस्पताल विद्यालयादि सभी समष्टि सेवा है। इसलिये इन सबका नाम पूर्त्त रखा है। पूर्ण के लिये—समष्टि के लिये होने के कारण पूर्त्त है। यदि यह सब किसी वर्ग विशेष के लिये और नाम के लिये करते हैं, तो काम अच्छा जरूर है, फिर भी वह ईश्वर सेवा नहीं मानी जायेगी। क्योंकि उसमें व्यक्ति विशेष, वर्ग विशेष आदि का विभाजन हो गया। फिर भी वह काम उत्तम ही है। वस्तुतः वर्ग विशेषादि भावना के बिना करें तो अति उत्तम है। शरीर से कुछ न कुछ समष्टि सेवा करो। धन से कुछ न कुछ समष्टिनिमित्त दान करो। मन से समष्टिनिमित्त—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः"

इत्यादि रीति सद्भावना करो। यह समष्टि सेवा है। वैसे समष्टि निमित्त त्याग है। धर्मयुद्ध हर प्रकार का समष्टि निमित्त त्याग है। अत एव यह यदृच्छा प्राप्त स्वर्गद्वार है। कहीं अकाल पड़ गया, कहीं बाढ़ आयी, कहीं भूकम्प हुआ। तदर्थं धन एकत्रित कर आपने सेवा की, त्याग किया तो यह भगवत्पूजा हुई। यह यदृच्छागत स्वर्गद्वार है। किसी ने प्रश्न किया कि भगवान कहते हैं, ऐसा युद्ध

भाग्य से मिलता है। तो यह युद्ध दुर्भाग्य से आता है या भाग्य से ? युद्ध में सब कुछ खतम हो जाता है, सत्यानाश होता है। यह युद्ध भाग्य से कैसे प्राप्त हुआ है ?

इस तत्त्व पर ही कौरवों से पाण्डवों का रण हुआ
जो भव्य भारतवर्ष के कल्पान्त का कारण हुआ

ऐसा युद्ध भाग्य से मिलता है, यह समझ से बाहर है। हमने कहा—अस्पताल में कोई बिमार पड़ा, सेवा करने वालों ने कहा ऐसी सेवा का सुअवसर हमको कहाँ मिलेगा ? तो इसका अर्थ बिमार पड़ना अच्छा है ऐसा निकलता है क्या ?। अकाल से, बाढ़ से पीड़ित लोगों की सेवा करने का मौका मिला तो लोग प्रसन्न होते हैं। तो क्या इसका अर्थ अकाल पड़ना अच्छा है ? बाढ़ आना अच्छा है ? यदृच्छया से आये हुए पर विचार है। सेवा करने की दृष्टि से ऐसी परिस्थिति की प्राप्ति की प्रशंसा है ॥ ३२ ॥

●

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।

ततः स्वधर्मं कीर्त्ति च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।। ३३ ।।

[यदि तू इस धर्मयुक्त संग्राम नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्त्ति खोकर पाप का भागी बनेगा ।। ३३ ।।]

अन्वय व्यतिरेक बताया जा रहा है। कारण अकारण विवेक किया जा रहा है। पूर्व श्लोक में कारण विवेक किया। स्वधर्म करना चाहिये। करने से क्या लाभ है यह समझाया। और इस श्लोक में व्यतिरेक दिखाया जा रहा है—अकारण विवेक किया जा रहा है।

चार प्रकार का कर्म होता है। (१) करने से फल मिलेगा, न करो तो कोई बात नहीं। (२) दूसरा है—करने से कुछ नहीं मिलेगा। न करने से पाप होगा। (३) तीसरा है—करने से सुफल मिलेगा, न करने से पाप लगेगा। (४) चौथा है—करने से भी कुछ नहीं, न करने से भी कुछ नहीं। प्रथम कोटि का कर्म ज्योतिष्टोमादि है। हजारों लाखों रुपये खर्च करके यज्ञ दानादि किया, इष्टापूर्तादि किया तो उसका फल स्वर्ग मिलेगा। स्वर्ग का अर्थ मरने के बाद देवलोक में जाना ही नहीं है। स्वर्ग सर्वाभीप्सित है। स्वर्ग असल में सुख को ही कहते हैं। वैसे तो सुख मात्र स्वर्ग है। फिर भी सुख विशेष में वह रूढ़ है।

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम् ॥

इस प्रकार स्वर्ग की परिभाषा है। किन्तु दान पुण्यादि से स्वर्ग प्राप्ति होती है, इत्यादि व्यवहार से स्वर्ग पद का अर्थ केवल सुख

ही है। आपको इस जन्म में धन मिला, सुख मिला, पुत्र पौत्रादि संपदायें प्राप्त हुईं तो यह पूर्व जन्म कृत दान पुण्यादि का फलात्मक स्वर्ग ही है। क्या यह सुख सबको अभीष्ट नहीं है? आगे भी ऐसा ही सुख प्राप्त हो ऐसी चाह आप में है या नहीं? यदि है तो आप स्वर्गार्थी हैं, इसमें कोई शक नहीं। पुण्य क्षय से स्वर्गच्युति होगी इस भय से भी क्या कोई धनादि प्राप्ति से दूर रहता है? एक रोज धनादि छूट जायेंगे सोचकर अभी से कोई धनादि को फेंकता है? स्वर्ग सुखाभिलाषा सब में होती है। तो यज्ञदानादि सत्कर्म करो। करने से उसका फल मिलेगा। कुछ इस जन्म में और कुछ पर जन्म में। न करने से जो मिलना है सो नहीं मिलेगा इतना ही होगा और कोई नुकसान नहीं होगा। आप व्यापार या नौकरी, धंधा करेंगे तो धन प्राप्त होगा ओर यदि नहीं किया तो कुछ नहीं होगा। इसे हम काम्यकर्म कहते हैं। काम्य कर्मों का बड़ा खण्डन संत लोग ओर व्याख्याता लोग करते हैं। गीता रामायणादि की वैसी व्याख्या करते हैं। परन्तु काम्य कर्म का स्वरूप क्या यह नहीं जानते। क्या आपको रहने के लिये मकान नहीं चाहिये? क्यों नहीं चाहिये। अच्छा, अभी मिलेगा, वाद में बुढ़ापे में नहीं मिलेगा तो चलेगा?। कैसे चलेगा? बुढ़ापे में बल्कि और खास करके चाहिये। आपको धन चाहिये कि नहीं? उत्तम शय्यासनादि चाहिये कि नहीं? मान संमान चाहिये कि नहीं? सबका एक ही उत्तर है—चाहिये। जब इन सबकी कामना है तो काम्यकर्म क्यों नहीं करेंगे। क्या बिना कर्म किये मुफत में यह सब पाना चाहते हैं? कर्म करके कामना रखते हैं, यदि यह एक अपराध है तो मैं कहूँगा कर्म किये बिना कामना रखते हैं तो यह डबल अपराध है। निष्काम कर्म का रहस्य कुछ और है। उसकी व्याख्या हम यथास्थान करेंगे ही। यहाँ हम इतना ही कहते हैं कि कामना यदि है तो काम्य कर्म करना उचित ही है।

अब दूसरा कर्म प्रकार देखो। करने से कुछ नहीं मिलेगा। न करने से पाप लगेगा। वह कैसा ? प्रतिदिन सूर्य नमस्कार संध्या-वन्दनादि करना चाहिये। क्या मिलेगा करने से ? कुछ नहीं मिलेगा। फिर ? न करने से प्रत्यवाय लगेगा। यह भला कैसे ? न करने से पाप कैसा? पाप कर्म करे तो पाप होना चाहिये। कुछ किया ही नहीं तो पाप क्यों ? सुनो, लौलिक उदाहरण से समझो। आपके घर में पत्नी पुत्रादि हैं। उनका पालन पोषणादि आपको करना है। पत्नी का संरक्षण करना है, तुत्रों को पढ़ा लिखाकर योग्य बनाना है। उससे आपको क्या मिलेगा ? कुछ नहीं मिलेगा। आप कहेंगे—पुत्र बड़ा होगा तो कमायेगा, सेवा करेगा। यश बढ़ा-येगा। किन्तु यह सब अगर न हुआ तो ? कोई जरूरी नहीं है कि बड़ा लड़का कमायेगा ही। ऐसा भी हो सकता है जो आपने कमा कर रखा है, उसको भी उड़ा दे। कोई ग्यारंटी नहीं कि वह सेवा करेगा। उलटा तंग करना शुरू किया तो ? जरूरी नहीं ,है कि वह आपका यश बढ़ायेगा ही, बुरे संगत में पड़कर आपका अपयश ही करा दिया तो ? फल उसको कहते हैं जो निश्चित है। ज्योतिष्टोम का फल स्वर्ग निश्चित है। उसमें संशय हो जाय तो कर्म ही कौन करेगा। वैसे पुत्रादि पालन पोषण का कोई निश्चित फल नहीं है। तब ? जब फल निश्चिय नहीं है तो उनका पालन पोषण न किया जाये ? नहीं हो सकता। पालन पोषण न करेंगे तो पाप लगेगा। करने से कुछ नहीं, न करने से पाप लगेगा प्रत्यवाय लगेगा।

ऐसे कर्मों के कई विभाग हैं। नित्यकर्म, शान्तिकर्म, पूर्त्तिकर्म इत्यादि। संध्यावन्दनादि नित्यकर्म है। पुत्रपालनादि भी नित्य में प्रविष्ट कर सकते हैं। या नैमित्तिक में भी समझा जा सकता है। इनके करने से कुछ नहीं, न करने से प्रत्यवाय होगा। नैमित्तिक कर्म है—गुरु अतिथि ब्रह्मणादि के आने पर अभ्युत्थान वन्दनादि। गुरु आ गये तो आप उठ गये। संत आये तो आप उठे। उठने से

क्या मिलेगा ? कहो कि गुरु संत आर्शीवाद देंगे। कोई जरूरी है कि वे आशीर्वाद देंगे ही ? उन्होंने उठते हुए न देखा तो ? आशीर्वाद देने का ख्याल न आया तो ? तब क्या फल होगा ? निश्चित है, कुछ नहीं। आशीर्वाद दे तो अच्छी बात है। किन्तु न दे, तो उठना व्यर्थ है या नहीं ? नहीं। यदि नहीं उठते हैं तो प्रत्यवाय लगेगा। अतः अवश्य उठना, वंदनादि करना चाहिये। श्रीमद्भागवत सप्ताह श्रवणोत्तर गीता पढ़ना चाहिये। क्या मिलेगा ? कुछ नया फल ? नहीं। नया कोई फल नहीं मिलेगा। कर्म शान्ति के लिये ही गीतापाठादि करना चाहिये। महाभारत पढ़ने के बाद हरिवंश पुराण पढ़ना चाहिये। इस तरफ गुजरात आदि में प्रसिद्ध है कि महाभारत पढ़ने से घर में महाभारत शुरू होता है। उनकी मान्यता की पुष्टि भी हो जाती है क्योंकि महाभारत पूरा करने में कम से कम दो तीन साल लग ही जाते हैं, तो बीच में कोई न कोई झगड़ा अत्यधिक संभावित है। झगड़ा हो गया तो समझ लेते हैं कि महाभारत पढ़ने से ही झगड़ा हुआ। महाभारत पढ़ने से कोई झगड़ा नहीं होता। महाभारत तो पञ्चम वेद है। हाँ, कर्मशान्ति के लिये हरिवंश महापुराण बाद में पढ़ना चाहिये। पढ़ने से क्या मिलेगा ? कुछ नहीं मिलेगा। किन्तु न पढ़ने से प्रत्यवाय कर्मवैक्लव्य होता है। हरेक कर्म के बाद छोटी बड़ी थोड़ी अशान्ति होती है। अत एव श्रीमद्भागवत पाठोत्तर भी शान्तिकर्म कर्त्तव्य है। जैसे हमने बताया गीतापठादि। इस प्रकार पूर्तिकर्म है। एकादशी व्रत के बाद द्वादशी को पारणा की जाती है। द्वादशी के दिन ही पारणा होनी चाहिये। अम्बशोष की कथा में इसी मुसीबत में महर्षि दुर्वासा ने अम्बरीष को डाला था। वहाँ दुर्वासाजी को अम्बरीष ने भोजनार्थ आमन्त्रण दिया। दुर्वासा स्नान करने गये। इधर द्वादशी बीत रही थी। अतिथि को आमन्त्रण दिया तो भोजन कराये बिना स्वयं भोजन नहीं कर सकते। यदि नहीं करते हैं तो इधर द्वादशी को

ही जो पारणा करनी थी वह खतम हो जाती है। बड़े-बड़े पण्डितों को तुरत बुलाया। सभा की। परामर्श किया। पण्डितों ने निर्णय दिया—पारणा के निमित्त जल पिया जा सकता है। जल भोजन है भी और नहीं भी। पारणा की दृष्टि से भोजन होगा। और अतिथि आमन्त्रण की दृष्टि से अभोजन होगा। द्वादशी समाप्त होने में सिर्फ एक घड़ी रह गयी थी, उस समय यह पण्डित सभा का निर्णय हुआ। आज कल वैष्णव लोग द्वादशी को एकादशीव्रत करते हैं। और त्रयोदशी को पारणा। खैर, यहाँ पारणा का प्रश्न नहीं उठता। वहाँ जल पीना भी पारणा मानी। जलपान से भी बढ़कर हलुआ, पूड़ी एकादशी के रोज ही खा जाते हैं तो पारणा का सवाल कहाँ उठता है। इसलिये वह द्वादशी को करो या त्रयोदशी को करो क्या फरक पड़ने वाला है। अस्तु। इस पारणा का क्या फल है? एकादशी व्रत के फल से अतिरिक्त कोई फल है? नहीं। पारणा करने से कोई नया फल नहीं मिलता। किन्तु करने से एकादशीव्रतानुष्ठान बेकार जाता है। यह पूर्ति कर्म है। समस्त कर्मों के बाद भगवत्स्मरण-आराधन करना चाहिये। चाहे वह यज्ञ हो, दान हो या अन्य कोई। क्यों करना चाहिये? यह पूर्ति कर्म है।

यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु।
न्यूनं संपूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतम्॥

कर्म में कोई त्रुटि न्यूनता आदि हो तो उसकी पूर्ति के लिये भगवान का स्मरण तथा नामोच्चारण करो। यह फिनिशिंग का काम करता है। जैसे दिवार पर पलस्तर करते समय कोई खाड़ा रह जाय तो रंग वाले फिर लांबी भरकर पूर्ति करते हैं। उपर से रंग लगाने पर प्लेन दीखने लगता है। वैसे ही कर्म करते समय जो त्रुटि न्यूनता आदि रह जाती है तदर्थ भगवत्स्मरण तथा नामो-

च्चारण करना चाहिये। क्या इसका कोई अलग फल मिलता है? नहीं। जो यज्ञादि का फल है वही फल मिलता है। किन्तु न करने पर कर्म पूर्णतया सफल नहीं होता। और वेदान्त मत में पूर्णतया क्या, बिल्कुल ही सफल नहीं होता। पुष्पदंताचार्य का कहना है कि नष्ट कर्म भला कैसे फलदायी होगा?

क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां
क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते

पुष्पदन्ताचार्य कहते हैं कि कोई कर्म एक दिन का होता है, कोई तीन दिन का, कोई दस दिन का, कोई महीने भर का, साल भर का भी समझ लो, आखिर वह कर्म समाप्त होगा कि नहीं? प्रसिद्ध है—यह कर्म तीन दिन में समाप्त हुआ, साल में समाप्त हुआ इत्यादि। समाप्त हो गया माने खतम हो गया। जो खतम हो गया वह फल कैसे देगा। जो वृक्ष खतम हो गया, सूख गया, वह फल कैसे देगा? जो गाय मर गयी, वह दूध कैसे देगी? जो तन्तु जल गया उससे कपड़ा कैसे होगा? वैसे नष्ट कर्म भी फलदायी किस प्रकार? अतः फल देने के लिये भगवान को जगाना पड़ेगा। अत एव कर्म करने के बाद भगवान का स्मरण अवश्य करो। "क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते" कर्म का जो फल है वही पुरुषाराधन का है। कोई नया फल नहीं। तथापि न करने से वह कर्म वृथा जायेगा। यह पूर्ति कर्म है। जो ये चार प्रकार के कर्म बताये—नित्य, नैमित्तिक, शान्ति और पूर्ति इनको करने से कोई स्वतन्त्र फल नहीं होता। न करने से प्रत्यवाय होता है, यही द्वितीय कोटि का है।

तीसरी कोटि का कर्म है—करने से सुफल मिलेगा, न करने से प्रत्यवाय लगेगा। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र इसी तृतीय कोटि में युद्ध को रख रहे हैं। पूर्व श्लोक में बताया कि इस युद्ध के करने

से स्वर्ग प्राप्त होगा—यह खुला स्वर्गद्वार है। और इस श्लोक में बताया कि इसे न करोगे तो पाप लगेगा—प्रत्यवाय लगेगा। इसका घरेलू उदाहरण सुनो। माता-पिता गुरु वृद्ध सेवा करो तो सुफल मिलेगा। उनका महान् आशीर्वाद प्राप्त होगा। आशीर्वाद वे दें या न दें तो भी सेवा कभी विफल नहीं जाती। सेवामात्र सुफल दायिनी है। **"सेवाधर्मः परमगहनः"** सेवा शुश्रूषा से फल मिलता ही है। संतों में कहावत है—सेवा करोगे तो मेवा मिलेगा। दो अर्थ है यहाँ। गुरुजी के पास भगत लोग आकर फल मेवा आदि चढ़ाते रहते हैं। जो चेला सेवा में रहता है उसे मेवा मिल जाता है और जो दूर रहता है उसको कुछ नहीं मिलता। क्योंकि गुरु लोग ज्यादा पर प्रतीक्षा थोड़े ही करते हैं। दूसरा कोई भगत आया तो प्रसाद में ही बाँट देंगे। दूसरा अर्थ है—सेवा करने पर मेवा माने सुफल—उत्तम कर्मफल मिलेगा। इस प्रकार गुरुजनों की शुश्रूषा से सुफल मिलता है। परन्तु उनकी सेवा न करें तो पाप लगेगा। दशमस्कन्ध का यह श्लोक है, जिसे स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कहा—

मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम्।
गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन्मृतः॥

माता-पिता वृद्ध हो, पत्नी साध्वी हो, पुत्र शिशु हो तो अवश्यमेव उनका पालन करो। तथा गुरु, विप्र तथा शरणागत इनका भी पालन करो। इनमें कुछ तो नित्यकोटि के हैं, न करने से प्रत्यवाय लगता है। किन्तु अधिकतर तो उभय कोटि के हैं अर्थात् तृतीय कोटि के हैं। सेवा करने से सुफल मिलेगा। न करने से पाप लगेगा। इनमें मुख्य माता-पिता गुरु की सेवा है। पति पत्नी का पालन पोषण करे और पत्नी पति की सेवा करे ये दोनों परस्पर धर्म है।

ये तीन कोटियाँ मुख्य हैं। चतुर्थ कोटि है—न तो करने से कुछ होता है और न तो न करने से कुछ होता है। परन्तु यह कोटि संसारीयों की नहीं है। यह तत्त्वज्ञानियों के लिये है—

"नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन"

इस प्रकार आगे गीता में ही हम सुनेंगे। यह निरर्थक कर्म को लक्ष्यकर नहीं कहा जा रहा है। जैसे 'इस कोठे का धान उस कोठे में धरा" करो तो कुछ नहीं, न करो तो भी कुछ नहीं। क्योंकि निरर्थक कर्मों के करने न करने पर विचार ही नहीं होता। प्रत्युत कहीं वह—

"न कुर्यान्निष्फलं कर्म"

इस प्रतिषेधका विषय तो नहीं बन रहा, यह देखना पड़ेगा। व्यर्थ कर्म नहीं करना चाहिये।

इस श्लोक में धर्म्यं यह एक विलक्षण विशेषण आया है। धर्म्यं विशेषण क्यों दिया ? इस संग्राम को तुम नहीं करोगे तो स्वधर्महानादि होगा, इतना ही कहना पर्याप्त था। अत एव धर्म्यं यह विशेषण कुछ विशिष्टार्थं लाभार्थं निश्चित होता है। वह अर्थं यह है कि उत्तरार्धं में जो तीन बातें बतायीं—स्वधर्मं हानि, कीर्त्ति-हानि और पाप प्राप्ति इन तीन में धर्म्यंता कारण है। धर्म्यं होने से यह अवश्य कर्त्तव्य है। संग्राम उसका प्रकृतोपयोगी निदर्शन (उदाहरण) मात्र है। अत एव इसकी व्याख्या व्यापक दृष्टि से करना चाहिये। धर्म्य का अर्थं है—"धर्मादनतेतं" धर्मं से अनपेत।

"धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते"

ऐसा पाणिनीय सूत्र है। अपेत माने अपगत—हटा हुआ। जो अपेत नहीं वह अनपेत। अर्थात् कर्त्तव्यत्वेन प्राप्त। धर्मंयुक्त। किसके लिये क्या धर्मयुक्त है, धर्म्यं है ? इस विषय में हमें वर्णाश्रम धर्म पर विचार करना होगा। युद्ध धर्मं जरूर है। किन्तु क्षत्रिय के लिये

वह धर्म्य है। ब्राह्मण के लिये धर्म्य नहीं है। करो, बात अलग है जैसे द्रोणाचार्य ने किया। शास्त्रों में धर्म विभाग किया है। ब्राह्मणादि वर्णों के लिये बताया है—

षट्कर्मा ब्राह्मणः इतरे त्रिकर्माणः।

ब्राह्मण षट्कर्मा होते हैं। अन्य त्रिकर्मा होते हैं।

"इज्याध्ययनदानाति विहितानि द्विजन्मनाम्"

तीन कर्म सर्व साधारण है। इज्या माने यज्ञ, अध्ययन और दान। ब्राह्मण के लिये इनमें तीन और जोड़िये याजन, अध्यापन और आदान।

अध्यापनं चाध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानमादानमित्येवं षड्कर्मा ब्राह्मणो भवेत्॥

वेदाध्ययन सबको करना चाहिये। अध्ययन से मुख्य वेदाध्ययन लिया जाता है। आप यदि अपने को द्विज कहलाते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य कहलाते हैं तो प्रथम अपने से ही पूछिये कि क्या मैं वेदाध्ययन करता हूँ? खाली ऊँच नीच भाव रखने के लिये जाति विभाग नहीं है। कर्म विशेष करने के लिये जाति विभाग है। अपने को ऊँची जाति केवल कहें और वेदाध्ययन न करें तो यह विडम्बना मात्र होगी। मनुस्मृति की स्पष्ट उद्घोषणा है—

योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

वेदाध्ययन किये बिना अन्यत्र ही जो श्रम करता है, वह मरने के बाद शूद्र योनि में जन्म लेगा ऐसी कल्पना मत करो। जिंदा ही कुटुम्ब सहित शूद्र होता है। आप वेदाध्ययन न करें और शूद्र से उत्तम होने का दावा करें यह सर्वथा गलत है। शूद्र का भी सर्वथा वेदाध्यायन में अनधिकार नहीं है यह पूर्वमीमांसा में विचारित

है। और अन्यत्र यह भी विचार चलाया है कि कर्मकाण्डात्मक सस्वर वेदाध्ययन का ही अभाव शूद्र को है। खैर, यह एक विचारान्तर है। हम प्रकृत में यही विचार करें कि हम अपना धर्म्य कर्म करते हैं या नहीं। अध्ययन अवश्य करना चाहिये, सो भी वेदाध्ययन का अत्यन्त लोप हो रहा हो तो उस स्थान की पूर्त्ति किसी अंश में गीताध्ययन से हो सकती है। गीता वेद तो नहीं है, फिर भी वेदतुल्य है ही। "भगवद्गीतासूपनिषत्सु" ऐसा हम पढ़ते ही हैं। यह कुशाभाव में काश का प्रयोग है। भगवान को वस्त्र चढ़ाना है। वस्त्र नहीं है, तो "वस्त्रार्थे रक्तसूत्रं समर्पयामि" होता है। वह भी पूजा में नियमपूर्त्त्यर्थं। आप स्वयं के लिये कोई वस्त्रार्थे रक्तसूत्र दे दें तो आपको उससे काम नहीं चलेगा। वेद श्रुति है। गीता स्मृति है। भगवदुक्त होने से इसकी महत्ता है। अत एव वेदाभाव में गीताध्ययन तदर्थं पर्याप्त है। रामायण पुराणादि अध्ययन भी पश्चात हो। ब्राह्मण हो तो वेदों का अध्ययन भी करे और अध्यापन भी करे। वेदाध्ययन करने से पुण्य मिलेगा। न करने से प्रत्यवाय बताया ही—"शूद्रत्वमाशु गच्छति" क्षत्रिय के लिये संग्राम जैसा धर्म्य है, वैसा वेदाध्ययन सबके लिये धर्म्य है।

दूसरा है यजन यह भी धर्म्य है। रोज यजन करना चाहिये। यजन माने यज्ञ हवनादि। क्या आप द्विजाति बतलाने वाले रोज यागयज्ञ हवन करते हैं? यदि नहीं करते तो द्विजाभिमान किमर्थं करते हैं? यह भी धर्म्य है। यजन करना बड़ी भारी समस्या है। कोई आर्य समाजी हो तो लोहे का चूल्हा यज्ञकुण्ड बनाकर हवन भी करते। सो भी महीने में एकाधबार हो तो जचे। रोज यह झंझट किस प्रकार? झंझट समझकर नहीं करना है। धर्म्य समझ कर करना है। महापुरुषों ने इस संकट के लिये भी कुछ रास्ते निकाले हैं। रास्ता गीता में कहा है—

अहं वैश्वनरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥

तो प्राणाहुति भी यज्ञ है। प्राणिनां यह विशेषण सकल प्राणि बोधक होकर अन्य प्राणी में हवन सूचित करता है। अर्थात् प्रतिदिन किसी पवित्र व्यक्ति को अन्न खिलाईये। और स्वयं भी 'प्राणाय स्वाहा' आदि मन्त्र बोलते हुए भोजन पूर्व प्राणाहुति दीजिये। यह भी एक यजन है। परन्तु ध्यान रखें कि यह वस्त्रार्थें अक्षतान् समर्पयामि के सदृश ही है। क्योंकि यजन का मुख्य अर्थ तो बाह्याग्नि में मन्त्रोच्चारण पूर्वक आहुति दान ही है। इतना न होने पर तब की बात है—

"अभावे शालिचूर्णं वा"

ऐसा न्याय प्रसिद्ध है। वैसे तो मानस यज्ञादि की अत्यन्त महत्ता है। परन्तु वह सब उस भूमिका तक पहुँचने पर की बात है। प्रतिदिन प्राणाहुति देकर भोजन करो। प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान के लिये पाँच आहुतियां दी जाती हैं। वैसे ही कोई बुभुक्षु पात्र को भोजन यज्ञभावना से दीजिये। जो मांसादि भक्षण न करता हो, जिसका उदर पवित्र हो, उसके उदर में भगवान की व्यक्त रूपेण स्थिति है। भगवान सबके उदर में हैं, किन्तु जैसे साधु संतों के लिये कहा—

"तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः"

साधु संन्यासी संतो में भगवान रहते हैं। तो क्या अन्यों के हृदय में नहीं ? हैं, किन्तु व्यक्त रूप से नहीं। वैसे पात्र के उदर में भगवान वैश्वानारात्मक व्यक्त रूप से वास करते हैं। उनको खिलाना यज्ञ रूप है। तो क्या अन्य को खिलाना पाप है ? एक ने मुझसे पूछा, महाराज ! हमें क्या मालूम कि ये रास्ते में बैठे हुए भिखारी सब पात्र है या नहीं। मैंने उत्तर दिया पात्र हो तो भगवान में

अन्न गया। यदि पात्र नहीं हो तो पेट में गया, उसमें तुम्हारा क्या बिगड़ा ? पाप कैसा ? अन्न के सभी अधिकारी हैं। हम यहाँ केवल यजन की बात कर रहे हैं। अपात्र होगा तो वह अन्नदान यज्ञ नहीं होगा, मात्र इतनी ही बात है। ब्राह्मण हो तो यजन करे भी और करावे भी। दूसरों से यजन कराना भी ब्राह्मण का कर्त्तव्य है और स्वयं करना भी चाहिये। न कि केवल दक्षिणार्थं कराने ही कराने में रह जाय। यह भी धर्म्य है। यजन करने से महापुण्य होगा ही। किन्तु दैनिक न्यूनतम यज्ञ भी न करें तो प्रत्यवाय भागी बनते हैं।

तीसरा दान है। क्षत्रिय, वैश्यादि दान करे। प्रतिग्रह न करे। प्रतिग्रह करने के लिये बहुत कुछ विचार करना पड़ेगा। एक तो प्रथम यही बात है कि लेनेवाला हमेशा छोटा होता है। दाता बड़ा होता है। इसलिये प्रतिग्रहीता की अंजलि नीचे होती है। और दाता का दक्षिण हस्त ऊपर होता है। लेने वाला नीचे ही रहेगा। छोटे मत बनो। बड़े बनो। अभिमान की यह बात नहीं है, उत्कर्ष की बात है। जीवन ऊँचा बनावे तो ही प्रगति होगी। दान लेकर जीना प्रथम अपकर्ष है। उस पर याचना से दान प्राप्त करें तो कहना ही क्या ? उसे श्ववृत्ति बताया है। क्षत्रिय एवं वैश्य होकर दान मत लो। ब्राह्मण होकर क्यों दान ले ? उत्तर है कि अध्ययनादि में वह ऊँचा है, तो प्रतिग्रह में थोड़ा छोटा पड़ भी जाय तो एवरेज बराबर हो जायेगा। इसलिये आपके घर में ब्राह्मण आवे तो उभयदृष्टि हो जाती है। दान लेता है—तो उसको कहते हैं बेचारे का गुजारा होना चाहिये—बेचारा बन गया। किन्तु विद्या आदि दृष्टि से आप उत्कृष्ट भी मानते हैं तभी तो प्रणाम करते हैं। परन्तु सन्त महात्मा गुरुओं के लिये अलग बात है। उनको कुछ दो तो ऊपर हाथ करके नहीं देते। तश्तरी में रखकर उनसे स्वयं लेने के लिये कहते हैं। अर्थात् मेरा हाथ नीचे ही है। आपका ही

हाथ ऊपर है। इसी कारण महात्मा के हाथ में दक्षिणा नहीं देते। हाथ में दिया तो हाथ नीचे हो ही जायेगा। अतः दक्षिणा महात्माओं के चरणों में रखा करो। सारांश यह है कि दान भी प्रतिदिन करना चाहिये। धर्म्य के रूप में अनेक विध कार्य इस प्रकार उपस्थित होते हैं। ये तीन मुख्य हैं। यह नित्य जैसे हैं। नैमित्तिक रूप से यदृच्छया आनेवाला संग्रामादि है। अतः धर्म्यत्वात् संग्राम अवश्यकर्त्तव्य है, यह सूचित किया।

ततः स्वधर्मं कीर्त्ति च हित्वा। धर्म्य संग्राम नहीं करेंगे तो स्वधर्म हान स्पष्ट है कहने की क्या जरूरत ? धर्म नहीं करेंगे तो धर्माभाव होगा, यह तो स्वाभाविक है। रुपये नहीं रखेंगे तो रुपये का अभाव होगा, यह निश्चित है। कहना अनुपयोगी है और इतना तुरत अनुवाद करने की भी जरूरत नहीं। तथा 'कीर्त्ति हित्वा' यह परिणाम कथन होने से 'स्वधर्मं हित्वा' यह भी परिणाम कथन ही मानना चाहिये, न कि 'संग्रामं न करिष्यसि' का अनुवाद। अतः स्वधर्मं हित्वा का अर्थ है—स्वधर्माचरण से कमाये हुए संचित पुण्य को भी खोकर। अथात् वर्त्तमान संग्राम धर्म खो दिया इतना अर्थ नहीं, किन्तु जीवन में संपादित अन्य धर्मों को भी खो दिया यह अर्थ है—धर्म के क्षरण में अनेक हेतु बताये हैं।

(१) प्राप्त कर्त्तव्य के परित्याग से धर्म क्षरित होता है। एक आदमी को मैंने देखा, तीस चालीस वर्ष ऊमर तक बड़ी पवित्रता के साथ रहा। वह ब्राह्मण था। स्वयंपाकी था। संध्या पूजा पाठादि करता था। किन्तु उसके बाद उसका दिमाग फिरने लगा। धीरे-धीरे स्नान संध्यादि उसके छूटे। पवित्रता छूट गयी। होटलों में खाने लगा। धीरे-धीरे खाद्याखाद्य विचार भी समाप्त हो गया। बड़ा अशुचि होकर रहने लगा। पहले वह दूसरे के हाथ का छुआ हुआ नहीं खाता था। अब सबका खाने लगा। तो क्या पूर्वसंचित

पवित्रता और तत्प्रयुक्त पुण्य रह जायेगा ? धीरे-धीरे पुण्य क्षरित होगा। हिमालय की गुफा में रहने वाले एक ब्रह्मचारी को देखा। पचास वर्ष तक ब्रह्मचारी रहा। फिर एक ऐसी लड़की मिली, उसने फँसाया। शादी किया। वह भी आचरण हीन लड़की थी। क्या वह ब्रह्मचर्य पुण्य ज्यों का त्यों बना रहेगा ? धीरे-धीरे वह क्षरित होगा। प्राप्त कर्तव्य तो करना चाहिये।

(२) अधर्माचरण से भी धर्म क्षरण होता है। इधर प्रातःकाल संध्यावंदन पूजा पाठादि करें और दूसरी ओर शराब भी पिये। तो प्रथम पूजा पाठादि का फल रहेगा कि नहीं ? पूजा पाठ फल जरूर होगा। किन्तु अधर्माचरण से वह क्षरित होगा। धीरे-धीरे नष्ट होगा। 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' यह तो निष्काम कर्मयोग सांख्य-योगादि की बात है। धर्म रक्षण के लिये अधर्माचरण से निर्मुक्त रहना चाहिये।

"कर्मनाशा जलस्पर्शाद्धर्मः क्षरति कीर्त्तनात्"

(३) शास्त्रों में लिखा है—कर्मनाशा नाम की एक नदी है। उसके जल का स्पर्श करने से भी धर्म क्षरित होता है। नेपाल में वह नदी है। क्या उसके अंदर दोष है यह तो लिखने वाले ही जानते हैं। शास्त्र मात्र इसमें प्रमाण होगा।

(४) इसी प्रकार स्वकृत धर्म का स्वयमेव प्रचार करने लगे तो भी धर्म का क्षरण होता है। अपनी स्तुति अपने आप मत करो। **"प्रियं कृत्वा मौनम्"** प्रिय कर्म करने के बाद मौन रहना चाहिये। अपनी महत्ता सिद्ध करने की कोशिश मत करो। अपनी स्तुति अपने आप करने से स्वधर्म क्षरित होता है। सेठ लोग धर्मशाला, अस्पताल आदि बनवा कर फिर हर व्यक्ति से यह कहते रहते हैं हमने ऐसा बड़ा काम किया, ऐसा श्रेष्ठ काम किया। इतना परिश्रम मैंने किया। अपनी प्रशंसा से वे छूटते नहीं, लेकिन वे अपनी

प्रशंसा करते-करते धर्म पर पानी फेर देते हैं। हाँ, किसी अनजान व्यक्ति के प्रति कहना अनुचित नहीं है, यदि उससे वह प्रेरणा पाकर स्वयं भी ऐसे धर्म कार्य में लग जाय। उसमें फिर सिद्धान्त बदल जाता है। वह फिर अपनी प्रशंसा के लिये प्रशंसा नहीं करता, दूसरे को प्रेरित करने के लिये अपनी बात करता है, क्योंकि दुनिया बड़ी विलक्षण है। देखा-देखी करने वाले ही अधिक होते हैं। चंदा देने वाले सेठों में देखा जाता है कि यदि पहले वाले ने पाँच सौ लिखाया तो दूसरे भी पांच सौ दो सौ ऐसा लिखाते हैं। पचास लिखाया तो दूसरे भी पचास, सौ, पचीस, इस हिसाब से लिखाते हैं। इस प्रकार प्रशंसा से अन्य को प्रेरित करना लक्ष्य है तो वह प्रशंसा ग्राह्य है। दूसरे के लिये आदर्श बनना लक्ष्य है तो ठीक है। परन्तु केवल बड़प्पन दिखाना या गर्व करना लक्ष्य है तो उससे धर्म क्षरित होता है। प्रतिदिन दस हजार जप कीजिये। यदि दस हजार जप करके लोगों से कहते फिरें कि मैं बड़ा भक्त हूँ, भक्तराज हूँ तो धर्म क्षरित होता है। जप तप जो भी करो, सो अपने लिये करो। दूसरों को दिखाने के लिये नहीं। हाँ, यदि आपका जप देखकर घर में बच्चों को प्रेरणा मिलती हो तो दिखाकर करिये। अन्यथा माला लिये फिरने से भी लाभ नहीं होगा।

क्षरण का अर्थ क्या है? एकाएक नष्ट नहीं होता। जैसे फूटे घड़े में पानी भरने से धीरे-धीरे पानी चूकर अन्त में खलास होता है, वैसे कर्त्तव्य अकरण से अकर्त्तव्य करण से तथा आत्म प्रशंसा से धीरे-धीरे धर्म चू जाता है और वही सिलसिला जारी रहा तो अन्त में पूरा धर्म खलास हो जाता है। अतएव कर्त्तव्य के प्रति सजग रहना चाहिये। अकर्तव्य की ओर प्रमाद पतित न होना चाहिये। स्वीय धर्म की स्तुति से बचे रहना चाहिये। "न शोभते गुणः पुंसां स्वयं स्वगुणवर्णने" यह उक्ति भी प्रसिद्ध है। इसी आशय से भगवान यहाँ 'ततः स्वधर्मं हित्वा" कह रहे हैं।

युद्ध केवल परलोक के सुधार के लिये ही नहीं है कि करने से स्वर्ग मिलेगा, न करने से धर्म क्षरण होकर पाप लगेगा। किन्तु इहलोक सुधार का भी कारण है। इसी आशय से 'किर्ति च हित्वा' कहा। यही प्रथम भी "अकीर्त्तिकरमर्जुन" से भी सूचित किया था। यद्यपि कीर्त्ति का अभाव ही अकीर्त्ति नहीं। किन्तु कीर्त्ति विरोधी अपयश ही अकीर्ति है, तथापि अपयशरूपी अकीर्त्ति हुई तो भी कीर्त्ति कहाँ रह जाती है ?

पापमवाप्स्यसि। अर्जुन ने पहले कहा था **"पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः" "अहो वत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयं"** इत्यादि। उसका समाधान यद्यपि आगे कहेंगे **नैवं पापमवाप्स्यसि"**। परन्तु प्रथम प्रतिबंदी उत्तर दिया जा रहा है। हे अर्जुन! तुम कहते हो, युद्ध करने से पाप लगेगा, किन्तु हम कहते हैं—युद्ध न करने से पाप लगेगा।

"संग्रामं न करिष्यसि-पापमवाप्स्यसि"

इधर पाप है, उधर भी पाप है। पाप से छुटकारा नहीं है तो अब सोच लो कौन सा पाप अंगीकार करना है। युद्ध करने से स्वजनवध पाप लगेगा। किन्तु युद्ध न करने से स्वधर्म त्याग, कीर्त्तिनाश तथा परधर्मानुष्ठान प्रयुक्त पाप ये तीनों एक साथ में हो जायेंगे। अतः अपने निर्णय पर पुनर्विचार करो ॥ ३३ ॥

●

अकीर्त्ति चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्
संभावितस्य चाकीर्तिमंरणादतिरिच्यते ।। ३४ ।।

[इतना ही नहीं, लोग अनन्तकाल तक तुम्हारी अकीर्त्ति भी करते रहेंगे। और संमानित व्यक्ति के लिये अकीर्त्ति तो मरण से भी बढ़कर बुरी होती है ।।३४।।]

पूर्वश्लोक में भगवान ने कहा—हे अर्जुन यदि इस धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करोगे तो धर्म को भी खो दोगे और कीर्त्ति को खो दोगे—"ततः स्वधर्मं कीर्त्तिं च हित्वा"। इनमें स्वधर्म को छोड़ने से फिर क्या होगा ? इसका उत्तर दिया—पापमवाप्स्यसि। स्वधर्म को छोड़ोगे तो पाप प्राप्त करोगे। कीर्त्ति को खोने से क्या होगा ? इसका उत्तर पूर्व श्लोक में नहीं दिया था। वही अब इस श्लोक में बताने जा रहे हैं—**"अकीर्त्तिं चापि"**। कीर्ति खोने से अकीर्त्ति—अपयश हाथ लगेगा, यह पूर्व श्लोक का ही शेष है। अकीर्त्ति का अर्थ कीर्ति का अभाव ही नहीं है। उतना तो पूर्वश्लोक में ही—"कीर्त्तिं च हित्वा" से कह दिया। यहाँ अकीर्त्ति का अर्थ अपकीर्त्ति है, अपयश है।

अपकीर्त्ति से क्या होगा ? यह उत्तरार्ध में बतायेंगे। अत एव हर प्रकार से मनुष्य को अपकीर्त्ति से बचना चाहिये और तदर्थ कीर्ति का संपादन भी करना चाहिये। यश से, कीर्त्ति से मनुष्य महापुरुष होता है, महात्मा होता है। हजारों मनुष्य पैदा हो रहे हैं, मर रहे हैं, उनकी कीमत वर्त्तमान में वे भले ही बहुत कुछ समझें, किन्तु आगे पीछे का विचार करने पर जो हजारों कीड़े, मकोड़े, फतींगे पैदा होते हैं और मरते हैं, उनसे कुछ ज्यादा सिद्ध नहीं होगी। उनके जीवन से न समाज को कोई विशेष लाभ है और

न मरण से ही कोई भारी नुकशान होता है। अतः मनुष्य को महात्मा बनकर रहना चाहिये और जाना चाहिये। यश के बिना कोई महात्मापद के योग्य नहीं होता।

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा
सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥

गृहस्थ में महात्मा के ये लक्षण हैं। संत महात्मा का जो भी लक्षण हो, किन्तु गृहस्थ महात्मा के तो ये ही लक्षण हैं। तिलक लगाया, कषाय वस्त्र पहना रामनाम कहने लगे तो संत महात्मा बन गये। किन्तु गृहस्थ को महात्मा बनने के लिये ये छः गुण प्रादुर्भूत होने चाहिये। और ये सभी अन्त में यश में पर्यवसायी होते हैं।

(१) विपदि धैर्यम्। जीवन में बिपत्तियों का आना अनिवार्य है। अनेक विध कष्ट, अनेक विध दुःख एवं नानाविपत्तियों से संघर्ष करते हुए आगे बढ़ते जाना यही जीवन है। जीवन की यह अनिवार्यता है। परंतु देखना यह है कि उस समय की अपनी स्थिति कैसी है ? कोई चाहे कि हम हमेशा के लिये दुःख विपत्तियों को मिटा देंगे तो यह असंभव है। विचार इतना ही हो सकता है कि उन विपत्तियों में अपनी स्थिति कैसी होनी चाहिये।

अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि।
तदा दुखैर्नं लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः ॥

यह कलियुग चल रहा है। इसे निम्न स्तर का युग मानते हैं। इससे पूर्व तीन युग बीत गये हैं—सत्य, त्रेता और द्वापर। उस समय के लोग धार्मिक मनस्वी यशस्वी आदि होते थे। किन्तु वे भी अवश्यं भावी को नहीं मिटा सके। सत्ययुग में अत्यन्त प्रसिद्ध एक महान् राजा हुए, जिनका नाम राजा नल था। जिनका बड़ा विशद वर्णन

महाकवि श्री हर्ष ने नैषधीय चरित में किया है। प्रथम श्लोक ही में अपूर्व वर्णन है—

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथा-
स्तथाद्रियन्ते न बुधाः सुधामपि।
नलः सितच्छत्रितभूतिमण्डलः
स रशिरासिन्महसां महोज्ज्वलः॥

नल क्या ? मानो तेज का ही पुञ्ज था। समग्र पृथिवी का वह राजा था, जिसकी कथा सुनते-सुनते देवता लोग अमृत भी भूल जाते थे। द्यूत में हारने से उसी नल को स्वराज्य छोड़ना पड़ा। जंगलों में भटकना पड़ा। व्याध का जीवन बिताना पड़ा। साथ में उसकी पत्नी दमयन्ती भी। बीच में ऐसी भयंकर परिस्थिति आ गयी कि दमयन्ती को भी छोड़ना पड़ा। कर्कोटक नाम के महा सर्प ने नल को काटा। मरे तो नहीं, किन्तु शरीर काला हो गया। अवश्यं भावी को कौन मिटा सकता है। परंतु नल ने उस भयंकर विपत्ति में भी धैर्य नहीं खोया। जिसका ही परिणाम अद्य पर्यन्त यशस्वी है। ठोकर खाये बिना यश नहीं होता। सत्य युग के बाद त्रेता युग की ओर झाँको। त्रेता युग के युग पुरुष तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान राम ही थे। यहाँ तक कि वे भगवान ही थे। फिर भी चौदह वर्ष जंगलों में भटकते रहे। राजा नल की जैसी ही दशा। एक वर्ष तक पत्नीवियोग। उसमें भी अपहरण का मामला। पत्नी-संरक्षण का मामला। इज्जत का मामला। आप लोग जंगल की कथा सुनने समय सोचते होंगे, शिमला महाबलेश्वर जैसा स्थान होगा। कन्दमूल तो आलू शक्कर कंद जैसे मिलते होंगे। अति भयंकर यातनायें वहाँ होती हैं। हमने अनुभव किया है। चारों ओर काँटे कंकड़। बारिष के समय की अति भयानकता आदि अवर्णनीय है। नागपुर के पास राम टेकरी की भी हम यात्रा कर आये। उस त्रेतायुग में वहाँ की क्या स्थिति रही होगी। आप कह सकते हैं कि

भगवान की यह सब लीला मात्र रही। यथार्थ है। सारा जगत ही उनकी लीला है। किन्तु यह सब सामान्य लीला में अन्तर्गत नहीं होती। भगवान भी स्वयं आवे फिर भी उनका भी मनुष्य शरीर में मनुष्यों का नियम पालना ही पड़ेगा। अतएव ये कष्ट भी उतना ही सत्य है जितना हमारे लिये। उस विपत्ति में भी राम ने धैर्य धारण किया। उसी का परिणाम रामायण महाकाव्य है। जिससे आज भी राम का यश गाया जा रहा है। विपत्ति सहे बिना यश नहीं होता। तीसरा प्रमुख युग द्वापर है। द्वापर के प्रमुख पाण्डव हुए। महाराजा युधिष्ठिर हुए। युधिष्ठिर भी उसी ढंग की मुसीबत से गुजरे। बारह तेरह साल उनको भी बनवास सहना पड़ा। यदि अवश्यंभावी मिटायी जा सकती तो ये सब महापुरुष अपनी विपत्तियों को मिटा देते। किन्तु नहीं मिटा सके। अत एव बिपत्तियों का आना अनिवार्य है। उसमें धैर्य ही एकमात्र अवलम्बन है। परंतु युधिष्ठिर के उस धैर्य एवं सहिष्णुता और अन्ततः महाभारत युद्ध में उतरना इन सब का ही परिणाम महाभारत जैसा इतिहास ग्रन्थ बना। जिसमें अपनी अमरकीर्त्ति उन्होंने स्थापित की।

(२) अभ्युदये क्षमा। विपत्ति के विरुद्ध अभ्युदय है। अर्थात् संपत्ति। विपत्ति से अधिक संपदा में क्षमा रखनी चाहिये। "क्षमूष् सहने" ऐसा धातु पाठ है। यहाँ क्षमा का अर्थ है सहनशक्ति। विपत्ति से अधिक संपत्ति में धैर्य चाहिये। तभी सहन संभव है। विपत्ति में बाह्य शत्रुओं का ताड़न होता है, आघात होता है। वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है। उसका प्रतीकार करना उतना कठिन नहीं जितना कि संपत्ति में प्रतीकार कठिन पड़ता है। संपत्ति में आन्तर शत्रुओं का ताड़न होता है, आघात होता है। कठिनाई यह है कि आन्तर घात होने पर भी उसका पता नहीं चलता। दूध में जहर डालकर पिलाने के बराबर होता है। संपदा की वृद्धि होने पर मन में गर्व अहंकारादि आने लगते हैं। वह बाहर से मधुर लगता है

दूध के समान। और भीतर से जहर होता है। महापुरुष लोग इस संपदा में तो बहुत अधिक सचेत रहते हैं।

लक्ष्मीं तृणाय मन्यन्ते तद्भारेण नमन्ति च।

गृहस्थों में महात्मा कैसे होते हैं? वे लक्ष्मी को कोई महत्त्व नहीं देते। कार्य को महत्त्व देते हैं। लक्ष्मी को तो तृण के समान मानते हैं। बहुत हल्की। इतनी हल्की कि एक तिनके के बराबर। कोई तिनका शरीर पर पड़ जाय तो पता भी नहीं चलता कि तिनका पड़ा है। सिर में कभी चलते समम ऊपर से सूखा पत्ता या तिनका पड़ गया तो बालों पर ही ऐसा टिका रह जाता है कि कोई दूसरा कहे तब पता चलता है। अर्थात् तिनका बहुत हल्का होता है। लक्ष्मी तो सत्पुरुषों के पास तिनका बराबर होती है। परंतु आश्चर्य यह है कि लक्ष्मी आती है तो उस एक तिनके के बोझ से सिर झुकने लगता हैं, गिरने, पड़ने लगते हैं। भला, तिनके में इतना वजन कहाँ से आया कि सिर झुकने लगा और गिरने पड़ने लगे। यदि दस पांच मन का पत्थर हो तो सिर झुकता, गर्दन टूटता, गिरने पड़ने लगते। तिनके से यह सब कैसे? कहा, यही तो आश्चर्य है। यहाँ तात्पर्य यह है कि लक्ष्मी के आने पर सिर झुकता है, मतलब सत्पुरुष नम्र हो जाते हैं। वे अहंकार को जीतकर सबके सामने सिर झुकाते हैं। गिरते पड़ते हैं का मतलब कोई संत भक्त मिले तो उनके चरणों में गिरते पड़ेते हैं। परंतु यह सब धैर्य का ही परिणाम है। क्षमा का ही फल है। अहंकार के आक्रमण को सह जाने पर ही यह सब संभव है। अन्यथा आजकल तो थोड़ा धन जहाँ आया फिर उसकी दृष्टि आसमान में ही चलती है। परंतु नम्रता ही यश का कारण है। "अतिगर्वेण रावणः" रावण का यश क्यों नहीं रहा? गर्व से ही। अन्त में उसको पता लगने लगा था कि सीता को समर्पित करने में ही श्रेय है। किन्तु गर्व ने वैसा करने नहीं दिया। परिणाम स्पष्ट है। अपयश का ही भागी बना।

(३) सदसि वाक्पटुता। यह प्रसङ्गानुसार हम कह रहे हैं। गृहस्थ महात्मा कैसे होते हैं। सदस् में उनकी वाणी में पटुता रहती है। यथार्थ सत्य बोलने में वे कभी हिचकिचाते नहीं। सत्यवक्ता स्वयमेव वाक्पटु होता है। मूर्ख सभा हो तो अलग बात है। कुछ भी बोलो काम चल जायेगा।

(४) युधि विक्रमः। महापुरुषों का यह भी लक्षण है। युद्ध में वे अपना पराक्रम दिखाते हैं। अर्जुन में वर्त्तमान परिस्थिति में जो भी अवस्था आयी हो, परंतु स्वभावतः तो पराक्रमशीलता थी।

"अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे न दैन्यं न पलायनम्"

अर्जुन की ये ही दो प्रतिज्ञायें थीं। क्या ? कहीं दीनता नहीं दिखाना और कहीं युद्ध में पलायन न करना। वीरता के साथ मुकाबला करना अर्जुन का सिद्धान्त था।

(५) यशसि चाभिरुचिः। यह प्रकृत विषय है। महात्मा लोग यश में अभिरुचि रखते हैं। हर प्रकार से यश की रक्षा करते हैं। यश के सामने अन्य धनादि गौण हो जाते हैं।

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमाः।
उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्॥

जो मनुष्य अधम होते हैं अर्थात् अधम कोटि के होते हैं वे केवल धन की ओर ही दृष्टि लगाये हुए होते हैं। उनका जाति जन यश आदि से कोई मतलब नहीं रहता। **"अर्थोऽस्तु नः केवलम्"**। यही एक मात्र सिद्धान्त उनका रहता है। वे धन के बल से कदाचित् किसी के प्रसंसा पात्र भले ही बने, तथापि है अधमकोटि के ही। जो मध्यम कोटि के हैं वे—"धनं मानं च"। धन भी चाहते हैं, मान भी चाहते हैं। धन छोड़कर केवल मान वे पसंद नहीं करते और मान छोड़कर केवल धन भी नहीं चाहते। उत्तम कोटि के व्यक्ति वे हैं, जिनका अभी पूर्व में भी वर्णन किया—"लक्ष्मीं तृणाय

मन्यन्ते"। उनके यहाँ धन को, लक्ष्मी को कोई महत्ता नहीं रहती उत्तमा मानमिच्छन्ति। उत्तम लोग केवल मान ही पसंद करते हैं। मान का अर्थ यहाँ केवल मान संमान आदर सत्कार ही नहीं, जो क्षणिक है। यशरूपी मान वे चाहते हैं। यश ही वास्तविक शरीर है। पाँच भौतिक शरीर तो क्षण भंगुर है। स्थायी शरीर तो यश ही है। आचन्द्रतारक पर्यन्त रहने वाला शरीर यश शरीर ही हो सकता है। नल राम युधिष्ठिरादि में किसी का भी भौतिक शरीर यहाँ नहीं रहा। किन्तु यश शरीर आज तक ज्यों का त्यों है। इनमें किसी ने भी धन की परवाह नहीं की। वे धन को आगन्तुक मानते रहे। लक्ष्मी तो आगमापायिनी है। यह आचन्द्रतारक तो क्या आसूर्योदय से आसूर्यास्त तक भी रहेगी कि नहीं कोई ठिकाना नहीं। हो तो कोई नुकसान नहीं परंतु उस धन से भी यश ही कमावो। स्वतन्त्रता से पहले भारत में अनेक-अनेक नरेश हुए। उन्होंने कभी कल्पना नहीं की कि हमारा राज्य जायेगा। वे यही समझते रहे कि हमारा धनकोश राज्यादि स्थायी हैं। किन्तु नीतिकारों की यह उक्ति—

रङ्कं करोति राजानं राजानं रङ्कमेव च।
धनिनं निर्धनं चैव निर्धनं धनिनं विधिः॥

उन पर लागू हो जायेगी, ऐसी कल्पना किसी ने नहीं की। परन्तु कई नरेशों ने भविष्य को देखा, उन्होंने मौका चूकना अपनी मूर्खता समझी। प्राप्त धन का सदुपयोग कर यश कमाया। उसी का एक उदाहरण हमने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में देखा। यदि चाहते तो उस समय के बड़े-बड़े नरेश इसी प्रकार एक-एक विश्वविद्यालय खड़ा कर सकते थे। परन्तु उन्होंने लक्ष्मी को स्थिर स्थायिनी समझने की जो भूल की उसने अनन्तकाल के लिये उन्हें अन्धतमस में डाल दिया। धन यशोऽर्थ है। उससे यश कमाना चाहिये।

राजा रघु की कथा इतिहास में आज भी ज्वलंत है। चतुर्दश विद्याओं का अध्ययन करने के बाद नतमस्तक होकर कौत्स ने आचार्य वरतन्तु से कहा—भगवन् अब मैं आपको शास्त्रानुसार कुछ भी गुरु दक्षिणा समर्पित करना चाहता हूँ।

"आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः"

यही तो आपने भी मुझे पढ़ाया है। विद्याध्ययन के बाद आचार्य को जो प्रिय लगे वह दक्षिणा रूप देकर गृहाश्रम में ब्रह्मचारी प्रविष्ट हो। आचार्य वरतन्तु ने कहा—बेटा जो तुमने मेरी विद्या को सम्यक् अध्ययन से सार्थक किया यही सबसे बड़ी गुरु दक्षिणा है। संत लोग प्रवचन करते हैं तो लोग क्या चढ़ाते हैं, कितना चढ़ाते हैं आदि पर उतना ध्यान नहीं देते, जितना कि हॉलफुल है कि कैसा है, इस पर दृष्टिपात करते हैं। हमारी विद्या से लोग लाभ उठावें यही उनका लक्ष्य रहता है। महर्षि वरतन्तु के लिये इससे बढ़कर और आनन्द की बात क्या हो सकती थी कि उनकी समस्त विद्याओं को कौत्स ने सम्यक ग्रहण किया। किन्तु कौत्स को इतने से संतोष नहीं था। गुरु संतुष्ट हैं इसका अर्थ यह नहीं कि चेले भी संतुष्ट रहे। चलो दक्षिणा चढ़ाने से तो बच गये। भावनगर के पास एक शिहोर नाम का गाँव है। महात्मा लोग वहाँ जाने में इसीलिये घबराने लगे कि वहाँ जाने पर आने जाने के टिकट का पैसा भी श्रोताओं से नहीं मिलता। कौत्स ने बार बार आग्रह किया। महर्षि वरतन्तु ने कहा—तुमने यहीं रहकर अध्ययन किया। तुम्हारे पास कुछ है नहीं। क्यों दक्षिणा का आग्रह कर रहे हो। परन्तु कौत्स को मनः संतोष नहीं हो रहा था। बार बार अति आग्रह करने लगा तो आखिर वरतन्तु को क्रोध आया। और बोल गये कि तू इतना बड़ा दाता है तो मैंने चौदह विद्यायें तुमको सिखायी हैं, उसके बदले चौदह करोड़ गिन्नियाँ दक्षिणा रूप में लाकर रखो। कौत्स गुरुजी के क्रोध से

घबराया नहीं। किन्तु धीरज रखी। कौत्स वहाँ से निकला। चौदह नहीं, चौदह सौ नहीं, चौदह करोड़ गिन्नियाँ कहाँ से लावे ? उनको राजा रघु का स्मरण आया। सोचा और जगह जाना तो बेकार है। समग्र भूमण्डल चक्रवर्ती राजा रघु के पास ही जाना उचित है। दूसरे राजाओं के लिये पण्डितराज की उक्ति है—

दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा
मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्यैर्नृपालैः परिदीयमानं
शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात् ॥

दिल्लीश्वर उस समय की सरकार। मेरे या औरों के मरोरथों को पूर्ण या तो दिल्लीश्वर कर सकते हैं या फिर जगदीश्वर कर सकते हैं। दूसरे लोग जो देते हैं उससे अधिक से अधिक यही हो सकता है कि साग का खर्चा निकल जायेगा या नमक का इंतजाम हो जयेगा। कैत्स वहाँ से सीधा अयोध्या आया। जहाँ रजा रघु की राजधानी थी। प्रातः काल का समय था। जब कैत्स महल के दरवाजे पर पहुँचा तो राजा रघु सन्ध्यावन्दन में बैठे थे। और सूर्य भगवान को अर्घ्य दे रहे थे। कौत्स ने देखा राजा रघु मिट्टी के बरतन में पानी भरकर सूर्य को अर्घ्य दे रहे हैं। कौत्स बड़ा निराश हो गया। वह दरवाजे से ही वापस लौटने लगा। इतने में राजा रघु की दृष्टि कौत्स पर पड़ी—अरे कोई ब्रह्मचारी दरवाजे पर से वापिस लौट रहा है। तुरत आचमन किया और ब्रह्मचारी को पुकारा। शास्त्रों में ऐसा नियम है कि आप यदि कर्म में बैठे हों और बोलना जरूरी हो तो आचमन करके बोलो, पश्चात् भी आचमन करो। आचमन द्वय से बाह्यकर्म को आवृत कर देना चाहिये। ब्रह्मचारी ने देखा—राजा बुला रहे हैं, तो लौट आये। आसन देकर उनको बिठाया और पूछा, भला आप कौन ? कहाँ से आये ? कैसे आये ? कौत्स ने गुरुजी का और अपना परिचय दिया तो रघु को बड़ी

प्रसन्नता हुई। आगमन का कारण पूछा तो प्रथम कौत्स टालते रहे। आखिर अपना हेतु बताया कि गुरुजी को दक्षिणा के रूप में चौदह करोड़ गिन्नी देना है। राजा ने पूछा कि तब आप वापस क्यों जा रहे थे ? कौत्स ने कहा—मैंने समझा कि आपसे मेरी अभिलाषा पूर्ण नहीं होगी, माँगना वृथा है।

"वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं लभते फलम्"

उसी के सामने बात रखनी चाहिये जहाँ से फल प्राप्ति की संभावना हो। ऐसा नहीं कि जहाँ तहाँ दीन वचन बोलते रहें।

यं यं पश्यति तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः

राजा गंभीर हो गये। राजा रघु ने कहा—आपने कैसे समझा कि यहाँ बोलने पर वचन सफल नहीं होगा ? कौत्स ने कहा—प्रत्यक्ष प्रमाण है। चौदह करोड़ क्या थोड़ा भी सुवर्ण यदि आपके पास होता तो आप मिट्टी के बरतन में सूर्य को अर्घ्य क्यों देते ? राजा ने कहा—यह गरीबी की निशानी नहीं है। मेरे पास बाहुबल है उससे चौदह कोटि क्या चौदह अरब भी गिन्नी आ जायेगी।

तो क्या उससे पूर्व राजा रघु का बाहुबल नहीं था ? था क्यों नहीं। उन्होंने अभी अभी दिग्विजय किया था। और अपार सुवर्णादि अर्जित किया था। किन्तु—

उपार्जितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम्।
तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाम्भसाम्॥

उपार्जित वित्त का संरक्षण तिजोरी में ताला लगाकर रखना ही नहीं है। बेक में जमा करना ही नहीं है। नदी में और तालाब में क्या अन्तर ? बावड़ी तालाब आदि में भी नीचे से स्रोत रहता है। परंतु पानी निकलता रहता है तो पानी शुद्ध स्वच्छ रहता है। बंबई के कुएँ ही दृष्टान्त हैं। अगर मोटर लगाकर दस दिन रखे

तो भी पानी खाली होने वाला नहीं हैं। क्योंकि स्रोत भारी है। किन्तु पानी बहता नहीं, निकलता नहीं, इसलिये सड़ रहा है। राजा रघु ने दिग्विजय में प्राप्त अपार धन दान देकर समाप्त कर दिया था। अपने पास उन्होंने कुछ भी नहीं रखा था। आप में योग्यता है तो सोने चाँदी के बरतन से क्या होगा। अगर योग्यता नहीं है तो भी सोने-चाँदी के बरतन से क्या होगा? कथा आगे काफी लम्बी है। हमें उदाहरण केवल धन और यश की तुलना देने में ही था। इतने बड़े दानवीर उदार थे रघु। तभी तो उस वंश में साक्षात् भगवान रामचन्द्रजी का अवतार हुआ। महापुरुष लोग धन की परवाह नहीं करते। यशरूपी शरीर को बनाकर रखते हैं। जो आचन्द्रतारक रहता है। यश के निमित्त केवल धनवान ही नहीं सर्वत्याग भी आवश्यक होने पर किया जाता है। यही तो "विपदि धैर्यम्" इत्यादि में बताया। बिपत्ति से घबराना नहीं प्राणपण से भी मुकाबला करना है। युधि विक्रम दिखाना है। पीठ दिखाकर भागना नहीं। इस यश का ही फल शास्त्रों में कहा—

धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्त्तनेन
पापं प्रणश्यति वृकोदरकीर्त्तनेन।
शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्त्तनेन
माद्रीसुतौ कथयतां न भवन्ति रोगाः॥

कितना भारी यह यश है। यश का अर्थ केवल नाम ही नहीं समझना। पवित्र नाम अर्थ है। किसी सेठ ने कालाबाजारी करके पचास लाख रुपये कमाये। फिर एक लाख रुपये में एक विद्यालय खोल कर उस पर अपना नाम 'किशन गोपालचन्द विद्यालय' खुदवाया। हो गया नाम। नाम अवश्य हो गया। "अकरणात्करणं श्रेयः"। परन्तु यही यश नहीं। इसी लिये कहीं-कहीं व्यावृत्ति के लिये 'उत्तम श्लोक' ऐसा विशेषण दिया जाता है। युधिष्ठिर का

यश परम पवित्र है। धर्माचरण संपादित है। इसी लिये आज भी उनका नाम लेते हैं तो पुण्य होता है। धर्म की वृद्धि होती है। धर्मानुकूल आचरण करते हुए यश कमाना चाहिये। जिससे नाम लेने वाले स्वयं भी पवित्र हो जाय। धर्मराज युधिष्ठिर का ऐसा ही यश है। अब भीमसेन का यश कैसा है, देख लो। दुर्योधन जैसे महापापी का वध भीमसेन ने किया। हमारा द्वन्द्व, हमारी वीरता पाप को मिटाने में उपयुक्त होनी चाहिये। यही कार्य जीवन भर भीमसेन ने किया। भीमसेन ने अधिकतर पापियों का ही वध किया। उसका परिणाम यह हुआ कि उनका यश स्थायी रहा और नाम ग्रहण से पाप प्रणाश होने लगा। धनंजय अर्जुन का नाम लेने से शत्रु नाश होता है। अर्जुन की वीरता प्रसिद्ध है। धर्मानुसार युद्ध कर अर्जुन ने शत्रुओं को जीता। भगवान को यह मालूम था कि भविष्य में अर्जुन का यश सर्वत्र फैलना है। अर्जुन के नाम ग्रहण मात्र से शत्रुविनाश होना है। परन्तु यश तो अभी बीजावस्था में है। अभी से कहीं बीज जल गया तो यह तृतीय पाद श्लोक में से निकालना पड़ेगा—"शत्रुर्विनश्यति धनञ्जयकीर्त्तनेन"। यह पाद निरर्थक होने लगेगा। वैसे ही माद्रीसुतों का भी यश है। माद्री के सुत हैं—नकुल और सहदेव। वे दोनों अश्विनीकुमारों के अवतार हैं। कर्त्तव्य धर्मानुष्ठान एवं अकर्त्तव्य कार्य परित्याग होने पर ही अवतारी का गुण प्रकट हो सकता है। अश्विनीकुमार वैद्य समझे जाते हैं। उनके नाम ग्रहण से रोग निवृत्ति होती है। तदवतार नकुल सहदेव के नाम ग्रहण करने से भी रोग निवृत्ति होती है। अपनी वास्तविक स्थिति को यदि कायम रखते हैं तो वह सफल होगी। अन्यथा पंचपाण्डव भले अवतारी हो उसका कोई अर्थ नहीं होता।

भगवान अर्जुन को कह रहे हैं—हे अर्जुन! मनुष्य को हमेशा अपने यश पर आँच न आने देने का भरसक प्रयत्न करना चाहिये।

अकीर्त्ति अव्यय नहीं, कीर्त्ति अव्यय होनी चाहिये, तदर्थ प्रयत्न करो। भगवान के इस उपदेश का ही परिणाम आज हम अर्जुन की कीर्त्ति का गीत गा रहे हैं। उस रोज अर्जुन युद्ध से उपरत हो गया होता तो आज अर्जुन का कोई नाम न लेता। भगवान ने तीन चार श्लोकों में यहाँ जो भारी ठोकर लगायी उसी से अर्जुन की मोह निद्रा टूटी। और यशोऽर्थ प्रवृत्ति हुई। यहाँ तक नाम हो गया कि भगवान नारायण हैं तो अर्जुन नर कहलाया। नर तो आप हम भी हैं। परन्तु नर नारायण बोलते समय नर पद से आपका हमारा बोध नहीं होता। आप भले गीत गाईये—

मुझमें तुझमें बस भेद यही
मैं नर हूँ तुम नारायण हो

गीत गाने पर भी नर नारायण गीत में नर का अर्थ अर्जुन ही रहता है। क्योंकि अर्जुन ने वह काम किया जिससे वह नरमात्र का प्रतिनिधि बन सका। गीता श्रवण कर उपदेशानुसार जो कर्म किया वह समस्त मानव मात्र के लिये आदर्श रूप हो गया। अतएव अर्जुन नर मात्र का प्रतिनिधि बन गया। और अर्जुन का ही नाम नर हो गया। जैसे गांधीजी के समय में 'महात्मा' बोलने से गांधीजी का ही बोध होता था, 'महामना' बोलने पर मालवीयजी—मदन-मोहन का ही बोध होता था। लोकमान्य कहने पर तिलक का ही बोध होता था। वैसे नर कहने से अर्जुन का बोध होने लगा।

कीर्त्ति प्राप्त करना बड़ा कठिन है। जीवन भर में अप्रमाद रहने से ही यह संभव है. परन्तु अपकीर्त्ति पाने में कोई कठिनाई नहीं होती। छोटी-मोटी गलती से और कभी बिना गलती से भी परकीय विद्वेषादि से अकीर्त्ति हो जाती है। जहाँ एक बार अकीर्त्ति हो गयी फिर उसे धोना भारी पड़ जाता है। जीवन भर सेवा की। किन्तु कोई गलती हो गयी तो पूरी सेवा पर पानी फिर जाता है।

भगवान की सृष्टि बड़ी विलक्षण है। गिराने के लिये हजारों तैयार रहते हैं। उनसे भी बचना ही है। परन्तु उनसे बचने की बात अलग रही, स्वयं ही गिरने की तैयारी करे तो यह कितनी बड़ी भारी भूल मानी जायेगी। उसका परिणाम है अव्यय—अनन्त काल तक की अकीर्त्ति। जब चन्द्रवंश की कथा लिखने के लिये वेदव्यासजी कलम उठाते तो उस समय यही लिखा जाता कि भीष्म द्रोण कर्णादि को देखकर अर्जुन युद्ध से उपरत हुआ। वेद-व्यासजी भले ही इतना ही लिखे, किन्तु 'भूतानि' तो भूत ही ठहरे। वे इसी को बढ़ा-चढ़ाकर उलटा-पुलटा लिखना प्रारम्भ करते। जैसे रामायणों में परशुराम की कथा को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत किया। बाल्मीकि ने बहुत संक्षेप में लिखा। किन्तु अन्य लेखकों ने तो किनारे ही पहुँचा दिया, जब कि वस्तु-स्थिति यह थी कि परशुराम यह जानने को आये थे कि मेरे इस छट्ठे अवतार के बाद सातवाँ रामावतार हुआ या नहीं। हुआ हो तो अवतार कार्यार्थ अपना अवतारिक तेज उस राम में निहित कर दें। परन्तु "निरङ्कुशाः कवयः" ऐसी उक्ति प्रसिद्ध है। उन्होंने परशुराम को नीचा दिखाने का वही मौका पाया और जीवन के अन्य पूरे यशस्वी कार्य को डुबाने का प्रयास किया।

संभावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते। हे अर्जुन सामान्य भूत प्राणी भी, छोटे छोटे बच्चे भी तुम्हारी अकीर्ति कहना प्रारंभ करेंगे—तुम्हारी बदनामी करते फिरेंगे तब वह तुमसे सहन नहीं होगा। एक बार समाज में संमानित हो गया है, उसकी फिर अपकीर्त्ति होती है तो वह मरने से भी बढ़कर होगी। कितने के मुँह पर ताला लगाओगे। फिर ऐसा लगने लगेगा कि इससे अच्छा मरना है। हे अर्जुन! तुम महान वीर हो। साधारण कोई होता तो मनमें सिर्फ इतनी बात आती कि इस अपयश के बीच में जीने की अपेक्षा मरना अच्छा है। तुम वीरवर हो। तुम्हारे लिये

केवल मनमें ही इतनी बात नहीं आयेगी, वल्कि तुम उसे क्रियान्वित भी कर डालोगे। करोड़पतियों को देखा है। जब उनका दिवाला निकल जाता है तो ऐसे कई सेठों की कहानी बंबई आदि स्थानों में बन जाती है कि चुपके से कहीं बाहर गये आत्म हत्या कर डाली। हे अर्जुन! ऐसे मरने की अपेक्षा युद्ध में ही क्यों न मरोगे। कीर्त्ति तो कम से कम रह जायेगी। बड़े बनने पर मनुष्य जितना यश पाता है उतना ही अपयश का दरवाजा भी खुला रहता है। वह पतन अति भयानक होता है। एक आदमी जमीन पर चल रहा है और दूसरा हाथी पर सवार होकर जा रहा है। जमीन पर चलने वाला कदाचित् फिसल जाय और गिर भी पड़े तो अधिक चोट नहीं लगेगी। परन्तु हाथी पर से अगर फिसल कर गिर जाय तो यूं भी हाथ पाँव टूटेंगे कहीं हाथी का पाँव ऊपर पड़ गया तो कहना ही क्या, वहीं चटनी बन जायेगी। इसलिये संत लोग कभी कभी यश से भी डरते हैं। वे जड़वत्, मूकवत्, बालवत्, उन्मत्तवत् रहा करते हैं। अव्यक्त होकर घूमते हैं। परिचितों के पास नहीं जाते। मैंने ऐसे ही एक महात्मा को देखा। वे भिखमंगों के बीच ठहरते थे। भीख नहीं माँगते थे। अपना निर्वाह अलग ढंग से करते थे, किन्तु रहते भिखमंगे जैसे थे। हम लोग कभी मिलते थे तो बहुत सुन्दर वेदान्त चर्चा चलाते थे। बात यह है कि मान के बाद अपमान भारी पड़ता है। संत की बात तो अलग है। यहाँ अर्जुन की बात भी अलग है। संत संमान से दूर रहते हैं। किन्तु अर्जुन तो संमानित हो चुका है। अर्जुन के लिये तो अब **"स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया"** जैसी बात हो गयी। "भैक्ष्यमपीह लोके" कहकर संत बनने जाय तो भी बदनामी से छुटकारा नहीं है। क्योंकि पूरे संसार में ख्याति प्राप्त कर चुका है। अब वह कहीं छिपकर रहना चाहे तो भी संभव नहीं है। फिर मानापमान से दूर रहना भी कोई खेल की बात नहीं है। "माना-

पमानयोस्तुल्यः" इस उपदेश को जीवन में लागू करना सबसे अधिक कठिन है। बहुत बड़ा कोई ही ऐसा संत मिल सकता है। नहीं तो संतों में भी छोटा बड़ा भाव रहता है। धन गृहदारादि सब कुछ त्यागा जा सकता है, किन्तु मानापमानत्याग सर्वाधिक कठिन है। जब यह सर्वसंग त्यागी संत की हालत है तब अर्जुन जैसे गृहस्थाश्रमी का कहना ही क्या ? जिसको एक बार इन्द्र ने अर्धासन दिया, उसको जमीन पर बैठना पड़े तो क्या स्थिति होगी ? मान प्राप्त फिर अपमानित हो तो उसके लिये मरने से भी वह बढ़कर दुःखदायी होता है ॥ ३४ ॥

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।

येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।। ३५ ।।

[हे अर्जुन ! महारथी तुम्हें यही मानेंगे कि यह भय के कारण युद्ध से उपरत हुआ । फलतः तुम जिनकी दृष्टि में बहुमान्य योग्य बने थे, उन्हीं की दृष्टि में गिर जाओगे ।। ३५ ।।]

"अकीर्त्ति चापि भूतानि" से भगवान ने बताया कि सभी प्राणी तुम्हारी अकीर्ति कहते रहेंगे । अर्जुन का इस पर पूर्वपक्ष हुआ कि इन निहत्थे प्राणियों की ओर कहाँ तक देखते रहेंगे । साधारण पामर तो ऐसे हैं कि उनका मुँह कोई पकड़ नहीं सकता । और उनके कहने से हमारा बिगड़ता ही क्या ? उनकी प्रशंसा और निन्दा दोनों एक ही प्रकार की होती है । न तो उनकी प्रशंसा की कोई किमत है और न निंदा का ही कोई महत्त्व है । हाथी जा रहा है तो सियार ने स्तुति गीत गाया तो क्या, कुत्ते भौंकने लगे तो क्या ? अतः भूतानि अकीर्त्ति कथमिष्यन्ति यह कोई असाधारण निमित्त नहीं है । इस पर भगवान महारथियों का उदाहरण देकर कह रहे हैं "**भयाद्रणादुपरतम्** ।

अर्जुन के सम्मुख बड़े बड़े महारथी खड़े थे । भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा, भगदत्त आदि खड़े थे । वे क्या मानते ? वे कोई अन्तर्यामी तो थे नहीं कि सच्ची बात क्या है जान लें । एक असाधारण घटना घटती है तो उस पर सभी अंदाजा ही करते हैं । वे प्रथम यह देख ही रहे थे कि अर्जुन युद्ध की तैयारी कर दोनों सेनाओं के मध्य में आया है । शंख बजा चुका है । अब युद्ध से कहीं उपरति हुई तो उनकी तरह तरह की कल्पनायें शुरू होतीं । अर्जुन शंख बजाने के बाद इधर क्यों आया था ? फिर बीच में

ही क्यों वापस गया ? संग्राम से उपरत क्यों हुआ ? यहीं से कल्पना शुरू होती। वे सोचते और आपस में कहते कि अर्जुन यहाँ दोनों सेनाओं के मध्य में इसलिये आया होगा कि यह देख लें कि सामने सेना में युद्धार्थ कौन-कौन आये हैं। अर्जुन ने सोचा होगा कि भीष्म और द्रोण नहीं आये होंगे, क्योंकि वे दोनों अर्जुन से विशेष प्यार करते थे। भीष्मजी का पक्षपात पाण्डवों से था ही। द्रोणाचार्य भी अर्जुन को विशेष रूप से चाहते थे। इन दोनों के न आने पर शायद कर्ण भी न आया हो। इस ढंग की कल्पनायें प्रथम शुरू होती है। और वह कुछ हद तक सही भी निकलती। क्योंकि अर्जुन क्या बोलकर दोनों सेनाओं के मध्य में गया था ? यही न—"कैर्मया सह योद्धव्यम्" इस रण में मुझे किनके साथ लड़ना है। क्या अर्जुन को यह पता नहीं था कि कौरव पक्ष में कौन कौन हैं ? देखने की क्या जरूत थी ? इससे पता चलता है कि अर्जुन यही देखने के लिये दोनों सेनाओं के मध्य में गया था कि भीष्म द्रोण कर्णादि सभी युद्धार्थ आये हैं कि नहीं। अन्यथा कौरव सेना के रग रग का पता अर्जुन को था तो देखने के लिये सेना मध्य में जाने का कोई अर्थ नहीं था। अर्जुन बीच में जब पहुँचा तो ये सभी आये हुए दिखाई दिये। भीष्मद्रोणादि सभी दिखाई पड़े।

"आचर्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः"

यह स्पष्ट इसी बात को इंगित करता है। कोई कह सकता है कि अर्जुन यह देखने नहीं गया था कि भीष्म द्रोणादि आये हैं या नहीं। किन्तु "धार्त्तराष्ट्रस्य दुबुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः अन्ये राजानः के के" दुर्योधन के प्रिय करने के लिये देश के कोने कोने से कौन कौन आये हैं ? इन सबका पता अर्जुन को नहीं था। परन्तु इसका जवाब इसी "आचार्याः पितरः" वाक्य से ही हो जाता है। यदि दूसरों को देखने गये होते तो उनकी परिगणना अर्जुन को करनी

चाहिये थी। आचार्या पितर आदि तो आने वाले निश्चित ही थे। कौरवों में आचार्य बन्धु बान्धवादि नहीं तो थे कौन ? अतः निश्चित होता है कि भीष्म द्रोणादि आये हैं या नहीं यही देखने अर्जुन दोनों सेनाओं के मध्य में आया। इन सबको जब देखा तब अर्जुन रण से खिसका। खिसकने में हेतु जो भी हो, लेकिन खिसका तो इन आचार्य पितर पितामहादि को ही देखकर। इसमें तो संशय है नहीं। अब खिसकने के कारण पर विचार करते तो अपनी अपनी कल्पना अलग होती ही। हे अर्जुन ! तुम भले ही गुरुजन वधभीत होकर खिसको किन्तु वीर महारथी ऐसा कभी नहीं समझेंगे। वे गुरुजन बधभीत नहीं, बीच में से 'वध' निकालकर बोलो–गुरुजन भीत होकर रण से भागा। महारथी कहेंगे कि भले ही दूसरे लोग समाधानार्थ पहुँच जाय कि बात ऐसी नहीं है। वे कहेंगे कि अर्जुन को मालूम नहीं था कि हमारी सेना में कौन कौन है ? हममें से कोई सेना के बीच में नहीं गया। न भीष्म पितामह गये, न द्रोणाचार्य गये न और दूसरा कोई। अर्जुन क्यों देखने आया ? निश्चित ही इस आशा से कि भीष्मादि शायद न आये हों। जब देखा कि ये सब आये हैं तब डर के मारे युद्ध छोड़कर भाग खड़ा हो गया। "येषां च त्वं बहुमतः"। भगवान कह रहे हैं, हे अर्जुन ! जिन महारथियों ने पहले तुम्हारा लोहा माना था वे आज से कहने लगेंगे कि हमने समझा था कि अर्जुन लोहा है, परन्तु निकली एरंड लकड़ी। "यास्यसि लाघवं" प्रथम गौरव को प्राप्त कर फिर हल्के हल्के बन जाओगे। समझा था कि अर्जुन शेर है–सिंह है। किन्तु अब मालूम पड़ा कि शेर की खाल पहन कर आया हुआ गीदड़ है। बाहर टीम टाम है और भीतर खोखला। इसको कहते हैं—बहुमत होकर बाद में लघुता को प्राप्त होना। बहुमत का अर्थ है बहुमान प्राप्त। बहुमान सम्मान को कहते हैं। "बहुभिर्गुणैः प्रशस्तैर्मतः स्वीकृतः" ऐसी इसकी व्युत्पत्ति है। अर्थात् यह शूर है, वीर है,

महान है, योद्धा है इत्यादि रीति अनेक गुणों को लेकर आदर भाव से जो देखा जाता है उसको बहुमान कहते हैं। सभी लोग यह मानते थे कि अर्जुन में हमारी अपेक्षा बड़ी बड़ी विशेषतायें हैं। अर्जुन आदर योग्य है।

लोगों को कैसे मालूम था कि अर्जुन में विशेषतायें हैं ? उत्तर है कि प्रायः सभी बातें उस समय सर्वविदित थी। प्रथम लोग यह समझते थे कि अर्जुन का बाहुबल अक्षोभ्य हैं। क्यों ? इसलिये कि अर्जुन का पिता साक्षात् इन्द्रदेव हैं। यह बात तत्कालीन सभी योद्धा समझते थे। क्योंकि पाण्डु के बिना इन बालकों का जन्म कैसे हुआ इस प्रश्न का उत्तर जानना सब के लिये कुतूहलता का विषय था। उसमें सबको यह विदित हो गया था कि कुन्तीमाता ने दुर्वासा से प्राप्त मन्त्रों से ही इन समस्त बालकों का जन्म हुआ है। यमराज के मन्त्र जप से युधिष्ठिर पैदा हुए। वायुमन्त्र जप से भीमसेन पैदा हुए। इन्द्रमन्त्र जप से अर्जुन पैदा हुए। अश्विनी कुमार मन्त्र जप से माद्री के नकुल सहदेव पुत्र हुए। अर्जुन इन्द्र का बेटा था और इन्द्र हाथ के अधिष्ठाता देवता है। "हस्तयोरिन्द्रः" ऐसा देवता निर्देश किया गया है। बल्कि हम आप सबके हाथ में लेने देने उठाने आदि की जो शक्ति है यह ऐन्द्री शक्ति है। इन्द्र की ही शक्ति से हम हाथों से समस्त कर्म कर रहे हैं। जब इन्द्र देवता हमें भी हाथ में शक्ति देते हैं तो अर्जुन को विशेष रूप से शक्ति क्यों नहीं देंगे ? अपने पुत्र को विशेषता कौन नहीं देता ? बाप जिसमें विशेषता रखता है, बेटे में भी उस विशेषता का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बहुत से लोग ऐसी सीधी कल्पना भी करते हैं कि अर्जुन की हाथों में, बाहुओं में अपार शक्ति थी इसलिये लोग उसे इन्द्र पुत्र ही मानने लगे। जैसे महान विद्वान हो तो लोग उसे सरस्वती पुत्र कहते हैं। महादुष्ट स्वभाव हो तो इससे विपरीत राक्षस पुत्र मानते हैं वैसे अपार बाहु शक्ति होने से

अर्जुन को इन्द्रपुत्र माना। जो भी हो, उस समय सभी लोग अर्जुन के बाहुबल की कदर करते थे।

स्वाभाविक बाहुबल तो था ही, ऊपर से गाण्डीव धनुष की महत्ता भी कम नहीं थी। उस गाण्डीव धनुष की प्राप्ति का इतिहास भी विलक्षण है। अपने पिता के उद्यम को विफल करके ही गाण्डीव धनुष हासिल किया था। खाण्डव वन में जब कभी भी आग लगती थी तो तुरत बारिष होती थी। इन्द्र वृष्टि करने लगता था। खाण्डव वन ऐसा भयानक हो गया था, उसी में कर्कोटक नाम का भयंकर सर्प रहने लगा था। अनेक प्रकार के हिंसक प्राणी आदि के कारण खाण्डव वन भारत का सिरदर्द हो गया था। कहते हैं—अतियज्ञ से अग्नि को ही अग्निमांद्य बिमारी लगी तो उसे मिटाने खाण्डव दाह करना आवश्यक हो गया था। अति यज्ञ से अग्निमान्द्य का मतलब है अत्यन्त वृष्टि से जंगलों का उत्तरोत्तर बढ़ना और वृष्टि के कारण जंगल जलाने में अग्नि की असमर्थता होना। अग्नि देवता ने स्वयमेव एतदर्थ अर्जुन की सहायता माँगी थी। उस सहायता के बदले गाण्डीव धनुष प्रदान किया था। अर्जुन शरपिंजर बनाकर इन्द्र देवता की वृष्टि को विफल कर दिया था। इस प्रकार गाण्डीव धनुष की प्राप्ति की कथा है। उस दिव्य धनुष के प्रभाव से भी अर्जुन लोकमान्य हो गया था। स्वाभाविक बाहुबल तथा शस्त्रबल के परिणाम स्वरूप अर्जुन को सभी बलिष्ठ मानने लगे थे।

बाहुबल और शस्त्र बल के साथ तीसरी बात यह थी कि अर्जुन कला निपुण भी था। उच्च शिक्षा प्राप्त था। द्रोणाचार्य के विशेष स्नेह पात्र, कृपापात्र होने से अस्त्र शस्त्र विद्या में अर्जुन अग्रगण्य था। गुरु शिष्य पर प्रसन्न होते हैं तो रहस्य से रहस्य बात भी खोलकर बता देते हैं।

ब्रयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत

द्रोणाचार्य तो धनुर्वेद के आचार्य ही थे। पढ़ते समय ही अर्जुन की कुशाग्रबुद्धि तन्मयता आदि देखकर द्रोणाचर्य अर्जुन पर विशेष प्रसन्न थे। एकाग्रता में अर्जुन की बड़ी प्रसिद्धि थी। एक बार प्रथम बाण शिक्षा देने के बाद परिक्षा के लिये सबको द्रोणाचार्य जंगल में ले गये थे। वही प्रथम परीक्षा थी। वहाँ एक बनावटी चिड़ियाँ को वृक्ष के उपर डाली पर बाँध दिया था। उसकी आँख एक चमकीले काँच से बनाया था। द्रोणाचर्य एक-एक करके सबको बुलाया। प्रथम युधिष्ठिर को बुलाकर कहा—देखो, ऊपर क्या देख रहे हो? चिड़ियाँ। एक आँख बंद करके देखो। क्या देखते हो? चिड़ियाँ। और? पेड़। और? आप। और? यह सब सहाध्यायी। रहने दो। आ जाओ, भीम। तुम देखो। क्या देखते हो? उत्तर वही पहले वाला। इसी प्रकार दुर्योधन दुःशासनादि सबको पूछा। सभी का एक हो प्रकार का उत्तर था। आखिर अर्जुन का नंबर आया। अर्जुन से पूछा—क्या देखते हो? चिड़ियाँ। और? और कुछ नहीं। पेड़ नहीं देख रहे हो? नहीं। हमको नहीं देख रहे हो? नहीं। और ध्यान से देखो। अब क्या देख रहे हो? चिड़ियाँ का सिर। वाह-वाह। और चिड़ियाँ का शरीर? नहीं गुरुजी। और ध्यान से देखो। अब क्या देख रहे? चिड़ियाँ की आँख। शरीर? नहीं गुरुजी। मस्तक? मस्तक भी नहीं गुरुजी। साबाश बेटा। तू वेधन कर सकेगा। द्रोणाचार्य ने कहा—केवल अर्जुन ही चिड़िया का नेत्र वेधन कर सकेगा। एक-एक को बाण मारने के लिये कहा। किसी का पूरब में किसी का पश्चिम में बाण जा रहा है। अन्त में अर्जुन से कहा—बाण मारो। अर्जुन ने वही ध्यान पूर्वक देखा। और तीर मारा तो पक्षी की लगी हुई सिर्फ आँख उड़ गयी। यह परीक्षण सबके सामने हुआ था। अतएव बचपन से ही सब के सब अर्जुन की एकाग्रता को और कुशलता को स्वीकारते थे। इस प्रकार से तीन हो गये—हस्तबल शस्त्रबल और शिक्षाबल। यहाँ

जो तृतीय दृष्टन्त दिया, इसको बड़े-बड़े वेदान्तियों ने भी अपनाया है। वेदान्ती भी कहते हैं कि लक्ष्य ब्रह्म का बेध करने के लिये यही एकाग्रता प्रथम अपेक्षित है। तदर्थं प्रणव धनु, आत्मा शर आदि तो अपेक्षित हैं ही। किन्तु अर्जुन की एकाग्रता भी परम आवश्यक है। इस एकाग्रता के बिना शस्त्र विद्या भी अधूरी है और शास्त्र विद्या भी अधूरी है। इतना ही नहीं, कोई भी कर्म हो तो एकाग्रता चाहिये ही। अन्यथा कर्म होगा, किन्तु सुचारु रूप से सम्पन्न नहीं होगा। हिसाब लिखने के लिये बैठा तो एकग्रता न होने पर क्या होगा ? भोजन बनाते समय सावधानी, एकाग्रता न हो तो परिणाम क्या निकलेगा ? किसी में नमक नहीं पड़ा, किसी में डबल पड़ा, कोई जला, कोई कच्चा रहा। तात्पर्य यह कि काम छोटा हो चाहे बड़ा, एकाग्रता के बिना सम्यक नहीं हो सकता। अर्जुन में यही विशेषता थी कि वह बिल्कुल प्रमादी नहीं था।

ये तीन अर्जुन की मानुषी शक्तियाँ थी। बाहुबल, शस्त्रबल, और शिक्षाबल ये तीन प्रत्यक्षिक शक्तियाँ हैं। इन तीन से अतिरिक्त अर्जुन के पास एक चौथा बल भी था। वह है दैवी शक्ति। जिसको लेकर किरातर्जुनीय नाम का काव्य वना। पाण्डवों को वनवास मिल चुका था। किन्तु वनवास के बाद राज्य मिलने की आशा अत्यन्त धूमिल थी। कारण दुर्योधन छलवृत्ति का होने से जैसे वर्त्तवान में उसने कपट व्यवहार किया वैसे आगे भी करने की संभावना थी। सभी पाण्डव द्वैत बन में निवास कर रहे थे। महाकवि भारवि लिखते हैं—

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं
प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ
युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः॥

युधिष्ठिर ने एक वनेचर को हस्तिनापुर के वृत्तान्त का पता लगाने के लिये भेजा था। वह बड़ा ही चतुर था। दुर्योधन के पास जाकर वह रहा। और वहाँ के व्यवहार एवं हाल चाल की उसने पूरी-पूरी जानकारी प्राप्त की। ब्रह्मचारी बनकर वह दुर्योधन के पास में रहा। और सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का भी पता लगाया। फिर वहाँ से वापिस युधिष्ठिर के पास आया। उसने जो वहाँ के वृत्तान्त का वर्णन किया, जिस बारीकी से उसने अध्ययन किया वह तो महाकवि के शब्दों में ही समझना ठीक है। उसका सारांश आखिर यही निकला कि तेरह वर्ष के वनवास एवं अज्ञात वास के बाद भी राज्य वापिस पाने की कोई भी आशा की किरण बची नहीं है। वे सभी भारी चिन्ता में थे। युधिष्ठिर धैर्यवान् एवं सहिष्णु थे। लेकिन दूसरों का कहना था कि आपकी सहिष्णुता का परिणाम अत्यन्त भयानक होगा। तेरह साल में दुर्योधन अपनी धाक इस कदर जमायेगा कि उखाड़ना असंभव होगा। दूसरों का कहना था तेरह साल की संधि का विच्छेद करो और अभी से युद्ध करो। क्योंकि तेरह साल बाद भी आखिर युद्ध ही करना पड़ेगा तो शत्रु को मजबूत होने का अवसर देकर अपने पाँव पर ही कुल्हाड़ा नहीं मारना चाहिये। इनके वचनों से युधिष्ठिर भी चिन्ताग्रस्त अवश्य हुए थे। फिर भी "सत्यमेव जयते" के विश्वास पर शान्त थे। उसी समय वहाँ भगवान वेदव्यासजी अचानक पहुँचे। वेदव्यासजी का सबने विधिवत् पूजन किया। भगवान वेद व्यासजी से सभी बातों पर विचार विमर्श हुआ।

महर्षि वेदव्यासजी ने युधिष्ठिर को कहा कि महाभारत युद्ध तो अवश्यंभावी है। चाहे आज करो, चाहे तेरह वर्ष पूरा बिताने के बाद। दुर्योधन की शक्ति वृद्धि तो अवश्य होगी किन्तु आज भी दुर्योधन की शक्ति कम नहीं है। अगर युद्ध करने तैयार होंगे तो भीष्म द्रोण आदि आगे आयेंगे और अपार सेना भी। उसको

परास्त करना खेल की बात नहीं है। अतः सर्व प्रथम उचित यह है कि तुम शक्ति संचय करो। बनवास की प्रतिज्ञा भी सत्य होगी और शक्ति संचय भी होगा। वह आधिभौतिक उपाय नहीं है। आधिभौतिक उपाय में तो शक्ति संचय करने पर भी कौन बड़ा कौन कनिष्ठ यह निर्णय करना कठिन है। अतः आधिदैविक शक्ति संपादन करना होगा। और उसके लिये उपयुक्त व्यक्ति है अर्जुन। अर्जुन तपस्या करे और आधिदैविक शक्ति संचय करे। अर्जुन बचपन से ही एकाग्रचित्त कुशाग्र बुद्धि रहा ही। वैसा ही व्यक्ति तपस्या कर सकता है। ऐसी कहावत है कि—"जो हारे सो हरि भजे" ऐसा व्यक्ति यहाँ उपयुक्त नहीं है। तप करने के लिये बल्कि अधिक तीक्ष्ण बुद्धि चाहिये। तप में चित्त की एकाग्रता तो परम आवश्यक है ही। अन्यथा ध्यान कैसे होगा? ध्यान नहीं तो तप क्या होगा? आजकल के लोग तो विपरीत समझते हैं। कोई बी० ए०, एम० ए० पास व्यक्ति महात्मा हो तो आश्चर्य करने लगते हैं। आप कैसे संत हुए। एक हमारे परिचित डाक्टर संत हो गये, सभी आश्चर्य में पड़े। अरे, इनका दवाखाना अच्छा चल रहा था। पैसा खूब कमा रहे थे। फिर ये संत क्यों हो गये? इसका अर्थ यही कि जिसका काम धंधा बराबर न चले वह संत बने, जिसके पास पैसे की तंगी हो, वह संत बने। यह आजकल का सिद्धान्त हो सकता है। किन्तु व्यासजी का मत था कि सबसे अधिक बुद्धिमान कर्मठ साहसी अर्जुन ही तपस्या करने जाय। कथा बहुत लम्बी है। हम संक्षेप में ही बता रहे हैं। अर्जुन व्यासजी से उपदेश पाते हैं और तपस्यार्थ निकलते हैं।

गंधमादन पर्वत पर अर्जुन ने भगवान शंकर की उपासना प्रारंभ की। घोर तप प्रारम्भ किया। दिन रात जप और ध्यान। अर्जुन गुडाकेश तो था ही। गुडाकेश का—गुड़ के समान मीठा-मीठा केश अर्थ नहीं है। "गुडाकाया ईशः गुडाकेशः" ऐसी उसकी

व्युत्पत्ति है। गुडाका कहते हैं निद्रा को। निद्रा को जिसने वश में किया हो, निद्रा के जो अधीन नहीं, किन्तु निद्रा जिसके अधीन हो वही गुडाकेश है।

गुडाकेश यह उपलक्षण रूपी नाम है। गुडाका यद्यपि निद्रा को कहते हैं। किन्तु यहां प्रमाद, आलस्य, निद्रादि सभी तमोगुण कार्य ग्राह्य हैं। सबको जिसने वश में किया वही अर्जुन गुडाकेश है। तमोगुण को रजोगुण से रजोगुण को सत्त्वगुण से जिसने जीता हो वही गुडाकेश है। अर्जुन की व्याख्या हम पहले कर आये हैं। अर्जुन सीधे सरल को कहते हैं। अर्जुन सात्त्विकता का प्रतीक है। गुडाकेश कहने से तमोगुण विजेता अर्थ तो निकल ही आता है। तमोगुणी तप नहीं कर सकता। निद्रा आयी तो फिर तप क्या ? फिर भले आप "निद्रा समाधिस्थिति।" बोलकर समाधान कर लें। एक हरिद्वार में महात्मा थे। कमरा बंद करके रखते थे। उनसे पूछते तो कहते हम अन्दर समाधि लगाते हैं। खास करके आरति महिमन के समय। लोग सच समझते थे। एक दिन संयोग वश कमरा खुला रह गया। कोई पहुँच गया तो वे सो रहे थे। उस रोज पोल खुल गया। आरति महिमन में आने के आलस्य से निद्रा हो रही थी। अर्थात् तीनों साथ। क्या ? आरति महिमन का आलस्य और ऊपर से निद्रा और कर्त्तव्य से प्रमाद। ये तीन ही तो तमोगुण के मुख्य अंग है। जिनको ही लेकर भगवान ने तमोगुण का वर्णन किया—

"प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत"

निद्रा आती है आलस्य से। आलस्य आता है प्रमाद से। आवश्यक कार्यों में आलस्य प्रमादी ही कर सकता है। असमय में और अस्थान में सोना आलस्य का ही परिणाम है। अतः यहाँ कार्य निर्देश कर कारण का परिग्रह किया जा रहा है। कहीं कार्य से कारण का निर्देश किया जाता है। जैसे हिमालय में बैसाख जेठ में

दिल्ली काशी की परेशानी नहीं, माने परेशानी के कारण गरमी नहीं। वैसे निद्रा को अधीन किया माने निद्रा एवं उसका कारण प्रमाद और आलस्य को अधीन किया। इसलिये अर्जुन का नाम गुड़ाकेश पड़ा।

अर्जुन ने शंकर की घोर तपस्या की। भगवान शंकर प्रसन्न हुए। किन्तु परीक्षा लेनी चाही। यद्यपि परीक्षा की जरूरत तो नहीं थी। फिर भी वीरों की परीक्षा लेने में कुतूहलता होती है। एक बड़ा जंगली गैंडे के पीछे किरात बनकर शंकर पार्वती ने पीछा किया। अर्जुन ने देखा—यह मेरी तपस्या में विघ्न करने के लिये कोई आ रहा है। अर्जुन ने बाण मारा उसी समय किरात वेषधारी शंकर भगवान ने भी बाण मारा। एक का बाण मुख से चुभ कर गुदा मार्ग से निकला, दूसरे का पृष्ठ से चुभ कर मुख मार्ग से। अब किसने गैंडे को गिराया, किसका कौन सा बाण, इस बात को लेकर झगड़ा शुरू हुआ। झगड़ा युद्ध में परिणत हुआ। कथा काफी लम्बी है। अन्त में अर्जुन की वीरता पर भगवान शंकर प्रसन्न हुए और अपना अमोघ शस्त्र पाशुपतास्त्र अर्जुन को दिया। और यह भी वरदान दिया कि महाभारत युद्ध में मैं उपस्थित रहूँगा।

भीष्मादि से यह बात छिपी कहाँ रह सकती थी। अतएव इस अमोघ शस्त्र को लेकर सभी अर्जुन का सम्मान बहुमान करते थे। महाभारत युद्ध में यह बात प्रत्यक्ष हो गयी थी। यद्यपि अर्जुन ने महाभारत में पशुपतास्त्र का प्रयोग नहीं किया। तथापि जो वहाँ कौरव संहार हुआ वह शंकर कृपा से ही हुआ। **"यत्र यत्र रथो' याति तत्र तत्राग्रतः शिवः"** अर्जुन का बाण जहाँ-जहाँ जाता था वहीं-वहीं आगे-आगे शिवजी रहते थे। कौरव सेना का संहार तो संहाराधिष्ठाता भगवान शंकर ही करते जा रहे थे। श्रीमद्भागवत में भी पूतना प्रसङ्ग में ऐसी ही वात आती है। पूतना भेष बदल कर सुन्दर अप्सरा का रूप लेकर ब्रज में पहुँची। वह बच्चों को

मारने के लिये आयी थी। इसलिये अपने स्तनों पर जहर लगाकर आयी थी। भगवान पूतना को आते हुए देखकर अपनी आँखों को मूंद लिया था। क्यों मूंद लिया था ? बड़े-बड़े कवियों ने इस विषय में अनेक-अनेक कल्पनायें की हैं। एक रहस्यपूर्ण बात श्रीकृष्णकर्ण रसायन के अन्दर वर्णित हुआ है।

आयान्तीमवलोक्य सार्धंजननीभावां पुरः पूतनां
सस्माराक्षियुगं निमील्य भगवान् श्रीनीलकण्ठं हरम्।
स्तन्यं संधयति प्रभौ विषमपात् प्राणे सरोषो हरः
पातृद्वैतममिष्टुमो हरिहराद्वैतं किमप्यद्भुतम्॥

पूतना कुछ मातृ भाव लेकर आ रही थी। उसे संमुख देखकर भगवान ने आँख बन्द किया। किसलिये ? किसी का स्मरण करने के लिये आँख बन्द की जाती है। किसका ध्यान किया ? नीलकण्ठ का। जो जहर पीकर नीलकण्ठ हो गये थे उन शंकर का। क्यों ? इसलिये कि श्रीकृष्ण कह रहे थे कि हे भोले बाबा ! क्षीर सागर मन्थन हो रहा था तब जहर प्रकट हो गया था। तब आपने जहर पिया हम लोगों ने दूधसार अमृत भक्षण किया। अब भी वही हालत है। पूतना का स्तन दुग्धसागर समझो और ऊपर हलाहल लगा हुआ है। वह बड़ा क्षीर सागर मन्थन था यह छोटा है। जो भी हो जहर पीने का काम मेरे से नहीं होगा। मैं बच्चा हूँ, मैं तो व्रज में माखन खाने आया हूँ। कोई जहर पीने थोड़े ही आया हूँ। इसलिये, कृपया अबकी बार भी आईये। आपकी सेवा में जहर उपस्थित है। हलाहल पर यह जहर भला क्या असर करेगा। भगवान श्री कृष्ण ने ज्यों ही स्मरण किया—"**वन्दे मुकुन्दप्रियं**" तो शंकर ही हैं, उसी समय उपस्थित हो गये। दोनों ने मिलकर पूतना का स्तन पिया। परन्तु विभाग कर लिया था। कृष्ण ने कहा—मेरे हिस्से में दूध और आपके हिस्से में जहर। भगवान

शंकर ने कहा—लेकिन मैं तो संहार का देवता हूँ। भगवान ने कहा, तो आप जहर के साथ ही प्राण भी पी जाईए। आप पूछेंगे, ऐसी कथा भागवत में कहाँ लिखी है ?। आपने भागवत पढ़ी नहीं, वहीं यह बात आयी है—

तस्मिन् स्तनं दुर्जरवीर्यमुल्बणं
घोराङ्कमादाय शिशोर्ददावथ।
गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत्
प्राणैः समं रोषसमन्वितोऽपिबत् ॥

अपने घोर गोद में लेकर पूतना ने हालाहल युक्त स्तन शिशु श्रीकृष्ण के मुख में दिया। श्री कृष्ण अपने हाथों से स्तनों को दबाकर पीने लगे। अकेले ? नहीं। 'रोषसमन्वित:'। रोष के साथ। रोषाधिष्ठाता रुद्र ही तो है। रोदयतीति रुद्रः। पूतना को रुलाने वाले भी आखिर रुद्र ही हैं। कैसे पिया—प्राणैः समम्। प्राणों के साथ। भगवान रुद्र ही संहार कर्त्ता हैं। वे संहारार्थं उपस्थित होते हैं। कहीं स्पष्ट रूप से और कहीं अस्पष्ट रूप से। और कहीं स्पष्टास्पष्ट रूप से। त्रिपुर संहारादि में और जगत्प्रलय में स्पष्ट रूप से शंकर आते हैं। पूतना प्राण संहार समय अस्पष्ट रूप से आये। और स्पष्टास्पष्ट रूप से कहाँ आये ? महाभारत युद्ध काल में। वहाँ भक्तों को अन्यान्य दिव्य दर्शियों को स्पष्ट रूप से अर्जुन के रथ के आगे शंकर भगवान दीख रहे थे। साधारणों के लिये तो शंकर भगवान अस्पष्ट थे। क्योंकि सर्व साधारण शंकर को कैसे देख सकते थे। उसके लिये भी आखिर दिव्यचक्षु चाहिये ही। इसलिये किसी के लिये स्पष्ट एवं किसी के लिये अस्पष्ट होने से शंकर भगवाव वहाँ स्पष्टास्पष्ट थे। कहने का तात्पर्य यह है इस प्रकार अर्जुन का प्रभाव सर्व विदित था। अत एव भीष्मपितामहादि भी अर्जुन का समादर करते थे। ऐसे महापुरुषों के सामने लाघव उपस्थित होगा।

यद्यपि महापुरुष गाली नहीं देंगे। अवाच्यवाद नहीं कहेंगे। उनके मन में प्रथम तो भारी आश्चर्य होगा कि अर्जुन जैसे महायोद्धा को क्या हो गया। कभी उन लोगों ने कल्पना भी नहीं की होगी जो अब हो रहा और हो गया। उसको लेकर अन्त में वे एक प्रसिद्ध श्लोक में थोड़ा परिवर्त्तन मात्र करेंगे। श्लोक में इस प्रकार है—

गजतुरङ्ग विहङ्गमबन्धनं
शशिदिवाकरयोर्ग्रह पीडनम्।
मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां
विधिरहो बलवानिति मे मतिः॥

समय की बलिहारी है। एक समय वह था जब मानव जंगल में रहते थे। हाथी, घोड़े आदि को अति शक्तिशाली समझते थे। पक्षी आसमान में उड़ते हैं। उनको पकड़ना असंभव जैसा था। मानव ने क्रमशः उन्नति की। विविध उपायों को ढूंढ निकाला। फिर भी हाथी आदि को फंसाना बड़ा कठिन था। लेकिन विधि की बलिहारी है। समय बलवान है। हाथी भी बंधन में पड़े। द्रुत गति से दौड़ने वाला घोड़ा भी पकड़ में आ गया। आसमान में उड़ने वाले पक्षी भी पकड़े जाने लगे। हाथी, घोड़े आदि ने कभी कल्पना भी नहीं की होगी कि हम भी बंधन में कभी आयेंगे। दूसरा देखो आसमान में सूर्य और चन्द्र। ये दोनों स्वयमेव ग्रह है। ग्रह पर ग्रह पीड़ा कैसे हो। परंतु ऐसा भी समय आया। समुद्र मन्थन के के समय राहु केतु नाम के दो ग्रह प्रकट हो गये। जिससे सूर्य और चन्द्रमा को भी ग्रह पीड़ा होना शुरू हो गया। संसार में एक से बढ़कर एक बुद्धिमान पड़े हैं। कैसे विद्या का अर्जन करना, कैसे धनार्जन करना आदि तरीके सब जानते हैं। फिर भी दरिद्रता उन्हें घेरे रहती है। हमने बड़े-बड़े पण्डितों को देखा है। न्यायाचार्य, वेदान्ताचार्य हैं, एम. ए. हैं। लेकिन फटी पुरानी धोती से गुजारा कर रहे हैं। इस सबको देखने पर यही निश्चय होता है कि ससय

बलवान है। उसके सामने किसीका कुछ नहीं चलता। भगवान अर्जुन को कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! तुम अगर युद्ध से पीछे हटोगे तो महापुरुष इस श्लोक में एक पञ्चम पाद और जोड़ेंगे या किसी पाद को निकाल कर यह पद जोड़ेंगे क्या ?—

समरतः किल पार्थपलायनं
विधिरहो बलवानिति मे मतिः

विधि की बलिहारी है कि सर्वत्र विजयी रहने वाले अर्जुन का भी ऐसा समय आ गया कि रणांगण से पलायन करना पड़ा।

महापुरुष इस प्रकार जैसे तैसे समाधान भले कर ले, किन्तु उनके मन में तुम्हारे प्रति जो गौरव था वह तो नहीं ही रहेगा। तुम लघुता को प्राप्त करोगे। और यह सर्वथा अनुचित है। मनुष्य को अपना गौरव हमेशा रखना चाहिये। इतिहास जब बनेगा तब क्या माता-पिता अपने बच्चों को तुम्हारी इस कायरता की शिक्षा देंगे ? शेर बनने के लिये माता-पिता शिक्षा देते हैं। क्यों ?

सिंहः शिशुरपि निपतति मदमलिनकपोलभित्तिषु गजेषु।
प्रकृतिरियं सत्त्ववतां न खलु वयस्तेजसो हेतुः॥

शेर का बच्चा ही क्यों न हो, वह घबराता नहीं, अपनी जान की परवाह नहीं करता। मदोन्मत्त हाथी भी सामने से आता है तो उसके गंडस्थल पर छलांग मारता है। तेजस्वियों का यह स्वभाव है। तेजस्वी बनो। अर्जुन के समान बनो, भीष्म समान बनो।

होवे अर्जुन भीष्म समान।
कर दो जीवन का कल्यान॥

ऐसी वाणी लोगों के मुँह से निकलनी चाहिये। किन्तु आज युद्ध छोड़कर भागोगे तो हमेशा के लिये तुम्हारा नाम या तो बदनाम होगा या फिर शून्य में लीन होगा। अतः लाघव प्राप्त होना किसी प्रकार भी योग्य नहीं है ॥३५॥

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ३६ ॥

[तथा तुम्हारे शत्रु तुम्हारे ही सामर्थ्य की निन्दा करते हुए न बोलने योग्य भी बहुत सारी बातें बोलेंगे । इससे अधिक दुःख क्या होगा ॥ ३६ ॥]

"भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां" महारथी लोग मानेंगे कि तुम भय के कारण रण से उपरत हुए । यह तो उनकी मान्यता हुई । सच्ची बात तो कुलक्षय कृत दोष दर्शन है । "कथं न ज्ञेयमस्माभिः कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः" ऐसे पहले कहा जा चुका है । उसमें यदि किसी महारथी को भ्रान्ति हो जाय तो भ्रान्ति के लिये कोई दवा नहीं है । भ्रान्त पुरुष की भ्रान्ति निवृत्ति करने लगे तो प्रयत्न वृथा होगा, सिद्धान्त त्याग भी होगा । और वैसी भ्रान्ति में वे पड़े रहते हैं तो हमें कोई हानि भी तो नहीं है । हमारा सिद्धान्त तो यह था कि अप्रतीकार भी मुझे यदि ये धार्तराष्ट्र मार डाले तो मेरे लिये क्षेमतर होगा । "यदि मामप्रतिकारं""तन्मे क्षेमतरं" यह भी पहले कहा जा चुका है । इस पर भगवान कह रहे हैं कि एक तो यह है कि किसी को भ्रान्ति के लिये अवसर देना, सो भी बिना मतलब, उसमें भी विपरीत फलार्थं, सर्वथा अयुक्त है । यह क्षेमतर का दरवाजा नहीं है, दुःखतर का दरवाजा है । केवल मानने की बात नहीं, फैलने की बात है । यही **"अवाच्यवादान्"** से कहा जा रहा है ।

"अवाच्यवादान्........"यहाँ अवाच्यवाद का क्या अर्थ है ? न बोलने योग्य बातें । आखिर वही न बोलने योग्य बातें निन्दात्मक है या स्तुत्यात्मक है ? स्तुत्यात्मक तो हो नहीं सकती । क्योंकि वह

अवाच्य नहीं है। निन्दात्मक अर्थ है तो "निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं" इस तृतीय पाद से ही गतार्थ है। पुनरुक्ति मात्र होगी। अतः यहाँ अवाच्यवादान् का कुछ और ही अर्थ है। वाच्यार्थ कहते हैं जो शब्दों का सीधा अर्थ होता है। जो शब्दों का सीधा अर्थ नहीं होता वह अवाच्यार्थ होता है। उसी को व्यंग बोलते हैं। व्यंग माने कहा जा रहा है कुछ और। और अर्थ निकलता है कुछ अन्य। सुनने में सीधे बुरा नहीं लगेगा। जो साक्षात् वाक् प्रहार है वह निन्दा है। और जो उलटे रास्ते से प्रहार है, वह अवाच्यवाद है। अवाच्य-वाद अर्थात् व्यंग का एक नमूना देखो—एक राजा के पास दो विद्वान गये। विद्वानों को कुछ तकलीफ की बातें थीं, जिन्हें वे दूर करना चाहते थे। पहले जमाने में विद्वान जब धनाभाव से पीड़ित होते थे तो राज शरण लेते थे। दोनों पहुंचे राजा के पास। उनमें एक अपनी गरीबी की परवाह नहीं करता था। किन्तु अपमान से वह अपने को बचाता था, दूसरे पण्डित ने राजा से अपनी करुण कहानी सुनाना शुरू किया। पहले ने राजा के भाव पर ध्यान दिया। तो ऐसा लगा कि राजा पर कोई असर नहीं पड़ रहा। परन्तु दूसरा बोलता ही जा रहा था। पहले ने सोचा कि कैसे अब इसको समझावें कि यह राजा कुछ देने वाला नहीं है। उसी समय देखा पेड़ पर बैठकर एक चातक पपीहा आवाज कर रहा था। बड़ा प्यासा था। ऊपर बादल का एक टुकड़ा आया हुआ था। उसी को संबोधित कर पंडित ने कहा—

रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयता-
मम्भोदा बहवो हि सन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
केचिद्वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा
यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः॥

अरे चातक तू सावधान होकर मेरी बात सुन। मुझे मालूम है कि तेरा बड़ा ही कठोर व्रत है। नियम है कि बादल का पानी ही पीना है।

व्याध ने चातक पर बाण मारा था एक बार। वह चातक बाण से विद्ध होकर सरोवर में जा गिरा। प्राण तड़प रहे थे। प्यासा था। वह बादल को पुकारने लगा। किसी ने कहा—अरे ! सरोवर में पड़ा है। सरोवर का पानी पी ले। चातक ने कहा—तड़प-तड़प कर भले मैं मर जाऊँ। परन्तु मैं अपना नियम नहीं तोड़ूंगा। मेरा नियम है कि पियूंगा तो पृथिवी स्पर्श रहित मेघ जल ही पीयूंगा। पण्डित कहने लगे, ऐ चातक तुम्हारा यह व्रत उत्तम है। परंतु इसके निमित्त जो इस समय रो रहे हो सो ठीक नहीं। कोई बादल तो वृष्टि से पृथिवी को आर्द्र कर देता है। किन्तु दूसरा केवल गर्जता है। जो गर्जता है वह बरसता नहीं, जो बरसता है वह गरजता नहीं। अतः जो-जो बादल दिखाई पड़े उसी-उसी के सामने दीन वचन बोलकर रोना नहीं।

इसको अन्योक्ति कहते हैं। किसी और को कहते हैं, किन्तु लक्ष्य है कोई और। यहाँ कहा जा रहा है बादल और पपीहे को लेकर। किन्तु लक्ष्य है राजा और पण्डित। वह द्वितीय पण्डित रे रे चातक से अपने साथी प्रथम पण्डित को संबोधित कर रहा है। अम्भोद से राजा को सूचित कर रहा है। यह राजा जो अपनी बड़ाई कर रहा है—मैंने वहाँ दान दिया, यहाँ दान दिया इत्यादि। इसका मतलब है कि अभी-अभी काफी पैसा खर्च होने से वर्त्तमान में देने की स्थिति में नहीं हुं। बहुत से ऐसे लोग होते हैं कहते हैं—आप दो दिन पहले आते तो सारा काम हो जाता। मैंने परसों ही यह सब निकाला इत्यादि। ये सब मीठी-मीठी बातें निराशाकरण मात्र है। इस राजा के मन में कुछ देने का विचार नहीं है।

भगवान अर्जुन को कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! इसी प्रकार लोग व्यंगोक्ति, अन्योक्ति आदि का प्रयोग कर तुमको सुनाने लगेंगे। सुनते हुए कहेंगे कि यह गरजने वाला मेघ है। अर्थ यह कि गर्जन ही गर्जन है। कोई सार नहीं है। बूँद पानी भी नहीं है। सूखा ही

सूखा है। बच्चे बादल का गर्जन सुनकर डरते हैं। परंतु व्यर्थ ही डरते हैं। अन्योक्ति बड़ी विलक्षण होती है। सब कुछ कह जायेंगे। लेकिन एक भी बात पकड़ में नहीं आयेगी। अगर राजा द्वितीय पण्डित को कहता कि तुम मुझे गाली दे रहे हो तो वह कहेगा कि मैं पपीहे को कह रहा था। आपको नहीं। परन्तु बोलने में कसर क्या रह गया ? गरजने वाला है बरसने वाला नहीं, इससे अत्यन्त तुच्छता का आभास मिलता है। अगर द्वितीय पण्डित बोलता कि यह राजा देने वाला नहीं है। तो पण्डित पकड़ा जाता। कैसे तुमने कहा—राजा नहीं देता। अच्छा तुमने ऐसा कहा इसीलिये हम अब तुमको कुछ नहीं देंगे। दोनों प्रकार से पण्डित को दबा सकते हैं। लेक्निन अन्योक्ति में तो सब कुछ अन्तर्भुक्त हो जाता है।

कोई कहेगा—देखो अर्जुन कितना गुरुभक्त है। रणांगण में आते ही अर्जुन की गुरु भक्ति जगी और गुरु के चरणों में शरणागत हो गया। उसी प्रसंग में दुर्योधन दुःशासनादि को भी अर्जुन ने गुरु माना। उनके चरणों में अपनी भक्ति निवेदित की। दूसरा कहेगा, देखो अर्जुन कितना दयालु है। भीष्म पितामह ने जहाँ अपने धनुष पर बाण चढ़ाया तो दया उभर आयी अर्जुन को, कि ये बेचारे प्राणी हत्याकर नरक में जायेंगे। अतः हम ही युद्ध से हट जाय तो अच्छा है। तीसरा कहेगा कि अर्जुन का यह अपार प्रेम है। जब भीष्मपितामह ने शंख बजाया तो अर्जुन का प्रेम बहने लग गया। उसने सोचा कि मेरे पितामह को युद्ध करने में कितनी तकलीफ होगी। मैं ही पीछे हट जाऊँ। कोई कहेगा कि अर्जुन ने देखा यह सारा ही संसार क्षणभंगुर है, मिथ्या है। लड़ने न लड़ने का कोई अर्थ नहीं होता। गंधर्व नगरी पर चढ़ाई करने के बराबर ही यह युद्ध है। जो इस युद्ध में लगता है, वह संसार बन्धन में पड़ जाता है। अतः अर्जुन को वैराग्य हो गया इसलिये उपरत हो गया।

भक्त्येति केचिद्भयेति केचित्
प्रेम्णेति केचित्कातिचिद्विरक्त्या ।
युद्धात् स्वधर्माद्विरतं वदन्तो
ह्यवाच्यवादैर्बहुधा वदेयुः ॥

इस प्रकार तुम्हें सुना सुना कर कहेंगे। अवाच्यवाद कहेंगे। बोलने वाले तुम्हारे शत्रु ही होंगे। कैसे शत्रु—अहिताः। अहित शब्द का अर्थ ही शत्रु होता है। किन्तु यहाँ अवयवार्थ भी विशेष रूपेण विवक्षित है। तुम्हारा अहित चाहने वाले, तुम्हारा हित नष्ट करने वाले जो वैरी हैं उनके लिये इस प्रकार के अवाच्यवाद बोलने का मौका मिलेगा।

निन्दन्तस्तव सामर्थ्यम्। यहाँ भगवान एक विशिष्ट अर्थ को सूचित कर रहे हैं। सामर्थ्य का अर्थ तो साधारणतया शक्ति होता है। किन्तु सहाय साधन सामग्री आदि को भी सामर्थ्य कहते हैं। महाभारत में ही एक कथा आती है। महाभारत युद्ध प्रारंभ हो गया था तो प्रथम कर्ण से युधिष्ठिर की मुठभेड़ हो गयी। कर्ण ने ऐसे छल से बाण मारा कि युधिष्ठिर बेहोश होकर गिरे। थोड़ी देर में होश में आकर फिर तैयार होने लगे तो कर्ण ने बड़े अपमान भरे शब्दों में कहा—जा जा, घोंसले में घुस जा। तेरे जैसे कायरों से मुझे नहीं लड़ना है। और माँ को मैंने वचन दिया है कि अर्जुन के सिवाय और किसी को मारना नहीं है।

वह कथा इस प्रकार है कि कुन्ती ने यह बात किसी को अभी तक नहीं बतायी थी कि कर्ण मेरा बेटा है। सूर्य मन्त्र जप से कन्यावस्था में ही कुन्ती से कर्ण का जन्म हुआ था। लेकिन लज्जा से कुन्ती ने उसे पेटी में भरकर नदी में बहाया और एक सूत ने पेटी में बालक पाकर पाला पोसा था इत्यादि कथा अत्यन्त विस्तार है। महाभारत के समय जब कुन्ती को मालूम पड़ा कि

कर्ण कौरवों के पक्ष में रहकर पाण्डवों से ही युद्ध करेगा तब यह बात धीरे धीरे प्रकाश में आयी। भगवान् की प्रेरणा से कुन्ती माता एक दिन स्वयं कर्ण के पास पहुँची। कर्ण ने देखा पाण्डवों की माता मेरे पास कैसे आयी। कर्ण ने आदर सत्कार किया और पूछा, आप मेरे पास कैसे आयी ? कुन्ती ने कहा—मैं तुम्हें एक बात कहने आयी हूँ, अगर तुम स्वीकार करो। कर्ण ने कहा—मेरे से जो भी शक्य है सो मैं सेवा करूँगा। कुन्ती ने कहा—तुम्हें मालूम है कि तुम्हारे माता पिता कौन हैं ? कर्ण ने कहा—मुझे अपने पिता के बारे में मालूम है, अधिरथ नाम का सूत मेरे पिता है। किन्तु माता का पता नहीं। पिता का पता होने पर माता का पता कैसे नहीं ? कर्ण ने कहा—अधिरथ ने मुझे पाला पोसा इसलिये पालन पोषण कर्त्ता के रूप में मेरे पिता है, जन्मदाता पिता नहीं। हे कर्ण ! कुन्ती ने कहा, तुम यथार्थतः मेरे पुत्र हो, तुम्हारा जन्म सूर्य से हुआ है। दुर्वासा ऋषि के प्रदत्त मन्त्र के प्रभाव से मुझसे कन्या अवस्था में ही तेरा जन्म हुआ था। अतः लोक लज्जा से तुम्हें पेटी में भरकर देवताओं से रक्षा की प्रार्थना कर मैंने नदी में छोड़ा था। जिसे अधिरथ ने पाला था। कर्ण यह सुनकर खंभे के समान स्तब्ध एवं आश्चर्य चकित होकर अवाक् खड़ा है। मातृभक्ति उमड़ने लगी। इधर कुन्ती माता बोलती जा रही थी—अब तू अपने ही भाईयों से लड़ने जा रहा है। ऐसा मत कर। युद्ध का नाम लेते ही कर्ण का दिमाग चकरा गया। कर्ण ने कहा—माँ, तू मेरी माँ हो, तेरे को नमस्कार करता हूँ, लेकिन इतने दिनों तक इस बात को तूने क्यों छिपा रखा ? इस ऐन मौके पर आकर कैसे बोली। इतने दिनों तक दुर्योधन का नमक खाकर, आज मैं सहसा दुर्योधन को धोखा कैसे दे सकता हूँ, आज तक समय समय पर अपमान से उबारने वाला दुर्योधन ही रहा। किसी भले काम में जाऊँ तो सूत पुत्र कहकर लोगों ने मेरा

तिरस्कार किया। अर्जुन के संमुख भी सैकड़ों बार मैं तिरस्कृत हुआ। किन्तु हर समय ढाढ़स देने वाला दुर्योधन ही था। आज इस अन्तिम परीक्षा की घड़ी में मैं दुर्योधन को धोखा नहीं दे सकता। कर्ण को तो मानो उस समय रोना आने लगा। अब मुझे अपने ही भाईयों को मारने के लिये आगे बढ़ना है। कहते हैं कि उस समय कर्ण कुछ क्रोध में आकर श्राप दे देता है। कर्ण ने कहा, इतने दिनों तक तूने इस बात को पेट में छिपाकर रखा, आज मैं श्राप देता हूँ कि स्त्रियों के पेट में आज से कोई बात छिपी नहीं रह सकती। यह बात कहाँ तक यथार्थता लिये हुए है, भगवान जाने, आखिर कर्ण खिन्न अवश्य हुआ। कुन्ती माता ने कहा, जो भी गलती हुई हो, फिर भी मुझे जो वचन दिया, तदनुसार पंच पाण्डव वध तू मत कर। कर्ण को तुरत बुद्धि आयी। आखिर सूर्य पुत्र जो ठहरा। सूर्य स्वयं बुद्धि प्रदाता है ही। कर्ण ने कहा—पंच पाण्डव वध मैं नहीं करूँगा। मैं मारूँगा तो केवल अर्जुन को मारूँगा। अगर युद्ध में अर्जुन मरेगा तो मेरे को लेकर पंच पाण्डव रह जायेंगे। अगर मैं मर गया तो कोई सवाल है नहीं, वे ही पुत्र पंच पाण्डव रह जायेंगे।

इसी को लेकर कर्ण ने डाँटते हुए युधिष्ठिर को कहा—अरे कायर, तुझसे लड़ना नहीं है, परन्तु कर्ण का यह अपमान वचन युधिष्ठिर को बड़ा बुरा लगा। युधिष्ठिर अपने शिविर में गये। जब बाद में अर्जुन आया तो अर्जुन पर ही युधिष्ठिर क्रोध से बरस पड़े। अर्जुन को डाँटते हुए युधिष्ठिर ने कहा, धिक्कार है अर्जुन तेरे को, धिक्कार है तेरे गांडीव को कि मैं युद्ध में यूं ही गया था और कर्ण ने मुझे मार गिराकर ऊपर से अपमानित किया। तेरा गांडीव धनुष आखिर किस काम का। बस इतना सुनना था कि अर्जुन आपे से बाहर हो गया। क्रोध से तमतमा उठा। युधिष्ठिर इतना कहकर अन्दर गये तो अर्जुन ने गांडीव हाथ में थामा।

इतने में भगवान श्रीकृष्ण वहाँ पहुँचे। भगवान कृष्ण ने अर्जुन को कहा—अर्जुन यह रणभूमि नहीं है, यह शिविर है। यहाँ गांडीव क्यों उठा रहे हो यहाँ कौन शत्रु आ गया है। अर्जुन ने कहा—आज मैं युधिष्ठिर का ही वध करूँगा। भगवान ने समझा, यह मामला भयंकर हो गया है। लेकिन ऐसे समय में भगवान मुस्कराते हुए बात को हलकी करते हैं। जैसे प्रथम आया था -"प्रहसन्निव भारत"। भगवान ने कहा—युधिष्ठिर तो तुम्हारे बड़े भाई हैं, उनके वध की बात कैसे आयी ? अर्जुन ने कहा—मेरी यह प्रतिज्ञा है—जो मेरे गांडीव की निन्दा करे, गाण्डीव को धिक्कारे, उसका मैं वध करूँगा। भगवान अंदर से कुछ चिन्तित होते हुए बाहर से ठहाका मारकर हँसे। भगवान ने कहा—अगर प्रतिज्ञा भंग हो गया तो क्या हानि है, यह बतावो। अर्जुन ने कहा—वचन भंग करने वाला असज्जन होता है, नरक गामी होता है। शास्त्रों में कहा गया है—

"न भवति पुनरुक्तं भाषणं सज्जनानां"

सत्पुरुषों का वचन कभी पुनरुक्त नहीं होता, मृषा नहीं होता। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

उदयति यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः।
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्रे शिलायां
न भवति पुनरुक्तं भाषणं सज्जनानाम् ॥

सम्भव है, ऐसा विपरीत काल भी कदाचित् आ जाय कि सूर्य पश्चिम से उदय होने लग जाय काल की महिमा अपार है। आश्चर्यकारी है। संभव है कि अचल सुमेरु पर्वत भी चलित हो जाय, क्योंकि युगान्तकाल अति भयानक होता है। हो सकता है कि अग्नि भी शीत होने लगे। किसी संमिश्रण से मणिगत तेज एवं चन्द्रगत

तेज तो शीत हो ही गया। वैसे अग्निगत तेज भी कदाचित् शीत होने लग जाय तो आश्चर्य नहीं समझना चाहिये। और यह भी संभावित चर्चा है कि पर्वताग्र पर शिला के ऊपर सरसिज कमल खिलने लगे। भले वह सरोवर में पैदा होता हो किन्तु स्थल पद्म तो देखने को मिलता ही है। ब्रह्मा की सृष्टि अपार है कभी पर्वत-शिला पर भी पद्म खिलने लगे तो आश्चर्य नहीं मानना चाहिये। हाँ, इन सब में भले परिवर्त्तन हो, किन्तु सज्जनों का वचन अटल अचल सुनियत रहेगा। उसमें कभी भी परिवर्त्तन नहीं आ सकता। भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र अर्जुन का भाषण सुनते जा रहे थे। भगवान ने कहा कि प्रतिज्ञा भंग से नरक में जाना पड़ेगा, ठीक है। किन्तु ज्येष्ठ भ्राता के वध से स्वर्ग मिलेगा? उससे भी तो नरक में जाना पड़ेगा। अब अर्जुन का दिमाग चकराने लगा। अर्जुन ने कहा, फिर भी बलाबल विचार में सत्य की रक्षा होनी चाहिये। **"सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्"** ऐसा सर्व प्रतिष्ठास्पद के रूप में सत्य को बताया है। भगवान ने कहा—सत्य भी रह जाय और भ्रातृवध पाप से मुक्ति हो ऐसा कोई रास्ता निकले तो? तो बड़ा ही उत्तम। भगवान बोले—भले अर्जुन बड़ों का वध शरीर वध नहीं होता। बड़ों का तिस्कार ही उनके लिये मरण भी है और मरण से बढ़कर भी है। जा युधिष्ठिर को गाली दे आओ। वही उनका वध है। बस फिर क्या था। रास्ता मिल गया। भगवद्वचन से प्रमाणित भी हो गया। शिविर में जाकर सबके सामने अर्जुन ने युधिष्ठिर को कहा—अरे, जुआड़ी! तेरे कारण हम सभी पाण्डव साथ में द्रौपदी सबने वन-वास का कष्ट भोगा। अज्ञातवास का कष्ट भोगा। सत्यवादी बना फिरता है। निकम्मा, कर्ण का एक वाण लगा तो मुझे गाली देता है। चूल्लूभर पानी में डूब नहीं मरता। जो कुछ मुँह में आया अर्जुन गाली बक गया। और वहाँ से चला आया। युधिष्ठिर का एड़ी से चोटी तक पसीना निकल आया। क्रोध, अपमान जनित निराशा

आदि सबका संमिश्रण हो रहा था। युधिष्ठिर ने कहा—ऐसों के साथ रहने की अपेक्षा आत्महत्या करना या जंगल में रहना अच्छा है। कलियुग आ चुका है। हमने समझा था भगवान कृष्ण के रहते रहते कलियुग नहीं आयेगा। अभी से मैं स्वर्गारोहण करूँगा। क्रुद्ध एवं विरक्त होकर ज्यों ही युधिष्ठिर बाहर निकले इतने में भगवान पहूँचे। भगवान ने कहा—महाराज! यह आपकी नयी कौन सी तैयारी हो रही है। युधिष्ठिर को भगवान के दर्शन से सान्त्वना मिली। क्योंकि बड़े लोग छोटों की गलती उन्हीं को कहकर नहीं समझा सकते। केवल घुट घुटकर उन्हें रखना पड़ता है। कोई मध्यस्थ आ जाय तब उन्हें सान्त्वना मिलती है। भगवान को देख-कर युधिष्ठिर शान्त हुए। आश्वस्त हुए। युधिष्ठिर बोले—भगवन! बात यह है कि इस परिस्थिति ने हमारे संस्कारों को ही खतम कर दिया। अर्जुन ने आज मुझे अकथनीय अपशब्द कहे। भगवान ने कहा—आप चिन्ता न करो। कोई संस्कार नाश नहीं हुआ है। बात यह है कि क्या आपने अर्जुन के गांडीव को धिक्कारा है? जी हाँ, मेरी भसंकर दुर्दशा में भी उसका गांडीव काम में नहीं आया था। बात सही है। परन्तु आपको मालूम है कि अर्जुन ने प्रतिज्ञा कर रखी है, जो उसके गांडीव की निन्दा करेगा, उसका वह वध करेगा। पुधिष्ठिर सोच में पड़े। स्मरण आया। बोले कि हाँ ऐसी उसकी प्रतिज्ञा है। भगवान बोले—अर्जुन आपको मारने को ही तैयार था। तो मैंने ही उसको यह उपाय बताया कि बड़ों का वध शरीरतः नहीं होता। उनका अपमान ही उनका वध है। तो अर्जुन ने अज्ञानवश या कुसंस्कार वश ऐसा कार्य नहीं किया था। जब इतना सुना तब युधिष्ठिर के मन में आश्वासन हुआ। और बोले भगवान! हमारे सचमुच रक्षक आप ही हैं।

यह महाभारत के अन्तर्गत घटना है। भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र इन सब बातों को अच्छी तरह जानते थे। अर्जुन के रग रग को

भगवान पहचानते थे। अत एत भावी बात को भी वे पहले ही समझ जाते थे। भगवान ने कहा—आगे एक युधिष्ठिर की यह घटना होने वाली है जिसका समाधान भी होगा। किन्तु **"निन्दन्त-स्तव सामर्थ्यं"** में क्या होगा ? भगवान ध्वनित कर रहे हैं कि तुम्हारा असली सामर्थ्य तो गांडीव धनुष है। लोग उसी की निन्दा करेंगे तो क्या होगा ? ये सभी बड़े बड़े वीर प्रथम तुम्हारे उस गर्व रूप गांडीव की ही निंदा करेंगे। लोग कहेंगे कि हम समझ रहे थे कि यह गांडीव दिव्य धनुष है। परन्तु यह तो टेढ़ा किया हुआ बांस मात्र है। अगर गांडीव में ताकत होती तो दुम दबाकर न भागता। यही सब भयंकर अवाच्यवाद है। दुम दबाकर भागा यह भयंकर अवाच्यवाद है। उसका अर्थ क्या है ? लोग सामान्य व्यवहार में ही इस शब्द का प्रयोग करते हैं। मैंने काशी में एक पण्डित के बारे में ही बोलते सुना। अरे शास्त्रार्थ में अमुक पण्डित उतरे तो अमुक दुम दबाकर भागे। कुत्ते बनकर भागे यह अर्थ है। यह अवाच्यवाद गाली है।

हे अर्जुन ! इस समय तुम स्वजनवध से भीत होकर युद्ध से उपरत हो रहे हो किन्तु जब तुम्हारी गाण्डीव की निन्दा शुरू हो जायेगी तब तुमको वही काम फिर शुरू करना पड़ेगा। ये ही वन्धु बान्धव तुम्हारे सामर्थ्य की निन्दा करेंगे तो उन्हें मारने के लिये, अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिये उद्यत हो जावोगे, उसकी अपेक्षा अभी से जो भी करना है निपटा क्यों नहीं लेते। फिर उस समय ऐसी असह्य पीड़ा होगी जिसका वर्णन करना भी संभव नहीं है। और पूरेके पूरे वीर समाज एक-एक करके निंदा करने लगें तो किस किसको मारोगे। वीर से वीर भी आखिर समुदाय में अकेला पड़ता है तो अपनी वीरता खो बैठता है।

उत्तर प्रदेश की एक समय की बात है। वहाँ पहले जमाने में क्षत्रिय के यहाँ शादी हो तो कुश्ती होती थी। ब्राह्मणों के यहाँ

शादी विवाह में शास्त्रार्थ होता था। क्षत्रियों का शस्त्रार्थ और ब्रह्मणों का शास्त्रार्थ बराबर होता है। एक ब्राह्मण के यहाँ शादी थी। तो शादी के समय बरपक्ष और कन्या पक्ष दोनों अपनी ओर से पण्डितों को आगे करते। और वे शास्त्रार्थ करते, प्रायः कन्या-पक्ष वाले इसमें धूर्त्तता वाजी करते थे। आजकल जमाना पलट गया, शास्त्रार्थादि समाप्त प्राय है। तो एक जगह की बात है। वरपक्ष वाले पण्डित बहुत बड़े विद्वान थे। न्याय वेदान्तादि समस्त शास्त्रों में पारंगत थे। उनका बड़ा आदर सम्मान कर आदर पूर्वक वे ले गये थे। सास्त्रार्थ का समय आया तो उस गाँव के कई पण्डितों ने समझा यही मौका है इस पण्डित की धज्जियाँ उड़ाने की। वधू पक्षवालों ने प्रश्न रखा—कि वेदान्त में बताया है कि संपूर्ण जगत एक मात्र ब्रह्म ही है। और आप वेदान्ती हैं। तो यह प्रश्न हम करते कि सब एकही ब्रह्म है तो ये वर और वधू दोनों एकही है कि दो हैं? ये हम आप सब एक ही है कि अलग अलग हैं। यदि एक ही है तो शादी कैसे हो रही है। यदि एक ही है तो वर-वधू पक्ष दो कैसे और शास्त्रार्थ कैसे? अपने आप से अपने आप शादी करे या शास्त्रार्थ करे यह देखने में नहीं आता। यदि होता तो आपको इस गाँव में आने की क्या जरूरत थी? अपने गाँव में अपने आपसे ही शादी कर लेते। वधूपक्ष पण्डित ने इतना लौकिक भाषा में कहकर फिर प्रभाव डालने के लिये एक सांख्यकारिका जोर जोर से बोला—

जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च।
पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव॥

अगर एक ही ब्रह्म आत्मा है तो एक के जन्म से सबका जन्म हो जाना चाहिये और एक के मरने से सब मर जाना चाहिये। एक ने भोजन किया तो सबका पेट भरना चाहिये। एक ने शादी की तो सब की शादी हो जानी चाहिये। एक के उठने से सब उठने

चाहिये। एक बैठे तो सब बैठ जाना चाहिये। एक सोवे तो प्रलय हो जाना चाहिये।

इस पूर्वपक्ष पर वरपक्ष पण्डित ने कहा कि यद्यपि आत्मा एक है। तथापि उपाधि भेद से भिन्न प्रतीत होता है। आत्मा एक है। शरीर अन्तःकरणादि उपाधि से पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है। जैसे सूर्य एक है फिर भी जलपात्र की उपाधि के भेद से अलग-अलग प्रतीत होने लगता है। पण्डितजी आगे इसी बात को स्पष्ट करने जा रहे थे तो बीच में ही वधूपक्ष पण्डित ने कहा—पण्डित जी ! उपाधि से आत्मा भिन्न हो जाता है। उपाधि बढ़ने से आत्मा बढ़ जाता है यह कहना सही नहीं है। उपाधि बढ़ती है तो लोगों को मिलाना पड़ता है। एक करना पड़ता है। देखिये, हमारे यहाँ तिवारी जी ने सोचा इन लड़के लड़कियों की उपाधि भारी हो रही है तो उन्होंने शादी कराकर वर वधू को एक कर दिया। तब उपाधि से एकता बढ़ती है। उससे भेद बढ़ता है यह आपका कहना सरासर गलत है। वरपक्ष पण्डित ने कहा—आप पण्डित होकर ऐसे अर्थ का अनर्थ क्यों कर रहे है ? धूल झोकने का काम क्यों कर रहे हैं ? उपाधि का मतलब झंझट करके उलटी बात क्यों कर रहे हैं ? वधूपक्षवालों ने कहा—पण्डित जी ! उपाधि किसको कहते हैं, इसकी व्याख्या की यद्यपि कोई जरूरत नहीं है। सब जानते हैं—इसका अर्थ झंझट है। अगर यह अर्थ नहीं हो तो उसका आप ही अर्थ कहिये। लोग भी समझ लेगें। वरपक्ष पण्डित ने कहा—उपाधि अवच्छेदक को कहते हैं। उपाधि से अवच्छिन्न होकर एक भी अनेक प्रकार का होता है। वधूपक्ष ने कहा—अवछिन्न किसको कहते हैं—जरा जनता को समझाईये। परपक्ष पंडित ने कहा—अवछिन्न तो अवछिन्न को कहते हैं, उसका हिंदी अनुवाद नहीं होता। वधूपक्ष ने कहा—जब हम विदेशी भाषा इंग्लिश को हिन्दी में अनुवाद करते हैं तो अपनी भाषा संस्कृत का

अनुवाद नहीं कर सकते ? यह आप गलत बोल रहे हैं। वरपक्ष पण्डित ने कहा—तो आप ही इसका अर्थ कीजिये। अवच्छिन्न का अनुवाद हिंदी में क्या है—तो आप बोलिये हमको इसका अनुवाद नहीं आता।—हाँ नहीं आता, कोई इसका अनुवाद कर बतायें। किन्तु हमसे शास्त्रार्थ में अर्थ सही साबित होना चाहिये। वधूपक्ष पण्डित का कई धूर्त्त चेला वहाँ बैठे थे। पण्डित ने कहा—अरे ! अब छिन्न का अर्थ करो। कितनी मामूली वात है। इतने में एक ने आगे आकर कहा—अब छिन्न का अर्थ ये दो शब्द है अब और छिन्न। अब माने इस समय, छिन्न माने कट गया। इस समय जो कट गया वही अबछिन्न है। जो बाद में जुड़ कर एक होगा। जैसे थोड़ी देर के पहले वर-वधू दोनों छिन्न थे। बाद में एक हो गये। बड़े जोर से वधू पक्षवाले हँस पड़े, बोलने लगे वरपक्ष पण्डित को अवच्छिन्न का अर्थ भी नहीं आता। उस हँसी मजाक में वरपक्षवाले ऐसे दब गये कि कुछ बोल ही नहीं सके। क्योंकि इस पक्ष में वे अकेले थे। और वधूपक्ष में मूर्खों की जमघट थी। पण्डितजी को मालूम था कि ये सब मूर्ख हैं और मुझे मूर्ख बना रहे हैं। परंतु वे करते भी क्या वहाँ। कुछ भी बोले तो उसे तोड़ मरोड़कर ये पचीस पचास की जो मंडली बनी, हँसी उड़ावे। पंण्डितजी ने उसी समय से कान पकड़ा कि आज से शादी विवाह में कभी शास्त्रार्थ नहीं करूँगा। नीतिकार की इस उक्ति को ही उत्तम समझा कि—

वरं पर्वतदुर्गेषु भ्रान्तं वनचरैः सह।
न मूर्खजनसंपर्कः सुरेन्द्रभवनेष्वपि ॥

पहाड़ों में जंगलों में अकेले रहना अच्छा है। जंगली वनचरों के साथ भी रहना अच्छा है, किन्तु मूर्खजनों के साथ रहना, उनसे बातें करना यह बुरा है, भले इन्द्र की राजधानी ही क्यों न हो। मूढ़ और मूर्ख में फरक है। मूढ़जन हैं वनचर। उनको जो भी कहो, स्वीकार कर लेंगे। मूर्ख तो मूढ़ होता हुआ भी अपने को पंडित

समझता है। वह दूसरे को मूर्ख बनाने की कोशिश में रहता है। पंडितजी वहाँ से काशी आये। उन्होंने हमेशा के लिये ही शास्त्रार्थ छोड़ दिया। भगवान अर्जुन को कह रहे हैं कि हे अर्जुन! माना कि तुम भयभीत होकर युद्ध नहीं छोड़ रहे हो। एकाध व्यक्ति विपरीत बोलने लग जाय तो तुम उसका मुँह पकड़ भी सकोगे। परन्तु गली-गली में यही चर्चा होने लग जाय तब क्या करोगे? किस किसके मुँह पर ताला लगाओगे। और सब मिलकर हल्ला करेंगे तो क्या करोगे? फिर अपनी प्रतिज्ञा पूर्त्ति के लिये 'गांडीव धनुष की निन्दा करने वालों का वध करूँगा'—इस प्रतिज्ञा पूर्त्ति के लिये एक-एक को मारना पड़ेगा। महाभारत तब भी होकर रहेगा। किन्तु गली-गली में जनता के मुँह पर जो बात होगी उसका तो कुछ भी उपाय नहीं होगा। हित अहित सर्वत्र होते हैं। तेजस्वी के तेज से अहित दबे रहते हैं। परन्तु जहाँ मौका मिला वही सिर उठाने लगते हैं। चाहे वह जनता हो, चाहे रणागत हो—रण के लिये आया हुआ हो। फिर सभी मनुष्य सयाने होते हैं। साधारण जनता भी थोड़ी सी जानकारी का आभास भी मिलता है तो बड़े-बड़ों की टीका-टिप्पणी करने लगते हैं। राष्ट्रपति ने यह गलती की प्रधाग मन्त्री ने अमुक गलती की। वे समझते नहीं हैं इत्यादि वचन दुहराना प्रारम्भ करते हैं।

गुणग्राही बहुत कम होते हैं, किन्तु दोष द्रष्टा हजारों मिलेंगे। जहाँ अपना स्वार्थ सिद्ध होता है देख लिया लोग उसी तरफ हो जाते हैं, चाहे वह सत्पक्ष हो, चाहे असत्पक्ष। भगवान कहते हैं हे अर्जुन! जहाँ तुमने युद्ध छोड़ा वहाँ आज तक जो लोगों के हृदय में आशा की चिनगारी बची हुई है वह भी बुझ जायेगी। अभी तक जनता में आशा की किरणें हैं कि वनवासोत्तर पांडव आयेंगे और राज्य करेंगे। इस आशा के धूमिल होते ही पांडवों को निकम्मा समझ कर लोग दुर्योधन को ही सब कुछ समझने लगेंगे।

दुर्योधन को भी मौका मिल जायेगा, विपरीत प्रचार करने का। वहाँ दुर्योधन कहेगा कि अर्जुन बाहर का ढोल मात्र है, भीतर कुछ तत्त्व नहीं। यही बात जनता दुहरायेगी।

ततो दुःखतरं नु किम्। "यदि मामप्रतीकारं रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्" जो बताया उससे विपरीत होगा। 'क्षेमतरं' नहीं, किन्तु 'दुःखतरं' होगा। रण न करने पर भी अवाच्यवाद लोग बोलेंगे। और कहीं अप्रतीकार पर भी शस्त्र प्रहार किया और मारा तो लोग यह थोड़े ही कहेंगे कि अर्जुन प्रतीकार नहीं कर रहा था। लोग कहेंगे अर्जुन प्रतीकार करने लगा किन्तु दुर्योधन का बाण ऐसा अमोघ था उसका निराकरण नहीं हो सका। पता नहीं ऐसी बातें कितनी-कितनी होंगी। कैसी-कैसी होंगी। महादुःख उपस्थित होगा। क्षेमतर नहीं दुःखतर होगा॥ ३६॥



हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥

[हे अर्जुन युद्ध में यदि मारे जाओगे तो स्वर्ग प्राप्त होगा और जीत जाओगे तो पृथिवी राज्य का उपभोग करोगे। इसलिये युद्धार्थं कृत निश्चय होकर उठ खड़े हो जाओ ॥ ३६ ॥]

अर्जुन ने प्रथम एक बड़ा भारी संशय उपस्थित किया था— "न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः" हम यह भी नहीं जानते कि हम दोनों में कौन प्रबल है। हो सकता है कि हम कौरवों को जीतें और यह भी हो सकता है कि कौरव हमको जीतें। यद्यपि इसका उत्तर भगवान यह दे सकते थे कि हे अर्जुन ! तुम मेरे होते हुए ऐसा संशय क्यों करते हो ? मैं रक्षक परमात्मा हूँ। अतः जीत तेरी ही होगी। परन्तु भगवान ने ऐसा यहाँ नहीं कहा। क्योंकि मानव भाव को लेकर प्रश्न है। अतः उत्तर भी मानव भाव से ही होना चाहिये। यदि अर्जुन का भगवान में पूर्ण भगवद्भाव होता तो उक्त संशय के लिये गुंजाइश ही नहीं था। अतः भगवद्भाव दर्शन पूर्वक वह प्रश्न नहीं था। भगवान ने सोचा यथावसर भगवद्भाव बताया और दिखाया जायेगा। प्रथम तो प्रश्नानुसार ही उत्तर देना चाहिये। तदनुसार यह श्लोक है।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्। हतः शब्द से अर्थादेव युद्धरूपी स्वकर्म स्थित का मरण ऐसा भाव निकलता है। अतएव मृतो वा नहीं कहा। हतो वा बताया। हनन तो युद्ध मध्य में ही होगा। अतः यहाँ यह अर्थ है "स्वकर्मस्थितस्य मरणं"। अपने कर्म में स्थित होते हुए व्यक्ति का जो मरण है वह स्वर्ग प्राप्ति साधन है। इसी बात को आगे जाकर भगवान कहेंगे—"स्वधर्मे निधनं श्रेयः"

स्वधर्म में रहते हुए स्वधर्म के ही निमित्त यदि निधन अर्थात् मरण हो तो वह भी उत्तम है। यही सनातन धर्म का गूढ़ रहस्य भी है। धर्म में मर मिटना या धर्म के लिये मर मिटना यही स्वर्ग का सोपान है। उससे निश्चित रूप से स्वर्ग ही प्राप्त होगा। स्वर्ग राज्य मिलेगा। यदि युद्ध रूपी स्वधर्माचरण में हत नहीं हुए, किन्तु शत्रुओं को परास्त किया तो? तब तो भूलोक का राज्य है ही। हत होने पर स्वर्गराज्य हाथ में आता है। विजयी होने पर भूराज्य हाथ में आता है। उभयथापि युद्ध फलप्रद है। दोनों हाथों में लड्डू है।

काशी में तिवारीजी नाम के एक भारी वैयाकरण पण्डित हुए। न्याय वेदान्तादि के भी अच्छे पण्डित थे। उन्होंने पूरा जीवन पवित्रता के साथ धर्म-कर्म में बिताया। यहाँ स्वधर्म पद से केवल युद्ध कर्म ही ग्राह्य नहीं है। सकल लोक हितार्थ उपदेश होने से युद्ध कर्म के समान अन्य स्वधर्म भी ग्राह्य हैं। ब्राह्मण के स्वधर्म के अनुसार पण्डितजी प्रातः तीन बजे उठकर शौचादि कृत्योत्तर गंगाजी घड़ा लेकर जाते थे। वहाँ गंगाजी में हमेशा पंडे लोग लकड़ी के पट्टे तखते के समान गंगा के अंदर बाँध रखते हैं। वहाँ जाकर वे स्नानोत्तर संध्यावन्दनादि करते थे वहीं बैठकर गायत्री जप करते। फिर घड़े में पानी भरकर विश्वनाथजी पर रोज चढ़ाते। अन्नपूर्णा का दर्शन करते फिर घर में आकर पूजा-पाठ करते। चाय काफी आदि की तो आदत उस समय थी ही नहीं। दूध फलादि लिया तो लिया नहीं तो नहीं। फिर सुबह-सुबह एक दो पाठ विद्यार्थीयों को घर में ही पढ़ा देते थे। बिना फिस। प्रेम से। उसके बाद सात बजे विद्यालय में पढ़ाने जाते और पाँच घंटे तक पढ़ाते थे। जो उससे दक्षिणा मिले उससे गुजारा करना। ब्राह्मण के लिये गुजारा अध्यापन, याजन एवं आदान धर्मानुरूप है। अध्यापन को पहले नौकरी नहीं समझते थे। गुरु शिष्य भाव से विद्या पढ़ना

पढ़ाना। उसमें दक्षिणा लेते थे। तनखा नहीं। वे स्वयंपाकी थे। अपने हाथ से भोजन बनाकर पाते थे। फिर दोपहर के बाद कोई भी विद्यार्थी आवे, मुफत में विद्या पढ़ाते थे। यह सिलसिला उनका जीवन भर चला। बिमारी हो, बुखार हो, कुछ भी हो, उन्होंने अपना नियम अंत तक नहीं तोड़ा। अस्सी वर्ष के आस-पास में उनकी मृत्यु हुई। कैसे ? उसी प्रातः काल के समय गंगाजी गये हुए थे। नहा चुके थे। संध्यावंदन कर चुके थे। गायत्री जप एवं ध्यान में निमग्न थे। तब उनका शरीर छूटा। स्वधर्म में इस प्रकार रहते हुए शरीर छूटने पर क्या उनके लिये कोई संशय भी हो सकता है कि उनकी सद्गति हुई या नहीं ?। वैसे भी शास्त्रों में कहा है—**"काश्यां मरणान्मुक्तिः"**। काशी में मरण की बड़ी महत्ता है काशी मरण से मोक्ष होता है। परंतु काशी मरण भी परम पुण्य का ही फल है। फिर इस प्रकार ध्यान मग्नावस्था में शरीर त्याग कितनी बड़ी बात है। मैं आपको गृहस्थ में रहते हुए महात्मा भाव को प्राप्त हुए महा पुरुषों की बात करता हूँ। सन्त महात्माओं की चर्चा अलग है।

इसी प्रकार हमने कई धर्म-कर्म निष्ठ वैश्यों को भी देखा है। पूर्वोक्त पण्डितजी का जीवन तो अति पवित्र था ही। उसकी तुलना हो या न हो, लेकिन एक वैश्य को देखा। वह भी काशी में कभी रहता था, कभी मारवाड़ में। दुकान से बाहर उसे देखकर कोई यह नहीं कहेगा कि वह ब्राह्मण नहीं है। वह चोटी जनेऊ। माला। प्रातः वही स्नान संध्यादि। फरक इतना था कि प्रातः नित्य कर्मोत्तर वह व्यापार में लग जाता था। पण्डितजी पढ़ाने में लगते थे। काशी वाला जो वैश्य मेरे पास आता था। मुझे पूछता था, आपको कोई चीज चाहिये तो मुझे बोलिये। और भी कई विद्यार्थीयों को वह सहायता देता था। मुझे बार-बार पूछता था। लेकिन मैं भी उस समय इतना पक्का था कि किसी से कुछ न माँगता

था और न लेता ही था। गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज में जाता था। आज जिसे संस्कृत विश्वविद्यालय कहते हैं। वहाँ जो वृत्ति (स्कोलरशिप) मिलती थी उतने से अपना बाहर का सारा खर्च चला लेता था। उस वैश्य की भी मृत्यु घर में ध्यान करते हुई थी। ऐसे वैश्य के लिये भी स्वर्ग प्राप्ति में क्या संशय है? सुनते हैं—गीता प्रेस में भी इस प्रकार के धर्म कर्म निष्ठ तत्त्ववेत्ता कई वैश्य हुए।

अब क्षत्रियों की बात सुनिये। यह सब बात मैं समयानुसार प्राप्त स्वधर्म को लेकर बोल रहा हूँ। ऐसा न समझना कि मैं कोई जात-पात की व्याख्या करता हूँ। कर्मनिष्ठता किस प्रकार हो यह किसी उदाहरण से ही तो समझना है। तदर्थ प्राचीन व्याख्यानुसार बतला रहा हूँ। हो सकता है कि आज के समय के अनुसार आप वैज्ञानिक अनुसंधान कर रहे हों, आप इंजिनीयर होकर इंजिनीयरी कर रहे हों, डाक्टर होकर डाक्टरी कर रहे हों। सभी धर्मानुसारी हैं और होना चाहिये। अब क्षत्रिय की बात सुनिये। क्षत्रिय की बात माने योद्धा की बात। न कि क्षत्रिय जाति वाले की बात। द्रोणाचार्यादि कई क्षात्र जाति के नहीं थे। तथापि प्राप्त धर्म विचार मात्र है। अपने राष्ट्र की रक्षा के लिये लड़ते लड़ते मारे जाते हैं तो उसको निश्चित स्वर्ग मिलेगा।

इस विषय में कई पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष सामने आ जाते हैं। जिसके बारे में हम पहले भी काफी कह चुके हैं। फिर भी शुद्धिकरणार्थं पुनः कह रहा हूँ। पूर्वपक्ष यह होता है कि युद्ध में मरने पर स्वर्ग मिलता है यह योद्धाओं को प्रोत्साहन देने के लिये कहीं अर्थवाद तो नहीं है? क्योंकि सम्भव है कि ऐसा प्रोत्साहन न दें तो लड़ मरने के लिये कौन तैयार हो, ऐसा संशय होगा। इसलिये केवल प्रोत्साहनार्थं यह गुणवाद मात्र हो सकता है। फिर युद्ध से कौन सा स्वर्ग प्राप्त होगा? यह भी प्रश्न है। क्योंकि स्वर्ग नाम के अनेक लोक हैं। एक है जहाँ सब देवता रहते हैं। दूसरा

है इन्द्रलोका तीसरा ब्रह्म लोक है। चौथा मोक्ष भी स्वर्गलोक शब्द से उपनिषदों में कहा गया है।

अनन्ते स्वर्गे लोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति

इस केनोपनिषद के मन्त्र में अनन्ते और ज्येये इन दो विशेषणों से पता लगता है कि एक अनन्त ज्येय स्वर्गलोक है। दूसरा सान्त कनीय स्वर्ग लोक है। सान्त कनीय स्वर्ग लोद ही पूर्वोक्त प्राथमिक तीन स्वर्ग हैं। तब मरने वाला योद्धा कौन सा स्वर्ग लोक प्राप्त करता है ? अनन्त या सान्त तीन या उभय। इनमें अनन्त स्वर्ग लोक की प्राप्ति होगी यह निश्चित अर्थवाद होगा। कारण श्रुति का उद्घोष है—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय

उस परमात्मा के साक्षात्कार से ही अमृतत्व की प्राप्ति होती है। तदर्थं अन्य कोई मार्ग नहीं है। युद्ध कोई तत्वज्ञान तो है नहीं। अतः सान्त स्वर्ग लोक को बात रही। उसमें भी ब्रह्मलोक रूपी स्वर्ग तो उपासना से प्राप्य है। युद्ध तो कोई उपासना भी नहीं है। यह तो कटने मरने की बात है। यह किस बात की उपासना है ? बाकी देवलोक इन्द्रलोक रूपी स्वर्ग रह गया। उसे तो चाहता ही कौन है ? स्वयमेव भगवान आगे कहेंगे—

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्

इत्यादि। इससे उसकी हेयता स्नष्ट है। उस हेय स्वर्ग की प्राप्ति हो भी गयी तो क्या लाभ ? अतः क्षत्रियों के लिये "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं" यह एक प्रोत्साहन मात्र हो सकता है।

इस पूर्वपक्ष का सिद्धान्त ही हमें यहाँ सम्यक् समझना है। प्रोत्साहन की बात है। सो है ही। धर्म के लिये प्रोत्साहन बुरा नहीं होता। रही अर्थवाद की बात। यह अर्थवाद नहीं है। यह

फल कथन है। अर्थवाद नहीं है। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्यों में स्वर्ग कथन अर्थवाद नहीं है। वह तो फल कथन है। अत एव इसे फल विधि या अधिकार विधि कहते हैं। प्राप्स्यसि स्वर्गं यह फलकामना युक्त वचन है। अतः अधिकार विधि है। अतः इसे अर्थवाद कहकर टाला नहीं जा सकता। प्रश्न इतना ही विवादास्पद है कि कौन सा स्वर्ग मिलेगा? उत्तर एकदम साफ है कि सभी स्वर्ग यथा कामना प्राप्त होगा। यथा कामना कहो या यथा योग्य कहो। हाँ इतनी बात अवश्य है कि अनन्त स्वर्ग अर्थ में मोक्ष के फलात्मक होने में विवाद होने से मोमांसानुसार कुछ विचार मात्र प्रस्तुत किया जा सकता है। परन्तु वह पण्डितों के लिये है, सबके लिये नहीं।

सभी स्वर्ग किस प्रकार युद्ध से प्राप्त हो यह सब विचारणीय है देवलोक और इन्द्रलोक के लिये तो विचार की जरूरत नहीं है। क्योंकि कर्म करने का ही फल वे दोनों हैं। अनः शास्त्रविधि वलादेव उनकी प्राप्ति सिद्ध है। केवल ब्रह्मलोक और मोक्ष लोक ही विचारार्ह है। तो प्रथम वक्तव्य यह है कि युद्ध केवल कर्मात्मक नहीं, यह उपासनात्मक भी है। योद्धा के दिमाग में शत्रुवध एवं देह रक्षा की ही धुन रहती है। उनके त्याग के विषय में हम पहले कह आये हैं। एक संयासी ने यदि अपने गृह पुत्र बन्धु-बान्धव धनजनादि परित्याग किया तो योद्धा युद्धकाल में संन्यासी से किसी हालत में कम नहीं है। बल्कि वह अपने प्राणों का भी उत्सर्जन करने जा रहा है। एक जवान से मेरी बात हुई। हमने पूछा कि तुम लड़ाई में जाते हो तो क्या भावना लेकर जाते हो? मैं उसके हृदय में देश भक्ति सुदृढ़ करने के विचार से ही प्रश्न कर रहा था। धैर्य दिलाने के लिये बात करने को सोच रहा था। उस जवान ने मुझे उत्तर दिया महाराज! जब हम लड़ाई के लिये आगे बढ़ते हैं तो हमारे मन में यही रहता है कि भले मर जाऊँ किन्तु शत्रुपक्ष

के दस को मार कर मरूँ। मैंने पूछा कि भगवान का स्मरण करके जाते हो कि कैसे ? जवान ने कहा, महाराज ! जो कुछ है, वह वही है। हम मंदिर में जाते हैं, दर्शन करते हैं। कभी-कभी वापिस आने की आशा कम दीखती है तो खूब प्रार्थना करते हैं। मंदिर में ही अपना जेब भी खाली कर देते हैं। कई बात तो अपने सगे सम्बन्धी को भी भुलाना पड़ता है। ईश्वर तुम्हारी रक्षा करें कह कर चलना पड़ता है। मैंने कहा, मैं तुमको क्या अधिक अब उपदेश करूँ, तुम तो मुझसे बढ़कर त्यागी हो। धन दौलत और बाल-बच्चे क्या, अपने प्राणों को भी जानकर झोंकने जाते हो। संत-संन्यासियों ने घर बार छोड़ा, धन दौलत छोड़ा किन्तु प्राणोत्सर्जन नहीं किया। प्राणों में मोह हो या न हो फिर भी उत्सर्जन तो सामने उपस्थित नहीं है।

उस जवान ने पाकिस्तान हिन्दुस्तान युद्ध में काश्मीर में हाजी-पीर की कहानी सुनायी। वह एक जबरदस्त मोर्चा है। उसे पार करना बड़ा कठिन है। बड़ी ऊँची-ऊँची पर्वतमालायें हैं और बीच में बड़े खड्डे ऊबड़-खाबड़। वहाँ से इस तरफ वार करना बड़ा आसान है। यहाँ से उस तरफ बढ़ना बड़ा कठिन है। कैसे उस पर कब्जा करें। तो रात के समय जवान आगे बढ़े। बड़ा भारी नाला था। नाले में फिसल जाय तो वहीं नीचे हजारों फूट नीचे गिर जाय। कई तगड़े जवान नाले में उतरे। और अपने माथे पर लंबे-चौड़े पट्टे रखे। उस पर से दूसरे हजारों जवानों को पार उतारा। धड़ाधड़ ऊपर जवान भागते हुए पार हो रहे हैं। नीचे से बोलते हैं, अरे यार ! जरा धीरे चलो। माथा फूट रहा है। सोच लो वहाँ का दृश्य क्या होगा ? कैसा होगा ? इन जवानों के त्याग का ही फल हैं कि बाकी जनता सुख-चैन से रह रही है। एक सेठ लाखों रुपये कमा रहा है काला सफेद जैसा तैसा। उसमें से रुपया दो रुपये दान देकर अपने आपको महान दानी समझता है और प्रकाशन करता है।

खैर, वह भी 'अकरणात् करणं श्रेयः' के अनुसार अच्छा है। कुछ भी न करने वाले भी दुनिया में पड़े हैं। उनकी अपेक्षा यह अच्छा है। परन्तु उस जवानों के त्याग के सामने यह त्याग क्या है। सर्वस्व न्योछावर कर रहे हैं। प्राण तक देने को तैयार हैं। इस त्याग का कोई दूसरा उदाहरण नहीं हो सकता। इनके ठीक तरह की सेवा के अभाव में ही परदेशियों ने भारत पर अपनी प्रभुता जमाई। भारत को परतन्त्र किया। और जो कुछ धन पहले समय में था उसे पूरा खींच ले गये, भारत को खोखला बनाया। लोगों का धन छिन गया, अधिकार छिन गया। स्वातन्त्र्य छिन गया। जीने का भी अधिकार अपूर्ण ही रहा। किसी को भी फाँसी पर लटका दो तो पूछने वाला कोई न रहा। भारत स्वतन्त्र हुआ। वे जवान आज सजग हो गये। दिन रात एक कर सीमाओं की रक्षा कर रहे हैं। पहरा दे रहे हैं। प्राणों की बाजी लगा कर शत्रुओं से बचा रहे हैं। आखिर किसके लिये? अपने लिये? जो प्राणोत्सर्जनार्थ तैयार हैं, उनका अपना क्या प्रयोजन? बाल बच्चों का और कुटुम्ब का पालन भी लक्ष्य हो सकता है। पर, मरने वालों के लिये यह सवाल भी गौण हो जाता है। सीधा उत्तर है, देश रक्षा के लिये, देश की जनता के लिये यह सब हो रहा है। यही महान त्याग है। यह त्याग मनुष्य को मोक्ष पर्यन्त पहुँचाता है। त्याग से ही मोक्ष प्राप्त होता है। श्रुतियों की यह स्पष्ट उद्घोषणा है कि—

न कर्मणा न प्रजया धनेन
त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां
विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति ॥

कर्म से मोक्ष नहीं मिलता। ज्योतिष्टोमादि याग कर्म करने से स्वर्ग मिलता है। ऐसा श्रुति बचन है। वह स्वर्ग अमृतत्व रूपी

स्वर्ग नहीं। किन्तु विनाशी स्वर्ग है। इसी को अन्यत्र श्रुति में पितृलोक भी कहा है—**कर्मणा पितृलोकः"** । कर्म करने से पितृलोक की प्राप्ति होती है। कर्म अनेक विध है। किन्तु सबका फल भिन्न भिन्न है और विनाशी है। बहुत से लोग इस भ्रान्ति में अभीतक है कि कर्म करने से ही मोक्ष मिल जायेगा। दूसरे कुछ लोग यह मानते हैं कि प्रजा से मोक्ष होता है। "प्रजा स्यात् संततौ जने"। यहाँ प्रजा का अर्थ संतति है। अथांत् पुत्रादि। पुत्रपौत्रादि कुटुम्ब बड़ा हो गया। सबका शादी विवाह करा दिया। पढ़ा लिखाकर योग्य बनाया। इतने में ही अपनी कृतकृत्यता मानते हैं। परंतु श्रुति का कहना है कि पुत्रादि से भी मोक्ष नहीं मिलता। पुत्रादि से इस लोक की जीत हो सकती है, "पुत्रेणैवायं जय्यो लोकः" पुत्र आपकी कीर्त्ति बढ़ा सकता है, नाम करा सकता है, धन कमाकर मातापिता की सेवा कर सकता है। मरणोत्तर श्राद्ध तर्तण कर सकता है। यह सब यदि किया तो तब की बात है। विपरीत भी हो सकता है। यदि नालायक पुत्र हो तो यश के बदले अपयश-अपकीर्त्ति भी करा सकता है। बदनामी करा सकता है। कमाने के बदले जो कमाया हुआ धन है, उसे उड़ाने का काम भी कर सकता है। कोई जरूरी नहीं है कि मरणोत्तर वह श्राद्ध तर्पण करे। आज के लड़कों ने तो खास करके यह उलटा प्रश्न ही प्रारम्भ कर लिया है कि यहाँ पानी डाला तो पितरों को कैसे पहुँचेगा। यहाँ पिण्डदान करने से वह पितर तक कैसे पहुँचेगा। ब्राह्मण को खिलाने से पिता के पेट में कैसे जायेगा ? ब्राह्मण को विस्तरा दिया, खटिया दिया, पात्र दिया, लोटा दिया तो यह सब पितरों के पास कैसे पहुँचेगा ? एक लड़के ने ब्राह्मण को भोजन खिलाकर एक गिलास में शराब और मांस रखा। ब्राह्मण घबराया। पूछा यह क्या ? उसने कहा—मेरे पिताजी मांस खाते थे, शरात्र पीते थे। उन तक पहुँचाने के लिये आप भी इसका सेवन कीजिये। नहीं पहुँचता तो

जो कुछ भी खाया उसे वापिस करो। यह सब कुतर्क मात्र है। विषयान्तर होने से इस पर अधिक चर्चा यहाँ नहीं की जाती। बस इतना हीं समझना है कि पुत्र से पितृलोक में सुख हो सकता है। इहलोक में कीर्ति हो सकती है। इतना ही प्रयोजन है। मोक्ष तो नहीं ही सिद्ध होगा। इसी प्रकार धन से भी मोक्ष लाभ नहीं हो सकता। धन से दान किया जा सकता है, यज्ञादि कर्म संपादन भी संभव है। **"वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय"** इस प्रकार वित्त का प्रयोजन कर्म बताया है। वेदों में लौकिक वस्तुओं का भी प्रयोजन परमार्थ ही बताया गया है। लौकिक विषयोपभोग भी पुण्यपर्य-वसायी होना चाहिये। अत एव इससे पहले **"सोऽकामायत जाया मे स्यादथ प्रजायेय"** बताया। ब्रह्मचारी ने कामना की कि मैं गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होकर पत्नी करूँ।—जाया मे स्यात्। किस-लिये ? अथ प्रजायेय। जाया का अर्थ ही है 'जायतेऽस्यां पुत्ररूपेणेति जाया'। जिसमें पुत्र रूप से स्वयं पैदा हो वहीं जाया। अतः जाया पत्नी का प्रयोजन पुत्र पौत्र वंश परम्परा परिरक्षण है। सृष्टि के समय से वंशपरम्परा चली आ रही है। उसका परिरक्षण परमावश्यक है। उसके बिना मानवाधिकारमध्यागत धर्मविद्या और ब्रह्मविद्या कौन प्राप्त करेगा। अतः वंश परम्परा प्रवर्त्तनार्थ जायाकी कामना श्रुति अनुमत है। आज बालक इस रहस्य को नहीं समझ पाते। वैसी शिक्षा ही नहीं मिलती तो समझेंगे भी कैसे ? यह ज्ञान उनमें होता तो पवित्र भावना मनमें आती। पवित्र वंश को प्रवर्तित करने की दृष्टि आने पर स्वयं पवित्र रहने का प्रयास करेगा। तव स्वैराचार के लिये स्थान ही नहीं रहेगा। स्वैराचार को वह अपना पतन ही समझेगा। इससे स्वच्छ निर्मल समाज का निर्माण होता है। क्योंकि वैसी शिक्षा सबको प्राप्त होती है तो **"न स्वैरी स्वैरिणी कुतः"** के अनुसार पूरा समाज पवित्र होगा। परन्तु आज उस शिक्षा के अभाव से लोग प्रथम विवाह का प्रयोजन विषय-

भोग मात्र समझते हैं। तब उसकी पूर्त्ति के लिये स्वैराचारिता को अपनाते हैं। दो चार बच्चे होने पर होश आता है कि पुत्रार्थं विवाह था ; उसके बाद विचार आने पर भी क्या होने वाला है। बाद में अपने पुत्र पुत्रियों में पवित्रता की चाह रखना भी वृथा जैसा हो जाता है। फिर जमाने को दोष देकर छुटकारा पाना पड़ता है। अतः श्रुति प्रथम ही यह शिक्षा देती है—जाया मे स्यादथ प्रजायेय। इसी प्रकार वित्त का भी शब्दस्पर्शादि विषयोपभोग ही प्रयोजन नहीं, किन्तु कर्म ही प्रयोजन है। विषयप्रधानता होती है तब वित्तार्थ संघर्ष होता है। स्तेयादि में प्रवृत्ति होने लगती है। व्यवहार में प्रमाणिकता नहीं रहती। इसका परिणाम भी आज सबके संमुख है। धन के निमित्त कहीं लूट, कहीं हत्या, कहीं चोरी, कहीं घूसखोरी आदि हो रही है। जिन पर यह बात बीतती है, उन्हीं को अनुभव में आता है। परन्तु जगत अंधा है। "पश्यन्नपि न च पश्यति" वाली बात है। दूसरों पर देखकर अपना नहीं समझ पाता। अस्तु। धन का प्रयोजन कर्म है। धन दो प्रकार का माना गया है "दैवं वित्तं मानुषं च" एक दैव वित्त है। दूसरा मानुष वित्त है। जिनमें मानुषवित्त साध्य कर्म का प्रयोजन पितृलोक है। मोक्ष नहीं, यह बात "न कर्मणा" इस अंश से गतार्थ है। अतः यहाँ धनेन से मुख्य रूप से दैववित्त साध्य उपासना का ग्रहण है। धन पद से दोनों वित्तों का ग्रहण संभव होने पर भी कर्मणा का अलग कथन संसार के प्रति कर्म विशेष कारण होने से किया गया है। "विद्यया देवलोकः" इस श्रुति के अनुसार विद्या अर्थात् उपासना से देवलोक की प्राप्ति होती है। फलतः

"पुत्रेणैवायं जय्यो लोकः। कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोकः"।

इस श्रुति में उक्त तीनों लोकों के तीन साधनों को लेकर "न कर्मणा न प्रजया" इत्यादि मन्त्र है। इन तीनों को प्रथम करना

चाहिये। विपरीत मार्ग गामी होने की अपेक्षा इन तीनों से लोकों को प्राप्त करना उत्तम है।

किन्तु इन तीनों से बढ़कर त्याग है। त्याग की महिमा अपार है। **"त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः"**। त्याग से अमृतत्व की प्राप्ति होती है। वह अमृतत्व कैसा है ?—'परेण नाकं' नाक लोक से परे हैं। नाक स्वर्ग को कहते हैं। स्वर्ग से परे करोड़ों कोस ऊपर है क्या ? नहीं। "निहितं गुहायां" बुद्धि गुहा में निहित हो 'विभ्राजते' प्रकाशमान होता है। 'यत् यतयो विशन्ति' जिसमें यति संन्यासी प्रवेश करते हैं, उसे कुछ लोग त्याग से प्राप्त करते हैं। कौन हैं वे ? एक तो "रणे चाभिमुखं हतः" "हतो वा प्राप्यस्यसि स्वर्गं" इत्यादि वचन विषयी भूत जवान ही। दूसरे इसी ढंग का त्याग करने वाले अन्य जो भी हो। रण में मरने वालों का त्याग अति महान है। अतः उन्हें अमृतत्व प्राप्ति में संशय नहीं है।

परंतु प्रथम जो प्रश्न ऊठाया था उसका उत्तर पूरा नहीं हुआ। इस श्रुति में यद्यपि त्याग से अमृतत्व रूपी मोक्ष की प्राप्ति बतायी। परंतु यह भी तो श्रुति है कि **"ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"** ज्ञान के बिना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती। मार्गान्तर का निषेध भी अन्य श्रुतियों में हैं—

तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय

उस परमात्मा को जानने से ही मृत्यु का अतिक्रमण अर्थात् अमृतत्व प्राप्ति हो सकती है। तदर्थ अन्य कोई पन्था नहीं है। ऐसी अनेक श्रुतियाँ ज्ञानमात्र से मोक्ष प्रतिपादन करती हैं। इसका समाधान यहीं ढूंढने पर प्राप्त होगा। यह बात सही है कि केवल त्याग से अमृतत्व प्राप्ति नहीं होती। इसी कारण भगवान ने अर्जुन को प्रथम तत्त्वज्ञान का उपदेश किया।

इस पर एक गहन अध्ययन है। वह इस प्रकार कि युद्ध में मारा जाना एक प्रकार से कर्म एवं उपासना दोनों हैं। जिसका

उल्लेख हम कर आये। अर्थात् युद्ध कर्म है ही। उस समय एक ही लक्ष्य रहता है कि हमारा राष्ट्र विजयी हो। यह समष्टि भावना निरन्तर चलती रहती है। अतः वह उपासना रूप ही है। वह अन्य वस्तुओं को भूल ही जाता है। इस प्रकार स्वयं कर्मोपासना समुच्चयात्मक है। उसका फल ब्रह्मलोक प्राप्ति है।

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते"

इस मन्त्र में यह स्पष्ट बताया है। वह ब्रह्मलोक दो प्रकार का है। एक पुनरावृत्ति रहित है। दूसरा पुनरावृत्ति सहित है। पुनरावृत्ति रहित का वर्णन श्रुति में आया है—**"न स पुनरावर्त्तते"** वह ब्रह्मलोक गत पुरुष पुनः वापिस नहीं आता। इसी को ब्रह्मसूत्र में निर्णय किया **"अनावृत्तिश्शब्दात्"** शब्द अर्थात् श्रुति प्रमाण से पुनरावृत्ति नहीं होती। ब्रह्मलोक गत पुरुष मुक्त हो जाता है। दूसरी जगह ब्रह्मलोक को भी पुनरावृत्तियुक्त बताया। गीता का ही श्लोक है—

"आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन"

ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावृत्ति वाला है। इस गीतावचन का मूल श्रुतियों में ही है—

"इमं मानवमावर्त्तं नावर्त्तन्ते"

इस श्रुति में बताया है कि इस मानव आवर्त्त में वे नहीं लौटते। 'इमं' इस विशेषण पर भाष्यकार भगवाम आद्यशंकराचार्य का कहना है—इस मानवावर्त्त में नहीं लौटेंगे, किन्तु अगले में तो लौटेंगे ही। अर्थात् कल्प तक वे ब्रह्मलोक में रहेंगे। कल्पांतर में नयी सृष्टि प्रारम्भ होती है तब वे वापिस आयेंगे।

क्या दो ब्रह्मलोक हैं ? कि एक में से आवर्त्तन होता है और दूसरे में से नहीं, या एक ही ब्रह्मलोक है जहाँ से कुछ लोग वापिस आते हैं, दूसरे नहीं। प्रथम में कोई सुदृढ़ प्रमाण नहीं है। द्वितीय में

फिर ब्रह्माजी यह पक्षपात करते हैं या और कोई इत्यादि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं। इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मलोक दो नहीं है, एक ही है। और उसमें ब्रह्माजी या और कोई पक्षपात भी नहीं करते। किन्तु वहाँ जाने वालों में ही कुछ बुनियादी भेद है। वह भेद क्या है? भेद यही कि एक कृतश्रवण होता है। दूसरा अकृतश्रवण। उपनिषद में कहा है—**वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः.... ते ब्रह्मलोकेषु'** इत्यादि। **'संन्यस्य श्रवणं कुर्यात्'** के अनुसार शुद्धान्तःकरण जो पुरुष संन्यासी हो प्रयत्न पूर्वक वेदान्तशास्त्र का श्रवण कर वेदान्त रहस्य को निश्चित करता है, वह ब्रह्मलोक में जाकर ब्रह्माजी के मोक्षकाल में मुक्त होता है। वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः यहाँ केवल सुनिश्चित कहा। न कि साक्षात्कृत। क्योंकि साक्षात्कार होने पर वह यहीं मुक्त हो जाता है। उसका उत्क्रमण नहीं होता। **न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते** इस श्रुति में ब्रह्म तत्त्व साक्षात्कार करने वालों का प्राणोत्क्रमण निषेध कर यहीं पर मोक्ष बताया है। संन्यासी बने, सर्वसंग त्याग किया। श्रवण करते रहे। तत्त्व निश्चय भी हुआ। किन्तु प्रतिबंधकवशात् साक्षात्कार नहीं हुआ। वे ब्रह्मलोक में जाकर वहीं ब्रह्मसाक्षात्कार करेंगे। वे ब्रह्मलोक से परान्तकाल में मुक्त होंगे। परन्तु संन्यास ग्रहण किया। श्रवण बराबर न किया। करने पर भी तत्त्व निश्चय नहीं हुआ, वह ब्रह्मलोक जायेगा तो वापिस आयेगा। ब्रह्मलोक तो वह जायेगा **"ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येण विन्दन्ति"** ब्रह्मचर्य मात्र से भी ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है, यह श्रौत सिद्धान्त है। परन्तु श्रवणाभाव से वह वहाँ से वापिस आयेगा।

यही बात योद्धाओं की भी है। "द्वावेतौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ" इस वचन प्रमाण से रणमृत योद्धा सूर्यमण्डल भेदन कर ब्रह्मलोक अवश्य जायेगा। किन्तु वह कृतश्रवण है या नहीं यह सवाल पैदा होगा। यदि उसने वेदान्त श्रवण प्रथमतः कर रखा हो तो वह ब्रह्मलोक जाकर वहाँ से मुक्त होगा। यदि श्रवण

न किया हो तो ब्रह्मलोक जाकर वहाँ से वापिस आयेगा। इसीलिये भगवान ने प्रथम वेदान्त श्रवण अर्जुन को कराकर "तस्माद्युध्यस्व भारत" कहा। इसी का फल यह बताया—"हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्"। स्वर्ग का अर्थ ब्रह्मलोक तथा आत्मलोक मोक्ष दोनों ही है। साधारण योद्धा हो तो ब्रह्मलोक तक जायेगा। तुम्हारे समान कृत श्रवण तो ब्रह्मलोक जाकर वहाँ से अनन्त ज्येय स्वर्गरूपी मोक्ष भी प्राप्त करेगा।

इस विषय में अब अकृतश्रवण को लेकर एक शंका रह जाती है। वह यह है कि अकृतश्रवण क्यों वापिस आता है। कृतश्रवण नहीं आता। अकृतश्रवण को यदि ब्रह्म साक्षात्कार ब्रह्मलोक में नहीं होता तो कृतश्रवण को क्यों होता है? श्रवण बल से यदि साक्षात्कार होता तो यहीं श्रवण करते समय क्यों साक्षात्कार नहीं हुआ? उत्तर यह है कि कृतश्रवण को साक्षात्कार किसी प्रतिबन्धक विशेष से यहाँ नहीं हुआ। ब्रह्मलोक जाने पर वह प्रारब्ध प्रतिबन्धक समाप्त होने से साक्षात्कार हो जायेगा। किन्तु ब्रह्मलोक का भोगप्रारब्ध शुरू हो जाने से उसकी समाप्ति पर्यन्त मोक्ष नहीं होगा। अतः परान्तकाल में मोक्ष होगा।

अब अकृतश्रवण की बात रही। वह ब्रह्मलोक में जाकर साक्षात्कार क्यों नहीं करता? इसलिये कि उसने श्रवण नहीं किया। श्रवण के बिना साक्षात्कार नहीं हो सकता। क्योंकि ब्रह्म केवल उपनिषत् मात्र वेद्य है। **"तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि"** इस प्रकार याज्ञवल्क्य शाकल्य से प्रश्न किया। उपनिषत् मात्र वेद्य पुरुष को पूछता हूँ उसको तुम बताओ। किन्तु उसे शाकल्य नहीं बता सका था। क्योंकि शाकल्य ने औपनिषद पुरुष का श्रवण नहीं किया था।

परन्तु ब्रह्मलोक में स्वयं ब्रह्मा बैठे हैं। उनसे श्रवण क्यों नहीं कर लेते हैं? उत्तर यही कि ब्रह्माजी अपने कार्य में व्यस्त हैं वे

आपको पढ़ाने नहीं बैठेंगे। ब्रह्मा आदि सभी अधिकार स्थित हैं। वे अपना आधिकारिक कार्य सृष्टि आदि करेंगे। इसके लिये तो पृथिवी में ही जीवितावस्था में सत्संग में जाना पड़ेगा। पृथिवी में मानव शरीर पाकर थोड़ी सी लापरवाही कर सत्संग में उपस्थित नहीं होते, गुरुमुख से शास्त्र श्रवण नहीं करते। इसका परिणाम अति पुण्यशाली होने पर भी ब्रह्मलोक ही पहुँचेगा। वहाँ करोड़ों वर्ष बितायेगा। फिर वहाँ से नीचे पड़कर चौरासी लाख के चक्कर में पड़ेगा। पता नहीं फिर अवसर कब आयेगा। यह मानव कितनी बड़ी भारी भूल कर रहा है। आसानी से प्राप्त सत्संग को थोड़े धनलाभ से या आलस्य से छोड़कर चौरासी लाख के चक्कर में पड़ना बुद्धिमत्ता नहीं मानी जा सकती।

प्रश्न होगा कि इन्द्र और विरोचन ने प्रजापति से ब्रह्म श्रवण किया था। ऐसी कथा आती है तो ब्रह्मलोक में भी तो श्रवण संभव है। किन्तु उस पर प्रश्न यह है कि वे प्रथम ब्रह्मलोक गये कैसे ? ब्रह्मलोक गमन साधना कर्मोपासना समुच्चय उन्होंने किया हो तो इन्द्रलोक और असुरलोक में कैसे गये ? वहाँ के अधिपति क्यों हुए। अतः वह प्रजापति एवं प्रजापति लोक पृथक् ही हैं, जहाँ इन्द्र और विरोचन गये। दक्ष प्रजापति कर्दम प्रजापति आदि भी तो प्रजापति हैं। भाष्यादि में तो आख्यायिका सुखप्रबोधनार्था कहकर समाप्त करते हैं। प्रमाणान्तर बाध न होने पर भूतार्थवाद माना गया है। प्रमाणान्तरबाध होने पर अर्थवाद गुणवाद मात्र माना गया है। फिर यह संप्रदाय प्रवर्त्तनार्थ कोई नयी प्रक्रिया भी हो सकती है, जैसे मुण्डक में प्रथम ब्रह्माजी का अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्मविद्योपदेश किया था।

ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव
विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठा-
मथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥

तो क्या अथर्वा ब्रह्मलोक गये थे ? नहीं। संप्रदाय प्रवर्त्तन की वह प्रक्रिया मात्र है। अतः पृथिवी में सत्संग में अनुपस्थित होकर ब्रह्मलोक में श्रवण करने की आशा हाथ में आयी हुई चिड़िया को छोड़कर आसमान में उड़ती चिड़िया को पकड़ने की कोशिश के बराबर है।

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवं परिषेवते।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि ॥

यह नीति वचन ऐसे लोगों पर ही लागू होता है। अतः सारांश यही निकलता है कि चाहे संन्यासी हो, चाहे कर्मोपासना समुच्चयकारी हो अथवा योद्धा हो सबको प्रथम श्रुति श्रवण पूर्वक वेदान्तार्थ निश्चय प्राप्त करना ही उचित है। अतः "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं" में कामनानुसार सामान्य स्वर्ग या ब्रह्मलोक रूपी स्वर्ग की प्राप्ति अर्थ है। और अर्जुन के समान कृतश्रवण हो तो अनन्त ज्येय स्वर्ग भी अर्थात् मोक्ष भी अर्थ है। इसलिये अब सामान्यतः सांख्यतत्त्व श्रवण हो गया। अतः अब हे अर्जुन ! हाथ में आये मोक्ष को मत छोड़ो—**तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।** हाथ में आये स्वर्ग को मत छोड़ो। यदि जीत जाओगे तो "जित्वा वा भोक्ष्यसे महीं" पृथिवी राज्य भोग तो है ही। अतः "न चैतद् विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः" इस संशय को भी मिटाओ। जीत जाओगे तो यदर्थं युद्ध हो रहा है वह होगा ही। मारे जाओगे तो स्वर्ग प्राप्ति होगी ही। इसलिये 'यद्वा' इस विकल्प संशयादि छोड़कर 'युद्धाय कृतनिश्चयः' निश्चयी होकर उठ खड़े हो ॥ ३७ ॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥

[सुख-दुख, लाभ-हानि एवं जय-पराजय को सम बनाकर फिर युद्ध के लिये युक्त हो जाओ । इस प्रकार तुम्हें पाप की प्राप्ति नहीं होगी ॥३८॥]

अर्जुन ने प्रथम एक विशिष्ट बात बतायी थी—**"पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः"** आततायी भी इन बन्धु बान्धवों को मारने से हमें पाप ही लगेगा । और भी अन्त में कहा **"अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम् । यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः"** । हम भयानक पाप करने के लिये उद्युक्त हुए हैं । क्योंकि राज्यसुख लोभ से बन्धुओं को ही मारने के लिये तैयार हो गये हैं । इसके लिये अभी तक उत्तर नहीं आया है । यद्यपि भगवान ने "अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं" इत्यादि में "पापमवाप्स्यसि" इसप्रकार स्वधर्म न करने से पाप के लगने की बात बतायी । परंतु इसे फिर "उभयतः पाशा रज्जु" ही कहा जायेगा । युद्ध न करो तो भी पाप, युद्ध करो तो भी पाप । यह फिर भारी संशय में डालने वाली बात हो गयी । यदि यह कहें कि युद्ध न करने से स्वधर्महानि कीर्तिहानि और पाप तीन लगते हैं और युद्ध करने से एक ही पाप लगेगा, अतः बलाबल बिचार से युद्ध करना ही उचित है । अर्जुन का कहना था, नहीं, युद्ध न करने से पाप लगेगा, युद्ध करने से स्वजनवध से महत्पाप होगा । स्वजन वियोग ऊपर से और यहाँ भी "उत्साद्यन्ते जातिधर्माः" से धर्महानि समान है । जातिधर्म हानि बड़ी या स्वधर्म हानि बड़ी यह भी विचारणीय विषय होगा । अतः इतने उपदेश से कोई निर्णायक स्थिति उपस्थित नहीं हुई । तदर्थ भगवान अब

सांख्योपयोगी कर्म का निष्कृष्ट अन्तिम दृढ़ स्वरूप बता रहे हैं— सुखदुःखे इत्यादि से। हे अर्जुन! तुम्हें पाप का यदि भय है तो उसके लिये मार्ग प्रशस्त है। सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजय को सम करो। फिर युद्ध योग करो। तुम्हें पाप नहीं लगेगा।

यहाँ रामानुजाचार्य ने एक बड़ी अच्छी बात बतायी है। वह भी जच जाय तो मनन करने योग्य है। रामनुजाचार्य कहते हैं कि "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं" यह एक सामान्य नियम हुआ। यह केवल अर्जुन के लिये ही लागू नहीं है। क्योंकि सामान्य नियम को लेकर कहा जा रहा है। यदि स्वयं मारा गया तो स्वयं स्वर्ग जायेंगे। किन्तु युद्ध में यदि शत्रुसेना को मारे तो वे शत्रु भी तो स्वर्ग ही जायेंगे। इसका अर्थ हुआ कि युद्ध में शत्रु को मारा मतलब शत्रु को स्वर्ग भेजा। क्या यह कोई पाप कर्म है? किसी को अमेरिका मुफत में भेजा तो क्या यह बुरा कर्म है? जो अमेरिका जाना चाहता था, उसे मुफत यदि कोई भेजें तो भारी खुशी की बात होगी। अतः युद्ध में पाप लगने की बात ही नहीं उठ सकती। बल्कि यह हनन पुण्यकर्म ही है। रामानुजाचार्य का यह तर्क बड़ा ही सुन्दर है। योद्धाओं के लिये मनन योग्य है। याद्धाओं को यही समझकर लड़ना चाहिये कि हम इन सबको स्वर्ग भेज रहे हैं। परंतु दूसरे लोग इस व्याख्या पर राजी नहीं है। वे कहते हैं कि यह एक भावना की बात हो सकती है, वस्तु स्थिति नहीं हो सकती। योद्धा वैसी भावना करे, यह अच्छी बात है। किंतु यह वास्तविक तथ्य नहीं है। एक उदाहरण के द्वारा इसको समझा जाय। ये कीड़े, मकोड़े फतींगे आदि नारक योगि के माने जाते हैं। मल कीटादि नारक योनि है। अन्य भी तीर्यक् योनि के होने से पाप योनि तो हैं ही। यदि आप इन कीड़े मकोड़ों को मारेंगे तो नारक शरीर से इनको छुटकारा मिलेगा और अच्छा शरीर मिलेगा। तो

यह पुण्य हुआ कि पाप हुआ ? पूछेंगे कि ये कीड़े मरेंगे तो फिर कोड़े नहीं बनेंगे इसमें क्या ग्यारंटी ? ग्यारंटी यही है कि मारने वाले को देख देखकर मरेंगे तो मारने वालों का मनुष्य भाव उनको प्राप्त होगा ही। इसलिये ही तो भगवान के हाथ से मारे जाने पर भगवद्भाव की प्राप्ति बतायी जाती है। अतः आप इन कीड़ा मकोड़ों को मारेंगे तो उनको मनुष्य भाव प्राप्त करायेंगे यह तो पुण्य ही हुआ, युक्ति से और तर्क से। किन्तु यह शास्त्रीय नहीं माना जायेगा। शास्त्र में तो **"मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि"**—किसी भी प्राणी को मत मारो ऐसा लिखा है। न कि प्राणियों को मारकर उनको मनुष्य बनने का मौका दो। क्यों नहीं ? उत्तर है कि यह काम आपको नहीं सौंपा गया है। किसी को मारने का और जन्म देने का काम भगवान ने आपको नहीं दिया है। **"जगद्व्यापारवर्जं"** ऐसा सूत्र में लिखा है। सिद्धि आदि से ईश्वर सदृश भी कोई हो जाय फिर भी उसके लिये जगदव्यापार वर्ज ही ऐश्वर्य रहेगा। जगद रचना आदि का काम भगवान का है। अतः किसी को मारकर उसे मानव बनाने या स्वर्ग भेजने आदि का धंधा तुम्हें नहीं करना है। अतः युद्ध प्रयुक्त पाप प्रणाश के लिये मार्गान्तर ही ढूँढ़ना उचित है। अत एव उपाय को यहाँ भगवान कह रहे हैं। यहाँ अप्रसक्त प्रतिषेध नहीं है। प्रसक्त का ही प्रतिषेध है। सुख और दुःख को सम बनाओ। 'समे मत्वा' नहीं 'कृत्वा'। सम मानना नहीं, सम बनाना है। यह कैसे होगा ? मानना हो सकता है, करना कैसे होगा ? सुख और दुःख पर ध्यान दो तब उसको सम मानना होगा। उस पर ध्यान ही न हो तो यही सम बनाना है। वैसे लाभ-अलाभ तथा जय-पराजय भी है।

यहाँ दो प्रकार से व्याख्या की जाती है। एक कार्य कारण रूप से सुख दुःखादि को लेकर और दूसरा स्वतन्त्र रूप से। कार्य कारण भाव क्या है ? सुख दुःख को समान बनाओ। कैसे ? इस प्रकार कि

उसके मूल को सम करो। मूल कौन है ? लाभ और अलाभ। लाभ हुआ धनजन राज्यादि लाभ हुआ तो सुख होगा। और धनजन राज्यादि की हानि होगी तो दुःख होगा। लाभ और हानि को सम बनाओ। उसी को समझो कि यह लाभ हानि होती रहती है। पत्नी पुत्र धनादि मिला तो समझो कि ऐसा तो मिलता ही रहता है। कोई नयी बात थोड़ी ही है। इनकी हानि होती है तो भी समझो कि यह भी होता ही रहता है, इसमें क्या नया है, क्या आश्चर्य है। दुनिया में किसी की हानी होती है तो दूसरे को लाभ होता है। इस प्रकार लाभालाभ को सम बनाते रहना चाहिये। उसके लिये अन्य उपाय है कि उसके मूल को ही सम बनाना। लाभ-हानि का मूल क्या है ? जय पराजय। युद्ध में जय, व्यापार में विजय इस प्रकार कार्य में विजय होती है तो लाभ होगा। पराजय हो जाय तो हानि होगी। कर्म में जय पराजय किसी के अधीन नहीं है। ईश्वराधीन बोलो या प्रारब्धाधीन कहो, अपने अधीन तो नहीं है। अतः कर्म करते जाओ। जय-पराजय तो अपने सामर्थ्य से परे की बात है।

यह कार्यकारण भाव रूपेण व्याख्या हुई। अब दूसरी व्याख्या देखिये। लाभालाभ से वैश्यकर्म समझना। वे ही तो व्यापार में लाभ हानि के भागी होते हैं। और जयाजयौ से क्षत्रिय कर्म समझना। जय पराजय तो युद्ध में होने वाली बात है। और सुख दुःख से परिशिष्ट ब्राह्मण तथा शूद्र कर्म समझना। वहाँ साक्षात् सुख और दुःख की ही बात होती है। क्योंकि जय पराजय और लाभ हानि तो युद्ध एवं व्यापार धन्धे में ही देखा जाता है। पूजा-पाठ में भी नहीं, सेवा में भी नहीं।

यह विवेचना हम किसी जात-पात की नहीं कर रहे हैं किन्तु कर्म स्वाभावानुसारी विवेचना कर रहे हैं। बाहर जो जाति है सो आप समझ रखिये। हम भीतर की बात कर रहे हैं। भीतर का चातुर्वर्ण्य सर्वजन साधारण है। आप प्रातः काल पूजा पाठ

करते हैं तो ब्राह्मण कर्म हो गया। व्यापार धन्धा करते हैं तो वैश्य कर्म हो गया। अपने हक के लिये लड़ते हैं तो क्षत्रिय कर्म हो गया, सेवा तत्पर होने पर शूद्र कर्म हो गया। श्रीमद्भागवत में सर्व वर्ण साधारणतया कहा—**"यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः"** शूद्र वृत्ति सेवा से ही ब्राह्मण पर भी भगवान प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार एक ही आप में चातुर्वर्ण्य का प्रतिदिन समावेश होता है। वर्ण परिवर्त्तन होता रहता है। हम काश्मीर गये थे तो वहाँ एक कुण्ड का दर्शन किया। लोग वहाँ दर्शन करने के लिये इसीलिये जाते हैं कि वहाँ जल में परिवर्त्तन होता रहता है। कभी दूध के समान उसका पानी सफेद होता है। कभी अरुण वर्ण का होता है। कभी नील वर्ण का और कभी काले वर्ण का। एक दो घण्टे तक बैठकर मैंने यही दृश्य देखा। यह कोई चमत्कार है या कुण्ड के नीचे ऐसी चीजें पड़ी हों जिनके ऊपर नीचे होने से ऐसा रंग परिवर्त्तन होता है यह तो भगवान जाने। किन्तु वहाँ के लोग इसे चमत्कार ही मानते हैं। काश्मीर के उस कुण्ड की बात छोड़िये। हम अपने हृदय कुण्ड में ही ऐसा वर्ण परिवर्त्तन देख सकते हैं। ये चार वर्ण क्या है? ये ही तो चातुर्वर्ण्य है। चातुर्वर्ण्य में ब्राह्मण वर्ण में सत्त्वगुण प्रधान और रजोगुण गौण होता है। क्षत्रिय वर्ण में रजोगुण प्रधान और सत्त्वगुण गौण होता है। वैश्यवर्ण मैं रजोगुण प्रधान और तमोगुण गौण होता है। और शूद्र में तमोगुण प्रधान और रजोगुण गौण होता है। सत्त्वगुण प्रधानता में सफेद वर्ण होता है। सत्त्वोपसृष्ट रज रक्तवर्ण होता है। तम उपसृष्ट रज नील वर्ण होता है। और रज उपसृष्ट तम काला होता है। हमारे अन्दर ये रंग उस कुण्ड के समान झिलमिल होकर बदलते रहते हैं। जब हम प्रातः काल पूजा पाठ करते हैं तब हमारे अन्दर विशिष्ट ब्राह्मण वर्ण आता है। किन्तु उसमें भी सुख दुःख तो होंगे ही। ध्यान बढ़िया लगा तो सुख होगा और न लगा तो दुःख होगा। उस वर्ण पर भी वर्ण होता है।

अत एव कभी ध्यान लगता है कभी नहीं। भगवान शंकराचार्य के परम गुरु गौड़पादाचार्य अपने ग्रन्थ माण्डूक्य कारिका में कहते हैं—

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्।
नास्वादयेद्रसं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्॥

पूजा पाठ ध्यानादि सात्त्विक धर्म है। ब्राह्मण धर्म है। किन्तु उसमें भी उपाधिवशात सुख दुःख होते हैं। चित्त लीन होता है या विक्षिप्त होता है तो दुःख होता है। एकाग्र होता है तो सुख होता है। ब्राह्मण धर्म में ही पुनः चातुर्वर्ण्य है। लय आने पर शूद्र धर्म आ गया है। विक्षेप में वैश्य धर्म। सकषाय में क्षात्रधर्म और शमप्राप्त में ब्राह्मण धर्म। ध्यान में बैठते हैं तो प्रथम लय आने लगता है। लय माने नींद। निद्रा सुषुप्ति। यह सुषुप्ति सुख सुषुप्ति नहीं होती किन्तु दुःख सुषुप्ति या मूढ़ सुषुप्ति होती है। **"प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत"** तमोगुण के कार्य प्रमाद आलस्य और निद्रा बताया है। तो लोग शंका करते हैं कि महाराज! तमोगुण त्याग कर नींद छोड़ेंगे तो जिंदगी कैसी होगी? सोये बिना मनुष्य जिंदा कैसे रहेगा? उत्तर यही है कि रात की स्वाभाविक नींद को तामस होने से त्याज्य नहीं बताया है। ध्यानादि समय में जो नींद है वही तामस है। क्योंकि वह नींद दुःख क्लेशदायी होती है। सिरदर्द उसका परिणाम है। अतः "लये संबोधनेत् चित्तम्" बताया। सम्बोधन कैसे करेंगे। हम सोये हैं तो स्वयं ही कैसे जगायेंगे? सोने का मतलब खटिये पर थोड़ा ही सोया है। बीच बीच में जागृति भी होती है। आसनदाढर्यादि उपायों से सम्बोधित करना चाहिये। विक्षिप्तं शमयेत्। नींद से चित्त को हटाया तो वह संकल्प विकल्प प्रारम्भ करता है। दौड़ धूप शुरू करता है। उसको शान्त करना चाहिये। कैसे शान्त करें? शान्त करो। अब उपाय का भी उपाय क्या होगा। इसके लिये कोई जादू नहीं है। **"न किंचिदपि चिन्त-**

येत्" भगवान भी यही कहते हैं। यह आपका पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ किस रीति करें यह प्रश्न हो सकता है। पुरुषार्थ के लिये दूसरा पुरुषार्थ नहीं होता। यह अभ्यास साध्य है। महीना दो महीना अभ्यास करने पर शान्त न हुआ तो साल दो साल में शान्त होगा। उतने में भी शान्त न हुआ तो दस बीस साल में। उतने में नहीं हुआ तो एक दो जन्म की भी प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है। क्योंकि इसी प्रकरण में भगवान ने आगे जाकर कह दिया—**"अनेकजन्म-संसिद्धस्ततो याति परां गतिं"** अनेक जन्म की तैयारी करके ही शुरू करना है। और यह जरूरी नहीं कि अनेक जन्म लग ही जाय। साल दो साल में भी हो सकता है। साधना परिपाका-नुसारी परिणाम होता है। ये दोनों ही दुःख ही समझो। यही पाप कोटि में परिगणना का तात्पर्य है।

तृतीय में सकषाय ज्ञान है। हरिद्वार में फागुन चैत्र के समय जाना चाहिये। जनवरी फरवरी आदि मासों में पानी अति स्वच्छ होता है। उस समय हर की पौड़ी में इतना स्वच्छ पानी होता है, वहाँ स्पष्ट दीखता है कि गंगा के पानी के नीचे क्या-क्या है। किन्तु बहाव अधिक हो तो उस स्थान पर नहीं दीखेगा। हरिद्वार में पुल है। पुल के नीचे तेजी से पानी बहता है, वहाँ बराबर नहीं दीखता। उसके बाद कुछ इस तरफ ब्रह्मकुण्ड में पानी स्थिर सा है वहाँ नीचे तक सब वस्तु दीखती है। ऋषिकेश में रहते समय गंगा किनारे कई छोटे-छोटे कुण्ड जो थे उनमें हम देखते थे कि आदमी डूबने भर का पानी है किन्तु घुटने भर पानी दीख रहा है। नीचे की सारी वस्तु स्पष्ट दीखती है। कैलास मानस सरोवर के मार्ग में एक ऐसा कुण्ड मैंने देखा जो आज तक मानस पटल पर अंकित है। थोड़ा विक्षेप होने पर भी नीचे की वस्तु दिखाई पड़ती थी। चित्त निर्मल होने लगता है। और भारी विक्षेप भी नहीं रहता है तो अन्तःकरण के अन्दर रहने वाले सभी कषाय स्पष्ट दीखने लगते

हैं। जैसे पानी में कंकड़ है या पत्थर है, काँटा है जो भी हो दीखता हैं, वैसे रागादि दोष संस्कार सभी दीखने लगते हैं। पूछेंगे कि चित्त जब लय विक्षेप से आगे बढ़ा तो उसमें रागादि कषाय कैसे रहेंगे? उत्तर यही कि यह कादाचित्क चातुर्वण्य का वर्णन है। ध्यान काल में लय विक्षेप निवृत्ति मात्र से सर्वथा रागद्वेषादि निवृत्ति नहीं होती। उससे अन्तःस्थित दोषों का सम्यक् दर्शन मात्र होगा। अतः कषाय विज्ञान तथा शनैः कषाय परिपाक दोनों ही आवश्यक है। ध्यान से लय विक्षेप त्याग करने के बाद इन कषायों को समझ कर तदर्थं समुचित उपाय करते रहना चाहिये। ये ही तो असली शत्रु हैं। उनके साथ युद्ध क्षात्र धर्म ही है।

चतुर्थ में "शमप्राप्तं न चलायेत्" यह ब्राह्मण धर्म हो गया। चित्त अभ्यास के द्वारा शान्त हो जाय तो उसको फिर विचलित नहीं करना चाहिये। इस कारिका को पढ़ते समय में पहले-पहले हमको भारी संशय होता था कि मन शान्त हो जाय तो फिर कौन ऐसा मूढ़ होगा जो उसको विचलित करेगा। परन्तु कथा क्षेत्र में आने पर इसका भी उत्तर मिल गया। एक माता मेरे पास आयी और पूछने लगी—महाराज! मुझे एक संशय होता है। मैंने कहा—कैसा संशय? वह बोली कि बड़े लोग ऐसा बताते हैं कि जप करते समय हाथ में से माला नहीं गिरनी चाहिये। उसका बड़ा पाप होता है। फिर उसका प्रायश्चित करना चाहिये। मैंने कहा—बात तो सही है, तो क्या तुम्हारे हाथ में से माला गिरती है? जी हाँ। मैंने कहा—क्या नींद आ जाती है? उसने कहा—नहीं, नींद नहीं आती है। ऐसा है कि ध्यान लग जाता है तो माला का ख्याल छूट जाता है। माला फिरना बंद हो जाता है फिर कभी गिर जाती है। सम्हालती हूँ तो कभी नहीं भी गिरती हैं। मैंने कहा—माताजी! माला हाथ से नहीं गिरना चाहिये यह निषेध सही है। यह लयवालों के लिये है। माता ने पूछा—लयवाले

कौन ? मैंने कहा—जिसको ध्यान लगाते समय निद्रा तन्द्रा आती है। उनके हाथ से माला छूटती है। उस लय का ही निषेध है। तुम्हें अगर नींद आती है तो निषेध लागू होगा। माता ने कहा—मुझे नींद बिल्कुल नहीं आती। मैंने कहा—तब माला गिरने दो चिन्ता मत करो। बल्कि माला को सम्हालने का फिकर ही छोड़ दो। यही "शमप्राप्तं न चालयेत्" का अर्थ है।

इसी प्रकार एक दूसरी माता ने भी प्रश्न किया। उसने कहा–महाराज ! मैं ध्यान लगाती हूँ। श्रीकृष्ण का स्मरण करती हूँ तो कुछ देर तक बराबर ध्यान रहता है। फिर वह आकार छूट जाता है। मैंने पूछा—क्या कोइ अन्य विचार आता है या नींद आती है ? आकार क्यों छूटता है ? उसने कहा—कोई विचार नहीं आता और न नींद आती हैं। लेकिन चित्त ऐसा गायब हो जाता है, कोई आकार ही नहीं रहता। मैंने कहा—तो छूटने दो, फिकर किस लिये है ? उसने कहा—गुरुजी ने कहा है ? कि आकार जरूर रहना चाहिये। उसका गुरु कोई वैष्णव था। उसने सिखाया कि निराकार चिन्तन मत करना। भगवान निराकार नहीं है, साकार है। द्वैतवादी निराकार भगवान को मनते ही नहीं हैं। मैंने कहा—तब तुम क्या चाहती हो ? उसने कहा कि चित्त स्थिर होने पर मैं कोई चिन्तन करना नहीं चाहती हूँ। किन्तु यह शास्त्र विरुद्ध है तो इसके लिये कोई उपाय बताइये। मैंने कहा—बड़े परिश्रम से यह स्थिति प्राप्त होती है। यदि तुम्हारा चित्त अत्यन्त स्थिर हो रहा है तो "शमप्राप्तं न चालयेत्" ऐसा आचार्य का शासन है। साकार से निराकार में जाना साधन परिपाक होने पर निश्चित है। उसको द्वैतवादी कोई मिटा नहीं सकता। निराकारावस्था आखिर में आयेगी ही। जब चित्त अत्यन्त प्रशान्त होता है तो आकार छूटेगा ही। साकार का अर्थ ही योगशास्त्र में सविकल्प

बताया है। विकल्प स्थायी नहीं हो सकता। विकल्प की निवृत्ति होने पर निर्विकल्पावस्था आती है।

जैसे डाक्टरों को रोगियों को देखते-देखते व्युत्पत्ति बढ़ती है। वैसे हम लोगों को भी इस विषय में पर्याप्त जानकारी मिल जाती है। जैसे अनेकविध रोगी रोग बताने और दिखाने के लिये डाक्टर के पास जाते हैं, इंजिनीयर मंत्री आदि के पास नहीं, अतः डाक्टरों को रोग का ज्ञान विशेष रूप से होता है—

"रोगिषु म्रियमाणेषु व्युत्पद्यन्ते चिकित्सकाः"

यह परिहासोक्ति भले हो, फिर भी तथ्य है। वैसे अध्यात्म संशय दूर करने के लिये भक्त भी संतों के पास आते हैं तो नानाविध प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है। हमारे पास शास्त्रों का सिद्धान्त है। शास्त्र लिखने वाले अनुभवी संत ऋषि-महर्षि थे। आजकल के नास्तिक कहते हैं कि आप वहाँ बताया, यहाँ बताया, शास्त्र में लिखा क्यों बोलते हें ? अपना अनुभव क्यों नहीं कहते। एक बार मैं भूतपूर्व मद्रास के गवर्नर शाह की लड़की के घर में गया था। लड़की या बहू थी, उसका पति एक्सिडेंट में समाप्त हो गया था। वह यही पूछने लगी कि आप अपना अनुभव बोलिये। मैंने कहा— मैं अपना अनुभव ही बोल रहा हूँ। किन्तु ऋषियों के अनुभव से मिलान करके बोलता हूँ। शास्त्र का अर्थ है ऋषियों का अनुभव। हमारा अनुभव कदाचित् त्रुटियुक्त हो सकता है। किन्तु ऋषियों का अनुभव त्रुटिरहित होता है। अतः उनके अनुभव से अपना अनुभव मिलाकर ही कोई निर्णय लेना उचित है। और जहाँ हमारा अनुभव नहीं पहुँचा है वहाँ भी ऋषियों का अनुभव पहुँचा हुआ रहता है। बल्कि प्राचीन ऋषिमुनि भी अपने विज्ञान को उनके पूर्वाचार्य के विज्ञान से मिलाते थे। महाकवि कालिदास लिखते हैं—

आपरितोषाद्विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

अनुभवियों को भी बल्कि कभी-कभी संशय हो सकता है। अपने में अप्रत्यय-किंचित्अविश्वास हो सकता है, जब तक प्रमाण उपस्थित न हो। बल्कि जो लोग यह कहते हैं कि ऋषि मुनियों के पीछे क्या घूम रहे हो, परप्रत्ययी मूढ़ है, वह स्वयं भटका हुआ है। क्योंकि सही मार्ग जिसने देखा वह कभी भी ऋषि मुनियों का विरोध नहीं कर सकता। हाँ इतनी बात अवश्य है कि अनुभव करते समय भिन्न-भिन्न आकार में अनुभव संभव है। एक बड़े भारी किले को देखने जाओ तो सबकी दृष्टि सर्वत्र नहीं पड़ सकती है। अमेरिका इंगलैंड जाने वाले वापिस आते हैं तो उनका वर्णन एक सरखा कभी भी नहीं होता। वहाँ किसी की दृष्टि विशेषरूपेण किसी पर पड़ती है। दूसरे को दूसरे पर। किला, अमेरिका इंग्लैंड को छोड़ो। एक पुष्प चार आदमी के पास दो और वर्णन करने के लिये कहो, तो चार प्रकार से वर्णन होगा। वैसे ही ऋषि मुनियों के वर्णन में भी भेद अवश्यमेव है। अतः छः शास्त्र बने या उससे अधिक का भी निर्माण हुआ। फिर भी, वर्णन अलग-अलग होने पर भी अमेरिका अमेरिका ही रहेगा, रूस नहीं होगा। फूल फूल ही रहेगा लकड़ी नहीं होगी। अतः चरम सिद्धान्त सबका एक ही होगा।

"नास्वादयेद्रसं तत्र" यह पंचम है। सकषाय विज्ञान और शम प्राप्त ये दोनों सुखावस्था है। और लय विक्षेप दोनों दुःखावस्था हैं। सुखावस्था में—"नास्वादयेद्रसं" रसास्वाद के पीछे नहीं पड़ना। ध्यान करने पर चित्त में रसोत्पत्ति होती है और लोग उसमें रमने लगते हैं, जिसका परिणाम बुरा होता है। ऐसे भी अनेक साधक हमको मिले जो यह कहते हैं कि महाराज पहले हमको ध्यान में इतना आनन्द आता था, एकाग्रता होती थी, किन्तु आजकल बैठने का मन नहीं होता। आनन्द तो दूर ही भाग गया। बात यह है कि आप ध्यान में रसास्वाद करते रहे तो वह नित्य रस था

या अनित्य रस ? निश्चित है कि इतने में नित्य रस की प्राप्ति नहीं हुई है। अनित्यरस तो जाने ही वाला है। इसलिये नास्वादयेद्रसं तत्र। रसास्वाद मत करो। भगवान पतञ्जलि कहते हैं—"**स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाऽकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्**" देवता आपको निमन्त्रण तक देंगे। लेकिन सिर्फ हाथ जोड़ना। संग और स्मय नहीं करना। क्योंकि वह अनिष्टकारी है। यह रसास्वाद कभी भी बंद होगा तो घोर निराशा होगी और उससे भारी अनिष्ट होगा। अतः सर्वथा अपनी प्रज्ञा से निःसंग होने का ही प्रयास करना चाहिये।

अब लाभालाभौ यह वैश्य कर्म स्वरूप देखो। सुख और दुःख को समान देखकर ब्राह्मणादि कर्म करो। लाभ और अलाभ को समान कर वैश्य कर्म करो। पैसे का लेन देन यह वैश्यवृत्ति है। यह सभी मनुष्यों को करना पड़ता है। आटा दाल सबको खरीदना पड़ता है। लेन देन का व्यवहार संसार में सर्वत्र होता है। उसमें कभी लाभ होगा और कभी हानि होगी। उसमें भी सात्त्विक राजसादि विभाग पूर्ववत है। काला पैसा यदि हो तो तामसवृत्ति होगी। अधिक मुनाफा वाला धन तमोयुक्त राजस है। लड़कर जो अपना हक लिया जाना है वह सत्वोपसृष्ट रज है। और स्वयं प्राप्त सात्त्विक है। श्रीमद्भागवत में धन के कई प्रकार बताये हैं—

ऋतामृताभ्यां जीवेत मृतेन प्रमृतेम वा।
सत्यानृताभ्यां जीवेत न श्ववृत्या कथंचन ॥"

जो अयाचित रूप से प्राप्त होता है, जिसमें किसी को तकलीफ नहीं होती वह ऋत और अमृत है। खेत काटते समय जो कण बिखरते हैं उसको बीनकर इकट्ठा किया तो वह ऋत है। बिना माँगे किसी ने कुछ दिया तो वह अमृत है। यह एक उदाहरण है। इस ढंग से प्राप्त हुआ धन, अन्न, अर्थादि सात्त्विक समझना चाहिये।

कुम्हार ने घड़ा बनाया और बेचा। उसने अपनी मेहनत का पैसा लिया यह ऋत ही है। गृहोद्योगादि सभी इसी के अन्तर्गत है, यदि अपने परिश्रम मात्र का दाम लेवे। अधिक लेने पर सत्यानृत हो जायेगा। कोई घड़ा बनाता है, कोई कपड़ा बुनआ है कोई जप करके दक्षिणा पाता है। ये सभी इस कोटि के हैं। यह सब रज उपसृष्ट सत्त्व रूप है। दूसरा मृत है जो नित्य याचना रूप है। मांग मांगकर जो एकत्रित किया जाता है वह मृत धन है। लोग चन्दा मांगते हैं। उससे बड़ी बड़ी संस्थायें चलाते हैं। वह भी है तो नित्य याचना ही तथापि स्वार्थ निमित्त न होने से उतना बुरा नहीं माना जा सकता। फिर भी लगभग मृत कोटि का ही है। आजकल उसे उत्तम माना जाता है। यह बात अलग है। फिर भी पूर्णतया वह सात्त्विक कहें यह कठिन है। कारण सब लोग एक भाव से नहीं देते। कोई तो इज्जत बचाने देते हैं, कोई पिंडा छूटे इस भाव से देते हैं। कोई पुण्य पाप भय से देते हैं। हाँ, कोई कोई निजेच्छया भी देते हैं। किन्तु वैसा देना मृत में भी समान है। मृतार्जन तामस है। प्रमृत कर्षण को कनते हैं। उसे प्रमृत क्यों कहा गया, यह विचारास्पद बात है। क्योंकि खेती तो अत्यन्त उत्तम है। अत एव यहाँ पर बहुत से 'म' की जगह 'भ' करते हैं प्रमृत नहीं, प्रभृत है। प्रकर्षेण भृत अर्थात् पालित रक्षित धारित ही प्रभृत है। कर्षणादि के समय भूमि में अनेक प्राणी वध होता है। इसलिये वह अत्यन्त सात्त्विक नहीं है, किन्तु सत्त्वोवसृष्ट राजस है। जंगल में कन्दमूल फलादि को ग्रहण करना ऋत में आता है। स्वयं पृथिवी कर्षण कर बीजवपनादि द्वारा जो संपादन करते हैं वह प्रभृत है। स्वयं धारण किया हुआ होने से उसको प्रभृत कहा। सत्यानृत वाणिज्य को कहते हैं। मील में कपड़ा बना, थोक व्यापारियों के पास गया, दलालों के पास आया फिर खुदरे व्यापारियों के पास आया। इतने में दस रुपये की चीज पचीस पचास की हो गयी। यद्यपि बीच

वालों ने भी मेहनत की किन्तु उससे कोई उत्पादन नहीं हुआ। और जितना श्रम पड़ता है उससे बहुत ज्यादा प्राप्त करते हैं। मेहनत कर उत्पादन करने वाला कृषक दिन-रात परिश्रम करता है फिर भी लखपति नहीं बनता। इधर उत्पादन कुछ है नहीं। उसके बिना ही लखपति करोड़पति बन रहे हैं। उसमें उत्पन्न वस्तु मूल्य सत्य है। परिश्रम मूल भी सत्य है। बाकी सब अनृत है। वाणिज्य में सत्य के साथ अनृत जुड़ ही जाता है। अतः उसको 'सत्यानृत' कहते हैं। यह दैनिक वैश्यकर्म में ब्राह्मणादि चातुर्वर्ण्य है। ऋतामृत ब्राह्मण रूप है। मृत शूद्र रूप है। प्रभृत क्षत्रिय रूप है। और सत्यानृत वैश्य रूप है। एक श्ववृत्ति भी अन्त में बताया है। नीच पुरुष सेवा से जो धनार्जन होता है वह श्ववृत्ति है। वह चातुर्वर्ण्य से बहिर्भूत अन्त्यज वृत्ति है। ये सभी वृत्ति धनार्जनार्थ होने से वैश्य वृत्ति है। उसमें कभी लाभ होगा, कभी अलाभ होगा। धान बीनने गये किन्तु अति परिश्रम से नहीं मिला या अल्प मिला यह अलाभ है। कहीं तो बहुत अनाज पड़ा था, बिना परिश्रम ही बहुत मिला यह लाभ है। वैसे कन्दमूल फलादि के अर्जन में भी है। इसी प्रकार मांगने वालों की भी दशा है। कभी कोई दयालु आ गया तो मांगने पर दस रुपये का नोट निकाल कर दिया। कभी दिन भर मांगने पर भी कुछ नहीं मिला। यह लाभ-अलाभ है। कृषिवृत्ति में भी सुवृष्टि हुई तो अनाज खूब हुआ। अकाल पड़ा तो पूरा नुकसान हुआ। यह लभालाभ है। व्यापार में लाभालाभ तो प्रसिद्ध ही है। कभी लाखों का लाभ होता है कभी घाटा होता है। इन लाभ तथा अलाभ में समान रहने का यह उपदेश है।

अब जय पराजय रूपी क्षात्र कर्म सम्बन्धित तथ्य पर भी विचार करो। क्षात्र कर्म में भी चातुर्वर्ण्य है। क्षात्र कर्म युद्ध है। जिसमें जय पराजय होता है। पहले समय में शास्त्रार्थ होते थे। वाद जल्प वितण्डा नाम की त्रिविध कथा में जल्प और वितण्डा तो

क्षात्र कर्म है। विजिगीषु कथा यदि स्वपक्ष स्थापना सहित हो तो जल्प है। और स्वपक्ष स्थापना रहित हो तो वितण्डा है। शास्त्रार्थ में जय एवं पराजय होती थी। जय पराजय में पहले समय में जय में भारी हर्ष और पराजय में भारी क्षोभ होता था। किन्तु दोनों समान रहकर शास्त्रार्थ करना चहिये। शास्त्रार्थ ही क्यों करना चाहिये ? इसलिये कि अनेक अज्ञात बातें शास्त्रार्थ में प्राप्त होती हैं। अतएव **"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः"** यह उक्ति प्रसिद्ध हो गयी। गुरु के पास से सभी बातें प्राप्त होती हों, ऐसी बात नहीं है। प्रतिपक्षी अपना पक्ष स्थापनार्थ नाना युक्तियों को प्रस्तुत करता है तो बिचार धारायें अनेक विध उपस्थित होने लगती हैं। इसीलिये वृहदारण्यक में राजा जनक की सभा में याज्ञवल्क्य एवं उन्य ऋषियों का शास्त्रार्थ दरसाया गया है। शास्त्रार्थ में स्वयं को भी नयी-नयी स्फुरणायें होने लगतो हैं। अतः जय पराजय में समान रहकर शास्त्रार्थ-युद्ध करना चाहिये। क्षात्र युद्ध तो प्रसिद्ध ही है। उसमें समान रहने का अजुंन के प्रनि यहाँ विशेष आग्रह हो ही रहा है। लाटरी में नम्बर लगाना आदि युद्ध कर्म में वैश्य स्वभाव है। कभी उस में लाखों का लाभ होता है और कभी उसमें हानि होती है। हानि यही जो लगाया सो गया। द्यूतक्रीडादि शुद्रवृत्ति है। उसमें जय पराजय प्रयिद्ध है। उसी में युधिष्ठिर का सारा राज्य चला गया था। गया कोई बात नहीं। उसके लिये अफसोस करना बृथा है। लाभ होने पर हर्ष करना भी वृथा है। "सुख दु:खे" इत्यादि से त्रिवर्ण कर्म ही क्यों बताया ? शूद्र कर्म में में चातुर्वर्ण्यव्यवस्था और उसमें भी विरुद्ध द्वय फल में समानता क्यों नहीं दरसायी ? उत्तर है—'सुख दु:खे' में ही उसका समावेश है। उसमें चातुर्वर्ण्य स्पष्ट है। ब्राह्मणादि सज्जन सेवा ब्राह्मण स्वरूप है। क्षत्रियादि सेवा में जहाँ मार खानी पड़ती है वह सेवा क्षात्र है। कोई-कोई माता-पिता एवं गुरु भी अभिभावकों को मारते

पीटते हैं तो वह सेवा क्षात्रात्मक है। इसी प्रकार अन्य भी सुगम है। उस सेवा में कभी सुख एवं कभी दुःख होना अनिवार्य है। सुख तथा दुःख में सम होकर चातुर्वर्ण्यात्मक सेवा कर्म करना चाहिये। **"ततो युद्धाय युज्यस्व"**। यहाँ युद्ध पद उपलक्षण होकर पूर्व दर्शित चारों कर्मों को बतलाने वाला है। युज्यस्व यह योग बोधक पद है। सुख दुःखादि में समानता आने पर वह कर्म योग ही हो जायेगा। आगे स्वयं भगवान कहेंगे—"समत्वं योग उच्यते" फरक इतना ही है कि वह कर्मयोग प्रकरण में बताया गया है। यह सांख्ययोग प्रकरण में कहा जा रहा है। केवल भोक्तृत्व परित्याग पूर्वक समता कर्मयोग है। कर्त्तृत्व भोक्तृत्वोभय परित्याग पूर्वक समता सांख्ययोग है। अतएव सांख्य प्रकरण में यह कर्मोपदेश असंगत नहीं है।

नैवं पापमवाप्स्यसि—यह "पापमेवाश्रयेदस्मान्" का प्रत्युद्धार है। हे अर्जुन! यदि तुम्हारे मन में पाप का भय है तो इस प्रकार युद्ध करो तो पाप नहीं लगेगा ॥ ३८ ॥

•

ऐषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु ।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।। ३९ ।।

[हे अर्जुन ! यह तुम्हें सांख्य में बुद्धि बतायो, अब योग में यह बुद्धि सुनो । जिस बुद्धि से युक्त होकर कर्म बन्धन को मिटा दोगे ।।३९।।]

शोक मोह ग्रस्त अत एव कर्त्तव्यच्युत अर्जुन को प्रबोधित करने के लिये भगवान ने "अशोच्यानन्वशोचस्त्वं" इत्यादि से तत्त्वज्ञान उपदेश प्रारंभ किया था । उसमें प्रथम सांख्यानुसारी बुद्धि का वर्णन किया । तदनंतर अब योगानुसारी बुद्धि का वर्णन करेंगे तदर्थं यह अनुसंधायक श्लोक है । इसी सांख्य और योग को लेकर आगे ज्ञाननिष्ठा तथा कर्मनिष्ठा का प्रतिपादन करेंगे ।

सांख्य शास्त्र के प्रवर्त्तक महर्षि कपिल हुए । उनके शिष्य और प्रशिष्य पंचशिखादि हुए । इस प्रकार शिष्य परम्परा के द्वारा अन्तिम मौलिक रचयिता ईश्वरकृष्ण हुए ।

कपिलाय महामुनये मुनये शिष्याय तस्य चासुरये ।
पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते नमस्यामः ।।

प्रायः इन सबका वर्णन महाभारतादि में आया है । कपिल का नाम तो वेदों में भी आया है । श्रीमद्भागवत में महर्षि कपिल का वर्णन विशेष रूप से है । कर्दम प्रजापति एवं देवहूति से उत्पन्न भगवदवतार कपिल ही कपिल महर्षि हैं । उन्हों ने सांख्य शास्त्र का प्रवर्त्तन किया । इसी प्रकार योगशास्त्र के प्रवर्त्तक भगवान पतञ्जलि ऋषि हुए । पातञ्जल सूत्रों पर स्वयं वेदव्यासजी ने भाष्य लिखा और आद्य-शंकराचार्य ने वार्त्तिक लिखा । पतञ्जलि शेषावतार माने जाते हैं ।

यहाँ एक विचारणीय विषय यह है कि भगवान कपिल के सांख्य शास्त्र का क्या विषय है ? उसका अभी तक किस ढंग से भगवान ने वर्णन किया। तथा महर्षि पतञ्जलि के योग शास्त्र का क्या बिषय है जिसको किस ढंग से भगवान आगे प्रस्तुत करने जा रहे हैं। प्रसिद्ध बात यह है कि कपिलाचार्य ने पच्चीस तत्त्वों का वर्णन किया। और महर्षि पतञ्जलि ने मुख्यतया अष्टाङ्गयोग का वर्णन किया। पच्चीस तत्त्व को संक्षेप में इस सांख्य कारकिा से समझ सकते हैं—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

मूल प्रकृति प्रथम तत्त्व है। उसी को वेदान्त में माया बताया है। उसी को शक्ति भी कहते हैं। उसके बाद सात प्रकृतिविकृति है। अर्थात् कारण कार्य उभयरूप है। महत्तत्त्व, अहंकार, पांच आकाशादि तन्मात्रायें ऐसे सात कार्यकारण उभयात्मक प्रकृतिविकृति है। पूर्व पूर्वका कार्य और उत्तरोत्तर का कारण है। इसके बाद सोलह केवल विकार हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच महाभूत ये सोलह तत्त्व हैं। ये केवल विकार हैं। पाँच महाभूत ये अन्तिम कार्य हैं। इनसे फिर आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। तथा इन्दियाँ अन्तिम कार्य हैं। इन्द्रियों से फिर आगे कोई तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। अतः ये केवल विकार हैं। सोलह, सात और एक मूल प्रकृति मिला कर चोबीस तत्त्व हो जाते हैं। पचीसवाँ एक और तत्त्व है। वह कौन ? न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः—आत्मा। अर्थात् ऐसे समझिये— एक केवल प्रकृति है। दूसरा केवल विकृति है। तीसरा प्रकृति-विकृति है। चौथा प्रकृति भी नहीं विकृति भी नहीं। इसी प्रकार अष्टांग योग भगवान पतञ्जलि ऋषि के इस सूत्र में स्पष्ट है—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि

अहिंसासत्यादि यम, शौचसंतोषादि नियम एवं स्वस्तिकादि आसन संपादन करने के बाद प्राणायाम करो। फिर प्रत्याहार—इन्द्रिय निग्रह करो। तथा धारणाध्यान समाधि लगाओ। इसी से तृतीय पादोक्त सिद्धियाँ हैं। प्रथम पादोक्त समाधि है और चतुर्थ पादोक्त कैवल्य है।

यह सांख्ययोग का संक्षिप्त विवरण हुआ। क्या इन दोनों का वर्णन गीता द्वितीयाध्याय में है? "एषा तेऽभिहिता सांख्ये"—क्या अभी तक प्रकृतिविकृति आदि का वर्णन किया गया है? पञ्चविंशति तत्त्व वर्णन हो गया है? और क्या आगे अष्टाङ्गयोग वर्णन तुरत होने वाला है? उत्तर स्पष्ट है कि न तो अभी तक पचीस तत्त्वों का वर्णन हुआ है और न आगे इस द्वितीयाध्याय में अष्टांगयोग का वर्णन आने वाला है। षष्ठाध्यायादि में भले अष्टाङ्ग-योग का वर्णन हो, परन्तु "इमां" से अनन्तर निर्देश होने से इसी द्वितीयाध्याय में योग वर्णन प्रतीत होता है। जब इन दोनों का वर्णन यहाँ पर नहीं है तब "एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु" इस अनुसन्धायक वाक्य का मतलब क्या है? इस विषय में कुछ आचार्यों का कहना है कि यहाँ कापिल सांख्यदर्शन का और पातञ्जल योगदर्शन का वर्णन नहीं है। किन्तु भगवान ने अपने पारिभाषिक सांख्य तथा योग का वर्णन किया है। परन्तु ऐसा कहना शास्त्रमर्यादा का भंग करना है। प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर उसे पारिभाषिक रूप में क्यों प्रस्तुत किया? क्या शब्द भण्डार इतना दरिद्र है कि दूसरा शब्द ही नहीं रहा? अतः यहाँ कापिल सांख्य और पातञ्जल योग का ही स्वरूप वर्णन है। किन्तु इतना अवश्य है कि उन दोनों की प्रस्तुति कुछ विलक्षण ढंग से है। सांख्य का सार भगवान ने अर्जुन को अपने ढंग से समझाया। और योग का सार भी अपने ढंग से प्रस्तुत करेंगे। भगवान की प्रस्तुति में विशेषता यह है कि अनुपयुक्त अंश का त्याग और

उपयोगी अंश का विश्लेषण रहेगा। अनुपयुक्तता देश काल समाज परिस्थिति आदि के कारण अनेक प्रकार है। उस बात को पहचानना ही दार्शनिकों की बुद्धि की विलक्षणता होती है। अतएव हम यहाँ प्रथम यही कहेंगे कि सांख्य एवं योग में परिस्थित्यनुसार क्या संशोधित स्वरूप होता है।

सांख्य केवल पचीस संख्या से ही मतलब नहीं रखता। सांख्य का अर्थ है—सम्यक् ख्यायते तत्त्वविवेचनं क्रियतेऽनयेति संख्या प्रक्रियाविशेषः, तया प्रवृत्तं शास्त्रं सांख्यम्। सांख्य शास्त्र में मुख्य रूप से तत्त्वविवेचन किया है। मुख्य रूप से सांख्य में तीन तत्त्वों का विवेक आता है। यही ईश्वरकृष्ण मुनि ने सांख्यकारिका में बताया है—

> दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।
> तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्॥

दुःखत्रयापघात रूपी लक्ष्य की पूर्त्ति के लिये दृष्ट या आनुश्रविक कर्मादि उपाय संभव नहीं है। इन दोनों तरीकों से अतिरिक्त ही श्रेयो मार्ग है। वह व्यक्त, अव्यक्त एवं ज्ञ (पुरुष) का विज्ञान अर्थात् विवेक ज्ञान ही है। व्यक्त शरीरादि है, अव्यक्त प्रकृति शक्ति है। ज्ञ आत्मा है, इन तीनों को विवेक करके पहचानना यही सांख्य का सिद्धान्त है। साधन रूप धर्म के बारे में वैराग्य पूर्वक सर्वकर्म सन्यास ज्ञान-सहकारी बताया है। यह बात आसुरि को भगवान कपिल ने जब तत्त्वोपदेश दिया उस समय के प्रसंग से पता चलता है। आसुरि प्रथम सहस्र-वत्सर यज्ञ में लगे हुए थे। संहस्रसंवत्सर में वत्सर शब्द दिन वाचक है। ऐसा मीमांसा में निश्चय किया है। अर्थात् लगभग तीन वर्ष तक महायज्ञ करते रहे। महर्षि कपिल ने व्रतनिष्ठ योग्य आसुरि को देखा। पास में पहुँचे तो आसुरि ने श्रद्धा भक्ति के साथ प्रणामादि कर पूजन किया। महर्षि कपिल ने कहा—क्या तुम्हें गृहस्थ धर्म अच्छा लगता है। हाँ, महाराज। अच्छी बात। महर्षि चले गये। आसुरि ने

पुनः सहस्र वर्ष यज्ञ किया। यज्ञान्त में पुनः कपिलजी पहुँचे। वही पूछा—"क्या गृहस्थ धर्म में आनन्द है?" "हाँ महाराज"। "अच्छा"। महर्षि चले गये। पुनः तीसरी बार सहस्र वर्ष यज्ञ किया। महर्षि तब भी आये। और वही पूछा—गृहस्थ धर्म में आनन्द है? जी नहीं। क्यों? "दुःखत्रयभिघातात्"। तीनों दुखों से छुटकारा मिलता नहीं। आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक दुःख निरन्तर घेरे रहते हैं। लौकिक उपायों से इनसे छुटकारा मिल नहीं रहा और इन सहस्र वर्ष यज्ञों से भी छुटकारा मिलने की आशा नहीं दीख रही है। महर्षि कपिल ने कहा—तब मेरे साथ चलो। कर्म करते हुए अन्तः करण शुद्ध होने से आसुरि के मन में विवेक वैराग्योदय हुआ था। संसार को दुःखात्मक समझ कर सर्व परित्याग कर आसुरि ने महर्षि कपिल की शरण ली। संन्यासी होकर वे वहाँ से चले और सांख्य ज्ञान प्राप्त किया। यह कथा माठर वृत्तिकारों ने लिखी है। उस कथा से स्पष्ट है कि विवेक वैराग्य पूर्वक संन्यास सांख्य ज्ञान का साधन है।

भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र ने इसी सांख्य का उपदेश अर्जुन को दिया। उसमें प्रथम व्यक्त तथा ज्ञ का विवेक किया। व्यक्त आकाशादि भूत तथा भौतिक शरीरादि एवं सूक्ष्म इन्द्रियादि भी है। भगवान श्री कृष्ण ने 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' इत्यादि से व्यक्त और ज्ञ का विवेक किया। "न त्वेवाहं जातु नासं" इत्यादि में ज्ञ का स्वरूप निर्णय किया। "जातस्य हिध्रुवो मृत्युः" इत्यादि से व्यक्त का स्वरूप निर्णय किया। इसके बाद अव्यक्त का भी स्वरूपनिर्णय के साथ विवेक—"अव्यक्तादीनि भूतानि" इस श्लोक में किया।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥

व्यक्त कार्य है। अव्यक्त कारण है। व्यक्त अयित्य है। अव्यक्त नित्य है। व्यक्त अव्यापक है। अव्यक्त व्यापक है। व्यक्त सक्रिय है, अव्यक्त

निष्क्रिय है। व्यक्त अनेक है, अव्यक्त एक है। इत्यादि व्यक्ताव्यक्त विवेक अव्यक्तादीनि भूतानि कहने से हुआ। और अव्यक्त व्यक्तोत्पादक होने से प्रसवधर्मी है। 'ज्ञ' तो 'न जायते म्रियते' इत्यादि से अप्रसवधर्मी बताया। इस प्रकार भगवान ने व्यक्त अव्यक्त तथा ज्ञ का विवेक किया। परन्तु पञ्चविंशति तत्त्व परिगणना में अपनी अनास्था प्रगट की। कहीं पर चौबीस पचीस आदि संख्या का निर्देश नहीं किया। कोई पचीस तत्त्व मानते हैं। कोई तीस मानते हैं। छत्तीस तत्त्व तक काफी लोग पहुँचे। भगवान का कहना है कि यह निष्प्रयोजन है। गिनती से आता जाता कुछ नहीं। इस प्रकार संशोधित रूप प्रस्तुत किया।

अब रही सर्व कर्म सन्यास की बात। भगवान ने उसे भी स्वीकार किया। किन्तु वाह्य क्रिया संन्यास की बात नहीं रखी। गीता के इस श्लोक को कि—

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥

शांकर भाष्य में संन्यासपरक लगाया है जिसने आत्मा को अविनाशी, नित्य, अज, अविकारी समझा वह घातनहननादि कोई कर्म नहीं करता। इस प्रकार संन्यास कथन किया। इसमें भी भगवान का कुछ संशोधन हुआ है या नहीं? उत्तर है—हुआ है। वह किस प्रकार? इससे थोड़े ही पूर्व भगवान ने "तस्माद्युध्यस्व भारत" कहा था। दोनों को मिलाने पर अर्थ निकलता है—"त्वं युध्यस्व, तथापि आत्मज्ञानसत्त्वात् कं घातयति हन्ति कम्" यह अर्थ अष्टादशाध्याय में स्पष्ट करते हैं—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

जिसमें अहंकृतभाव-कर्त्तृत्व नहीं, और जिसकी बुद्धि भोग में लियायमान नहीं होती अर्थात् जिरामें भोक्तृत्व नहीं, वहाँ हनन करता हुआ भी न मारता है और बन्धन में पड़ता है।

विचार यह करना है कि संन्यास क्या है और किस लिये करना है ? संन्यास तो त्याग को करते हैं। त्याग प्राप्ति पूर्वक होता है। तो किसको क्या प्राप्त हुआ है जिसको त्यागे ? धन, जन गृहादि प्रसिद्ध है। इन सांसारिक वस्तुओं का त्याग किया जाता है। परन्तु उन्हें प्राप्त किया किसने ? क्या आत्मा ने प्राप्त किया ? क्या आत्मा का इन सबके साथ संयोगादि संबंध है ? नहीं। जब संबंध ही नहीं तब त्याग किस प्रकार ? अन्तःकरण को लेकर इनका संबंध माना जाता है तो उसमें भी विवेक करना पड़ेगा कि कौन सा संबंध है ? बैंक में दस हजार रुपया आपने रखा। आपके पास पासबुक आयी है, चेकबुक आयी है। बस यही संबंध है। दोनों खो जाये तो रुपया आपका नहीं रहेगा। आपने चेक पर दस्खत किया दूसरे का नाम लिखाकर तो दूसरे का हो गया। रुपये के ऊपर कोई फरक पड़ा ? आपने चेक पर हस्ताक्षर किया तब भी बैंक में रुपया वैसा ही था। नहीं किया तब भी वैसा ही था। उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ा न आप में ही कोई अन्तर पड़ा। तो सन्बन्ध क्या हुआ ? सम्बन्ध उसको कहते हैं। पानी में नमक का सम्बन्ध हुआ तो पानी नमकीन हो गया, नमक का रूप गायब हो गया। इधर, न तो नोट आदमी बना न उसका रूप ही गायब हुआ। और न आदमी का रूप भी गायब हो गया। यह सब केवल एक कानूनी मान्यता मात्र है। केवल अध्यास मात्र है। अतिरिक्त कुछ नहीं। उस अध्यास में संशय होने पर विवाद झगड़ा होता है। मान्यता को लेकर ही सब झगड़ा है। अगर वस्तुतः मेरा तेरा होता तो उसमें विवाद न होता। सामने फूल पड़ा है तो उसमें कोई विवाद नहीं कि फूल है या फल है। फूल है यह वस्तुस्थिति है। उसमें फल है ऐसी बात नहीं हो सकती। इस प्रकार धन यदि मेरा है तो तेरा यह विवाद कैसे ? काल्पनिक में ही विवाद होता है। क्योंकि कल्पना अलग-अलग होती है।

भर्त्तृहरि महाराज सर्व संग परित्याग कर जंगल के रास्ते से जा रहे थे तो रास्ते में एक मणि पड़ी हुई दिखाई दी। उन्होंने पूर्व संस्कार के लेश से हाथ में उठाकर देखा तो दस लाख का वह हीरा था। थोड़ी देर बाद उन्होंने उसे नीचे फेंककर कहा—पूरा राज्य छोडकर आया अब इस हीरे का क्या मोह ? फिर बोले कि सामने दूसरा पत्थर पड़ा है उसमें इसमें क्या फरक ? फिर बोले, इसे उठाने से क्या इसके साथ आत्मा का कोई सम्बन्ध बनेगा कि जिससे यह मेरा कहने योग्य बने। मणि को नीचे डाला और दूर एक पेड़ के नीचे जा बैठे। यह सोचने लगे कि यह मणि—यह पत्थर ऐसा भेद क्या है ? यह मेरा तेरा क्या है ? मेरापन तेरापन सभी मान्यता के सिवाय और क्या है ? इतने में उसी रास्ते से दो राजकुमार घोड़े पर सवार होकर दौड़ते हुए आ रहे थे। प्रथम राजकुमार की दृष्टि मणि पर पड़ी तो बोल उठा "मणि मणि"। इतने में द्वितीय कूद पड़ा और मणि उठायी। इतने में पहला भी उतरकर मणि पकड़ने लगा। दूसरे ने कहा, खबरदार मणि छुई तो। प्रथम ने कहा—मैंने पहले देखा। अतः मेरी मणि है। दूसरे ने कहा—पहले मैंने उठाया अतः मेरी मणि है। दोनों में विवाद बढ़ता गया, बढ़ता गया। दोनों को जोश चढ़ा। दोनों ने तलवार निकाली, एक दूसरे का गला काट गिराया। मणि वहीं की वहीं पड़ी रही। किन्तु दो जानें गयी। भर्त्तृहरि ने देखा तो वह जड़ मणि पड़ी है। उसमें कोई अन्तर नहीं आया है। न तेरापन है, न मेरापन है। न उसमें भर्त्तृहरि का स्वत्व है। तब दो जाने क्यों गयी ? मणि में कुछ भी विकार नहीं तो दो जवान क्यों परलोक सिधारे ? उत्तर स्पष्ट है। ममता की मान्यता ने ही यह हिंसक रूप धारण किया। मणि किसी की नहीं। किन्तु उसमें मान्यता की कि यह मेरी है, यह मेरी है।

तब संन्यास क्या चीज है ? प्राप्त का त्याग होता है। वस्तु प्राप्त नहीं तो त्याग क्या। त्याग मान्यता का किया जाता है। अर्थात्

मैं मेरा ऐसी जो मान्यता है उसका त्याग ही संन्यास है। चाहे वह वस्तु विषयक हो चाहे क्रिया विषयक हो। वस्तु में मैं मेरा यह मोह है। और क्रिया में मैं मेरा यही कर्तृत्व भोक्तृत्व है। यही प्राप्त है। उस प्राप्त का परित्याग ही संन्यास है। वह मैं मेरा न छूटा और जंगल जाने पर भी सुरथ राजा और समाधि वैश्य का संन्यास नहीं हुआ। मैं मेरा छूटा तो वस्तु के छोड़े बिना भी राजा जनक त्यागी हुए। तब वस्तु संन्यास और क्रिया संन्यास क्यों करते हैं? संन्यास दार्ढ्य के लिये। वस्तु में से ममता हटाने पर भी पुनः संस्कारवश ममता हो सकती है। यदि ममना के होने की आशंका न हो तो वस्तु संन्यास न करने पर भी संन्यास ही है। यही कर्तृत्व भोक्तृत्व की भी वात हैं। क्रिया करते हुए भी यदि कर्तृ-भाव से रहित हो सके तो वह क्रिया संन्यास हो जायेगा। किन्तु क्रिया किये बिना भी कर्तृभाव मन से रखेंगे तो वह संन्यास नहीं, मिथ्याचार होगा। "मिथ्याचारः स उच्यते" यह आगे कहा जाने वाला है। इस प्रकार सांख्य तत्त्व को भगवान ने संशोधित रूप से प्रस्तुत किया संन्यास को भी संशोधित रूप से प्रस्तुत किया। इसी का उपसंहार "सुख दुःखे समे कृत्वा", पूर्व श्लोक में किया।

सुखदुःखे यह फल निर्देश है। लाभालाभौ यह वस्तु निर्देश है। जया जयौ यह क्रिया निर्देश है। सुख और दुःख को सम मानना ही नहीं, सम करना है। मानने में फिर मान्यता मात्र होगी। अर्थात् भ्रान्तिरूप या आहार्य रूप मान्यता मात्र होगी। सुख और दुःख बराबर है, ऐसा समझना या तो भ्रान्ति होगी या फिर आहार्य ज्ञान होगा। सुख और दुःख समान हो जाना चाहिये। सुख पर भी ख्याल नहीं, दुःख पर भी ख्याल नहीं तो अपने आप सम होगा। तदनुकूल साधनानुष्ठान ही समीकरण है। वैसे ही लाभालाभ भी है। वस्तु मिली, वस्तु गयी। दोनों में ख्याल नहीं। आने वाली आती है, जाने वाली जाती है। वस्तु के आने पर भी

हमारे अन्दर कोई अन्तर आता नहीं, और जाने पर भी कोई अन्तर आता नहीं। अतएव लाभ तथा हानि में कोई ख्याल नहीं यही लाभालाभ का समीकरण है। यही बात जयपराजय में भी है। सुख दुःख समीकरण में स्वरूप बोध छिपा है। लाभालाभ समीकरण में वस्तु संन्यास और जयाजय समीकरण में क्रिया संन्यास। इस प्रकार सांख्य योग विषयक बुद्धि बतायी गयी— यही 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये' इस प्रकार भगवान ने बताया।

योगे त्विमां शृणु। आगे भगवान योग बुद्धि बताने जा रहे हैं। वह कौन सा योग है? अष्टांग योग का वर्णन आगे नहीं है। लोग कहते हैं—कर्मयोग आगे बताया गया है। परन्तु योग तो पातञ्जल योग को कहते हैं। केवल शब्दों की धाँधलि करने से क्या लाभ होगा? यम नियम प्राणायामादि को योग न कहकर कर्म को योग कहने से क्या लाभ? योग का कुछ मतलब तो आना ही चाहिये। तो अब इस पर विचार करें। योग क्या है? क्यों किया जाता है? इस पर विचार करो। योग का सामान्य लक्षण बताया है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"

चित्तवृत्ति निरोध ही असल में योग है। यम नियमादि तो चित्तवृत्ति निरोध में साधन होने से योग कहलाया। साधन में साध्य व्यवहार होता है। जैसे कहा जाता है—**"लाङ्गलं जीवनं, आयुर्वै घृतं"** कोई रोगी कहता है—मेरा जीवन ही दवा है। कोई वैश्य कहता है मेरा जीवन ही व्यापार है। वहाँ जीवन का अर्थ है—जीवन का साधन। क्योंकि जीवन मनुष्य में है। दवा दवाखाने में है। दोनों की अभिन्नता नहीं हो सकती। इसी प्रकार यमनियमादि योग है अर्थात् योग का साधन है। प्राणायाम भी योग साधन है, योग नहीं है। योग तो चित्तवृत्ति निरोध को ही कहते हैं। चित्तवृत्तियाँ क्यों उठती हैं? क्यों उनका निरोध नहीं होता? प्राणायामादि की आवश्यकता क्यों पड़ गयी? उत्तर यही है कि मनमें अनेक

विध वासनायें भरी हैं। संस्कार पड़े हैं। उन वासनाओं के कारण मन में वृत्तियाँ उठती हैं। उनका निरोध इसलिये नहीं हो पाता कि वासना दूसरी वासना को जन्म देती रहती है। वासना से कामना, कामना से पुनः वासना। वासना से मन में इच्छा द्वेषादि हुए, उससे फिर नयी वासना उत्पन्न हुई। इस प्रकार अनादि काल से ही यह परम्परा चली आ रही है। यह अनाद्यन्त है—आदि अन्त-रहित है। यमनियमादि और प्राणायाम आदि की आवश्यकता क्या है? यही इनका प्रयोजन है कि यमनियम से चित्त कुछ शान्त होता है, निर्मल होता है। प्राणायाम से चित्त पकड़ में आता है। **"प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः"** ऐसा श्रुति में कहा गया है। योग शास्त्रों में मन और प्राण का बहुत भारी सम्बन्ध बताया है। अत एव प्राणायाम की बहुत अधिक महत्ता है। प्रत्याहार का प्रयोजन स्पष्ट है। क्योंकि इन्द्रियों के द्वारा ही प्रायः नवीन संस्कार अन्दर प्रवेश करते हैं। दृष्ट, श्रुत, स्पृष्ट वस्तुओं का संस्कार मन में आता है। उन संस्कारों के अनुसार फिर मन में वृत्तियाँ होती हैं। तदनुसार फिर वासना होती है, पुनः कामना, पुनः वृत्ति, यह परम्परा चलती है। अतएव इन्द्रिय निग्रहरूपी प्रत्याहार भी योग के लिये आवश्यक है। धारणा, ध्यान और समाधि तो योग की पूर्वोत्तर भावी भूमिकायें हैं ही। इस प्रकार अष्टांगयोगाभ्यास करने से जो अन्तिम समाधि होती है वह भी केवल अङ्ग मात्र है। उसका फल है—ऋतंभरा प्रज्ञा। उस प्रज्ञा से चित्तवृत्तिजनक सांसारिक विषय संस्कार प्रतिबद्ध हो जाते हैं। यही महर्षि पतञ्जलि ने दो सूत्रों से बताया। **"ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा"** संप्रज्ञात समाधि के अभ्यास से ऋतंभरा—सत्यार्थ विषयक प्रकृष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है। इसका फल बताया—**"तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार-प्रतिबन्धी"** उस ऋतंभरा प्रज्ञा से होने वाला संस्कार असत्य अनृत संसारविषयक पूर्वानुभव जनित संस्कार को प्रतिबद्ध करता है।

इस प्रकार संसार वासना प्रतिबद्ध हो जाती है तो स्वयमेव वृत्ति निरोध होने लगता है, यही योग है।

परन्तु यह योग उन्हीं के लिए संभव है जो इस योग के ही पीछे लगे रहते हैं। प्रश्न एक व्यक्ति का नहीं होता। ऋषि मुनियों शास्त्र बनाया तो एक या दो व्यक्ति के उद्धार के लिये नहीं किन्तु जगदुद्धार कामना से ही रचना की जाती है। वार्त्तिककार उद्योतकर कहते हैं:—

"यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद"

अपपाद महर्षि ने शास्त्र वनाया तो जगत को शम पहुँचाने के लिये। क्योंकि ऋषि-मुनि साधारण व्यक्ति नहीं—प्रवरो मुनीनाम्। इसी को लेकर न्याय तत्त्वचिन्तामणिकार ने प्रामाण्यवाद के आदि में बताया—

"अथ जगदेव दुःखपङ्कनिमग्नमुद्दिधीर्षुः"

समस्त जगत का उद्धार करना ऋषि का लक्ष्य है। क्योंकि सभी दुःखपङ्क निमग्न है। इस पर दीधितिकार कहते हैं—

"उद्देश्यता तु कीटपतङ्गादीनामपि"

केवल मनुष्य का ही उद्धार नहीं, जगत पद से कीट पतङ्गादि सभी आ जाते हैं। हाँ इतनी बात अवश्य है कि कीटपतङ्गादि लक्ष्य होने पर भी उनका विशिष्ट शरीर परिग्रह होगा तभी शास्त्र काम करेगा। क्योंकि कीटपतङ्गादि शास्त्र नहीं पढ़ सकते। अत एव सामान्यतः मनुष्यार्थं प्रतीति होती है।

इस विवेचना का हमारा तात्पर्य इतना ही है कि उद्देश्य जब सारा जगत है तो अधिक से अधिक व्यक्ति जिससे लाभान्वित हो सके ऐसा साधन बताना चाहिये। योग भी ऐसा हो जिसे अधिक से अधिक व्यक्ति अपना सके। ऐसा कौन सा मार्ग है? इसी को लेकर भगवान ने उस पातजल योग को सरल तरीके से प्रस्तुत किया।

यही '**योगे त्विमां शृणु**' का मतलब है। यहाँ कैसे पातंजल योग को प्रस्तुत किया यही अपाततः प्रथम समझना है। पहले हमने कहा कि भगवान पतंजलि के मत में भी प्राणायामादि ही योग नहीं है। किन्तु चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। और विवेचना में हमने पाया कि वासना कामना से ही वृत्तियाँ उद्भूत होती हैं। उसी वृत्ति उद्भव के करणीभूत वासना कामना का परित्याग यहाँ उपदिष्ट हुआ है। "**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु**" इत्यादि आगे कहेंगे। फल कामना परित्याग से वासना त्याग एवं वृत्ति निरोध का रास्ता एक हद तक तय हो जाता है।

प्रश्न यह किया जा सकता है कि फल कामना छोड़ने मात्र से कोई समाधि थोड़ी ही लग जाती है? कर्म विषयक विक्षिप्त वृत्ति तो बनी ही रहेगी। अत एव इसे योग कैसे कहा जा सकता है? योग तो समाधि को कहते हैं। व्यासभाष्य में प्रथम ही बताया है—"योगः समाधिः"। योग समाधि को कहते हैं।

कर्म करने पर चित्त कर्म विक्षिप्त ही रहेगा, समाधि कैसे होगी? इस प्रश्न का भी उत्तर "योगश्चितवृत्तिनिरोधः" इस सूत्र के भाष्य में दिया है। भाष्यकार कहते हैं—"**अत्र सर्वशब्दाऽग्रहणात् संप्रज्ञातोपि योगः**"।

योग लक्षण सूत्र में "योगश्चितवृत्तिनिरोधः" लिखा है। न कि "योगः सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः" अतएव संप्रज्ञातसमाधि भी योग है। वहाँ तक पहुँच सकते हैं तो भगवान कहते हैं—फलकामना त्याग से सर्ववृत्ति निरोध भले न हो, किन्तु बहुवृत्ति निरोध होगा ही। इतने को लेकर निष्काम कर्म को योग कह सकते हैं। कामना वासना प्रयुक्त चित्तवृत्ति निरोध मात्र से यह योग है। और खतरनाक वृत्ति तो कामना प्रयुक्त वृत्ति ही है। वही वासनाध्यायक होने से वासना चक्र प्रवर्त्तक है। निष्काम कर्म की आदत पड़ने से कामना क्षय हो जाता है। कामना क्षय से वासना क्षय होता है।

वासना क्षय से वृत्ति क्षय होता है। फलतः और अधिक कामना क्षीण होगी एवं वासनादि भी। शनैः शनैः यही निष्काम कर्म आपको पारिभाषिक समाधि पर्यन्त भी ले जायेगा। अतः 'योग-साधनत्वात्' भी योग कहना उचित है। जैसे योग साधन होने के कारण यमनियमासनादि को भी योग बताया गया, वैसे निष्काम कर्म भी योग साधन होने से योग शब्द वाच्य हो सकता है।

बुद्धया युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि। कर्म में योगबुद्धि का फल है—कर्म बंधन निवृत्ति। केवल योग विषयक बुद्धि से ही कर्मबंध हानि नहीं, किन्तु तदनुसार योग सम्पादन करने पर, क्रमशः कर्मबंधन हानि होगा। भगवान आगे कहेंगे—तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है फल में नहीं। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु" कर्म में अधिकार कहने से कर्त्तृत्व को स्वीकार किया। फल में अधिकार नहीं कहने से भोक्तृत्व का निषेध किया। इसका मोटा अर्थ है कर्म करना अपने हाथ में, फल देना भगवान के हाथ में। कर्म करने तक अपना अधिकार है। फिर उसे भगवदार्पण कर दिया मतलब फलाधिकार को छोड़ा, ऐसा सूक्ष्म अर्थ है। अधिकार त्याग से अपने में भोक्तृत्व नहीं रहेगा। भोक्तृत्व त्याग से कामना-बासना एव वृत्तियों के क्षीण होने से योग संपन्न होगा। किन्तु फल-प्राप्ति की निवृत्ति सर्वथा नहीं होगी। तदर्थ फिर बुद्धियोग का आश्रयण करने का आगे उपदेश होगा। वह भी इसी कर्मयोगजनित अंतःकरण शुद्धि का ही परिणाम है। उस बुद्धियोग से फिर कर्त्तृ-त्वाध्यास निवृत्ति होगी तब सर्व कर्मबन्धन निवृत्ति होगी। अर्थात् स्वाभाविक कर्तृत्व भोक्तृत्व दोनों की निवृति होने से कर्मबन्धन निवृत्त होगा। क्योंकि येही दोनों कर्मबन्ध है। इसी से संसार कर्मफल भी होता है। उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। इसका विस्तृत विवरण आगे हो होगा ॥ ३९ ॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।। ४० ।।

[इस योग बुद्धि के विषय में विशेषता यह है कि यहाँ जो आगे बढ़ते हैं जो अभिक्रम होता है उस का नाश नहीं होता, और प्रत्यवाय भी नहीं होता। इस धर्म का स्वल्पानुष्ठान भी महान भय से त्राण करता है ॥४०॥]

सांख्यबुद्धि के बारे में भगवान ने बता दिया। आगे योग-बुद्धि बताने जा रहे हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि सांख्य बुद्धि से ही काम चल सकता है तो अभी इस योगबुद्धि की क्या जरूरत रही ? ये दोनों बुद्धियाँ अत्यन्त पृथक् हैं। एक पुरुषानुष्ठेय नहीं। तब भिन्न-भिन्न व्यक्ति के लिये ही इन दोनों का उपदेश मानना होगा। परन्तु सर्व प्रथम प्रश्न आवश्यकता का है। इसके उत्तर में योग प्रशंसा के रूप में यह श्लोक है—नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति। इस योग बुद्धि में अभिक्रमण का नाश नहीं होता।

अभिक्रम किसको कहते हैं ? अभि का अर्थ है—अभिमुख। क्रम का अर्थ है—पादविक्षेप। आगे पाँव बढ़ाना ऐसा शब्दार्थ है। भगवान के अभिमुख बढ़ना अभिक्रम है। उसका नाश नहीं होता। जितना आगे बढ़ गये उतना बढ़ ही गये। ऐसा नहीं कि ऐसा कोई समय आ जाय जब कि जहाँ से शुरू किया वहीं वापिस आकर खड़े हो जाय। किया कराया चौपट हो जाय। करना न करना बराबर हो जाय। केवल सांख्य मार्ग में चलने वालों के लिये यही एक कठिनाई है।

येऽन्येऽरविन्दाक्ष-विमुक्तमानिन-
स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ते
पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।।

सांख्य मार्ग में चलने वालों में कभी-कभी भारी भूल हो जाती है। वे विमुक्तमानी कहीं हो गये तो बड़ा अनर्थ होता है। बोरीवली में एक ने मुझे बताया कि मैंने समस्त शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर लिया और शास्त्रानुसार मैं मुक्त भी हो गया हूँ। मैंने पूछा—आपने सर्व शास्त्र ज्ञान कैसे प्राप्त किया? उसने कहा—मैंने विचार सागर पढ़ा। मैंने कहा—विचार सागर के पढ़ने से विचार सागर के आप ज्ञाता हो गये किन्तु सर्व शास्त्र ज्ञाता कैसे हो गये? उसने कहा—विचार सागर में अख्यातिवाद आता है, अन्यथाख्यातिवाद आता है, आत्मख्यातिवाद आता है। यही तो मीमांसा न्याय और बौद्ध दर्शन है। मैंने कहा—मीमांसा आदि में ये सब वाद आते हैं लेकिन इतना ही मीमांसा न्याय आदि नहीं। खैर, मैंने सोचा इस पर अधिक बोलना वृथा है। इतने ही में समझ लेना पर्याप्त है। मैंने कहा—अच्छा आप मुक्त कैसे हो गये? उसने कहा—विचार सागर में बताया है—यहाँ प्राप्त की प्राप्ति होती है, अप्राप्त की प्राप्ति नहीं होती। तथा निवृत्त की निवृत्ति होती है, अनिवृत्त की नहीं। मैंने कहा—यह बात सही है। लेकिन आप मुक्त कैसे हुए? होने का अर्थ होता है पहले नहीं था, फिर हुआ। आप मुक्त हुए का अर्थ है—पहले मुक्त नहीं थे, फिर हुए। यह कैसा? यह मेरा प्रश्न है। उसने कहा, ऐसा नहीं है कि पहले मुक्त नहीं था और बाद में मुक्त हुआ। किन्तु मैं पहले से ही मुक्त था। अभी भी मुक्त हूँ। मैंने कहा—पहले से ही मुक्त थे तो विचार सागर पढ़ने की क्या जरूरत थी? उसने कहा—पढ़ने से पहले यह ज्ञान नहीं था, अभी ज्ञान हो गया। मैंने कहा—तब पहले से ही मुक्त होने पर भी ज्ञानाभाव में अमुक्त जैसे ही थे तो आज आपको ज्ञान हो गया इसमें क्या प्रमाण? केवल वाचिक ज्ञान ज्ञान नहीं है, अनुभवात्मक ज्ञान होना चाहिये। क्या आपको दुःखानुभव नहीं होता है? क्या आपको अखण्ड आनन्द की अनुभूति हो रही है? वाचिक ज्ञान

सरल है। अनुभवात्मक ज्ञान तब तक नहीं होगा जब तक प्रतिबन्धक नहीं हटेगा। मोक्ष प्राप्त है। ब्रह्म नित्य ज्ञात है। किन्तु अज्ञान का पर्दा ऐसा है कि प्राप्त भी अप्राप्त हो गया है, ज्ञात भी अज्ञात हो गया है। उसी के कारण बन्धन है। उस बन्धन की निवृत्ति प्रतिबन्ध के अपनयन से ही होगी। उसके अपनयन के लिये ही मल विक्षेप निवारण पूर्वक श्रवणमननादि का विधान किया है। उसके बिना जो यह कहे कि मैं मुक्त हूँ, उसको विमुक्तमानी कहते हैं। केवल अपने को मानता है मैं मुक्त हूँ, किन्तु यथार्थतः मुक्त नहीं है।

विमुक्तमानी होने का दुष्परिणाम है—"त्वय्यस्तभावात्"। अपने को मुक्त जो मानता है उसमें भगवान के प्रति भाव नहीं रहता। श्रद्धा भक्ति नहीं रहती। क्योंकि प्राणी मात्र को आदत है आलस्य। अर्थात् स्वाभःविक एक गुण है आलस्य। उसका प्रोत्साहन विमुक्त मानिता का परिणाम है। बच्चे को स्कूल जाने को कहो तो उसको प्रथम-प्रथम बड़ा बुरा लगता है। क्योंकि स्कूल जाने पर घर में प्राप्त विषय भोग नहीं मिलेगा। अतः स्कूल जाने के लिये नाराज होता है। पढ़ने का आलस्य होता है। क्योंकि उसमें कष्ट थोड़ा उठाना पड़ता है। जहाँ कष्ट की सम्भावना है वहाँ से दूर भागना स्वभाव है। वैसे ही भगवद्भजन एवं धर्म कर्मादि है। क्योकि उसे करने में तकलीफ होती है। तो तकलीफ कोई नहीं चाहता। किसी को पूजा पाठादि में रस आता है, भगवान में भाव होता है, ईश्वर ध्यान लगता है तो यह सब पूर्वकृत महान पुण्य का ही फल है। विमुक्तमानो का प्राप्त हुआ भाव नष्ट होता है और भाव प्राप्त नहीं हुआ तो उदय नहीं होता।

भगवद्भाव शून्यता का परिणाम है—"अविशुद्धबुद्धयः"। भावपद से दोनों ही ग्राह्य है। क्या ? भगवद्भक्ति भी और भगवत्समर्पणात्मक कर्म भी। इन दोनों के बिना बुद्धि शुद्ध नहीं

होती। जो बुद्धि कों अशुद्धि है यह प्रथम प्रतिबन्धक है। इस प्रतिबन्धक के रहते तत्त्वज्ञान नहीं होता। बल्कि संत तो तत्त्वज्ञान होने पर भी भगवद्भाव को नहीं छोड़ते। क्योंकि उसमें कोई नुकसान है नहीं। कदाचित् चित्तविक्षेप हो तो उसका वह निवर्त्तक ही होता है। तत्त्वज्ञान आपका कहीं जाने वाला नहीं है। मैंने एक विलक्षण महात्मा को देखा। वे उपदेश यही किया करते थे—खाने पीने में परहेज रखने से क्या लाभ? तुम मदिरा पियो मांस खाओं, लहसून प्याज की तो बात ही क्या? खाने से तत्त्वज्ञान का क्या सम्बन्ध? तत्त्वज्ञान प्रमाण का फल है, अगर आपके पास प्रबल प्रमाण हैं तो ज्ञान होगा। प्रमाण नहीं तो ज्ञान नहीं होगा। आँख है तो घड़ी सामने दीखेगी। आँख नहीं तो नहीं दीखेगी। ऐसा नहीं कि दारू पिया तो घड़ी नहीं दीखेगी, दारू नहीं पिया तो दीखेगी। ज्ञान वस्तुतन्त्र है, पुरुष तन्त्र नहीं। ज्ञान प्रमाण तन्त्र है, कर्म तन्त्र नहीं। अतः खाने पीने का और ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं है। उसी महात्मा को आगे यह भी कहते मैंने सुना कि कर्म और उपासना व्यर्थ है। भक्ति करना व्यर्थ है। कभी वे किसी संन्यासी को पूजापाठ करते देखें तो सीधे कहते थे यह अज्ञानी है। उस संत ने मेरे से एक बार कहा कि आप पूजा पाठ करते हैं इससे लगता है कि आप अज्ञानी हैं। मैंने उनको कहा कि मैं ज्ञानी हूँ या अज्ञानी हूँ, इस विषय में चर्चा तो बाद में करें। परंतु बताईये--मैंने बड़ा नाम नहीं लिया, छोटा नाम लिया—लहसून प्याज क्यों खाते हैं? तो आप अज्ञानी है या नहीं। उस संत ने कहा—मेरा ज्ञान कोई होम्योपेथीक दवाई नहीं है कि लहसून की सुगंधी से उड़ जाय। मैंने कहा—तो मेरा भी ज्ञान कोई चिड़िया नहीं है कि मूर्त्ति का दर्शन करते ही उड़कर चला जाय। कर्म करने और उपासना करने से तत्त्वज्ञान क्यों उड़ेगा आपका तत्त्वज्ञान यदि कर्म और उपासना से इतना

डरता है तो जो आप चलते फिरते, खाते पीते हैं, ये भी कर्म हैं। इनसे क्यों नहीं उड़ता ? उस संत ने कहा, यह बात ठीक है कि कर्म या उपासना से तत्त्वज्ञान उड़ता नहीं है। किन्तु करते किस-लिये हैं ? यह बताइये। मैंने कहा—प्रथम अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी। आप बोल रहे थे कि पूजापाठ करने वाला अज्ञानी है। वह बात आपकी कट गयी। प्रश्न इतना ही रह गया कि करने से क्या प्रयोजन ? हम पूछते हैं, आप जो खाते पीते हैं। उसे क्यों नहीं छोड़ते ? क्यों आप रोज भोजनादि करते हैं ? संत ने कहा—खाने पीने से तत्त्वज्ञान नहीं होता, शरीर रक्षा तो होगी। मैंने कहा—पत्ते खाकर भी बकरी गाय आदि शरीर रक्षा करते हैं। संत बोले हमें उसकी आदत नहीं मनुष्य का यह स्थूल शरीर ऐसा है कि भोजन से ही उसका पोषण होता है। मैंने कहा—तब आप रास्ते पर आये। आप कहते हैं कि इस स्थूल शरीर का पोषण आवश्यक है और वह अन्न से ही संभव है तो मैं कहता हूँ कि सूक्ष्म शरीर अन्तःकरण का भी पोषण आवश्यक है, वह भजन उपासना से ही संभव है। मैंने हजारों वेदान्तियों को देखा है, जो कष्ट आने पर रोते हैं, कराहते हैं। उसका कारण है उन्होंने सूक्ष्म शरीर का पोषण नहीं किया। हृदय कमजोर रहा। अत एव तत्त्वज्ञान होने के बाद जब तक शरीर है तब तक सूक्ष्म शरीर पोषणार्थ भगवद्भाव को जारी रखना ही उचित है। उससे तत्त्वज्ञान पर कोई ठेस पहुँचने वाली नहीं है।

भाव के न होने से बुद्धि अविशुद्ध होती है तो उसका परिणाम है—"आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ते पतन्ति" । बड़ी मेहनत से वे ऊपर आरोहण कर भी लें फिर भी वहाँ से कभी भी पड़ सकते हैं। अर्थात् श्रवण मनन निदिध्यासन करके बहुत दूर तक पहुँचने पर भी उनको पतन भय तो रहता ही है। क्या तत्त्वसाक्षात्कार होने के बाद भी पतन भय रहता है ? नहीं। किन्तु तत्त्व साक्षात्कार हो तब की यह

बात है। तब आरोहण कैसे ? आरोहण इस दृष्टि से की श्रवणादि की खूब आवृत्ति की इसलिये निश्चय दृढ़ हुआ। श्रवणादि की आवृत्ति होने पर तत्त्वसाक्षात्कार क्यों नहीं हो ? उतर में स्वामी विद्यारण्यजी महाराज ने बताया है कि दो प्रकार के श्रवणादि कर्ता हैं। एक कृतोपास्ति है दूसरा अकृतोपास्ति है। जिसने पूर्व उपासना की हो वह कृतोपास्ति। जिसने पूर्व उपासना न की हो वह अकृतोपास्ति। इनमें अकृतोपास्ति को जीवन्मुक्त सुख नहीं मिलता। वह केवल अन्त में विदेह मुक्त होगा। ऐसा विद्यारण्य स्वामी ने बताया। यदि तत्त्वसाक्षात्कार हो गया होता तब जीवन्मुक्ति में क्या बाधा थी। अतः यही सिद्ध होता है कि अकृतोपास्ति को सहसा तत्त्वसाक्षात्कार होता ही नहीं। क्योंकि उनके प्रतिबन्धक ही हट नहीं पाते। क्यों ? "अनादृतयुष्मदङ्घ्रयः" भगवच्चरणादर ही प्रतिबन्धक को पहाड़ के रूप में अवरोध करने से रोक सकता है। फलतः कर्म तथा उपासना अवश्यमेव करना चाहिये। ये दोनों त्याज्य नहीं है। अन्यथा विमुक्तमानी का अभिक्रम नाश होगा।

यदि कर्मोपासना के अभाव में अभिक्रम नाश होता है तो भगवान ने प्रथम कर्मोपदेश ही क्यों नहीं किया ?। "न त्वेवाहं जातु नासं" इत्यादि तत्त्वज्ञानोपदेश ही क्यों किया ? दूसरी बात यह प्रसिद्ध है कि गीता में तीन काण्ड है। प्रथम षडध्याय में कर्म प्रतिपादन है। द्वितीय षडध्याय में उपासना प्रतिपादन है। तृतीय षट्क में ज्ञान प्रतिपादन है। तब कर्म प्रतिपादन में प्रथम ही ज्ञान प्रतिपादन क्यों किया ? तथा यह भी प्रश्न सामने आता है कि हम श्रोता सब साधन चतुष्टय संपन्न अधिकारी है नहीं। तब हमें कर्मोपासनोपदेश ही करना चाहिये तो ये संत लोग ज्ञानोपदेश क्यों करते हैं ? वेदान्ती लोग उपनिषदों पर कथा क्यों करते हैं ?। इसका रहस्य इसी प्रथम ज्ञानोपदेश से खुल जाता है। अर्थात् श्रवण

दो प्रकार का होता है एक लक्ष्यबोधार्थ श्रवण और दूसरा तत्त्व-बोधार्थ श्रवण। जैसे आपको यहाँ से दिल्ली कलकत्ता जाना है तो प्रथम आपको दिल्ली कलकता का लक्ष्य ज्ञान चाहिये। आप चाहे कार में जाइये, चाहे ट्रेन में, चाहे प्लेन में और चाहे बैलगाड़ी में। लेकिन कहाँ जाना है इतना पता होना ही चाहिये। स्टेशन मास्टर पूछे कि कहाँ जाना है। आप कहें कि यह तो मुझे मालूम नहीं, कोई एक टिकट दे दो, इतना कहने से काम क्या चलेगा ? लक्ष्य-ज्ञान तो होना ही चाहिये। लक्ष्य का सामान्य ज्ञान चाहिये, विशेष ज्ञान तो वहाँ जाने पर ही होगा। यह लौकिक स्थल में ठीक है। ब्रह्म में तो सामान्य विशेष भाव है नहीं। अतः जो वहाँ सामान्य ज्ञान है वही विशेष ज्ञान भी है। अतः प्रथम लक्ष्यज्ञानार्थ सम्यक् श्रवण करना आवश्यक है। अन्यथा थोड़े में लक्ष्य गलत हो जायेगा और कहीं का तीर कहीं लग जायेगा। मंगल लोक को भेजा राकेट और किसी लोक में जा टकरायेगा।

तात्पर्य यह है कि वेदान्त श्रवण के प्रति अधिकारी बनना चाहिये। अधिकारी का विशेषण है—साधन चतुष्टय। उनमें सर्व-प्रथम विवेक है। विवेक किसको कहते हैं ? ब्रह्म ही एकमात्र नित्य सत्य है, अन्य समस्त संसार अनित्य है, असत्य है ऐसा ज्ञान ही विवेक है। नित्यानित्य वस्तु विवेक की व्याख्या में श्रीमद्वाचस्पति मिश्र ने "नित्यं सत्यम् अनित्यमसत्यं" ऐसी व्याख्या की है। यह नित्यानित्य विवेक आपको किससे होगा ? वेदान्त से। आखिर ब्रह्म ही नित्य सत्य है जगत् विपरीत है यह बात भी वेदान्त में ही लिखी है। तो इतना ज्ञान प्राप्त करने के लिये भी आपको वेदान्त श्रवण करना पड़ेगा। इसमें अन्योन्याश्रय दोष आता है। पहले वेदान्त श्रवण करो। तब नित्यानित्य विवेक होगा। पहले विवेकादि संपन्न करो तब अधिकारी होकर श्रवण करेगा। इसलिये श्रवण दो प्रकार का माना गया है। एक लक्ष्यबोधक श्रवण है। दूसरा साक्षा-

त्कार प्रयोजक श्रवण है। भगवान ने प्रथम जो तत्त्वज्ञान का उपदेश किया वह लक्ष्य ज्ञान के लिये हैं। प्रथम लक्ष्य ज्ञान हुआ तो ही आगे बढ़ने की कोशिश करना उचित है। उसके बाद प्रथम कर्मोपदेश क्रिया और बाद में उपासनोपदेश किया। उसके बाद द्वितीय श्रवण के लिये त्रयोदशाध्याय से उपदेश हुआ—"इदं शरीरं कौन्तेय"। वह साक्षात्कारार्थ उपदेश है। अतएव वहाँ पर **"क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि"** इस प्रकार महावाक्य का उपदेश किया क्षेत्रज्ञ जीवात्मा को कहते हैं। और 'मां' से भगवान परमात्मा को कह रहे हैं। क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ ऐसा हे अर्जुन तू जान। इसी का वेदवाक्य है—तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि आदि। तत्त्वमसि गुरु कहें तो अहं ब्रह्मास्मि ऐसा शिष्य समझेगा।

प्रथम सांख्य बुद्धि से यदि अभिक्रम करते हैं और लक्ष्य ज्ञान प्रयोजक श्रवण करने के बाद कर्मोपासनादि नहीं करते हैं तो अभिक्रम नाश होगा। बार-बार किया हुआ भी श्रवणादि वृथा चला जायेगा—"आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ते पतन्ति"। परन्तु इसके विपरीत प्रथमोपदेश से लक्ष्य ज्ञान प्राप्त कर फिर कर्मोपासना में लग जाय—योग बुद्धि में लग जाय तो अभिक्रम का नाश नहीं होगा। कैसे ? यह भी श्रीमद्भागवत में अनन्तर श्लोक में बताया—

तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्
भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः।
त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥

जैसे विमुक्त मानी आरूढ़ पतित होते हैं वैसे कर्मोपासना संलग्न पतित नहीं होते। क्यों नहीं होते ? कर्मोपासना मार्ग से चन्द्रलोक जाने वाले वापिस आते हैं। वापिस आना ही तो पतन कहलाता है। ज्ञानमार्ग से पृथक् ही यह कर्ममार्ग है। सब कर्ममार्ग से चलने वालों का

पुनरावर्तन ध्रुव सत्य है। तो कैसे कहते हैं ?—नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति। उत्तर यह है कि यद्यपि कर्म मार्ग ज्ञान मार्ग से पृथक है। तथापि यहाँ केवल कर्म बुद्धि नहीं कही जा रहो है। किन्तु "योगे त्विमां शृणु" से योग में बुद्धि बताने की प्रतिज्ञा की गयी है। योग कहने का रहस्य हम पहले ही कह आये हैं। फिर से एक बार शुद्धीकरणार्थं उसका स्मरण कीजिये। योग का अर्थ चित्तवृत्तिनिरोध है। कर्म किस प्रकार चित्तवृत्ति निरोधात्मक योग है। कर्म यद्यपि स्वयं चित्तवृत्ति निरोधात्मक नहीं है। तथापि भगवदर्पित कर्म, अर्थात् निष्काम कर्म चित्तवृत्ति निरोधात्मक न होने पर भी चित्त-वृत्तिनिरोध साधन तो है ही। क्योंकि कामना ही वृत्ति प्रसार का कारण है। कामना होने पर काम्य विषयक संकल्प विकल्प प्रारम्भ होते हैं। धन कामना होने पर धन कैसे कमावे, कैसे बचावे इत्यादि हजारों संकल्प विकल्प होते हैं, वैसे ही स्त्री कामना, पुत्र कामना आदि भी है। कामना से संकल्प विकल्प उठते हैं। पूछेंगे कि केवल कामना से ही क्यों ? द्वेषादि से भी तो संकल्प विकल्प होते हैं। होते हैं, किन्तु मूल तो कामना ही है। कामना से ही बीच में विघ्न होने पर क्रोध होता है। द्वेष होता है। "काम एष क्रोध एषः" ऐसा आगे वर्णन आयेगा ही। उस कामना का परित्याग होने पर क्रोध ईर्ष्या आदि सबका नाश होता है। और संकल्प विकल्प भी क्षीण होंगे। इस प्रकार वृत्ति क्षय अवश्यंभावी है। पूर्वोक्त चक्र विघटन भी द्रष्टव्य है। परन्तु कर्म करते समय कामना परित्याग कैसे होगा ? कर्म समर्पण से। कर्म समर्पण कब होता है ? इसी का उत्तर है—"त्वयि बद्धसौहृदाः। भगवान के प्रति भक्ति हो, श्रद्धा हो, विश्वास हो, सौहृद हो। सौहृद बाँधने मात्र से क्या होगा ?— "तावकाः" यही कि वे भगवान के अपने बन जाते हैं।

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"

यदि भक्त भगवान को अपना सुहृत् समझता है, तो भगवान भी

भक्त को सुहृत् समझने लगते हैं तो सुहृत् का काम ही है पतन से बचाना, आपत्ति से बचाना—

"आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः"

कहीं भी पतन का प्रसङ्ग आता है तो उस आपत्ति से भगवान अवश्यमेव बचाते हैं। वैसे तो भगवान सबके अन्तर्यामी—सुहृत् हैं। आपत्ति से बचाने का उपाय अन्तःप्रेरणा देते रहते हैं। परंतु जीवात्मा भगवत्सौहृद अपनाता नहीं। इसलिये वह पतित होता है। यही "त्वयाभिगुप्ताः" का मतलब है। वैसे सभी गुप्त—रक्षित हैं। परंतु भगवद्भक्त अभिगुप्त है—अभितः रक्षित है। हर प्रकार से भगवान बचाते हैं।

प्रश्न हुआ कि इस प्रकार भगवदर्पण बुद्धया कर्म करने वालों का भी तो मरण होगा ही। तत्त्व ज्ञान के अभाव में मोक्ष नहीं हुआ तो पुनर्जन्म भी होगा ही। पुनर्जन्म हुआ तो पूर्वजन्म का कुछ भी स्मरण नहीं रहता। क्या यहाँ बैठे हुए किसी को भी पूर्व जन्म का स्मरण है? पूर्व जन्म में मैं कौन था? क्या था? क्या साधना की थी? क्या पढ़ा था? आदि कुछ भी स्मरण है? जन्म समय में तो अत्यन्त जड़ होकर बालक पैदा होता है। यह भी पतन ही तो है। पतन का अर्थ इतना मात्र तो नहीं है कि पेड़ पर से गिरा तो पतन हुआ। पूर्व संचित नाश होने पर पतन ही माना जाता है। इसका उत्तर है—"विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु"। विनायक का अर्थ है विघ्न। विगतो नायको यस्य सः। जिसका कोई नायक नायक नहीं, विघ्नों की सेना है। हजारों विघ्न रोज आते रहते हैं यही विनायक सेना है। उसका अधिपति कौन? सबसे बड़ा विघ्न जीवन का है—मरण, मृत्यु। उन मृत्युओं के मस्तकों पर कूदते छलांग मारते आगे बढ़ता जाता है। ध्रुव की कथा में बात आती है कि उनके अन्त समय में ले जाने के लिये एक विमान

आया था ध्रुव इस विमान के पास पहुँचे तो चढ़ने की सीढ़ी नहीं थी। सीढ़ी के बिना ऊपर चढ़ना संभव नहीं था। इतने में एक पुरुष दौड़ा-दौड़ा आया और विमान के पास आकर घुटने के बल पर बैठा और बोला हे दयालु भगवन्! मेरे मस्तक पर पाँव रखकर आप ऊपर विमान में चढ़िये। तब ध्रुव उसके मस्तक को ही सीढ़ी बताकर विमान पर पढ़ा। वह पुरुष कोन था? फिर उसको कहना चाहिये था मेरे कन्धे पर पाँव रखकर ऊपर चढ़ो। मनुष्य सीढ़ी कंधा होतो है। जन्माष्टमी के दूसरे दिन गोप क्रीड़ा में कंधे को सीढ़ी बनाकर दही का मटका फोड़ते हैं, न कि मस्तक को। तो उस आदमी ने कंधा न कहकर मस्तक क्यों कहा? खैर, वह अपनी नम्रता से भले मस्तक कहें। किन्तु सभ्य पुरुष धर्मं निष्ठ ध्रुव ने यह साहस क्यों किया? उसके मस्तक पर पाँव रखकर विमान पर चढ़े। उत्तर सुनिये। वह पुरुष ओर कोई नहीं मृत्यु देवता था। मृत्यु के मस्तक पर पाँव रखने का अर्थ है मृत्यु को जीतना। **"मृत्योर्मूर्ध्नि पदं दत्वा"** ऐसा बताया है मृत्यु के मस्तक पर पाँव रखाकर विमान में प्रवेश किया। विशिष्ट मान ही विमान है। मान माने ज्ञान। ज्ञान में 'वि' जोड़ने पर विमान होता है। तत्त्व साक्षात्कार। मृत्युविजय और तत्त्व सक्षात्कार एक साथ में। यहाँ पर 'विनायकानीकपमूर्धसु' एक मूर्धा नहीं अनेक मर्धा। मतलब अनेक मृत्युओं के आने पर भी पूर्वाभ्यास नहीं छूटेगा।

भगवान शंकराचार्य, स्वामी मधुसूदन सरस्वती आदि का वृत्तान्त इस बात का परम साक्षी है। और हमारे बीच में जो बुद्धि वैषम्यादि है यह भी इसमें प्रमाण है। आचार्य के लिये बताया है—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

आचार्य की यह कहानी है। आठ वर्ष ऊमर में ही चारों वेदों के वे पण्डित हो गये थे। महर्षि आपस्तम्ब ने चार वेदों के लिये न्यूनतम अड़तालीस वर्ष बताया—

"अष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि सर्ववेद ब्रह्मचर्यम्"

सर्ववेद अर्थात् चारों वेदों को पढ़ने के लिये एक-एक वेद के बारह-बारह वर्ष के हिसाब से अड़तालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य पालन करना है। तब चतुर्वेदी होगा। "पादूनम्" यदि त्रिवेदी बनना हो तो एक पाद कम करो। छत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यक पूर्वक पढ़ो और उससे भी कम द्विवेदी बनना हो तो—"अर्धेन" अड़तालीस का चौबीस वर्ष सब्रह्मचर्य अध्ययन करो। आज स्थिति ऐसी है है कि चतुर्वेदी, त्रिवेदी, द्विवेदी बनना तो दूर इनका नामोच्चारण भी नहीं आना। चतुर्वेदी को चौबे बोलते हैं, जो मथुरा में लड्डू खाने में प्रसिद्ध हैं। त्रिवेदी को तिवारी कहते हैं। द्विवेदी को दुबे कहते हैं। सारी जिंदगी बीत जाती है किन्तु एक वेद भी पूरा नहीं कर पाते। तब अष्टवर्षे चतुर्वेदी किस प्रकार हुए ? एक मात्र उत्तर है—"पूर्वाभ्यासेन" और "नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति"। पूर्व में जो वेदाभ्यास किया, सो भी निष्काम कर्मयोग रूप में उसका परिणाम है उस अभिक्रम का नाश मृत्यु के आने पर भी नहीं हुआ। वह भी पूर्व के एक जन्म के अभ्यास का परिणाम नहीं हो सकता। किन्तु "अनेकजन्मसंसिद्धः" अत एव अनेक जन्मों में किया हुआ भी अभिक्रम अक्षुण्ण ही बना रहा। यही "विनायका-नीकपमूर्धसु" इस बहुवचन का तात्पर्य है। अष्टवर्षे चतुर्वेदी यह अत्युक्ति नहीं है। अतिशयोक्ति नहीं है। इतिहास इसमें साक्षी है। आचार्य की आयु बत्तीस वर्ष ही की रही यह निश्चित है। उन्होंने पूरे भारत वर्ष में बौद्ध धर्म को समाप्त कर सनातन धर्म का डंका बजाया था। चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना की थी। इसके लिये सोलह वर्ष का जो समय रहा वह अत्यन्त न्यून ही कहा जायेगा। अतः उससे पूर्व ही भाष्य रचनादि कार्य हो चुका होगा। चार वर्ष तक भाष्य रचना का समय तो अत्यन्त न्यून है। जिन भाष्यों को पढ़ने में आज जिंदगी पूरी लग जाती है। शेष

बारह वर्ष सर्वशास्त्राध्ययन के लिये और वेदाध्ययन के लिये मानना ही पड़ेगा। क्योंकि भाष्यों में समग्र वेदशास्त्र का सार भर दिया है। अतः "अष्टवर्षे चतुर्वेदी" यह यथार्थोक्ति ही हो सकती है। परन्तु उसकी संभावना किस प्रकार ? वही उत्तर—"पूर्वाभ्यासेन" और "नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति"। इसी अपूर्व बुद्धि एवं कार्य कलापों को ही देखकर साक्षात् कैलासवासी शंकर का ही अवतार माना। यद्यपि अवतार बाद में प्रश्न नहीं उठता कि इतने जल्दी कैसे पढ़ गये। तथापि पूर्वमीमांसानुसार उस वाद को न मानने पर क्या उत्तर होगा यह भी सोचना असंगत नहीं होगा। उस वाद में तो पूर्वकृत अभ्यासादि वश परम तत्त्वज्ञानी होने से "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" के अनुसार शिव स्वरूप आचार्य को माना यही उत्तर आ सकता है।

स्वामी मधुसूदनजी की कथा पूर्वाभ्यास के अभिक्रमनाशाभाव में स्पष्टतर उदाहरण है। वहाँ तो अवतारवाद के लिये गुंजाईश भी नहीं है। मधुसूदन सरस्वती के महात्मा बनने से पहले की बात है कि वे बंगदेशीय थे। उनके माता पिता बंगाल के रहने वाले थे। वे जब मधुसूदनजी चार साल ऊमर के थे तब तीर्थयात्रा करते हुए काशी आये। साथ में बालक मधुसूदन भी था। जहाँ कहीं संतों का आश्रम हो वहाँ वे दर्शनार्थ जरूर जाते थे। तभी तो मधुसूदन जैसे का जन्म उस वंश में हुआ। अस्सी घाट में एक सुन्दर आश्रम है। वहाँ वे पहुँचे। बड़े-बड़े संत उस समय वहाँ रहते थे। उनके दर्शनार्थ वे वहाँ पहुँचे। संतों को देखकर उनके मनमें अपार आनन्द हुआ। क्योंकि वे महात्माओं को भगवान मानते थे। संत भी ऐसे ही थे। अपनी निष्ठा में रहते थे। वहाँ एक चौकी पर एक कपड़े में बँधी हुई वस्तु पड़ी थी। वह एक पुस्तक थी। बालक मधुसूदन ने देखते ही उसे उठाया और अपने बगल में दबाया। इतने में माँ की दृष्टि उस पर पड़ी तो दौड़कर आयी

और बालक के हाथ से छुड़ाकर वहाँ रखवाने लगी—यह कह कर कि बेटा, महात्माओं की चीज नहीं उठानी चाहिये। यह भगवान की चीज है। अपने उठायेंगे तो पाप लगेगा। परन्तु बालक ने उसे नहीं दिया। जबंदस्ती छुड़ाना चाहा तो जोर से रोने लगा। कहा—मैं नहीं दूँगा। यह मेरा है। इतने में विश्वेश्वर सरस्वती वहाँ पहुँचे। वे बड़े दयालु थे। बड़े प्रेम से कहा—बेटा! इसे क्यों उठा ले जाना चाता है? बालक ने कहा—यह मेरा है। विश्वेश्वर सरस्वती ने पूछा—यह क्या चीज है? पुस्तक है—बालक का उत्तर था। पुस्तक तो थी ही। विश्वेश्वर सरस्वती को कुछ कुतूहलता हुई। पूछा—कौनसी पुस्तक है? बालक ने कहा—गीता है। विश्वेश्वरजी को बड़ा आश्चर्य हुआ। कपड़े में लपेटी हुई पुस्तक को बालक ने कैसे समझा कि यह गीता है। और सचमुच में वह गीता ही थी। महात्मा ने कहा यह तेरी पुस्तक कैसी? तुम्हारा इसमें क्या है? बालक ने कहा—इसमें मैंने भक्तियोग तक टीका लिखी है। उसको पूरी करनी है। बच्चे के शब्द सुनकर महात्मा रहस्य समझ गये। इतना सही सही कौन कह सकता है? कुछ साल पहले जो एक संत समाधिस्थ हुए थे उनकी उसमें भक्तियोग पर्यन्त टीका लिखी हुई थी। वे ही पुनः जन्म लेकर आये हैं। बाद में वह बालक माता-पिना के साथ नहीं गये। उसी आश्रम में रहकर अध्ययनादि किया और श्री विश्वेश्वर सरस्वती से ही संन्यास दीक्षा भी ली। उसी टीका को आधार करके फिर उन्होंने संपूर्ण गीता पर टीका लिखी। वही आज मधुसूदनी टीका नाम से प्रसिद्ध है। यही "विनायकानीकपमूर्धसु" का मतलब है कि मरणोत्तर भी पूर्वाभ्यास नहीं जाता उसी आशय से यहाँ नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति बताया।

प्रत्यवायो न विद्यते। इस योग बुद्धि में अर्थात् कर्मयोग में छोटी मोटी त्रुटि रहती आदि हो जाय तो उसका प्रत्यवाय नहीं

होता। सकाम कर्म में गलती होने पर प्रत्यवाय लगता है। उसके लिये प्रायश्चित्त करना जरूरी होता है।

"श्यावोऽस्याहुतिमभ्याहरति य उदेति जुहोति"

उदय से पहले हवन करने का संकल्प किया किन्तु करते करते उदय हो गया तो वह आहुति देवता तक न पहूँच कर श्याव नाम के राक्षस के मुँह में पड़ेगी इत्यादि प्रत्यवाय श्रुतियाँ सकाम कर्म में ही विशेष रूप से लगती है। वैसे तो निष्काम कर्म भी सकामवत् ही बिना गलती, बिना नियम भंग करना चाहिये। निष्काम कर्म का अर्थ यह नहीं कि मनमानी करो। एक डॉक्टर निष्काम भाव से दवा इंजेक्शन देने लगा इसका मतलब यह नहीं कि लापरवाही में गलत दवा इंजेक्शन देने लग जाय। अल्पभूल क्षन्तव्य होती है, इतना ही तात्पर्य है। घर में नौकर है अच्छा पगार उसको दिया जा रहा है। मित्र मण्डली की चाय पार्टी में वह तश्तरी में चाय रखकर ला रहा था। तश्तरी नीचे गिरी। कांच के बरतन टूट गये तो आप क्या करेंगे ? डाटेंगे फटकारेंगे। तनखा काटेंगे या काटने की धमकी देंगे। क्यों ? वह काम करने का पगार लेता है। एक दूसरे समय नौकर घर में नहीं था तो मित्रों में से एक चाय बनाकर ला रहा था और तश्तरी हाथ से गिर पड़ी तो ? आप दौड़ दौड़कर पहूँचेंगे। क्या आप डाटेंगे फटकारेंगे ? नहीं। प्रथम यही घबराकर पूछेंगे कि कहीं कांच का टुकड़ा हाथ में पाँव में तो नहीं लगा ! क्या ऐसा कहेंगे कि तुम्हारे घर में आकर मैं इसका पैसा वसूल करूँगा ? नहीं। क्यों ? वह निष्काम भाव से सेवा में रत था, गलती हो गयी। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि निष्कामता में घर ही फूँक डालो। अति सावधानी से करने पर भी जो गलती होती है उसकी क्षमा होती है। इसलिये प्रार्थना में

यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत्।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर॥

इतना ही कहा जाता है। न कि श्लोको भ्रष्टः। अक्षर छूटा, एकाध पद छूटा इतना हो सकता है। इतनी तो भूल है। उससे अधिक तो ठीक नहीं। इसी बात को यहाँ "प्रत्यवायो न विद्यते" इस अंश में कहा। बल्कि निष्कामता में कर्म में अधिक सुन्दरता आनी चाहिये। घर में एक बहू भी काम करती है, एक नौकरानी भी काम करती है। नौकरानी तो केवल विधि पूरी करेगी। बहू कार्य पूरा करेगी। नौकर रसोई बनावे और बच्चों की माँ रसोई बनावे, दोनों में जमीन आसमान का फरक आ जाता है। नौकर रोटी दाल बनायेगा तो उसमें कुछ कचड़ा पड़ जाय तो उसको परवाह नहीं होगी। किन्तु माँ का कण कण में ध्यान जायेगा। पानी गरम कर पीना है तो नौकर को काम न करना हो तो कह देगा, गरम किया ठंडा हो गया। माँ ऐसा नहीं कर सकती। बच्चे बीमार न हों यह फिक्र उसको होता है। विधि पूरी करना जैसे तैसे यह नौकर का काम। कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न करना घर वालों का काम। पूजा करने के लिये बैठो तो शक्कर या शक्करदाना कुछ भी रखकर भोग लगाने से मतलब। पानी चढ़ाया। पोंछो न पोंछो। किन्तु भक्त प्रेमी जहाँ पूजा में बैठेगा वह इतने से छुट्टी नहीं कर सकता। तात्पर्य यह कि निष्काम कर्म का अर्थ लापरवाही से कर्म करना नहीं किन्तु पूर्णतया सुचारू रूप से उसे सम्पन्न करना है। उसमें कुछ भूल हो जाय तो तब की बात है—'प्रत्यवायो न विद्यते'—प्रत्यवाय नहीं लगता।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्। निष्काम कर्म योग भले चिनगारी हो। किन्तु बुजने की संभावना हो तब उसका मूल्य नहीं रहता। बुझना नहीं है तो कभी भी वह सुलगकर दावानल रूप धारण करेगा और संसार कानन को जलाकर भस्म करेगा। 'महतो भयात्' का अर्थ है—समग्र संसार भय से त्राण पाना। इसका भी क्रमिक विकास वर्णन अग्रिम श्लोकों में स्पष्ट होगा ॥४०॥

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ।। ४१ ।।

[हे अर्जुन, इस योगमार्ग में व्यवसायात्मक बुद्धि एक होती है। अव्यवसायियों की बुद्धि अनन्त होती हैं और अनन्त भेदवाली होती हैं ।। ४१ ।।]

तीन प्रकार की बुद्धि होती है। एक कर्त्तृत्व भोक्तृत्व उभय-युक्त बुद्धि है। दूसरी बुद्धि वह है जिसमें कर्त्तृत्व है किन्तु भोक्तृत्व नहीं है। तीसरी बुद्धि है जिसमें कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही नहीं होते। जिन में कर्त्तृत्व भोक्तृत्व दोनों नहीं वह सांख्य बुद्धि है। जिसमें केवल कर्तृत्व है भोक्तृत्व नहीं उसे योग बुद्धि कहते हैं। जिसमें कर्तृत्व भोक्तृत्व दोनों है उसको अव्यवसायी कहते हैं। संक्षेपतः कहना हो तो एक व्यवसाय बुद्धि होती है दूसरी अव्यवसाय बुद्धि होती है। व्यवसाय बुद्धि दो प्रकार की होती है। एक सांख्य बुद्धि है और दूसरी योग बुद्धि है। अव्यवसाय बुद्धि के दो भाग हो सकते हैं, एक शास्त्रीय और दूसरी अशास्त्रीय। ध्यान रहे कि सांख्य में भी कर्म आ गया था—"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" 'सुखदुःखे समे कृत्वा' 'युद्धाय युज्यस्व' इत्यादि वचन सांख्य प्रकरण में आया है। वह कर्म कर्त्तृ भोक्तृभाव रहित है। और सभी जो योगबुद्धि बतायी जायेगी वह भोक्तृभाव रहित होगी और उसी को उपस्थित करने के लिये कर्त्तृत्व भोक्तृत्वमय सहित बुद्धि की अपकृष्टता बतानी है। अतःप्रथम तदर्थ ही ये चार श्लोक हैं जिनमें प्रमथ श्लोक व्यवसाय बुद्धि और अव्यवसाय बुद्धि का विवेचक है।

व्यवसाय का अर्थ यहाँ व्यापार व्यवसाय नहीं है। कुछ लोग व्यवसाय का निश्चय अर्थ करते हैं। परंतु निश्चय बुद्धि एक है

अनिश्चय बुद्धि अनन्त है ऐसा अर्थ कुछ मतलब प्रकट नहीं करता। निश्चय बुद्धि भी अनेक हैं अनेक शाखा वाली हैं। अतः यहाँ पर व्यवसाय का कुछ अन्य ही अर्थ है। अवसान और अवसाय ये दोनों ही धातु के रूप हैं। जिसका विशेष रूप से अवसान—पर्यवसान होता है वह व्यवसाय बुद्धि है। जिसकी कहीं पर्यवसान नहीं, परिसमाप्ति नहीं वह अव्यवसाय बुद्धि है। अव्यवसाय का ही तात्पर्यार्थ है—अनन्ताः, अन्त रहित ही अनन्त है। न कि असंख्य। जिसका अंत नहीं, सीमा नहीं वह अनन्त है। यही सकाम बुद्धि कहलाती है। जिसका अन्त नहीं और पर्यवसान भी नहीं। पर्यवसान नहीं का मतलब है जिसका कोई ऐसा सुदृढ़ शाश्वत लक्ष्य नहीं है, जहाँ जाकर टर्मिनस हो जाय—इति श्री हो जाय। काम का ही दूसरा स्वरूप भोक्तृत्व है। प्रथम उस भोक्तृत्व रूपी काम या अव्यवसाय को ही समझा जाय उसके बाद फिर व्यवसाय को देखें।

मन में अनेक विध कामनायें होती हैं। जिनको लेकर मनुष्य प्रवृत्ति करता है। जो चेष्टा दीखती है यह सब कामना का ही परिणत रूप है। इसलिये शास्त्रों में कहा—**"सर्वं कामस्य चेष्टितम्"** समस्त चेष्टायें काम से ही होती हैं। कामनायें लौकिक भी होती हैं शास्त्रीय कामना वह है जो शास्त्रोक्त कार्यानुष्ठान से प्राप्त करना चाहते हैं। लौकिक काम वह है जो लौकिक कर्मानुष्ठान से प्राप्त करना चाहते हैं।

'अशनं मे वसनं मे जाया मे बन्धु वर्गो मे'

यही लौकिक कामना है। इस कामना का कोई चरम लक्ष्य नहीं है। ऐसा नहीं है कि एक बार भोजन मिला तो हमेशा के लिये तृप्त हो गयी। वस्त्र मिला तो हमेशा के लिये तृप्ति हो गयी। यह अनन्त है। क्योंकि ये सभी विषय सान्त है सतिशय है। इसी का स्वरूप पञ्चदशाध्याय में है

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

क्या इसका भी कभी अन्त होने की आशा की जा सकती है। आज मुझे इतना मिला और आगे हमको इतना मिलना है। हमारे आश्रय में एक आदमी रहता था। नौकरी करने जाता था। एक जगह देखा दो महीना काम करके। संतोष नहीं हुआ तो दूसरी जगह। वहाँ से तीसरी जगह। कितनी जगह उसने नौकरी की और छोड़ी। अन्त में आश्रम में से भी चला गया। एक व्यापारी को देखा। कुछ दिन चाय की दुकान चलायी। फिर कुछ दिन ट्रक कार आदि के पूर्जे बेचता रहा। थोड़े दिन तक कपड़े की छोटी एक दुकान खोली। यह सब कामना के बिखर जाने का ही लक्षण है। महत्त्वाकांक्षा पूरी न होने पर कामना फैल जाती है। जैसे एक पेड़ है। वह ऊपर की ओर सीधा बढ़ता जा रहा है। किन्तु ऊपर से किसी ने तोड़ दिया यो टूट गया तो नीचे से कई टहनियाँ फूट पड़ती हैं। यही स्थिति कामना की भी है। यहाँ मुख्य टहनी टूटने पर तो नाना टहनियाँ होती ही हैं। उसके बिना भी कभी महत्त्वाकांक्षा बढ़ने पर बहुशाखा हो जाती है।

यह लौकिक कामना का उदाहरण है। यही वैदिक कामनाओं की भी स्थिति है। कभी शंकर की मनौतियाँ की जा रही हैं तो कभी विष्णु की। कभी कृष्ण की और कभी राम की। फिर कभी गणपति दादा की। पहले जमाने में तो यह बहुशाखा और अनन्त होती थी। धन की कामना से लक्ष्मी की उपासना चलती थी। विद्या की कामना से सरस्वती की। यह देवीयों की स्थिति है। देवताओं में धन की इच्छा से शंकर बाबा की उपासना करते थे और मोक्षेच्छा हो तो विष्णु की। ऐसा क्यों? इस पर वल्लभाचार्य निबन्धग्रन्थ में लिखा है कि विष्णु को अधिक प्रिय लक्ष्मी है अतः वे लक्ष्मी को नहीं देते। मोक्ष फालतू वहाँ पड़ा रहता है, उसे देते हैं

और शंकर विरक्त बाबा है उनको लक्ष्मी नहीं चाहिये तो वे लक्ष्मी देते हैं। महिम्नः स्तोत्र में शंकर को समृद्धि दाता बताया है—

महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्मफणिनः
कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम्।
सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भ्रूप्रणिहितां
न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति ॥

स्वयं तो शंकर भगवान वाहन के लिये रथ, विमानादि नहीं, एक बूढ़ा बैल मात्र रखते हैं। आयुध के रूप में भी गृष्टितोमरादि न रखकर खट्वांग और परशु रखते है, जिसमें कभी लकड़ी काटने-को भी काम आ जाय और इधर खट्वांग से आवश्यकता पड़ने पर खटिया भी बना लें। पहनने के लिये दिव्याम्ब्रादि नहीं, बाघांबर धारण करते हैं। और देवता तो शरीर में नाना लेप लगाते है, शंकर भगवान तो भस्म धारणा करते हैं। अन्य देवताओं ने दिव्य सुगन्धि संपन्न हार पहन रखा है, शंकर के पास साँप है। उनको सर्प नहीं काटते थे क्योंकि हलाहल पान पहले कर रखा था। साँप काटे तो वही मर जाय ऐसी बात है। बरतन के लिये शंकर के पास सोने चाँदि का बरतन नहीं, पीत्तल और मिट्टी का भी नहीं, कपाल-खोपड़ी रख छोटी है। स्वयं इस प्रकार विरक्त हैं। परंतु उनके पूजक तो मालोमाल होकर आनंद लूट रहे हैं। कैसी वह श्री है—"भवद्भ्रूप्रणिहिताम्"। शंकर भगवान को उपासना से धन मिलता है और "ज्ञानमिच्छेत्तु शंकरात्" बताया है। तदनुसार ज्ञान भी मिलता है। अस्तु। इस प्रकार इस ढंग से अनेक विध कामना होने से अनेक अनेक देवताओं की पूजा लोग करते हैं। परवर्ती वैष्णवों ने सोचा, इस प्रकार दूसरे देवों की पूजा लोग करते हैं तो उसको कैसे रोके। तो उन्होंने भगवान से प्रमाण ढूंढ़ निकाला और प्रचार किया—

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषोत्तमम्॥

मन में कोई भावना न हो तो भी पुरुषोत्तम का भजन करो और सर्व कामना हो तो भी पुरुषोत्तम का भजन करो और मोक्षेच्छा हो तो भी वही करो। परंतु उसका परिणाम अच्छा निकला ऐसा नहीं कहा जा सकता। अकामः सर्वकामः इत्यादि प्रमाण तो ठीक है। परंतु वह वेद मन्त्र में आये हुए इस वाक्य के समान है कि—**"सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासौ"** समस्त कामना पूर्ति के लिये दर्श पूर्णमास करो। क्या कारीरी आदि का परित्याग किया जाय? हुआ ऐसा ही। उसका परिणाम फिर कामना पूर्ण न होने से लौकिक उपायों पर निर्भर रहने लगे। कामना तो हटी नहीं। किन्तु वैदिक मार्ग छोड़ा तब कोई न कोई मार्ग सामने आना ही था। वह व्यापारादि मार्ग हुआ।

यह बात सही है कि अनेक देवतोपासना की अपेक्षा एक देवोपासना हो! किन्तु शर्त होनी चाहिये कि कामना का भी शनैः शनैः परित्याग हो। भिन्न भिन्न कामनाओं में फँसकर देवताओं का पूजन छोड़ दें तो केवल लौकिक मार्ग ही रह जायेगा। रोहिदास एक बड़े भारी भक्त हुए। जाति के तो वे शुद्र थे। किन्तु बड़े ज्ञानी हुए। पास में एक ब्राह्मण रहता था। ब्राह्मण अनेक देवताओं को भजता था। सुबह चार माला गणेशजी की, चार माला अम्बा माता की। फिर चार माला शंकर की और चार माला विष्णु की। चार माला वशीकरण मन्त्र की चार माला अन्नपूर्णा देवी की। इस प्रकार कम से कम पचीस तीस देवताओं की वह पूजा करता था। उतने ही फोटो और मूत्ति भी रखे हुए थे। सबके आगे बैठ बैठकर वह जप तप करता था। रोहिदास रोज देखते थे। कुछ उपदेश करना उचित नहीं था। क्योंकि उस समय शूद्र ब्राह्मण को उपदेश दे यह उलटा माना जाता था। रोहिदास ने क्या किया-

दोनों के घर के बीच खाली जमीन पड़ी थी। उसमें रोज एक-एक खड्डा खोदना शूरू किया। ब्राह्मण ने पूछा—इतने सारे खड्डे क्यों खोद रहे हो ? रोहिदास ने कहा—काम है। इतने में वर्षा का समय आया तो सब खड्डे भर गये। फिर ठंडी का समय आया तो खोदना शूरू किया। ब्राह्मण ने पूछा—क्यों उतनी मेहनत करते हो। रोहिदास ने कहा—मैं कुंआ खोद रहा हूँ पानी के लिये। ब्राह्मण ने कहा—पानी के लिये एक खड्डा खोदना चाहिये। यह क्या पच्चीस पचास खड्डे खोद रखे हैं। बरसात में बालू मिट्टी आकर वह भर गया। फिर दुबारा खोदना शूरू इस प्रकार जिंदगी भर खोदते रहोगे तो भी पानी निकलेगा। पचास खड्डों की अपेक्षा एक खड्डा खोदो तो तुम अकेले हो फिर भी साल छः महीने में पानी निकल आवेगा। रोहिदास ने कहा—मुझे क्या मालूम था कि आपकी उपासना के समान मेरा खड्डा खोदना भी होगा। ब्राह्मण पूछा—मेरी उपासना कैसी ? रोहिदास ने कहा—जैसे आप पचीस देवताओं को पूजते हैं और असफल होते हैं उसकी अपेक्षा एक देवता को भजते तो सफलता मिलती। वैसे मैं भी पचास गढ्ढे न खोदकर एकही गढ्ढा खोदना तो सफल हो जाता। अच्छा चलो कल से वैसा ही करेंगे। ब्राह्मण को अपनी भूल का आभास हो गया। उसने अब एक ही देवता की पूजा करना प्रारंभ किया। अन्य देवताओं का तिरस्कार नहीं किया। उस मुख्य देव के अङ्ग के रूप में अन्य देवों को प्रणाम करने लगा। इससे भी आगे बढ़कर देखा जाय तो एकही परमात्मा ने युगपत् या क्रमेण अनेक रूप धारण किये। **"अनेकरूपरूपाय विष्णवे"** अनेक रूप धारी है वह विष्णु अर्थात् व्यापक चेतन। वही प्रभविष्णु है प्रकर्षेण भवति प्रभविष्णु। उपाधिवशात् अनेक रूप बन जाता है। अलग अलग देवी देवताओं को मानना अव्यवसाय है। क्योंकि अनेक देवताओं का पृथक्-पृथक् अस्तित्व मानने पर कोई उत्कृष्ट कोई

अपकृष्ट ऐसी अनेक धारणायें होंगी। उसका परिणाम फिर राग-द्वेषादि हैं। क्योंकि जिसको एक ने उत्कृष्ट माना उसे सभी उत्कृष्ट माने ऐसा नियम नहीं। दूसरा अपना उत्कृष्ट अलग बताने लगा तो प्रथम उससे द्वेष करने लगा। यही शिवविष्णु आदि को लेकर शैव वैष्णवों का झगड़ा है। यह सब अध्यवसाय ही है।

सद्‌गुरु के उपदेश के बिना, विकल्प नहीं मिट सकते। सद्‌गुरु के बिना तत्त्व निश्चय नहीं होगा। आजकल के बहुत सारे गुरु भी इसी अध्यवसाय में ही पड़े हैं। स्वयं अपने शिष्यों को रागद्वेष में डालते हैं। शिष्यों में बल्कि प्रथम समान भाव होता है। ये तथा-कथित गुरु लोग उनमें रागद्वेष पैदा करते हैं और फिर परस्पर विद्वेष में नष्ट हो जाते हैं। **"अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः"** यह वचन शत प्रतिशत इन गुरु शिष्यों में उतरना है। यह सब गुरुओं का काम नहीं। किन्तु स्वार्थी असत् पुरुषों का जीवन यापन धंधा है। ये गुरु नामधारी धनार्जन का एक तरीका मात्र इसे बनाया है। एक ही भगवान वेदव्यासजी ने अष्टादश पुराणों की रचना की। समस्त देवी देवताओं का उनमें वर्णन है। सबको सर्वोत्कृष्ट भी बताया है। कई आचार्यों ने तो अपने स्वीकृत देव में ही परम तात्पर्य सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है। परन्तु वह भी अन्य आचार्य के कथन से विप्रतिषिद्ध हो गया। वस्तुतः तत्त्व एक ही है। नामरूप ही भिन्न है। लोग अपनी सुविधा या रुचि के अनुसार नामरूप को भले चुन लें, परन्तु तत्त्व में भेद नहीं आ सकता। **"भिन्नरुचिर्हि लोकः"** लोगों की रुचि भिन्न होती है। तदनुरूप भगवान के नामरूप हैं। दीपावली आदि त्योहारों में भिन्न-भिन्न प्रकार की मिठाइयाँ बनाते हैं। किसी को लड्डू प्रिय है, किसी को जलेबी प्रिय है। कोई गुलाब जामुन चाव से खाता है। यह सब रुचि की बात है। मिठाई में मूलतत्त्व एक मीठास है। बाकी सब उपाधि हैं। छोटे बच्चे तो मिश्री को सबसे अधिक पसन्द करते

हैं। शक्कर मूलतत्त्व हुआ। कहीं नारियल उपाधि है, कहीं आटा, कहीं मैदा, कहीं मूंग। इन उपाधियों से नामरूप बदल गये। वैसे ही रसरूपी परमात्मा एक ही है।

"रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वा नन्दीभवति"

परमात्मा रसरूप है। उस रस से सारा जगत् रसवान् है। विष्णु शिवादि भी उसी से आनन्दरूप हैं। माया-प्रकृति उपाधि रूप में आती है तो कहीं सत्त्वगुण सम्मुख है, कहीं रजोगुण और कहीं तमोगुण। इसी भेद से नामरूप भिन्न हो गये। तत्त्व एक ही है। तत्त्व में कोई भेद नहीं है। इस रहस्य को जानने वाला विकल्प में नहीं पड़ता। सद्गुरु से यह रहस्य जब जानने को मिलता है तो उसकी बुद्धि व्यवसायात्मिका होती है। एक भक्त कहने लगा कि मैं विकल्प रहित हूँ। निर्विकल्प हूँ। कैसे ? एक कृष्ण को ही मैं मानता हूँ, दूसरा कुछ नहीं मानता। तुम शिव को मानते हो ? तब यह विकल्प हों गया। उसने कहा—न मानने से विकल्प क्यों हो गया ? विकल्प विरुद्ध कल्प को कहते हैं। रोटी को कपड़े को मानते हो कि नहीं ? मानता हूँ। तब कृष्ण से अतिरिक्त रोटी कपड़ा माना तो शिव को न मानने का अर्थ है 'शिव मान्य नहीं है' इस प्रकार मानना। अर्थात् वह अभाव रूप नहीं। भाव रूप हो गया। अतः वह विकल्प ही है। तब एक मान्यता कल्प कृष्ण को लेकर और दूसरा अमान्यता कल्प शिव को लेकर। यह विरुद्ध दो कल्प होने से विकल्प हो गया क्योंकि बुद्धि यहाँ एक नहीं अनेक है।

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढ़म्।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते॥

गौडपादाचार्य कहते हैं कि अपने-अपने सिद्धान्त को स्थापित करने में द्वैतवादी दृढ़ निश्चयी हैं। तब परोक्त निराकरण अवश्यं-भावी है। परस्पर विरोध ऐसी स्थिति में निश्चित है। तब विरुद्ध कल्पों का होना अनिवार्य है। यही विकल्प है। अद्वैतवाद में कोई

विकल्प नहीं है। द्वैत कल्पित होने से जैसी भी कल्पना कर लो। विरोध करने का मतलब ही नहीं रहता। रस्सी को किसी ने माला समझा। समझो। कल्पना से आप सब कुछ मान सकते हैं। उसमें क्या विरोध ? वैसे एक ही ब्रह्म है। उसमें भावना से कुछ भी मान सकते हैं। भावना व्यक्ति भेद से भिन्न है। परन्तु तत्त्व एक है। एक जगह हमने मूर्ति देखी। शैव कहते हैं त्रिशूलधारी शंकर हैं। वैष्णव उसे धनुषधारी राम मानते हैं। तत्त्व एक है। मूर्ति एक है। मान्यता मात्र पृथक है। अद्वैत में किसी के साथ विरोध नहीं है। किसी ने कहा—अद्वैत में भी तो द्वैत निषेध करना पड़ेगा तो विकल्प होगा ही। उत्तर है—द्वैत को कोई तत्त्व माने तब उसका निषेध हो। अद्वैत में केवल निष्ठा होती है। एक ज्ञान में अन्य सब अपने आप छूटेंगे। स्वयं व्यवसाय होगा। द्वैत में यह बात नही हो सकती। एक अपने इष्टदेव को ही मानने से होगा नहीं। अन्य द्वैत जो सत्य बैठा है। तब अनभीष्ट की अमान्यता भी करनी पड़ेगी। अतः अद्वैत निष्ठा ही व्यवसायात्मिका बुद्धि है। योगबुद्धि में निष्का-मता के साथ कर्म करने का अन्तिम परिणाम अद्वैतनिष्ठा ही है। अतः वह व्यवसायात्मिका है।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्। विकल्पों का कोई अन्त नहीं होता। विरुद्ध कल्पों में राग, द्वेष, मोह भय आदि सभी दोष क्रम से या एक साथ उपस्थित होते हैं। वे ही अव्यवसाय बुद्धि की बहुविध शाखायें हैं। इन राग द्वेषादि के कारण फिर अनेक प्रकार के विकल्प होते हैं इस प्रकार इसका कोई अन्त नहीं होता। अत एव ये अनन्त हैं। अद्वैत में शाखायें नहीं होतीं। द्वैत में ही शाखायें होती हैं।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।

एकत्वदर्शन होने पर क्या शोक हो और क्या मोह हो। ऐसा श्रुति कथन है। क्यों शोक और मोह नहीं ? मोह है 'अहमेतेषां

ममैते' इस प्रकार का अहंकार और ममकार। ये दोनों द्वैत में ही संभव है। 'अहं च एते च' ऐसा द्वैत भासेगा तब 'अहमेतेषां' ऐसा अहंकार मोह और 'ममैते' ऐसा ममकार मोह होगा।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति
तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं मनुते।

इत्यादि बृहदारण्यक में सविस्तार बताया है। इतरेतर भेद होने पर ही रागद्वेषादि प्रयोजक इतरेतर दर्शनादि होगा। अद्वैत-दर्शन में नहीं।

यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूतत्केन कं पश्येत्
तत्केन कं जिघ्रेत तत्केन कमभिवदेत्।

सर्वात्म दर्शन काल में पूर्वोक्त दर्शनादि नहीं होंगे। क्या सर्वत्र इतर दर्शन स्पर्शनादि नहीं होंगे ? यदि समाधि दशा हो तो सर्वथा दर्शनादि नहीं होंगे और व्युत्थान दशा भी हो तो भी आभास-रूपेण इतर दर्शन आदि होंगे। सर्वथापि रागद्वेषशोकमोहादि प्रयोजक दर्शनादि नहीं ही होंगे। अतएव द्वैतदर्शन प्रयुक्त मोहादि भी सार्वात्म्यदर्शन में नहीं होता। मोह द्वैतदर्शन में संयोग में होता है। शोक विप्रयोग में होता है यहीं विशेषता है।

'को मोहः कः शोकः' यह मुख्य ग्रहण मात्र है। मुख्य से अमुख्य सबका उपलक्षण होता है। रागद्वेषभयादि सभी उपलक्षणीय हैं। राग तब होता है जब द्वितीय अनुकूल रूप से उपस्थित होता है। द्वेष तब होता है जब द्वितीय प्रतिकूल रूप से उपस्थित होता है। भय तब होता है जब द्वितीय घातक रूप से संमुख होता है। अनपेक्षित द्वितीय सामने आता है तो घृणा ईर्ष्यादि होती है। एकत्व दर्शन होने पर शोक मोह के साथ इन सबका ही निरास होता है। अतएव शाखाओं के कट जाने से उसके परिणाम अनन्त संकल्प विकल्पादि भी नहीं होते। इन शाखाओं के रहने से इन पर फिर उपशाखायें होंगी। उन पर पत्र पुष्प अलग-अलग होंगे। फिर

फल लगेंगे। फलों से पुनः बीज तैयार होकर वृक्षान्तर शाखान्तर पल्लवान्तर पुष्पान्तर इस प्रकार धारा चलती रहेगी। कहीं भी उसका अन्त नहीं होगा। एक बड़ी सुन्दर कथा प्रसिद्ध है। एक वैरागी बाबा ने सोचा जंगल में जाकर तप करूँ। गांव से कुछ दूर में जंगल था। वहाँ एक फूस की कुटिया बनायी। अपने पास में और कुछ नहीं था। तुम्बी का एक कमंडलु ही था और सफेद स्वच्छ दो जोड़ी कौपीन। गोपीचन्दन और सिंदूर तिलक लगाने के लिये और एक दर्पण। मस्त होकर कुटिया में पड़े रहते थे। अन्य वस्तुओं के लिये तो कोई फिक्र नहीं रहा। किन्तु कोपीन के लिये समस्या आ गयी। एक दिन एक चूहे ने उसे काटा। बाबाजी को बड़ा अफसोस हुआ। इतना बढ़िया स्वच्छ कौपीन। उसको चूहे ने काटा। अब दूसरी जोड़ी पर भी अक्रमण होगा तो क्या होगा? गाँव में किसी से कहा तो उसने सलाह दी बाबाजी एक बिल्ली पाल लो। बाबाजी को बात जँच गयी। गाँव से एक बिल्लो को लाकर पालना शुरू किया। बिल्ली चूहे को मार खाती थी। किन्तु इतने चूहे नहीं थे जिससे उसका पेट भरे। बाबाजी ने कहा— इसको दूध कहीं से लाकर पिलाना चाहिये। कुछ दिन गाँव से माँग कर पिलाया। लेकिन बिल्ली के लिये दूध माँगना बुरा लगा। किसी ने कहा—आप जंगल में तो हैं ही। एक गाय को पाल लीजिये। जंगल मैं घास तो पर्याप्त मिलेगी। बाबाजी ने दूसरा झोंपड़ा बनाया। माँगने पर किसी ने खुशी से गोदान किया। दूध तो खूब मिलने लगा। किन्तु दूध निकालना छानी फेंकना सफाई करना घास काटकर लाना सभी तो टेढ़ी खीर हो गयी, किसी ने सलाह दी कि आप एक नोकरानी रख लीजिये। किन्तु उसको तनखा देने की समस्या जटिल हुई। एक ने सलाह दी कि आप बाबाजी हैं, किन्तु सफेद वस्त्र है, जनेऊ है, किसी लड़की से शादी कर लीजिये। गाँवों में गरीबों की संख्या बहुत होती थी। तो कोई लड़की देने को

तैयार हो गया। ब्याह हो गया। उसके पालन-पोषण के लिये अब माँग-माँग कर कहाँ पूरा करें, तो कुछ जमीन जोतना शुरू किया। फिर तो कहना ही क्या। धीरे-धीरे चार-पाँच बच्चे भी हो गये। अब उन सबके पालन-पोषण का फिकर लगा। आखिर अब इसका अन्त कहीं होगा ? यही "बहुशाखा ह्यनन्ताश्च"। लंगोटी के राग ने बाबा को कहाँ पहुँचाया ? ये ही राग शाखा हैं। इसी प्रकार द्वेष मोहादि भी शाखायें हैं। अव्यवसायी का मतलब है सकाम भाव से रहने वाले। उनकी बुद्धि में राग द्वेष शोक मोहादि अनेक विध शाखायें होती हैं। उनकी कहीं भी जाकर अन्त नहीं होता। अत एव यहाँ पर बुद्धि के विशेषण के रूप में 'अनन्ता' बनाया।

कर्मयोग तथा सांख्ययोग दोनों में व्यवसायात्मक तथा अव्यवसायात्मक बुद्धियाँ होती हैं। सम्यक् प्रमाण जनित हो तो वह व्यवसायात्मक होगी और सम्यक् प्रमाण जनित न हो तो अव्यवसायात्मक होगी। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु" इत्यादि कर्म में व्यवसाय बुद्धि है। "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि अव्यवसायात्मक बुद्धि है। जिसको "यामिमां पुष्पितां वाचं" से आगे कहेंगे। निरीश्वरसांख्योक्त बुद्धि सांख्य में अव्यवसायात्मक है। और 'वासुदेवः सर्वं', 'न जायते म्रियते वा' इत्यादि सांख्य बुद्धि व्यवसायात्मक है। अव्यवसाय बुद्धि से संसार अनुपरत रहता है। विस्तृत होता है। अतः उसे "बहुशाखा अनन्ताः" बताया ओर 'वासुदेव सर्वं' में पर्यवसान होने वाली बुद्धि से संसार बाधित होने से मोक्षावसायी है। अतः उसे व्यवसाय बताया। विशिष्टोऽवसाय अवसानं यस्य सः व्यवसायः जिसका अवसान है लक्ष्य है वह व्यवसाय है। अपर्यवसायी जो हो वह अव्यवसाय है। इसका भी विशिष्ट विवेचन अग्रिम श्लोकों में ही प्राप्त होगा ॥ ४१ ॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

[हे अर्जुन ! अनात्मदर्शी वेदों के फलवाद में दिलचस्पी रखने वाले और यह कहने वाले कि इससे बढ़कर और कुछ नहीं, जो यह पुष्पित वाणी बोलते रहते हैं·······॥ ४२ ॥]

भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र ने योग बुद्धि बताने की प्रतिज्ञा की—"योगे त्विमां शृणु"। उस योग बुद्धि को पूर्वश्लोक में व्यवसायात्मक बताया। व्यवसाय का अर्थ है जिसका पर्यवसान होता है—चरमलक्ष्य होता है और उससे विपरीत अव्यवसायात्मक बुद्धि "बुद्धयोऽव्यवसायिनां" से कहा। वह अव्यवसाय बुद्धि कौन है ? जिसका पर्यवसान नहीं, चरम लक्ष्य नहीं, वही सकाम कर्म बुद्धि है। उसी का प्रतिपादन करने के लिये यह श्लोक है।

वेदों में अनेक सकाम कर्मों का वर्णन आता है। कुछ ऐहिक वस्तु प्रापक हैं। और कुछ मरणोत्तर अर्थ प्रापक है। श्रीसूक्त, लक्ष्मीसूक्त आदि ऋग्वेद में आते हैं। इनका पाठ किया जाता है।

तां म आ वह जातवेदो लक्ष्मीमनपगामिनीम् ।
यस्यां हिरण्यं प्रभूतं गावो दास्योऽश्वान् विन्देयं पुरुषानहम् ॥
श्रीकामः सततं जपेत् ।

श्री की कामना हो तो सतत इसका जप करे। अनपगामिनी लक्ष्मी प्राप्त होगी। सुवर्ण, गाय अश्वादि की प्राप्ति होगी।

श्रीर्वर्चस्वमायुष्यमारोग्यमाविधात् पवमानं महीयते ।
धनं धान्यं पशुं बहुपुत्रलाभं शतसंवत्सरं दीर्घमायुः ॥

इत्यादि मन्त्रों में श्रीसूक्त जपादि का अनेक विधि फल बताया है। प्रथम यहीं फल तो चाहिए। धन नहीं हो तो क्या कार्य हो सकता

डकैती से धन कमाता है। जैसे तैसे भी हो, जो भी उपाय हो किन्तु लक्ष्य तो प्राप्त करना ही चाहता है।

इन साधनों को जो अपनाता है वह अपने संस्कार के अनुरूप ही उनको अपनाता है। और जिसमें निश्चयात्मकता एवं आशा बनी रहती है, जो सरल भी होता उस मार्ग को वह जल्दी पकड़ लेता है। श्रुति भगवती बड़ी दयालु है। उसने कामना को पूर्ण करने के लिये निश्चयात्मक एवं सरल उपाय बताया—श्रीसूक्त पढ़ो। यज्ञ दान करो। पुण्य करो तो निश्चय ही तुम्हारी कामना पूर्ण होगी। यह ऐकान्तिक साधन है। और यहाँ तक बताया कि यदि कर्म करने के बाद फल में विलम्ब हुआ या फलानुपपत्ति हुई तो बीच में कोई प्रतिबन्धक आ गया समझो अर्थात् किया हुआ कर्म विफल तो जायेगा ही नहीं। अवश्यमेव उसका फल मिलेगा।

क्या श्रीसूक्त पाठादि कर्म से अवश्यमेव धनादि फल प्राप्ति होती है? अवश्य ही। किन्तु गलती न हो, वैगुण्य न हो, यह ख्याल रखना पड़ेगा। पूजापाठ कर्म करने से फल अवश्यमेव मिलेगा। इसमें संशय नहीं। फल कदाचित् नहीं दिखाई पड़ता है तो उसमें दो कारण हो सकते हैं। एक प्रबल प्रतिबन्धक है। दूसरा कर्म वैगुण्य है। प्रतिबन्धक की बात हो तो उसके हटने तक की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। किन्तु कर्म वैगुण्य सह्य न होगा। कर्म तो विधिवत् करना होगा। पूजापाठ करो तो विधिवत् करो। आप पूजा करो तो मन्त्र बोल कर करो। मन्त्र बोल कर वस्तु समर्पण करो। **"मन्त्रैरेव अर्थाः स्मर्तव्याः"** ऐसी नियम विधि है। अर्घ्य-पाद्यादि आप भगवान को देते हैं तो मन्त्र बोल कर उन्हीं मन्त्रों से अर्थ स्मरण कर पूजन करना चाहिये। विधिवत् होना चाहिये। आप कहेंगे कि हम विधि नहीं जानते, मन्त्र नहीं जानते हैं तो? तो मन्त्र जानिये, विधि जानिये। नहीं जानता हूँ यह आपको माफी मिलने का साधन नहीं है। जानना ही चाहिये। आपको

परमेश्वर ने बुद्धि दी है तो उस वुद्धि का उपयोग कीजिये । एक गाँव का आदमी आया । अनजान था । वह टिकिट के बिना गाड़ी में चढ़ा । टीटी ने पकड़ा । उससे पूछा—क्यों नहीं टिकिट लिया ? उसने कहा—मैं जानता नहीं था कि टिकिट लेना है । क्या इतना कहने सें छुटकारा मिल जायेगा ? नहीं जानता था तो तो जानो । अभी दंड भरो । बाद में मालूम करके चढ़ो । कड़े अपराध का फल भले न हो लेकिन दण्ड भरना ही होगा । वैसे पूजापाठादि में भी है । भगवान कहते हैं—हमने वेदों में, शास्त्रों में विधि बताया है । तुम जानो उनको । विधि आदि के बिना जो भी कर्म किया जायेगा वह सफल नहीं होगा गीता में भी कहा है—

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥

यज्ञ का अर्थ केवल हवन ही नहीं है । पूजापाठादि सभी यज्ञ पदार्थ है । **"यजदेवपूजासंगतिकरणदानेषु"** ऐसा महर्षि पाणिनि ने अर्थ निर्देश किया है । यज का पहले अर्थ देवपूजा किया है । देव पूजन से शिव, विष्णु आदि का पूजन भी ग्राह्य है । देवता निमित्तक अहुति आदि भी ग्राह्य है । वह देव पूजन विधि पूर्वक होना चाहिये पूजा की अनेकविध विधि हैं । कलश स्थापन, प्राण, प्रतिष्ठा, आवाहन, अथापन, अर्घ्य, पाद्यादि विधियाँ हैं । उन विधियों के साथ देव पूजन करना चाहिये । उस पर शंकर कहेंगे—महाराज ! इतना सब तो हम नहीं ही जानते । उत्तर वही दुहराया जायेगा कि नहीं जानते तो जानो । प्रयत्न पूर्वक जानो । आप कहेंगे कि संतों ने हमें बताया है कि विधि जाने बिना भी पूजादि करो तो भी वह सफल है । व्यर्थ नहीं है । ठीक है लेकिन तामस होगा । मतलब यहाँ मूल प्रश्न उठेगा कि तुम कामना पूर्वक करते हो या निष्काम भाव से । यदि कामना पूर्वक करते हो तो तुम्हें विधि जाननी ही होगी । निष्काम हो तो बात अलग है । उसमें

"प्रत्यवायो न विद्यते" यह पूर्व में ही बता आये। परंतु निष्कामता संभव है क्या ? इस पर विचार तो करना ही पड़ेगा। क्यों, अभी हमने बताया—"सर्वं कामस्य चेष्टितम्"। तो पूजापाठ काम चेष्टित नहीं है क्या ? कामना पूर्वक जो है उसी पर हमारा विचार चल रहा है। वह तो विधिहीन नहीं ही होना चाहिये। तथा असृष्टान्न भी नहीं होना चाहिये। रोज आप भोग लगाते हैं या नहीं ? यदि नहीं लगाते हैं तो वह तामस माना जायेगा। भोग लगाइये फिर उसका वितरण भी कीजिये। ऐसा नहीं कि भोग लगाकर खुद खा गये। क्यों नहीं ? भगवान का प्रसाद है। खायेंगे ही। ठीक है। लेकिन प्रसाद तो आपको किसी ने दिया नहीं। आप खुद प्रसाद बनाकर खुद गप कर रहे हैं। यह नहीं चलेगा। भोग लगाकर औरों को भी प्रसाद वितरण कीजिये। बड़ा यज्ञ हो तो अतिथि महात्माओं को भिक्षा कराइये। अन्यथा 'असृष्टान्नं' तामस होगा। तीसरा बताया—"मन्त्रहीनम्"। पूजापाठ मन्त्रहीन न होना चाहिये। मन्त्र जरूर सीखिये बोलिये। अन्यथा यज्ञ तामस होगा। मन्त्र से ही पूज्य देवता एवं पूजा सामग्री का स्मरण करना चाहिये। कहेंगे कि यह सब इतना कठिन है कि फिर कोई पूजा ही नहीं करेगा। करेगा या नहीं करेगा यह सवाल अलग है। यहाँ होना कैसे चाहिये इस पर विचार चल रहा है। विधियों का संक्षेप विस्तार दोनों होते हैं। पदार्थ एवं प्रतिनिधि भी होते हैं। मन्त्रों में भी यही बात है। पूजा में इतना भी हो सकता है—"मूलमुच्चार्य, अर्घ्यादिकं समर्पयामि" बोले, मूल मन्त्र कहकर 'पाद्यं समर्पयामि' 'अर्घ्यं समर्पयामि' कहें। अधिक न हो तो थोड़ा जानना ही चाहिये। रसोईया है वह बहुत सारे पदार्थों को बनाना न भी जानता हो—लेकिन रोटी, दाल, भात, साग बनाना तो उसको आना चाहिये। उतना भी न आवे तो रसोईया किस बात का ? फिर थोड़ी बहुत गलती की माफी होती है। रसोईये ने रसोई

बनायी। एक दो रोटी जल गयी तो माफी हो सकती है। पूरी की पूरी रोटी जलाकर धर दें तो क्या आप भी उसे सहन करेंगे? थोड़ा नमक कम बेसी हो गया तो चलेगा। लेकिन चार गुना नमक छोड़ दिया तो काम चल सकता है क्या? यही बात पूजा-पाठ में भी है। कम से कम मूल मन्त्र तो सीखिये। अपने इष्टदेव के मन्त्र को तो अच्छी तरह सीखिये। उसमें भी कसर न रहना चाहिये। मूल इष्ट मन्त्र को अच्छी तरह से उच्चारण करने का अभ्यास कीजिये। ऐसा न हो कि मूल ही जानते हैं, सो भी गलत। **"मन्त्रहीनः स्वरतो वर्णितो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह"** चाहे वह मन्त्र छोटा हो या बड़ा। उसके साथ जोड़कर उपचारों को बोलिये। और गलती कम से कम हो एतदर्थ प्रयास करना ही चाहिये। चतुर्थ बताया है "अदक्षिणम्"। दक्षिणा के बिना पूजन करना भी तामस है। मन्त्र बोलकर दक्षिणा समर्पण कीजिये—

"हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्"

इत्यादिमन्त्र बोलकर 'द्रव्यदक्षिणां समर्पयामि' कहते हुए दक्षिणा समर्पण रोज करो। फिर ऐसा नहीं कि रुपया अठन्नी चढ़ाकर फिर वापिस अपेने ही जेब में उठाकर रख दिया। ऐसे फिर रोज सौ रुपये चढ़ाने में भी तकलीफ नहीं होगी। जो आप प्रतिदिन रुपया आठाना, दस पैसा, पाँच पैसा, चढ़ावे उसे निकालकर अलग रखिये। फिर इकठ्ठे होनेपर जो उसका अधिकारी हो उसे प्रदान कीजिये। किसी मंदिर में ले जाकर चढ़ाइये। गोशाला में दीजिये। संत महात्मा को दीजिये, कोई रास्ता नहीं तो गरीबों को दीजिये। इस प्रकार दक्षिणा प्रदान करना भी आवश्यक है। अन्यथा यह तामस होगा। "श्रद्धा-विरहितं" यह अन्तिम है। श्रद्धा तो हर प्रकार से होनी चाहिये। संशय से कोई कार्य मत करो। श्रद्धा से करने पर ही सफलता है।

इन पाँच बातो पर ध्यान न दिया तो वह कर्म तामस होगा। तामस का मतलब यही है कि जैसा होना चाहिये वैसा नहीं होगा।

देखा कि दूर दरवाजे के अन्दर जाना हो तो कर (टैक्स) देना पड़ेगा । उसने निश्चय किया कि टैक्स दिये बिना ही अंदर जाऊँगा। कोई दूसरे मार्ग से अन्दर प्रवेश करूंगा । संध्या का समय हो चुका था । बाहर चारों ओर कुछ सड़कें बनी थी । रातभर उन सड़कों पर बेचारा चलता रहा, भटकता रहा । प्रातःकाल जाकर कहीं उसको रास्ता दिखाई पड़ा । उसको भारी खुशी हो गयी कि यह दूसरा मार्ग मिल ही गया । जब वह दरवाजे पर पहुँचा तो आँख फाड़कर रह गया । क्योंकि वह वही दरवाजा था । जहाँ टेक्स देना है । रात में घूमने से उसको दिग्भ्रम हो गया था, क्योंकि रास्ता गोल गोल था । पूर्व पश्चिम का ख्याल नहीं रहा । रातभर भटकने से लाभ तो कुछ हुआ नहीं । ऊपर से भटकने की मेहनत हो गयी, टेक्स भी भरना पड़ा । इसी को 'घट्टकुटीप्रभातवृत्तान्त' कहते हैं । यही स्थिति सकाम कर्मियों की है । आज सकाम कर्म किया । उसके पुण्य से पूर्व संचित पाप मिलाकर जन्म मिला। वहाँ सुखभोगा । पुण्य क्षय होने तक अच्छे-अच्छे जन्म भी मिलते रहे । किन्तु प्रबल पुण्य का अन्त हुआ तो फिर वापिस उसी स्थान पर आ गये जहाँ हम स्वर्ग कामना या सुख कामना पहले करते रहे । तब इन पुण्यों का हमारे व्यक्ति जीवन में क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? उसी घट्टकुटी में वापिस आना पड़ा । अत एव इसे अपर्यवासी कहते हैं । यह अव्यवसाय बुद्धि है ।

यह दोष निष्काम में नहीं है क्या ? नहीं है । कारण ? यहीं कि सकाम कर्म फल भोग से नष्ट होता है । "भोगेन क्षपयित्वा" भुक्त्वा "स्वर्गलोकं विशालं क्षिणे पुण्ये" इत्यादि वचनों में यह स्पष्ट है कि फल भोग से पुण्यक्षय होता है । अतः पूर्वस्थिति वापस आ जाती है । निष्काम कर्म की बात ऐसी नहीं है । उसका क्षय नहीं होता । वह आखिर किनारे पहुँचा कर ही रुकेगा । "नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति" यह पहले कहा गया है । योगबुद्धि में निष्काम कर्म का जो

अभिक्रम हुआ उसका नाश नहीं होता। क्योंकि निष्काम कर्म का फल स्वर्गादि नहीं है, धनादि नहीं है, कि फलभोग से वह क्षीण हो जाय। फिर क्या निष्काम कर्म का कभी नाश नहीं होता? कभी नाश नहीं होता यह हम नहीं कह रहे। उसका अपना जो फल है वह प्राप्त होने पर वह खतम होगा। उसक फल है तत्त्वसाक्षात्कार। श्रुति ने यह स्पष्ट रूपेण प्रतिपादन किया है—**"विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन"** शंका हो सकती है कि विविदिषा पैदा करके कर्म नष्ट हुआ। किन्तु परा ज्ञान न हुआ तो निष्काम कर्म भी फिर अव्यवसाय क्यों नहीं होगा? उत्तर यह कि फिर तत्त्व-साक्षात्कार किससे होगा? तत्त्वसाक्षात्कार के लिये भी तो पुण्य चाहिये। वह सर्व पुण्य का फल है। जो भी आपने पुण्य कर्म किया सबका चरम फल तत्त्वक्षासात्कार है।

"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"

इस वाक्य का ऐसा अर्थ विवरणकार ने माना है। फिर यज्ञादि कर्म विविदिषा पैदा कर चुप नहीं होगा फलोपधायक विविदिषा को पैदाकर ही वह उपराम होगा। किसी भी प्रकार वह व्याख्या करो किन्तु यह तो निश्चत है कि वह व्यवसाय ही होगा। अव्यवसाय नहीं हीगा। अत एव सकाम कर्म अव्यवासायात्मक होने से मुमुक्षूपादेय नहीं है।

किन्तु इतनी विवेचना के बाद भी प्रश्न अपने केन्द्र बिन्दु पर ही फिर आ खड़ा हो गया है। फिर इस घट्टकुट्टीप्रभात वाले सकाम कर्म का विधान वेदों ने किया क्यों? इसी के उत्तर में भगवान कह रहे हैं—**"पुष्पितां"**। यह वाणी सफल नहीं है यह बात निश्चित है। परन्तु पुष्प तक तो पहुँचेगी ही। एक जगह है जहाँ कचरे की दुर्गन्ध आती है। गहर बह रहा है। अशिक्षित लोग गन्दा कर रहे हैं, रहने वाले भी आपस में झगड़ रहे हैं, मार-पीट हो रही है, हत्या हो रही है, चाण्डालवीथी भी बन रही है।

दूसरी एक जगह है जहाँ बगीचा लगा है। हरी-हरी घास है, पुष्प खिले हुए हैं। फुहारे चल रहे हैं। लोग बेंच पर बैठकर सुगन्धि का आनन्द ले रहे हैं, मस्त हो रहे हैं, कोई झगड़ा नहीं, कलह नहीं। कौन सी जगह अच्छी ? खाने को तो बगीचे में नहीं मिल रहा है। चाण्डालवीथी में भी नहीं मिल रहा है। फिर भी कौन जगह अच्छी ? कहाँ बैठना अच्छा ? कैसी जगह बनाने का प्रयास होना चाहिये ? उत्तर बिल्कुल ही स्पष्ट है। चाण्डालवीथी में तो स्वास्थ्य का कोई अवसर ही नहीं है। किन्तु वाटिका में खाने को भले न मिले, फिर भी कभी भी प्रयास करके कराने का इन्तजाम हो सकता है। आगे बढ़ने का वहाँ अवसर है। अतः चाण्डालवीथी की अपेक्षा पुष्प वाटिका अच्छी ही है।

बहुत से लोग गीता के यथार्थ को विपरीत करने की भी कोशिश करते हैं। अनेक व्याख्याओं में हमने देखा है कि भगवान कृष्ण क्रान्तिकारी थे। वे वेदों को पूरा महत्त्व नहीं देते थे। यहाँ "वेदवादरता" जैसे शब्दों का प्रयोग कर भगवान ने वेदों का उत्कर्ष अस्वीकार किया। "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" यहाँ अर्जुन को वेदों से आगे बढ़ने के लिये बताया। "नाहं वेदैर्न तपसा" "वेदेषु यज्ञेषु तपःसु" इत्यादि रीति जगह-जगह वेदों का अपकर्ष ही दिखाया इत्यादि। परन्तु उन लोगों ने "यस्तं वेद स वेदवित्" "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इत्यादि स्वीकारोक्ति पर ध्यान नहीं दिया। वेदों में सकाम कर्मों का वर्णन है यह बात स्पष्ट ही है। सकाम कर्म को तो भगवान ने महत्त्व नहीं दिया, यह भी स्फुट है। वेद यथावस्तु वादी है। जैसी वस्तुस्थिति है उसी का वर्णन वेद करते हैं। जैसे आयुर्वेद है। वहाँ वस्तु स्थिति का वर्णन है। गुण-दोष निरूपण वहाँ है। जो है उसका वर्णन है। आयुर्वेद में लहसुन को महौषधि बताया है। इसको सुनकर लहसुन न खाने वाला सनातनी कहेगा, यह कैसा शास्त्र है, जो अखाद्य वस्तु की प्रशंसा कर रहा है।

अन्नाद्दशगुणं पिष्टं पिष्टाद्दशगुणं पयः।
पयसोऽष्टगुणं मांसं मांसाद्दशगुणं घृतम् ॥

सुनकर सनातनी कहेगा कि मांस भक्षण को निन्दा करनी चाहिये। यहाँ उसका महत्त्व कैसे लिखा। वस्तुस्थिति यह है कि आयुर्वेद पुण्यपाप विचार नहीं कर रहा है। किन्तु लौकिक गुणदोष विचार कर रहा है। ऐसी ही स्थिति वेदों की भी है। वेद में सब कुछ वर्णित हुआ है। अतएव उसका नाम ही वेद है। विद्यन्ते ज्ञायन्ते जगन्ति एभिरिति वेदाः। वेद वे हैं जिनसे अणुतर से लेकर परम महान पर्यन्त सबका ज्ञान प्राप्त होता हो। सकाम भाव से ज्योतिष्टोमादि करो तो स्वर्ग मिलेगा यह एक तथ्य है। उस तथ्य को वेद ने प्रकाशित किया। यदि इस तथ्य को वेद ने प्रकाशित न किया तो वेद को सर्वज्ञ कैसे कहा जा सकेगा ? वेद कोई चेतन आत्मा नहीं है कि उसके मन में सर्वपदार्थ होने से सर्वज्ञ कहा जाय। सर्वार्थप्रकाशक होने ही से वेद सर्वज्ञ कहा जाता है। तब वेद में सकाम कर्म का फल स्वर्ग यदि न बताया तो वह सर्वज्ञ कैसे माना जायेगा ? वेद में धर्म का भी प्रतिपादन है, अधर्म का भी प्रतिपादन है। इसीलिये **"अथातो धर्मजिज्ञासा"** इस सूत्र के भाष्यादि में धर्म जिज्ञासा ऐसा एक पदच्छेद और अधर्म जिज्ञासा ऐसा दूसरा पदच्छेद भी माना है अधर्म वर्णन हानार्थ है। जैसे—**"श्येनेनाभिचरन् यजेत"** ऐसा वाक्य है। यहाँ 'शत्रुनाशार्थ श्येन-याग करो' यह देखने में धर्मोपदेश लगेगा। किन्तु हिंसाफल होने से धर्म नहीं माना गया। वैसे स्वर्गादि प्रयोजक ज्योतिष्टोमादि को ऐसी आज्ञा नहीं है। किन्तु ज्योतिष्टोमादि तुम्हारा इष्ट साधन है इतना ही बताना है। अत एव वेदों में विधि है। परन्तु विधि में भी अमुक हो ग्राह्य है अमुक त्याज्य है यह उपदेश पृथक् है "विवि-दिषन्ति यज्ञेन" इत्यादि वाक्य पृथक आता है। इसी आधार पर गीता में **"कर्मण्येवाधिकारस्ते"** इत्यादि वचन है।

वेद सर्वार्थदर्शक है। उनमें क्या ग्राह्य है क्या नहीं यह मीमांसा से ज्ञेय है। विवेक से निश्चेय है। पुष्पित वाणी मुमुक्षुओं को ग्राह्य नहीं है। किन्तु अविपश्चित इसका निर्णय नहीं कर सकते। वे तो वेदवादरत हैं। स्वर्ग भोग एवं सांसारिक विषयभोग में उनकी श्रेयोबुद्धि है। अतः 'नान्यदस्तीति' वादी है। यही सब कुछ है। इससे अतिरिक्त कुछ नहीं है। निष्काम कर्म से संपादनीय कोई अन्तःकरण शुद्धि नहीं, मोई मोक्ष भी नहीं, यह उनकी मान्यता है। यही मान्यता खतरनाक है। अत एव भगवान को इसका निराकरण करना पड़ा। भोजन करते समय एक ग्रास में मक्खी आयी। तो ऐसा नहीं कि केवल मक्खी को ही उठाकर फेंक दें। उस ग्रास को ही फेकना पड़ेगा। घी में मक्खो पड़ी तो कंजूस ने चारों ओर देखा। कोई नहीं था। उसने सोचा, मक्खी को यूं फेकते हैं तो साथ में घी जाता है तो मक्खी को थोड़ा निचोड़ दिया। इतने में किसी ने देखा तो तब से नाम पड़ा—'मक्खीचूस'। मक्खी के साथ घी भी जाता है। कामना मक्खो है। उसके साथ उसमें लिपटा कर्म भी हेय हो जायेगा। अतः वैदिक उन कर्मों की हेयता कही किन्तु उन कर्मों को ही निष्काम भाव से करे तो वही भगवान निष्काम कर्म योग है। यहाँ कोई अवैदिक कर्म का प्रतिपादन नहीं है कि जिसको लेकर वेद तिरस्कार हो रहा हो। किन्तु वेदोक्त कर्मों में ही उपादेय की प्रशंसा के लिये हेय का अपवाद किया जा जा रहा है। मीमांसा का सिद्धान्त है कि—

"न निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्तते किन्तु विधेयं स्तोतुम्"

निन्दा वचन शास्त्रों में वस्तुतः निन्दार्थं नहीं किन्तु विधेय की स्तुति के लिये होता है। जैसे—

अपशवो वा ह्यन्ये गवाश्वेभ्यः पशवो गो अश्वाः

गौ और अश्व को छोड़कर बकरा आदि कोई पशु नहीं है। पशु तो गो और अश्व है। इस वचन का अर्थ यह नहीं है कि बकरा आदि पशु है ही नहीं। यह गौ और अश्व की प्रशंसा के लिये कहा जाता है। जैसे लोक में—यह लखपति कोई सेठ थोड़े ही है। सेठ तो करोड़पति मील मालिक लोग होते हैं इत्यादि। वैसा यहाँ का सकाम कर्म निन्दा वचन है॥ ४२॥

●

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

[स्वर्ग को ही परम श्रेष्ठ मानने वाले वे विषयासक्त पुरुष भोग तथा ऐश्वर्यं को लक्ष्य रखकर जो यह क्रिया प्रधान पुष्पित वाणी बोलते हैं······॥ ४३ ॥]

कामना प्रथम इन्द्रियों में होती है। श्रोत शब्द की कामना करता है। शब्द विषयक कामना श्रोत में होती है। एक बार सुन्दर गीत सुना तो उसकी छाप श्रोत में पड़ी। फिर उसी की वह कामना करता है। त्वगिन्द्रिय में स्पर्श विषयक कामना रहती है। दारपुत्रादि का स्पर्श किया तो उसकी छाप त्वगिन्द्रिय पर पड़ती है। उस छाप से त्वगिन्द्रि में कामना होती है। रूप दर्शन किया। सुन्दर रूप देखा तो उसकी छाप चक्षु पर पड़ी। उससे फिर रूप दर्शन की कामना आँखों में होती है। नाना रसास्वादन से उन रसों की छाप रसना पर पड़ती है। उस से फिर रसनेन्द्रिय में रस कामना होती है। इसी प्रकार गन्धादि विषयों का भी रहस्य समझना चाहिये। छाप का अर्थ है—वासना। वासना से कामना होती है यह हम पहले कह आये हैं। इस प्रकार विषय सेवन से प्रथम कामना इन्द्रियों में होती है। इसलिये विषय संमुख उपस्थित होने पर कामना उभरती है।

प्रथम इस प्रकार कामना इन्द्रियों में आती है। किन्तु धीरे धीरे वह फिर मन में प्रवेश करती है। पहले तो वस्तु सामने आने पर कामना जागती है। बच्चा माँ को देखता है तो रोता है। माँ चुपके से निकल जाती है तो उसकी बाद में याद भी नहीं आती। उस समय उसकी कामना इन्द्रियों पर ही रहती है। उसके बाद

फिर कामना मन में घुस जाती है। फिर विषय संमुख न हो तो कामना उभरती है। इसीलिये आचार्य ने कहा—

"बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः

जब बालक था तब केवल क्रीडा में वह आसक्त था। संग संपर्क को कहते हैं। विषय संपर्क से इन्द्रियों में प्रथम राग था। अत एव विषय संसर्गकाल में ही कामना प्रतीत होती है। क्योंकि इन्द्रियों में ही उस समय कामना रहती है। वह चाहे माँ की हो चाहे खिलौनों की हो। इसके बाद तरुणावस्था जब आती है तब केवल 'आसक्त' ही नहीं, रक्त हो जाता है। रक्त का अर्थ है रंग रंजित होना। उस समय विषय मन में प्रवेश कर जाता है। तरुणी तो उदाहरण है। क्योंकि विशेष कामना तरुणी में होता है। विरह में तरुण व्याकुल होने लगता है। छटपटाता है। अर्थात् विषयानुपस्थिति में कामा उग्र होती है। बल्कि तरुणी आदि की उपस्थिति काल में कामना न्यून भी हो जाती है। महाकवि कालिदास ने इसी आधार पर मेघदूत नामक काव्य लिखा। वहाँ का श्लोक है—

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तंगमितमहिमा यः पराधीनवृत्तिः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छयातरुषु वसति रामगिर्याश्रमेषु ॥

कालिदासजी का यह अति प्रसिद्ध काव्य है। कोई यक्ष कुबेर के श्राप से शक्तिहीन हो गया। उसको यक्षदेश से बाहर निकाला। वह मध्यप्रदेश में रामगिरि आश्रमों में रहने लगा। रामगिरि को आजकल रामटेकरा कहते हैं। नागपुर से वहाँ जाते हैं। रामगिरि इसलिये भी कहते हैं कि रामजी गिरिनामा संन्यासी वन गये थे। गिरियों में थे। अतः गिरिनामा हो गये। उनका आश्रम फिर गिरियों में ही होगा। रामगिरि का गिरि भी रामगिरि ही कहा जायेगा। वहाँ वह यक्ष रहने लगा था। उसका शाप इतना भयानक

हो गया था कि उसके लिये असह्य । क्यों ? विरह गुरुणा—अपनी प्रिया पत्नी के विरह से अति घोर हो गया था । यदि उसकी प्रिया को भी शाप मिलता तो दोनों सुख पूर्वक रह जाते । उसकी कामना इन्द्रियों तक सीमित नहीं थी । मनमें बैठ गयी थी । पूरे वर्ष भर वहाँ प्रियाविरह पीड़ित होकर अन्ततः अपना संदेश मेघ के द्वारा भेजने लगा । अर्थात् जड चेतन विभाग को भी वह भूलने लगा । उसका स्वरूप फिर महाकवि ही मेघदूत में वर्णन करेंगे ।

यह काम और आगे बढ़ता है । वृद्धावस्था में तो वह आत्मा में घुस जाता है । आत्मा स्वयं काममय हो जाता है । अति गहन हो जाता है । अतएव बताया—**"वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः"** चिन्ता काम का ही परिणाम समझना चाहिये । उत्कट काम से अति चिन्ता होती है ।

"चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः"

इस प्रकार कामादि आसुरी संपत के प्रकरण में भगवान ने भी बताया । उस चिन्ता में मनुष्य मग्न होता है—अर्थात् डूब जाता है । डूबने का अर्थ है पूरी तरह से काममय हो जाना । बृहदारण्यक में चक्षुर्मय श्रोत्रमयादि कहने के बाद बताया—

अथो खल्वाहुः । काममय एवायं पुरुष इति
स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति

ऐसा बताया जाता है कि यह पुरुष काममय ही होता है । और जैसे काम होता है वैसा उसका क्रतु चलता है । क्रतु का अर्थ है संकल्प, चिन्तन । चिन्तन का परिणाम है—

यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते ।
यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते ॥

जैसा चिन्तन होता है वैसा कर्म करता है, जैसा कर्म करता है उसी को फिर प्राप्त होता है । यही चिन्तामग्न शब्द से आचार्य

ने बताया। आत्मा काममय होता है, आत्मा में काम घुसता है बल्कि आत्मा ही काम में डूब जाता है।

इन्द्रिय में काम समझ में आता है। मन में भी काम समझ में आ जाता है। किन्तु आत्मा में काम किस प्रकार?। **"कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा इत्येतत्सर्वं मन एव"** इस श्रुति वचन के अनुसार काम संकल्पादि सभी मनोधर्म। और **"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।"** के अनुसार इन्द्रियाँ भी कामाश्रय हो सकती है। आत्मा कामाश्रय किस प्रकार हो? इसका समाधान यह है कि इन्द्रियों में और मन में रहने वाला काम ही गहन होने पर अन्योन्याध्यास वश आत्मा में अध्यस्त होता है। इन्द्रिय और आत्मा का अन्योन्याध्यास होता है। वैसे मन और आत्मा का भी अन्योन्याध्यास होता है। अन्योन्याध्यास होने पर अन्योन्यधर्माध्यास भी होना शुरू होता है।

"अन्योन्यात्मकतामन्योन्यधर्मांश्चाध्यस्य"

ऐसा भाष्यकार वचन है। बल्कि आत्मा में कामाध्यास होने पर ही वह वास्तविक काम है। अन्यथा वह रागाभास या कामाभास ही कहलायेगा। अत एव जैसे अभी बताया—बाल्यावस्था में काम इन्द्रियों में, यौवनावस्था में काम मन में, वृद्धावस्था में काम आत्मा में ऐसी व्याख्या न कर यह कहना उचित होगा कि काम की बाल्यावस्था इन्द्रियों में यौवनावस्था मन में अति घोरावस्था आत्मा में होती है। इस प्रकार आत्मा में काम के घुसने की जो अवस्था है उसी को लेकर भगवान् यहाँ कह रहे हैं—**'कामात्मानः'**। काम आत्मा में घुस गया—**काम आत्मनि येषां ते**। अथवा काम में आत्मा डूब गया—**कामे आत्मा येषां ते**। अथवा काम और आत्मा में कोई भेद ही नहीं रहा—**'काम एवात्मा येषां ते'** इन विग्रहों में शब्द है—कामात्मानः। पुष्पितवाणी के पीछे कौन रह

जाते हैं—**'नान्यदस्तीति वादिनः'** यह विषयोपभोग ही सब कुछ दूसरा कुछ नहीं ऐसा कौन कहते हैं ? उत्तर है—**कामात्मानः।**

स्वर्ग पराः। उनके लिये परमवस्तु है स्वर्ग। स्वर्ग एव परो येषां ते। वे अन्य किसी चीज को नहीं मानते। 'स्वर्ग पर' शब्द सुनकर संभव है आप भी उन्हें मूढ़ समझेंगे और बोलेंगे कि प्राचीन जमाने में इसी प्रकार लोग आसमान में किसी स्वर्गलोक की कामना करते रहते थे। वास्तव में मरणोत्तर स्वर्ग ही स्वर्ग नहीं है। स्वर्ग की कामना प्राचीन लोग करते थे तो उससे अधिक आधुनिक लोग करते हैं। स्वर्ग केवल मरणोत्तर अदृश्य लोक ही नहीं है। स्वर्ग तो असल में सुख को ही कहते हैं। हम इसकी व्याख्या अन्यत्र अनेकधा कर चुके हैं और जहाँ भी स्वर्ग शब्द आवे वहाँ इसकी व्याख्या करना आवश्यक भी है। मीमांसकों ने ही स्वर्ग पद को व्याख्या इस प्रमाण से की है—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

क्या आपके मन में शब्दस्पर्शादि विषय जन्य सुख की अभिलाषा नहीं है ? अच्छा घर हो, बंगला हो, फ्लेट हो, फर्नीचर हो, कार हो, मोटर हो, रेडियो हो, टी० वी० हो इत्यादि अभिलाषा आपके मन में नहीं होती है ? होती है तो स्वर्ग के प्रथम सोपान को आपने मन से पार कर लिया। चढ़कर पार करने के लिये तो कर्म करना पड़ेगा। मन से पार करने में तो कोई तकलीफ नहीं है। फिर आपके मन में यह इच्छा होती है या नहीं कि ये सब वस्तुएँ हमारी इसी प्रकार बनी रहे, बढ़े तो कोई बात नहीं, घटना नहीं चाहिये। गृह को हमेशा रंगरोगन करके नवीत बनाते रहते हैं। फर्नीचर पुरानी हो जाय तो नयी खरीद लाते हैं, नयी कार, नयी सामग्रियाँ लाते हैं। शरीर नया लाना मुश्किल है। मरकर ही नया पा सकते हैं, इसी को बनाये रखने के लिये च्यवनप्राशादि

अनेकविध औषधों का सेवन करते हैं। इसमें सफलता मिले या न मिले यह अलग बात है। इस प्रकार मन में अभिलाषा है तो समझ लेना चाहिये कि स्वर्ग जाने की दूसरी सीढ़ी आप मन से पार कर गये। अब आगे आप देखिये। आप चाहते हैं कि नहीं, मेरे मन-मुताबिक सब हों। मैं जो चाहूँ वह होता रहे। वह होगा या नहीं यह अलग बात है। परंतु सभी यही चाहते हैं—मेरे मन के अनुसार सारी दुनिया चले। जो मैं चाहूँ सो होवे। जिस चीज को चाहूँ वह मिलती रहे। ऐसी अभिलाषा आपके मन में है तो आप स्वर्ग की तीसरी सीढ़ी को भी मन से पार कर गये। ये तीन बातें जहाँ हो वही स्वर्ग है। ये तीनों बातें प्रसिद्ध स्वर्गलोक में भी नहीं है। फिर भी 'है' समझा जाता है। स्वर्ग में भी दुःखसंभेद है। वहाँ भी थोड़ा बहुत दुःख मिलता ही रहता है। स्वर्ग पर भी असुर लोग चढ़ाई करते थे। स्वर्ग भी अविनाशी नहीं है, पतयालु है। सर्वा-भिलाषा पूर्त्ति स्वर्ग में भी नहीं होती। अस्तु। फिर भी आपेक्षिक रूप ये तीगों बातें स्वर्ग में हैं। वह चाहे इस लोक में हो चाहे परलोक में। सबकी चाह तो है ही। आजकल के लोग स्वर्ग नाम से परिचित भले न हो, नाम ज्ञात होने पर उसे केवल मरणोत्तर भावी कल्पनामात्र समझ कर उपेक्षारत भी भले हो फिर भी वस्तुतः सभी उसको चाहते हैं। बल्कि आधुनिक लोग कर्म किये बिना ही स्वर्ग को प्राप्त करना चाहते हैं यही विशेषता है।

जन्म कर्म फल प्रदाम्। काममय यह पुरुष है ही। यह स्वर्ग परायण भी है। वे वेदोक्त पुष्पित वाणी को सुनते हैं तो उसी में संमुग्ध हो जाते हैं वह वाणी कैसी है ? उसके लिये विशेषण है—जन्म कर्म फल प्रदाम्। यह एक द्वितीय चक्र बताया जा रहा है। पहले हम एक चक्र बता आये। वासना, कामना, वृत्ति, कर्म फिर वासना, कामना आदि। उसके कारण अव्यवसायता बतायी। अन्ताभाव, पर्यवसानाभाव, शाश्वतलक्ष्याभाव बताया। यहाँ द्वितीय

चक्र है जन्म और कर्म ये ही फल समझो या इनसे होने वाले फल को समझो । कामना होगी तो कर्म करेंगे । कर्म से जन्म होगा । जन्म से सुख दुःख फल होगा । उससे पुनः कामना । पुनः कर्म । कर्म जन्म फल प्रदाम् नहीं बताया । क्योंकि इसमें बीच में पुनः पुनः कर्म आता है । जैसे माला बनाते समय मोगरा, चम्पा आदि बार-बार आते हैं गुलाब दूर-दूर में । वैसे यहाँ की भी माला है । कर्म से फल, फल से कामना, कामना से कर्म, फिर कर्म से फल, फल से कामना उससे कर्म इस प्रकार जीवन भर में चलेगा । उसके बाद एक धमाका—मरण और जन्म का । उसके कर्म, फल, कामना-कर्म, फल, कामना ऐसी हजारों आवृत्ति होगी । फिर एक धमाका होगा मरण एवं जन्म का । इस प्रकार यह शृंखला अनादि-काल प्रवृत्त है अनन्तकाल पर्यन्त है । सो भी कामात्मा और स्वर्ग पर होने से स्वर्ग ही मिल जाय, ऐसा भी कोई नियम नहीं । क्योंकि कर्म अनेक प्रकार किये जाते हैं । पुण्यकर्म करते हैं तो पाप कर्म भी किये जाते हैं ।।

कर्म से अनेक विध फल होते हैं । कर्म से ही धनादि वस्तु प्राप्ति होती है । कर्म से ही उत्तम कुल में जन्म होता है । कर्म से ही सुख प्राप्त होता है और कर्म से ही बुद्धि भी प्राप्त होती है । और यहाँ तक कि सुविचार एवं भावि अनेक पुरुषार्थ कर्म भी कर्मायत्त है । भर्तृहरिजी महाराज व्याख्या करते हुए अनिर्वचनीयता पर पहुँच जाते हैं । वे कहते हैं—

कर्मायत्तं फलं पुसां बुद्धिः कर्मानुसारिणी ।
तथापि सुधिया भाव्यं सुविचार्यैव कुर्वता ॥

सुख दुःखादि फल तो कर्मायत्त हैं ही । वल्कि बुद्धि भी कर्मानुसार होती है । किसी को सद्बुद्धि प्राप्त होती है और किसी को असद्बुद्धि, तो उसमें कारण क्या है ? किसी की बुद्धि की बुद्धि तेज होती है, किसी की मन्द होती है । क्यों होती है ? आखिर कहना ही पड़ेगा

कि पूर्वकृत कर्म के फलरूपेण यह बुद्धि भी प्राप्त हो गयी है। 'बुद्धिः कर्मानुसारणी'। यदि बुद्धि भी कर्मानुसार होती है तो फिर अपने से हम कर क्या सकते हैं? उत्तर दिया—तथापि सुधिया भाव्यं फिर भी मनुष्य को सुधी बनना चाहिये। कैसे सुधी बनेंगे? सुविचार्यं। अच्छा विचार करने से। लेकिन अच्छा विचार भी सबको क्यों नहीं होता? किसी के मन में अच्छा विचार आता रहता है। मैं प्राणियों को सुख पहुँचावूं, सत्कर्म करूँ, यज्ञादि कर्म करूँ या समाज सेवा करूँ इत्यादि एक आदमी विचार करता है। किन्तु दूसरा आदमी ऐसा भी मिलेगा कि वह यही सोचता रहता है कि इसका कैसे कुछ बिगाड़ूं। कैसे दूसरों को दुःख पहुँचावूं। कैसे डाका डालूं इत्यादि। भगवान बुद्ध, रंतिदेवादि यह सोचते थे, महात्मागाँधी जैसे महापुरुष यही सोचते थे कैसे हम कुछ परोपकार करें। कैसे हम भारतवासियों को अन्ततः विश्वजनों को सुख पहुँचावें।

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णाः
त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः

संतमहापुरुषों के मन में केवल परसुखापादनार्थं विचार ही उठता है। जैसा विचार उठता है वैसे ही वे त्रिभुवन का उपकार भी करते रहते हैं। परंतु इसके विपरीत असत् पुरुषों के मन में विपरीत भावनायें होती हैं। माघकवि कहते हैं—

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं
मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषावली
य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः॥

इनके रहने का स्थान बिगाड़ो। मकान बिगाड़ो। जलाओ। पत्थर मारो, कांच फोड़ो। गाड़ियों को जलाओ। बगीचा तहस नहस करो। इस प्रकार उत्पात के लिये सोचते रहते हैं और वैसे कहते

भी रहते हैं। क्योंकि हम अभी अभी बताते आये—"यो यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते" जिस बात को हमेशा सोचते हैं वह फिर करने लगते हैं।

इस विवेचन से ऐसा मालूम पड़ता है कि विचार भी कर्मायत्त है। कर्मानुसार ही विचार भी आता है। तब सुविचार्यैव कुर्वंता यह नया उपदेश कैसा? भर्तृहरि भी आखिर अनिर्वचनीयतावाद पर ही उतरते हैं। तर्क से तो सभी कर्मफल ही प्रतीत होता है। पुरुषार्थ भी आखिर कर्मानुसार ही होगा। विचार भी कर्मानुसार ही होगा। फिर भी भगवान ने उसके अन्दर कुछ जगह रखी है। प्रेरणा प्रदाता के रूप में अन्दर अन्र्यामी बैठा है। उनके आदेश का गुरूपदेश ही पालन सम्भव है। यही पुरुषार्थ है। इसमें अधिक तर्क न करना। अर्थात् गुरूपदेश भी तो कर्मानुसार ही होगा इत्यादि अधिक तर्क मत करो।

कामात्मा बने और स्वर्ग पर हुए तो दोनों प्रकार के कर्म होने लगते हैं। पुण्य भी और पाप भी। किन्तु पाप की संख्या अधिक होती है और पुष्प की संख्या अल्प होती है। यही कारण है—चौरासी लाख योनियों में अधिकतर पाप योनि है। देवताओं को कुछ योनियों की परिगणना की गयी है। अमरकोशकार कहते हैं—

विद्याधरोऽप्सरो यक्षरक्षो गन्धर्वकिन्नराः।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥

अर्थात् ये दश देवयोनि है। विद्याधर, अप्सर, यक्ष, दक्ष इत्यादि देवयोनि में आते हैं। मनुष्य योनि कितनी है यह बतायी नहीं है। चौरासी लाख में से दस-बीस योनि कम भी किया जाय तो भी कमी होने वाला है नहीं। पुराण संहिता में तो चार लाख मनुष्य योनि बतायी है। भूतल में चीनी चिपटी नाक वाले, अंगरेज गोरे, आफरीकन काले इत्यादि रीति गिनती की जाय तो भी दस-बीस ही जाति सिद्ध होती है और मान लो लोक-लोकान्तर वासी चार

लाख मनुष्य योनि है तो भी अस्सी लाख तो तिर्यक् आदि ही हैं। शास्त्रों में अति प्रसिद्ध है कि पुण्य कर्म की अधिकता से देवयोनि मिलती है। पुण्य-पाप बराबर होने पर मनुष्य योनि मिलती है। और पाप की अधिकता से तिर्यक योनि मिलती है। तब यह स्पष्ट हो जाता है कि पाप की मात्रा ही अधिक है। क्योंकि अस्सी लाख तो पापफल है, चार लाख पुण्य-पाप उभयफल है, पाँच-दस सिर्फ केवल पुण्यफल है। यदि अपनी जीवनचर्या देखेंगे तो स्वयं भी अनुभव होगा कि पुण्य की मात्रा की अपेक्षा पाप की मात्रा ही अधिक होती है।

मनुष्य शरीर में ही पुण्य और पाप होते हैं। एक शेर ने किसी को पंजा मारा और वह आदमी मर गया तो क्या शेर को पाप लगेगा ? साँप ने काटा तो क्या साँप को पाप लगेगा ? ये मच्छर सबका खून चूसते हैं तो क्या उनको पाप लगेगा ? नहीं। यह सब भोगभूमि है। एक कुत्ता रात भर जागता है। रात के समय चोर घुस आया घर में। कुत्ते ने चोर को काटा, पकड़ा, मालिक का धन बचाया तो क्या इसका पुण्य कुत्ते को मिलेगा। काम अच्छा किया। किन्तु यह कुत्ते का स्वभाव है। उससे उसको पुण्य-पाप कुछ नहीं लगेगा। उसको आप शाबाशी देंगे। यही उस कर्म का फल है। यदि आपने शाबाशी नहीं दी तो उसको अतिरिक्त कुछ भी फल मिलने वाला नहीं है। यही स्थिति देवताओं की भी है। तब मनुष्य शरीर में किये हुए कर्म का ही फल चोरासी लक्ष योनि माननी पड़ेगी। अर्थात् यदि आप दस पुण्य और चार लाख पुण्य-पाप करते हैं तो अस्सी लाख पाप करते हैं। मनुष्य की आयु अधिक से अधिक सौ वर्ष है। एक वर्ष में तीन सो साठ दिन अर्थात् छत्तीस हजार दिवस का जीवन है। चौरासी लाख कर्म के लिये छत्तीस हजार दिवस आपके पास है। छत्तीस हजार को सौ गुना करो तो छत्तीस लाख, फिर ढाई गुना करो तो चौरासी लाख तक पहुँचते

हैं। अर्थात् लगभग प्रतिदिन ढाई सौ योनि प्राप्त करने का क्रम करते हैं। गिनती में कुछ आगे पीछे हो जाय तो कोई हर्जा नहीं है। क्योंकि यह हिसाब हमें किसी इनकम टेक्स आफिसर को नहीं बताना है। ढाई सौ इतना तो योनि का हिसाब है फिर एक योनि में जितने सुख दुःख, जय-पराजय, लाभ हानि, आदि हैं उनके लिये अवांतर कर्म भी आते हैं। यह हिसाब फिर ढाई सौ क्या ढाई हजार में भी पूरा नहीं होगा। क्योंकि कौआ, हाथी आदि का जीवन सौ पचास दो सौ आदि वर्ष है। उनमें प्रत्येक दिन में सैकड़ों सुख-दुःख स्थान उपस्थित होते हैं। वे सभी इसी मनुष्य शरीर में किये कर्म का ही परिणाम है। अर्थात् एक हाथी का जीवन सौ वर्ष हो तो सीधे छब्बीस दिन के छत्तीस हजार कर्म मानने पड़ेंगे। फिर एक-एक दिन में अलग-अलग सुख-दुःखादि हैं, हिसाब जोड़ने बैठो तो दिमाग चकरा जायेगा। अतः हिसाब छोड़ो। प्रश्न यही पूछेंगे कि एक ही दिन में इतने हजारों लाखों कर्म कैसे तैयार होते हैं? उत्तर है—कि यह कोई बड़ी बात नहीं है। पग-पग में हम कर्म संचित कर रहे हैं। चलना शुरू किया तो पता नहीं कितने प्राणी पांव के नीचे आकर दब जाते होंगे। बोलने समय कितने प्राणी हवा में मरते होंगे। श्वास खींचते समय कितने प्राणियों को खींच लेते होंगे। फिर मच्छरों मारते हैं, माकड़ों को मारते हैं, तिलचट्टों को मारते हैं, चीटियों को मारते हैं। क्या आप समझते हैं कि इनको दुःख पहुँचाने से हमें कोई पाप नहीं लगेगा? कहो अनजान में ऐसा हो गया तो हमें पाप क्यों लगेगा? किन्तु यह उत्तर नहीं है। चाहे अनजान में हो चाहे जानबूझकर हो। प्राणियों को क्लेश जो पहुँचाता है वह तो हो गया। उसका पाप होना भी अनिवार्य है। हाँ, पाप जान बूझकर करो तो कठोर होगा। अनजान में करो तो हल्का होगा इतना माना जा सकता है। आप कहेंगे कि फिर इन पापों से कोई नहीं बच सकता। ठीक ही है। कोई नहीं बच सकता। इतना

जरूर है कि प्रायश्चित् के द्वारा उत्पन्न पाप का विनाश कर बच सकते हैं। पाप उत्पन्न होने में संशय ही नहीं। प्रायश्चित करो। पंच महायज्ञ करो तो बहुत सारे पाप नष्ट होंगे। अन्यथा फल भोगना अनिवार्य है। चाहे वैदिक कर्म हो चाहे लौकिक कर्म। पाप सांकर्य होना अनिवार्य है। मीमांसक लोग कहते हैं—**"यज्ञीय-हिंसा हिंसा न भवति"** यज्ञीय हिंसा हिंसा नहीं होती। किन्तु कौन सी हिंसा? यज्ञीय हिंसा को कथंचित् हिंसा न भी मानो तो भी वह विहित हिंसा ही अहिंसा हो सकती है। मीमांसक कहते हैं—"अध्वरे पशुं हिंस्यात्" अध्वर में पशु हिंसा हो सकती है। परन्तु लकड़ी, कंडा आदि जलाते समय उसके अन्दर जो छोटे-छोटे प्राणी प्राणी बैठे होते हैं उनकी हिंसा करने के लिये वेद में कहाँ लिखा है? धुआँ उड़ने से जो मच्छर आदि प्राणी मरते है उस हिंसा को किस वेद ने बताया है? अतएव पंचशिखाचार्य की यह उक्ति वज्र-लेख माना जायेगा—हजारों शास्त्रार्थ से भी अनिराकार्य होगा—**"स्वल्पः संकरः सपरिहरः सप्रत्यवमर्षः"** प्रत्येक कर्म में स्वल्प संकर का होना अनिवार्य है। अहुति के साथ-साथ जो पाप हुआ वह आहुति के साथ ही जुड़ेगा। इसलिये 'गीता में भी यह श्लोक आया है—**"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः"** सभी आरम्भ अर्थात् कर्म दोषों से अर्थात् पापों से आवृत है। जैसे अग्नि जलेगी तो लकड़ी से धुआँ भी निकलेगा। अग्नि हमेशा धूमावृत होती है। वैसे कर्म भी पापावृत होता है, अवश्य ही पाप होगा। फलतः जन्म के बाद जो कर्म है वह पुण्य पापात्मक ही होगा। यह पूर्वकृत कर्म का ही परिणाम है। पूर्व कर्म ने वर्तमान कर्म को जन्म दिया। किन्तु वर्तमान कर्म करते समय पुरुषार्थ ने कुछ और तत्त्वों को उसमें जोड़ दिया। पूर्व कर्म ने यज्ञार्थ प्रवृत्त किया, दानार्थ प्रवृत्त किया या चौर्यार्थ प्रवृत्त किया या हिंसार्थ प्रवृत्त किया। उस यज्ञ में ज्ञानतः अज्ञानतः कुछ प्राणियों की हिंसा हुई। वे कुछ नये कर्म

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यंगतिं प्रति। भोग एवं ऐश्वर्यं की प्राप्ति के लिये अनेकविध क्रिया विशेष करना आवश्यक है। मनुष्यादि शरीर में तो कर्मों से प्रायः भोग ही प्राप्त होते हैं किन्तु देवादि शरीर में भोग ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। अणिमादि ऐश्वर्य कहलाते हैं। केवल सुखादि भोग है। योगाभ्यास से मानव शरीर में ऐश्वर्यं प्राप्ति होती है। कर्म से तो ऐश्वर्यं देखने में नहीं आता। फिर भी अनेक विध कमों से ऐश्वर्य की संभावना का निराकरण भी नहीं किया जा सकता। जन्मान्तर समय में हो ऐश्वर्यवान हो सकता है। इसीलिये पातञ्जल सूत्र में जन्म को भी सिद्धि का कारण माना है—

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।

इस सूत्र में जन्म का ग्रहण किया। यह पूर्वक्त योग (समाधि) का फल है। तो समाधि पद से ही गतार्थता होती। अतः कर्म विशेष का फल जन्मज सिद्धि का कारण प्रतीत होता है। देव शरीर में सभी ऐश्वर्यं रहते हैं। देवता अणु भी बन सकते हैं, स्थूल भी हो सकते हैं। हल्के भी वजनदार भी। एवं अन्याय ऐश्वर्य भी उनमें रहते हैं। तदर्थं कर्म में क्रियायें विशेष रूप से तो करनी ही पड़ती है ॥ ४३ ॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

[भोग और ऐश्वर्य में आसक्त उस पुष्पित वाणी से अपहृत चित्त वाले उन लोगों की समाधि में हेतु व्यवसायत्मक बुद्धि उत्पन्न नहीं होती ॥४४॥]

"योगे त्विमां शृणु" से योगबुद्धि बताने की प्रतिज्ञा की थी। उसके बाद यह अप्रस्तुत व्यवसाय अव्यवसायादि की चर्चा क्यों प्रारंभ की ? यह अप्रस्तुत नहीं है। व्यवसाय बुद्धि है वही योग बुद्धि है। क्योंकि व्यवसाय का विशिष्ट अवसान वाला है। आगे वक्तव्य निष्काम कर्मयोग बुद्धि विशिष्ट अवसान वाली है। उसका नाश नहीं होता। वह लक्ष्य तक पहुँचाकर ही विश्राम लेती है। अत एव सावसान है—अन्त है, निरवसान नहीं—अव्यवसाय नहीं, बहुशाखा एवं अनन्त नहीं। अनन्त बुद्धि कौन सी है ? जो पुष्पित वाणी से पैदा हुई है। पुष्पित वाणी में जो फँस गये हैं उनकी व्यवसायात्मक योग बुद्धि नहीं हो सकती यही बात इस श्लोक में बताने जा रहे हैं।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्। भोग एवं ऐश्वर्य में जो प्रकर्षेण सक्तः आसक्तः हैं वे भोगैश्वर्यप्रसक्त होते हैं। प्रायः सभी प्राणी भोगादि में ही परामासक्त है। जो भोगादि आसक्त हैं उनकी व्यवसाय बुद्धि नहीं होती। क्योंकि उनकी बुद्धि अनन्त है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

इस प्रकार श्रीमद्भागवत में महाभारत में तथा मनुस्मृति आदि में ऐकमत्येन कहा गया है। कामानां—विषयाणां, काम्यमानत्वात्

कामाः। काम का अर्थ विषय है। विषयों के उपभोग से काम कभी शान्त नहीं होता। यह खारे पानी के समान है। एक बार गरमी में मैं अहमदाबाद संन्यासाश्रम में प्रवचनार्थ गया था। वहाँ कुएँ में और नल में खारा पानी आता था। समुद्रजल के समान खारा तो नहीं था, फिर भी खारा था। उसको दिनभर पीता था और प्यास नहीं बुझती थी। थोड़ी देर के लिये लगता था कि प्यास बुझ गयी। किन्तु थोड़ी देर के बाद फिर प्यास शुरू होती थी। पेट फूलने लग गया पानी पीकर। और वहाँ की घोर उष्णता में फिर कहना ही क्या था? शास्त्रकार उस समय अहमदबाद गये तो वह भी एक उदाहरण हो सकता था। दूसरा एकान्तिक दृष्टान्त उन्होंने यह बताया—हविषा कृष्णवर्त्मेव। अग्नि जलने लगी। उसे बुझाना था तो कनस्तर में घृत पड़ा था उसी को किसी ने जल समझा और अग्नि में डाला। फिर कहना ही क्या था। क्या घृत से आग बुझ सकती है? नहीं। यदि नहीं तो उसी प्रकार विषयोपभोगों से कामना भी शान्त नहीं हो सकती। काम को भी अग्नि की उपमा दी है। यद्यपि यहाँ पर काम शब्द का इच्छा सामान्य अर्थ है तथापि काम का प्रसिद्ध दूसरा अर्थ भी है। पुरुष को स्त्री की अभिलाषा और स्त्री को पुरुष की अभिलाषा मुख्य रूप से काम शब्द का अर्थ है। वह अग्नि है। काम संतप्त इत्यादि प्रयोग आता है। वह एक प्रकट उदाहरण है। सकल कामनाओं की यही स्थिति है। शब्द स्पर्शादि विषयक कामना भी अग्नि सदृश ही है। उस कामना में विषयों का प्रक्षेप करने पर थोड़ी देर ऐसा लगेगा कि वह शान्त हो गयी, किन्तु शान्त नहीं होती। वह और अधिक प्रज्वलित होती है। प्रश्न करेंगे कि विषय सेवन करते वृद्धावस्था में कामना शान्त हो जा है। नहीं क्यों? भूयस्वाभिवर्धते? उत्तर है कि वृद्धावस्था में एक तो कामना शान्त होती है इसमें कोई निश्चत् प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि वृद्धावस्था में

कामाग्नि की मन्दाग्निता ही होती है। महाभारत में बताया है कि एक बार अग्नि देवता को भी मन्दाग्नि हो गयी थी। इतने अधिक यज्ञ हुए और उसमें अग्नि ने इतना घी पी लिया कि अग्नि को मन्दाग्नि रोग लगा। उसी प्रसङ्ग में खाण्डव दाह हुआ था और अर्जुन को गाण्डीव धनुष प्राप्त हो गया था। फिर अग्निदेव की मन्दाग्नि रोग मिट गया था। वैसे कामाग्नि की यह मन्दाग्नि मात्र वृद्धावस्था में है। वह वस्तुतः शान्त नहीं होती। इन्द्रिय शैथिल्य से विषयोपभोगाभिलाषा शान्त सी हो जाती है। इसीलिये जन्मान्तर में पुनः पूर्ववत् कामना का उद्‌गम होता है। सारांश यही कि इस प्रकार कामना का कभी अन्त न होने से व्यवसायात्मक बुद्धि का होना असंभव हो जाता है। इसका अनन्तर श्लोक है—

यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
एकस्यापि न पर्याप्तं तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्॥

पृथिवी भर में जो भी व्रीहि आदि एवं अन्य धन है, प्राप्त हो तो भी अलं बुद्धि नहीं होती। अलं बुद्धि का अर्थ है—वस, और नहीं चाहिये इस प्रकार पर्याप्तता की बुद्धि। अलमिति पर्याप्त्यादौ। अलंकार पर्याप्ति आदि अर्थ है। लक्षाधिपति करोड़पति आदि को भी आजतक पर्याप्ति बुद्धि नहीं हुई है। वैसा ही हिरण्य है। हिरण्य का अर्थ सोना तो है ही। हीरा मोती आदि भी ग्राह्य है। सोना कितना भी मिले संतोष नहीं होगा। पहले समय में लोग सोने का बड़ा संग्रह करते थे। किस काम में वह आता है? न खाने के काम में आता है। न बिस्तरा खटिया आदि के काम में। हाँ, एक हिरण्यकशिपु सुनने में आया है जिसने सोने का विस्तर बनवाया था। कुछ लोग हिरण्यकश्यप बोलते हैं। असली नाम हिरण्यकशिपु है। कशिपु का अर्थ है बिस्तरा परन्तु सोने का। बिस्तरा बनाया उससे क्या ज्यादा नींद आयी होगी? लकड़ी का पलंग हो, चाहे सोने का। नींद का उन सबसे क्या मतलब?

करोड़पति सोने का पलंग बनवाकर उस पर लेटा और रात भर करवट बदलता रहा दूसरा मजदूर पत्थर पर पड़ा खराटा मार कर सो रहा है। दोनों में कौन अच्छा ? तब यह जो किसी काम में नहीं आता उस सोने में इतना मोह क्यों है ? क्यों है। यह प्रश्न बेकार है। क्योंकि मोह हो रहा है। इसी प्रकार प्राचीन जमाने में पशुधन की थात थी। स्त्रियः। मध्यकालीन राजाओं के और बादशाहों के जमाने में इसका प्रत्यक्ष दर्शन होता था। एक-एक राजा के अन्तः पुर में तीन सौ, चार सौ, हजार ऐसी रानियाँ होती थीं। फिर भी राजाओं को संतोष नहीं होता था। उनकी कथाओं का संस्मरण भी घृणित है। यही मनु व्यासादि का भी कहना है—एकस्यापि न पर्याप्तम्। पर्याप्त न होने से ही पर्यवसान रहित हैं अव्यवसायरूप है। अतः तृष्णा परित्याग का ही उपदेश किया जाता है—तस्मात्तृष्णां परित्यजेत्।

यह भोग प्रसक्तों की बात हुई। अब ऐश्वर्य प्रसक्तों की स्थिति देख लो। ऐश्वर्य शब्द के तीन अर्थ है। धन संपत्ति को ऐश्वर्य कहते ही हैं। जिसकी व्याख्या हम कर आये। भोग पद का वैसा अर्थ तो सुख भोग मात्र यहाँ विवक्षित है। अतः ऐश्वर्य का पृथक कथन है। ऐश्वर्य का एक अर्थ धन समृद्धि है। उसकी व्याख्या हो गयी। दूसरा अर्थ है—"ईश्वरस्य भावः ऐश्वर्यम्। ईश्वर भाव। ईश्वर माने मालिक। दिल्लीश्वरः धारेश्वरः इत्यादि प्रयोग पहले होता था। उसका अर्थ अधिपति मालिक आदि होता था। ईश्वर माने मालिक। उसका भाव ही ऐश्वर्य है। ऐश्वर्य माने मालिकी। सरल शब्द में कहना हो तो ऐश्वर्य माने अधिकार। जैसे भोग कामना अनन्त है, धन समृद्धि कामना अनन्त है, वैसे अधिकार कामना भी अनन्त है। चपरासी हेड चपरासी बनना चाहता है। सचिव महासचिव बनना चाहता है। मंत्री मुख्य मंत्री बनना चाहता है। केन्द्र मंत्री प्रधान मंत्री बनना चाहता है। इसी को लेकर यह सारा झगड़ा चलता है। पहले समय में जमींदार मण्डलाधिपति बनना

चाहता था। मण्डलाधिपति-महामण्डलाधिपति और महामण्डलाधिपति राजा बनना चहता था। राजा महाराजा बनने के प्रयास में था। महाराजा चक्रवर्ती बनने के फिक्र में। चक्रवर्तियों की छलांग फिर ऊपर स्वर्ग की ओर होती थी। जब तक मनुष्य शिखर पर्यन्त नहीं पहुँचता अर्थात् परमेश्वर पर्यन्त नहीं पहुँचता तब तक अधिकार की भूख नहीं मिट सकती। परन्तु परमेश्वर प्राप्ति इन सकाम कर्मों से होना नहीं है। फलतः कुछ ऊपर तक जाकर फिर नीचे आते हैं। फिर ऊपर जाते हैं। इस प्रकार इसका भी चक्र सक्रमण ही है, पर्यवसान नहीं है। अव्यवसाय ही है।

परमेश्वर स्वरूप बने विना अधिकार की भूख कभी भी खतम नहीं हो सकती। इस रहस्य को वेदान्त वालों ने ही समझा। भक्त लोग कहते हैं कि हम दास बने रहना ही पसन्द करते हैं। यह तो अंगूर खट्टेवाली बात से अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्रथम में जब संन्यासी नहीं था, केवल ब्रह्मचारी था, उस समय भारत के कोने-कोने में जाकर देखा, हरेक संप्रदाय के मठों में जाकर देखा। वैरागियों के डेरे में, दादूपंथियों के आश्रमों में, गौड़ीय संप्रदाय में हर जगह यही देखा कि महंत मालिक बनने की होड़ चलती थी। बाहर भले रामदास, कृष्णदास, गोविन्ददास नाम हो किन्तु भीतर उग्र मालिकी की ही वासना भरी देखी। वे लोग वैकुण्ठ में जाकर वहाँ भी ऊपर के आधिपत्य के लिये नहीं लड़ेंगे, यह कोई कम से कम वर्त्तमान में विश्वसनीय नहीं है। मैंने भिखारियों में देखा। वहा भी कुछ लोग दूसरों पर हुकुमत करते हैं और अपने आपको दूसरों की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं। इसी आधार पर श्वश्रू-वधून्याय भी तैयार हुआ।

एक संत ने अपने अनुभव के आधार पर श्वश्रूवधून्याय लिखा। संतजी भिक्षा से अपना जीवन गुजारते थे। भिक्षा का अर्थ है अलाभ तथा लाभ में एक समान मानना। "भिक्षुर्भिक्षायामलाभे

लाभे च" ऐसा धात्वर्थ निर्देश है। कभी अलाभ होगा कभी लाभ होगा ऐसी स्थिति में जो भिक्षा है वही भिक्षा धात्वर्थ है। संतजी एक बार दोपहर के समय एक घर में जाकर जोर से नारायण हरि बोले तो अन्दर से एक स्त्री बाहर आयी। उसने संतजी को बहुत डाँटा। विना पूछे अन्दर क्यों घुस आये ? तुमने समझ क्या रखा है ? तुरंत बाहर निकल जावो। संतजी निराश होकर बाहर निकले। दस बीस कदम आगे बढ़े तो एक स्त्री वहाँ से शीघ्र शीघ्र आ रही थी। उसने पूछा—संतजी तुम कहाँ गये थे ? संत ने कहा—माई मैं इसी घर में गया था। किसलिये ? भिक्षा माँगने। फिर ? वहा एक विलक्षण स्त्री को देखा। युवती है। उसने बहुत डाँटा। क्यों डाँटा ? वह कहने लगी कि बिना पूछे मेरे घर में कैसे आ गये ? निकल जाओ मेरे घर से। हें एँ, ऐसा कहा ? इतनी धृष्टता। चलो मेरे साथ। उसने कैसे कहा, वहाँ से निकलो। वह मेरा घर है। चलो मेरे साथ। संत के मन में कुछ समाधान हुआ। घर में दोनों पहुँचे तो वही बहू खड़ी थी। क्या इसने आपको डाँटा। जी हाँ। अरी तूँ कौन होती है संत को डाँटने वाली। तू कौन है, घर से चले जाओ कहने वाली ? कल की आयी छोकरी आज मालिक बन बैठी। खूब डाँटा। फिर संत की ओर देखकर कहा, हे साधु इसको यहाँ कोई हक नहीं है बोलने का। मैं यहाँ की मालकिन हूँ। अब मैं तुमको बोलती हूँ—निकल जावो मेरे घर से। एक मिनट भी ठहरना नहीं। तुरंत निकल जावो। संत का दिमाग चकरा गया। संतजी सोच रहे कि यह मालकिन है, बहू को डाँटने मतलब है कुछ मुझे देगी। चुपके से संतजी बाहर निकले। और वहीं यह श्वश्रूवधून्याय लिखा। अधिकार रूपी ऐश्वर्य की बात हम बता रहे थे। इसका कोई अन्त नहीं है। साधारण घरेलू कामों से लेकर विश्वपालन पर्यन्त समस्त अधिकार में यही आसक्ति बनी हुई है। यह उी अनन्त आसक्ति है। अपर्यवसायी है।

ऐश्वर्य का तीसरा अर्थ है—अणिमादि अष्टैश्वर्य। योग सिद्धियों की परिगणना में अणिमादि आठ को ऐश्वर्य बताया है। "ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः" ऐसा सूत्र है। कौन कौन आठ है—

अणिमा महिमा चैव लघिमा गरिमा तथा।
प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः॥

अष्टैश्वर्य मुख्य है। अन्य सिद्धियों को भी ऐश्वर्य ही कहते हैं। इन ऐश्वर्यों की कामना भी पूर्ववत् हो है। योगी योगाभ्यास करते हैं और सिद्धियाँ प्राप्त करना चाहते हैं। अभ्यास करने पर योग-सिद्धियाँ मिल जाती हैं इसमें सन्देह नहीं है। कांदोवली में एक बाबा आते थे। कई कई चमत्कार वे दिखाते थे। वे इंट से शक्कर बनाते थे। बालू से चावल बनाते थे। कांदवली में शुरू शुरू में जब हम रहे तब की यह बात है। मैं लोगों को वेदान्त की कथा सुनाता था। लेकिन बाबा जहाँ आ जाते थे मेरे श्रोता खाली होने लगते थे। जैसे तैसे कुछ श्रोता बैठे रह जाते थे। जामनगर में मैं गया था तो वहाँ लोग बतलाते थे कि एक बाबा भण्डारे में घी घट जाय तो नदी में कनस्तर भरके जल मंगाते थे तो वह घी हो जाता था अनेक विध संत धनसम्पदा में और अधिकार में नहीं फँसते थे तो वे इन सिद्धियों में आकर फंस जाते थे। सिद्धियों की हेयता महायोगेश्वर योगशास्त्र प्रवर्तक पतञ्जलि ऋषि स्वयमेव योग-सूत्र में कहते हैं—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः

ये सभी समाधि में उपसर्ग हैं, विघ्न हैं। अत एव चरम चरण में "समाधौ न विधीयते" आया। इन सिद्धियों के उपयोग से तपस्या शक्ति नष्ट होती है। शक्ति के आने पर उसका उपयोग प्रारम्भ कर ही लेते हैं। क्रोध आने पर शाप दिया। प्रसन्नता में आशीर्वाद दिया। दोनों ही में तपः शक्ति का क्षय होता है।

मनुष्य इस प्रकार तीन प्रकार के ऐश्वर्यों में प्रसक्त रहते हैं। प्रसक्ति में अविवेक मुख्य कारण है। धन सम्पदा रूपी प्रथम ऐश्वर्य

प्रसक्त होते हैं। परन्तु असली धन को भूल जाते हैं। उपनिषद् में बताया है—

तद्यथा हिरण्यनिधिमक्षेत्रज्ञा
उपर्युपरिसंचरन्तो न विन्देयुः
एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य
एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति ।

हिरण्यनिधि के समान परमधन प्रतिदिन गम्य ब्रह्मलोक है। किन्तु इतना ब्रह्मज्ञान किसके अन्दर होता है। आगे अधिकार की बात है। अधिकार हुकुमत दूसरों पर करने को क्यों सोचते हो ? अपने आप पर प्रथम अधिकार करो। विले पारले में हमारा एक भक्त है। उसका अपने घरवाले किसी पर अधिकार चलता नहीं था तो वह आश्रम में आकर हुकूमत करता था। पहले तुम अपने आप पर नियन्त्रण करो, अधिकार जमावो। अपनी इन्द्रियों को काबू में करो। यह ऐश्वर्य ग्राह्य हो सकता है। श्रीमद्भागवत में प्रह्लादजी के वचन के रूत में आया है—

जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता
शिश्नोऽन्यवस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित् ।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति ॥

प्रह्लाद जी अपनी बात के रूप में दुनिया की स्थिति का वर्णन करते हैं। एक ओर जिह्वा खींच रही है। डायाबिटिस वालों को डाक्टर लोग मीठा खाने का मना करते हैं तो उनसे रहा नहीं जाता। थाली में लड्डू मिठाई आ जाती है तो सोच लेते हैं कि भले ही इन्जेक्शन ज्यादा लें, लेकिन उपस्थित का परित्याग तो कठिन ही है। यह जिह्वा विकर्षण अन्यत्र भी है। दूसरी ओर काम प्रवृत्ति है। कभी-कभी सोच लेते हैं कि हम ब्रह्मचारी बने रहेंगे। कोई कोई सफलता प्राप्त करना है किन्तु अधिकतर लोग उसमें भी फेल

हो जाते हैं। पुत्र पौत्रादि स्पर्श सुखाभिलाषा भी वैसी है। आँख उस तरफ न जाय सोचते हैं किन्तु जाती वही है। चतुर्थी चन्द्र-दर्शन प्रतिषेध प्रसिद्ध है। वैसे शायद भी देख लें किन्तु प्रतिषेध होने पर वहीं बार बार दृष्टि जाती है। तुम्हारे अन्दर ऐश्वर्य भाव है तो इन पर पहले अधिकार जमावो। दूसरों पर बाद में अधिकार जमाने का करो! इसी प्रकार सिद्धि रूपी ऐश्वर्य की भी बात है। इन सिद्धियों को व्युत्थान दूर करने के काम में लगना चाहिये। यदि छोटी मोटी भी सिद्धि आ जाय तो उसका बाह्य उपयोग न कर परमसिद्धि के प्रति अतिशय श्रद्धा मात्र करना चाहिये। जिससे संसार विक्षेप निवृत्ति हो जाती है।

मालाड में एक पहाड़ी के ऊपर कुछ संत रहते थे। एक बार एक भक्त मुझे वहाँ ले गया तो बड़े बड़े सेठ सेठानियाँ वहाँ दिखाई पड़े। मुझे आश्चर्य हुआ कि मरने की फुर्सत बम्बई के सेठों को नहीं मिलती तो इनको कहाँ से इतनी फुर्सत मिल गयी। पूछते पूछते पता लगाते लगाते एक अन्तरंग व्यक्ति से रहस्य मालूम पड़ा। वहुत बड़ा भारी मिल मालिक सेठ था, वहाँ वह कुछ प्रतिष्ठा करवा रहा था और यज्ञ करवा रहा था। कुल तोस हजार रुपये वह खर्च करने वाला था। यह लगभग सन् साठ की बात है जब कि रुपयों की कीमत काफी थी। खैर, इतनी बात तो वहाँ प्रकट थी। किन्तु किस निमित्त यह उत्सव मनाया जा रहा था इसका रहस्य गुप्त था। उसी सेठ का मैनेजर मेरा भक्त था। उसने धीरे-धीरे रहस्य बताया। उसने कहा कि हमारा सेठ एक मील का मालिक है। एक दूसरा मील खरीदने जा रहा है। यह कार्य सुग-मता से हो यही सेठ की अभिलाषा है। दूसरी बात यह है कि जो वर्तमान में मील चल रही है उसमें दस लाख का घाटा आया है तो बाबाजी ने वचन दिया कि यज्ञ करावो, प्रतिष्ठा करावो तो तुम्हारी कामना पूर्ण होगी। तो यज्ञ के दिनों में आज समय

निकाल कर सेठ आया है। मैं सेठ का नाम तो नहीं लूंगा नाम लेने पर वह बहुतों का परिचित निकल सकता है। यज्ञ पूरा हो गया। प्रतिष्ठा भी हुई। किन्तु भगवान की लीला बड़ी विलक्षण होती है। दूसरी मील खरीदना तो दूर रहा जिसमें घाटा हो रहा था वह ऐसे घाटे पर चला कि वह भी दो-एक साल में बिक गया। संतों की सिद्धि का चमत्कार भी किनारे रह गया। सेठ का काम्य कर्म भी परले पार पहुँचा।

किन्तु बड़ा भारी एक प्रश्न चिन्ह छोड़ गया। क्या फिर ये सब यज्ञादि कर्म विफल है ? उत्तर बिल्कुल सीधा है। यज्ञादि कर्म सर्वथा सफल है, सौ टका नहीं, एक सौ एक टका सफल है। परंतु कर्म करो तो विधिवत् भी तो होना चाहिये। तीस हजार रुपये में कोई यज्ञ भगवान खरीदे नहीं जा सकते। मील में बैठकर हुकुम कर दिया तीस हजार दे दिया। एक दिन दर्शनार्थ आ गये। और तीस हजार में चार करोड़ का मील खरीदा गया तो यह भारी सस्ता धंधा हो जायेगा। भगवान को भी लोग बुद्धू बनाना चाहते हैं। यजमान दीक्षा यज्ञ में होती है। यजमान का पूरे कर्म में प्रतिनिधि नहीं होता। फिर यज्ञ करनेवाले वैसे ब्राह्मण चाहिये। हम बार-बार कहते हैं—**"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या-प्रयुक्तो न तमर्थमाह"** मन्त्र स्वरहीन हो, वर्णहीन हो, विपरीत प्रयुक्त हो तो विवक्षित अर्थलाभ नहीं होता। जैसा यजमान वैसा ब्राह्मण। क्या इस प्रकार कर्म फल की सिद्धि होगी। संतो की भी सिद्धि शक्ति की सीमा है। कांदीवली वाले बाबा से पूछा—बाबा जब आप बालू से चीनी और चावल बना लेते हैं तो समुद्र किनारे जुहू में जाकर पूरे बालू को चावल चक्कर क्यों नहीं बनाते। बिना तकलीफ कंट्रोल दूर हो जायेगा। दाम निचे आयेगा। लोगों का कल्याण होगा। बात यह है कि शक्ति सिमित होती है। अपनी शक्ति को पहचाने बिना ही किसी को वरदान देने का साहस न

करना चाहिये। अतः सामान्य मनौतियाँ आप भगवान के सामने भले मनाईये, किन्तु मील खरीदने आदि की कामना से छोटे मोटे गलत कर्म करना सही नहीं है। निष्काम कर्म हो तो अलग बात है। क्योंकि उसके लिये—**"प्रत्यवायो न विद्यते"** यह पहले आ चुका है। जहाँ लेन देन का काम है। वहाँ कर्मछिद्र न होना चाहिये। दुकान में आप कम्बल लेने गये। कम्बल का दाम दो सौ बताया। परंतु आपने कम्बल देखा तो बीच में एक छेद था। आपने कम्बल वहीं फेंक दिया। पैसा वापिस लिया। यह है लेनदेन। आप ठंढ़ी में पजाब में किसी रिश्तेदार या सज्जन के घर में गये। आप के पास कम्बल नहीं था। तो सज्जन ने एक कम्बल दिया। खोलकर देखा तो बीच में छेद था। क्या वहाँ भी आप कम्बल उसके मुहपर फेकेंगे ? जैसे दुकानदार के मुंह पर फेंका था। नहीं। क्यों ? यहाँ लेन देन की बात नहीं थी। प्रेम की बात थी। इसी प्रकार भगवान से कुछ लेने के लिये आपने सकाम कर्म किया। उसके बीच में **"मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं"** हो गया, तो जैसे दुकानदार के छिद्र कम्बल तो आपने फेंका वैसे भगवान भी आपके छिद्र कर्म को आपकी ओर फेंक देंगे। उस फेंकने में कहीं हाथ पाँव टूट गया तो वह भी भोगना पड़ेगा। **"सवाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति"** वही उस सेठ की हालत हुई। क्योंकि—**"वृद्धिमिच्छतो मूलमपि ते नष्टम्"** वाली बात हो गयी। हाँ साधारण गलती के लिये सकाम कर्म में क्षमादान की विधि है। क्योंकि सर्वथा दोषरहित, गलती रहित कर्म संपादन करना कलियुग मे प्रायः असंभव ही है। अत एव सकाम कर्मोत्तर भी यह प्रार्थना भी पढ़ी जाती है—

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं तथैव च।
यत्पूजितं सुरश्रेष्ठ पपूरिणं तदस्तु मे॥

कभी मन्त्र बिना आहुति आदि दिया। किसी क्रिया का लोप हुआ। कभी प्रेम बिना, भक्ति बिना ही आहुति आदि पड़ी तो हे भगवन्! उसे पूर्ण करें। यह प्रयोग सकाम में भी होता है। पाठ में तो—

यदक्षरं पदं भ्रष्टं मात्राहीनं च यद्भवेत् ।

तत्सर्वं क्षम्यतां देव प्रसीद परमेश्वर ॥

निष्काम कर्म में भी इसप्रकार क्षमा प्रार्थना होती है । परंतु कदाचित् क्षमा प्रार्थना न भी हुई तो हानि नहीं होगी ।

हम प्रकृत में आ रहे हैं। मनुष्य पूर्वोक्तरीत्या अधिकतर तो भोग एवं ऐश्वर्य में समासक्त होते हैं। उसी का परिणाम है— **तयापहृत चेतसाम्** । भोगादि आसक्ति होने पर पुष्पितवाणी बड़ी अच्छी लगती है । जिसके मन में धन की अभिलाषा भरी है, उसको वैराग्य का उपदेश करेंगे तो भला वह उसको कैसे अच्छा लगेगा। उसको यदि कहें कि श्री का मन्त्र जपो, धन मिलेगा। कुबेर का मन्त्र जप करो तो कार्य सिद्ध होगी । वेदों में पुष्पित वाणी तो हर कामना को लेकर आती है धन कामना हो तो श्री पूजन करो। आरोग्य कामना हो तो भास्कर पूजन करो । ज्ञान कामना हो तो शिव पूजन करो इत्यादि हजारों काम्य कर्म वचन वेदों में एवं पुराणादि में भरे पड़े हैं इन वचनों से चित्त अपहृत होता है। अर्थात् दूसरी ओर चित्त प्रवृत्त नहीं होता ।

व्यसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते । यहाँ समाधि शब्द का अर्थ अनेक आचार्यों ने अन्तःकरण या चित्त किया है। सम्यगाधीयन्ते संस्कारा यस्मिन् स समाधिस्तस्मिन् । अन्तःकरण में व्यवसायात्मक बुद्धि नहीं होती। अन्तःकरण को समाधि पद से क्यों कहा ? हृदयपद से क्यों नहीं कहा ? हृदये विधीयते ऐसा कहा जा सकता था । उत्तर यह है कि यह मानव का अन्तःकरण समाधि के लिये ही प्राप्त है । मानव अन्तःकरण में ही विशेषता है कि उससे समाधि लगायी जा सकती है । समाधि से ही अन्तःकरण की शोभा है ।

"श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिनं तु कङ्कणेन"

श्रोत्र की सार्थकता शास्त्र श्रवण से ही होती है। उसी से उसकी शोभा है। कुण्डल धारण करने से कोई उसकी शोभा नहीं होती। हाथ की शोभा दान से ही समझना चाहिये—

हाथ में सोने का कंगन लगावो या आजकल के हिसाब से रिस्टवॉच बाँधो तो उससे कोई शोभा नहीं होती। इसी प्रकार अन्तःकरण की भी शोभा या सप्रयोजनता समाधि से ही होती है। इसलिये अन्तःकरण को समाधि कहते हैं। जैसे हाथ का नाम पाणि है। पाति अनेन इति पणनाद्वा पाणिः। हाथ से रक्षा की जाती है तो उसका नाम पाणि पड़ा। अब उससे रक्षा करो या न करो। श्रूयतेऽनेनेति श्रोत्रम्। श्रवण तो वेदों का होता है। अब आप श्रुति श्रवण करो या न करो। उसको लेकर नाम पड़ गया। वैसे ही अन्तःकरण का नाम समाधि पड़ा इसलिये कि उससे समाधि लगाई जाती है। अब आप उससे समाधि लगावे या न लगावे यह अलग बात है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि जैसे मानव श्रोत्रातिरिक्त श्रोत्र से श्रुति श्रवण नहीं हो सकता वैसे अमानवान्तःकरण से समाधि नहीं लगायीं जा सकती। अतः समाधि इससे अवश्य लगावो। इस आशय से भगवान ने समाधि शब्द प्रयोग किया।

इसका दूसरे ढंग से भी अन्वय है। समाधौ यह निमित्त सप्तमी है। समाधि निमित्तभूता व्यवसाय बुद्धिर्न विधीयते नोत्पद्यते ऐसा अन्वय है। पुष्पित वाणी से जिनका चित्त अपहृत हो गया। हम पहले ही यह बता आये हैं कि यहाँ सर्वत्र योग पद का पातञ्जल प्रसिद्ध योग ही अर्थ है। किन्तु उसके एकांश को लेकर उस शब्द का प्रयोग है। "समत्वं योग उच्यते"। "योगः कर्मसु कौशलं" इत्यादि आगे का वचन भी परिभाषा नहीं है। किन्तु योगैकदेशात्मक होने से योगत्व कथन है॥ ४४॥

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

[हे अर्जुन ! वेद तीन गुणों को ही विषय बनाते हैं, तुम गुणातीत बनो । तदर्थ द्वन्द्वरहित, नित्यसत्त्वगुणस्थित, योगक्षेमचिन्ताशून्य आत्मवान् बनो ॥ ४५ ॥]

एक अव्यवसाय बुद्धि बतायी और दूसरी व्यवसाय बुद्धि कही । अव्यवसाय बुद्धि वह है जिसका कहीं अन्त नहीं है जो लक्ष्यहीन है । व्यवसाय बुद्धि का लक्ष्य रहता है और अन्त होता है । रास्ता कितना भी लम्बा क्यों न हो फिर भी लक्ष्य रहता है तो उसका अन्त होगा । दिल्ली जाने वाली गाड़ी दिल्ली पहुँच कर रुकेगी । किन्तु गाड़ी को ऊपर बाँध कर उसके पहियों को उसी वेग से घुमावें तो गति उतनी ही हुई किन्तु गाड़ी वहीं की वहीं रही । कोल्हू का बैल दिन भर में पचीस माईल चला । किन्तु रहा वहीं के वहीं । एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा । इसी प्रकार अव्यसाय बुद्धि है । उस बुद्धि से चलो । परन्तु जहाँ थे नहीं रहे । आगे अव्यवसाय बुद्धि और व्यवसाय बुद्धि के विषय का स्पष्टीकरण होगा । संक्षेप में यहाँ सकाम कर्म ही अव्यवसाय बुद्धि का विषय समझना है । उस कर्म से जन्म, और जन्म से पुनः भोग तथा कर्म इस प्रकार जन्म कर्म परम्परा में जहाँ के तहाँ रह जाते हैं । आगे बढ़ना नहीं होता । चक्र भ्रमण मात्र रहता है । इस प्रकार व्यवसाय एवं अव्यवसाय को समझाने के बाद अब उसी के अर्थ निर्देश के साथ अर्जुन के लिये क्या करना इसका आदेश भगवान दे रहे हैं—त्रैगुण्य इत्यादि ।

त्रैगुण्यविषया वेदाः । त्रैगुण्य का अर्थ है—तीन गुण, सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण । पुष्पित वाणी के द्वारा वेद त्रिगुण के ही

प्रतिपादक हैं। त्रिगुण में ही पहुँचाने वाले हैं। बृहदारण्यक उपनिषद में सप्तान्न का प्रकरण आया है—

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पिता

सात प्रकार का अन्न है। कुछ देवता का अन्न है, कुछ मनुष्य का अन्न है और कुछ पशु का अन्न है। यह पूरा संसार ही अन्न रूप है। पृथिवी, सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्र, गिरि, वन, सागर, पशु, पक्षी आदि जो भी दीख रहे हैं ये सब अन्न हैं। आप शंका करेंगे—गेहूँ, चावल, मूंग आदि तो खाये जाते हैं। अतः इनको अन्न कहना सम्भव है किन्तु पृथिवी जल तेज आदि कैसे अन्न होंगे ? मिट्टी पत्थर, कंकड़ आदि को कौन खाता होगा ? इनको भी कीड़े खाते हैं, ऐसा माना भी जाय तो भी सूर्य चन्द्रादि को तो कोई नहीं खाता और न खा सकता है। यह बात सही है। किन्तु यहाँ अन्न का अर्थ दाल भात रोटी ही नहीं, और न खाये जाने वाली वस्तु ही। "अद्यन्ते भुज्यन्ते उपभुज्यन्त इत्यन्नानि" ऐसा यहाँ अर्थ है। अर्थात् जिनका उपभोग होता है वह यहाँ अन्न पद का अर्थ है। उपभोग का अर्थ है सुख दुःखादि अनुभव। जो सुख दुःखाद्यनुभव साधन है, उसको उपभोग्य कहते हैं। उपभोग साधन सभी उपभोग्य है, उन्हीं को अन्न भी कहते हैं। भोजन वस्त्रादि सभी उपभोग साधन हैं। अतः ये सब अन्न हैं। पृथिवी पर हम चलते हैं, फिरते हैं, बैठते हैं, उससे कभी सुख होता है, कभी दुःख होता है। अतः पृथिवी उपभोग साधन है, उस दृष्टि से वह अन्न है। पत्थर पर कभी बैठे तो सुख मिला और कभी बैठने पर लुढक पड़े तो दुःख हुआ। इस प्रकार उपयोग भोग होने से वह अन्न हुआ। जल पीते हैं, जल में तैरते हैं इस प्रकार वह सुख साधन है। कभी जल में लोग डूब जाते हैं। बाढ़ में तो तबाही होने लगती है। बिमारियाँ फैल जाती है। इस प्रकार सुख दुःख साधन होने से वह भी अन्न है। अग्नि के ऊपर खाना पकाते हैं, अतः सुखदायी है। सुखदायी

होने से वह अन्न है। और कभी आग में हाथ जला तो दुःखदायी भी होता है। हाथ तो क्या ? कभी-कभी भयंकर अग्नि में ग्राम का ग्राम जलकर भस्म होता है। अतः दुःखोपभोग हेतु भी है अतः अन्न है। वायु से हमारी प्राणक्रिया चलती है। अतः वह सुख साधन है, किन्तु कहीं आँधी, झंझावातादि हुआ तो तूफान हुआ, तो दुःख साधन भी है। इसी प्रकार सूर्य-चन्द्रादि भी हैं। गरमी में बाहर घूमना पड़ा तो धूप में भारी परेशानी होती है। किन्तु ठंढी के दिनों में पंजाब में जावो, वहाँ "अमृतं सूर्यदर्शनं" हो जाता है। इस दृष्टि से विचार किया जाय तो सारा संसार सुख दुःख साधन सिद्ध होता है। अतएव पूरा संसार अन्न ही है। फिर हमारा यह शरीरेन्द्रियादि भी भोगसाधन होने से अन्न ही है।

सप्तान्नात्मक यह संसार है। इस संसार को किसने बनाया ? पिता ! कौन है पिता ? शायद परमपिता परमात्मा हो। नहीं। यहाँ पिता का मतलब है हम सभी। हम स्वयं जगत् के पिता हैं। परन्तु यह बात बराबर जँची नहीं। हम कैसे पिता हो सकते हैं ? किन्तु उपनिषद का कथन है कि हम ही पिता हैं। क्योंकि संसार को जन्म देने वाले हम हैं। हमने कैसे जन्म दिया संसार को ? उसका उत्तर है—मेधया तपसा। कर्म एवं उपासना के अनुसार संसार का जन्म है। इस पर संशय हुआ कि हमारा कर्म और उपासना कुछ अंशों में सहकारी बन सकते हैं। असल में ईश्वर ने अपनी शक्ति से संसार को बनाया। इस पूर्व पक्ष के उठने पर सप्तान्न सर्ग मन्त्र की व्याख्या ब्राह्मण ने की। कहीं संशय विपर्यास न हो जाय। ब्राह्मण ने व्याख्या की—

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत् पितेति
मेधया हि तपसाऽजनयत् पिता।

इस मेधा और तप के साथ अन्य किसी अलौकिक शक्ति आदि को मत जोड़ो। मेधा और तप से ही यजमान ने इस सप्तान्न को

बनाया। कर्म एवं उपासना यहाँ पर विवक्षित है। इन दो से ही समान्न जगत् सृष्टि है। कर्म दो प्रकार का है। सत्कर्म तथा असत् कर्म। वैसे ही उपासना भी दो है—सदुपासना और असदुपासना। मन्त्र में तप पद से सभी कर्म ग्राह्य है। यज्ञ दान तप, कर्म तो प्रसिद्ध हैं ही। उनके साथ विहीन कर्म के साथ प्रतिसिद्ध कर्म भी आ जाते हैं। अतएव सारा जगत् केवल सुखोपभोग मात्र साधन नहीं, दुःखोपभोग साधन भी होता है। यज्ञ दान तप कर्म सत्कर्म है। असत्य भाषण, हिंसा चौर्यादि कर्म असत्कर्म है। इसलिये हर जगह से हमें सुख के साथ दुःख भी मिलता है। जैसे अभी हमने उदाहरणों में बताया—सूर्य से ठंढी में सुख भी मिलता है, गरमी में दुःख भी मिलता है। भोजन हम करते हैं तो सुख मिलता है। किन्तु पाँच रोटी की जगह दस-पन्द्रह खा लिया तो? घी खाने से शक्ति वृद्धि आयु वृद्धि होती है। किन्तु एक छटांक के बदले आधा किलो खा गये तो? वह दुःखदायी निश्चित है। कुआँ खोदते थे तो पानी पीने को मिलता था। कोई उसमें गिर कर मर भी जाता था। अतएव सत्कर्म तथा असत्कर्म के समवाय से सारा जगत बना। हम यह नहीं कह रहे कि केवल एक-एक व्यक्ति के व्यष्टि कर्म से जगत बना। किन्तु समष्टि कर्म से प्रायः जगत बना है। क्योंकि एक ही समय में एक के लिये सुखदायी है तो दूसरे के लिये वही वस्तु उसी समय दुःखदायी भी देखने में आती है।

मेघों का अर्थ उपासना है। सत्कर्म और असत्कर्म समझ में आता है। किन्तु उपासना में ये दो विभाग किस प्रकार। भगवदुपासना दो प्रकार तो हो नहीं सकती। वह सदुपासना ही होगी, असदुपासना नहीं। इसका उत्तर है कि असदुपासना भी होती है। केवल परमात्मा की ही उपासना होती हो, ऐसी बात नहीं है। गीता में भी अनेक प्रकार की उपासना आगे बतायेंगे—

भूतान् प्रेतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।

बहुत से लोग भूतप्रेत की भी उपासना आज भी करते हैं। मन्त्रसिद्धि के लिये श्मशान में जाते हैं—

मन्त्राराधनतत्परेण मनसा नीताः श्मशाने क्षयाः ।

यह सब असदुपासना है। यही क्या ? ईश्वरोपासना में भी भाव भेद से असद्भाव आ जाता है। अत एव श्रीमद्भागवत में त्रिवध उपासना का वर्णन आया है। भगवान की उपासना करते समय कोई अभिलाषा रखता है कि मुझे शान्ति प्राप्त हो, ज्ञान प्राप्त हो। मैं ऐसा समर्थ बनूं जिससे मैं लोकोपकार करूँ इत्यादि। यह सात्त्विक उपासना है। कोई उपासना करते समय मन में अभिलाषा करता है कि मुझे धन प्राप्त हो, यश प्राप्त हो, गृहादि प्राप्त हो। रोग कष्टादि दूर हो। यह राजस उपासना है। परन्तु बहुत से ऐसे लोग भी मिलेंगे जो यह प्रार्थना करते हैं कि भगवान मेरे पड़ोसी ने मुझे बहुत तंग किया। उसका नाश हो जाय। जब वह बीमार पड़ जाता है तो सोचते हैं कि भगवान ने बडा अच्छा किया। इस प्रकार जो उपासना है वह तामस उपासना कहलाती है। इनमें सात्त्विक उपासना ग्राह्य है। राजस भी सकाम होने से विहित ही है। परन्तु तृतीय प्रतिषिद्ध है। वह असदुपासना है। क्योंकि फलतः वह हिंसात्मक है। बहुत सारे कर्म एवं उपासना ऐसे हैं कि स्वरूपतः विहित होने पर भी फलतः प्रतिषिद्ध होते हैं। वेदों में श्येन याग की बात आती है। **"श्येनेनाभिचरन् यजेत"** ऐसा विधिवाक्य आता है। फिर भी श्येन याग को धर्म नहीं माना। क्योंकि वह याग शत्रु वधार्थं किया जाता है। अतः फलतः वह प्रतिषिद्ध है। क्योंकि वेदों में ही **"मा हिंस्यात्सर्वा भूतानि"** इस प्रकार हिंसा का प्रतिषेध किया है। अतः स्वरूपतः विहित होने से पाप न होने पर भी फलतः हिंसात्मक होने से प्रतिषेध विषय हो जाता है। इसी प्रकार उपासना भी है। पर दुःखापादन प्रतिषिद्ध

होने से तदर्थं उपासना असदुपासना ही मानी जायेगी। इस प्रकार उपासना भी सदुपासना सौर असदुपासना भेद से दो प्रकार की है।

इस प्रकार द्विविध कर्म एवं द्विविध उपासना से ही सारा यह अन्नात्मक संसार बना । कर्म एवं उपासना के कर्त्ता यही जीव हैं यजमान है। अतः यही जगत का पीता है

भगवान् इसी बात का यहाँ प्रतिपादन कर रहें—**त्रैगुण्यविषया वेदाः**। अर्थात् त्रिगुणात्मक संसार साध्य है। कर्म तथा उपासना साधन है। इस प्रकार साध्यसाधन भावापन्न यह संसार है। उस साध्य साधन भाव का प्रकाशन वेद कहते हैं। यहाँ पर भी बड़े-बड़े व्याख्याता आधुनिक प्राज्ञंमन्यों को भ्रान्ति हो गयो कि भगवान ने यहाँ वेदों का निरादर किया है। क्योंकि वेद त्रैगुण्य विषयक है, तुम निस्त्रैगुण्य बनो, इस कथन का अर्थ यही निकलता है कि वेद हेय है। परंतु यह उन व्याख्याताओं की पूर्वाग्रह प्रयुक्त भ्रान्ति मात्र है। वेदों ने तो वस्तु स्थिति का प्रकाशन किया है। आयुर्वेद एवं मेटीरिया मेडिका में बताया है कि मांस भक्षण से शक्ति बढ़ती है, किन्तु ऊपर से दूध पीने पर रोग होता है। इससे तुम आगे बढ़ो, सात्त्विक भोजन करो, यह कहना आयुर्वेद की निन्दा नहीं है। आयुर्वेद ने वस्तु स्थिति का प्रकाशन मात्र किया है। और सात्त्विक भोजन का वर्णन भी आयुर्वेद में ही मिलेगा। इसी प्रकार वेदों में बताया है—यज्ञादि से स्वर्ग मिलेगा। हिंसा चौर्यादि से नरक मिलेगा। हमें न स्वर्ग जाना है और न नरक पाना है। इन सबसे ऊपर जाना है, कथन में भला वेद निन्दा किस प्रकार ? क्योंकि उससे ऊपर का तत्त्व भी वेद वर्णित है। यदि वेदों का न्यक्करण यहाँ अभिप्रेत है तो "त्रैगुण्यविषया वेदा निर्वेदस्त्वं भवार्जुन" इस प्रकार सीधा लिखते। निर्वेद बनना अभीष्ट नहीं है। किन्तु साध्य साधन भावापन्न त्रैगुण्यातीत होना ही अभीष्ट है।

यह पूरा संसार त्रैगुण्यात्मक है । सांख्य शास्त्र में इसका विराड्वर्णन है । सांख्य कारिका की संख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र ने संसार को इस प्रकार सदृष्टान्त त्रिगुणात्मक सिद्ध किया—

एकैव स्त्री रुपयौवनशीलगुणसंपन्ना पतिं सुखा करोति। तत्कस्य हेतोः ? तस्यास्तं प्रति सत्त्वरूपसमुद्भावात् । सपत्नीर्दुःखा करोति। तत्कस्य हेतोः ? तस्यास्ताः प्रतिदुःखरूपसमुद्भावात् तामविन्दमानं पुरुषं मोहा करोति। तत्कस्य हेतोः ? तस्यास्तं प्रति तमोरूप-समुद्भवात्। अनया स्त्रिया सर्वे भावा व्याख्याताः। स्त्री एकही है। रूपवती है, गुणवती है, सुशील है, यौवन युक्त है। वह अपने पति को आनंद पहुँचाती है। पति उसे देखकर सुखानुभव करता है। क्यों ? पति के प्रति उसका सत्त्वगुण उद्भूत हो गया है। सौतों को वह दुःख का कारण बनती है। उसे देखकर सौतें दुःखी होती हैं। जैसे चित्रकेतु की अन्य पत्नियाँ पुत्रवती ज्येष्ठ पत्नी को देख देखकर जलती थीं। क्यों ? उनके प्रति उसका रजोगुण उद्भूत हो गया है। एक तृतीय चरित्रभ्रष्ट मनुष्य है। वह उसे देखकर मोहित होता है। क्यों ? उसके प्रति उसका तमोगुण उद्भूत हो गया है। इसी स्त्री के उदाहरण से पूरे संसार की व्याख्या कर लो। सीता को देखकर रावण को मोह हो गया। उसने सीता का हरण किया। रामचन्द्र को सुख पहुँचाया। श्री राम के प्रति सीता का सत्त्वगुण समुद्भूत हो गया। रावण के प्रति तमोगुण हो गया। उससे पूर्व राम के प्रथम राज्यभिषेक की तैयारी में कोसल्या को हर्ष हो रहा था। कैकेयी को ईर्ष्या हो रही थी। कारण यही की राम का सत्त्वगुण कौसल्या के प्रति समुद्भूत हो रहा था। कैकेयी के प्रति राम का रजोगुण समुद्भूत हो रहा था। राम और सीता साक्षात् ब्रह्मरूप थे। उनमें सत्त्वादि गुण कैसे ? सांख्यवाले कहते हैं आप उपासार्थ भले यह सब मान लिजिये। किन्तु सत्त्वादिगुणों

का अतिक्रमण नहीं हो सकता। वेदान्त मत में भी 'प्रकृतिं स्वाम-धिष्ठाय'' के अनुसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति है ही।

यह सब उदाहरण मात्र है। समग्र जगत में इस प्रकार त्रिगुणात्मकता है। आपके पास धन है। धन स्वामी उससे बड़ा प्रसन्न है। धन खर्च करे या न करे। जीवन में उपभोग का अवसर आवे या नहीं आवे। उस धन को देख देखकर ही वह आनन्दमग्न होता है। एक आदमी को मैंने देखा। रोज रोज वह पेटी में से वह रात को पैसा निकालकर गिनता था। फिर वैसे रख देता था। उसके गिनने में ही उसको आनन्द मिलता था। तत्कस्य हेतोः? ऐसा क्यों? वही पूर्वोक्त उत्तर—तस्य तं प्रति सत्त्वरूपसमुद्भावात्। धन स्वामी के प्रति धन का सत्त्वगुणसमुद्भाव हो रहा है। करोड़पति को देखकर दूसरे धनस्वामी जलते हैं। इसके पास इतना धन क्यों हो गया? वह क्यों? उत्तर पूर्वोक्त है। तस्य तान् प्रति दुःखरूपसमुद्भवात्। उस धन का दूसरों के प्रति रजोगुण व्यक्ति हो गया। तीसरा एक चोर है। वह उसे देखकर सोचता है—कैसे चुराया जाय? उसको व्यामोह पैदा हुआ। क्यों हुआ? तं प्रति मोहरूपसमुद्भावात्। उस धन का तमोगुण चोर के प्रति प्रकट हो रहा। एक सुन्दर साड़ी है। बढ़िया साड़ी कहकर साड़ी-से वह मुझसे भी अधिक खुब सूरत दीख रही है तो उसको जलन हो गया। एक स्त्री को मैंनें देखा। उसने दूसरी की साड़ी देखी तो पति से कहा, ऐसी साड़ी हमको भी चाहिये। प्रति ने कहा—कल परसो लायेंगे। उसने कहा—आज ही चाहिये। उसने अनशन प्रारंभ किया। साथ में पति को भी अनशन करने की नौबत आयी क्योंकि पति को रोटी बनाना आती नहीं थी। होटल में वह खाता नहीं था। एक टाईम को चाय की हड़ताल में ही हिम्मत चली गयी। उसी दिन जाकर साड़ी खरीदनी पड़ी तत्कस्य हेतोः? रजोगुणसमुद्भावात्। तीसरा साड़ी चुराने की ताक में है। इस

प्रकार विवेचन करो तो सारा संसार त्रिगुणात्मक सिद्ध होता है। त्रैगुण्यविषया वेदाः। त्रिगुणात्मक संसार के प्रतिपादन से वेद भी त्रैगुण्य विषय हो गये।

निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। इसका अर्थ ऐसा न समझना कि वेद त्रिगुणमय है। तुम वेदों से ऊपर त्रिगुण रहित बनो। शरीर त्रिगुणात्मक है तो त्रिगुण से परे जायेंगे कैसे? सप्तान्न कार्य एवं कर्मोपासनारूपी कारण के कार्यकारणभाव प्रदर्शन करते हैं वेद। त्रैगुण्यात्मक सप्तान्न के प्रति विहित प्रतिषिद्ध कर्मादि कारण है। अतः इस त्रैगुण्य संसार से बचने के लिए निस्त्रैगुण्य बनो ऐसा अभिप्राय है। यहाँ भाष्यकर भगवान् शंकराचार्य ने अर्थ लिखा है—निष्कामो भवेत्यर्थः। कर्मोपासना सकामभाव से कहते हैं तो वह त्रिगुणात्मक सप्तान्न सर्ग का कारण होता है। अतः त्रिगुणात्मक संसार से बचने के लिये सकामता त्याग करो यही यहाँ अभिप्राय है। केवल मरणोत्तर त्रिगुण संसार कारण होने से ही नहीं, अपितु वर्त्तमान जन्म में ही त्रिगुणोपभोग में कामना ही कारण होने से भी कामना त्याग करना चाहिये और त्रिगुण संसारोप भोग से बचना चाहिये। संसार के त्रैगुण्य को कामना प्रकट करती है। पति सकाम है, उसे कामना है। इसलिये स्त्री में सुख प्रकट हुआ। सपत्नियों को पति सुख पूर्णतया प्राप्त करने की कामना है अतः दुःख हुआ। रावण के मन में सीता के प्रति कामना हुई। इसीलिये मोह हुआ। अतः कामना ही तीनों गुणों को प्रकट करने वाली है। धन की कामना होने से धन प्राप्ति से सुख हुआ। धन दूसरों को भी अधिकाधिक चाहिये। न मिलने से दुःख हुआ। धन की कामना से ही चोर चोरी करने जाता है। जिसके मन में किसी प्रकार की कामना नहीं उसके लिये सोना और मिट्टी में कोई फरक नहीं।

क्वचिन्नारी रम्या क्वचिदपि जराजर्जरवपुः

किन्तु कोई फरक नहीं। क्योंकि कामना नहीं है। कामना से ही यह सोना यह मिट्टी ऐसा भेद भाव हुआ। अमृतसर में एक सुवर्ण मन्दिर है। पहले वहाँ हिन्दू सिख सभी के लिये समानता थी। सुवर्ण मन्दिर में गुरुग्रन्थ साहिब भी थे। और इधर उधर मूर्त्तियाँ भी भगवान की थी। हिन्दू सिख का विरोध हुआ तो मूर्त्तियों को तालाब में विसर्जन कर दिया। शुद्ध सिख मन्दिर हुआ। तब हिन्दुओं ने सोचा हमारे पास भी ऐसा सुवर्ण मंदिर होना चाहिये। बाद में हिन्दुओं ने दुर्ग्याणा मंदिर बनवाया। राम कृष्ण आदि की मूर्त्तियाँ उसमें स्थापित की। पूरा सोने का नहीं, फिर भी काफी सोने के पतरे उसमें भी लगाये गये हैं। हाँ, सिखों का सुवर्ण गुरुद्वारा न होता तो यही मंदिर संसार में सुवर्ण मंदिर से प्रसिद्ध होता। अस्तु। एक बार मैं वहाँ पास में धर्मशाला में ठहरा हुआ था। मैंने देखा मन्दिर के दर्शनार्थ हजारों लाखों लोग प्रतिदिन वहाँ आते हैं। लोग खूब प्रसन्न होते हैं। मूर्त्तियों को भी अपेक्षा लोग सोने के पत्रे देखकर प्रसन्न होते हैं। कुछ कुछ सिखों को ईर्ष्या भी होती है। हमारी तुलना में यह मंदिर क्यों बना। वहाँ देखा—कड़ा पहरा है। क्योंकि चोर भी तो घूमते रहते हैं। पतरे का एक टुकड़ा मिल जाय तो बड़ी बात है। इस प्रकार त्रैगुण्य प्रकट हो रहा था। किन्तु मैं कभी कभी दोपहर को धर्मशाला के ऊपर से देखता था तो आश्चर्य होने लगता था। कबूतर उड़-उड़कर आवें और ऊपर जो सोने का भारी गुम्बज है उस पर बीट करें। नीचे मनुष्यों को खुशी हो रही। ईर्ष्या हो रही है, मोह हो रहा है। किन्तु उस सोने पर बैठे कबूतरों को तीनों नहीं हो रहे थे। मैंने कहा—ये कबूतर सुवर्ण मंदिर के प्रति निस्त्रैगुण्य है। क्यों ? कबूतरों में कामना नहीं है। अतः सुवर्ण गुम्बज पर बीट करते और परस्पर गुटर गूँ आवाज से लड़ते। वे सोने के लिये नहीं लड़ते। उनको सोना मिट्टी बराबर है। वे अपने स्वभाव वश लड़ते हैं।

अर्थात् सुवर्ण से उस स्वभाव में कोई फरक नहीं आया। जिसके मन में कामना है उसके लिये संसार त्रिगुणात्मक है—सुखात्मक, दुःखात्मक, मोहात्मक है। कबूतरों के मन में कामना नही। अतः वे निस्त्रैगुण्य हैं। हे अर्जुन निस्त्रैगुण्योभव। न तु संसारं निस्त्रैगुण्यं कुरु। संसार को निस्त्रैगुण्य बनाना नहीं है। स्वयं निस्त्रैगुण्य बनना है। अपने आपको निस्त्रैगुण्य बनाया तो सारा संसार तुम्हारे लिये निस्त्रैगुण्य ही है। सुनते हैं कि किसी राजा को चलते समय रास्ते में कांटा लगा तो राजा ने मन्त्री को हुकुम किया कि सारे रास्ते में चमड़ा बिछा दो, जिससे कहीं भी कांटा न लगे। मन्त्री ने विचार किया कि यह काम बड़ा भारी है। फिर क्या मालूम कि जिस रास्ते में चमड़ा बिछाया गया उसी रास्ते से हमेशा राजा जायेंगे। कहीं शिकार खेलने गया राजा तो और मुसीबत होगी। मन्त्री ने राजा से नम्र निवेदन किया—राजन् इससे एक अच्छा उपाय है—

उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः

कांटे से बचने के लिये सारी पृथिवी पर चमड़ा बिछाना असम्भव है। आप अपने पाँव पर जूता पहन लें तो सारी पृथिवी आपके लिये चमड़े से बिछी हुई होगी। यही बात यहाँ पर भी है। सारे संसार को निस्त्रैगुण्य बनाने जाओ तो असम्भव है। उसकी अपेक्षा स्वयं निस्त्रैगुण्य बनो, यही ठीक रहेगा। स्वयं निस्त्रैगुण्य होने पर पूरा संसार उसके लिये निस्त्रैगुण्य हो जायेगा। निस्त्रैगुण्य परमात्मा को कहते हैं। उस मार्ग से चलने वाला भी निस्त्रैगुण्य हो जाता। वह मार्ग है निष्कामता रूपी मार्ग। उस मार्ग से जो ब्रह्म में विचरता है वह विधिनिषेध से परे हो जाता है। उसके लिये फिर सप्तान्न सर्ग बन्धन नहीं रहता। सर्व बन्धनिर्मुक्त होता है—

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः।

निस्त्रैगुण्य मार्ग में चलता है उसके लिये विधि निषेध सभी समाप्त हो जाते हैं।

निर्द्वन्द्वः। सुवर्ण मंदिर पर बैठे कबूतर निस्त्रैगुण्य हैं। उसके मन में सुवर्ण विषयक कामना नहीं। तो क्या कबूतर बनना है? नहीं। कबूतर में सापेक्ष निस्त्रैगुण्यता है। निरपेक्ष नहीं वह सुवर्ण मात्र से निस्त्रैगुण्य है। सापेक्ष निस्त्रैगुण्यता है। निरपेक्ष निस्त्रैगुण्यता नहीं है। निरपेक्ष निस्त्रैगुण्यता कैसे संप्राप्त होगी? साधना करने से। क्या साधना? निद्वन्द्वो भव। निर्द्वन्द्व बन जावो। द्वे द्वे इति द्वन्द्वम्। जहाँ परस्पर विरुद्ध दो दो रहे उनको द्वन्द्व कहते हैं। द्वन्द्व युद्ध होता है तो एक योद्धा होता है। दूसरा प्रतियोद्धा। एक मल्ल होता है। दूसरा प्रतिमल्ल। विरुद्ध दो का संयोग द्वन्द है। सुख और दुःख द्वन्द्व है। इसी प्रकार मान-अपमान, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि सभी द्वन्द्व है। जो द्वन्द्व से ऊपर उठा वही निर्द्वन्द्व है। निष्क्रान्तो द्वन्द्वाद् निर्द्वन्द्वः। निर्गतः वा द्वन्द्वः यस्मात् स निर्द्वन्द्वः। जो द्वन्द्व से उपर निकल गया या द्वन्द्व जिससे निकल गया, वह पुरुष निर्द्वन्द्व है। एक को रखा, दूसरे को मिटाया तो निर्द्वन्द्व नहीं होगा। वैसे तो सब लोग कोशिश करते ही हैं। दुःख मिटाकर सुख रखना, अपमान मिटाकर मान संपादन करना, पराजय होने न देकर विजय प्राप्त करना ऐसा प्रयास तो सबका बना रहता है। परन्तु ऐसा करना द्वन्द्व को मिटाना नहीं द्वन्द्व को बुलाना है। क्योंकि अपमान मिटाने से निटता नहीं, मान बुलाने से आता नहीं। दुःख मिटाने से मिटता नहीं सुख बुलाने से आता नहीं। इसलिये सांख्य प्रकरण में ही भगवान ने बताया था कि द्वन्द्व मिटाना नहीं, उसमें सम रहना है—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ

यहाँ समे कृत्वा का भी अर्थ सम बनाना नहीं है। दोनों सम कैसे होंगे? किन्तु सुख-दुःखादि का ख्याल ही को मन में से निका-

लना समीकरण है। व्यवहार में बोला जाता है—इसने मेहनत करने में दिन रात एक किया। मतलब दिन रात एक नहीं हुआ। दिन रात का ख्याल नहीं किया, परवाह नहीं की यही अर्थ है। इसी प्रकार सुख दुःख का समीकरण है। अर्थात् सुख और दुःख पर ध्यान न देकर कर्तव्य कर्म में स्थित होना सुख दुःख से परे उठना है। लाभ हानि को हम एक नहीं कर सकते और न मिटा सकते। परन्तु लाभ हानि की परवाह न करना हमारे हाथ की बात है। यही निर्द्वन्द्वता है—जय पराजय को भी हम न एक कर सकते हैं और न मिटा सकते ही हैं। जय पराजय की परवाह न करना यही समीकरण या निर्मूलीकरण है। भगवान कहते हैं, हे अर्जुन ये द्वन्द्व आते रहेंगे। किन्तु तुम्हें इनकी परवाह किये बिना आगे बढ़ना होगा। तो ही निरस्त्रैगुण्य बन सकोगे। निर्द्वन्द्व बनो इसके लिये दूसरा शब्द है—तितिक्षु बनना। **"न तितिक्षासममस्ति साधनम्"** तितिक्षा सर्वोत्तम साधन है। ठंढी गरमी की परवाह न करो। गंगोत्री में बरफ के मध्य में जाकर बड़े-बड़े संत पहले नग्न रहते थे। यह भी एक तप ही है। यद्यपि बरफ में रहने से ही मोक्ष नहीं होता। फिर भी ध्यानाभ्यासादि के प्रतिबन्ध की निवृत्ति त्याग तपस्या तितिक्षा से होती है। हम काशी में रहते थे तो पहले ठंढी गरमी से घबराये। परन्तु देखा इस ठंढी गरमी से डरेंगे तो साल में दो चार महीने ही अध्ययनार्थ उपयुक्त मिलेंगे। इसका मतलब यदि बीस वर्ष अध्ययन करना हो तो साठ वर्ष बिताना होगा। गरमी और ठंढी में टस से मस नहीं हुए। ऐसा अध्ययन भी एक तप है। उसी से विद्या प्राप्त होती है। यह तितिक्षा साधन है। साध्य नहीं उससे और आगे बढ़ना आवश्यक है। वैसे ही कोई गाली दे तो सिकुड़ना नहीं, प्रशंसा करने पर फूलना नहीं। यही समझना—गाली दे तो वह शब्द है हवा में उड़ गया। मुझे उससे क्या सम्बन्ध? और प्रशंसा से भी मेरा क्या सम्बन्ध? जिसके मुँह

से गाली निकलती है उसके लिये समझना कि उसकी नाभि से गटर है। शब्द मूलाधार से निकलते ही नाभि में उस गटर से टकराकर आती है तो बाहर दुर्गन्ध फैलायेगा ही। वैसे कोई प्रशंसा करता है तो समझ लो उसकी नाभि में कस्तूरी है। उससे कस्तूरी की सुगंधि चारों ओर फैल रही है। इस सुगन्ध और दुर्गन्ध से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। मान अपमान से या स्तुति निन्दा से मन में विकार आयेगा तो परिणामतः रागद्वेषादि दोष भी अद्भूत होंगे। तब निस्त्रैगुण्यता नहीं होगी। काम और तत्फल क्रोधादि ही तो त्रैगुण्य है।

नित्यसत्त्वस्थः। सुख-दुःख एवं मानापमानादि में से हम कैसे बाहर निकल सकते हैं? उसके लिये उपाय है—नित्यसत्त्वस्थ—नित्य ही सत्त्वगुण में स्थित होना सात्त्विक होना यही उपाय है। आहार विहार भाषणादि सभी सात्त्विक होना चाहिये। हर समय सात्त्विकता बनी रहनी चाहिये। तो ही निर्द्वन्द्व बन सकते हैं। और फिर निस्त्रैगुण्य बन सकते हैं। श्रीमद्भागत में निस्त्रैगुण्य का क्रम बताया है—

रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च

तमोगुण को प्रथम रजोगुण से जीतो। ध्यान में बैठते समय आलस्य होने लगा, बैठा नहीं जा रहा तो थोड़ा घूम-फिर कर बाद में बैठो। फिर शेष-अवशिष्टतम और रज दोनों को सत्त्वगुण से जीतो। सत्त्वगुण को किससे जीतेंगे? उपशम से। शान्ति से। क्या शान्ति सत्त्वगुण नहीं? है, सब गुण हैं। परन्तु यह उत्कृष्ट सत्त्वास्था है। दिव्य सत्त्वावस्था है। यही नित्य सत्त्वस्थः से बताया। इससे जो निर्द्वन्द्वता आयेगी वह भी परम शान्ति ही है। तब निस्त्रैगुण्य होगा—त्रिगुणातीत होगा। इसलिये शुरूआत से अपने जीवन को सात्त्विक बनाने का ही प्रयास करना चाहिये। चतुर्दशाध्याय में एतदर्थ ही गुणत्रय विभाग कथन आगे होगा। जिससे

प्रथम सत्त्वगुण समृद्धि की जा सके। और उसके द्वारा अन्य गुणों का अभिभव किया जा सके।

निर्योगक्षेमः। संसार में रहते समय रजोगुण और तमोगुण का भी आश्रयण करना अनिवार्य होता है। क्या दुर्योधन के प्रति सात्त्विक भाव बरतने से काम हो गया था? कभी क्रोध, कभी काम आदि भावों में प्रवेश करना ही पड़ता है। तब नित्य सत्त्वस्थ कैसे बनेंगे? इसका उत्तर है कि एक ही दिन में सब कुछ सिद्ध करना नहीं है। क्रमशः आगे बढ़ना है। रजोगुण तमोगुण में प्रवेश प्रायः योगक्षेम को लेकर होता है। अप्राप्त प्रापण योग है। प्राप्त परिरक्षण क्षेम है। एक व्यापारी लाख कमाने की चेष्टा करता है, यह योग है। दूसरा व्यापारी प्राप्त लाख में अब न्यूनता न आवे इसके लिये प्रयत्न करना है वह क्षेम है। योग चिन्ता और क्षेम चिन्ता हमेशा मनुष्य को घेरे रहती है। इस चिन्ता से मुक्त होना ही निर्योगक्षेम बनने का मतलब है। इस चिन्ता से मुक्ति कैसे मिलेगी? यह तो संसार के साथ लगी हुई है। इससे मुक्ति पाने का उपाय भी इसी शब्द के द्वारा ही भगवान ने सूचित किया है। क्योंकि आगे स्वयं भगवान ही इसी शब्द को लेकर बतानेवाले हैं—

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्

योगक्षेम को भगवान पर छोड़ देना चाहिये। क्योंकि प्राप्त करने की इच्छा सब में होती है। सभी परिश्रम भी करते हैं कौन व्यापारी नहीं चाहेगा कि करोड़पति बनूं। और संभव उपाय साधना से भी कौन चूकेगा? कौन चाहेगा—मेरा खजाना खतम हो। किन्तु सारी बात रह जाती है। उसकी जो मर्जी है वही होता है। तब कर्तव्य करना मात्र हमारे हाथ की बात रही। योगक्षेम वहन तो उसी के हाथ में है। इस बात को यदि मन में पक्का कर लिया वही निर्योगक्षेम है। तब उसमें नित्य सत्त्वगुण का उदय होने लगता है। योगक्षेम चिन्ता से अनेक विध अनर्थ

कार्यों में जो प्रवृति होती है वह सारी खतम होगी जब योगक्षेम को भगवान पर छोड़ देता है।

आत्मवान्। इन सबका मूल कारण है आत्मवान् बनना। आत्मवान् का यहाँ अर्थ है धीर बनना। धीरज रखो। धैर्य धारण करो। किसी भी कार्य के लिये दृढ़ता चाहिये और सहिष्णुता चाहिये। उतावले से काम नहीं होगा। प्रतिक्षण शक्ति संपादन करो। यह एक दो दिन को साधना से नहीं होगा। वर्षों लगेंगे। एक जिज्ञासु ने आकर मुझसे कहा—भगवान के दर्शन का क्या उपाय है? मैंने कहा—नाम जप करो, रूपध्यान करो। दस पंद्रह दिन बाद में आकर बोलने लगा कि मैंने नाम जप किया और रूपध्यान किया। अब दर्शन कब होगा? मैंने कहा—करते जाओ। वह पूछने लगा कब तक करना है? मैंने कहा—जब तक भगवत् दर्शन न हो। इसके लिये महीना दो महीना, साल दो साल कोई अवधि भी है? कोई अवधि नहीं। साल दो साल नहीं, दो चार जीवन भी लग सकते हैं "अनेकजन्मसंसिद्ध" यहाँ तक भगवान कह गये हैं। उसने कहा—तब तो मेरे से नहीं होगा। हो न हो किन्तु इतने जन्म क्या इससे असंख्य गुण जन्म लेने पडेंगे। अभी सम्हालना बुद्धिमत्ता होगी। काशी में एक महात्मा थे। जब सुना कि बारह साल परिश्रम करने पर एक विषय का आचार्य होगा। सो भी बीच में अनुत्तीर्ण न हो। वह निराश हो गया। बैठकर भजन करना अच्छा है। भजन कहाँ होना था। भटकते रहे। दस पंद्रह साल के बाद उनसे भी जो छोटे थे आचार्य हो गये। तब पश्चाताप हुआ। अतः धैर्य धारण करो। दस साल, बीस साल क्या जीवन भर अभ्यास करना पड़े तो भी घबराना नहीं चाहिये। जन्मातर भी लेना पड़े तो भी घबराना नहीं। क्योंकि अभ्यास न करने पर यूं भी जन्मान्तर लेना ही है। अतः आत्मवान् बनो। धीर बनो ॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

[कुआँ आदि उदपानों में जितना जितना प्रयोजन सिद्ध होता है सभी लबालब भरे जलाशय में जैसे सिद्ध होता हैं वैसे वेदोक्त सकाम कर्मों का समस्त प्रयोजन श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ को प्राप्त होता है ॥४६॥

अव्यवसायियों की बुद्धि अनन्त होती है। अतः पुष्पितवाणी के पीछे भरमाना नहीं चाहिये यह बात पहले बतायी। अर्थात् सकाम कर्मों के करने से जन्म कर्म शृंखला का कभी भी अन्त न होगा। जन्म से कर्म, कर्म से जन्म तथा भोग पुनः यही चलता रहेगा। अतः सकाम मार्ग बराबर नहीं है। इस पर अर्जुन का यह पूर्वपक्ष हुआ कि अन्त नहीं होता, इनके मात्र को लेकर अव्यवसाय कर्म की त्याज्यता नहीं हो सकती। आज भोजन के लिये परिश्रम किया रसोई बनायी। खाया। वह हजम हो गया तो दूसरे दिन फिर बनाना पड़ा। फिर खाया फिर हजम हुआ, फिर बनाया तो यह चक्कर नहीं है? चक्कर होने पर भी सब लोग भोजन बनाते और खाते हैं। क्योंकि जीवन निर्वाह करना आवश्यक है। कपड़ा पहनते हैं। उसे साफ करते हैं। साफ करने पर भी दुबारा मैला होता है। क्या ऐसा समझकर कपड़ा ही छोड़ दिया जाय या कपड़ा धोना ही छोड़ दिया जाय या कपड़ा धोना ही छोड़ दिया जाय, ऐसा होता है? यह पुनः पूर्ववत् होगा समझकर ही लोग साफ करते हैं। मकान में रंग रोगन कराते हैं। चार छः साल वह पूर्ववत् होगा। तो क्या रंग रोगन करना ही छोड़ देंगे? इसी प्रकार प्रकृत में भी है। सकाम कर्मों से स्वर्ग जायेंगे। पुण्य समाप्त

होने पर फिर पूर्ववत् होगा—वापिस आ जायेंगे। भले आवें। फिर से पुण्य कर्म कर स्वर्ग जायेंगे। जैसे रंग उतर गया तो फिर रंग चढ़ाया जाता है। बरतन की कलाई निकल गयी तो फिर से करायी जाती है। एक दूसरा उदाहरण देखिये। अनेक विविधव्यञ्जन युक्त हम भोजन कर सकते हैं। मालूम है कि गले से नीचे उतरते ही रस समाप्त हो जाता है। फिर भी हम अल्पकालिक रस के लिये दिन भर रसोई घर चेताकर रखते हैं। छप्पन प्रकार की वस्तु बनाईये फिर भी गले के नीचे तक। तब छप्पन प्रकार के भोग बनावे ही क्यों? फिर भी लोग बनाते हैं या नहीं? वैसे अनेक विध सकाम कर्म कर अनेक विध भोग प्राप्त करते हैं। कर्म समाप्त होने पर भोग समाप्त होगा। हो। उससे क्या फिर कर्म करके पुनः भोग प्राप्ति कर लेंगे। नानाविध भोग नाना कर्म किये बिना प्राप्य नहीं। नाना इस नाना व्यंजनों के बिना संभव नहीं है। अतः अनेक विध भोगार्थ अनेक विध कर्म करना उपयुक्त ही है।

दूसरी बात यह भी है कि सर्वथा कामना परित्याग संभव भी नहीं है। **"सर्वं कामस्य चेष्टितम्"**। एक लेख में मैंने पढ़ा। उस पत्रिका का नाम भूल गया। उसमें लिखा है कि हमें श्री कृष्ण महाराज से ऐसी आशा नहीं थी कि ऐसे असंभव कार्य का वे उपदेश करेंगे। कुछ न कुछ फल सभी चाहते हैं। उसके बिना कोई कर्म कर ही नहीं सकता। और फल की अभिलाषा जितनी उत्कट हो उतना ही अधिक कर्म मनुष्य करता है। अधिक पैसा मिलने पर लोग ओवर टाइम लगाकर भी कर्म करते हैं इत्यादि। खैर उस पर हम बाद में विचार करेंगे। पूर्वपक्ष में अभी इतनी ही बात है कि कामना के बिना कर्म हो सकता ही कैसे? इस प्रकार की अनेक विध पूर्वपक्षों का समाधान करते हुए भगवान श्रीकृष्णचन्द्र योगबुद्धि के उत्कृष्ट स्वरूप का यहाँ प्रदर्शन करते हैं—**यावानर्थ उदपाने** इत्यादि से। उदक पीयतेऽस्मादिति उदपानः। जहाँ से

जल पिया जाता है ऐसे छोटे छोटे कुएँ, बावड़ी आदि को उदपान कहते हैं। यावान् और तावान् की आवृत्ति कर यहाँ व्याख्या करनी चाहिये। यावान् उदपाने अर्थः तावान् सर्वतः संप्लुतोदके सिध्यति। याव.न् वेदेषु अर्थः तावान् ब्राह्मणस्य विजानतः सिध्यति ऐसा शब्दावृत्तिकर व्याख्या समझनी चाहिये। अर्थात् जितना अर्थ—प्रयोजन छोटे छोटे जलाशयों से सिद्ध होता है उतना विशाल जलाशय में एक साथ सिद्ध होता है। विशाल सरोवर हो या सागर हो। सारा सागर नहीं, मधुर जल सागर—क्षीर सागर, उसमें पानी पी सकते हैं, अन्य कार्य भी हो सकते हैं। कुएँ से पानी पियो। बावड़ी में नहावो। सरोवर में तैरो। किन्तु सभी काम सागर में कर लो। कुआँ सूख सकता है। बावड़ी सूख सकती है। सरोवर भी सूख सकता है। किन्तु सागर कभी सूखेगा नहीं। इसी प्रकार वेद प्रतिपादित सकाम कर्मों से जो भी प्रयोजन सिद्ध होता है, सभी ब्रह्मज्ञान में अन्तर्गत होता है।

पहले जो जनेक विध दृष्टान्त दिये हैं, सभी अगतिक गति है। पहले दरवाजों पर रंग लगवाते थे। थोड़े दिन बाद उतर जाय तो दुबारा लगवाते थे। लेकिन अब बहुत से लोग सनमाईका लगवाकर छुट्टी पा लेते हैं। सनमाईका, फॉरमाईका आदि न होने पर या उसकी दुर्लभता में रंग का आश्रय लेते हैं। बरतन में कलई करवाते थे, उतरने पर फिर करवाते थे। लेकिन इसी से तंग आकर आज-कल लोग स्टील का ही बरतन उपयोग में लाने लगे। उसकी कलई नित्य है। कपड़ा भी धोना न पड़े ऐसा तरीका सोच रहे हैं। नाई-लून, टर्लिन आदि का आविष्कार इसी का परिणाम है। एक ने हमको बताया कि उसने नये कपड़े का नाम लिया और बोला कि महीनों तक न धोवे और इस्त्री न लगावे तो भी यह ज्यों का त्यों रहता है। मतलब लोग इतना ही सुख चाहते हैं किन्तु चक्कर से छूटने के लिये भी कोशिश करते हैं। यदि स्वर्ग सुख प्राप्ति के सिवाय

अन्य मार्ग ही न होता तो लोग स्वर्ग के पीछे ही पड़े रहे तो कोई सवाल नहीं उठता। किन्तु यहाँ इस अगतिक गति में पड़े रहने की जरूरत नहीं है। यहाँ ऐसा भी एक स्थान है, जहाँ जाने के बाद चक्कर में पड़ना नहीं पड़ता, आनन्द भी सबके सब वहाँ समाये हुए मिलते हैं। जैसे समुद्र में जाने पर सकल जलीय प्रयोजन सिद्ध होते हैं और विनाश भय भी नहीं। वैसे ही संप्लुतोदक स्थानीय एक चरम लक्ष्य हमारे यहाँ है जो अव्यवसाय रूप नहीं, व्यवसाय रूप है। वहाँ पहुँचने पर गति समाप्त होती है।

सागर में जाने पर मत्स्य की गति समाप्त होती है। भले भगवान ही मत्स्यरूप में आवें। मत्स्यावतार कथा प्रसिद्ध है। कथाओं का आध्यात्मिक रहस्य बड़ा गहन होता है। अत एव भागवत सप्ताहादि में मत्स्यावतार कथा सुनी हो तो भी अध्यात्म रहस्य के साथ वह पुनः श्रवण योग्य है। सत्यव्रत नाम का द्रविड राजा कृतमाला नदी में स्नान कर सूर्यार्घ्य देने जा रहा था। हाथ में जल लिया तो उसमें एक छोटी मछली दीख पड़ी। राजा ने सोचा, यह जलाञ्जलि अशुद्ध हो गयी। इसे फेंककर अंजलि में दुबारा जल लूँ। मछली वैसे तो पानी में रहे तो शुद्ध होती है। किन्तु अंजलि में, लोटे में या घड़े में आ जाय तो अपवित्र होती है। सत्यव्रत ने समझा कि यह जल अब अर्घ्य देने योग्य नहीं रहा। ज्यों ही फेंकने लगे, इतने में वह मछली मनुष्यवाणी में बोली, हे राजन्! आप बड़े दयालु हैं, परोपकारी हैं, धर्मनिष्ठ है, आप जैसे महान पुरुष मुझ शरणागत का इस प्रकार परित्याग करें यह तो उचित नहीं है। अन्य जीवजन्तु, चील कौए आदि से मैं भयभीत होकर आपकी शरण में आयी हूँ। शरणागत की रक्षा करना आपका कुल धर्म है। यह सुनकर सत्यव्रत को बड़ा आश्चर्य हुआ। यह मछली मनुष्यवाणी में कैसे बोल रही है? अवश्य ही यह विशिष्ट संस्कार वाला कोई जीवात्मा होगा। उन्होंने उस मछली

को अपने कमंडल में डाल दिया। और कहा—अभय होकर पड़ी रहो। सत्यव्रत का कमंडल काफी बड़ा था। उसमें पानी भरकर उस मछली को डालकर वे अपने घर लाये। दूसरे दिन प्रातः काल उन्होंने कमण्डल देखा, मेरी शरण में आयी हुई जो मछली है। उसके कुशल पर ध्यान रखना मेरा कर्तव्य है। जब प्रातः देखा तो आश्चर्य क्या हो रहा था कि वह मछली इतनी बड़ी हो गयी थी कि कमण्डल उससे भर गया है। मछली बोलने लगी—राजन् ! मेरे लिये यह जगह अपर्याप्त है। किसी बड़ी जगह मुझे आप डालें।

राजा सत्यव्रत ने उसे एक बड़े भारी कुण्ड में पानी भरवाकर उसे डाला और उसकी रक्षा के लिये सब प्रकार की व्यवस्था उन्होंने स्वयं की। तीसरे दिन देखा तो बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह मछली इतनी बड़ी हो गयी थी कि कुण्ड में वह समा नहीं रही थी। राजा को देखते मछली रोने लगी, राजन् ! मुझे यह जगह छोटी पड़ रही है। दयालु राजा ने तब उसे उठाकर कुएँ में डाल दिया। किन्तु चौथे दिन क्या देखते हैं कि कुआँ भी भर गया है। मछली जोर से रोती हुई बोली, राजन् ! इसमें मैं घुट रही हूँ। आप मेरी रक्षा करें। राजा ने दयावश होकर उसे उठाकर तालाब में डाला। पाँचवें दिन प्रातःकाल वह तालाब भी भरा पाया गया। राजा को देखकर मछली सिसकने लगी। राजन् ! जगह छोटी होने से मेरा शरीर टूट रहा है। आप मुझे बचाईये। राजा ने तब उसे एक बड़े सरोवर में डलवाया। छट्ठे दिन देखा कि पूरा सरोवर मछली से ढका हुआ था। और मछली बोल रही है, राजन् ! आप मेरे लिये किसी और स्थान का इन्तजाम करें। राजा ने उस समय उसे वहाँ से उठाया और समुद्र के किनारे पहुँचे। ज्यों ही समुद्र में डालने लगे तब मछली बोली, हे राजन् ! आप शरणागतवत्सल हैं। मैं समुद्र में तो समा जाऊंगी। किन्तु मैं यहाँ खतम हो जाऊंगी। समुद्र में भयानक जीवजन्तु मुझे निगल

जायेंगे। सत्यव्रत को परम आश्चर्य हुआ। उन्होंने उस समय में कहा कि आप कौन हैं, मैंने ऐसी मछली कभी नहीं देखी। कथा बहुत लम्बी है। वही मछली भगवान का प्रथम मत्स्यावतार था। समुद्र में डालने पर वह स्वयं भगवद्रूप में आ गयी और राजा के लिये आगे जो कर्त्तव्य था, उसका उपदेश किया। इसको आप अब अध्यात्म में समझें। यह मछली ही कामना है। काम भगवत्पुत्र ही है। अत एव प्रद्युम्न को कामावतार माना। यही भगवदवतार मत्स्य है। कामना हमेशा बढ़ती ही रहती है। पहले उस मछली को कमण्डल पर्याप्त था। किन्तु कमण्डल में आने पर वह अपर्य्याप्त हो। मनुष्य प्रथम जब निर्धन रहता है तब उसकी कामना इतनी ही रहती है कि महीने में सौ रुपये मिल जाय तो भी बहुत है। किन्तु सौ रुपये आने पर उसकी चाह हजार तक होती है। हजार में आने पर और बढ़ जाती है, लाख तक पहुँच जाती है। लाख में पहुँचने पर करोड़ तक। इस प्रकार मछली के समान बढ़ती ही जाती है। उसकी वृद्धि की सीमा है या नहीं? यदि परिच्छिन्न स्थान में डालते जायेंगे तो सीमा नहीं है। अपरिच्छिन्न में ही वह रह सकती है। वह मछली समुद्र में ही समा सकती है। यह कामना रूपी मछली सर्वतः संप्लुतोदक स्थानीय ब्रह्म तत्त्व में ही समा सकती है। वहाँ उसका पर्यवसान है। वहाँ काम को भी भय होता है कि मैं खतम हो जाऊँगा।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां
दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥

काम की वह अन्तिम सीमा है। समस्त जगत् की वह प्रतिष्ठा है। सागर स्थानीय है। ऐसा सागर स्थानीय कोई चरम लक्ष्य न

सांख्यवालों ने कहा—सुख विषयों में भी नहीं, इन्द्रियाँ भी नहीं। किन्तु मन में है। मन त्रिगुणात्मक है। सत्त्वगुण से सुख होता है, रजोगुण से दुःख होता है। तमोगुण से मोहादि होते हैं। विषय एवं इन्द्रियाँ से मन में वृत्युद्भावनार्थ है। विषयों से इन्द्रियों में वृत्ति होती है। इन्द्रिय वृत्तियों से मन में वृत्ति पैदा होती है तो सुख होता है। यदि विषयों के बिना ही और इन्द्रियों मन में वैसी वृत्ति तदा की जा सकती है तो इन दोनों के बिना सुखानुभूति होगी। निदर्शन स्वप्न हो है। स्वप्नकाल में विषयोपस्थिति तो नहीं ही है। साथ में इन्द्रियाँ भी वहाँ नहीं है। इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं। इसलिये कान खुले हैं फिर भी सोया हुआ आदमी पास की आवाज नहीं सुनता। कोई-कोई तो आँख खोलकर सोते हैं। किन्तु देखते नहीं, उनकी आँखे मुर्दे की आँखे जैसी होती हैं। क्योंकि इन्द्रियरूपी आँख है, वह मन में लीन हो गयी हैं। एवं इन्द्रियों की भी स्थिति है। इस प्रकार विषय और इन्द्रियों के न होने पर भी स्वप्न में मन में विषयाकार वृत्ति होने से उससे सुख होता है। पुत्र, पत्नी आदि के न होने पर भी पुत्र, पत्नी आदि आलिङ्गन सुख दर्शन सुखादि वहाँ स्पष्ट है। ऊषा जो बाणासुर की पुत्री थी, उसने स्वप्न में अनिरुद्ध को देखा और दर्शन स्पर्शनादि सुख प्राप्त किया तो वही का वही कैसे दीखा ? अतः अनिरुद्ध का सूक्ष्मरूप वहाँ क्यों नहीं जानना चाहिये ? उत्तर है अदृष्ट विशेष से अनिरुद्धाकार मनोवृत्ति हुई ? अनिरुद्ध सूक्ष्म रूप से होता तो स्वयं अनिरुद्ध को इस बात का पता क्यों नहीं चला ? अतः सुख मनोगत है। मनोवृत्ति जन्य है। योगाभ्यास से भी मनोवृत्तियाँ पैदा की जाती हैं तो दिव्यसुखानुभूति होती है।

वेदान्त का सिद्धान्त यह है कि सुख मनोवृत्ति में भी नहीं है। मानस वृत्ति भी एक उपकरण मात्र है। कैसा उपकरण है ? उस वृत्ति से भी आत्मा का आनन्द ही अभिव्यक्त होता है। वृत्ति में ही

सुख क्यों न माना जाय ? इसलिये कि सुषुप्ति में कोई मानस वृत्ति नहीं होती है। फिर भी सुखानुभूति होती है। 'सुखमहमस्वाप्सं न किंचिदवेदिषम्" ऐसा सबको अनुभव होता है। अर्थात् सुषुप्ति-काल में कोई भी मानसवृत्ति नहीं होती है। फिर भी सुखानुभव होता है। यदि वृत्ति में सुख होता तो सुषुप्ति में सुखानुभूति नहीं होती। अतः वृत्ति जहाँ है वहाँ भी वृत्ति से आत्मानन्दावरण निवृत्तिमात्र होती है। आवरण निवृत्ति होने पर आत्मानन्द तदाकार में प्रतिभासित होता है। प्रश्न होगा तब सुषुप्तिकाल में सुखानुभव कैसे हुआ ? आवरण निवारण के लिये वहाँ वृत्ति तो है नहीं। उत्तर यह है कि सुषुप्ति में अविद्यावरण स्वयमेव शान्त हो जाता है। अतः आत्मानन्द स्फुरित होने लगता है। सुषुप्ति में अविद्या शान्त होती है कि उग्र होती है ? वहाँ तो पूरी-पूरी अविद्या रहती है। नहीं। उग्र अविद्या तो जाग्रत और स्वप्न में है। क्योंकि अविद्या का विक्षेप भी काम कर रहा है, आवरण भी। जैसे कोई अंधकार देख रहा है कोई अंधकार में भूतप्रेत भी देख रहा है। किसका अंधकार उग्र है ? वैसे सुषुप्ति में आवरण मात्र है। जाग्रत और स्वप्न में आवरण भी विक्षेप भी है। अतः अविद्या उग्र है। सुषुप्ति में अविद्या शान्त हो गयी। आवरण शक्ति भी कुछ शिथिल पड़ी तो सुखाभिव्यक्ति होने लगी। **"सलिल एको द्रष्टा"** इस बृहदारण्यक मन्त्र के भाष्य में आचार्यो ने भी सुषुप्ति में अविद्या को शान्त बताया है। अतः सुषुप्ति में आत्मानंद भासित होता है। वेदान्त का यह भी पक्ष है कि जाग्रत और स्वप्न में अनुकूल विषय वृत्ति में आत्मनन्द का प्रतिबिम्ब मात्र होता है। उसी से सुखानुभूति होती है। सुषुप्ति में अविद्या शान्त होने से मन्द स्वरुपानन्द की की ही अनुभूति है।

किन्तु अज्ञानिजन यही समझते हैं कि विषयों से आनन्द प्राप्त हो रहा है। जब कि आत्मानन्द का प्रतिबिम्ब विषयाकार मनो-

वृत्ति में पड़ता है। अपना ही आनन्द विषयों में आरोपित कर अज्ञजन विषयों से आनन्द की प्रार्थना करते हुए भिखारी बनते हैं। कैलास यात्रा में जब हम थे तो हमारे साथ एक अनजान कुत्ता भी कहीं से पीछे-पीछे आने लगा। कितना ही भगावें फिर भी पीछा नहीं छोड़ता था। संत लोग कहने लगे, अरे भाई, युधिष्ठिर की स्वर्ग यात्रा में भी एक कुत्ता पीछे-पीछे आ गया था। वैसा कोई कुत्ता होगा। परन्तु उस कुत्ते में और इस कुत्ते में बड़ा अन्तर था। युधिष्ठिर के पीछे जो कुत्ता आ गया था वह साक्षात् धर्मराज परीक्षार्थं भेष बदलकर आये थे। यह कुत्ता जिस चट्टी में भी पहुँच जाता था तो भोटियों की झोपड़ो में अपनी खाद्य वस्तु ढूँढ़ता था। भोटियों की झोपड़ी में उसको कभी मांस का टुकड़ा, कभी हड्डी का टुकड़ा मिलता था। क्योंकि पहाड़ी भोटिये सभी मांसाहारी होते हैं। एक जगह देखा वह कुत्ता एक हड्डी तोड़ने लगा तो उसी के मुँह में घाव हो गया तो खून टपकने लगा। कुत्ते ने समझा इस हड्डी से ही खून आ रहा है। बड़ा प्रसन्न हो रहा था। यह उस श्वान की स्थिति थी। यही स्थिति अज्ञजन की भी है। अपने अन्दर का ही आनन्द विषयों में प्रतिबिम्बित होता है तो समझते हैं—विषयों से ही आनन्द प्राप्त हो रहा है। इसलिये वे निरन्तर विषयों की ही कामना करते रहते हैं और मोहित होते हैं। भगवान अर्जुन को कहते हैं कि हे अर्जुन, इस भूल को निकालो। मेरी बात याद रखो। जहाँ वहुत बड़ा भारी जलाशय होता है उसी का जल स्रोतों से कुएँ, बावड़ी आदि में सर्वत्र पहुँचता है। कुएँ बावड़ी आदि में जो भी प्रयोजन सिद्ध होता है वह विशाल जलाशय में ही सभी पूरा हो जाता है। वैसे विषयों में जो भी आनन्द प्रतीत होता है वह आत्मा का ही आनन्द है। आत्मा में पहुँचने पर सकल विषयानन्द वहीं चरितार्थ हो जाता है। तावान् सर्वेषु वेदेषु। समग्र वेदों में प्रतिपादित कर्म कर स्वर्गीय

एवं भौम जो भी विषय प्राप्त करते हैं, और उन विषयों से प्राप्त करते हैं वह सभी आत्मसुख में ही अन्तर्गत है। आत्म दर्शनार्थ इसलिये काम त्याग करना ही उचित है।

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तिरेव च।
न च तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

कामना परित्याग किया। संतोष हो गया। उससे जो अमृत आत्मानन्द आविर्भूत हो गया उससे तृप्त महापुरुषों को जो सुख एवं शान्ति प्राप्त होतो है वह धन लुब्ध विषयरागी पुरुषों को भला कहाँ से मिले। जो लोग इतश्चेतश्च धावताम्—एक विषय से दूसरे विषय में भटकते रहते हैं। आत्मामृत ही सर्वोत्तम आनन्द और सुख है।

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

ऐसा वेदव्यास का वचन है। कामसुख में भौम वैषयिक सुख समझना चाहिये। दिव्य सुख पद से स्वर्गीय इन्द्रादि सुख समझना चाहिये। यह सभी आखिर विषयसुख ही है। कामना प्रयुक्त सुख है। सकाम कर्म का परिणामात्मक सुख है। दूसरी ओर तृष्णाक्षय है। विषयमृग-तृष्णाक्षय हो गया। कैसे ? आत्मदर्शन से। वही आत्मसुख तृष्णाक्षय सुख है। उसके सामने भौम तथा दिव्य दोनों सुखों की कोई गणना नही है। इसी लिये इन दोनों का त्याग किया—

रम्यं हर्म्यतलं न किं वसतये श्राव्यं न गेयादिकं
किं वा प्राणसमासमागमसुखं नैवाधिकं प्रीतये।
किन्तूद्भ्रान्तपतत्पतङ्गपवनव्यालोल-दीपाङ्कुर-
च्छायाचञ्चलमाकलय्य सकलं सन्तो वनान्तं गताः॥

यह भर्तृहरि महाराज का वचन है। ये जो संत दीख रहे हैं, इन सबको आप ऐसा न समझें कि खाने को नहीं मिला, इसलिये

संत बने। रहने को मकान नहीं मिला, सुनने को गीतादि नहीं मिले, विवाह के लिये स्त्री नहीं मिली। बड़े-बड़े राजा भी संत बने। सेठ साहूकार भी विवेक जागृत होने पर संत बने। रहने की हर्म्य मिल रहा था, अनेकविध व्यञ्जनयुक्त भोजन खाने को मिल रही थी। गीतवादि आदि मिल रहा था। मनोहर स्त्रियाँ प्राप्त हो रही थी। किन्तु देखा यह सब क्षणभंगुर है। दीपक की छाया के समान है जिस पर फतींगे गिर रहे हैं। बड़े-बड़े प्रासाद वाले आये। धनाढ्य आये। किन्तु प्रासाद एवं धनादि छोड़कर चले गये। किसी के साथ प्रासादादि नहीं गये। विषय परमात्मा की छाया मात्र है। विषयों का वास्तविक कोई अस्तित्व नहीं है। परमात्मा आनंदरूप है। जगत उससे विपरीत परिणाम दुःखरूप है। परमात्मा सद्रूप तथा चिद्रूप है। जगत अनृत और जड़ है। विषमों में जो आनन्द प्रतीत हो रहा है वह आनन्दरूपी परमात्मा का प्रतिबिम्ब मात्र है—छायामात्र है। विषयेन्द्रिय संयोग होने पर विषयाकार चित्त-वृत्ति होतो है। वह चित्तवृत्ति यदि पुण्य जन्य हो तो आनन्दमय होकर परमात्मा की छाया को पकड़ लेती है। तब विषय सुखमय दीखने लगता है। जैसे लकड़ी पर वार्निश रोगन लगता है तो शीशे के समान चमकने लगती है और उस पर वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ने लगता है, वैसे पॉलिश स्थानापन्न चित्तवृत्ति से विषय आनन्द प्रतिबिम्ब ग्राही होता है तो सुखमय दीखने लगता है। इसी प्रकार शरीरादि जड़ है। फिर भी चेतन संयोग से चेतन जैसा होने लगता है। यह शरीर असत् भी है। किन्तु सत् परमात्मा के तादात्म्य से सत् जैसा दीखता है। जैसे जपाकुसुम की लालिमा के तादात्म्य से स्फटिक मणि लाल दीखने लगती है। परन्तु यह छाया भला कब तक स्थायी रह सकती है। पॉलिश उड़ी तो लकड़ी में प्रतिबिम्ब भी समाप्त। वैसे शब्दादि आकार वृत्ति समाप्त हुई तो आनन्द भी समाप्त। उपाधि जब तक

है तब तक छाया है। अतएव भर्तृहरि ने 'छायाचञ्चल' बताया। बड़े-बड़े संतों ने इन सबको छाया समान समझा और शाश्वत सुख की, जो संप्लुतोदक समुद्र स्थानीय है, खोज में वनान्त में गये। वनान्त माने वनमध्य। क्यों? क्या घर में बैठे बैठे सर्वतः संप्लुतोदक सुख प्राप्त नहीं होता था? परमानन्द प्राप्ति नहीं होती थी?। नहीं। क्योंकि छाया की ओर मुँह होने पर बिम्ब की ओर निगाह नहीं पड़ती। कारण छाया विपरीत दिशा में होती है। जहाँ विषय सुख है वहाँ आत्म सुख नहीं, जहाँ आत्म सुख है वहाँ विषय सुख नहीं, दोनों को एक साथ ले जाने की कोशिश तो दो नाव में पाँव रख कर नदी पार जाने की कोशिश मात्र है। पूछेंगे राजा जनक आदि दोनों तरफ कैसे थे? वे दोनों तरफ नहीं थे। वे एक ही ओर थे।

तथा हि मिथिलानाथो मुमुक्षुनिर्ममः पुरा।
आहेदं मिथिलादाहे न मे किंचन दह्यते॥

खण्डनकार कहते हैं, राजा जनक को खबर मिली कि मिथिलापुरी में आग लगी तो ब्रह्मचिन्तन होने से बोले कि मिथिलादाह में मेरा क्या जल रहा है। क्या घर में बैठे-बैठे सामने से नुकसान हो रहा है तो बैठकर देखा जा सकता है? सामने से जेब कतरा जेब में से पैसा उड़ा ले जाय और आप बिना उद्वेग, बिना ही हल्ला किये बैठे रहोगे? लड़का सामने काम बिगाड़ रहा है तो आप चुप रह सकोगे? यदि रह सकते हैं तो आपके लिये घर भी वन हो सकता है। क्योंकि वन की व्याख्या हमने भजनीय इस दूसरे प्रकार से अन्यत्र की है। परन्तु यह अत्यन्त कठिन है। इसी लिये पहले वाले अनेकानेक राजर्षियों के विषय में भी वनगमन का ही वर्णन मिलता है—

इति स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्वा यूने सितातपवारणम्।

मुनिवरतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
नृपतिककुदामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम् ॥

विषयों का अनुभव कर देखा। तो मालूम पड़ा कि यह सुख केवल उदपान जल मात्र है। गरमी आने पर छोटा कुआँ बावड़ी आदि सूख जाते हैं वैसे विषय सुख भी समय आने पर खतम हो जाते हैं। हाँ, प्रथम विषयानुभव इसलिये आवश्यक है यह संसार बड़ा विलक्षण है। कहावत प्रसिद्ध है कि "यह भूरे का लड्डू है—जो खावे सो पछतावे, न खावे सो भी पछतावे" लकड़ी चीरने पर पीला जो चूर निकलता है वह भी भूरा होता है। किसी ने उसी को लड्डू बनाया। देखने में बहुत सुन्दर। खानेवाले इसलिये पछताये कि उनका मुँह और पेट बिगड़ गया। न खाने वाले इसलिये पछताये कि वे सोचने लगे कि इसमें पता नहीं कौन सा अमृत भरा है, जिससे हम वंचित हो रहे हैं। खाने वाले कहने लगे कि मैंने खाकर देखा, कुछ तत्त्व नहीं। तब न खाने वाले कहते हैं खाकर तुमने पेट भर दिया। अब हमको इससे वंचित रखने के लिये निंदा कर रहे हो। नहीं तो तुमने खाया ही क्यों ? पूर्व राजर्षि पश्चाताप को मौका नहीं देते थे। विषय सेवन की सीमा बना लेते थे। समय के आते ही विषयव्यावृत्तात्मा हो जाते थे। पुत्र तैयार हो गया तो स्वयं निवृत्त होकर संप्लुतोदक की प्राप्ति के लिये अग्रसर होते थे। आज की स्थिति विपरीत हो गयी। परिणाम यह हुआ कि पिता पुत्र में भी संघर्ष होने लगा। बेटा कहता है, आप बैठकर भजन करो, सत्संग सुनो। बाप कहता है तू अपना काम कर। तेरे उपदेश की जरूरत नहीं। यह तो संपत्तिवालों की बात हुई। संपत्ति न हो तो बेटा भी सोचता है, बाप कमाकर दे तो अच्छा ही है। अधिक लाभ ही होगा मुझे। जिस प्रकार स्वार्थ सिद्धि हो वही रास्ता सभी पकड़ते हैं। पिता के जाने से लाभ है तो जाने को बोलेंगे। रहने से फायदा है तो रहने को कहेंगे। फायदा किस

में है यही दृष्टि रहती है। परन्तु पिता को विवेकर देखना चाहिये कि उमर हो रही है। अब जवानी में जो सुख था वह वापिस आने वाला नहीं। अब केवल घसीटना ही है। तब उस खुले संप्लुतोदक आनन्द की ओर क्यों नहीं बढ़ते ? जिससे परमार्थ की सिद्धि हो। अत एव प्राचीन राजर्षि युवा पुत्र को राज्य देकर ऋषि मुनियों के अपनाये मार्ग को अन्त में पकड़ते थें। सूर्यवंशी उनमें भी मुख्य तथा इक्ष्वाकुओं का यही कुलव्रत था।

याज्ञवल्क्यजी धन विभाजन कर कात्यायनी और मैत्रेयी को देने लगे तो उस समय मैत्रेयी ने नम्रता के साथ याज्ञवल्क्यजी से यही प्रश्न किया—

यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्
कथं तेनामृता स्यामिति

क्या वित्त पूर्ण पृथिवी मिल जाय तो अमर हो सकती हूँ ?

नेति होवाच याज्ञवल्क्यः अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति

वित्त से अमृतत्व की आश नही है। यह सुनकर मैत्रयी कह रही है—**यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि।**

यही यहाँ पर ब्राह्मणस्य विजानतः का अर्थ है। विजानतः का अर्थ श्रुति व्याख्यान जनित परमार्थ तत्त्वज्ञान वाला और ब्राह्मण का अर्थ है ब्रह्मनिष्ठ। विषय सुख प्रतिबिम्ब का आनन्द मात्र है। संप्लुतोदकानन्द बिम्ब स्थानीय है। हजारों शीशों में हजार प्रतिबिम्ब प्राप्त करो। किन्तु एक बिम्ब प्राप्त कर लो तो उसी में सभी प्रतिबिम्ब अन्तर्गत हो जाते हैं। बिम्ब नित्य शाश्वत होता हैं। प्रतिबिम्ब क्षण भंगुर होता है। उपाधि गयी तो भी प्रतिबिम्ब नहीं रहेगा, किन्तु अस्त हो गया या उसका आवरण हुआ तो भी प्रतिबिम्ब नहीं रहेगा। प्रतिबिम्ब को पकड़ने जाना मूर्खता है। बिम्ब हाथ में आ गया तो न कभी नष्ट होने वाला है, न अस्त होने

वाला है और न आवृत्त ही और हजारों लाखों क्या अनन्त प्रतिबिम्बों का काम ही बिम्ब करेगा। इसी आशय से कहा— तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः। 'तावान्' यह कथन मात्र है। उतना ही नहीं उससे अधिक। प्रतिबिम्ब चाहे करोड़ों मिल कर भी कोशिश करे, बिम्ब की बराबरी नहीं ही कर सकते। आखिर प्रतिबिम्ब उधार जो है। अतः "सर्वतः संप्लुतोदक" को कहा उससे अभिव्यञ्जित परिपूर्णता ही यहाँ विवक्षितार्थ है। यावानर्थं उदपाने तावान् सर्वतः संप्लुतोदके। यावात् सर्वेषु वेदेषु तावान् ब्राह्मणस्य विजानतः। ऐसी यावान् तावान् की आवृत्ति कर व्याख्या समझना चाहिये। जितने प्रयोजन उदपानों में सिद्ध होते हैं उतने सभी संप्लुतोदक में एकत्र सिद्ध होते हैं। वैसे समग्र वेद प्रतिपादित सकाम कर्मादि से जितने प्रयोजन सिद्ध होते हैं उतने श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ के साक्षात्कारी ज्ञान में सिद्ध हो जाते हैं, ऐसा यहाँ शब्दार्थ है ॥ ४६ ॥



कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

[हे अर्जुन ! कर्म में ही तेरा अधिकार है, फल में कभी नहीं। तू कर्मफल का हेतु मत बन और अकर्म में भी तेरी प्रीति न हो ॥ ४७ ॥]

योग बुद्धि का वर्णन प्रारम्भ हुआ था। व्यवसायात्मिका बुद्धि योग बुद्धि है। उससे विपरीत अव्यवसाय बुद्धि है। सकाम कर्म जन्म कर्म चक्रात्मक होने से अव्यवसाय बुद्धि है—अव्यवसायिनी है। लक्ष्यहीन है। उस व्यवसाय बुद्धि रूपी योग बुद्धि के लिये उपयुक्त कर्मयोग को अब भगवान बताने जा रहे हैं—**कर्मण्येव** इत्यादि। यहाँ चार पादों में चार सूत्र बताये गये हैं। कर्म में ही अधिकार है, फल में अधिकार नहीं। कर्मफलहेतु मत बनो। अकर्मासक्त भी मत हो। ये चार कर्मानुष्ठान के सूत्र हैं। सर्वसामान्य जीवन के ये चार महावाक्य हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते। कर्मण्येव इस एव कार का अर्थ क्या है ? कर्म में ही अधिकार है, फल में नहीं, इतना यदि अर्थ है तो द्वितीयपाद अनुवाद मात्र होगा। उसे एक स्वतन्त्र सूत्र मानना संभव नहीं होगा। और द्वितीयपाद के होने से प्रथमपाद में एव का कोई खास अर्थ नहीं होगा। भगवान के शब्दों में इस प्रकार व्यर्थ शब्दों का आगमन कैसे हो सकता है ? अत एव यहाँ एव का कुछ दूसरा ही अर्थ है। एव कार व्यावर्त्त्य यहाँ फलाधिकार नहीं किन्तु ज्ञाननिष्ठाधिकार है। हे अर्जुन ! तुम्हारा कर्म में ही अधिकार है, ज्ञाननिष्ठा में नहीं।

यदि अर्जुन को कर्म में ही अधिकार है, ज्ञाननिष्ठा में नहीं तो प्रथम ज्ञानोपदेश क्यों किया? यह कह सकते हैं कि जगत् के उद्धार के लिये भगवान ने ज्ञान का भी उपदेश किया। किन्तु यह बात सही नहीं प्रतीत होती। अर्जुन के लिये अधिकृत कर्म का उपदेश ही तब प्रथम करना चाहिये था। सम्मुख उपस्थित तो अर्जुन है। प्रथम सम्बोध्य भी अर्जुन है। अतः अर्जुन के लिये उपयोगी उपदेश ही प्रथम करना चाहिये था। दोनों सेनाओं के मध्य में अत्यन्त व्यग्र अवस्था में, विषम परिस्थिति में अत्यन्त अनुपयुक्त तत्त्वज्ञान का उपदेश प्रारम्भ करना कहाँ तक उचित होगा। इधर आदमी मरण शय्यापर पड़ा है, सामने अब वीणा बजाना शुरू किया, यह कैसा नाटक होगा। दूसरी बात अर्जुन को ज्ञाननिष्ठा में अधिकार नहीं है तो साधारण लोगों की बात क्या होगी। तब सत्संग में ज्ञान चर्चा करना अनधिकारियों को शास्त्र सुनाना हुआ। क्या आज के सत्संगी अर्जुन से अधिक ऊँचे माने जा सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि ज्ञान में अधिकार नहीं, ऐसा नहीं कहा जा रहा है। ज्ञाननिष्ठा में अधिकार नहीं यह बताया जा रहा है। ज्ञान और ज्ञाननिष्ठा एक नहीं है। ज्ञान में तो सबका अधिकार है, किन्तु ज्ञाननिष्ठा में किसी किसी को ही अधिकार है। ज्ञान में और ज्ञाननिष्ठा में क्या अन्तर? यही कि ज्ञान तो श्रवणादि से होगा। किन्तु ज्ञाननिष्ठा कहने पर ज्ञान में ही लगे रहना अर्थ होगा। नितरां स्थिति निष्ठा है। निरन्तर ज्ञान में ही लगे रहना ज्ञाननिष्ठा है। दूसरे शब्द में संन्यास ही ज्ञाननिष्ठा है।

"तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्"

यही ज्ञाननिष्ठा का स्वरूप है। निरन्तर आत्मचिन्तन करना यही आत्मकथन करना आपस में भी आत्म चर्चा ही करते रहना अन्य कोई कार्य न करना यही आत्मनिष्ठा का स्वरूप है। शास्त्रों में कहा है—

"आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया"

जब तक निद्रा न आवे तब तक दिनभर वेदान्त चिन्तन करो। जब तक मृत्यु न आवे तब तक आत्मचिन्तन मात्र करो। क्या इतना सब कोई गृहस्थ कर सकता है ? संन्यासी महात्मा निवृत्ति परायण होते हैं। वे आत्मज्ञान प्रदान कर लोगों को सन्मार्ग में लगा सकते हैं किन्तु आत्मचिन्तन के विरोधी कार्य उनके लिये कार्य वर्जित है। हाँ, यदि सकल कर्म करते हुए भी आत्मविस्मरण नही होने पाता हो तो अलग बात है। परंतु ऐसा दृष्टान्त सुदुर्लभ है। ऐसी स्थिति में फिर कर्म में ही अधिकार रहता है। कर्म और कर्मनिष्ठा में भी ऐसा ही अन्तर समझना चाहिये। अर्थात् कर्म अलग है। कर्मनिष्ठा अलग है। कर्मनिष्ठा उसको कहते हैं जो निरन्तर कर्म में ही स्थिति हो। इसी को मन्त्र में भी बताया—

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः"

कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करो। सौ वर्ष का अर्थ है—यावज्जीवन। जिनके मन में संसार से कभी वैराग्य नहीं होता, जो विषयो में ही आसक्त हैं उनके लिये कर्म करना ही पतन से बचने का उपाय है। यही कर्मनिष्ठा है। यदि संसार से वैराग्य होता है, विषय क्षणभंगुर दीख रहे हों तो कर्मनिष्ठा की जरूरत नहीं। कर्म करो जब तक ज्ञाननिष्ठा पर्यन्त नहीं पहुँचते। अर्जुन की बात यह है कि अर्जुन की भिन्न प्रकृति। इस समय वह ज्ञाननिष्ठा के योग्य नहीं है। भगवान अन्त में कहेंगे—"प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति" अतः अर्जुन की अनुसार ज्ञाननिष्ठा में अर्जुन का अधिकार नहीं, कर्म में अधिकार है।

कर्म के तीन साधन हमारे पास हैं, शरीर वाणी और मन। आगे भगवान बतायेंगे—

"शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते"

प्रत्येक कर्म भी तीन प्रकार के हैं, दृष्टफल, अदृष्टफल और दृष्टादृष्ट-फल। प्रत्यक्ष फल जिसका होता हो उसको दृष्टफल बोलते हैं। अदृष्ट का अर्थ है जो प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता। लोग व्यवहार में कहते हैं—उनका अदृष्ट है। अदृष्ट माने जो नहीं देखा गया। क्या नहीं देखा गया ? कर्म देखा नहीं गया या फल देखा नहीं गया ?। कर्म तो देखा जाता है। फल भी देखा जाता है। अदृष्ट-फल का उदाहरण यज्ञदानादि वह तो प्रत्यक्ष है। उसका फल धन संपदा स्वर्गादि तो अनुभव काल में प्रत्यक्ष ही है। तब क्या नहीं देखा गया ? कर्म एवं फल का सम्बन्ध देखा नहीं गया। यज्ञ से स्वर्ग एवं धनादि प्राप्त होगा। इस प्रकार प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता। बीज से अंकुर होता है, यह प्रत्यक्ष कारण भाव है। किन्तु यज्ञ से सुखादि मिलेगा यह प्रत्यक्ष नहीं है। प्रत्यक्षतः तो यज्ञ करने में खर्च होता है, क्लेश होता है। दान देने में प्रत्यक्षतः रुपये खर्च हो रहे हैं, आवक नहीं। तब इनका साध्यसाधन भाव कैसे मालूम पड़ता है ? शास्त्र से। शास्त्र इनका साध्यसाधन भाव बताते हैं, उससे हम जानते हैं। यज्ञादि कर्म से पुण्य होता है, उससे फल होता है, ऐसा शास्त्र कथन है। अतः इनको अदृष्ट कर्म कहते हैं। अदृष्ट भी चर्म चक्षुओं के लिये। दिव्य चक्षु वाले तो प्रत्यक्ष सब देखते हैं। दूसरा शारीर कर्म दृष्ट फल है। पकाया तो भोजन बना। धोया तो सफाई हो गयी। यह सब दृष्ट फल है। यहाँ प्रतिसिद्ध कर्म की चर्चा नहीं है। अतः उसकी व्याख्या नहीं की जायेगी। दृष्टादृष्ट फल है—सेवा सुश्रूषा आदि। उससे दृष्टफल तथा अदृष्टफल दोनों होता है। माता-पिता की सेवा की तो माता-पिता ने जो अपने पास जमा करके रखा है, वह सब पुत्र को दे देते हैं। यह दृष्ट फल है। अदृष्टफल उनका आशीर्वाद है। और स्वयं सेवा भी पुण्य फलदायी है। आप कहेंगे सेवा करने से ही दृष्टफल मिलता हो ऐसी बात तो नहीं है। माँ-बाप की सेवा नहीं की, फिर भी वे मर

जायेंगे तो उनका उत्तराधिकारी हम ही हैं, धनादि मिल ही जायेगा। बात सही है। इसी आशा में हमारा एक परिचित भक्त जैसा आदमी माता-पिता की सेवा नहीं करता था। पिता ने अपने परिश्रम से दुकान खोली थी। रुपया कमाया था। लड़के को देखा, यह बिलकुल ही लायक नहीं है तो सारी मिलकियत अपनी लड़की को दे गया। लड़का देखता ही रह गया। दादा परदादा से आया हुआ धन हो तो वह दावा कर सकता था। लेकिन यह पिता का अपना कमाया हुआ था। इसलिये ऐसी दुराशा में न बैठे रहना चाहिये। इस प्रकार दृष्टफल अदृष्ट फल तथा दृष्टादृष्ट फलात्मक शारीर कर्मों को हमेशा करने रहना चाहिये। यही कह रहे हैं **कर्मण्येवाधिकारस्ते।**

शारीर कर्म के समान वाचिक कर्म भी त्रिविध है। वह भी दृष्टफल, अदृष्टफल और दृष्टादृष्ट फल इस प्रकार तीन है। भगवान का स्तुति पाठ गीतापठन वेदाध्ययनादि कर्म सदृष्ट फलक है। स्तुति पढ़ो। संस्कृत पढ़ो तो अति उत्तम। नहीं हो सका तो भाषा में भी स्तुति पाठ किया जाता है। जैसे हनूमान चालीसा का पाठादि। परन्तु संस्कृत भाषा देववाणी होने के कारण इसके उच्चारण और श्रवण का ही एक अलग पुण्य माना गया है। यह अनादि भाषा है। किसी का अपभ्रंश नहीं है। ग्रीक लैटिन फेंचादि की तुलना लोग करते हैं। परन्तु यह सब मिथ्या वार्त्ता मात्र है। संस्कृत देववाणी है। अनादि सिद्ध है। उसका पाठ और स्तोत्र पाठादि पुण्यप्रद है। दृष्टफल व्यापार वार्त्ता है। एक व्यापारी दूसरे से व्यापार चर्चा करता है तो उसमें कोई अदृष्ट फल नहीं होता। दृष्टमात्र फल होता है। घर में बैठ कर कैसे घर चलाना चाहिये इत्यादि वार्त्ता दृष्टफल है। वह भी करने योग्य ही है। दृष्टादृष्ट फल है—स्कूल कालेज आदि में विद्याध्ययन अध्यापनादि। प्रोफेसर विद्यार्थियों को समझाता है वाणी से। उसको जो तनखा मिलेगा

वह दृष्ट फल है। फिर भी उसमें अदृष्ट भी है। क्योंकि विद्या प्रदान हुआ। इस प्रकार वाचिक दृष्ट फल अदृष्ट फल एवं दृष्टादृष्ट फल कर्म की कर्तव्यता बतला रहे हैं भगवान—**कर्मण्येवाधिकारस्ते।**

मानसकर्म तृतीय है। वह दृष्टफलादि भेद से त्रिविध समझना चाहिये। मन से भी कर्म होता है। पुण्य भी होता है। मानस चिन्तन ही मानस कर्म है। एक तो मन से ज्ञान होता है। सामने वस्तु आयी तो ज्ञान हुआ। उसको कर्म नहीं कहते। जो परिश्रम से संपादित किया जाय उसको कर्म कहते हैं। आप यदि भगवत् ध्यान करेंगे, तो अदृष्ट फल कर्म है। धारणा ध्यान एवं समाधि आदि अदृष्ट कर्म है। भगवच्चिन्तन करना यह महान पुण्य कर्म है ही। भगवन्नाम स्मरणादि भी पुण्य कर्म है। घर बार कैसे चलाना, धन कैसे कमाना इत्यादि चिन्तन दृष्टफल है। इंजिनीयर बैठकर नक्शा प्रथम मन में ही तो खींचेगा। यह दृष्टफल कर्म है। बड़ा-बड़ा प्लानिंग पंचवर्षीय योजना आदि भी दृष्टफल कर्म है। यदि आप यह सोचे कि **"सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः"** इत्यादि तो यह दृष्टादृष्ट फल है। ऐसा चिन्तन करते रहेंगे तो धीरे-धीरे मन में शान्ति उत्पन्न होगी। सद्भावना का पुण्य तो है ही। मन से भी इस प्रकार कर्म करते रहना चाहिये। इस प्रकार मानस दृष्टादि कर्म करने के लिये भी भगवान का यह आदेश है—**कर्मण्येवाधिकारस्ते।**

बल्कि इन तीनों कर्मों में सामंजस्य संपादन करना भी आवश्यक है। मन में जिस प्रकार सोचते हैं वैसे वाणी से उसका प्रकाशन करते हैं। वाणी से जिसका प्रकाशन करते हैं वैसे करना भी चाहिये। इनमें फरक न होना चाहिये। कहनी कुछ और करनी कुछ ऐसा न होना चाहिये।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।

यह महात्मा का लक्षण है। तदनुरूप, कायिक, वाचिक मानसिक कर्मों का संपादन करते रहना यही श्रेय का कारण है। यही प्रथम पाद में प्रथम सूत्र रूप से बताया गया—**कर्मण्येवाधिकारस्ते।**

मा फलेषु कदाचन। यह दूसरा सूत्र है। निष्काम कर्म का यह सूत्रपात है। बहुत से लोग इस निष्काम कर्म को असंभव मानते है। कई लेखक इस बात को एक अतिशयोक्ति मात्र मानते हैं। क्या नौकरी करने वाला महीने भर नौकरी करें और तनखा देने का समय आने पर मालिक सेठ इतना कह कर छुट्टी पा लेगा—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। अच्छा श्रोत्रिय वेदपाठी ब्राह्मण को लो। आपके घर में उसने श्राद्ध कराया या हवन कराया। जाने के समय दक्षिणा माँगने पर यह कह दे कि कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन तो क्या होगा?। अच्छा आप स्वयं व्यापारधंधा करते हैं, 'व्यापारादि करता हैं', करके कर रहे हैं या धन के पाने के लिये? कामना न हो तो कोई भी एक पग भी आगे नहीं रखेगा। **'सर्वं कामस्य चेष्टितम्'** यही सिद्धान्त है। दूसरी बात यह भी है कि फल की आशा होने पर कर्म अच्छा किया जाता है। मेहनत करने से खेत में अधिक अनाज पैदा होगा तब किसान दिन रात एक करके मेहनत करता है। फल मिलता है तो ओवर टाईम लगा कर भी लोग काम करेंगे। फल न मिलता हो तो कोई काम करने को तैयार नहीं होगा। इसीलिये धर्मादा ट्रस्टों में काम करने वाला रहता ही नहीं है। अतएव निष्काम कर्म का यह प्रस्ताव तो संगत नहीं दीखता। इस पर विशेष वक्तव्य है। यहाँ भगवान ने एक अधिकार शब्द का प्रयोग किया है।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलं स्यात् कदाचन"

ऐसा नहीं कहा गया। कर्म में ही तेरा अधिकार है। फल में तेरा अधिकार न हो यह यहाँ पर कहा जा रहा है। अधिकार न हो

कहने से दो बातें आती है। एक तो फल होना चाहिये, दूसरा उसमें अधिकार प्राप्त होना चाहिये। कोई कहे कि मेरा आकाश पुण्य पर कोई अधिकार नहीं है। तो यह वाक्य निरर्थक है, क्योंकि आकाशपुण्य कोई वस्तु नहीं है। वस्तु पहले हो तब अधिकार का या अभाव का चिन्तन होता है। नहीं तो चन्द्रमण्डल पर जमीन बेचने और खरीदने की बात हो वैसी ही बात होगी। चन्द्रमा पर जाने से पहले ही वहाँ की जमीन बेचना प्रारम्भ हो गया था। वहाँ पहले वास योग्य जमीन हो तब बेचे खरीदे। अतः एक सिद्धान्त इस अधिकार पद से सामने आया कि फल होना ही चाहिये। दूसरी बात यह भी है कि निष्फल कर्म प्रतिषेध किया गया है। जिसका कोई फल निष्पन्न न होता हो ऐसे कर्मों का निषेध किया गया है। तर्कसंग्रहकार लिखते हैं—

"न कुर्यान्निष्फलं कर्मेति जलताडनादेरपि निषिद्धत्वात्"

निष्फल कर्म न करो ऐसी वेदाज्ञा है। अर्थात् निष्फल कर्म का वेद ने प्रतिषेध किया है। वेद ने जिसका प्रतिषेध किया है, उसका आचरण करने पर पाप होता है। उदाहरणार्थ जल ताड़न बताया। एक आदमी तालाब के किनारे बैठकर जल मर्दन कर रहा था। आटा गूंदकर मर्दन करो तो मुलायम होगा। सोने को चाँदी को अगर कूटो तो वक्र बनेगा। किन्तु जल को कूटोगे तो क्या फल मिलेगा ? जल पहले से ही मुलायम है। पहले से ही पतला है। उसके कूटने न कूटने का कोई फर्क नहीं पड़ता। अतः जल ताड़न कर्म निष्फल माना जाता है। निष्फल कर्म न करना चाहिये। वेद ने जिसका प्रतिषेध किया उसको करने के लिये भगवान कैसे कहेंगे। वेद भी तो आखिर भगवदाज्ञा है, तो क्या भगवान विप्रतिसिद्ध वक्ता है ? अतः यहाँ मा फलेषु कदाचन का अर्थ 'फल न हो' नहीं है। कर्म हमेशा सफल ही होना चाहिये। सफल होना चाहिये इसका अर्थ ही फल कामना है।

अधिकार पद से एक बात सामने आयी कि फलयुक्त कर्म होना चाहिये। दूसरो बात यह है कि फल में अधिकार भी प्राप्त होना चाहिये। न्याय प्रसिद्ध है—"प्राप्तौ सत्यां निषेधः" एक भिखारी मरीन ड्राइव सड़क से जा रहा था। दूसरे भिखारी को कहने लगा—देखो ये जितनी बिल्डिगें हैं, इन सबसे मैंने अपना अधिकार छोड़ दिया। दूसरा भिखारी कहता है—तेरा अधिकार था ही कहाँ कि तूं छोड़ेगा। अन्दर घूमेगा तो दरवान धक्का मारके तेरे को निकालेगा। बात कैसी अच्छी। पहले प्राप्ति हो तब निषेध होता है। पहले अधिकार हो तब छोड़ने की बात आतो है। इसी प्रकार यहाँ भी "अधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" इस वाक्य में फल में तुम अधिकार मत रखो यह कथन प्रथम अधिकार की प्राप्ति होने पर ही सम्भव है।

इस प्रकार अधिकार पद पर विचार करने से दो बातें सापने आयी। एक तो फल होना ही चाहिये और फल में अधिकार भी प्राप्त होना चाहिये। ऐसी स्थिति में केवल अपने अधिकार मात्र को हटाने की बात यहाँ पर कही जा रही है। अत एव कर्मण्ये-चाधिकारस्ते यहाँ पर भी निष्फल कर्म से तात्पर्य नहीं है। किन्तु जैसे हमने व्याख्या में कहा—दृष्टफल, अदृष्टफल एवं दृष्टादृष्टफल वाले कर्मों में ही अधिकार वहाँ बताया गया है। इसो अधिकार पद से एक बड़ी विशिष्ट बात यह भी आती है कि उत्तमोत्तम फल का संपादन परम आवश्यक है। तदर्थ मन में आशा प्रतीक्षा करना भी समुचित है। उस कामना में ही थोड़ा संशोधन करने पर निष्काम हो जायेगा। क्या संशोधन करना—"फलं स्यात्" यह कामना रखो। किन्तु "फलं मे स्यात्" यह 'मे' को बीच में मत जोड़ो। यही खतरनाक है। "मे" यहो अधिकारार्थक है। इस बात को आप एक दृष्टान्त के द्वारा समझिये। एक भला मनुष्य था। उसने मार्ग में जमीन में एक फलों का बगीचा बनाया। खूब मेह-

नत किया। पहले समय में जो खेवे उसी का माना जाता था। आज भी जंगलों में पहाड़ों में जिसने कब्जा किया उसी का वह होता है। पेड़ों को उस आदमी ने खूब सम्भाला-संरक्षण किया। पानी सींचा, खाद डाली। पेड़ बड़े हो गये। खूब फल लगे। आम, कटहल, मोसंबी, अंगूर, सेव, नासपाती आदि फल लगे। उसने फिर अपना अधिकार उसमें से हटाया। बिगड़ने न देने तक के लिये उसने अधिकार रखा। बाकी अधिकार हटाया। तब वहाँ किसका अधिकार ? लोगों को मालूम पड़ा कि उस मनुष्य ने फल पर अपना हक नहीं रखा। तो लोग जाने लगे। प्रेम से फल तोड़-खाने लगे। हाँ, वह वृक्षों को तोड़ने और बिगड़ने नहीं देता था। राहगीर जाने लगे। पेड़ों के नीचे विश्राम करने लगे। फल खाकर भूख मिटाने लगे। सभी मुँह से धन्यवाद बोलने लगे हृदय से आशीर्वाद देने लगे। यह है कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। हाँ. भूख लगने पर स्वयं भी फल खावो। अधिकार त्याग का मतलब है—"मे" "मम" को त्यागना। "मम" का अर्थ है—स्वार्थ। स्वार्थ का त्याग करने पर वही वस्तु पदार्थ हो जाती है। अत एव परार्थ कर्म ही यहाँ पर भगवदभिप्रेत है। इसके उदाहरण स्वरूप है—महात्मा गांधी, तिलक आदि महापुरुष। उन लोगों ने भारत को स्वतन्त्र करने के लिये जीवन भर प्रयत्न किया। जीवन का तदर्थ ही उत्सर्जन किया और स्वतन्त्रता मिली तो क्या उन्हीं को मिली ? नहीं। सबको। सबको मिली तो उनको भी मिली। यही निष्काम कर्मयोग का रहस्य है। दृष्ट फलक कर्म की निष्काम कर्मयोगता यहाँ स्पष्ट की है। यज्ञयागादि अदृष्ट कर्म की भी निष्का कर्मयोग रूपता हम आगे प्रकट करेंगे। उसका फल किस प्रकार ? फलाधिकार त्याग कैसा यह सब विशेष विवेचनीय बातें आगे हम स्पष्ट करेंगे।

यह महान निष्काम कर्मयोग एक अति रहस्य पूर्ण है। इसे ठीक-ठीक समझने के लिये अधिकार पद पर स्वयं बैठकर पर्याप्त

मनन करना पड़ेगा। तभी वह हृदयंगम होगा। आजकल के लेखक अपने आपको काफी ज्ञानी मानी मानते हैं। उनकी गति अन्य विषयों में हो सकती है। किन्तु शास्त्र में उनका पाँव अड़ाना सत्य नहीं हो सकता। यह एक बलात्कार मात्र माना जायेगा। शास्त्र और शास्त्र रहस्य को शास्त्रवेत्ताओं से जानने का प्रयास करो। धूलीपात मत करो। विज्ञान भौतिकतत्त्व को अधिक प्रकाश में लाया है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि आप हर विषय में अधिक बुद्धिमान हो गये। बुद्धि वही है। उसके विनियोग पर ही विलक्षणता होती है। भौतिक तत्त्वों में प्रगति की। किन्तु अध्यात्म में शून्यता पर पहुँचे। अध्यात्म मार्ग में प्रगति के लिये यहाँ कर्मयोगोपदेश चल रहा है। न कि आफिस में आवर टाईम में काम किया कि नहीं बतलाने के लिये। वे आवर टाईमवालों ने आवर टाईम पाने के लिये धीमे काम किया, आफिस टाईम में आवर टाईम के लिये बाधा किया। इसकी भी दवा आपके पास है या नहीं ? वैसे सभी करने लगे तो क्या स्थिति होगी ? उसी के लिये अध्यात्म मार्ग की जरूरत पड़ती है। स्वतन्त्रता पूर्व के निष्कामकर्मी नहीं रहे। 'फलं स्यात्' नहीं, 'फलं में स्यात्' हो गया। उसका परिणाम गाड़ी जहाँ की तहाँ रुकी। पड़ी है। उस पर अधिक प्रकाश डालने की आवश्यकता इसलिये नहीं है कि ये सब बातें सर्वजन विदित है।

इस अध्यात्मोपदेश—कर्मयोगमार्ग ज्ञान जिसने सुना और जिसने सुनाया दोनों का कैसा जीवन रहा यह भी ध्यान देने योग्य है। भगवान को इस कर्मयोगोपदेश के परिणाम स्वरूप अर्जुन ने यही अन्त में कहा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्ध्वा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥

अर्जुन ने भगवान के सामने प्रतिज्ञा की—"करिष्ये वचनं तव"। इसके बाद महाभारत युद्ध हुआ। महाभारत का नाम आज भी

उतना ही प्रसिद्ध है जितना उस समय प्रसिद्ध था। बल्की उसको लेकर कई पहेकियाँ बन गयीं। कहीं घर में झगड़ा हो रहा हो तो बोलने लगे—वहाँ महाभारत हो रहा है इत्यादि। उस युद्ध में पाण्डव पाँच और शत दुर्योधनादि मुख्य पक्ष एवं प्रतिपक्षी थे। पाँडवों में पाँच होने पर भी महाभारत का नायक तो अर्जुन ही था। कौरवों को यथार्थतः जीतने वाला तो अर्जुन ही था। कौरवों को अर्जुन ने परास्त किया। भयानक युद्ध किया। उसे फल पर्यन्त पहुँचाया और 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इस सूत्र को पूरा कर 'करिष्ये वचनं तव' तव का एक अंश पूर्ण किया। दूसरा अंश था—"मा फलेषु"। जीतने वाला अर्जुन था। और यदि अड़ जाता कि मैं राजा बनूंगा तो शायद कुछ ओर परिणाम निकलता। यद्यपि ऐसी कल्पना भी मन में सहसा नहीं आ सकती। किन्तु स्वार्थी दुर्योधन का उदाहरण तो प्रत्यक्ष था ही। अर्जुन ने अपनी जीत का फल अपने पास में नहीं रखा। फल तो युधिष्ठिर के पास रहा। मुझे सेवा करने का अधिकार है, राज्य का अधिकार नहीं, यही तो अर्जुन की गुप्त घोषणा थी।

दूसरी ओर उपदेष्टा भगवान श्री कृष्णचन्द्र के जीवन चरित्र पर दृष्टिपात करो। बहुत से लोग उस रहस्य पर दृष्टिपात नहीं करते है। ऊपर से बाँच लिया हाँ हाँ कह दिया। प्रथम बचपन में ही श्रीकृष्ण ने अनेक विध उत्पातों से व्रज को बचाया था। पर्वत तक को उठाकर व्रज को बचाया। खैर, वहाँ उन सब कर्मों के फल का खास सवाल नहीं रहा। किन्तु वहाँ से मथुरा जाकर कंसवध किया। तब वहाँ की गद्दी खाली हो गयी थी। उग्रसेन तो जेल में पड़े थे। उस समय यदि भगवान मथुरा का राजा बनना चाहते तो बन सकते थे या नहीं? जिस कंस ने पिता सहित पूरे राज्य को त्रस्त किया। उसको मारने वाला उससे अधिक बलवान रहा ही होगा। किन्तु क्या भगवान कृष्ण ने उस कर्म का फल अपने

हाथ में रखा ? उग्रसेन को राज्यगद्दी पर बैठकर स्वयं सेवक बने रहे। कलियुग में थोड़ा सा इसका आभास महात्मा गाँधी में आया। अंग्रेजों को हटाकर अगर वे प्रधान मन्त्री बनना चाहते तो बनते। किन्तु उन्होंने नेहरुजी को बिठाया। इतना ही अंतर की प्रजातंत्र में पलटने की संभावना हो सकती थी। श्री कृष्ण को तो पलटने वाला भी असंभव था ही। खैर, इसको एक इमानदारी कह सकते हैं। क्योंकि पूर्व राजा तो उग्रसेन थे ही। अतः भगवान कृष्ण ने न्यानुसार उनको ही राजगद्दी दी। किन्तु इसके बाद सुवर्णमय द्वारिका को विश्वकर्मा द्वारा निर्माण कराकर बसाने वाले भगवान कृष्ण ही थे। वहाँ तो किसी अन्य के अधिकार की बू तक नहीं थी। किन्तु द्वारिका बसाकर भी क्या भगवान श्रीकृष्ण वहाँ के राजा बने ? उनको वहाँ के राजा बनने का पूरा-पूरा हक था। वे यदि वहाँ के राजा बनते तो भी "राजा रामचन्द्र की जय" जैसे राजा कृष्ण चन्द्र की जय" लोगों से बुलवा सकते थे। फिर भी राम के समान भगवान भी बने रह सकते थे। किन्तु उनके अलौकिक त्याग ने तो श्री कृष्ण को और ही संज्ञा दे डाली। द्वारिकाधीश की जय बोलते हैं। द्वारिकाराजा की नहीं। कृष्ण ने कहा तो "कर्मण्ये-वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन इस उपदेश का अक्षरशः पालन भी किया। वहाँ भी यदुवृद्ध होने के नाते उग्रसेन को ही राजा बनाया, स्वयं सेवक ही रहे। इसके बाद जरासंघ का वध कराकर वहाँ सहदेव को राजगद्दी पर बैठाया। चाहते तो वहाँ भी राजा बन जाते। शिशुपाल का वध कर कम से कम कुण्डिन पुर के ही राजा बनते चेदिराज कहलाते। कितने कितने अधार्मिक राजाओं का सफाया कराया। किन्तु पूरे जीवन में कहीं भी वे अधिकार में स्थित नहीं हुए। अपने जीवन को उन्होंने सेवामय बनाया। एक अति-विलक्षण आदर्श प्रस्तुत किया।

कर्मण्येवाधिकारस्ते, यहाँ कर्मणि एक वचन है। किन्तु 'मा फलेषु' यहाँ फलेषु बहुवचन है इसका भी विशिष्ट अभिप्राय है। जिस किसी भी फल में अधिकार या अधिकार सदृश की गंध आती हो वहीं से उस भाव को हटाने के लिये भगवान कर रहे हैं। बहुत से लोग परोपकार कर्म करते रहते हैं। फल को परार्थ भी बनाते हैं। परंतु कुछ विशिष्ट इज्जत प्रतिष्ठा आदि पाने की अभिलाषा रखते हैं। मान होना चाहिये। लोगों के अंदर सद्भावना उत्पन्न होना चाहिये ही महान पुरुषों का वही धन है। **"मानो हि महतां धनम्"** ऐसा नीतिवचन भी है। किन्तु उसके पीछे भी लोग सीमातिक्रमण करते हैं। वह भी सीमा के अंदर ही होना चाहिये। सीमा के बाहर नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने "फलेषु" इस बहुवचन प्रयोग को भी अपने जीवन में उतारकर दिखाया। महाभारत युद्ध के महाराज युधिष्ठिर को अश्वमेध यज्ञ करने की इच्छा हुई। राजाओं के लिये यह एक महत्त्वपूर्ण यज्ञ माना जाता था। प्रथम तो युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ किया था। महाभारतोत्तर उन्होंने अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। भगवान रामचन्द्र ने भी अश्वमेध यज्ञ किया था जिसमें अपने ही अपरिचित पुत्र लव और कुश के साथ उनका युद्ध हुआ था। महाराज युधिष्ठिर ने भगवान कृष्ण को खबर भेजी कि हमारी इच्छा एक अश्वमेध यज्ञ करने की है तदर्थ आपका वरदहस्त हमारे ऊपर होना चाहिये। भगवान श्रीकृष्ण ने प्रथम अश्वमेध में उपस्थित होने की अपनी असमर्थता व्यक्त की, परंतु महाराज युधिष्ठिर का अति आग्रह तदर्थ हुआ। स्वयं युधिष्ठिरजी ने आकर भगवान को कहा कि आपके बिना यह कार्य हो ही नहीं सकता। और इतने बड़े भारी उत्तम कर्म को आप निरुत्साहित करें यह सर्वथा उचित नहीं माना जायेगा। आपका ही वचन है—

"नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि"

अतः आपको स्वीकार करना ही पड़ेगा। अपराकारणीय आग्रह सामने आ गया तो भगवान ने कहा कि एक शर्त के साथ मैं आने को स्वीकार कर सकता हूँ। युधिष्ठिर ने कहा—एक नहीं सौ शर्त कराईये। हमें आप पर पूरा भरोसा है। आपकी शर्तें जगदुपकारार्थ ही होंगी। बताईये क्या शर्त है? भगवान ने कहा—मैं अश्वमेध में आऊँगा किन्तु पूजा में उपस्थित नहीं रहूँगा। युधिष्ठिर ने कहा—भगवन्! आप तो परमपूज्य है, अग्र पूजायोग्य है। आप पूजा में कैसे उपस्थित नहीं होंगे। भगवान कृष्ण ने कहा—इसीलिये, जो आपने अभी अग्रपूजा का नाम लिया। मैं अग्रपूजा क्या पूजामात्र में शामिल नहीं होऊँगा। युधिष्ठिर ने कहा—भगवन्! यह कैसी विलक्षण शर्त है? यह तो भीष्मपितामह जैसे ज्ञानी पुरुषों का निर्णीत अर्थ है कि आप अग्रपूजा योग्य है। अब आप पूजा ही न लें यह कैसी विडम्बना होगी। शास्त्रों में कहा है—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च व्यतिक्रमः।
चत्वारि तत्र नश्यन्ति आयुर्विद्यायशोबलम्॥

जहाँ मूर्ख अज्ञानी आचारणहीन जैसे अपूज्यों की पूजा हो और ज्ञानी तत्त्ववेत्ता आचरण संपन्न परमयोग्य महापुरुष का व्यतिक्रम हो वहाँ चार का नाश होता है—आयु, विद्या, यश और बल ये चार नष्ट होते हैं। तब आप जैसे परम पूज्यों का व्यतिक्रम कैसे हो? भगवान श्रीकृष्ण ने कहा—इसीलिये तो कह रहा हूँ मैं उपस्थित नहीं रहूँगा। मैं यज्ञ में नहीं आऊँगा। युधिष्ठिर ने कहा—हम आपकी आज्ञा शिरोधार्य करेंगे। क्योंकि आप समर्थ होने से जो इसमें दोष होगा उसका मार्जन भी आप कर ही देंगे। परन्तु प्रश्न यह है कि इसमें आपका आग्रह ऐसा क्यों है? भगवान कृष्ण ने कहा, राजसूय यज्ञ में मेरी अग्रपूजा पर जो दुर्घटना हुई उसको पुनरावृत्ति क्या पुनरावृत्ति की संभावना भी मैं लाना नहीं

चाहता। युधिष्ठिर मौन थे, लाचार थे। परिणातः अश्वमेध में अग्रपूजा का क्रम ही समाप्त हो गया। अर्थात् भगवान ने अपने उत्तम कर्म फलात्मक प्रकट मान प्रतिष्ठा को भी ठुकरा दिया। उस महायज्ञ में आये हुए अतिथियों का प्रक्षालन भगवान करते थे। भोजनोत्तर जूठे पत्तल भगवान उठाते हिचकिचाते नहीं थे। उन्हें संकोच नहीं होता था। हर प्रकार की सेवा करने के लिये मनुष्य को तैयार रहना चाहिये। वहाँ देश समुन्नत हो सकता है जहाँ के वासी सेवा तत्पर हो। यहाँ से विदेशों में आज ये गुण मानो चले गये। विदेशी इस देश में आते हैं तो अपना सामान अपने ही कंधों पर डाल कर चलते-फिरते नजर आयेंगे। परन्तु हमारे यहाँ रहने वाले काम करना अपना अपमान समझते हैं। छोटा काम करना हो तो और भी खराब समझते हैं। हिन्दू राजाओं का इसीलिये मध्ययुग में पतन हुआ। मुस्लिम बादशाह आ गये। आखिर उनका भी इसी कारण पतन हुआ। सुनते हैं कि वाजदअली अंगरेजों से बचकर इसलिये भाग नहीं सका था कि पाँव पर कोई जूता पहनाने वाला नहीं मिला। अन्यथा सुरंग से निकल कर वह भाग सकता था। भगवान कृष्ण ने कहा—मालिक बनने में कोई मजा नहीं है। मजा तो सेवक बनकर सेवा करने में है। परन्तु सेवक स्वेच्छा सेवक होना चाहिये। न कि पराधीन सेवक। जूठे पत्तल उठाने के लिये मजबूरी नहीं थी। खुशी की बात थी।

मा कर्मफलहेतुर्भूः। कर्मण्येवाधिकारस्ते इस प्रथम सूत्र में बताया है कि तुम्हें कर्म में ही अधिकार है। ज्ञाननिष्ठा में नहीं। एक कर्म है, दूसरो कर्मनिष्ठा है। इसी प्रकार एक ज्ञान है और दूसरी ज्ञाननिष्ठा है। कर्मनिष्ठा में अधिकार हो सकता है, किन्तु कर्मनिष्ठा में ही पहुँचना नहीं चाहिये। वह फिर जीवन भर में कर्म ही करता रहेगा। प्राचीनबर्हि की जैसी बात होगी। प्राचीन-

बर्हि नाम के राजा का वर्णन श्रीमद्भागवत में आता है। निरन्तर कर्म परायण था। प्राचीनर्वाहि नाम ही इसलिये पड़ा था कि उस राजा ने पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र पर्यन्त इतने अधिक यज्ञ किये कि हर जगह कुश ही कुश बिछाया गया। देवर्षि नारदजी ही आकर फिर प्राचीनर्बाहि को समझाया कि तुम पुरंजन मत बनो। पुरंजनोपाख्यान के द्वारा नारादजी ने समझाया कि इन कर्मों का कोई अन्त नहीं होता। जन्ममरण पतन ही परिणाम है—

अग्रे वृकानसुतृपोऽविगणय्य यान्तं।
पृष्ठे मृगं मृगय लुब्धकबाणभिन्नम्॥

आगे आगे तो वृक है। भेड़िया है, एक दो नहीं, अनन्त। ये सभी असुतृप है। लवदिनमासादि काल तो 'कालवृको हन्ति पुरुषाजं' प्राणों को लेकर ही तृप्त होंगे। और पीछे से लुब्धक है, उसके बाणों से भिन्न है। पीछे जन्म आगे मृत्यु। अतः केवल कर्मनिष्ठा उपयुक्त नहीं है। इसी प्रकार तुम्हारे लिये केवल ज्ञाननिष्ठा भी ठीक नहीं। "तच्चिन्तनं तत्कथनं" इत्यादि ज्ञाननिष्ठा तो कर्म प्रकृतिक मनुष्य के लिये उपयुक्त नहीं है। ज्ञाननिष्ठ तो केवल संन्यासी होते हैं। हे अर्जुन, तुम संन्यासी होकर जंगल में रहना चाहो तो संभव नहीं है। क्यांकि तेरी प्रकृति तो कर्म की है। वहाँ जाकर भी शेरों को, हरिणों को मारते रहोगे। कर्मनिष्ठा भी संभव नहीं और ज्ञाननिष्ठा भी संभव नहीं, तब कौन-सा मार्ग रह गया? मध्यम मार्ग—कर्म और ज्ञान। जिसमें कर्मोपदेश है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते"। ज्ञानोपदेश आगे होगा—"बुद्धौ शरणमन्विच्छ"। यही प्रथम सूत्र का रहस्यार्थ हुआ। द्वितीय सूत्र में—मा फलेषु कदाचन से फलार्थता का निराकरण किया। अधिकार पद जोड़ने का अर्थ हुआ कि फल होना चाहिये, किन्तु फलाधिकार छोड़ना चाहिये। "फलं स्यात्"। ऐसा हो, किन्तु 'फलं मे स्यात्' ऐसा न हो। समष्टिभाव से कर्म करना चाहिये। व्यष्टिभाव को छोड़ना चाहिये। यदि सम्पूर्ण

कर्मों को समष्टिभाव में परिणत न भी करे तो समष्ट्यर्थ कर्म प्रतिदिन करना ही चाहिये।

कर्म करो किन्तु फलाधिकार छोड़ो कहने के बाद तृतीय सूत्र आया—मा कर्मफलहेतुर्भूः। क्या इसमें नवीनता है? जो द्वितीय पाद में बताया वही तृतीय पाद में भी बताया जा रहा है। नहीं। कुछ विशेषता है। यहाँ कर्मफल संसार चक्र है। उसका हेतु मत बनो, यह बताया जा रहा। "जन्मकर्मफलप्रदां" ऐसा विशेषण पहले दिया था। कर्म का यही परिणाम है। अभी अभी हमने कर्मनिष्ठों का फल प्राचीनबर्हि के उदाहरण से बताया। प्रथम जन्म अन्त में मरण पुनः जन्म और बीच में पुनः कर्म यही चक्र कर्म का फल है। उसका हेतु मत बनो। वह कैसे होगा? इसी के लिये "बुद्धौ शरणमन्विच्छ" यह आगे उपदेश होगा। और कर्म समर्पण का भी उपदेश होगा—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

ऐसा आगे समर्पण बतायेंगे। यहाँ सूत्ररूप से उसका निर्देश कर रहे हैं। जो भी करते हो उसे भगवदर्पण करो। जो खाते हो, उसे भगवदर्पण करो। जो दान करते हो उसे भी भगवदर्पण करो। जो तप करते हो उसे भी भगदर्पण करो। भगवान ही कर रहे हैं, भगवान ही करा रहे हैं समझते हुए पूरे कर्म का बोझ भगवान पर ही छोड़ो। इस अर्पण से क्या होगा?

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।

शुभ एवं अशुभ फलों से मुक्त हो जाओगे। यही कर्मफल है कि शुभाशुभजन्म, शुभाशुभ जीवनादि। असमर्पित कर्म का वह फल है। यही कर्मबन्धन है। 'मा फलेषु कदाचन" से भोक्तृत्वभाव का त्याग बताया। मा कर्मफल हेतुभूः से कर्तृभाव का भी परित्याग करने के लिये कहा जा रहा है। कर्तृभाव संसारोत्पत्ति कारण है।

जिसके परित्याग से ही बुद्धि की शरणागति सम्भव है। अत एव बुद्धौ शरणमन्विच्छ के बाद 'कृपणाः फलहेतवः' बतायेंगे। उसी फलहेतुता का कारण 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' से किया जा रहा है। कर्त्तृत्व का यहाँ सर्वथा त्याग नहीं कहा जा रहा है। क्योंकि वह तो ज्ञानोत्तर ही संभव है। किन्तु मुख्य कर्त्तृत्व का त्याग कहा जा रहा है। एक मुख्य कर्त्तृत्व होता है। दूसरा गौण कर्त्तृत्व या प्रयोज्य कर्त्तृत्व होता है 'देवदत्तो गच्छति' देवदत्त जा रहा है, यहाँ देवदत्त मुख्य कर्त्ता है। किन्तु "यज्ञदत्तो देवदत्तं गमयति" यज्ञदत्त देवदत्त को चला रहा है—या भेज रहा है, यहाँ देवदत्त प्रयोज्यकर्त्ता माना जाता है। प्रथम ही कर्त्तृत्व सामान्य त्याग नहीं होता। मुख्य कर्त्तृत्व का त्याग हो सकता है। "नाहं करोमि किन्तु ईश्वरो मया कारयति" मैं स्वतन्त्र होकर नहीं कर रहा। किन्तु ईश्वर प्रेरित होकर कर रहा हूँ। यहाँ मुख्य कर्त्तृत्व को ईश्वर में समर्पित किया। अपने में केवल प्रयोज्य कर्त्तृत्व रखा। यही कर्त्तृत्व समर्पण अथवा कर्म समर्पण है। 'यत्करोषि·····तत्कुरुष्व मदर्पणं' का भी यही तात्पर्य है। इस प्रकार मुख्य कर्त्तृत्व त्याग ही बुद्धि में शरणान्वेषण का प्रथम कदम है। वह क्रमशः आगे कर्मफल—संसार का हेतु नहीं होता।

अब यह चतुर्थ सूत्र है—**मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि**। फल में अधिकार रखना है और मुख्य कर्त्तृत्व का त्यागकर कर्मफल हेतु भी नहीं बनता है तो कर्म ही क्यों करें? ऐसा प्रश्न उठ सकता है। क्योंकि एक न्याय प्रसिद्ध है कि—

"प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्"

पहले कीचड़ में पाँव रखो फिर उसके बाद उसे धोवो इसकी अपेक्षा दूर से ही कीचड़ छोड़ क्यों न दिया जाय? पहले कर्म करो। फिर फल प्राप्त होने पर उस पर अधिकार भी न करो। कर्मफल हेतु भी मत बनो, भला इससे अच्छा दूरतः कर्मत्याग नहीं है? इस

पर भगवान चतूर्थ सूत्र बोले—'मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि'। हे अर्जुन! तुम्हारा अकर्म में सङ्ग न हो। अकर्म न हो ऐसा नहीं कहा। किन्तु अकर्म में सङ्ग न हो कहा। क्यों? इसलिये कि ज्ञान दशा आने पर अकर्म ही होने वाला है। अकर्म बुरा नही है। समाधिस्थ होने पर अकर्म हो जाता है। तत्त्वसाक्षात्कार होने पर अकर्म होता है। **"नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति"** इस प्रकार आगे नैष्कर्म्यसिद्धि की परम आदर के साथ चर्चा की है। वह अकर्म समाधि से या संन्यास से स्वयं सम्पन्न होना है। संन्यास का विशेष अर्थ उसी स्थान पर बताया जायेगा। किन्तु कर्त्तृभोक्तृ भाव काल में अकर्म स्वतः नहीं होता। वह आलस्य का स्वरूप है। मुझ पर कोई जिम्मेदारी न हो, लापरवाह रहूँ यह अकर्म सङ्ग का प्रमाद का स्वरूप है। इन दोनों का यहाँ निषेध है—मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि। अत एव सङ्ग पद की सार्थकता है।

प्रमाद या आलस्य से अकर्म हो तो क्या हानि है? क्यों भगवान इसका निषेध कर रहे हैं? इसका विवरण आगे स्वयमेव करेंगे। प्रमादवश यदि कर्मत्याग करते हैं तो लौकिक हानि आगे बतायेंगे—**"शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः"**। कर्म त्याग होने पर शरीर निर्वाह भी नहीं होगा। सेठ के लड़के ने सोचा—बाप का कमाया हुआ अपार धन पड़ा है। क्या फिकर? उसकी शरीर यात्रा का निर्वाह क्यों नहीं होगा? शरीर यात्रा का अर्थ केवल भोजन ही नहीं है। वह भी अर्थ है किन्तु वही अर्थ नहीं। काम न करने वालों का शरीर बहुत अधिक निकम्मा हो हो जाता है। उसके लिये अपना अत्यावश्यक कर्म करना भी भारी पड़ जाता है। दूसरी बात उससे हजारों बिमारियाँ घर कर लेती हैं। यह भी कोई शरीर यात्रा है। यह यात्रा नहीं यातना है। शास्त्रीय दृष्टि से तो कहना ही क्या? क्योंकि प्रमादालस्यादिवश

कर्म भले ही त्याग दें, उससे आवश्यक कर्म छूटेंगे किन्तु अनावश्यक कर्म नहीं छूटेंगे। इसका विवरण आगे आयेगा—

"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"

बिना कर्म किये क्षणमात्र भी रहना मुश्किल है। विहित कर्म को तो अकर्मसङ्गवशात् त्याग दिया। तब पारिशेष्यात् कौन-सा कर्म रहेगा? निषिद्धकर्माचरण करेंगे। कुछ नहीं किया तो भी अनर्थ चिन्तन मन से करते रहेंगे। व्यर्थ चिन्तन से केवल कालक्षेप मात्र नहीं होता। पाप चिन्तन से मानस पाप भी होता। जिसका वर्णन योगसूत्रभाष्यादि में आया है। दूसरी बात व्यर्थ चिन्तन से भी वासना उत्पन्न होती है। अनर्थ चिन्तन प्रतिषिद्ध उपासना के अन्तर्गत आता है। इसी बात को लेकर यह भी स्पष्टीकरण आगे मिलेगा—"अकर्मणि च कर्म यः"। आपको बाहर से मालूम पड़ेगा कि अकर्म हो रहा है। किन्तु उसके पेट में कर्म भरा है। "मा ते सङ्गोऽस्तु" संग यदि है तो अविद्या निश्चित है और कर्तृत्व भोक्तृत्वभाव भी है। ऐसी अवस्था में जो कुछ भो जानकारी में या अनजान में बाह्य या आनन्तर कर्म हो वह परिणामकारी अवश्यमेव होगा। अतः हे अर्जुन! तुम्हारा अकर्म में संग न हो॥ ४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

[हे अर्जुन संग त्यागकर एवं सिद्धि और असिद्धि में सम होकर इस प्रकार योगस्थ होकर कर्म । समत्व ही योग कहलाता है]

पूर्वश्लोक में चार सूत्र बताये । उनमें कर्म में ही अधिकार है, ज्ञाननिष्ठा में नहीं यह स्पष्टार्थक है । फल में अधिकार मत रखो, इसका भी अर्थ साफ है । अकर्म में संग न हो यह भी स्पष्टार्थ है । किन्तु कर्मफल हेतु मत बनो यह अस्पष्ट है । कर्मफल हेतु न होने का तरीका क्या है ? यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है । यह कहें कि फलाधिकार छोड़ देंगे तो कर्मफल हेतु नहीं बनेंगे । परंतु ऐसी बात नहीं है । फालाधिकार छोडें यह आपकी उदारता होगी । किन्तु फल तो होगा ही । दूसरी बात जैसे तैसे आप सत्कर्मफलाधिकार त्यागें उस पर सर्वाधिकार करें । किन्तु असत् कर्माधिकार त्यागकर उसे भी बटवाना चाहें तो नहीं हो सकेगा । उसके लिये कोई नया ही तरीका अपनाना पड़ेगा । एतदर्थ अब भगवान सामान्य रूपेण कर्म करने का तरीका बता रहे हैं—योगस्थः इत्यादि से ।

योगस्थः कुरुः कर्माणि । हे अर्जुन तूं योगस्थित होकर कर्म कर । यहाँ पर भगवान शंकराचार्य का भाष्य देखने योग्य है । भाष्य में यहाँ व्याख्या की है—

योगस्थः सन् कुरु कर्माणि केवलमीश्वरार्थम्

उसका अर्थ है—योगस्थ होकर केवल ईश्वरार्थ कर्म करो । यहाँ पर "ईश्वरार्थ" इतना अंश किस अभिप्राय से आ गया ? क्योंकि यहाँ प्रकरण में समर्पण की कोई चर्चा नहीं की गयी है । इसका उत्तर यह है कि "कर्मफलहेतुर्मा भूः" ऐसा जो पहले बताया है,

उसका निर्वाह इस अंश की पूर्त्ति की अपेक्षा रखता है। कर्म करने पर फल अवश्यंभावी है। तब वह जायेगा कहाँ ? और जायेगा तो कैसे जायेगा ? पहले अधिकार छोड़ने की बात बतायी परंतु अधिकार छूटगा कैसे ? क्या इतना कहने से छूट जायेगा कि मुझे इस कर्म का फल नहीं चाहिये। लौकिक कर्म दृष्टान्त मात्र है कि आम्रवृक्ष लगाकर फलाधिकार छोड़ा तो वह फल सर्वार्थ होगा। किन्तु अदृष्टार्थ कर्म इतना कहने से मात्र फल दूसरों के पास जायेगा नहीं। जो करता है वही भोक्ता होता है।

नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि।

यह कर्मबीज ऐसा है कि गेहूँ चने के बीज के समान क्वचित् सड़कर समाप्त होने वाला नहीं है। दो साल चार साल, दो चार जन्म भी क्या शतकोटिकल्प भी बीत जाय फिर भी फल दे कर ही हटेगा। वह भी किसी अन्य को नहीं कर्त्ता को। सो भी केवल पापफल ही नहीं, पुण्यफल भी। तब अधिकार त्याग किस प्रकार होगा ? कर्मफलहेतुता का निवर्त्तन कैसे ? इसका उत्तर यहाँ दिया जा रहा है योगस्थः कुरु कर्माणि। समत्त्वं योग उच्यते की अग्रीम व्याख्या है हो किन्तु योग का समाधि अर्थ भी यहाँ है। उभयार्थ यहाँ योगशब्द का अर्थ होगा—समाहितचित्त होकर। समाहिता किस अंश में ? कर्म करना है तो उसके लिये जितनी समाहित चित्तता आवश्य है उतना तो अर्थ प्राप्त है। अतः यहाँ ईश्वर समर्पणार्थ समाहित चित्तता अभिप्रेत है। समाहित चित्त होकर ईश्वरार्थ कर्म करो। अर्थात् कर्म करते हुए समाधान के साथ उसे ईश्वर के हवाले करो।

ईश्वरार्थ कर्म करो। ईश्वर को आपके कर्म की क्या जरूरत है ? कि आप ईश्वरार्थ कर्म करने निकले। क्या आपके कर्मों की प्रतीक्षा ईश्वर कर रहे थे ? ईश्वरार्थ माने ईश्वरार्पणार्थक हो, हाँ, ईश्वर को जरूरत हो तब ईश्वर को अर्पण करें। ब्राह्मण को जरूरत

हो तो ब्राह्मण अर्थ वस्तु को ग्रहण करेगा। अगर ग्रहण नहीं किया तो अर्पण ही नहीं बनेगा। वैसे ईश्वर को जरूरत हो तो आपकी अर्पित वस्तु को ईश्वर ग्रहण करेगा। जरूरत न हो तो क्यों ग्रहण करेगा? ग्रहण न किया तो अर्पण किस प्रकार? दान या अर्पण का अर्थ है—

'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वापादनम्'

वस्तु से अपने स्वत्व की निवृत्ति और परस्वत्व का आपादन ये दोनों होने पर अर्पण या दान माना जाता है। जब पर ग्रहण ही नहीं करेगा तो परस्वत्वापादन जबर्दस्ती तो नहीं ही हो सकेगा। इसका उत्तर है कि ईश्वर को आपके कर्म की आवश्यकता है। ब्रह्म सूत्र में पूर्वपक्ष किया है कि परमेश्वर सृष्टि रचना करने लगा तो किसी को सुखी और किसी को दुःखी क्यों बनाया? किसी को सेठ और किसी को नौकर क्यों बनाया? किसी को बुद्धिमान और किसी को मूर्ख क्यों बनाया? किसी को सुन्दर और किसी को अष्टावक्र क्यों बनाया? यह विषमता परमेश्वर में कैसे आयी? यह पक्षपात उनमें क्यों हुआ। फिर दयालु कहलाने वालों ने प्राणियों को इतना दुःख क्यों दिया? अस्पतालों में जाकर देखो तो रोगी कराह रहे हैं। किसी का हाथ कटा है, किसी का सिर फूटा है। एक बार हमको नायर अस्पताल में जाने का मौका मिला था। वहाँ देखा मनुष्य कैसे दुःख पाते हैं। वैष्णव कहते हैं यह सब भगवान की लीला है। परन्तु यह कैसी लीला है? हमारे तो प्राण निकल रहे हैं और उनकी लीला चल रही है। क्या भगवान कोई अबोध बच्चा है? बच्चे लोग मेंढकों पर पत्थर मारते हैं और वह छटपटावें तो हँसते कूदते हैं। क्या ऐसी लीला भगवान की है? क्या भगवान में यह सामर्थ्य नहीं है कि सबको सुखी बनाये? क्या भगवान में यह शक्ति नहीं है कि सबको सुरूप, सुमति, सुबुद्धि

बनावे ? इस विशाल प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान वेदव्यासजी ने ब्रह्मसूत्र में उत्तर दिया—

"वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्"

भगवान में विषमता या निर्दयता नहीं है। क्यों ? भगवान सृष्टि कर्म सापेक्ष होकर करते हैं। जैसा कर्म होगा वैसा फल होगा, वैसी सृष्टि होगी। भगवान जब सृष्टि करने के लिये ईक्षण करते हैं तो चारों ओर सर्वप्रथम यही देखते हैं कि प्राणियों का कर्म कहाँ-कहाँ पड़ा है, कैसा-कैसा पड़ा है। उन कर्मों को लेकर तब सृष्टि प्रारंभ करते हैं। इससे यह साबित होता है कि भगवान को सृष्टि करने के लिये आपके कर्मों की जरूरत है।

कर्म दो प्रकार का होता है। एक समष्टि कर्म और दूसरा व्यष्टि कर्म। समस्त मानव का कुछ ऐसे समानाकार कर्म होते हैं जो समष्टिरूप को धारण करता है। अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि समष्टि कर्म का फल तो है ही, परन्तु यह पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, तारे, नक्षत्र, गिरि, सागरादि की सृष्टि भी समष्टि कर्म का फल है। अतः इनका उपभोग समष्टिरूप से सभी करते हैं। दूसरा व्यष्टि कर्म है जिससे आपका जन्म हुआ, कर्म हुआ। आपको गृहधनदारसुतादि प्राप्त हुए। ये सब व्यष्टि कर्म का परिणाम है। समष्टि व्यष्टि ऐसा सामान्य शब्द प्रयोग मात्र हैं। वैसे जिसे व्यष्टि कहते हैं उसमें भी कभी-कभी समष्टिता आती आती है और समष्टि में भी व्यष्टिता आती है। जैसे आपको पुत्र हुआ तो यह आपका व्यष्टि कर्म हुआ। किन्तु पुत्र का भी तो कर्म होगा। जिससे वह आपका पुत्र बना। वैसे सूर्य चन्द्रादि समष्टि कर्म का फल है। किन्तु सूर्य के ताप में किसी को सुख मिला, किसी को दुःख मिला तो यह व्यष्टि प्रयुक्त ही माना जायेगा।

यह समष्टि व्यष्टि का विचार हुआ। इसमें समष्टि का अर्थ बताया समानाकार सर्व कृत कर्म। किन्तु एक ऐसा कर्म है जो

कि व्यष्टि करता है, किन्तु समष्टि बन जाता है। वह कौन-सा कर्म है ? जो एक व्यक्ति करता है और समष्टि बन जाता है। वह है यही कर्मयोग, निष्काम कर्म, ईश्वरार्थ कर्म। आपने कर्म किया और ईश्वर को समर्पित किया तो वह व्यष्टि भाव को छोड़कर समष्टिभाव को प्राप्त होगा। आपने व्यक्तिगत रूप से रुपया कमाया और प्रधानमन्त्रीकोष में समर्पित किया तो वह व्यष्टि से समष्टि भाव को प्राप्त होगा। वैसे कर्म करके ईश्वर को समर्पित किरे तो वह सहकारीकोष में जमा हो जाता है। उसका उपयोग फिर समष्टि के लिये होगा। यही ईश्वरार्थ कर्म है। लौकिक कर्मों में अधिकार परित्याग और पराधिकार सम्पादन आपने वृक्ष दृष्टान्त से समझा। यज्ञादि अदृष्ठकर्म में अधिकार परित्याग और समष्ट्य-धिकार सम्पादन ईश्वरार्पण से होता है। ईश्वरार्पण करने से आपने स्वत्व परित्याग किया। और ईश्वर का वह स्वत्व हो गया जो कि समष्ट्यर्थं अपने आप विनियुक्त हो जायेगा। क्या इस प्रकार समर्पण करने से कर्म ईश्वरार्थं होगा ? अवश्य ही। आप कर्म करके किसी मनुष्य को दें तो सम्भव नहीं है। मनुष्य में उसे ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं है। ईश्वर को आपके कर्म की जरूरत सृष्ट्यर्थं है। और ईश्वर में कर्म ग्रहण करने का सामर्थ्य भी है। ईश्वर को आप पाद्य अर्घ्य नैवेद्य वस्त्रादि समर्पण करते हैं तो परमेश्वर उसका ग्रहण करता है। तभी वह पूजा कहलाती है। वैसे कृतकर्मों का भी समर्पण करने से परमेश्वर उसे ग्रहण कर लेता है। और वह परमेश्वर का हो जाता है जो समष्टि के उपयोग में आता है।

केवल परमेश्वर की बात नहीं है। शास्त्रीय कर्मों की अन्यत्र भी कहीं कहीं समर्पण विधि है। जैसे पुरोहित कृतकर्म का अर्पण यजमान के लिये होता है। आपने ब्राह्मण से मृत्युंजय जप कराया तो उसका फल ब्राह्मण को नहीं मिलेगा किन्तु यजमान को मिलेगा। परन्तु ये सारी बातें विधि के साथ हो तभी है। विधि के

बिना चाहे यजमान करे चाहे शास्त्री करे कोई फरक नहीं पड़ेगा। उस में प्रथम ही संकल्प में ही परस्मैपद आ जाता है। रोग निवारणार्थं मृत्युञ्जय जपं करिष्ये बोलना चाहिये या करिष्यामि कहना चाहिये ? यदि आप स्वयं पूजा में बैठे हों और पुरोहित से करा रहे हो तो आप करिष्ये कहेंगे। आप स्वयं नहीं कर रहे हैं तो 'करिष्यामि' कहना चाहिये। इस प्रकार संकल्प में ही परार्थता आ जाती है। इन विधियों को जानकर यदि करते हैं तो वह परार्थ हो जाता है। जब ब्राह्मणकृत कर्म यजमानार्थ हो सकता है तो क्या हम परमेश्वरार्थ करेंगे तो वह परमेश्वरार्थ नहीं बनेगा ? अवश्यमेव बनेगा। आपो देव ने मीमांसान्याय प्रकाश में प्रश्न किया कि ऋत्विक्पुरोहितादि कर्म शास्त्र प्रमाण से यजमानगामी होगा। भगवद्गामी होने में क्या प्रमाण है ? प्रश्न पूछकर स्वयमेव उत्तर दिया "यत्करोषि यदश्नासि तत्कुरुष्व मदर्पणं" यह गीता स्मृति ही प्रमाण है। अतः भगवदादिष्ट होने से ईश्वरार्थकृत कर्म ईश्वर के पास ही जायेगा।

ईश्वरार्थकृत कर्म ईश्वर के पास गया तो उससे फिर क्या होगा ? यही कि आपका वह सत्कर्म पाने से ईश्वर तत्सापेक्ष होकर सुन्दर सृष्टि करेंगे। खीर बनाते समय किसी ने आकर केशर मेवा दिया तो खीर बहुत बढ़िया बनेगी। वैसे ही सामान्य समष्टि कर्म से सृष्टि बनाना शुरू किया। तब भक्तकृत मेवास्थानीय उत्तम निष्काम कर्म भगवान के पास आया तो उससे भगवान की सृष्टि स्वयमेव सुमधुर होने लगती है। काशी में हमारे एक बड़े भारी यशस्वी महामण्डलेश्वर हुए। वे बड़े उदार थे। उनके साथ पहले मण्डली में चालीस पचास महात्मा भी रहते थे। गुजरात में वे प्रवचनार्थ आ गये तो उनके बड़े बड़े सेठ शिष्य हुए। उनके प्रवचन से लोग इतने प्रभावित हो गये कि खूब भंडार चलने लगे। एक रोज एक गरीब माता आकर रोने लगी। महाराज मैं गरीब हूँ,

मेरा जीवन व्यर्थ है। महाराज ने प्रथम सोचा कि घर में खाने को नहीं होगा इसलिये रो रही है। महाराज ने कहा, तु यहीं आकर भोजन किया कर, जितने दिन मैं रहूँगा। माता ने कहा, नहीं महाराज! इसके लिये मैं दुखी नहीं हूँ। तो फिर? महाराज ये बड़े सेठ लोग भंडारा कर रहे हैं, मैं कुछ नहीं कर पाती। महाराज ने कहा तेरी इतनी भावना ही बहुत है। महात्मा भाव के भुखे होते हैं। नहीं महाराज, इससे तो मेरे हृदय में संतोष नहीं होगा। महाराज ने कहा—तो क्या करना चाहती है? उसको बड़ा संकोच हो रहा था। महाराज ने कहा—बोल संकोच मत कर। माई ने आठ आना सामने रखकर कहा—मेरे पास इसके सिवाय और कुछ नहीं है। महाराज ने कहा—अरे, यह तो बहुत है। कोठारी को बुलाया और कहा—एक आने का नमक लावो और सात आने का शक्कर। आज के भंडारे में यही नमक और शक्कर डालो। कोठारी तुरन्त गये और एक आने का नमक और सात आने की शक्कर लाये। उस समय एक आने में बहुत नमक मिल जाता था। शक्कर भी काफी मिल जाती थी। उस रोज माता को. प्रसाद दिया, माता खुश हो गयी। भोजन भी बड़ा उत्तम बना। यह भावपूर्ण समर्पण का परिणाम। इसी प्रकार आपका छोक कर्म भी भगवदर्थ समर्पित होगा तो उससे सृष्टि ही मधुर हो जायेगी। आपका कर्म समष्टि उपकारकारक होगा और उसमें आपको भी प्रसाद मिलेगा।

भगवत्समर्पण तो मामूली नहीं है। कर्म तो बीज है। साधारण जमीन में गेहूँ का बीज बोवो तो थोड़ा अनाज होगा। किन्तु खाद वाली जमीन में डालो तो सौ गुना अधिक मिलेगा। कर्म रूपी बीज अपने पास रहेगा तो आपकी हृदय भूमि कैसी है यह आपको मालूम ही है। उतना ही फल होगा। किन्तु भगवान भूमि तो विलक्षण है। उसमें वह कर्म बीज अनन्त गुणित होगा। अनन्त

सुखदायी होगा। अल्प भी अनन्त बन जायेगा। यही बात पहले आयी—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।

क्योंकि वह स्वल्प भी ईश्वर भूमि में अनन्त हो जाता है। आपका यह महान परोपकार होगा। समष्टि सेवा होगी। जैसे वृक्ष लगाकर स्वाधिकार त्याग करने से समष्टि सेवा होती है वैसे कर्म करके भगवत्समर्पण करने से भी समष्टि सेवा होगी। समाहित चित्तता के साथ ईश्वरार्पण-अर्थ प्राप्त कराने के लिये यहाँ "योगस्थ" इस शब्द का प्रयोग है। अन्य व्याख्या आगे होगी।

सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय। इस पर भी भाष्यकार भगवान शंकराचार्य ने विलक्षण अर्थ प्रस्तुत किया है। यहाँ केवल आसक्ति त्यक्त्वा इतना ही अर्थ नहीं है। क्योंकि वह फलाधिकार छोड़ने की बात से ही गतार्थ। इसलिये भाष्य में लिखा—

तत्रापि ईश्वरो मे तुष्यतु इति सङ्गं त्यक्त्वा

प्रायः सभी लोग यही व्याख्या करते हैं कि ईश्वरतोषार्थ कर्म करना चाहिये। ईश्वरतोषार्थ कर्म करना भी उत्तम है इसमें संशय नहीं। किन्तु यहाँ का कर्मयोग उससे भी बहुत ऊपर है इतना भी यदि संग हो जाय तो कर्म विराट् भाव को प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि यह तो घट्टकुटी प्रभाव वृत्तान्त ही है। ईश्वर मुझ पर प्रसन्न हो यह आप क्यों चाहते हैं? उसमें कुछ रहस्य जरूर है। ईश्वर प्रसन्न तो स्वतः होंगे। उसकी आशा रखने का मतलब कुछ और होगा। कुछ रहस्य उसमें जरूर होगा। एक बड़ी तेज माई थी। एक रोज उसने तिल धोकर काला छिलका निकाल लड्डू बनाने के लिये। सुखाने के लिये धूप में डाला। वह काम करने के लिये अन्दर गयी। काम में वह भूल गयी। थोड़ी देर के बाद जायी तो देखा कि कुत्ते ने उसको गन्दा कर दिया (उस पर पिशाब कर दिया) उसको बड़ी घृणा आयी। उसने सोचा

अब क्या करें। पड़ोसिन के पास तिल लेकर गयी और कहने लगी यह धोया हुआ तिल है इसके बदले तू मुझे काला तिल दे दे। उसने पूछा क्यों ? बोली, मेरा पहले विचार था कि सफेद लड्डू बनाऊँ। लेकिन अब विचार बदल गया। कि काला ही लड्डू बनाऊँ। पड़ोसिन को लोभ लगा। वह काला तिल अन्दर से लाने लगी। उसका लड़का बड़ा बुद्धिमान था। उसने कहा—माँ माँ ठहर जाओ। धुले के बदले में यह औरत बिना धुला तिल ले जा रही है। यह औरत इतनी भोली नहीं है। **'अस्त्यत्र किंचित् कारणम्'** कुछ कारण जरूर है तूँ रुक जा। वैसो ही बात कहीं इधर भी तो नहीं है ? लोग कर्म करते हैं तो इतना मालूम ही रहता है कि मुझसे गलतियाँ होती हैं। कर्म में दूषण अवश्य ही आता है। तो सोचा भगवान को देने से भगवान प्रसन्न होंगे। और उसको शुद्ध करके उसी को सौगुना करके फल वापिस देंगे। अर्थात् घूम फिर कर उसी अर्थ काम में ही पहुँच रहे हैं।

अर्थ काम की चिन्ता न करो। और तदर्थ भगवत्प्रसाद की चाह भी मत करो। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि भगवत्प्रसाद की आड़ में अर्थ काम की नहीं कामना तो नही है ! अर्थकाम की चिन्ता न करो। वह तो स्वतः होगा। महर्षि आपस्तम्ब ने बताया—

तद्यथाऽऽम्रे समारोप्यमाणे छायागन्धावनूत्पद्येते
एवं धर्मं चर्यमाणस्यार्थकामावनूत्पद्येते।

आम का पेड़ लगाया तो छाया और सुगन्ध अवश्यंभावी है। गरमी में पेड़ के निचे विश्राम किया जा सकता है। सुगंधी का आनन्द लिया जा सकता है। परंतु यही उसका फल नहीं है। बंबई, जैसी नगरीयों की बात अलग हो सकती है किन्तु गावों में पेड़ तो फल के लिये ही लगाया जाता है। छाया और गंध तो आनुषंगिक फल है। मुख्यफल नहीं है। यही धर्म की भी स्थिति है। धर्म का

प्रयोजन अर्थ और काम नहीं है। किन्तु जगत्प्रतिष्ठा है। अर्थ और काम भी मिलेगा, इसमें संशय नहीं। वह आनुषङ्गिक फल है। महर्षि वेदव्यासजी महाभारत में कहते हैं—

ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥

मैं ऊपर हाथ उठाकर चिल्ला रहा हूं। लेकिन कोइ मेरा सुनने को तैयार नहीं। सुनो भाई ध्यान से धर्म से अर्थ और काम भी मिलेंगे। उसका सेवन क्यों नहीं करते हो? इस वचन से स्पष्ट है कि धर्म से अर्थ और काम की भी प्राप्ति होती है। अर्थात् यदि कोई अर्थ और काम चाहता है तो उसको वह भी मिलेगा, न चाहने पर भी मिलेगा। परंतु यही धर्म का मुख्य फल नहीं है। वैसे ही ईश्वर प्रसाद भी यदि घुमा फिराकर अर्थ काम के लिये है तो वह भी मुख्य प्रयोजन नहीं है। तब धर्म का प्रयोजन क्या है? कह सकते हैं—मोक्ष प्रयोजन है। परंतु मोक्ष तो अन्तिम तथ्य है। उसके लिये तो बीच में अन्य भी अनेक कार्य अवशिष्ट है।

धर्म करके प्रथम मोक्ष ही प्राप्त किया जाय ऐसा संभव नहीं है। यद्यपि अर्थ कामावनूत्पद्येते इस वचन से अर्थ एवं काम गौण फल हो जाते हैं तो एकही बाकी वच जाता है। चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष। किन्तु उसके मध्म में अनेक कार्य अवशिष्ट है। वह कार्य क्या है? तैत्तरीय आरण्यक में धर्म के विषयमें अनेक बातें बतायी है—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति।
धर्मेण पापमपनुदति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति॥

भगवदर्पणात्मक कर्म विश्व की प्रतिष्ठा अर्थात् स्थिति का कारण है। वैसे भी धर्मसामान्य रूप से भी विश्वस्थिति का कारण है। जैसे हम पहले कह आये। समिष्ट धर्म प्रयुक्त ही जगत स्थिति है। पृथिवी जल सूर्यचन्द्रादि समस्त जगत का धारण धर्म से होता है।

"धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः"

ऐसे स्मृति में धर्म पद की व्युत्पत्ति के साथ व्याख्या की है। "धृञ् धारणे" ऐसा पणिनीय धातुपाठ है। धारयतीति धर्मः। जो धारण करे सो धर्म है। इतना यौगिक अर्थ है। किसका धारण करता है? इसकी विशेष व्याख्या स्मृति ने की—"धर्मो धारयत प्रजाः" जो प्रकृष्ट जन्मवाले हैं वे सब प्रजा है। सूर्य चन्द्रादि सभी प्रकृष्ट जन्मवाले हैं। इन सबका धारण धर्म से होता है। धारण से ही स्थिति होती है। पृथिवी स्थित है तो कोइ धारक भी होगा। यही विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा का मतलब है। धर्म ईश्वरार्पित होने पर नितरां विश्वप्रतिष्ठा होगी। यह समान्यतः "कर्मण्येवाधिकारस्ते" की व्याख्या हुई। "लोके धर्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति" यह मा फलेषु कदाचन से प्राप्य विशिष्ट अर्थ है। जब फलाधिकार छोड़कर परार्थ धर्म होगा तो प्रजा उसके पास आवश्यमेव आयेगी। ऐहिक लाभ के लिये भी और पारत्रिक लाभ के लिये भी। इसी लिये सन्तों के पास लोग आते हैं। आश्रमनिवासार्थं आनेवाले ऐहिक फल की भी कामना करते ही हैं। संत लोग अपने संबंधी रिश्तेवालों को नहीं रखते। जो भी आवे, स्वशक्त्यनुसार रखते हैं। संतों के दर्शन के लिये प्रणामादि करने के लिये लोग आते हैं यो पारत्रिकलाभार्थं ही। क्योंकि उनके पुष्प का फल भी परार्थ वे वितरित करते हैं। "धर्मेण पापमनुदति" यह मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि का मूल है। अकर्म से पाप भागी होंगे। धर्म से उस अनर्थ संकल्पादिप्रयुक्त पापों से बचेंगे ही, उपर से पूर्वकृत पापनाश का भी अवसर मिलेगा। योगस्थः कुरुकर्माणि का भी अर्थ संग्रहार्थं "धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं" यह पुनः पढ़ा गया। ईश्वरार्थ कर्म सृष्टि को सुमधुर बनाने वाला है यह हम कह आये। इतना कार्य बीच में आने पर ही मुख्य फल मोक्ष रूपी चतुर्थ पुरुषार्थ की ओर बढ़ना संभव है।

धर्म का इस प्रकार मुख्यफल विश्व प्रतिष्ठा एवं प्रजोपकार के साथ मोक्ष मार्ग में अग्रसर होना है। किसी गाँव में जाना है तो रास्ता अनेकविध होगा। कहीं कांटा कंकड़ आदि से युक्त वन्यमार्ग होगा। कहीं मुलायम घास से आच्छादति ऐसा भी मार्ग होगा। जो मखमल के गद्दे के समान सुखदायी है। कहीं गर्मी की तीक्ष्णता होगी और कहीं शीतल पवन युक्त छाया मार्ग होगा। हमारा लक्ष्य तो गाँव होगा। कुछ सुख सामाग्री प्राप्त हुई तो वहीं रम जाना नहीं। छाया है ठंढ़क है तो वहीं सो जाना नहीं है। गाँव तक पहुँचना है। इसी प्रकार धर्म करते समय अर्थकाम की उपस्थिति होती है। किन्तु उसी में रम जाना नहीं हैं। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' के अनुसार अनेक कठिनाईयाँ भी उपस्थित हो सकती है तो उसमें घबराना भी नहीं है। इसी आशय से भगवान कह रहे हैं— **सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा**। आनुषङ्गिक सिद्धि अर्थात् अर्थ-कामसिद्धि तथा असिद्धि-सिद्धिविरुद्ध आनुषङ्गिक क्लेशोपस्थिति दोनों में एक बराबर रहना चाहिये। परामार्थ सिद्धि और असिद्धि की यहाँ चर्चा नहीं है। क्योंकि परमार्थसिद्धि तो निं श्चत ही है। "नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति" इस प्रकार इस विषय में पहले ही कहा जा चुका है।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा का महर्षि आपस्तम्ब के मतानुसारी उक्त विवेचन है। यह सामान्य धर्म को लेकर है। युद्ध कृषि आदि विशेष धर्म पर विवेचना जब करते हैं तब अर्थ सीधा ही बैठता है क्योंकि युद्ध करते हैं विजयसिद्धि के लिये। न कि पराजय के लिये और न मोक्ष के लिये ही। कृषि करते हैं अनाज की प्राप्ति के लिये, न कि सूखे के लिये और न मोक्ष के लिये ही। कौन कहेगा कि मैं मोक्ष प्राप्त करने के लिये खेती कर रहा हूँ और युद्ध कृषि आदि ईश्वर के लिये भी नहीं होता। मैं ईश्वर के लिये खेती करता हूँ ऐसा कोई नहीं कहता। वस्तुतः सभी कर्मों का नियत फल है

ही। उन फलों की कभी सिद्धि होती है, कभी नहीं होती है। परन्तु प्रथम ही फलसिद्धि होगी कि नहीं इस पर अधिक ध्यान मत दो। किन्तु कर्त्तव्यतया प्राप्त होने पर उसे अच्छी तरह किस प्रकार सपन्न किया जाय यह देखो।

यहाँ प्रश्न इतने में समाप्त नहीं है। प्रश्न बड़ा जटिल है। एक ने प्रश्न किया—महाराज! मुझे पहले ही मालूम पड़ा कि इस व्यापार में घाटा आने वाला है। क्या तब भी योगस्थ होकर कर्म करें? एक किसान को जमीन मिली। किसी जमीन में एक बुवाई होती है। किसी में दो। उसको मालूम है कि दूसरी बार बुवाई करने पर व्यर्थ जायेगा। तो क्या तब भी वह खेती करे? कई आचार्य तो यह मानते हैं कि काम्य कर्म का अकरण प्रत्यवाय हेतु नहीं है। किन्तु प्रारम्भ होने पर काम्य भी नित्यवत् हो जाता है। रामानुजादि आचार्य इसी सिद्धान्त के हैं। परन्तु यह भी संतोषास्पद उत्तर नहीं है। व्यापार शुरू होने के बाद मालूम पड़ा कि इसमें घाटा भारी पड़ने वाला है। तो क्या उसे छोड़कर दूसरा धंधा करने में पाप लगेगा? युद्ध प्रारम्भ हुआ और बीच में संधि वार्ता आ जाय तो क्या नहीं करे? एक पक्ष को मिटा कर विश्राम लें ऐसा कोई नियम है? इन सब प्रश्नों का उत्तर यही है कि कुछ कर्म अवश्य कर्त्तव्य रूप में प्राप्त होते हैं। कुछ ऐच्छिक रूप में और कुछ कर्म संदिग्ध फलरूपेण प्राप्त होते हैं। उनमें अवश्य कर्त्तव्य कर्म तो करना ही है। उसमें सिद्धि प्राप्त हो या न प्राप्त हो। एक आदमी मेरे पास आया। यह जयपुर की बात है। उसने कहा—मैं संन्यासी बनना चाहता हूँ। आपके साथ रहूँगा। मैंने कहा बड़ी अच्छी बात है। संन्यास लेना उत्तम है। "संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः"। परन्तु तुमको वैराग्य किस प्रकार हुआ यह बताओ। तुम्हारे कौन-कौन हैं? उसने कहा मेरी वृद्ध माता है। पत्नी है और तीन छोटे-छोटे बच्चे हैं। मैंने कहा—इन सबको छोड़ने का

मन क्यों हुआ ? उसने कहा—मैं हर प्रकार का प्रयत्न कर हार गया हूँ। कहीं नौकरी धंधा नहीं लगता। कर्जा बहुत हो गया है। मैं तंग आ गया हूँ। अकेले मेरे सिर पर सारा भार है। मैंने कहा– और जगह नौकरी ढूँढो। उसने कहा—मेरा कहीं जमता नहीं है। भाई मैं थोड़ा-बहुत तत्त्वज्ञानी जरूर हूँ। किन्तु इतना अधिक तत्त्वज्ञानी नहीं कि तुम्हारे पीछे पाँच जीवात्मा का रास्ता ही समाप्त करें। तुम्हें इस संन्यास से कुछ मिलने वाला नहीं है। अभी पाँच का बोझ है। तब पाँच का अभिशाप होगा। यह कर्म अवश्य कर्तव्यत्वेन उपस्थित है। यहाँ सिद्धि असिद्धि के प्रश्न पर विचार ही नहीं है। दूसरा कर्म ऐच्छिक है। धान बोने से पाँच हजार का फायदा है। गेहूँ बोने से आठ हजार का फायदा है तो उसमें सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा धान ही बोवो ऐसा नियम नहीं है। तीसरा कर्तव्यतया प्राप्त है फल संदिग्ध है। कर्तव्यता उतनी तीव्र नहीं है जिसको अवश्य कर्त्तव्य कहा जाय। वहाँ यह लागू होता है—सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा। जैसे अर्जुन के लिये प्राप्त युद्ध था। वह कर्त्तव्य रूप में सिर पर आ गया है। अब उसमें जय पराजय देखना विफल है। जैसे भारतवर्ष का स्वतन्त्रता संग्राम था। प्रत्येक तत्कालीन भारतीय के लिये कर्तव्य रूप में वह संग्राम आ गया था। उसमें सिद्धि असिद्धि देखने का समय नहीं था। उसमें बड़े-बड़े वीरों का बलिदान हो गया था। यह कहकर फाँसी पर चढ़े कि मेरा यह शरीर भारत माता की सेवा में सफल हो गया।

लौकिक कर्मों के लिये यह सिद्धि असिद्धि सम भाव है। प्रत्यक्ष दृष्टफल स्थल की यह बात है। क्योंकि वैदिक कर्मों में सिद्धि असिद्धि का संशय नहीं होता और वहाँ संशय करना उचित भी नहीं। अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोमादि यज्ञ हिरण्य रजतादि दान एवं कृच्छ्रादि तप करने पर फल सिद्धि होगी या नहीं ऐसा संशय नहीं

ही। उन फलों की कभी सिद्धि होती है, कभी नहीं होती है। परन्तु प्रथम ही फलसिद्धि होगी कि नहीं इस पर अधिक ध्यान मत दो। किन्तु कर्त्तव्यतया प्राप्त होने पर उसे अच्छी तरह किस प्रकार सपन्न किया जाय यह देखो।

यहाँ प्रश्न इतने में समाप्त नहीं है। प्रश्न बड़ा जटिल है। एक ने प्रश्न किया—महाराज! मुझे पहले ही मालूम पड़ा कि इस व्यापार में घाटा आने वाला है। क्या तब भी योगस्थ होकर कर्म करें? एक किसान को जमीन मिली। किसी जमीन में एक बुवाई होती है। किसी में दो। उसको मालूम है कि दूसरी बार बुवाई करने पर व्यर्थ जायेगा। तो क्या तब भी वह खेती करे? कई आचार्य तो यह मानते हैं कि काम्य कर्म का अकरण प्रत्यवाय हेतु नहीं है। किन्तु प्रारम्भ होने पर काम्य भी नित्यवत् हो जाता है। रामानुजादि आचार्य इसी सिद्धान्त के हैं। परन्तु यह भी संतोषास्पद उत्तर नहीं है। व्यापार शुरू होने के बाद मालूम पड़ा कि इसमें घाटा भारी पड़ने वाला है। तो क्या उसे छोड़कर दूसरा धंधा करने में पाप लगेगा? युद्ध प्रारम्भ हुआ और बीच में संधि वार्ता आ जाय तो क्या नहीं करें? एक पक्ष को मिटा कर विश्राम लें ऐसा कोई नियम है? इन सब प्रश्नों का उत्तर यही है कि कुछ कर्म अवश्य कर्त्तव्य रूप में प्राप्त होते हैं। कुछ ऐच्छिक रूप में और कुछ कर्म संदिग्ध फलरूपेण प्राप्त होते हैं। उनमें अवश्य कर्त्तव्य कर्म तो करना ही है। उसमें सिद्धि प्राप्त हो या न प्राप्त हो। एक आदमी मेरे पास आया। यह जयपुर की बात है। उसने कहा—मैं संन्यासी बनना चाहता हूँ। आपके साथ रहूँगा। मैंने कहा बड़ी अच्छी बात है। संन्यास लेना उत्तम है। "संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः"। परन्तु तुमको वैराग्य किस प्रकार हुआ यह बताओ। तुम्हारे कौन-कौन हैं? उसने कहा मेरी वृद्ध माता है। पत्नी है और तीन छोटे-छोटे बच्चे हैं। मैंने कहा—इन सबको छोड़ने का

मन क्यों हुआ ? उसने कहा—मैं हर प्रकार का प्रयत्न कर हार गया हूँ। कहीं नौकरी धंधा नहीं लगता। कर्जा बहुत हो गया है। मैं तंग आ गया हूँ। अकेले मेरे सिर पर सारा भार है। मैंने कहा— और जगह नौकरी ढूँढो। उसने कहा—मेरा कहीं जमता नहीं है। भाई मैं थोड़ा-बहुत तत्त्वज्ञानी जरूर हूँ। किन्तु इतना अधिक तत्त्वज्ञानी नहीं कि तुम्हारे पीछे पाँच जीवात्मा का रास्ता ही समाप्त करें। तुम्हें इस संन्यास से कुछ मिलने वाला नहीं है। अभी पाँच का बोझ है। तब पाँच का अभिशाप होगा। यह कर्म अवश्य कर्तव्यत्वेन उपस्थित है। यहाँ सिद्धि असिद्धि के प्रश्न पर विचार ही नहीं है। दूसरा कर्म ऐच्छिक है। धान बोने से पाँच हजार का फायदा है। गेहूँ बोने से आठ हजार का फायदा है तो उसमें सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा धान ही बोवो ऐसा नियम नहीं है। तीसरा कर्तव्यतया प्राप्त है फल संदिग्ध है। कर्तव्यता उतनी तीव्र नहीं है जिसको अवश्य कर्त्तव्य कहा जाय। वहाँ यह लागू होता है—सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा। जैसे अर्जुन के लिये प्राप्त युद्ध था। वह कर्त्तव्य रूप में सिर पर आ गया है। अब उसमें जय पराजय देखना विफल है। जैसे भारतवर्ष का स्वतन्त्रता संग्राम था। प्रत्येक तत्कालीन भारतीय के लिये कर्तव्य रूप में वह संग्राम आ गया था। उसमें सिद्धि असिद्धि देखने का समय नहीं था। उसमें बड़े-बड़े वीरों का बलिदान हो गया था। यह कहकर फाँसी पर चढ़े कि मेरा यह शरीर भारत माता की सेवा में सफल हो गया।

लौकिक कर्मों के लिये यह सिद्धि असिद्धि सम भाव है। प्रत्यक्ष दृष्टफल स्थल की यह बात है। क्योंकि वैदिक कर्मों में सिद्धि असिद्धि का संशय नहीं होता और वहाँ संशय करना उचित भी नहीं। अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोमादि यज्ञ हिरण्य रजतादि दान एवं कृच्छ्रादि तप करने पर फल सिद्धि होगी या नहीं ऐसा संशय नहीं

होता। अतः सिद्धि मिले तो ठीक नहीं मिले, तो भी ठीक। इस प्रकार निश्चय करना और वैसे निश्चय के साथ कर्म करना आदि सभी असंगत ही है क्योंकि अदृष्टार्थ कर्म सांग संपादित होने पर फल अवश्यंभावी है। प्रत्युत श्रुत्युक्त फल में संशय करना भी एक प्रकार से पाप ही माना गया है। मनुमहाराज का कहना है—

"धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं श्रुतिः"

धर्म की जिज्ञासा रखने वालों के लिये परम प्रमाण श्रुति ही है। अतः श्रुति में कहे हुए फल के बारे में कोई संशय ही नहीं होता। वहाँ सिद्धि और असिद्धि में समता का कोई सवाल ही नहीं है।

समत्वं योग उच्यते। 'योगस्थः कुरु कर्माणि' यहाँ योग शब्द का क्या अर्थ है? **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** इस पातञ्जल योग से यदि मतलब है तो चित्तवृत्ति निरोध होने पर कर्म ही कैसे होगा? योग समाधि का नाम है। युद्ध करने के लिये हाथ में धनुषबाण उठाकर समाधि कौन लगायेगा? समाधि लगेगी कैसे? और समाधि लगने पर उस कटोकटी में उसकी हालत क्या होगी? अतः योग शब्द की व्याख्या करना आवश्यक हो गया। आगे **"योगः कर्मसु कौशलं"** ऐसी दूसरी व्याख्या आने वाली है। यहाँ योगशब्द का अर्थ समत्व ही है। "समत्वं योग उच्यते" ऐसी यहाँ योग की परिभाषा की जा रही है।

"योगः संनहनोपायध्यानसंगतियुक्तिषु"

इत्यादि रीति से भिन्न-भिन्न कोशों में योग शब्द के अनेक अर्थ दिये हैं। संनहन कवच को कहते हैं। उपाय सामदामादि को कहते हैं। ध्यान से यहाँ समाधि विवक्षित है। संगति संयोग को कहते हैं। युक्ति प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार अन्य कोशों में अन्य अर्थ भी दिये हैं। योगायोग की बात है ऐसा योग हुआ इत्यादि लौकिक प्रयोग

भी होते हैं। किन्तु मुख्य अर्थ तो ध्यानयोग या समाधिस्थ योग ही है। किन्तु ये प्रसिद्ध जितने अर्थ हैं इनमें समत्व का नाम कहीं नहीं आता। किसी भी कोश में समत्व अर्थ नहीं किया। तब भगवान ने यह परिभाषा क्यों की ? फिर परिभाषा के बिना ही "समस्थः कुरु कर्माणि" ऐसा कहाजा सकता था। क्या भगवान समाधि योग की महत्ता घटाने के लिये तो सर्वत्र योग शब्द का प्रयोग नहीं कर रहे। नहीं। समत्व की महिमा बढ़ाने के लिये योग शब्द का प्रयोग है। सो भी सार्थक प्रयोग है। योग का अर्थ चित्तवृत्ति निरोध ही है। हम इस विषय में पहले भी कह आये हैं। जब सिद्धि असिद्धि की चिन्ता होने लगती है तब कर्म में एकाग्रता नहीं होती। कर्म में व्यग्रता आ जाती है।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां बुद्धिः समाधौ न विधीयते"

फलाभिलाषा होने पर कर्म में समाधि नहीं होती। बुद्धि अव्यवसायिनी रहती है। योग का अर्थ चित्तवृत्तिनिरोध है। किन्तु सर्व चित्तवृत्ति निरोध नहीं है, ऐसा योगसूत्र भाष्य में व्यासजी का कहना है। फल विषयक चित्तवृत्ति निरोध होने पर आधी वृत्ति तो निरुद्ध हो ही गयी। यद्यपि थोड़ी वृत्ति निरुद्ध होने मात्र से सर्वत्र योग शब्द से व्यवहार नहीं होता। भोजन समय में भी भोजन स्वादिष्ट हो तो अन्य वृत्तियों का निरोध होता है। तथापि जो अध्यात्म पथ पर ले जाने वाला है ऐसा वृत्तिनिरोध योग है ही। अतः समत्व को यहाँ योग बताया ॥ ४८ ॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

[हे धनञ्जय . बुद्धि योग से अपर सकाम कर्म अत्यन्त दूर है अतः बुद्धि में शरण की खोज कर। जो कृपण है वे ही फल हेतु होते हैं ॥ ४९ ॥]

कर्मण्येवाधिकारस्ते इस श्लोक में चार सूत्र बताये। जिनमें तीन सूत्र सुगम हैं। कर्म में ही अधिकार है ज्ञाननिष्ठा में नहीं यह प्रथम सूत्र समझ में आया। फल में अधिकार मत रखो यह भी समझ में आया। अकर्म में सङ्ग न हो यह भी समझ में आ गया। किन्तु कर्म फल हेतु मत बनो। यह समझ में नहीं आया था। क्योंकि कर्म होने के बाद कर्मफल अवश्यंभावी होने से कर्म फल हेतु बनना या न बनना यह अपने हाथ की बात नहीं रह जाती है। ज्ञाननिष्ठा छोड़ना फलाधिकार छोड़ना और अकर्म प्रीति छोड़ना ये तीनों हमारे हाथ की बात है। कर्म फल हेतु न बनना यह हमारे हाथ की बात नहीं है। अतः वह कैसे हो यह जिज्ञासा उठी तो उसी के उत्तर में भगवान ने बताया—योगस्थः कुरु कर्माणि। कर्म में सुधार लावो। 'योगस्थः समाहितः सन्नीश्वरार्थं कर्माणि कुरु' इस प्रकार भाष्य में स्पष्टीकरण किया गया। कर्म ईश्वरार्थ करो। उसकी व्याख्या में हमने बताया—ईश्वर के लिये कर्म करो—क्या ईश्वर को हमारे कर्मों की जरूरत है ? है। भगवान् कर्म सापेक्ष होकर सृष्टि करते हैं अतः उनको कर्म की जरूरत है। मानव समष्टि कर्मानुसार सृष्टि करते हैं। व्यष्टि कर्मानुसार सुख दुःखादि व्यष्टि फल देते हैं। यद्यपि भगवान्—चाहे तो सृष्टि को अति सुन्दर बना सकते हैं किन्तु स्वयं भगवान् नियम भङ्ग नहीं करते। अतः सृष्टि को

सुन्दर बनाने के लिये भी किसी सुन्दर कर्म की प्रतीक्षा भगवान् करते हैं। जब निष्काम कर्मयोग भगवदर्थ कर्म करता है तो परमेश्वर की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। वे अति प्रसन्न होते हैं। हमारा वह अल्प कर्म भी भगवान में मिलकर समष्टि भावापन्न होकर संपूर्ण सृष्टि को सुमधुर सुन्दर बनाने में सहयोग देता है। भगवदर्थ व्यष्टि कर्म भी समष्टि सुखदायी माना गया है। अतएव जहाँ ऋषिमुनि तप करते हैं ऐसा देश सुख समृद्धि युक्त होता है। युधिष्ठिर के राज्य में सारी पृथिवी सस्यश्यामला थी। प्रजा सुखी थी। क्यों ? युधिष्ठिर का भगवदर्थ कर्म धर्म समष्टि भाव को प्राप्त होकर पर सुखकारी हो गया था। रामराज्य का दृष्टान्त इसलिये हम नहीं दे रहे हैं कि राम के स्वयं भगवान होने से वैसा हुआ। यह पूर्वपक्ष हो सकता है। मानव दृष्टि से अगर देखें तो रामकृत निष्काम कर्म ही समष्टि भावापन्न होकर जनसुख सम्पत् समृद्धि कारण हुआ। सारांश यह है कि ईश्वरार्थ कृत कर्म ईश्वर में जाकर समष्टि संसार सुख कारण होता है। अतः भगवदर्थ कर्म करना चाहिये।

परन्तु इतने से भी मूल प्रश्न का उत्तर पूरा नहीं हुआ। मूल प्रश्न यह था कि हम कर्म फल के अहेतु कैसे बनेंगे। भगवदर्थ कर्म करने से फल में सुधार मात्र हुआ। मधुर संसार ही सही, आखिर फलहेतु तो हो गया। मधुर संसार फल तो कर्म कर्ता को मिलेगा। भले वह समष्टि अन्तर्गततया हो। समष्टि प्राणी को सुख संसार मिला तो उसमें अपने को भी मिला तो आखिर फल हेतु तो हो ही गये। इस पूर्वपक्ष के उत्तर में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र फल हेतु न बनने के लिये द्वितीय सोपान बता रहे हैं—दूरेण ह्यवरं इत्यादि से। इसी श्लोक में चतुर्थ चरण में पूर्वानुसन्धान किया है—कृपणाः फलहेतवः। कृपण कर्मफल हेतु होते हैं, अकृपण नहीं। अतः अकृपण होना चाहिये। भगवदर्थ कर्म करने से सृष्टि सौन्दर्य मात्र नहीं,

किन्तु उस पुण्य से अन्तःकरण शुद्धि भी होगी। उससे जब बुद्धि प्राप्त होगी तब वह अकृपण होगा और कर्म फल हेतु होने से बचेगा ऐसा दोनों श्लोकों का मिलित अर्थ है।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्। वर का अर्थ है वरणीय स्वीकरणीय श्रेष्ठ कर्म। वरणीय कर्म कौन है? मा फलेषु कदाचन, योगस्थः कुरु कर्माणि इत्यादि से जो निष्काम कर्म बताया वह वर कर्म है। उससे अन्य अवर कर्म है। वह कौन सा है? सङ्गयुक्त कर्म अर्थात् सकाम कर्म अवर कर्म है। प्रतिषिद्ध कर्म भीं अवर कर्म है। किन्तु उसकी यहाँ चर्चा करना वृथा है। यहाँ सत्कर्म में ही बराबर विचार है। वह सकाम कर्म बुद्धियोग से—दूरेण-अत्यन्त दूर है। अर्थात् अत्यन्त विरुद्ध है। बुद्धि योग का मुँह यदि पूर्व की ओर है और पूर्व की ओर वह जा रहा है तो अवर कर्म का मुँह पश्चिम की ओर है और वह पश्चिम की ओर भागा जा रहा है। हिन्दी में छत्तीस लिखने के बराबर है '३६' छत्तीस लिखते समय तीन का मुँह बायीं ओर है तो छः का मुँह दाहिनी ओर है। तिरसठ के समान नहीं। '६३' तिरसठ संख्याक्षरों में लिखें तो एक दूसरे के आमने सामने मुख होगा। यमराज नचिकेता के प्रति यही कहते हैं—

दूरमेते विपरीते विषूची
अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये
न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त॥

ये दोनों अत्यन्त विपरीत है। 'विष्वक् अञ्चतः'। विभिन्न मार्गगामी है। कौन? अविद्या और विद्या। अविद्या अत्यन्त विपरीत है यह तो शब्द से ही मालूम पड़ता है। कहने की क्या जरूरत। घट और अघट अत्यन्त विपरीत होते ही हैं। अतः यहाँ अविद्या शब्द उपनाम है, यहाँ अविद्या का अर्थ कर्म है। कर्म विद्या से अत्यन्त

विरुद्ध है अतएव अविद्या शब्द से कहा जाता है। जैसे दो आदमियों का परस्पर मतभेद हो गया, विरोध हो गया तो एक दूसरे का मुहँ देखना चाहता, दूर से देखते ही रास्ता ही बदलकर दोनों जाते हैं वैसे ही यह विद्या और कर्म है। कर्म विद्याविरोधी क्यों ? कर्म करने के लिये भी तो वेदाध्ययन कर विद्या प्राप्त करना चाहिए। तब कर्म को अविद्या कैसे कहा ? उत्तर यह कि हम घटविद्या, पटविद्या, अग्निविद्या आदि नहीं कह रहे। परमार्थ विद्या को यहाँ बता रहे हैं। परमार्थ विद्या कौन ?

"सा विद्या या विमुक्तये"

इस प्रकार मोक्ष साधन के रूप में जो ब्रह्मात्मैकत्त्व विज्ञान बताया है, वही विद्या है । उस विद्या से कर्म का विरोध है। अतः कर्म अविद्या कहलाया। क्यों कर्म विद्याविरोभी है ? ब्रह्मात्मैकत्त्व ज्ञान होने पर भी संत महात्मा चलते हैं, फिरते हैं, प्रवचन करते हैं, हजारों कर्म करते है । नहीं। इन कर्मों को यहाँ अविद्या नहीं बताया। जो कर्म अध्यासपुरःसर है उस कर्म को यहाँ अविद्या पद से बताया है। चलना फिरना आदि तो शारीर कर्म कहलाता है।

"शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्"

अध्यासपूर्वक कर्म है, विहित एवं प्रतिषिद्ध उनको यहाँ अविद्या बताया गया है।

"ब्राह्मणो यजेत"

इत्यादि वाक्य आते हैं। वाजपेय सोमयागादि ब्राह्मण ही कर सकते हैं। राजसूय, अश्वमेधादियाग क्षत्रिय ही कर सकते हैं। क्षत्रियों के लिये ही उन कर्मों का विधान है

"राजा राजसूयेन स्वराज्यकामो यजेत"

वैश्यस्तोमादि कर्म वैश्य के लिये ही है। **"निषादस्थपतिं यजेत"** इत्यादि वाक्यों से विहित कर्म शूद्र विशेष के लिये। अगर सोमयाग, वाजपेयादि क्षत्रिय करे तो ? और राजसूय, अश्ववमेधादि ब्राह्मण

करे तो ?। व्यर्थ ही अग्नि में घी डालना माना जायेगा। यह वर्णार्थ विहित कर्म हुए। उसी प्रकार आश्रम कर्म भी है। मेखला-दण्डादि धारण गुरुकुल वासादि ब्रह्मचारी के लिये विहित कर्म है। यज्ञादि करने के लिये पति पत्नी दोनों बैठते हैं। यदि कोई ब्रह्मचारी सोमयागादि करने लग जाय तो वह वृथा है। लक्षचण्डी, कोटिचण्डी आदि को ब्रह्मचारी ने कराया था। ब्रह्मचारी करे तो शास्त्रविरुद्ध है। यजमान दूसरा पैयार किया गया। परंतु यजमान ने पैसा खर्च नहीं किया, ब्रह्मचारी ने किया। यह कैसी विडम्बना है ? पहले समय में यजमान सारा खर्चा किया करते थे। वह चाहे माँगकर लावे या कमाकर लावे। खैर जैसा तैसा उपपादन कर लो किन्तु ब्रह्मचारी को सपत्नीक याग में अधिकार नहीं। और गृहस्थ को दण्डमेखलादि धारण प्रभृति में अधिकार नहीं। और पंचाग्नितापादि अधिकार नहीं। वानप्रस्थ को गृहस्थ धर्माधिकार नहीं संन्यासी प्रणव जपादि कर्म करते हैं, उसमें अधिकार अन्य को नहीं। ऐसा नानाविध अधिकार विचार किया गया है।

परंतु सबसे बड़ा भारी प्रश्न यह है कि यह ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र या ब्रह्मचारी गृहस्थ वानप्रस्थ संन्यासी आदि आखिर हैं कौन ? आत्मा या शरीर। आत्मा में ब्राह्मणत्वादि जाति संभव नहीं। इस जन्म में ब्राह्मण दूसरे जन्म में क्षत्रिय हुआ तो जाति-सांकर्य होगा। इस जन्म में संन्यासी हुआ तो दूसरे जन्म में भी फिर वह गृहस्थ ब्रह्मचारी आदि नहीं बन सकेगा। वैसा होने पर वह आरूढ़पतित माना जायेगा। अतः यह वर्णाश्रम आत्मा का धर्म नहीं किन्तु शरीर धर्म है। फिर शरीर में कर्तृत्व नहीं है। शरीर अगर कर्त्ता होगा तो वही भोक्ता भी होगा। तब दूसरे जन्म में यह शरीर न होने से कर्त्ता अन्य और भोक्ता अन्य होने लगेगा। अतः शरीरतादात्म्यापन्न आत्मा को कर्त्ता मानना पड़ेगा। शरीर तादात्म्यापन्न आत्मा ही ब्राह्मणादि भी कहलाने योग्य होगा।

फलतः शरीरादि तादात्म्याध्यास युक्त ही कर्त्ता भोक्ता होगा। अर्थात् अध्यास कारण अविद्यावान् हो कर्माधिकारी है। विद्या इससे अत्यन्त विपरीत है। वहां आत्मा और शरीर का भेदज्ञान रहता है। तब "ब्राह्मण यजेत्' इत्यादि वाक्यों का वह विषय ही नहीं बनेगा जो विद्यावान होगा। अत एव 'दूरमेते विपरीते' कहा गया।

भगवान आद्यशंकराचार्य जब दक्षिण यात्रा में थे तब एक ब्राह्मण अपने बारह वर्ष के पुत्र को साथ में लेकर आया और रोने लगा। वह बालक ऐसा था कि बचपन से ही अत्यन्त जड़ जैसा। बोलता चालता नहीं। हँसता खेलता हहीं। पढ़ता लिखना नहीं। ब्राह्मण को यह थी भय था कि कहीं बारह साल और इस प्रकार निकल जाय तो लड़का व्रात्य भी हो सकता है। बारह से जैसे तैसे उपनयन संस्कारादि करावें फिर भी भीतर से ज्ञान न होने से शूद्र समान ही होगा। उसे आचार्य के चरणों में नँवाया। तो वह नमस्कार करता हुआ पड़ा ही रह गया। आचार्य ने ब्राह्मण से पूछा—यह कैसा लड़का है ? ब्राह्मण ने कहा—आप देख ही रहे हैं। अत्यन्त जड़ है। नँवाया तो वैसा ही पड़ा है। यह बोलता चालता हँसता खेलता कुछ नहीं। बालक खेलने बुलावे तो जड़ जैसा रहता है। दूसरे बालक मारे पीटे तो भी रोता नहीं। खाना खाया तो खाया नहीं तो वह भी नहीं। आचार्य ने उस बालक को उठाया। और बालक से कुछ प्रश्न किये—

कस्त्वं शिशो कस्य कुतोऽसि गन्ता
किं नाम ते त्वं कुत आगतोऽसि।
एतन्मयेदं वद चार्भक त्वं
मत्प्रीतये प्रीतिविवर्धनोऽसि॥

कस्त्वं शिशो ? हे बालक तुम कौन हो ? कस्य ?। तुम किसके हो ? कुतोऽसि गन्ता। किस ओर जा रहे हो ? किं नाम ते। तुम्हारा नाम

क्या है ? त्वं कुत आगतोऽसि। तुम कहाँ से आये हो ? यह मैंने कहाँ। अब तुम मेरी प्रीति के लिये इसका जवाब दो। तुम प्रीति बढ़ाने वाले हो, प्रियवक्ता हो। इस प्रकार आचार्य ने प्रश्न किया तो माता पिता शून्यमस्तक से खड़े थे। भला, जो बालक पढ़ा लिखा नहीं, वह क्या जबाब देगा ? सो भी संस्कृत श्लोक को यह क्या समझेगा। इतने में एक बिजली सी चमकी। बारह वर्ष तक मौन बालक, जिसको महाजड़ सभी समझते थे। बोल उठा। बोला भी तो संस्कृत में, तत्रापि श्लोकबद्ध वह भी वेदान्त सिद्धान्त रहस्य पूर्ण।

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ
न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः ।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो
भिक्षुर्नंचाहं निजबोधरूपः ॥

प्रथम शब्द था—"नाहं मनुष्यः" माता पिता घबरा से गये, क्या यह कोई देवयक्षगंधर्वादि में कोई है ? तुरत अग्रिम शब्द पढ़ा न च देवयक्षौ। आगे स्पष्टीकरण किया—न ब्राह्मण क्षत्रिय इत्यादि से। मनुष्य होने पर चारवर्ण और चार आश्रम संभव है। मनुष्य ही नहीं तो ब्राह्मणादि तथा ब्रह्मचारी आदि कैसे हो ? मैं तो अपना बोध स्वरूप हुँ।

बालक का जवाब कई श्लोकों में था। पता नहीं मातापिता सुनते क्या सोचते रहे होंगे। बालक के विषय में किंकर्त्तव्यमूढ़ हो रहे थे। पूछने लगे, भगवान अब आगे क्या किया जाना चाहिये। आचार्य ने कहा—वर्णाश्रम धर्म विशिष्ट शरीराध्यास की निवृत्ति ऐस बालक की हो गयी है। अतः अब इसकी कर्माधिकार नहीं है। अब इसका सर्वकर्म संन्यास में ही अधिकार है। मातापिता सोच रहे थे क्या यह अब घर में नहीं आयेगा ? आचार्य कहने लगे यह घर में आयेगा तो फिर से पूर्ववत होगा। घर में क्यों नहीं

बोलेगा ? क्यों नहीं व्यहार करेगा ? घर में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य आदि वर्ण विभाग है। ब्रह्मचारी, गृहस्थादि आश्रम विभाग है उसी को लेकर व्यवहार करना पड़ेगा, तदर्थ अविद्या रखनी पड़ेगी। वह इस बालक से नहीं होगा। यह आत्मस्वरूपवेत्ता है। 'दूरमेते विपरीते विषूची'। आत्मवस्रूप बोध और वर्णाश्रमादि व्यवहार अत्यन्त विपरीत है।

यमराज कहते हैं—**"विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये"**। नचिकेता को मैं विद्याभिलाषी मानता हूँ। क्यों? **"न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त"**। तुम्हें अनेक विध कामनायें वश में नहीं कर सकीं, लोलुप नहीं बना सकीं। अविद्या का परिणाम है काम। और उसका फल है कर्म। अविद्या बीज है। काम सूचक है। कर्म स्थूल है। अविद्या बीजावस्था है। काम अंकुरावस्था है। कर्म वृक्षावस्था है। उसका फल जन्म सुख दुःखादि। काम नहीं रहा इसका अर्थ है अंकुर सूखने लगा। अंकुर सूखने का अर्थ या तो बीज शक्ति हीन हो रहा है या सहकारी कारण का अभाव हो रहा है। बीज अविद्या है। उसका क्षय तभी प्रारम्भ हो जाता है जब विद्याभिलाषी होने लगती है। यमराज के इस वचन से यह सूचना मिलती है कि यद्यपि अविद्या का कार्य काम है, काम अंकुर स्थानीय है। तथापि अंकुरनाश में बीजनाश ही कारण नहीं है। अविद्यारूपी बीज का नाश विद्या से होगा। यहाँ केवल विद्याभीप्सा हो रही है। इतने में कामाभाव हो गया। उस कामाभाव से विद्या का अनुमान नहीं, विद्याभीप्सा का अनुमान होता है। विद्याभीप्सा को ही यहाँ श्लोक में बुद्धि शरणान्वेषण शब्द से कहा गया है। विद्याभीप्सा प्रथम होगी। तब तदर्थ साधनानुष्ठान होगा तब विद्या प्राप्ति होगी। उसके बाद अविद्या निवृत्ति होगी। इधर विद्याभीप्सा होते ही कामलोलुपता निवृत्त होगी। यदि विषय लोलुपता मन में है तो समझ लेना चाहिये कि विद्या की बात दूर है, अभी

विद्याभीप्सा भी नहीं हुई है। अपने आप से पूछकर देखना चाहिये कि तुम्हारे अन्दर विषय लोलुपता है या नहीं ? यदि है, तो ब्रह्म श्रवण करने पर भी अभी तक ब्रह्मज्ञान तो क्या ब्रह्मज्ञान की इच्छा भी नहीं हुई है। भगवान वेदव्यास जी ने इसी विद्याभीप्सा को

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"

इस सूत्र से सूत्रित किया है। उसी ब्रह्मजिज्ञासा को यहाँ भगवान ने "बुद्धौ शरणमन्विच्छ" से कहा है। अथ शब्द का अर्थ बहुत ही विस्तृत है। कामलोलुपता परित्याग उसके अन्तर्गत है।

यहाँ दो परिवार है। एक अविद्या परिवार है। दूसरा विद्या परिवार है। अविद्या परिवार में तीन हैं—अविद्या, काम, कर्म। इससे विपरीत तीन विद्या परिवार के हैं—अविद्या के विपरीत विद्या, काम के विपरीत अकाम और कर्म के विपरीत अकर्म। अविद्या क्या है ? एक है—आत्मस्वरूप को न पहचाना। आत्मा के नित्यशुद्धादि स्वरूप का आच्छादन अविद्या है। उसका कार्य शरीरेन्द्रियादि का अध्यास भी अविद्या ही है। अविद्या से आत्मा का आनन्द रूप आच्छादित हुआ तो अन्तःकरणगत दुःख एवं सुख का आरोप आत्मा में होने लगता है। जैसे भीलों में पला हुआ राजकुमार अपने को भील समझता है। कभी उसको कुछ पैसा मिलता है तो समझता है कि मैं पैसे वाला हो गया। और पैसा खतम होने पर समझता है—मैं गरीब हो गया दुःखी हूँ। कहीं से पैसा कमा लावे। असल में वह गरीब है क्या ? नहीं। फिर भी भील भाव से राजभाव आच्छादित होने से गरीब समझने लगा। पैसा वह कमाकर लाता भी है तो किसका पैसा ? अपना ही पैसा। क्योंकि वह पूरे राज्य का ही मालिक था। पैसा मिलने पर धनी, सुखी समझता है। पैसे के अभाव में अपने को गरीब एवं दुःखी समझता है। वैसे यह आत्मा भी है। आनन्दैकरस अपना स्वरूप अविद्या से आच्छादित होता है तो अपने को दीन हीन

समझने लगता है। फिर विषयों से सुख प्राप्त करने की इच्छा करता है। विषयों में भी सुख आखिर किसका है? अपना ही। किन्तु अज्ञान से उसे पराया समझता है। और प्राप्त करने का प्रयास करता है। यही अविद्या के बाद काम है। यही भोक्तृत्व है। भोक्तृभाव को लेकर काम है और काम से भोक्तृभाव है। काम विषयभोगाभिलाषा ही है। उसी से भोक्तृभाव आता है। भोक्तृभाव से ही भोग संभव है। भोग को लेकर हमारा होता है। अतः परस्पराश्रित होने से काम को ही भोक्तृत्व कह देते हैं। काम एवं भोक्तृभाव होने पर फिर कर्म होता है अर्थात् कर्त्तृत्व होता है। भोग की पूर्ति कर्म के बिना संभव नहीं है। धन की तीव्र इच्छा होती है तो व्यापार धन्धा आदि में प्रवृत्ति होती है। तब कर्त्तृत्व होता है। कर्त्तृत्व होने पर ही कर्म होता है। अतः कर्त्तृत्व एवं कर्म परस्पराश्रित होने से कर्म को ही कर्त्तृत्व कहते हैं। यही अविद्या परिवार है। अर्थात् शरीरादि अध्यास, भोक्तृत्व तथा कर्त्तृत्व ये तीन अविद्या परिवार है।

इस अविद्या परिवार का विरोधी परिवार है। केवलात्मस्वरूप ज्ञान विद्या है। आत्मा एवं शरीर दि अनात्म पदार्थों को अलग समझना प्रथम विद्या है। यही अध्यासभाष्य में आचार्य ने बताया है—

"तमेतमेवंलक्षणमध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः"

अविद्या माने अविद्या परिवार का प्रथम सदस्य पूर्वोक्त अध्यास है। आत्मा अनात्मा अध्यास है। और विद्या परिवार का प्रथम सदस्य अनात्म विवेक पूर्वक आत्म वस्तु का स्वरूप ज्ञान है। आत्मा का स्वरूप तो प्रसिद्ध ही है—आनन्दकरस स्वभावता। आत्म स्वरूप ज्ञान के होते ही आप्यकामना आ जाती है। आप्तकामता का अर्थ है—प्राप्त परमानन्द स्वरूप। आप्तकाम होने पर अकामता

की होगी। जैसे जैसे आत्मस्वरूप प्रकट होता जायेगा वैसे वैसे अकामता दृढ़ होती जायेगी। और परिपक्व होगी। इस प्रकार क्रमेण उसका भोक्तृभाव के मिटने पर उभय प्रकार से कर्तृभाव भी मिटेगा। उभय प्रकार का क्या मतलब? एक तो भोक्ता नहीं रहा तो किसलिये कर्म करेगा?

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥

आत्मा को जहाँ लिया कि "मैं यही हूँ" मेरा स्वरूप यही है तो पूर्णानन्द की प्राप्ति हो जाती है तो किमिच्छन्? क्या इच्छा रह जायेगी। कस्य कामाय? किसको विषयानन्द प्राप्त कराने के लिये। जब मालूम पड़ा यह आनन्द मेरा हीं स्वरूप है। बाहर से कोई आनन्द नहीं आता तो अन्य स्व समान आत्मा की भी यही बात हो जाती है। तब वह दूसरे को विषयानन्द के लिये न प्रेरणा करेगा, न श्रम ही करेगा। उसका भी अज्ञान मात्र हटाने का प्रयास कर सकता है। अतः स्वयं अकाम होकर दूसरे की कामना पूर्त्ति पर भी लापरवाह होगा। अतः किसी इच्छा पूर्त्ति के लिये और किसी की इच्छापूर्त्त्यर्थं शरीरमनुसंज्वरेत्-शरीरानुसंज्वरण करेगा। अर्थात् मेहनत करेगा—कर्म करेगा और शरीर के पीछे दुःखी होगा। इस मन्त्र का विस्तृत अर्थ अन्यत्र प्रतिपादित है। तथापि यह भी एक सरलार्थ है। ये तीन विद्या परिवार है—स्वरूप साक्षात्कार, अकामतारूपी पूर्णता और नैष्यकर्म्य रूपी मोक्ष।

यह तो दो विरुद्ध परिवारों का वर्णन हुआ। एक अविद्या परिवार है और दूसरा विद्या परिवार। ये दोनों परस्पर विरुद्ध है—अति दूर गामी है—"दूरमेते विपरीते विषूची"। अब हमें यह सोचना है कि हम किस परिवार से जुड़े हैं और किससे जुड़ना है। किसमें जुड़ना है इसमें विकल्प तो है नहीं। परन्तु अविद्या परिवार

में जुड़े हों तो वहाँ से निकलने का उपाय क्या है ? यही देखना है। भगवान कहते हैं—"बुद्धौ शरणमन्विच्छ।" विद्या परिवार में घुसने के लिये यह कोई नियम नहीं है कि पहले अविद्या को नष्ट करो तब अकाम तथा नैष्कर्म्य सिद्ध बनो। यमराज ने इस रहस्य को खोल दिया था—'विद्याभीप्सिनं' नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त'। कामलोलुपता का अभाव होने से विद्याभीप्सु होने का अनुमान यमराज लगा रहे हैं। कामलोलुपता का अभाव होते ही वह यथार्थ विद्याभीप्सु होने लगता है या हो जाता है। और विद्याभीप्सु होने पर काम का जोर नहीं ही रहेगा। शुरूआत तो कामलोलुपता शैथिल्य से ही प्रारम्भ करना है। यही गीता के निष्काम कर्मयोग का मूल है। काम परित्याग के बिना विद्याभीप्सा नहीं होगी और विद्या परिवार में प्रवेश नहीं होगा।

काम परित्याग कैसे होगा यह एक प्रश्न है। इसका उत्तर पूर्व श्लोक में आ गया—"सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा"। इसका क्या अभिप्राय है ? इसका वर्णन श्रीमद्भागवत श्लोक में आया है—

"असंकल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात्"

काम को जीतने का तरीका है—असंकल्प। फल प्राप्ति विषयक संकल्प छोड़ना। **"संकल्पप्रभवान् कामान्"** इस प्रकार गीता में भी आगे आने वाला है। यही असंकल्पता समाधि है। अतएव यह समत्वयोग भी कहलाया। उसके बाद कर्तृत्व का त्याग संन्यास से होगा। असंकल्परूपी समाधि से काम त्याग एवं अकर्तृभावनारूपी संन्यास से कर्म त्याग होगा तो विद्योदय होगा। उस विद्या से अविद्या निवृत्ति होगी। प्रथम सामान्य रूप से अर्थात् असंकल्प समाधि एवं संन्यास से बाह्य काम एवं कर्म का त्याग होता है फिर विद्या से अविद्या निवृत्ति होने पर मूलरूपेणापि काम एवं कर्म की निवृत्ति होगी। प्रथम शाखोच्छेद मात्र हुआ। अविद्या निवृत्त होने पर काम कर्म का मूलोच्छेद ही हो जायेगा। यहाँ तक

के कथन का अभिप्राय यही है कि ये दो परिवार अत्यन्त विरुद्ध हैं। उनमें प्रायः प्राणी अविद्या परिवार में ही पड़ा हुआ है। वहाँ से निकल कर विद्या परिवार में जुड़ना बड़ा कठिन है क्योंकि ये दोनों अत्यन्त विरुद्ध है। पूरे अविद्या परिवार में रह कर विद्या परिवार का दर्शन करना भी कठिन है। अतः सिद्धि असिद्धि में समत्परूपी समत्व योग या असंकल्प योग से धीरे-धीरे विद्यापरिवार में प्रवेश करना चाहिये।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ। इसका अर्थ पहले ही आ गया। विद्या परिवार में जुड़ने का प्रयास करो। अर्थात् साधन सम्पन्न होकर ब्रह्म जिज्ञासा करो। बुद्धि की शरण में जाने का उपाय क्या है ? उत्तर दे दिया कामत्याग-कामलोलुपता का अभाव। परन्तु वह भी कैसे होगा ? संकल्प त्याग से-समत्व योग से। तदर्थं भी अब उपाय सोचना पड़ेगा। संकल्प त्याग कैसे हो इसका भी उत्तर प्राप्त हो एतदर्थं बुद्धौ शरणमन्विच्छ बताया। अत एव जिज्ञासस्व ततो ब्रह्म ऐसा सीधा नहीं कहा। शरण का संस्कृत में वास भी अर्थं होता है।

"शरणं गृहरक्षियोर्वधरक्षणयोरपि"

ऐसा कोषों में अर्थं निर्देश किया है बुद्धि में ही अपना घर बनाना अर्थात् बुद्धि में रहना। नित्य ही ब्रह्मज्ञान प्राप्तत्यर्थं लगे रहना बुद्धि शरणागति है।

"तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः ॥

ब्रह्म का चिन्तन करना, ब्रह्मचर्चा करना, परस्पर ब्रह्म के बारे में अपनी अपनी जानकारी देनां, ब्रह्मैकपरायण होना ये सभी ब्रह्म-भ्यास है। यही बुद्धि की शरण में जाना है। बुद्धि शरण में यदि इस प्रकार सहसा न पहुँच सकते हो तो अन्विच्छ तदर्थं अभिलाषा

रखो और अन्विच्छ-अन्वेषण करो, किस उपाय से हम बुद्धि शरणागत हों। सत्संग में जाओ, यह एक शरणागति है ही। वहाँ मालूम भी पड़ जायेगा, कैसे शरण में रहना।

कई संतों ने बुद्धौ शरणमन्विच्छ का दूसरा अर्थ लगाया है। कठोपनिषद् में आया है—

"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥"

बुद्धि का अर्थ सारथि है। सारथि हमारे लिये बुद्धि है। यह शरीर रथ है, आत्मा रथी है। सारथि बुद्धि है। अर्जुन स्वयं रथ पर बैठा है। वह रथी है। अर्जुन सारथि कौन ? वही बुद्धि है। अर्जुन का सारथि स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र है। उस भगवान श्रीकृष्ण-चन्द्र की शरण में जाना ही बुद्धौ शरणमन्विच्छ का अर्थ है। "बुद्धौ शरणमन्विच्छ, तदा बुद्धियोगं प्राप्स्यसि यस्माद् बुद्धियोगाद् दूरेण ह्यवरं कर्म" ऐसा यहाँ करना चाहिये। भगवान की शरणागति स्वीकार किये बिना बुद्धि योग प्राप्त नहीं होगा। यही पूर्वाचार्यों का सिद्धान्त है—

ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणां यदि जन्यते॥

अद्वैत बुद्धि तो क्या, अद्वैत वासना भी ईश्वरानुग्रह के बिना संभव नहीं है। और ईश्वरानुग्रह हुआ इसकी निशानी भी अद्वैत वासना ही है। अद्वैताभिरुचि नहीं हुई तो वह ईश्वराग्रह नहीं है। धनादि प्राप्तिईश्वराधीन नहीं, भाग्याधीन है। ईश्वरानुग्रह तो अपूर्व पुरुषार्थ साध्य अद्वैतवासना से ही माना जायेगा अतः श्रीकृष्ण शरणागति यहाँ बुद्धौ शरणमन्विच्छ का अर्थ है।

दूसरे संत इसकी व्याख्या और प्रकार से करते हैं। बुद्धियोग का ज्ञानयोग अर्थ है ही। उससे अवर कर्म अतिदूर है या कर्म

दूरेण अवर है। अश्रेष्ठ है अर्थात् अत्यन्त नीचे की कोटि का है। बुद्धौ शरणमन्विच्छ। बुद्धि कोई सिद्ध पदार्थ तो है नहीं की उसकी शरण में जाय। बुद्धि यदि उत्पन्न हो गयी तो शरण में क्या जाना? वह उत्पन्न होते ही अविद्या को निवृत्त करेंगी। यदि बुद्धि उत्पन्न नहीं हुई तो अनुत्पन्न की शरण में क्या जायेंगे?। अतः बुद्धि का अर्थ है बुद्धि देनेवाला। ज्ञान देनेवाले गुरु ही यहाँ बुद्धि शब्द का अर्थ है। यद्यपि आगे पीछे बुद्धि शब्द का अर्थ ज्ञान ही है। तथापि शरण शब्द साहचर्य से बुद्धि का बुद्धि दाता अर्थ होगा। गुरु की शरण में जाना चाहिये जिस गुरु से ज्ञानयोग प्राप्त हो। "**तद्विद्धि प्रणिपातेन**" इत्यादि आगे कहेंगे ही। श्रीमद्भागवत में भी "असंकल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात्" आदि कहते हुए अन्त में कहा—

"एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्"

कामादि समस्त दोषों को गुरुभक्ति से मनुष्य आसानी से तर जाता है।

यह गुरु भक्ति कौन सा ऐसा त्रिफला चूर्ण है कि कामक्रोध-लोभादि सर्व दोष जय हो। पंडितजी के त्रिफला चूर्ण से पेट भी साफ होता था, जिसकी गाय गायब हो गयी थी वह भी मिल गयी थी, सैनिकों को खिलाने से शत्रु सेना भी भाग गयी थी। सर्वोपचारार्थं त्रिफलाचूर्ण सिद्ध हुआ। क्योंकि बार-बार जंगल जाने से गाय दिखाई पड़ी थी। सैनिक बार-बार शौच जाने से नदी के परले पार पहुँची हुई शत्रु सेना को अन्दाज ही नहीं लग रहा था कि इधर राजा की सेना कितनी बड़ी है। क्या ऐसी यह गुरुभक्ति चूर्ण है कि "पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्" कहा जा रहा है। इसका समाधान यह है कि गुरुभक्ति का अर्थ है गुरु में निःस्वार्थ भाव से अटूट श्रद्धा। श्रद्धा प्रेम जब अत्यधिक होता है तो गुरु की प्रत्येक

आज्ञा को अपने जीवन से भी अधिक महत्त्व देने लगता है। हमने ऐसे अनेक संतों को देखा है जिनकी गुरुभक्ति की कोई उपमा नहीं दी जा सकती। काशी में जहाँ हम अध्ययनादि करते थे वहाँ स्वामी शास्त्रानन्दजी महाराज आये थे। बड़े उच्चकोटि के वे संत थे। उनके साथ में एक शिष्य था। मैंने यह गुण पाया—

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥

यह कालिदासोक्ति भी वहाँ फीकी पढ़ रही थी। गुरुजी खड़े हैं तो शिष्य खड़ा ही है। चलते हैं तो पीछे चलता है, बैठे हैं तो पास में ही बैठा है। गुरुजी जल पिये तो ही शिष्य जल पीता था। गुरु की आज्ञा होने की देरी नहीं तुरंत वह कार्य कर लेता था। भूपति की अपेक्षा विशेषता यही थी कि भूपति को आज्ञा पालन की नौबत नहीं आती थी। और भूपति अल्प दिन के मेहमान थे। यह शिष्य तो पूरा जीवन गुरु के लिये समर्पण कर चुका था। ऐसा शिष्य ही गुरुक्त साधना पूर्ण रूप से कर सकता है। ऐसी साधना से निश्चित ही बुद्धियोग प्राप्त होता है। इस प्रकार साधन तत्त्व के लाभार्थ ही यहाँ "लभस्व बुद्धियोगंतं" ऐसा न कहकर वक्र भाषा में 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' ऐसा बताया। अतएव बुद्धिदातृत्वेन रूपेण ईश्वर तथा गुरु दोनों को ग्रहण कर उन दोनों की शरण जाने का यहाँ भगवदोदेश मानना भी प्रसंग विरुद्ध नहीं होगा। क्योंकि श्रुति वचन है—

"यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥"

जिसकी भगवान में भक्ति हो और भगवान की तरह गुरु में भी भक्ति हो उसी को वेदोक्त अर्थों का प्रकाश होता है। वही महात्मा है।

कृपणाः फलहेतवः। जो फल के हेतु बनते हैं वे कृपण होते हैं। अर्जुन में कृपणता थी। अत एव पहले कह आये—**"कार्पण्य-दोषोपहतस्वभावः"**–भगवन् मुझमें कृपणता आ गयी है। अर्जुन में कौन सी कृपणता आयी हुई थी? धन के बारे में अर्जुन के अन्दर कृपणता नहीं थी। कृपणता आयी हुई थी ज्ञानरूपी धन के बारे में। बृहदारण्यक उपनिषत् में बताया है—

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः"

हे गार्गि, धन जेब में रखकर खर्च न करने वाले को दुनिया कृपण कहती है किन्तु मैं कहूँगा, जो आत्मा को जाने बिना मृत्यु के हाथ में जाता है वह कृपण है। जिसने जीवन धन को श्रवण-मननादि के लिये खर्च नहीं किया वह कृपण है। तत्त्वज्ञान प्राप्त किये बिना पशु के समान मरता जनमता है वह कृपण है। जिसको आत्मज्ञान की पड़ी नहीं है और दिन रात धनादि के पीछे लगा है वह कृपण है। पक्षियों के समान सुबह घोंसला छोड़कर दूर पहुँचे। अर्थोपार्जन कर शाम को वापस घोंसले में पहुँचे। रात को सोये फिर दूसरे दिन "पुनस्तद्वत्" वही चक्र। उसी में लोग पड़े हैं, वेदान्त श्रवणादि की फुर्सत नहीं। इस प्रकार जिन्दगी बिताकर जो मरे वे कृपण हैं। भगवान के शब्दों में जो जन्म मरणफल हेतु बनते हैं वे कृपण हैं। भगवान कहते हैं, हे अर्जुन, तुम फलहेतु मत बनो। फल की कामना रखकर कर्म करने वाले दूसरे जन्म की तैयारी कर रहे हैं, वे कृपण हैं। अतः फलाभिलाषा छोड़ दो। काम के छूटते ही धीरे-धीरे अविद्या परिवार शिथिल होने लगेगा। अविद्या परिवार के शिथिल होते ही विद्या परिवार उभरने लगता है। भगवान् कहते हैं, हे अर्जुन, तुम कृपण मत बनो। संग को त्याग कर बुद्धि की शरण में जाओ, विद्या परिवार की शरण लो॥ ४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

[बुद्धियुक्त पुरुष सुकृत एवं दुष्कृत दोनों को इस लोक में ही त्याग देता है। अतः योगार्थ लग जाओ, कर्म में कौशल ही योग है ॥५०॥]

"मा कर्मफलहेतुर्भूः" इस तृतीय सूत्र में कर्मफल हेतु न बनने के लिये कहा गया। कौन कर्मफल हेतु होते हैं? इसका उत्तर दिया—"कृपणाः फलहेतवः"। जो कृपण हैं वे फलहेतु होते हैं। कृपण की व्याख्या हम पहले कर आये।

"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वैतस्माल्लोकात्प्रैति स कृपण"

जो इस अक्षर स्वरूप परमात्मा को जाने बिना ही इस श्लोक से प्रयाण करता है वही कृपण है। परंतु वह कृपण क्यों है? कृपण का दीन अर्थ है तो वह स्वयं दीन ही है। क्योंकि उसकी आत्मा अभावग्रस्त होकर दीन होती ही है। कृपण का कंजूस अर्थ हो तो भी अर्थ संगति है। कर्म करके फल समर्पण न करना कंजूसी है। दूसरों को देने का मन न होना यह कंजूसी का ही लक्षण है। जो ऐसे कृपण होते हैं वे फल हेतु होते हैं। इस प्रकार फल हेतु बनने से बचने के लिये कृपणता छोड़ना पड़ेगा। आत्म ज्ञान शून्यता ही कृपणता। उसको छोड़ेने का मतलब यह है—आत्मज्ञान प्राप्त करने का हर संभव उपाय करना। वही बात "बुद्धौ शरणमन्विच्छ" से बताया। बुद्धि का अर्थ है आत्मा तत्त्वज्ञान। ज्ञान बुद्धि आदि पर्याप्त वाची शब्द है।

"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्"

ऐसा न्यासूत्र में कहा गया है। अर्थात् इन तीन को पर्यावाची माना—बुद्धि उपलब्धि और ज्ञान। ज्ञान की शरण में कैसे जाना?

विविदिषा द्वारा। बल्कि विविदिषा ही ज्ञान शरणागति है। विविदिषा ही ज्ञान शरणागति है। विविदिषा कैसे होगी? यह बात उपनिषदों में आयी है—

तमेव वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति
यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन

कर्म करने से ही विविदिषा पैदा होगी। यज्ञ, दान तव जो अनाशक है उनसे विविदिषा होती है। 'अनाशकेन' का तीनों के साथ समन्वय है—अनाशकेन यज्ञेन, अनाशकेन दानेन, अनाशकेन तपसा विविदिषन्ति ऐसी योजना है। अनाशक का न नाशक अनाशकः— जो नाशक नहीं वह अनाशक ऐसा अर्थ नहीं। किन्तु 'न विद्यते नाशो यस्य' ऐसा बहुव्रीहि समास करके प्रत्यय जोड़ा गया है। जिसका नाश न होत हो उसका अनाशक कहते। ऐसे नाशरहित यज्ञ, दान एवं तप से विविदिषा होती है तो क्या दो प्रकार के यज्ञ दान तप है? एक नाश वाला दूसरा नाश रहित? हाँ है पहले कह चुके हैं—"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति" योगबुद्धि में जो कर्म होता है उसमें अभिक्रम नाश नहीं होता। तब योगबुद्धि विषयीभूत यज्ञ दान एवं तप से विविदिषा हीती है यही अर्थ निकल आता है।

"बुद्धौ शरणमन्विच्छ' का दूसरा भी एक अर्थ है। कठोपनिषद् में बताया है बुद्धि सारथि है। कठोपनिषत् में आत्मा को रथी शरीर को रथ बुद्धि को सारथि एवं मन आदि का लगाम आदि रूपक देकर निरूपण किया है जिसका संकेत हम पहले श्लोक की व्याख्या में कर आये हैं। यहाँ पर सारथि कौन है? भगवान श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं सारथि बने हैं। अत एव बुद्धि पद से सारथि, और सारथि से श्रोकृष्ण अर्थ लिया जा सकता है। 'वुद्धौ शरणमन्विच्छ' का हो जायेगा-भगवति शरणमन्विच्छ। भगवान की शरण में जाओ। क्यों तब बुद्धौ कहा?—'हरौ शरणमन्विच्छ' ऐसा क्यों नहीं कहा? इसलिये कि "बुद्ध्यर्थत्वाद् बुद्धिरित्युच्यते" ऐसी व्याख्या हो। जो

बुद्धयर्थ है वह भी बुद्धि शब्द से कहा जाता है। कर्म करने के बाद भगवान् में उसका समर्पण करो तो बुद्धि प्राप्त होती है तथा वह कर्म अनाशक-नाशरहित होता है। इन सभी प्रकारों से विचार करने पर अर्थ एकही आता है कि ईश्वरार्थं करो।

ईश्वर के निमित्त कर्म करने से वह ईश्वर में पहुँचकर अनन्त हो जाता है। साधारण जमीन में बीज दसगुना होता है। खादवाली उत्तम जमीन में सौगुना होता है। किन्तु भगवान में पहुँचने पर कर्म बीज अनन्त होता है। अतएव वह अनन्त होने से अविनाशी कहलाता है। तब विविदिषा उत्पन्न होती है। अनन्त पुण्य के बिना विविदिषा उत्पन्न नहीं होती। इसी विविदिषा को **"अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा"** इस सूत्र में ब्रह्मजिज्ञासा बताया है। स्वार्थ परित्याग द्वारा कर्म करते हुए भगवत्समर्पण करने से अन्तःकरण पवित्र होता है और तज्जन्य अनन्तपुण्य से ब्रह्मजिज्ञासा होती है। फिर श्रवण मनन निदिध्यासन करने से बुद्धि प्राप्त होती है। उस बुद्धि के आने पर कृपणता नहीं रहतौ तब वह फल हेतु नहीं बनता। इसो बात को अब भगवान् स्पष्टतर करते हुए आवश्यक अन्य वक्तव्य साथ में जोड़कर कहते हैं—**'बुद्धियुक्तो जातीह"** इत्यादि।

यह एक नया प्रश्न उपस्थित हुआ कि भगवान को पुण्यकर्म का ही समर्पण करना चाहिये या पापकर्म भी। कुछ लोगों का मत है कि सभी कर्मों को भगवदर्पण करना चाहिये—

'यत्करोति..........तत्कुरुष्व मदर्पणं'

इस श्लोक में अविशेषेण शुभ अशुभ सभी कर्मों का समर्पण अर्थ निकलता है।

"शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे"

इस उत्तर श्लोक की भी तभी संगति बैठनी है। केवल शुभकर्म समर्पण हो तो शुभकर्म बन्धन से ही मुक्ति हो सकती थी शुभाशुभो-

भय कर्मबन्धमुक्ति किस प्रकार होगी ? यह मत कुछ हद तक ठीक ही है। विशेष व्याख्या हम उसी की व्याख्या के समय करेंगे। परंतु सामान्यतया यही कहा जाता है कि शुभकर्म का ही समर्पण होता है। अशुभकर्म का नहीं। हिंसा, चोरी आदि अशुभकर्म कर कौन भला श्रीकृष्णार्पणमस्तु कहेगा ? इसमें फिर यह फिर यह पूर्वपक्ष भी उठ सकता है कि अच्छी जमीन में आम का नींबू आदि पेड़ सौगुना अधिक फल दे सकता है तो बबूल का पेड़ बोने से वह भी सौगुना अधिक फल क्यों नहीं देगा ? शुभकर्म को समर्पित करने पर वह अनन्तगुण होगा। खैर, यह एक शंकामात्र है। वस्तु स्थिति जो भी हो फिर भी समर्पण योग्य तो शुभकर्म ही है। और किसी भावुक व्यक्ति ने जीवन में शुभ कर्म का ही समर्पण किया। अशुभ कर्म का नहीं किया ऐसा होने पर उसकी क्या स्थिति होगी ? यह भी विचारणीय है।

वस्तु स्थिति यह है कि यदि कर्तृत्व परित्याग मात्र कर्म समर्पण है तो शुभ अशुभ उभय समर्पण सुगमतया समझ में आ सकता है।

"केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"

इतना ही करना है तो भी समझ में आ सकता है। अन्य प्रकार का शुभाशुभोभय समर्पण कुछ विषम ही है। अतः सामान्य रूप से शुभकर्म समर्पण ही अभिप्रेत रहता है। शुभकर्म करके उसे परमेश्वर में समर्पण करने से वह समष्टिभाव यो प्राप्त होकर अनन्त पुण्यात्मक होगा। जिससे अन्तःकरण शुद्धि तो निश्चत ही है। साथ में ही वह तत्त्वज्ञान पर्यंत पहुँचने में भी मदद देगा। जब तत्त्वज्ञान हो जाता है तब अशुभकर्म स्वयमेव जलकर भस्म हो जायेंगे—

"क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे"

यह श्रुति सुप्रसिद्ध है। ब्रह्मदर्शन होने पर सकलकर्मक्षय हो जाता है। ज्ञान कर्म को समाप्त करता है।

"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मात्कुरुते तथा"

यह गीता वचन भी आगे आने वाला है। इस प्रकार अशुभ कर्म का क्षय ज्ञानोत्पत्ति से ही संभव है तब अशुभकर्म समर्पण का सवाल बुद्धि में शरणान्वेषण करने वालों के लिये नहीं उठता है। जो बुद्धि शरणान्वेषण नहीं करते उनका यहाँ विचार नहीं है। अतएव वह किसी अन्य प्रकरण में विचारणीय विषय होगा।

इतनी बात अवश्य है कि जिस क्रम से अभी पापक्षय बनाया उस क्रम से फिर पुण्यक्षय भी अवश्यंभावी है। क्योंकि यहाँ बुद्धि की बात चली है। तो "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" में पुण्यपापोभय क्षय ही बताया गया है। "ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि" यहाँ सर्व शब्द देकर भगवान ने उसे और स्पष्ट किया। ज्ञान कर्मनाश कैसे होगा उत्तर है ज्ञान से कर्मनाश नहीं, अज्ञाननाश होगा। अज्ञान से कर्तृ भोक्तृभाव होता है। अज्ञान के नष्ट होने से तत्प्रयुक्त कर्मक्षय भी अवश्यंभावी है कर्तृभोक्तृत्वभाव विशिष्ट कर्म ही फलजनक होता है। अतएव पाप के साथ पुण्यकर्म भी जल जायेगा। यही बात यहाँ पर भगवान को अभिप्रेत है। अतएव यहाँ "बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते" ऐसा बताया। सुकृत तथा दुष्कृत दोनों को बुद्धियुक्त हटा देता है—समाप्त करता है। बुद्धियुक्त यह पुरुष विशेषण है। उसमें बुद्धि प्रधान है। अर्थात् पुरुष बुद्धि से पुण्य-पापात्मक सकल कर्म को नष्ट करता है।

तस्माद्योगाय युज्यस्व। इसलिये योग के लिये संलग्न हो जाओ। क्योंकि प्रथम यह बताया था—दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धि योगात्। लक्ष्य हमारा बुद्धियोग पर्यन्त पहुँचता है। क्योंकि बुद्धि-युक्त ही सुकृत दुष्कृत को समाप्त कर सकता है। उस बुद्धियोग से अवर कर्म अति दूर स्वयं है और मनुष्य को भी दूर हटाता है। अवर कर्म का अर्थ पहले बता चुके हैं। पुष्पित वाणी प्रेरित कर्म ही अवर कर्म है। वह स्वयं दूर है। क्योंकि उसमें पूर्ण रूपेण कर्तृ

भोक्तृ अध्यास रहता है और बुद्धियोग में उन दोनों का अभाव है। जो उस अवर कर्म में पड़ गया वह कर्म भी बुद्धियोग को प्राप्त नहीं हो सकेगा। वह केवल 'जन्मकर्मफलप्रदां' के अनुसार संसारचक्र पावनकारी मात्र है। तस्मात् इसलिये। अवर कर्म को दूरतः त्याग कर योगाय युज्यस्व-कर्मयोग के लिये प्रस्तुत हो जाओ। यह बुद्धि-योग से दूर नहीं है। समीप है और बुद्धि अभिमुख भी है, विपरीत नहीं है। यह विविदिषा समुत्पादक हैं। अतः बुद्धि के समीपतर है।

योगः कर्मसु कौशलम्। क्या यह कोई नयी परिभाषा है। पहले "समत्वं योग उच्यते" ऐसा बताया था। उससे भिन्न यह नयी परिभाषा की जा रही है क्या ? नहीं। योग तो एक ही है। उसमें भूमिका भेद जरूर होता है। और उसको भी योग ही कहते हैं। यम नियम भी योग है। आसन को तो योगासन कहते ही हैं। प्राणायाम के बारे में कहना ही क्या ! उसी को लोग मुख्यरूपेण योग संज्ञा देते हैं। प्रत्याहार को भी योग कहा जाता है। धारणा-ध्यान समाधि ये तीनों तो **"त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः"** के अनुसार योग है ही। किन्तु असल में योग **"योगः समाधिः"** (युज समाधौ) ऐसा व्यास भाषा में बताया है। योग का मुख्य अर्थ समाधि है। उसी को पतञ्जलि महर्षि ने चित्तवृत्ति निरोध बताया—

'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'

उस चित्तवृत्ति निरोधरूपी समाधि में सहायक होने से यम-नियमादि को भी योग कह देते हैं। वैसी ही बात यहाँ पर भी है। वृत्ति निरोध में कामना त्याग का बहुत बड़ा हाथ है। कामना त्याग के बिना बल्लि वृत्ति निरोध हो हो नहीं सकता। इसलिये साधन वर्णन में बताया—

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"

अभ्यास एवं वैराग्य से चित्तबुत्ति निरोध होता है। यह पातञ्जल वचन है। इसमें अभ्यास तो पूर्ण समाधि से साधक है। अर्थात्

अभ्यास करते करते ही समाधि संपादन करना होगा। परन्तु उसमें परम सहायक है—वैराग्य। वैराग्य का अर्थ ही कामना त्याग है। विगतो रागो यस्मात् स विरागः। विरागस्य भावो वैराग्यं ऐसी उसकी व्युत्पत्ति है। राग ही तो कामना है। उसका विगम ही वैराग्य है। इस सूत्र के पर्यालोचन से यह निश्चित हुआ कि चित्त-वृत्ति निरोध में कामना त्याग परमावश्यक है। अत एव निष्काम कर्म को भगवान ने योग संज्ञा दी। उसके बाद "सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते" ऐसी परिभाषा सुनायी। इस परिभाषा का भी पर्यवसान उसी चित्तवृत्ति निरोध रूपी योग में ही है। सिद्धि में हर्ष वृत्ति होती है। असिद्धि में शोकवृत्ति होती है।

हर्षस्थानसहस्राणि शोकस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम्॥

हर्षस्थान कौन? सिद्धि। शोक स्थान कौन? असिद्धि। ये दोनों तो हमेशा होते ही रहते हैं। क्योंकि प्र येक कर्म के पीछे ये दोनों लगे हैं। उन दोनों के पीछे हर्ष एवं शोक करने लगते हैं तो दिन भर यही करते रहेंगे। बाजार में साग खरीदने गये, कपड़ा खरीदने गये और पसन्द की चीज नहीं मिली तो असिद्धि से मन मलिन हुआ। पसन्द के अनुसार वस्तु अल्पमूल्य में मिली तो सिद्धि होने से खुशी हुइ। इसी प्रकार दिन भर जो खुशी और नाराजगी होती है, क्यों उतने में ही वह सीमित है? नहीं। फिर उससे जो संस्कार तैयार होगा वह हृदय को निर्बल बनायेगा। हर्षशोक करने की आदत पड़ी तो फिर हर बात को लेकर हर्ष शोक होने लगते हैं। फिर जब अभ्यासार्थ बैठते हैं तो वहाँ भी ये हर्ष विषाद चित्त-विक्षेप पैदा करेंगे। अतः सिद्धि और असिद्धि में समता हर्षविषाद व्यावर्त्तक होकर चित्तविक्षेप निवर्तक होने से योग संज्ञा योग्य

बना। परन्तु ध्यान रखना है कि यह सिद्धि असिद्धि में हर्ष विषाद भी कामना प्रयुक्त है। फल की कामना रहती है, तब सिद्धि में हर्ष और असिद्धि में विषाद होता है। अत एव निष्कामता में और सिद्धि असिद्धि समता में विशेष अन्तर नहीं है। साध्य साधन भाव रूप से योग स्वरूप कथन मात्र है।

यहाँ आकर बताया "योगः कर्मसु कौशलम्"। यहाँ कोई विशेष भाव का निर्देश नहीं है। कर्म में कुशलता ही योग है। 'कर्मणां कौशलं' ऐसा नहीं किन्तु 'कर्मसु कौशलम्'। हिन्दी में षष्ठी सप्तमी का खास फरक़ नहीं है। किन्तु संस्कृत में फरक पड़ता है। अतएव हिन्दी में अनुवाद कर जो पढ़ते हैं उनको ऐसा अर्थ लगेगा—कर्म में क़ुशलता माने कर्म करने की कुशलता। परन्तु वैसा षष्ट्यर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है। कर्म करने की कुशलता योग नहीं है। अयोगी भी कर्म करने में कुशलता रखते हैं। यहाँ कौशल का चातुर्य अर्थ है। योग शब्द का वैसा ही अर्थ आता है। युक्ति से मुक्ति मिलती है, यहाँ युक्ति का चातुर्य अर्थ है। युक्ति ही योग है। कर्म में क्या चतुरता है ? यही कि वैसे यह कर्म बन्धन का कारण है, उसे बन्धन कारण होने न देना। आजकल के बहुत से लोग चोरी हत्या आदि करके ऐसी चतुरता करते हैं कि एक तो पकड़ में नहीं आते। और पकड़ में आ भी जाय फिर भी कोर्ट में निर्दोष छूट जाते हैं, ऐसी चतुरता करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र कहते हैं कि उस चतुरता से लौकिक बन्धन से छूटे या नहीं छूटे, हम तो पुण्यकर्म बन्धन से छुटकारे की चतुरता को चतुरता कहते हैं। पाप का यहाँ सवाल ही नहीं है। लोगों की आँख बचाकर भले पाप करो, किन्तु उस सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष की आँखों से बचना कदापि सम्भव नहीं। उसका फल भी अनिवार्य है। जीवन में जो हजारों कष्ट भोगने पड़ रहे हैं ये सब उन्हीं पापकर्मों का दण्ड है। मनुष्य के पास कर्म का ही फल उपस्थित होता है। अकृताभ्यागम नहीं होता। दाने-दाने

पर नाम लिखा होता है इसका अर्थ है पूरा जगत कर्मों का ही फल है। पाप कर्म में तो चतुराई चलती ही नहीं। चतुराई जो भी है वह पुण्यकर्म में ही सम्भव है। उस पुण्य कर्म की चतुराई फिर पाप नाश में भी उपयुक्त हो जाय यह अलग बात है किन्तु चतुराई जो भी कुछ है वह पुण्य कर्म में हीचलती है। क्या है चतुराई। यही कि फल देने वाले को ही उसे समर्पित करना। उसी के हवाले कर देना। यही योग माने युक्ति है॥ ५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

[बुद्धियुक्त मनीषी कर्म से होने वाले फल को त्यागकर जन्म-बन्ध रहित होकर दुःखरहित परम पद को प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥]

"बुद्धया युक्तो यथा पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि" इस प्रकार योग बुद्धि की प्रशंसा प्रथम की। योग बुद्धि से युक्त पुरुष कर्म बन्धन होगा। कैसे ? योग बुद्धि होने से योगार्थ प्रयत्न करेगा। योग से फिर विविदिषा द्वारा द्वितीय बुद्धि-परमार्थ ज्ञान प्राप्त होगा। उससे कर्म बन्ध निवृत्ति होगी। इसी बात का इस श्लोक में स्पष्टीकरण है। पहले "कर्मबन्धं प्रहास्यसि" कहा। यहाँ "जन्म बन्धविनिर्मुक्ताः" बताया। कर्मबन्ध और जन्मबन्ध दो हैं या एक ? चाहे एक हो चाहे दो हो, कोई फरक नहीं पड़ता। कर्मबन्ध से जन्म-बन्ध होगा। जन्मबन्ध से कर्म बन्ध होगा। "जन्मकर्मफलप्रदां" ऐसा पहले आया है। कर्म से होने वाला जन्मबन्ध कर्मबन्ध कहा गया, ऐसा भी कह सकते हैं। बुद्धि युक्त मनीषी कर्मफल को समाप्त करते हैं। कर्मफल माने संसार।

कर्मफल को कौन समाप्त करेगा यह प्रश्न है। इस विषय में भिन्न-भिन्न मत है। कर्म से भी कर्म नष्ट होता है ऐसा एक मत है। कुछ लोग कहते हैं पुण्य से पाप काटता है। और कहीं तो पुण्य से पाप भी अपाप हो जाता है। जैसे कोई एक कसाई है, वह एक गाय को मारने जा रहा था। गाय को इसका आभास होने लगा तो उधर कसाई गया तो इधर रस्सी तोड़कर वह भागी। भागती भागती नदी के किनारे झाड़ो में चली गयी। उसने देखा कि कसाई नहीं आ रहा है तो धीरे धीरे चलने लगी। एक ब्राह्मण नदी

किनारे पूजा तर्पण कर रहा था। कसाई गाय को ढुंढना ढूंढता वहाँ पहुँचा। उसने ब्राह्मण को पूछा कि आपने मेरी गाय कहाँ गयी देखा ? ब्राह्मण समझ गया कि यह कसाई उसी गाय को ढूंढ रहा है जो अभी झाड़ी में जा छिपी है। अब ब्राह्मण क्या कहे ? यहि कहता है झाड़ी में गयी तो वह पकड़ेगा और मारेगा। यदि कहता है नहीं देखा तो झूठ हो जायेगी। तब क्या, करना ? इस पर बहुत से लोकों का कहना है कि गोरक्षणार्थं झूठ बोले तो वह झूठ नहीं है। परंतु झूठ स्वयं झूठ नहीं है कैसे कहा जा सकता है ? किसी ने सत्यव्रत रखा तो ऐसी झूठ से व्रत नहीं टूटेगा ? **'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वं'** इस सूत्र में बताया हुआ फल इस अधूरे सत्य मिलेगा ? वस्तुतः ऐसा असत्य अधिक बुरा नहीं इतना ही शास्त्रों में वर्णित है—

स्त्रीषु नर्मविवाहे च वृत्त्यर्थे प्राणसंकटे।
गोब्राह्मणार्थे हिंसायां नानृतं स्याज्जुगुप्सितम् ॥

इस प्रकार कई जगह असत्य को केवल अजुगुप्सित मात्र बताया है। जुगुप्सित नहीं अर्थात् घृणित नहीं। अन्य स्थानों में जो वचन है सो भी इसके साथ एक वाक्यता करके व्याख्येय है। अर्थात् कहीं अनृत कथन की अनुमति है तो वह जुगुप्साभाव परक है। अर्थात् गो आदि की रक्षा करने का पुण्य है कि उसके मध्य में पाप की कोई गणना नहीं होगी। वह नहीं के बराबर होगा। प्रभावकारी नहीं होगा।

प्रभावकारी नहीं होगा इसका अर्थ कुछ लोग यह समझते हैं— पाप अल्प होगा। दूसरे लोग समझते हैं गोरक्षणादि पुण्य से पाप कट जायेगा। किन्तु ये दोनों बात शास्त्र संमत नहीं है। पाप अपने स्थान नर है, पुण्य अपने स्थान पर है। पुण्य से पाप कटता नहीं। पाप कम भी नहीं होगा। कम हो सकता है तो फिर कटने में कौन सी बात है ? कम होने का अर्थ है आधा कटा। तब पूरा कटने में

क्या हर्जा ? बात यह है कि पाप केवल दब जायेगा। जैसे चन्द्रमा में कलंक। प्रकाश के सामने वह कलंक नगण्य होता है। लेकिन कलंक जो है सो है ही। जैसे एक सेर पानी में एक तोला नमक पड़ा और एक पाव शक्कर भी पड़ गया तो नमक नगण्य होगा। नमक रहेगा ही नहीं ऐसा नहीं कहा जा सकता। पुण्य से पाप नहीं कठता। पुण्य का अपना स्थान है। पाप का अपना स्थान है। यही कारण है कि सुख के साथ दुःख भो मिलता है। धन मिला। माना जा सकता है कि वह पुण्य का ही फल है। पूर्वकृत दान पुण्यादि के परिणाम स्वरूप धन प्राप्त हुआ। परंतु उसी धन को लेकर घर में कभी कभी कलह भी होती है तब उसी धन से दुःख क्लेशादि भी हुए तो वह किसका फल है ? उस धन के आगम में जो कर्म किया उसमें पुण्य के साथ पाप भी हो गया है। बीस माले मकान के ऊपर फ्लेट खरीदा। खूब स्वच्छ हवा आती है। प्रकाश है। गंदगी नहीं है। बड़ा आनंद मिल रहा है। दूसरे लोग कहने लगे कि सचमुच यही स्वर्ग में मकान है। किंतु जिस रोज लिफ्ट खराब हुआ, कहीं बिजली फेल हो गयी तो ? नीचे मालेवाले मौज से चढ़ रहे हैं उतर रहे हैं। ऊपर मालेवले को तब मालूम पड़ने लगा कि यह हिमालय की तकलाकोट चढ़ाई कब खतम होगी ? उसी फ्लेट से खुब मिला तो वही दुःख का भी कारण हुआ। क्यों हुआ ? उसका कारण पुण्य पापमिश्रित था। यह एक उदाहरण मात्र है। दुनिया भर की प्रायः सभी वस्तु जो सुख साधन है दुःख साधन भी है। अतएव निश्चित है कि पुण्य से पाप कटता नहीं और न पाप से पुण्य कटता है। ऐसा हो तो फिर यह जन्म कर्म ही वैषम्य ही समाप्त होगा। माना जाय कि आप सुखार्थ हजार पुण्य कर्म औ दुःख हेतु आठ सौ पाप लेकर आये। उनमें हजार से आठ सौ बाधकर दौ सौ पुण्य भोगने को बच जाय ऐसा होता है क्या ? नहीं। और होना चाहिये पुण्य पुण्य कटकर दो सौ पाप

ही पाप रहेंगे। उन्हीं का उपभोग होगा फिर तो जन्म कर्म का सिलसिला ही खतम होगा। अतः पुण्य से पाप के कटने की आशा छोड़ देना चाहिये। फिर कदाचित् पुण्य ज्यादा हो गया तो मोक्ष पाने के लिये पुण्य कर्मक्षय आवश्यक होने से पाप करने बैठना पड़ेगा। अतः पुण्य से पाप या पाप से पुण्य कटेगा यह अप-सिद्धान्त है।

हाँ एक बात मान्य है। प्रायश्चित्त से पाप कटता है। पाप-निवारणार्थ शास्त्रों में प्रायश्चित्त का विधान आया है। पुण्य कर्म पापनाशक नहीं, प्रायश्चित्त कर्म पापनाशक है। प्रायश्चित्त पुण्य पाप में अन्तर्गत है या नहीं ? कहीं कहीं निमित्त विशेष से पुण्यपाप हो, किन्तु प्रायश्चित्त पुण्यादि को नहीं कहते। प्रायश्चित्त तो प्रायश्चित्त, वाक्य आता है—

"तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद"

ब्रह्महत्यादि महापापों को वह पार करता है जो अश्वमेध यज्ञ करता है। परन्तु अश्वमेधाधिकार क्षत्रियों को है, दूसरों के लिये क्या हो ? "य उ चैनमेवं वेद"। अश्वमेधीय अश्वादि विषयक उपासना जो करता है वह भी ब्रह्महत्यादि पाप निर्मुक्त होता है। प्रतिदिन हमसे पाप होता है। गोहत्यादि कादाचित्क पाप को रहने दो। रोज के पाप के बारे में क्या सोचा है ? चलते-फिरते प्राणी वध करते हैं। तो क्या चलना फिरना बंद करें ? घर साफ स्वच्छ तो रखना ही होगा। साफ करते समय कीड़े-मकोड़े करेंगे। पाप लगेगा। तो क्या सफाई करना बन्द करें ? डी० डी० टी० डालकर मच्छर खटमलों को मारना पड़ता है। घर को गंदा रखने के लिये कोई भी शास्त्रकार नहीं कह सकते। बल्कि शौच शुचिता को प्रथम स्थान दिया है। तब कई बुद्धिमान कह सकते हैं ये कर्म पाप नहीं है। परन्तु यह अपना फैसला है। शास्त्र का फैसला नहीं है। शास्त्र में तो पंचयज्ञ को प्रायश्चित बनाया है—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
दैवो होमो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥

अनेक विध दैनिक हिंसावारण के लिये पंचमहायज्ञ प्रायश्चित है। प्रथम उसमें अध्यापन है। अध्यापन का यहाँ अर्थ है वेद शास्त्रादि अध्ययन एवं पाठन सत्संगादि। रोज सत्संग श्रवण करते रहो तो रोज का दैनिका पाप निवृत्त होगा। एक रोज नहीं सुना तो उतना पाप जमा होगा। क्या दूसरे दिन सुनने से वह पाप नष्ट नहीं होगा? दूसरे दिन का पाप नष्ट होगा। पहले दिन का क्यों नष्ट होगा। अगर डबल शास्त्र श्रवण किया तो? दूसरे दिन सुबह शाम दोनों समय श्रवण किया तो? कीजिये। किन्तु पहले दिन की पूर्त्ति नहीं होगी। आज भोजन नहीं किया और कल डबल किया जाय यह कोई युक्ति नहीं है। प्रतिदिन के पाप का प्रायश्चित प्रतिदिन का श्रवणादि है। अध्यापनाध्ययनादि एक हुआ। इसी प्रकार पितृयज्ञादि भी है। यहाँ पंचमहायज्ञ वर्णन का प्रसंग नहीं है। प्रायश्चित्तोदाहरणार्थं हमने पंचमहायज्ञ को प्रस्तुत किया तात्पर्य यह कि पुण्य से पाप कटता नहीं, प्रायश्चित से पाप कट सकता है। यही शास्त्रीय परिपाटी है। यदि पुण्य से पाप कटता हो तो सत्यतपाने—

या पश्यति न सा ब्रूते या ब्रूते सा न पश्यति ।
अहो कथय कार्यार्थिन् किं पृच्छसि मुहुर्मुहुः ॥

इस प्रकार उत्तर क्यों दिया? क्यों सत्य को बचाने का प्रयास किया? गौ के उदाहरण के स्थान पर वहाँ सूकर का उदाहरण है। व्याध ने स्वबाणविद्ध सूकर के बारे में पूछा तो सत्यतपा ने कहा— जो देखता है वह बोलता नहीं और जो बोलता है वह देखता नहीं। किसको तुम पूछते हो। व्याध घबराकर चला गया था।

अस्तु। प्रायश्चित से ही फिर पापनाश किया जाय और मोक्ष प्राप्त किया जाय? इस पर भाष्यकार भगवान शंकराचार्यादि का

कहना है कि पाप के लिये प्रायश्चित होता है। किन्तु पुण्य के लिये क्या करेंगे ? पुण्य के लिये प्रायश्चित्त नहीं होता। संचित तो पड़ा ही है तो पुण्य फल देने के लिये, जन्म देने के लिये वर्त्तमान किसी पाप को नहीं पाता तो संचित में से थोड़ा लेकर जन्म कर्मफल देगा। जन्म मिला तो फिर उस जन्म में पुनः पाप नहीं करेंगे, इसमें क्या ग्यारंटी ? अतएव पुण्य बच जाय तो भी स्थिति पूर्ववत् ही होगी। कोई फरक नहीं होगा। अतः प्रायश्चित्त के द्वारा मोक्ष की आशा भी वृथा ही है। ऐसा शंकराचार्य मत है।

महाराज युधिष्ठिर तो कुछ और ही बात कह गये हैं। महाराज युधिष्ठिर का कहना है कि प्रायश्चित्त से पापोच्छेद की आशा दुराशा मात्र है। सदृष्टान्त वे बोल गये कि—

यथा पङ्केन पङ्काम्भः सुरया वा सुराकृतम्।
भूतहत्यां तथैवैकां न यज्ञैर्माष्टुमर्हति॥

बरसात के समय धोती पहन कर चले। छीटों से धोती खराब हुइ। कीचड़ के दाग कपड़ों में लगे। सोचा कि इसे साफ करूँ। परन्तु अन्दर जो पानी था वह स्वयं मैला कीचड़ वाला था। क्या उससे साफ करने से कपड़ा साफ होगा ? हाँ, बड़े-बड़े दाग भले निकल जाय परन्तु उस पानी में जो मैल है उससे पुनः कपड़ा मैला ही होगा। दूसरा दृष्टान्त दिया। एक बर्त्तन में शराब रखी थी। बास आ रही थी। सोचा इसे धो डाले। लेकिन धोने के लिये जो बर्त्तन हाथ में लिया उसमें पानी के बदले शराब ही थी। क्या उससे धोने पर पहले बर्त्तन की दुर्गन्धि निकलेगी ? वैसे ही भूत-हत्यादि से उत्पन्न पाप को यज्ञों से मिटाने की कोशिश करता है। अश्वमेधादि यज्ञ करने के लिये हवनकुण्ड तैयार करना पड़ेगा। उसमें सूखी लकड़ी डालेंगे तो सूखी लकड़ी में निश्चित कुछ कीड़े-मकोड़े होते हैं। प्राणी रहित लकड़ी मिलना मुश्किल है। गोबर का कंडा जलाते हैं किन्तु कंडा उठा कर देखो उसमें कितने प्राणी

होते हैं। इन सबका भी तो हवन साथ में होगा। यह तो 'यथा-पङ्केन पङ्काभ्यः' नहीं तो क्या ? ऐसा तो है नहीं कि बिल्कुल प्राणी रहित कोई अग्नि मिल जाय। गैस में हो सकता है कि प्राणवध नहीं होता। किन्तु गैस में हवन करने का विधान नहीं है। अश्व-मेध यज्ञ गैस पर करें ऐसा नहीं हो सकता। तब युधिष्ठिर के मतानुसार प्रायश्चित्त करने से मोटा-मोटा पाप भले नष्ट हो, किन्तु साथ में अन्य पाप उत्पन्न होते हैं। अतः पुण्यनाशार्थ तो प्रायश्चित्त है नहीं, पापनाशार्थ भी प्रायश्चित्त का सहारा पानी भरने के लिये फूटा घड़ा खरीदने के बराबर है।

ऐसी स्थिति में "मा कर्मफलहेतुभूः" यह कैसा होगा ? "कर्म-बन्धं प्रहास्यसि" इसकी उपपत्ति कैसे होगी ! इन प्रश्नों का पूर्वोक्त उत्तर का स्पष्टीकरण यहाँ किया जा रहा है—"कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः"। बुद्धियुक्त मनीषी कर्मज फल को समाप्त करते हैं। कर्मफल संसार है। ईश्वर सृष्ट संसार नहीं किन्तु जीवसृष्ट संसार। इस संसार को नष्ट करने के लिये बुद्धि ही एकमात्र साधन है। अन्य कोई साधन नहीं है। बुद्धि कैसे नाशक है ? बुद्धि संसार के बीज को जला डालती है। संसार का बीज कर्म के समान वासना भी है। केवल कर्म से ही जन्म नहीं है। किन्तु वासना भी कारण है। और केवल वासना ही नहीं, कर्म भी है। दोनो मिलकर जन्म बन्धन कारण बनते हैं। दोनों कैसे कारण ? कर्मानुसार फल मिलता है। वासनानुसार कहाँ फल मिलता है ? मिलता है।

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

ऐसा आगे भावना को जन्म कारण बतायेंगे। बल्कि अव्यवहित पूर्व कारण तो भावना ही है। जड़भरत का उदाहरण सामने है। अन्त समय में हरिण स्मरण कर शरीर त्याग करने से उनको हरिण बनना पड़ा। बेचारे ने कौन सा पाप किया था ? जीवन

भर में धर्मानुसार राज्य किया। औरस पुत्र समान प्रजा पालन किया। अन्त में तपस्या के लिये गण्डकी नदी किनारे गये। भूल इतनी मात्र ही तो हुई कि मरते हरिण बालक को बचाकर उसमें मोहित हुआ। मोहित होना कोई पाप है क्या? हरिण बालक को बचाना पाप है क्या? कौन सा पाप भरत ने किया था कि उसको हरिण बनना पड़ा। केवल भावना ही कारण थी। हाँ, प्रबल प्रारब्ध था। वही हरिण कुणक के रूप में उपस्थित हो गया था। जिसके कारण भावना बदली और भावनानुसार द्वितीय जन्म मिला। कर्म कारण जरूर है। प्रारब्ध कर्म ही हरिण बनकर था किन्तु भावना भी कारण है। भावना का सूक्ष्म रूप ही वासना है। वह क्या है? वही अध्यास है। उसकी निवृत्ति बुद्धि से होगी। बुद्धि है—ब्रह्मात्मैकत्वसाक्षात्कार। अभी क्या हो रहा है? शरीरात्मैकत्व विभ्रम साक्षात्कार हो रहा है।

ब्रह्मात्मैकत्व साक्षात्कार रूपी बुद्धि प्राप्त करनी चाहिये। शरीरात्मैकत्व ज्ञान हो रहा है जिससे अहं मम रूपी मोह हो रहा है। शरीर जड़ है। आत्मा चेतन है। अत्यन्त विरूद्ध तत्त्व द्वय है। उन दोनों की एकता असंभव है। ब्रह्म भी चेतन सच्चिदानन्दघन है और आत्मा भी चेतन-सच्चिदानन्द घन है। ब्राह्मत्मैकत्व हो सकता है। शरीरात्मैकत्व नहीं हो सकता। शरीरात्मैकत्व के कारण शरीरादि में अहं हो गया। और शरीर सम्बन्धी पुत्र-पौत्रादि में मम हो गया। कोई अहं नहीं कोई मम नहीं। तब वह हरिण बालक 'मम' कहाँ से हुआ? इस मोह का मूल कारण शरीरात्मतादात्म्याध्यास है। उस अध्यास की निवृत्ति केवल बुद्धि से होगी। बुद्धि के बिना अध्यास की निवृत्ति नहीं हो सकती। अत एव मोह निवृत्ति भी नहीं होगी। फलतः संसार भी निवृत्त न होगा। जन्म संसार बन्धन बना रहेगा। क्या भक्ति से बन्ध निवृत्ति नहीं होगी? भक्ति अपने स्थान पर है। बुद्धि अपने स्थान है।

भक्ति चाहिये, किन्तु भक्ति से ही मोक्ष नहीं होता। हमारा समन्वय सिद्धान्त है। कर्म भी चाहिये, भक्ति भी चाहिये, ज्ञान भी चाहिये। सभी अपने अपने स्थान पर है। किन्तु उससे अन्य पर आक्रमण मत करो। कांदीवली में एक भक्त से पूछा कि तुम सत्संग में क्यों नहीं आते ? उसने कहा—कि मैं श्रीराम जयराम जय जय राम का भजन करता हूँ, उसी में मेरा विश्वास है। रामनाम में सब कुछ आ गया। राहै में चार अक्षर है। र, आ, म और अ, यही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद है। राम बोल दिया तो सर्ववेदोच्चारण हो गया। राम समझ में आ गया सर्ववेदार्थ समझ गये। मैंने कहा—ठीक है। राम में चार अक्षर है। उनमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ नहीं आते ? उसने कहा—आते हैं। क्यों नहीं आते। र धर्म है, आ अर्थ है, म काम है और अन्तिम अ मोक्ष है। मैंने बहा—तब तुम क्राफिड मार्केट में धंधा करने क्यों जाते हो ? राम मन्त्र में 'आ' आ गया वही तो अर्थ है। अर्थ मिल गया तो अब मार्किट जाने की क्या जरूरत पड़ी ? 'म' तो काम है। स्त्री पुत्रादि धन धान्यादि शब्द स्पर्शादि सभी काम है। वह तो 'म' बोलने से मिल गया तब इन सबको क्यों निकाल बाहर नहीं करते हो ? मैंने कहा—भक्ति करो। किन्तु भक्ति अपने स्थान पर है। उससे दूसरे स्थान पर आक्रमण मत करो। ज्ञान होने पर भी भक्ति चाहिये। भक्ति होने पर भी ज्ञान चाहिये। ज्ञान की दृढ़ता भक्ति से होती है। भक्षि प्रेमरूपा है। वह मन को दृढ़ करती है। स्थित करती है। निरसता में मन उखड़ सकता है। वेदान्ताध्ययनार्थ भी तो प्रेम होना चाहिये। गुरुभक्ति चाहिये। ईश्वर भक्ति चाहिये। पूर्व श्लोक की व्याख्या में हम कह आये—

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः॥

इस श्रुति के अन्दर ब्रह्मप्रकाशनार्थं देवभक्ति तथा गुरुभक्ति दोनों को कारण बताया है। अतः ज्ञान के साथ भक्ति भी चाहिये। किन्तु अध्यास निवृत्ति के लिये ज्ञान भी चाहिये। अत एव भगवान ने यहाँ कर्म, भक्ति तथा ज्ञान, तीनों का प्रतिपादन किया है। कर्मण्येवाधिकारः इत्यादि से कर्म बताया ही। योगस्थः कुरु कर्माणि यहाँ ईश्वरार्थं होने से भक्ति भी प्रतिपादित हो गयी है। अत एव आगे स्थितप्रज्ञ में। युक्त आसीत् मत्परः इस प्रकार मत्परः शब्द का प्रयोग है। मत्परः का अर्थ है भगवत्परायणः। और यहाँ बुद्धौ शरणमन्विच्छ, बुद्धियुक्तो जहाति, कर्मजं बुद्धियुक्ता हि इत्यादि से ज्ञान की भी प्राप्तव्यता बतायी।

यह सामान्य व्याख्या हुई। अब विशेषार्थ की ओर ध्यान दिया जाय। **मनीषिणः** ऐसा यहाँ प्रयोग है। मनीषिणः का अर्थ है मनस ईषिणः। मन को प्रेरित करने वाले। मन को वश में करने वाले। चाहे कर्म हो चाहे उपासना अथवा ज्ञान। सभी के लिये मनोवशीकरण परम आवश्यक है। मनीषा एषां सन्तीति मनीषिणः ऐसा भी अर्थ है। मनीषा जिनकी हो वे मनीषी कहलाते हैं। मनोषा बुद्धि को कहते हैं। तब बुद्धिमन्तः ऐसा अर्थ निकलेगा। 'बुद्धियुक्ता हि' इससे तब पुनरुक्ति नहीं होगी ? क्योंकि मनीषिणः का भी अर्थ 'बुद्धिमन्तः' हुआ और बुद्धियुक्ताः का भी अर्थ बुद्धिमन्तः हुआ। नहीं। दोनों जगह बुद्धि शब्द का अर्थ अलग है। बुद्धियुक्ताः में बुद्धि पद का अर्थ ज्ञान है। और मनीषिणः में बुद्धि का अर्थ बुद्धि शक्ति है। बुद्धि शक्ति भी ज्ञानार्थ आवश्यक है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्रचया बुद्धचा सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

ऐसा श्रुति वचन है। यह आत्मा यद्यपि सब प्राणियों में विद्यमान है। तथापि गूढ है। अत एव सबको प्रकाशित नहीं होता है। उस आत्मा का प्रकाशन किससे होगा ? दृश्यते त्यग्रचया

बुद्ध्या। कुशाग्र बुद्धि से ही आत्म दर्शन होगा। किसी व्यापार धन्धे में सफलता तभी मिलती है जब बुद्धि सूक्ष्मावगाहिनी है। कुशाग्री हो। तब ब्रह्मतत्त्व प्राप्ति के बारे में कहना ही क्या है? तदर्थ तो अग्रय बुद्धि चाहिये ही। बुद्धि की सूक्ष्मता किस प्रकार होगी? जब बुद्धि का पूरा पूरा सदुपयोग होगा। बुद्धि का पर्याप्त उपयोग नहीं होगा तो वह मुर्चा खा जायेगा। जैसे लोहा है। सो भी जिस विषय में उपयोग किया जायेगा उसी विषय में तेज रहेगी। अत एव गहन शास्त्राध्ययन भी उपयुक्त है। न्यायशास्त्र षड्दर्शन में सबसे कठिन है। उसमें प्रमाण प्रमेयादि का विचार है। किस लिये प्रमाण प्रमेयादि विचार करना चाहिये? क्यों न्यायशास्त्र लिख गया? ऋषियों का कार्य व्यर्थ कभी नहीं हो सकता। इसलिये न्यायशास्त्र लिखा कि अध्यात्म मार्ग में बुद्धि तीक्ष्ण हो। वेदान्त रहस्य तो बुद्धि की तीक्ष्णता होने पर ही खुलता है। न्यायशास्त्र पढ़कर वेदान्त सुनने लगते हैं तो ग्रन्थि खुलती जाती है। रहस्य एक के बाद दूसरा सामने आता जाता है। शास्त्राध्ययन की उपेक्षा वे ही करते कराते हैं। जिनकी बुद्धि स्वयं नहीं और स्वयं बड़ा भी बनना चाहते हैं। शास्त्राध्ययनभाव की न्यूनता को लेकर अपनी न्यूनता वे जानना नहीं चाहते। पञ्च-तन्त्र में एक लोमड़ी की कथा आतो है। उसकी पूँछ कटी तो वह दूसरी लोमड़ियों को कहती फिरते लगी कि यह पूँछ निरर्थक है इसलिये मैंने कटाया। तुम भी कटवा लो। इस पूंछकटे संप्रदाय से बचकर गहनता से शास्त्राध्ययन कर फिर उसे अनुभव में लाने का प्रयास करना चाहिये। काम बिगाड़ने में कुछ पण्डितों का भी हाथ है। शास्त्राध्ययन गहनता से किया, किन्तु अनुभव में लाने का उन लोगों ने प्रयास नहीं किया। और वही दृष्टान्त लोगों के सम्मुख उपस्थित हो गया। अतः यहाँ पर बुद्धियुक्ताः को तन्त्रेण प्रयोग न कर मनीषिणः का पुनरुच्चार किया। अर्थात् मनीषी

का दोनों अर्थ लेना चाहिये। एक तो प्रशस्त बुद्धि शक्ति युक्त अर्थ लेना और दूसरा 'मन के प्रेरक' अर्थ भी लेना। अपने मन को नियन्त्रण में रखते हुए बुद्धि शक्ति युक्त होकर वेदान्ताध्ययन परायण होना चाहिये। एक बड़े भारी पण्डित प्रयागराज में मिले। कुछ श्लोक बनाकर लाये थे। उसमें उन्होंने ऐसी दीनता प्रकट की थी।

'दीनोऽहं तव चरणावुपागतोऽस्मि'

मैंने कहा—पण्डित होकर इतनी दीनता ? कहीं वेदान्त ज्ञान के लिये नम्रता तो नहीं है ? लेकिन आगे पढ़ा तो सरस्वती के लिये नहीं लक्ष्मी के लिये दीन हो रहे थे।

निक्षिप्तोऽस्म्यपटतले निहत्य लक्ष्म्या

यह दीनता ज्ञानियों में आयी तो **"हा हन्त हवा मनस्विता"** वाली बात हो जाती है। अतः तीक्ष्ण बुद्धि के साथ मनोनियन्त्रण भी होना चाहिये। यह मनीषिणः इस विशेषण का मतलब है।

ऐसा मनीषी अधिकार संपन्न होकर अर्थात् पूर्वोक्त ईश्वरार्थं कर्म द्वारा मल विक्षेप दूर कर विविदिषु बनता है तब श्रवणादि से वह बुद्धियुक्त होता है। उससे पूर्व श्लोकोक्त रीत्या वह सुकृत एवं दुष्कृत को जहाति—छोड़ देता है। छोड़ने का अर्थ केवल मार्जन करना समझा चाहिये। क्योंकि पाप कचड़े के समान उठाकर फेंकने की कोई वस्तु नहीं है।

"तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्"

ऐसा सूत्र में निर्णय दे दिया है। ब्रह्माधिगम होने पर संचित कर्म दग्ध हो जाते हैं। और आगामी कर्मों का श्लेष नहीं होता। इसीलिये पूर्व श्लोक में "इह" कहा। कर्म भर्जित हुए तो उसका फल इस श्लोक में बताया—कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा। कर्म के छूटने पर कर्मज फल का छूटना निश्चित ही है। सुकृत दुष्कृते जहाति कहा तो तत्फल भी स्वतः छूट जायेगा। अतएव कुछ अधिक अर्थ यहाँ समझना होगा। अधिक अर्थ क्या है ? "फलं संसारं' ऐसा यहाँ अधिक अर्थ है। क्योंकि कृषि आदि कर्म से होने

वाले फल-अनाज को छोड़ने मात्र से मनुष्य जन्मबन्ध विनिर्मुक्त हो जाय इतना सस्ता यदि मोक्ष हो तो अन्य कठोर साधनों को उपदेश व्यर्थ हो जायेगा। यदि यज्ञदानादि कर्म का फल छोड़कर इतना अर्थ करते हैं तो यह सुकृत दुष्कृत त्याग का जो पूर्वश्लोक में वर्णन है उसीसे गतार्थ है। उसका पुनः अनुवाद कोई विशेष महत्त्व नहीं रखता। सुकृत तथा दुष्कृत कहने से सहसा होनेवाला अर्थ सुख एवं दुःख है अतः उससे कुछ अधिक अर्थ यहाँ संसार ही है। बुद्धियुक्त होने पर ऐसा तत्त्ववेत्ता कर्मज फल भविष्य संसार क्या वर्तमान संसार का भी त्याग करता है। भविष्य संसार की अनुत्पत्ति एवं वर्तमान संसार का बाध ही यहाँ त्याग है भविष्य संसार इसलिये नहीं होगा कि बीज रूप कर्म बुद्धि रूपी अग्नि से भर्जित होने से उसमें प्रजनन शक्ति नहीं रही। प्रारब्ध निर्मित वर्तमान संसार यद्यपि दीखेगा। तथापि बाधितरूप से। अतएव वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

कर्मजं फलं त्यक्त्वा तत एव बुद्धियुक्ताः सन्तो जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः इस प्रकार भी अन्वय संभव है। कर्मज फल छोड़ने से चित्त-शुद्धि होने ब्रह्मजिज्ञासा होगी। उससे ब्रह्म बुद्धि प्राप्त होगी। इस व्याख्या में यह केवल जन्मबन्ध निर्मोक्ष रूपो उत्तर फल कथन मात्र हो क्योंकि बाकी अर्थ प्रायः पूर्वोक्त ही है।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः। वर्तमान संसार का बाधात्मक त्याग होगा। और अगले संसार का अनुत्पत्तिरूप त्याग या बाधात्मक त्याग। बाधात्मक त्याग हो तो बाधित जन्म भी होगा। फिर तो बाधित जन्ममरण परम्परा भी चलती रहेगी। फिर तो नाममात्र का परिभाषिक मोक्ष ज्ञानफल मानना होगा। फिर ज्ञानी को भी शरीर दुःख प्रिय नहीं हो सकता, भले उसमें मिथ्यात्व निश्चय हो, फिर भी प्रारब्धवश वह सत्यवत् प्रतीत होगा इसलिये विशेषरूप से कहना पड़ा—जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः। ज्ञानी का पुनर्जन्म होता ही नहीं। क्योंकि संचित कर्म सभी भस्म ही हो जाते हैं। न कि

केवल बाधित। बाधित तो प्रारब्ध कर्म एवं तत्प्रयुक्त संसार होगा। क्योंकि वर्तमान संसार उत्पन्न हो चुका है। इसकी अनुत्पत्ति का कोई सवाल नहीं है। उत्पन्न का नाश भी नहीं होगा, क्योंकि नाश भी कर्मफल है। धनोत्पत्ति कर्मफल है तो धननाश भी तो कर्मफल है। तो ऐसा कौनसा कर्म कर्म ज्ञानी का है जो फलनाश करे ? ज्ञानी का कोई कार्य होता ही नहीं। प्रारब्ध कहें, तो प्रारब्ध अपने समय पर शरीरादि संसार।नाश करेगा। ज्ञान प्रारब्ध को तेज बनायेगा नहीं, जिससे बाद में होने वाला मरण पहले ही होने लग जाय। अतः ज्ञानी वर्तमान संसार केवल बधित ही होगा। न कि अनुत्पादन और नष्ट ही।

पदं गच्छन्त्यनामयम्। कर्मफलाभिलाषा छोड़ने पर सिद्धि असिद्ध में समता होगी। समत्व से फल त्याग होगा। यही यहाँ बताया हुआ कर्मफल त्याग है उससे चित्तशुद्धि होगी तब बुद्धि की शरणान्वेषणा हो। ब्रह्मजिज्ञासा होगी। उससे बुद्धि युक्त होंगे। उससे सुकृत दुष्कृत त्याग होगा। उससे संसार त्याग होगा। उससे जन्मबन्धविनिर्मुक्ति होगी। उसका यह अन्तिम फल बताया जा रहा है—पदं गच्छन्त्यनामयम्। अनामयं दुःखरहितं पदं परमपदं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति। आमय का रोग दुःखादि अर्थ है। अनामय का संसार रोग दुःख रहित दुःख रहित अर्थ है। ऐसा पद कौन है ?

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्॥

विष्णु अर्थात् व्यापक परमात्मा का वह परमपद है—परमार्थ स्वरूप है। सदा तत्त्ववेत्ता दर्शन करते हैं। वह विस्तृत व्यापक दिव्य चक्षुरूप है। सर्वावभासक चितत्त्व है। उस अनामय पद की प्राप्ति का मतलब है व्यापक परमार्थ सत्य रूपेण अवस्थान। यही कर्म फल हेतु न बनने का सारार्थ है। कर्मफल संसार हेतु न होने पर स्वरूपेणावस्थान होता है॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

[जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूपी कलुषता को सर्वथा पार करेगी तब श्रोतव्य एवं श्रुत से वैराग्य प्राप्त हो जाओगे ॥५२॥]

मा कर्मफलहेतुर्भूः इस तृतीय सूत्र की व्याख्या "योगस्थः कुरु-कर्माणि" से लेकर "पदं गच्छन्त्यनामयं" तक कर लिया। कर्मफल संसार का हेतु न बनने का मतलब है अनामय परमपद को प्राप्त होना। तभी संसार फल से व्यावृत्ति संभव है। अर्थात् कर्मफल-हेतुर्मा भूः इस वचन की सार्थकता होगी। इसके बाद कर्मण्येवाधि-कारस्ते, मा फलेषु कदाचन, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि, इन तीन सूत्रों में उक्त अर्थ की कड़ी तृतीयपादार्थ के साथ जोड़ने के लिये 'यदा ते मोहकलिलं' इत्यादि दो श्लोकों का उत्थान है। यहाँ बुद्धि पद का अर्थ "योगे त्विमां शृणु" में बनायी हुई बुद्धि या अन्तःकरण घटक बुद्धि है। वह योग बुद्धि ईश्वरार्थ कर्म सम्पादन कराती हुई अन्तःकरण को शुद्ध एवं ईश्वरार्पण पुण्य संपन्न होती है तब मोह-कलिल को पार करेगी। मोहकलिल का अर्थ भाष्य में अविवेक कालुष्य किया है। अविवेक कालुष्य को दूर करेगी अर्थात् विवेक सम्पादन करेगी जो ब्रह्मतत्त्वज्ञान के अन्तरङ्ग साधनों में प्रथम साधन है। परन्तु उसके लिये पूर्वकृत वेदार्थ श्रवण भी सहकारी होगा। इसके बाद श्रोतव्य एवं श्रुत पूर्वकाण्डोक्त कर्म तथा कर्मफल से निर्वेद अर्थात् वैराग्य होगा। यह उपलक्षण है। शमादिषट् सम्पत्ति एवं मुमुक्षुत्व को भी प्राप्त होगी। इसके बाद का विवरण अगले श्लोक में होगा। अर्थात् वेदान्त श्रवण तथा मीमांसा से श्रुति विप्रतिपन्न बुद्धि निश्चित होगी। और निदिध्यासन से साक्षात्कार

होगा यह अग्रिम श्लोक में बताया जायेगा, वही पूर्व श्लोकोक्त बुद्धि युक्तता है। जिससे कर्मज फल संसार को पार कर जन्मबन्ध रहित होकर परमपद को प्राप्त होंगे।

यहाँ अत्यन्त ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि यहाँ बुद्धि पद दो अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। एक योग विषयक बुद्धि अर्थ में प्रयोग है। दूसरा परमार्थ तत्त्वज्ञान अर्थ में प्रयोग है। बल्कि अन्तःकरण चतुष्ट्य में आयी हुई बुद्धि में तृतीय प्रयोग भी कहा जा सकता है। बुद्धि का अर्थ केवल योग वुद्धि अर्थात् समत्व बुद्धि अर्थ हो तो तृतीयाध्याय में **"ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः"** यह अर्जुन का प्रश्न असंगत होगा। क्योंकि समत्व बुद्धि तो कर्म में अंग रूप से समाविष्ट होती है वहाँ ज्यायस्त्व या कनीयस्त्व का प्रश्न ही कैसे उठेगा? यह बात भाष्य में विस्तार के साथ प्रतिपादित हुई है। **"व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धि मोहयसि"** में अन्तःकरण चतुष्ट्य घटक बुद्धि अर्थ स्पष्ट है। अतएव इस श्लोक में योगबुद्धि या अन्तःकरण चतुष्ट्य घटक बुद्धि अर्थ है जो प्रकरणानुकूल है। बुद्धि मोहयसि के साथ बुद्धिर्मोह कलिलं व्यतितरिष्यति का मेल खाता है अतः विकल्प रूप में द्वितीय अर्थ हमने बताया।

अर्जुन की ओर से शङ्का हुई कि एक ओर कहते हैं 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि'। और दूसरी ओर कहते हैं 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'। अकर्म सङ्ग होने से कर्मबन्ध प्रहाण अपने आप होगा। तब अकर्म सङ्ग निषेध क्यों किया जा रहा है। दूसरी बात बुद्धि से ही कर्मजफल त्याग पूर्व बताया तब कर्म के झमेले में न पड़कर बुद्धि योग के लिये ही श्रम क्यां न किया जाय? अर्थात् संन्यासी बनकर "भैक्ष्यमपीह लोके" जो प्रथम बताया उसी को क्यों न अपनाया जाय? इसके उत्तर में भगवान कह रहै हैं कि प्रथम विवेक वैराग्य प्राप्त करो, तब भैक्ष्य की ओर देखो। तदर्थ कुछ क्रम है। उन क्रमों को अपनाना चाहिये। जरूरत हो तो प्रथम थोड़ा सकाम

कर्म भी कर डालो। हाँ, उसी में लगे न रहना। "नान्यदस्तीति वादिनः" होने पर दुर्दशा है। सत्कर्म की आदत के लिये और कामवेग की किंचित् शान्ति के लिये ही प्रथम कामना पूर्वक कर्म करना है। सकाम कर्म भी विहित होने से सत्कर्म की आदत डालने में उपयोगी है। आदत पड़ गयी, फिर धीरे धीरे कामना को हटाते गये वेदाध्ययन जन्य किंचित् विवेक द्वारा कामना को शिथिल किया तब निष्काम कर्म में प्रवृत्ति होगी। उस निष्काम कर्म से दृढ़ विवेक एवं दृढ़ वैराग्य होगा। तब संन्यास एवं बुद्धि-योग योग्यता प्राप्त होगी। इसी आधार पर चातुराश्रम्य का विधान है। चार आश्रमों का यही रहस्य है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश वर्णन से बड़े सुन्दर ढंग से इसका प्रतिपादन किया है—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये।

महाकवि रघुवंश वर्णन में प्रथम ही रघुवंशियों के नियमों का वर्णन करते हुए सुन्दर उपदेश दिया। रघुवंशी कैसे थे? शैशव में विद्याभ्यास करते थे। ब्रह्मचारी रहकर वेदशास्त्राध्ययन करते थे। ब्रह्मचारी का अर्थ ही वेदशास्त्राध्ययन व्रतचारी बताया गया है। सिद्धान्त कौमुदीकार जो पाणिनीय सूत्र व्याख्याकार हैं, लिखते हैं—

ब्रह्म वेदः। तदध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म।
तच्चरतीति ब्रह्मचारी।

दो ब्रह्म है। एक परब्रह्म है। दूसरा शब्द ब्रह्म है। परब्रह्म परमात्मा को कहते हैं। उस अर्थ में ब्रह्म शब्द अत्यन्त प्रसिद्ध भी है। दूसरा शब्द ब्रह्म वेद को कहते हैं। इसका वर्णन संस्कृत साहित्य में जगह जगह आता है—"शब्दब्रह्मणि निष्णातः" इत्यादि। वेद के साथ ही वेदाङ्ग भी आ जाते हैं। वेदाध्ययन के

लिये जो व्रत है उसको भी ब्रह्म कहते हैं। ब्रह्मव्रत ऐसा उसका नाम है। उस ब्रह्मव्रत का आचरण करने वाला ब्रह्मचारी है। ब्रह्मचारी होकर शैशव में विद्याध्ययन करे। वेदों में भी इसका विधान है। **"स्वाध्यायमधीयीय"** इत्यादि वाक्यों में आया है। उस अध्ययन का एक फल है वेद प्रतिपादित कर्म करना।

"वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम्"

ऐसा आचार्य ने भी उपदेश में बताया है। केवल कर्मानुष्ठान ही फल नहीं है। किन्तु उसी अध्ययन से समय आने पर विवेक भी होगा। किसी किसी को ब्रह्मचारी अवस्था में ही विवेक एवं तत्प्रयुक्त वैराग्य हो जाता है। किन्तु जो पूर्व संस्कार संपन्न हो उसी को।

जिसको पूर्व संस्कार नहीं है, होने पर भी शिथिल है उसके मनमें कामना पैदा होती है। शैशव में अनभिव्यक्त कामना युवावस्था के प्रारम्भ में ही प्रकट होने लगती है।

सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेय।
अथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय॥

इस प्रकार कामना ब्रह्मचारी को होने लगती है। उसी को लेकर महाकवि ने **"यौवने विषयैषिणाम्"** बताया। उसके बाद जाया परिग्रह एवं दृष्टादृष्टफल कर्म में वह प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार कर्म करते-करते पूर्व संस्कार सहकृत वेदाध्ययन ही धीरे-धीरे निष्कामता की ओर उसे ले चलता है। भगवदुपदेश भी यही काम आता है—कर्मण्येवाधिकारः इत्यादि अर्जुन उसी अवस्था में संप्रति स्थित है। निष्काम कर्म में प्रवृत्ति होने से धीरे-धीरे अन्तःकरण परिशुद्ध होने लगता है।

निष्काम कर्म से अर्थात् ईश्वरार्थ कर्म से अन्तःकरण शुद्धि एवं समष्टि संसारोपकार पुण्य विशेष से इसी श्लोक में प्रोक्त विवेक एवं

वैराग्य का उदय होता है। और उसका झुकाव परमात्मा की ओर होने लगता है। इसी को महाकवि ने 'वार्धके मुनिवृत्तीनां' से बताया। पचास वर्ष होने के बाद वार्धक आ जाता है। आप मानें या न मानें यह आपकी मर्जी है। कुछ लोग साठ के बाद वार्धक मानते हैं। जो भी हो शरीर एवं इन्द्रियादि में वह पहली स्फूर्ति तो नहीं ही रहेगी। तब मुनिवृत्तिको अपनाना चाहिये। मुनि वृत्ति का अर्थ वानप्रस्थ करते हैं। वनं प्रतिष्ठत इति वनप्रस्थः। वनप्रस्थस्यायमाश्रमो वानप्रस्थः। वन का एक अर्थ जंगल है। दूसरा अर्थ ब्रह्म भी है। केनोपनिषद में ब्रह्म अर्थ किया है। वहाँ ब्रह्म का नाम वन बताया है। वहाँ का यह मन्त्र है—

"तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम्"

उसकी व्युत्पत्ति भी वहाँ भाष्यकारों ने दिखायी है। पाणिनीय धातुपाठ में आया है—

"वन षण संभक्तौ"

वन धातु का अर्थ संभजन है। संभजन माने सम्यक् भजन। संभजनीय होने से ब्रह्म का नाम वन है। बल्कि जंगल का नाम भी इसी अर्थ को लेकर है। पाणिनीय सूत्र है—

अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्

वन्यते भजनविषयी क्रियत इति वनम्। जो भजन का विषय हो वह वन ब्रह्म है। वनन्ति भजन्ति जना अस्मिन्निति वनम्। जिस स्थान में बैठकर भजन करते हैं वह वन-जंगल है। अधिकरण में प्रत्यय है। वानप्रस्थ का अर्थ जंगल की ओर प्रस्थान करना कर लीजिये या ब्रह्म की ओर प्रस्थान कर लीजिये दोनों अर्थ समीचीन है। गृहस्थ अभी तक विषयों की ओर प्रस्थान कर रहा था। किन्तु अब ब्रह्म की ओर प्रस्थान करने लगा। अर्थात् वेदार्थ विचार से विवेक होने से अब वैराग्य की ओर बढ़ने लगा।

आसक्तं विषयेषु मानसमपाकुर्याः सपर्यापरं
चेतः साधय माधवाङ्घ्रिकमलद्वन्द्वस्य निर्द्वन्द्वतः ।
विश्वासं ननु बुद्बुदेषु सरितां तीरषु मा मा कृथा
मा वा शृङ्गिषु पन्नगेषु नखिषु ज्वालावलीषूर्मिषु ।।

इन चीजों में विश्वास मत करो । क्या क्या चीज है ? कहाँ कहाँ विश्वास न करना ? एक है बुद्बुद को देखकर मोहित न होना । उसे पाने और प्यास बुझाने की चेष्टा नहीं करना । वह तो क्षण-भंगुर है । उसको पकड़ोगे इतने में फूटेगा । मुँह में पहुँच भी जाय तो भी कण्ठ तक उसकी गति नहीं । पेट तक तो कहना ही क्या ? अतः उसके सौन्दर्य सौकुमार्यादि पर विश्वास मत करो । दूसरा विश्वास के अयोग्य सरित्तीर है । नदी किनारे का कभी विश्वास नहीं करना । नदी किनारे मकान बनाया है, खेत बनाया है । लेकिन वहाँ चैन से सोने को नहीं मिलेगा नदी में कभी भी बाढ़ आयेगी । नदी किनारे को काटती रहती है । मैंने नर्मदा किनारे देखा । श्रद्धा भक्ति से कईयों ने वहाँ मकान बनाया था, किन्तु धीरे धीरे किनारा कटता गया, कटता गया । अन्त में मकान को और खेती को लेकर नदी सागर की ओर चल पड़ी । नदी किनारे का विश्वास न करो । तीसरा अविश्वसनीय शृंगी है । सींग वाले जान-वर का कभी विश्वास न करना । कांदीवली में हमारे एक भक्त के घर में गाय थी । बहुत सीधी थी । खूब दूध देने वाली थी । भक्त बड़ी श्रद्धा भक्ति से उसका पालन पोषण करता था । बच्चे भी उसके पास निर्भय जाते थे । एक रोज उसका लड़का गाय को सम्हालने–प्रणाम करने गया । उस गाय ने उस रोज अपना सींग उठाया और मारा । बेचारे की एक आँख ही फूट गयी । इसी लिये कहते हैं शृंगियों का विश्वास न करो । चौथा अविश्वसनीय पन्नग बताया है । साँपों में विश्वास नहीं करना । साँप आपको देखते ही भाग जायेगा, परन्तु उसी विश्वास में न रहना कि मेरे को देखते ही भागेगा । कभी उस पर पाँव पड़ गया तो प्राण लेकर भागेगा ।

अतः पन्नगों में विश्वास न करना। नाखून वालों पर भी निश्वास न करना। पता नहीं, कब नाखून लगा दे। आदमी की बात नहीं। किन्तु शेर, चीता, बिल्ली आदि की बात है। उन पर विश्वास किया तो भले पालतू चीता ही क्यों न हो, कभी भी पंजा मार देगा तो प्राण लेकर ही छोड़ेगा। अतः नाखून वाले प्राणी का विश्वास न करना। हवा का वेग थोड़ा भी बदला लपट इस ओर आयी तो कपड़े में पकड़ेगी। आदमी को भस्म कर देगी। अतः ज्वालावली में विश्वास न करो। ऊर्मी अर्थात् तरंग (लहर) भी अविश्वसनीय है। मरीन ड्राईव नारीमान पोयंट पर बड़ा सुन्दर दृश्य है। वहाँ जाकर दो तीन बच्चे और माँ बैठी। बच्चे थोड़ा नोचे गये। समुद्र की लहरों को देखकर आनन्द ले रहे थे, उसी समय एक बड़ी तरंग आयी, दोनों बच्चों को खींच लिया। बचाने के लिये मा दौड़ी तो दूसरो तरंग ने उसे भी लपेटा। एक अबोध बालिका मात्र रह गयी। तरंगों पर विश्वास न करो।

पूछा यह कौन सा उपदेश है? इसका अध्यात्म शास्त्र में क्या सम्बन्ध? यह तो जीवन की एक नीतिमात्र हुई। इसका उत्तर पूर्वाध में बताया—"आसक्तं विषयेषु मानसमपाकुर्याः"। यह अन्योक्ति है। बुद्बुद क्षणभंगुर होता है। वैसे विषय सुख भोग भी क्षणभंगुर होता है। **"भोगा भङ्गुरवृत्तयः"** ऐसा भर्तृहरि महाराज का भी कहना है। आचार्य ने इसे अदृष्ट दृष्ट नष्ट स्वभाव बताया है। विषय सुख से तृप्ति नहीं होगी। वह कण्ठ तक पहुँचने से पहले ही समाप्त होना है। इसे स्थायी समझ कर उसी में फंसे रहना जीवन को बरबाद करना है। सरित्तीर क्या है? यह काल प्रवाह ही सरित् है। उसी के किनारे मकान बनाकर बसे हुए हैं। प्रवाह धीरे धीरे किनारे को काटता जा रहा है। एक एक करके हर साल पेड़ों को गिराकर ले जा रहा है। और धीरे धीरे अपने मकान के और के पास भी पहुँच रहा है।

वयं येभ्यो जाताश्चिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मृतिविषयतां तेऽपि गमिताः ।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतनात्
गतस्तुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः ॥

भर्तृहरि महाराज के इस श्लोक को मैं कई बार पढ़ गया था। किन्तु मालाड में एक मकान में रहते समय वहाँ के वृद्ध भक्त ने इसे अपने ऊपर लगाकर अब बोला तो मुझ पर उसका अपार प्रभाव पड़ा। बडे बूढ़े लोग गौरव के साथ अपने वड़प्पन की महिमा गाते हैं। गाँव में अब मैं ही सबसे अधिक ऊमर वाला बड़ा रह गया। किन्तु—गततुल्यावस्थां सिकतिलनदीतीरतरुभिः। रेतीले नदी के किनारे वृक्ष के बराबर। जिनसे हम पैदा हुए वे पिता, उनके भी पिता आदि कब के सब गुजर गये। जिनके साथ हम बड़े हुए वे भी एक एक करके चले गये और कुछ चले जा रहे हैं। अब अपना नम्बर लग रहा है। इस कालरूपी नदी तीर का विश्वास न करो। श्रृंगी धारियों का भी विश्वास न करो। श्रृंग धारी है बन्धु बान्धवमित्रादि उनसे जितना काम बनता है उतना लो। घास देकर दूध निकालो, वे भी घास देकर तुमसे दूध निकालेंगे। परन्तु सचेत रहो। मौके पर ये सींग भी मारेंगे।

भ्राता नास्ति स्वसा नास्ति नास्ति नास्त्येव बान्धवः ।
पुत्रो नाति सुहृन्नास्ति तस्माज्जाग्रत जाग्रत ॥

स्वार्थ पर जहाँ ठेस पहुँचती है वहाँ भ्राता स्वसा बन्धु आदि नहीं होते। अतः हमेशा जागृत रहो।

वस्तुतः श्रृङ्गी से प्रसिद्ध जो वृषभ हैं। जैसे हमने दृष्टान्त रूप में कांदीवली का उदाहरण दिया। गोवृषभ तो बड़े उत्तम माने जाते हैं। फिर भी श्रृंगी होने से विश्वासनीय नहीं है। गो वृषभ का रूपक अथवा गो वृषभ रूपधारी धर्म माना गया है। श्रीमद्भा-

गवत में राजा परीक्षित ने एक वृषभ को देखा था। जिसके तीन पाँव लंगड़े हो चुके थे–टूट चुके थे। राजा परीक्षित के साथ उसका कुछ देर तक सम्वाद हुआ। राजा ने निष्कर्ष निकाला—

धर्मं ब्रवीषि धर्मज्ञ धर्मोऽसि वृषरूपधृक्

तुम वृषभ के रूप में साक्षात् धर्म ही हो। प्रश्न यह है कि धर्म ने वृषभ रूप को ही क्यों चुना? इसलिये कि मेरे साथ में मेरे सींग भी है। यह याद रखना। गाय का और वृषभ का पालन करो किन्तु श्रृंगधारी होने से विश्वास न करो। धर्म भी ऐसा ही है। धर्म करो अवश्य, किन्तु धर्म पर ही पूरा भरोसा न कर लेना। कर्मरूपो जो धर्म है उसमें दोष अवश्यंभावी है।

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः"

ऐसा भगवान का भी कहना है। जितना भी सुन्दर से सुन्दर ढंग से कार्य सम्पादन करो। फिर भी कुछ न कुछ त्रुटि रहेगी। राजा नृग ने असंख्य गोदान किया था।

यावत्यः सिकता लोके तावत्यो दिवि तारकाः।
यावत्यो वर्षे धाराश्च तावतीरददां स्म गाः॥

ऐसी नृग की स्वोक्ति है। परन्तु उसमें भी एक गलती ऐसी आ निकली कि भूल में दूसरे की गाय को अपनी समझ कर दान में दे डाला। जिसके फल स्वरूप राजा नृग को गिरगिट बनना पड़ा। कथा का क्या तात्पर्य है? यज्ञदानादि कर्म करते समय एक तो अत्यन्त अप्रमत्त रहना चाहिये। दूसरा यह है कि पूर्ण विश्वास केवल आत्मा ब्रह्म में ही हो सकता है। फल कामनापूर्वक कर्तृत्व-भावना रखकर जो कर्म किया जाता है वह वृषभ है। उसके सींग भी अवश्य होंगे। गोपालन बड़ा उत्तम कार्य है। गोदान भी अति उत्तम माना गया है। एवं अन्य धर्म कर्म भी। किन्तु इतने से कृतार्थता नहीं है। एक सेठ से मैंने पूछा—सेठजी सत्संग में क्यों

नहीं आते ? सेठजी ने कहा—मैंने काशी में सदावर्त्त लगा रखा है। मेरे पास में कोई आता है, रुपया-आठ आना यथायोग्य देता हूँ। कहीं यज्ञादि शुभकर्म होता है तो उचित तरीके से चंदा देता हूँ। स्कूल कालेजों में चंदा देता हूँ। इतना धार्मिक कर्म हम करते हैं। कोई जरूरी तो नहीं है कि सत्संग में बैठने से ही पुण्य होता है। मैंने सोचा—सेठ को इतने धार्मिक कार्यों पर ही पूरा भरोसा है। इसी से अन्य पापों का निवारण एवं कर्तव्य की इतिश्री समझता है। मैंने कहा, पुण्य के लिये सत्संग नहीं है। सत्संग तो आत्मतत्त्व ज्ञान प्राप्त करने के लिये है। कर्म सभी श्रृंगी है। एक का दिया, दूसरे को न दिया तो समर्थ हो तो श्राप देगा। नहीं तो गाली तो देगा हो। आत्मा ही विश्वास योग्य है। चौथा पन्नगों में विश्वास न करो। पन्नग साँप को कहते हैं। बाहर से मुलायम है, शीतल है। किन्तु भीतर में जहर भरा है। वैसे आपको कोई सहयोगी मिलेंगे, मित्र मिलेंगे।

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम्।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम्॥

प्रत्यक्ष में तो प्रियवादी होंगे किन्तु परोक्ष में—पीछे-पीछे गला काटते हैं। ये कुमित्र हैं। शत्रु हैं। घट में अन्दर जहर है ऊपर से दूध रखा। जैसे नमूना दिखाते समय अच्छा होगा। वास्तव में माल घटिया होगा।

न विश्वसेत् कुमित्रे च मित्रे चापि न विश्वसेत्।
कदाचित्कुपितं मित्रं सर्वं गुह्यं प्रकाशयेत्॥

ऐसा नीति वचन है। कुमित्र में विश्वास नहीं करना। और आजकल के कलियुगी मित्र में भी विश्वास न करना। कभी मित्र कुपित होगा तो वह पन्नग से किसी हालत में कम नहीं होगा। और असल में कुमित्र मित्रादि ही पन्नग नहीं है। श्रीमद्भागवत में कथा आती है कि राजा परीक्षित को श्रृङ्गी ऋषि ने शाप दिया कि तुम्हें सात दिन के अन्दर महासर्प तक्षक आकर काटेगा। यह सुन-

कर राजा को बड़ा वैराग्य हुआ। राजा परीक्षित् गंगा किनारे जाकर प्रायोपवेशन में बैठे। तब शुकदेवजी वहाँ पहुँचे। उन्होंने सात दिन तक लगातार श्रीमद्भागवत कथा सुनायी। और परीक्षित को मुक्त किया। यह तो राजा परीक्षित के लिये हुआ। वहाँ प्रश्न उठा कि तक्षक सर्प के लक्ष्य बने परीक्षित के लिये यह श्रीमद्भागवत कथा उपयुक्त हुई। किन्तु हमारे लिये किस प्रकार यह उपयुक्त हो सकती है। हमें न तो किसी तक्षक ने काटा है और न काटने का भय ही उपस्थित है। इसके उत्तर में श्रीमद्भागवत के अन्त में एक श्लोक आया है—

योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे।
संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत्॥

यह शुकदेवजी के लिये प्रणामात्मक अन्तिम मङ्गल श्लोक है। शुकदेव स्वयं ब्रह्मरूप है। क्यों? "**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति**" ऐसी श्रुति है। जिसने ब्रह्म का साक्षात्कार किया वह स्वयं ब्रह्म ही होता है। ऐसे शुकदेव को हम प्रणाम करते हैं जो योगीन्द्र हैं। उन्होंने क्या किया? संसार रूपी तक्षक सर्प से दष्ट परीक्षित को मुक्त कराया। यह संसार सर्परूप है। क्यों? सर्प काटने से जहर चढ़ता है। संसार में किस प्रकार जहर चढ़ता है? यह संसार द्वैत स्वरूप है। द्वैत भावना ही भयंकर हालाहल है। संसार रूपी साँप ने जिसको डसा उस पर द्वैत भावना चढ़ जाती है। द्वैत भावना चढ़ती है तो मृत्यु अवश्यंभावी है। बल्कि साधारण सर्प डसे तो एक बार मृत्यु होती है। संसार सर्प के डसने पर एक बार नहीं, हजारों बार मरना पड़ता है।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

ऐसा श्रुति वचन है। मन को विशुद्ध बनाओ। और उस अद्वैत-तत्त्वरूपी ब्रह्म को प्राप्त करो। इस ब्रह्म में नानात्व नहीं है। कोई

भी भिन्न वस्तु ब्रह्म में नहीं है। वह केवल अद्वैत स्वरूप है। जो ब्रह्म में नानात्व का दर्शन करता है, नानात्व क्या नाना जैसा भी देखता है वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त होता है। एक बार नहीं। एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु की तैयारी होगी। अर्थात् इस मृत्यु परंपरा का अन्त ही नहीं है। क्योंकि जो अन्तिम मृत्यु है वह भी मृत्यु होने से अन्य मृत्यु को तैयार करेगी तो अन्तिम कैसे होगी ? मृत्यु से मृत्यु कैसे ? मृत्यु के बाद फिर जन्म और फिर मृत्यु। जन्म तो मृत्यु प्रयोजनक है। अतः जन्म का नाम नहीं है। कोड़े से बेहोश हुए व्यक्ति को होश में लाते हैं। किस लिये ? दूसरा कोड़ा मारने के लिये। नानात्त्वदर्शी की मृत्यु ही मृत्यु है। एकत्वदर्शी की की मृत्यु मृत्यु ही नहीं। अतः उसका न जन्म होता है और न पुनर्मरण ही। यही तक्षक सर्प में और संसार में अन्तर है। ऐसे संसार सर्प दष्ट को शुकदेवजी ने मुक्त किया। वैसे संसार सर्पदष्ट प्रायः सभो हैं। अतः हमें भी भागवत उपयोगी है। उस संसार सर्प में विश्वास न रखने लिये यहाँ कहा जा रहा है। नखी चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, चाहे शेर हो चाहे बिल्ली, विश्वास न करो। अनेक विध व्यसन होते हैं। ये सभी नखी है। व्यसन चाहे शराब का हो चाहे चाय का ही क्यों न हो, उससे विपरीत जहाँ चला वहीं वह पंजा मारेगा। शराब के व्यसन में जहर पी गये, कितने मर गये। चाय के व्यसनी सिरदर्द से पीड़ित होते हैं। ऐसे व्यसनने जिसको घेर चुका हो वह उनके चंगुल से बाहर न निकल सकेगा। ज्वालावली में विश्वास न करो। यह काम विषय ज्वालावाली है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

ठंढ़ी के दिन आग सेकना बड़ा अच्छा लगता है। कहीं कपड़े में आग पकती तो ! रोटी बनाने के काम में भी अग्नि का उपयोग

होता है अर्थात् जीवनोपयोगी भी है। परंपु मात्रा बराबर होनी चाहिये। वैसे काम मात्रानुसार तो ठीक है। किन्तु आगे बढ़ा तो यह ज्वालावली है। उसी में जलकर खाक हो जायेंग। किसी दिन दुनियाँ में भी पता मिलेगा नहीं। यह जंगल का दावानल है। इसमें जितना भी लकड़ी डालो, जितना भी घी डालो, फिर भी शान्त होने वाला नहीं है। ययाति ने अपनी जवानी से अनेक विध विषयों का उपभोग किया, फिर पूरूकी जवानी से भी विषयोपभोग किया। फिर भी उसकी तृष्णा शान्त नहीं हुई। और अन्त में कहा—

यत् पृथिव्यां व्रीहिधनं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते ॥

पृथिवी भर में जितना धन धान्य सोना चाँदी है, दारधनादि हैं वे मनुष्य को तृप्त नहीं कर सकते। इसलिये काम के लिये अवकास न देना ही उचित है। वह उत्तरोत्तर ज्वाला के समान बढ़ता ही चला जायेगा। अन्त में कहा कि इन ऊर्मियों में विश्वास न करो। श्वासोर्मि ये प्राणशक्ति की तरंगे है। इसीलिये संत लोग बार बार यही कहते हैं—

अरे भज हरेर्नाम क्षेमधाम क्षणे क्षणे।
बहिः सरति निःश्वासे विश्वासः कः प्रवर्त्तते ॥

हरि का नाम क्षेम का धाम है। क्षण में उसी का भजन करो। यह श्वास जो निरन्तर चल रहें उस पर विश्वास न करो। अभी जा रहा है, वापिस आ रहा है। परंतु एक दिन आयेगा जब यह बाहर जायेगा किन्तु पापिस नहीं आयेगा।

इस प्रकार मोहकलिल दूर होकर वैराग्य की ओर मन झुक जाता है। वन अर्थात् वननीय ब्रह्म की ओर प्रस्थान करने लगता है तब वह वानप्रस्थाश्रमी होता है। इसके बाद चतुर्थाश्रम है। "योगेनान्ते" योग अर्थात् परमात्मा के साथ जुड़ जाना यही योग है ॥५२॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

[हे अर्जुन ! श्रुतियों में विप्रतिपन्न (संशय प्राप्त) तुम्हारी बुद्धि जब समाधि में अचल होकर स्थितरता से स्थित होगी तब तुम योग को प्राप्त करोगे ॥५३॥]

कर्मफलहेतुर्मा भूः ऐसा पहले कहा, जिसका सांगोपांग वर्णन योगस्थः कुरु कर्माणि" से लेकर "पदं गच्छन्त्यनामयं" तक किया । अनामय पद प्राप्त होने पर कर्मफल संसार का वह हेतु कभी भी नहीं बनेगा । अनामय पद प्राप्त न हुआ तो संसाराधिगम निश्चित् है । यही अन्वय व्यतिरेक रूप में कठोपनिषद् में निरूपित हुआ है—

यस्त्वविज्ञानवान् भवति अमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ इत्यादि

जो विज्ञान रहित है, मन को जिसने प्रगृहीत नहीं किया—वश में नहीं किया तथा हमेशा अशुचि रहता है उस परम पद को नहीं पाता । किन्तु संसार से ही पड़ जाता है । वह परम पद कौनसा ? जो यहाँ "पदं गच्छन्त्यनामयं" से विवृत हुआ है । संसार कौनसा ? मा कर्मफल हेतु में जो फल बताया । इस प्रकार तृतीय सूत्र का विवरण पूर्ण करने के बाद "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" की कड़ी उसके साथ जोड़ने के लिये "यदा ते मोहकलिलं" इत्यादि श्लोकद्वय का उत्थान हुआ पूर्वश्लोक में मोहकलिलं व्यतितरिष्यति से विवेक बताया । और तदा गन्तासि निर्वेद से वैराग्य बताया । क्योंकि मोहकलिलं का अर्थ भाष्य में अविवेक कालुष्य किया है । उसको पार करने का मतलब है विवेक प्राप्त करना । "निर्वेदं

गन्तासि" का स्पष्ट अर्थ है—वैराग्य प्राप्ति। विवेक एवं वैराग्य शमादि षट् सम्पति एवं मुमुक्षुत्व का उपलक्षण है। "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु" इस प्रकार निष्काम कर्म करने का फल है साधन चतुष्टय प्राप्त करना। यही आचार्य ने भी बताया है—

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।
साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥

अर्थात् अपने अपने वर्णाश्रमानुसार धर्म करते हुए एवं तप करते हुए मनुष्य भगवान को प्रसन्न करें तो विवेक वैराग्यादि चार साधनों की प्राप्ति होता है। "यदा" का अर्थ (पूर्व श्लोक में) फलाधिकार त्याग पूर्वक निष्काम कर्म करते करते जब अन्तःकरण शुद्धि होता है, उस समय का कथन है।

इसमें क्रम यह है कि प्रथम स्वाध्यायाध्यन होता है। अर्थात् वेद वेदान्त का अध्ययन होता है। वह चाहे आप गुरुकुल में रहकर करें या आजकल उस पद्धति के समाप्त होने से सत्संग में ही करें। उसमें कर्त्तव्य यज्ञदानतप आदि पूर्वोकाण्डोक्त कर्म का ज्ञान भी होता है और उपनिषत्प्रोक्त आत्मतत्त्व का भी श्रवण होता है। उसके बाद या उसके साथ कर्म प्रारंभ होता है। रोज आपको पूजा पाठ दान पुण्यादि अभी भी कहना ही है। चाहे आपने अभी तक कितना ही वेदान्त सुना हो। आप प्रतिदिन वेदान्त सुन रहे हैं, फिर भी कर्म संन्यासी नहीं हो सकते। तब दान पुण्यादि अच्छे कर्म तो छूट जायेंगे और बाजार में प्रसिद्ध ब्लेक व्हाईट कर्म में ही रह जायेंगे। अतः कर्म करना परम आवश्यक है। यदि शुरूआत में आप सकाम भाव से पूजापाठादि करते हैं तो भी हर्जा नहीं। सत्संग में ही आगे सिखाया जायेगा, धीरे धीरे निष्काम कर्म में आओ। उससे भी अन्तःकरण की शुद्धि होने लगती है तो जो अब तक सुना हुआ वेदान्त है वह सक्रिय हो उठता है। अर्थात् ब्रह्म सत्य जगत असत्य तो सुन ही रखा है। वह प्रतिभासित होने लगता

है। अर्थात् नित्यानित्यवस्तु विवेक होने लगता है नित्य माने सत्य। और अनित्य माने असत्य। इन दोनों का विवेक ज्ञान होने लगेगा। अभी केवल विवेक है। साक्षात्कार तो अभी दूर है। इसी अवस्था 'यदा ते मोहकलिलं से कहा। अब उसके मन में वैराग्योदय होगा। आत्मेच्छा रूपी मुमुक्षुत्व होगा—

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां
तेनेशस्य विधीयतामपचितिः काम्ये मतिस्त्यज्यताम्।

पापौघः परिधूयतां भवसुखे दोषोनुसन्धीयता-
मात्मेच्छा व्यवसीयतां निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यताम्

इस श्लोक में पूर्वोक्त पूरा क्रम बता दिया है। वेदों का नित्य अध्ययन करो। वेदोक्त कर्मों को प्रथम अच्छी तरह से करो, चाहे सकाम हो चाहे निष्काम। फिर उसके द्वारा ईश्वर पूजन करो। ईश्वर को प्रसन्न करो। क्रमशः काम्य में से अपनी मति को सर्वथा हटाओ। इसके बाद चित्त शुद्धि होती है। चित्त शुद्धि क्या? 'पापौघः परिधूयतां'—ज्ञान के प्रतिबन्धक पापों का समापन ही चित्तशोधन है। उससे विवेक होने पर भवसुख में दोषानुसन्धान और आत्मसुख प्राप्ति की इच्छा होती है। यही वैराग्य से लेकर मुमुक्षुता तक के साधनों का संक्षिप्त स्वरूप है। 'भवसुखे दोषोनुसन्धीयतां' से वैराग्य और 'आत्मेच्छा व्यवसीयतां' से मुमुक्षुत्व बताया। विवेक के बाद इन दोनों साधनों की मुख्यता मानी गयी है।

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्य तु विद्यते।
तस्यैव ह्यर्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः॥

ऐसा आचार्य भगवत्पाद ने विवेक चूड़ामणि में बताया है। उसमें वैराग्य और मुमुक्षुत्व की तीव्रता की परम आवश्यकता बतायी है। वैराग्य और मुमुक्षुत्व का परिणाम है—"निजगृतात्तूर्णं विनि-

र्गम्यताम्" वह घर में ही चिपका नहीं रहेगा। घर में चिपकने का मतलब है दारसुतादि में ही लगे रहना। उनकी मोह ममता में ही फंसे रहना। वहाँ से निकल कर वह गुरु की खोज में आगे बढ़ता है। पहले से गुरु प्राप्त हुआ हो तो केवल गुरु शरणागति मात्र करना है। "निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्तां" का ही विशेष निर्देश पूर्व श्लोक में "श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च" से बताया। गृह का अर्थ है ही कर्म में लगे रहना। गृहस्थ का घर में स्थित इतना ही अर्थ नहीं है, कर्मस्थ अर्थ है। गृह शब्द का पत्नी अर्थ भी माना गया है। पत्नी में स्थित ऐसा अर्थ। चाहे वह अपना घर हो या किराये का।

"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते"

ऐसा शास्त्र वचन है। गृह ही घर नहीं है। गृहिणी घर है। किसी गृहस्थ का अपना घर नहीं है तो क्या वह गृहस्थ नहीं माना जायेगा ? अत एव गृह गृहिणी को ही कहते हैं। गृहिणी का भी अर्थ शास्त्रानुसार कर्म हैं। क्योंकि श्रुति के अनुसार पत्नी का प्रयोजन कर्म बताया है।

"जाया मे स्यात्.....अथ कर्म कुर्वीय"

मेरी पत्नी आदि हों और मैं कर्म करूँ ऐसी कामना ब्रह्मचारी की बतायी गयी है।

"पत्युर्नो यज्ञसंयोगे"

इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार पत्नी शब्द ही यज्ञ संयोग को लेकर हुआ है। अतः मुमुक्षुता के बाद जो बताया "निजगृहात्तूर्णं विनिर्गम्यतां" उनका कर्मासक्ति परित्याग से तात्पर्य है।

इस प्रकार कर्मासक्ति परित्याग कर सद्गुरु के पास वह पहुँच जाता है। विवेक उसको पहले ही हो चुका है। क्योंकि सामान्यतः श्रुति श्रवण पहले ही हो गया है। अब उसको उस परमतत्व के साक्षात्कार की अभिलाषा है जिससे समस्त संसार के क्लेश की

निवृत्ति हो। उसके बाद की अवस्था का यहाँ प्रस्तुत श्लोक में वर्णन हो रहा है—**"श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा०"** इत्यादि।

श्रुतिविप्रतिपन्ना। हम पहले ही कह आये हैं कि बालक अवस्था में ही गुरुकुल में रह कर सम्पूर्ण वेदाध्ययन किया जाता है, जिसमें वेदान्त भी आता है। उसी से प्रथम विवेक होता है। जो वैराग्य का कारण बना। पर विवेक मात्र होगा, आत्म-साक्षात्कार नहीं। आत्मसाक्षात्कार तो साधन चतुष्ट्य सम्पादनोत्तर पुनः गुरूपसदन कर श्रवणादि करने से होगा। अत एव श्रुति में पुनः विधान आया—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

तद्विज्ञानार्थं अर्थात् उस ब्रह्म के साक्षात्काररूपी विज्ञान के लिये समित्पाणि होकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास ही जाय। गुरु के पास जाना ही, ऐसा अर्थ है। पूर्व में सामान्यतः अध्ययन काल में ही श्रवण किया हो तो ठीक ही है। अन्यथा सद्गुरु के पास जाकर सामान्यतः प्रथम श्रुति श्रवण किया जाता है। अथवा आप्त पुरुषों से जो पूर्व श्रवण किया हो उससे भी आगे का कार्य होता है। आगे का क्या कार्य है ? प्रथम तत्त्व विषयक संशय होता है। उसी संशय को यहाँ 'श्रुतिविप्रतिपन्ना' से कहा गया है। स्वाध्यायाध्ययन काल में श्रुति श्रवण किया था सामान्य रूप से, उसी संस्कार से समय आने पर संशय हुआ। अथवा सद्गुरु से सामान्यतः जो श्रुति श्रवण किया उससे संशय हुआ। अथवा आप्त पुरुषों ने ईश्वर जगत् आदि के बारे में बताया था उसको लेकर संशय हुआ। क्या संशय हुआ ? संशय के कई आकार संतों ने दिखायें हैं। ब्रह्म एक है या अनेक ? ब्रह्म आत्मा से अभिन्न है या भिन्न ? ब्रह्म कर्त्ता है या अकर्त्ता ? ब्रह्म शास्त्र मात्र वेद्य है

या लोकगम्य भी है ? ब्रह्म अद्वितीय है या सद्वितीय ? इत्यादि। कुछ संशयों पर विवेचना भी की जा सकती है। ब्रह्म एक है या अनेक। वैष्णव शैवादि कहते—परमात्मा अनेक हैं। शिव अलग है, विष्णु अलग है। गौरी, गणेश आदि अलग हैं। "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" इत्यादि श्रुति एकत्व का प्रतिपाद करती है। ब्रह्म प्रत्यगात्मा से भिन्न या अभिन्न ? जीवात्मा परमात्मा भिन्न है, ऐसा द्वैतवादी कहते हैं। परमात्मा सर्वज्ञ सर्वकर्त्ता सर्वशक्तिमान है। जीवात्मा अल्पज्ञ अल्पकर्त्ता अल्पशक्तिमान है। परमात्मा व्यापक है। जीवात्मा अणु है। इन दोनों की एकता कहने वाले राई को और मेरुपर्वत को भी एक कह सकते हैं। किन्तु श्रुति कहती है—"तत्त्वमसि एको देवः सर्वभूतेषु" इत्यादि। ब्रह्म कर्त्ता है या अकर्त्ता ? ब्रह्म जगत् कर्त्ता है। जीव भी शास्त्रोक्त कर्मादिकर्त्ता है। जीवात्मा कर्त्ता भी है, भोक्ता भी है। इस प्रकार द्वैतवादियों का कहना है। किन्तु वेदान्त में मायागत कर्तृत्वादि का ब्रह्म में और आत्मा में आरोप कहा गया। इसी प्रकार ब्रह्म निर्गुण है या सगुण है ? वेदान्त में निर्गुण बताया है। द्वैतवादी सगुण मानते हैं। शुद्धाद्वैतवादी विरुद्धधर्म समावेश मानकर निर्गुण सगुण उभयात्मक मानते हैं। वैसे ही निष्क्रिय सक्रिय में विवाद है। ब्रह्म वेदान्त वेद्य या अनुमानादि वेद्य भी है ? द्वैतवादी नैयायिकादि सभी अनुमानादि वेद्य भी मानते हैं। किन्तु अद्वैतवादी "तं त्वौपनिषदं पुरुषं" इस श्रुति से शास्त्र मात्र वेद्य मानते हैं। ब्रह्म सद्वितीय है या अद्वितीय ? यह सबसे बड़ा प्रश्न है। इसी पर द्वैतवाद और अद्वैतवाद खड़े हैं। इन सब बातों को सुनकर अनेक विध संशय मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक है। इसी को लेकर भगवान यहाँ कह रहे हैं—"श्रुतिविप्रतिपन्ना।" । श्रुति का वेदवाक्य का भी अर्थ है। श्रवण भी अर्थ है। वेदवाक्यादि श्रवण से ये संशय होते हैं। अनुभव होने बाद संशय नहीं रहता।

यदा स्थास्यति निश्चला। श्रुति से विप्रतिपन्न हुई बुद्धि जब निश्चल होकर स्थित होगी—सकल संशय रहित होगी तब योग की प्राप्ति होगी। यह भला क्या द्रविड़ प्राणायाम है प्रथम श्रुति से संशय करो फिर निश्चय करो। इसकी क्या जरूरत है। तब श्रुति श्रवण से पहले अच्छे रहे जब कोई संशय नहीं था। फिर संशय करके निश्चय करने की क्या जरूरत है ? सीधा निश्चय ही क्यों न किया जाय।

द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्द आप्लुतौ।
यो विमुग्धो जडो बालो यो गुणेभ्यः परंगतः॥

ये दो ही चिन्ता से मुक्त हैं और परमानन्द मग्न हैं। जो मूढ़ जड़ बालक है और जो गुणातीत हैं। संशय करके संशय दूर करने की अपेक्षा संशय ही न किया जाय यही उत्तम है।

"प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्"

पहले कीचड़ में पाँव डालो, फिर धोवो इसको अपेक्षा दूर से ही कीचड़ को क्यों न छोड़ा जाय ? उत्तर यह है कि संशय न करना कोई सुलक्षण नहीं है। अनादि अविद्यावरण से संशय केवल दबा हुआ है। जैसे हिमालय में बरफ से अंदर के कंकड़ पत्थर केवल दबे रहते हैं। काश्मीर यात्रा में ऊपर से मुलायम बरफ दीखेगी। अन्दर से कंकड़ पत्थर है। बरफ गलेगी तो कंकड़ पत्थर बाहर होंगे तब पाँव कटने लगते हैं। वैसे घनीभूत आवरण थोड़ा-थोड़ा हटने लगता है तो भीतर से संशय का उदय होने लगता है। प्रथम अविद्या का घनीभूत आवरण रहता है, फिर उसी अविद्या का कार्य द्वैत प्रपञ्चाध्यास ऊपर से आ जाता है तो अद्वैत विषय का संशय भी नहीं होगा। यही कारण है कि द्वैतवादी अद्वैत का नाम तक नहीं सुनना चाहते। क्योंकि वे घनीभूत आवरण के ऊपर से द्वैत प्रपञ्चात्मक अविद्या कार्य से ढके हुए हैं। अनन्त जन्मकृत पुण्य

संचय एकत्रित होता है तब ईश्वर का अनुग्रह होता है तभी यह ऊपर का आवरण पिघलने लगता है।

प्रज्ञामान्द्यं कुतर्कश्च विपर्ययदुराग्रहः।
विषयासक्तिकार्पण्ये ज्ञानस्य प्रीतिबन्धकाः॥

ऐसा आचार्यों का मत है। प्रथम प्रज्ञा की मन्दता ही आवरण है। मन्दबुद्धि हो तो ब्रह्म का ज्ञान संभव नहीं है। एक भक्त कहने लगा कि भगवान् की प्राप्ति में बाधक है। मैंने कहा, तब पशु-पक्षियों को ही भगवत्प्राप्ति होगी। भगवत्प्रदत्त मानव बुद्धि को दफना देना यदि भगवत्प्राप्ति का कारण है तब मनुष्य जन्म की महिमा आधुनिक भौतिक विज्ञान में ही चरितार्थ माननी पड़ेगी। प्रज्ञा को दबाकर भगवद्भक्ति करे ऐसा अर्थ नहीं है, किन्तु प्रज्ञा दबी हुई हो, मन्द प्रज्ञा हो तो भी भगवद्भक्ति करना आसान है, उसके द्वारा प्रज्ञा प्राप्ति की जा सकती है। ऐसा अभिप्राय है। भगवान भी यही कहते हैं—

"तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते"॥

जो निरन्तर युक्त होकर प्रीतिपूर्वक भजन करते हैं उनको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त हों। अतः प्रज्ञा का उपयोग न करना यह भगवद् प्रदत्त अमूल्य वस्तु के तिरस्कार से अतिरिक्त कुछ नहीं है। उस परमात्मा को जानने के लिये अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि चाहिये। परमाणु शक्ति का पता लगाने वाला इतने बड़े भारी बुद्धिमान प्रज्ञावान् वैज्ञानिक थे कि वे अपने समय के अद्वितीय बुद्धिमान् माने जाते थे। आत्मा को जानने के लिये उससे भी अधिक सूक्ष्म बुद्धि की जरूरत है क्योंकि आत्म तो—"अणोरणीयान्"। परमाणुओं से भी सूक्ष्मतर है। अणु से अणुतर है। प्रज्ञा की मन्दता तमोगुण के आवरण से होती है। इसी प्रकार कुतर्क भी

ज्ञान प्रतिबन्धक आवरण है। कुतर्क एक अभिनिवेश है। कुतर्क हमेशा स्वोत्कर्ष के प्रख्यापन के लिये होता है अपनी विजय के लिये कुतर्क किया जाता है। संशय, तर्क और कुतर्क, ये तीनों में भेद है। संशय तो कोटिद्वय की उपस्थिति में हो जाता है। तर्क निर्णयार्थ होता है। कुतर्क स्वविजयार्थ किया जाता है। या दूसरे को नीचा दिखाने के लिये किया जाता है। यह कुतर्क गहन रजोगुण के आवरण का परिणाम है। इससे विद्यमान भी मति नष्ट होती है। अतएव श्रुति में बताया—

"नैषा तर्केण मतिरापनेया"

तर्क से ब्रह्ममति को नष्ट मत करो। यहाँ तर्क का वही कुतर्क अर्थ है। इसी प्रकार विपर्यय दुराग्रहादि भी समझना चाहिये। अस्तु।

ऊपर का आवरण जब धीरे धीरे पिघलने लगता है तब अन्दर का कांटा स्वयं ऊपर की और आने लगता है। अर्थात् कोटिद्वय उपस्थित होने से एक का निश्चय नहीं कर पाते हैं। तब संशय होता है। अति पामरों को ब्रह्म है यह भी कोटि नहीं आती। ब्रह्म नहीं यह भी कोटि नहीं आती तो ब्रह्म है या नहीं ऐसा संशय कहाँ से होगा। उन्हें ब्रह्म एक है यह कोटि भी सामने नहीं आयी। ब्रह्म अनेक यह भी कोटि नहीं आयी। वैसे सगुण निर्गुण कोटि भी नहीं आयी तो इन सबके बारे में संशय ही नहीं होता। पशु समान ही अन्नादि संचय करना जीवन गुजारना इतने से उनका मतलब रहता है। संशय उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं। स्वयं होने लगता है। हाँ, कहीं अर्थ को दृढ़ करने के लिये आहार्य संशयादि होता है सो बात अलग बात है। दो कोटि के उपस्थित होने पर भी संशय न करना, यह खतरनाक है, क्योंकि कभी विपरीत कोटि को ही सत्य मानकर बैठ जाय तो परिणाम अनर्थ ही होगा। अतः शास्त्र में दोनों कोटियाँ देखने में आती हैं तो मीमांसा करके निर्णय करने से पूर्व अपने को संशय में रखना ही उचित है। क्योंकि दोनों

विरुद्ध है। स्थल स्थल पर हम व्याख्या करते ही आये हैं। आगे भी ऐसे स्थानों पर सम्यक् व्याख्या की जायेगी। प्रकृतस्थल में भी जो व्याख्या हमने दर्शायी है यही शास्त्र संमत है। "यदक्षरं वेदविदो वदन्ति" "अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः" "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" "यस्तं वेद स वेदवित्" "ॐ तत्सदिति ....तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः" इत्यादि अनेक वचन गीता में वेदों के उत्कर्ष का प्रति पादन करने वाले स्पष्ट उपलब्ध हैं। वेद उपेक्षणीय हैं तो वेदवित् जिस अक्षर का वर्णन करते हैं वह उपेक्षणीय क्यों नहीं ? इत्यादि प्रश्न ऐसे उनके सामने उपस्थित होंगे, जिनका उत्तर संभव नहीं।

समाधावचला बुद्धिः। समाधि शब्द का भाष्यकार ने यहाँ पर आत्मा अर्थ किया। क्योकि समाधि में जब बुद्धि अचल हो जाती है, ऐसा कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि समाधि बुद्धि सचल होती ही नहीं। समाधि कहते ही हैं चित्त की निश्चलता को। और यथा श्रुति में समाधि ही योग है तब "योगमवाप्स्यसि" ऐसा उत्तर वचन भी संगत नहीं होगा। फिर "समाधिस्था भवेद् बुद्धिः" कहने से अर्थ की स्पष्टता रहती है। 'समाधौ' सप्तमी से भगवान में अचल बुद्धि, धन में अचल बुद्धि इत्यादिवत् विषय सप्तमी भी प्रतीत हो रही है। समाधि का अर्थ आत्मा किस प्रकार ? इस पर भाष्यकार कहते हैं—'समाधीयते चित्तमस्मिन्निति समाधिरात्मा' आत्मा में चित्त को समाहित किया जाता है अतः आत्मा को समाहित किया जाता है। प्रथम सामान्य श्रुति श्रवण से आत्मा के विषय में अनेकविध संशय हुए। फिर ब्रह्म मीमांसा द्वारा निवृत्ति होने से बुद्धि निश्चल हो गयी—संशय निवृत्त होने से निर्णीतार्थ विषयक हो गयी। उसके बाद ही कृतकृत्यता नहीं है। श्रोत्रियता के बाद ब्रह्म निष्ठता भी चाहिये। बड़े-बड़े पंडित लोग षट्शास्त्रवेत्ता होते हैं। किन्तु निष्ठा के अभाव से उनका वह ज्ञान वृथा समाप्त होता

है। पाक शास्त्राध्ययन किया। किन्तु पाक नहीं किया तो वह अध्ययन किस काम का? कई व्यक्ति इंजिनीयरिंग पास करके, कई व्यक्ति एल० एल० बी० पास करके कपड़े की दुकान, पान की दुकान चला रहे हैं तो उनके अध्ययन केवल अध्ययनार्थ ही हुआ। अन्य कोई प्रयोजन नहीं निकला। वैसे ही वेद वेदान्त का अध्ययन कर ब्रह्ममीमांसा कर अर्थ निर्णय किया और आगे कुछ प्रेक्टिस न करें तो वह अध्ययन केवल अध्ययनार्थ ही हुआ या कहीं मास्टरी करने के लिये हुआ। अतः वेदान्ताध्ययन तथा ब्रह्म-मीमांसा से श्रोत्रियता प्राप्त करने के बाद ब्रह्मनिष्ठता भी प्राप्त करनी चाहिये। उसी ब्रह्मनिष्ठता के लिये बताया जा रहा है— "समाधावचलाबुद्धिः"।

आत्मा में से बुद्धि चलित होने पर बुद्धि चला होगी। अचला नहीं। समाधि यानी आत्मा में अचला तब मान्य होगी जब वह समाधि–आत्मा से अन्यत्र चलित न हो। आत्मा से चली न जाती हो वही अचला है। चली जाने का अभिप्राय है, अन्य विषयक होना। न चले जाने का मतलब है—आत्म मात्र विषयक होना। वह दो प्रकार से होता है। एक प्रकार है—समाधि काल में होने वाला। समाधि समय में केवल आत्मा का ही ग्रहण होता है, अन्य किसी का नहीं। उसमें फिर निर्विकल्पक सविकल्पक जैसे भेद हैं। किन्तु उतने विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। इतना बतलाना ही प्रथम प्रकार के लिये पर्याप्त है कि वह समाधि-काल में होता है। दूसरा है व्युत्थानकाल में होने वाला। व्युत्थान काल में श्रवण मननादि से जगत् का बाध होने से जगत् पूर्ववत् नहीं दीखता। जगत् दीखेगा, किन्तु बाधित रूप से। अत एव ज्ञानी के लिये पूर्ववत् संसार नहीं होता। इस पक्ष में भी समाधि में अचला बुद्धि का अर्थ है आत्मा में ही सत्यत्व निश्चय होने से आस्थायुक्त अटल बुद्धि आत्मा में ही है। मरुमरीचिका में जल

दीखने पर भी ज्ञानवान् को उसमें आस्था नहीं होती। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में थोड़ा अन्तर है। गगन में नीलवर्ण कल्पित है, ऐसे ज्ञानकाल में भी गगन में नीलिमा प्रायः पूर्ववत् ही दीखेगी। क्योंकि नीलिमा का केवल परोक्ष बाध ही हुआ है। अधिष्ठान का अपरोक्ष साक्षात्कार के बिना अपरोक्षबाध नहीं होता। जैसे पित्त-दोष से गुड कड़वा लगता है। मालूम है कि यह कड़वापन झूठा है। फिर भी कड़वापन ज्यों का त्यों लगा रहता हैं। इन दोनों जगह अधिष्ठान परोक्षज्ञान ही रहता है। तत्त्ववेत्ता की बात इससे जुड़ी होती है। क्योंकि तत्त्ववेत्ता को अधिष्ठान का अपरोक्ष होता है। वह दो प्रकार का। एक अदृढ़ अपरोक्ष है दूसरा दृढ़ अपरोक्ष है। इनमें दृढ़ अपरोक्ष को आगे 'तदा योगमवाप्स्यसि' से बताना। समाधावचला बुद्धि यह अदृढ़ अपरोक्ष वर्णन है। निर्विकल्पक या सविकल्पक समाधि में भी पुनः व्युत्थान इसी तरह का हो तो अदृढ़ अपरोक्ष ही होगा। अत एव पूर्णानन्द साक्षात्कार तो नहीं होता। फिर भी अत्यन्त अपरोक्ष भी नहीं है।

यदा का अन्वय प्रत्येक के साथ है, यदा स्थास्यति निश्चला यदा च समाधावचला बुद्धि ऐसा समझना चाहिये। अतएव उभयत्र साधना की अपेक्षा सूचित होती है। श्रुति श्रवण के बाद तुरंत निश्चल नहीं होगी। ब्रह्ममीमांसा करनी होगी। ब्रह्ममीमांसा के बाद भी तुरत आत्मा में बुद्धि अचल नहीं होगी। जब अचल होगी तब की बात आगे है। 'क्या साधना करनी होगी ? ब्रह्म मीमांसा से निश्चित अर्थ का नित्य अनुसंधान करना पड़ेगा।

एकान्ते सुखमास्यतां परतरे चेतः समाधीयतां।
पूर्णात्मा सुसमोक्ष्यतां जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम् ॥

एकान्त में बैठो। ब्रह्म में चित्त को समाहित करो। और पूर्णात्म दर्शनार्थं प्रयास करो। इतने से नहीं होगा। जगदिदं तद्बाधितं दृश्यताम्। जगत को ब्रह्मबाधित भी देखो। अन्यथा

व्युत्थान में वही संसार पूर्ववत् भासेगा। नामरूपात्मक प्रपञ्च कारण सदधिष्ठान में कल्पित है, इस कारण जगत् का तुच्छत्वानुसंधान भी करना होगा। जैसे विवेचना करने पर कुण्डल सुवर्ण से अतिरिक्त कुछ नहीं है वैसा ही यह जगत् ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं। जैसे रज्जु में सर्प दीखने मात्र का है, वैसे यह जगत भी है। इस प्रकार उभयविधया जगत् को बाधित करना चाहिये। प्रथम परिणाम कार्य रूप से, फिर विवर्त्त कार्य रूप से देखना चाहिये। अन्त में फिर योग प्राप्ति रूपी अद्वैतावस्थान है। इसी बात को संक्षेप शारीरक में सर्वज्ञात्म मुनि ने भी बताया है—

क्रुपणधीः परिणाममुदीक्षते
क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्त्तताम्।
स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते
व्यपगतद्वितयं परमं पदम्॥

बुद्धि में से अज्ञान नहीं निकला है तब तक क्रुपणधी है। वह जगत् को ब्रह्म परिणाम समझता है। तत्त्ववेत्ता होने पर जगत् को ब्रह्मविवर्त्त देखता है। स्थिरमतिः का स्थितप्रज्ञ अर्थ है। जो आगे बताना है, वह अद्वितीय परमपद को ही देखता है। इसका तात्पर्य यह कि यदि आपको जगत् सहसा मिथ्या प्रतीत न हो रहा हो तो सुवर्ण परिणाम कुण्डल जैसे विचार करने पर मिथ्यानाम रूपमात्र है, वैसे विचार से जगत् को मिथ्या समझो। बुद्धि शुद्ध होने पर रज्जु सर्पवत् जगत् को देखने का प्रयास करो। अन्त में कुछ देखना करना नहीं है, अद्वैत रूप में अवस्थित होना है।

तदा योगमवाप्स्यसि। समाधि में अचल बुद्धि होने के बाद फिर कौन सा योग प्राप्त होगा ? समाधि तो स्वयमेव योग है। योगः समाधि ऐसा व्यास भाष्य में लिखा है। समाधि शब्द का आत्मा अर्थ करने पर भी आत्मा में अचल बुद्धि हुई तो वह भी तो

योग ही है। चित्त की स्थिरता ही योग शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है। उतना अर्थ तो 'अचला' इस विशेषण से ही प्राप्त है। इस आशङ्का के उदय होने से भाष्यकार ने यहाँ योग शब्द का अर्थ बदल दिया है—

"योगमवाप्स्यसि विवेकप्रज्ञां समाधिं प्राप्स्यसि"

ऐसा भाष्य में लिखा है। यहाँ प्रज्ञा का अर्थ 'धीः प्रज्ञाः शेमुषी' वाली बुद्धि नहीं है। क्योंकि इसे प्राप्त करने वाली भी समाधावचला बुद्धि है। अतः प्रज्ञा का ज्ञान है। प्रकृष्ट ज्ञान दृढ़तत्त्व साक्षात्कार ही है जिसे हम पहले ही कह आये हैं। विवेक प्रज्ञा का अर्थ अनात्म पदार्थों से विविक्त आत्मा का स्वरूप साक्षात्कार है।

योग शब्द का विवेक प्रज्ञा अर्थ किस प्रकार? यह अन्तिम योग विवेक प्रज्ञात्मक ही होता है। योगसूत्र में इसे धर्ममेध समाधि बताया है।

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेधः समाधिः

ऐसा योगसूत्र हैं। प्रसंख्यान से भी योगी को वैराग्य होता है। "तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च" इस प्रकार पूर्व श्लोक में श्रोतव्य तथा श्रुत से जो निर्वेद-वैराग्य बताया वही प्रसंख्यान में अकुसीदता का मतलब है। उसका फल है—"सर्वथा विवेकख्याते धर्ममेधः समाधिः"। उसी को यहाँ "योगमवाप्स्यसि" से भगवान ने कहा। वही "विवेकप्रज्ञां समाधिं" इस शब्द से भाष्यकार ने कहा। धर्ममेध समाधि काल में ज्ञान का आनन्त्य भी भगवान् पतञ्जलि ऋषि ने कहा।

"तदा ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्"

समाधावचला—आत्मा में बुद्धि अचल है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है ही और वह अनन्त भी है। तब अनन्त रूपेण आत्मप्रादुर्भाव होने से 'ज्ञानस्यानन्त्यात्' कहा। ज्ञेय पदार्थ बाधित होने से ज्ञेय-

कल्प कहा। अल्प का तुच्छ अर्थ है। वही परमसमाधि यहाँ "निश्चला स्थास्यति अचलाबुद्धि" आदि विशेषण प्राप्ति के बाद प्राप्त होने वाले योग से भगवान को अभिप्रेत है। इसी विवेक प्रज्ञा समाधिरूपी योग को लेकर मुनिवृत्ति के उत्तर "योगेनान्ते तनुत्यजां" शब्द से महाकवि कालिदास ने भी कृतकृत्यता का वर्णन किया। वैराग्य पूर्वक श्रुतिविप्रतिपन्न बुद्धि को ब्रह्म मीमांसा से स्थिर करने के बाद आत्मा में अचल बना लेते हैं तो उससे दृढ़ अपरोक्ष आत्मतत्त्वसाक्षात्कार सर्व वेदान्त सम्मत है।

इस प्रकार युक्ति से, पूर्वापर संगति से, एवं शास्त्रान्तर संगति से भी योग शब्द का विवेक प्रज्ञा अर्थ सिद्ध होने पर भी यदि सन्देह थोड़ा बहुत रह जाता हो तो उसका निवारण अग्रिम अर्जुन प्रश्न से ही होगा। क्योंकि अर्जुन का अनन्तर प्रश्न है—"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा" "यदा स्थास्यति निश्चला समाधावचला" इतने से "स्थित" यह अर्थ प्राप्त होता है। 'योगमवाप्स्यसि' से प्रज्ञा प्राप्त होती है, उसी का मिलित रूप है—स्थितप्रज्ञता। अन्यथा पूर्व अनुक्त स्थितप्रज्ञता का आकस्मिक-लक्षणादि प्रश्न अर्जुन का असंगत होगा। अतः योग का यहाँ विवेक प्रज्ञारूपी धर्ममेघ समाधि ही अर्थ है। विस्तार अग्रिम स्थितप्रज्ञ प्रकरण में ॥ ५३ ॥

गीता प्रवचन सन्दर्भ में द्वितीयाध्याय का पूर्वार्ध समाप्त।

•

ग्रन्थकारके अन्य प्रकाशन

जा॰ सामान्यलक्षणातत्त्वप्रदीपः (न्याय)	१५-००
वैराग्यमन्दाकिनी	अप्राप्य
गोपीगीतम् अर्थद्वय हिन्दी	,,
दशशान्तयः सानुवादाः	,,
दक्षिणामूर्त्तिस्तोत्रं सवार्त्तिकं सानुवादं	,,
ईशावास्यरहस्यविवरणं सवार्त्तिकं	१५-००
संक्षिप्तशंकरदिग्विजयः सानुवादः	१०-००
नारदीयभक्ति(सूत्राणि)दर्शनम् सवार्त्ति(कानि)कम्	
प्रथमो भागः	१०-००
द्वितीयो भागः	१०-००
तृतीयो भागः	१०-००
वेदान्तसिद्धान्तकुसुमाञ्जलिः	८-००
भागवतसारस्तोत्र सानुवादम्	८-००
भीष्मस्तुतिप्रवचन गुजराती	समाप्त
महिम्नःस्तोत्रं हरिहरपक्षीयानुवाद टिप्पणी सहित	समाप्त
शिवमहिम्नःस्तोत्रं स्पन्दवार्त्तिकं सानुवादं	३०-००
गीताप्रवचन सांख्यसन्दर्भ पूर्वार्धं	३५-००
गीताप्रवचन सांख्यसन्दर्भ उत्तरार्धं (स्थितप्रज्ञदर्शन)	२५-००
सुभगोदयम् अमृतझरिका व्याख्या अन्वयार्थबोधिनी टीका एवं भाषानुवाद सहित	शीघ्रप्राप्य

अन्य पुस्तकें भी यथाशीघ्र मुद्रित होंगी